।। णमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स ।।

(आचार्य देव श्री शिव मुनि जी म के 64वें जन्मदिवस के शुभ अवसर पर प्रकाशित)

श्री स्थानाङ्ग-सूत्रम्

मूल-सस्कृत-छाया-पदार्थ-मूलार्थ एव

हिन्दी विवेचनिका सहित

[द्वितीय भाग]

व्याख्याकार

जैन-धर्म-दिवाकर, जैनागम-रत्नाकर, श्रमण सघ के प्रथम पट्टधर

आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक

जैन-धर्म-दिवाकर, ध्यान-योगी, श्रमण सघ के चतुर्थ पट्टधर

आचार्य सम्राट् पूज्य श्री शिव मुनि जी महाराज

प्रकाशक

भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट, नई दिल्ली

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना, पंजाब

आगम श्री स्थानाङ्ग सूत्रम् (द्वितीय भाग)

व्याख्याकार . आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

दिशा निर्देश : राष्ट्रसन्त बहुश्रुत गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी महाराज

पूर्व स. सपादक · पजाब प्रवर्तक उपाध्याय श्रमण श्री फूलचद जो महाराज

सपादक आचार्य सम्राट् डॉ श्री शिवमुनि जी महाराज

सहयोग : श्रमण सघीय मत्री, श्री शिरीष मुनि जी महाराज

प्रकाशक : भगवान महावीर मेडिटेशन एड रिसर्च सेटर ट्रस्ट, नई दिल्ली

· आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना

अवतरण : 18 सितम्बर, 2005

सहयोग राशि : चार सौ रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान : 1 भगवान महावीर मेडिटेशन एड रिसर्च सैटर ट्रस्ट
आदीश्वर धाम, सन्मति नगर, कुप्प कला, जि सगरूर (पजाब)
(लुधियाना-मालेरकोटला मन रोड पर स्थित)

2 श्री अनिल जैन
1924, गली नं 5,
कुलदीप नगर, लुधियाना
दूरभाष . 9417011298

मुद्रण व्यवस्था · कोमल प्रकाशन
C/o विनोद शर्मा, म नं 2088/5, गली नं 19,
प्रेम नगर (निकट बलजीत नगर), नई दिल्ली-110008
दूरभाष · 9810765003, 011-55830064

जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर ज्ञान महोदधि
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

पुरोवाक्यम्

श्री स्थानाङ्ग सूत्रम् का द्वितीय भाग मुमुक्ष स्वाध्यायी साधको और श्रावको के करकमलो मे अर्पित करते हुए हम हार्दिक आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। जुलाई मास मे ही इस आगम के प्रथम भाग का विमोचन हुआ। इस आगम की विशालता को देखते हुए ही इसे दो भागो में प्रकाशित कराने का विचार स्थिर किया गया। पूर्व में भी यह आगम दो भागों मे ही प्रकाशित हुआ है।

चार वर्ष पूर्व दिल्ली वर्षावास मे जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी महाराज ने आचार्य देव श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा सम्पादित / व्याख्यायित आगम और आगमाधृत साहित्य को सर्वसुलभ बनाने का स्वप्न संजोया था। चार वर्ष की इस अल्पावधि मे आचार्य श्री ने महान श्रम करके आराध्य आचार्य देव के अधिकांश आगम साहित्य को सम्पादित रूप मे सर्व-सुलभ बनाया है। इसे आचार्य श्री की अपने आराध्य आचार्य देव के प्रति अनन्य निष्ठा के रूप मे हम देख सकते है। इस गुरुतर कार्य मे आचार्य श्री ने जो महान श्रम किया है और वर्तमान में कर रहे है वह समग्र सघ के लिए श्रद्धा का विषय है। समय की इस स्वल्पावधि मे इतना विशाल कार्य अन्यत्र हुआ हो, मेरे देखने-सुनने में नही आया।

श्रमण धर्म के शिखर पुरुष युग प्रधान आचार्य प्रवर गुरुदेव श्री शिव मुनि जी म. स्वाध्याय, ध्यान और तपस्विता के जीवत पर्याय है। समाज के प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति के हृदय- देहरे पर आत्मबोध के दीप प्रज्ज्वलित करते हुए, द्वार- द्वार पर सम्बोधि का अलख जगाते हुए निष्काम अध्यात्म साधना मे अहर्निश सलग्न हैं। विश्व कल्याण और विश्व मंगल का अनन्त अदम्य उत्साह हृदय मे सजोए अपने पथ पर अविश्रान्त अक्लात अप्रमत्त यात्राशील है।

परम पूज्य आचार्य श्री की अन्वेषण धर्मी सूक्ष्म दृष्टि का सस्पर्श पाकर यह विशालकाय द्विभाग विभाजित आगम नवीन रूप और नवीन सज्जा में समाज के समक्ष प्रस्तुत है। नि.सदेह आगम- स्वाध्यायियों को इस सस्करण के स्वाध्याय से नई दृष्टि और नई आध्यात्मिक ऊर्जा प्राप्त होगी।

प्राण--प्राण मे स्वाध्याय की प्यास पैदा हो, इसी मंगल-मनीषा के साथ-

शिरीष मुनि

(श्रमण सघीय मत्री)

प्रकाशकीय

श्री स्थानाङ्ग सूत्रम् 'द्वितीय भाग' को नवीन संस्करण के साथ आगम-स्वाध्यायी मुमुक्षुओ के कर-कमलो मे अर्पित करते हुए हम हार्दिक हर्ष का अनुभव कर रहे है। आचार्य देव श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा व्याख्यायित और पजाब प्रवर्तक उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द जी महाराज द्वारा संपादित इस बृहद् आगम के पुनर्सपादन और पुनर्प्रकाशन का बृहद् दायित्व आचार्य श्री शिव मुनि जी महाराज ने अपने हाथों मे लिया और अपनी आठ मास की अप्रमत्त श्रम साधना से उसे संपूर्ण किया। अप्रमत्त पुरुषार्थी आचार्य श्री शिव मुनि जी महाराज एवं उनके सुशिष्य संकल्प और समर्पण के प्रतिमान पुरुष श्रमण सघीय मत्री श्री शिरीष मुनि जी महाराज ने गुरुमह आचार्य देव श्री आत्माराम जी महाराज की श्रुत साधना को सर्वसुलभ बनाने के लिए जिस उत्साह और लग्न से कार्य किया है वह सघ और समाज मे सदैव प्रशसनीय और अनुकरणीय रहेगा।

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति और भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेटर ट्रस्ट के तत्वावधान मे विगत तीन वर्षो मे बारह आगमो के सोलह सस्करणो का प्रकाशन पूर्ण हो चुका है। इस प्रामाणिक, उत्कृष्ट और द्रुत कार्य की सघ मे सर्वत्र प्रशसा हुई है। वस्तुत: इस प्रशसा के पात्र स्वय आचार्य श्री है जिनके श्रमपूर्ण सपादन, आशीर्वाद और कुशल निर्देशन मे यह कार्य निरतर प्रगतिमान है।

आगम प्रकाशन पर्व के इस महनीय महायज्ञ मे सकल श्रीसघ का पूर्ण सहयोग रहा है, तदर्थ हम सकल सघ के हार्दिक आभारी है। आशा है कि समग्र संघ का यह साधु-सहयोग हमें सदैव प्राप्त होता रहेगा।

विनीत ·

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना

एवं

भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेटर ट्रस्ट, नई दिल्ली

बहुश्रुत, पंजाब केसरी, गुरुदेव
श्री ज्ञान मुनि जी महाराज

सम्पादकीय

श्री स्थानाङ्ग सूत्रम् द्वादशांगी का एक अनमोल रत्न है। द्वादशांगी में इस आगम का आचारांग और सूत्रकृताग के पश्चात् तृतीय क्रम है। यह आगम जिनवाणी रूप अमूल्य मौक्तिको से पूर्ण अगाध महासागर है। इसे जिनवाणी का इनसाइक्लोपिडिया अथवा विश्वकोष की सज्ञा दी जा सकती है। इस आगम में सूत्ररूप मे समग्र द्वादशांगी का विशाल ज्ञान संचित है। इसके दस स्थान और एक श्रुतस्कंध है। प्रथम स्थान में एक-एक सख्या वाले, द्वितीय स्थान में दो-दो सख्या वाले, तृतीय स्थान मे तीन-तीन सख्या वाले, इसी प्रकार क्रम प्राप्त दसवें स्थान मे दस-दस की सख्या वाले बोलो का उत्कृष्ट सग्रह है। स्मरण सुविधा की दृष्टि से ये बोल जहा अनुपम है वहीं इनमे जीव और जगत् के आध्यात्मिक और भौतिक दृष्टियो से गुह्यतम रहस्य अनावृत्त हुए है। विभिन्न दृष्टियों से धर्म, दर्शन और अध्यात्म पर गभीर चिन्तन हुआ है।

समग्र आगम वाड्मय की भांति इस आगम के मूल स्रोत भी भगवान महावीर है। भगवान महावीर ने अर्थ रूप मे इस आगम का उपदेश दिया और आर्य सुधर्मा स्वामी ने इसे सूत्रबद्ध किया। आर्य सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य आर्य जंबू स्वामी की जिज्ञासा पर द्वादशागी के तृतीय क्रम पर इस आगम की उन्हे वाचना दी। तब मे लेकर वर्तमान तक कई आगमीय वाचनाए हुई, प्रस्तुत आगम का जो वर्तमान स्वरूप है यह भगवान महावीर के 980 वर्ष पश्चात् आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे सम्पन्न हुई वाचना का है। 1500 वर्ष से भी अधिक समय पूर्व हुई इस वाचना से भी पर्याप्त श्रुत विच्छिन्न हुआ होगा ऐसा माना जाना स्वाभाविक है। भारत की स्वतन्त्रता से पूर्व का डेढ सहस्राब्दी का कालखण्ड चरम उहापोह का काल रहा। समय-समय पर भारतीय शासको के पारस्परिक द्वन्द्व और विदेशी आक्रान्ताओ के आक्रमणो से भारतवर्ष सत्रस्त रहा। परतंत्रता की पीडा ने भारत को आर्थिक और आध्यात्मिक दृष्टि से पीड़ित किया। ऐसे मे श्रुत का विच्छिन्न होना स्वाभाविक था। फिर भी परमार्थी श्रमणो ने अपने सजग और सतत प्रयासो से श्रुत के एक विशाल अंश को सुरक्षित रखा।

विगत शती के प्रारंभ में जब भारतवर्ष स्वतत्रता के संकल्प के साथ आगे

बढ रहा था, उसी अवधि मे कई परमार्थी श्रमणो ने आगम साहित्य के उद्धार पर पर्याप्त ध्यान दिया। स्थानकवासी परम्परा मे इस दिशा मे जिन मुनीश्वरों ने ऐतिहासिक कार्य किए उनमे आचार्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज, आचार्य श्री घासीलाल जी महाराज एव आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के नाम प्रमुख है। आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज का कार्य विलक्षण रहा। लगभग सत्तर वर्ष पूर्व जब राष्ट्रभाषा विकास के प्रथम चरण पर थी उस समय उन्होने साधिकार राष्ट्रभाषा मे आगमो की विशाल व्याख्याओ की रचना की। श्री स्थानाग सूत्र की प्रस्तुत विशाल व्याख्या का निर्माण आचार्य श्री ने वि स. 2001 मे पूर्ण किया। उनके इस महान श्रम को तब से आज तक सर्वाधिक विशाल और प्रामाणिक कार्य माना जाता रहा है।

प्रज्ञा पुरुष आचार्य देव का आचार्य परम्परा मे वही स्थान है जो आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य हरिभद्र सूरि, आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य अभयदव सूरि प्रभृति आचार्यो का रहा है। श्रुतसाधना की दृष्टि स आचार्य देव की इस महासाधना से लाखो मुमुक्षुओं ने श्रुताध्ययन का अमृतपान किया है। अपने इस महतो महीयान कार्य के रूप मे आचार्य देव सदैव अमर रहेगे।

लगभग 30 वर्ष पूर्व आचार्य दव के पौत्र शिष्य पजाब प्रवर्तक उपाध्याय श्रमण श्री फूलचद जी महाराज के श्रम साध्य सपादन मे इस महान आगम का प्रथम प्रकाशन हुआ। पूज्य उपाध्याय श्री की श्रुतसाधना स भी सकल श्री सघ सुपरिचित है। आत्मकुल कमल दिवाकर श्री रत्नमुनि जी महाराज के साथ-साथ श्री तिलकधर शास्त्री ने भी इस कार्य म अपना सहयोग दिया।

वर्तमान समय मे आचार्य देव क व्याख्याकृत आगम अनुपलब्ध प्राय: है। इसी तथ्य को दृष्टिपथ पर रखत हुए आगमो के पुनर्मुद्रण का लक्ष्य स्थिर किया गया। आगम श्रद्धालुआ ने पूर्ण समर्पण भाव से इस कार्य मे सर्वतोभावन सहयोग समर्पित किया। मेर अन्तवासी मुनीश्वर श्री शिरीष मुनि जी महाराज इस कार्य को पूरे समर्पित मन मे आगे बढा रह है। श्रुताराधना और श्रुतप्रभावना के रूप म उनका श्रम श्रमण सघ मे सदेव प्रशमनीय रहेगा।

वयोवृद्ध विद्वान श्री ज प त्रिपाठी एव श्री विनाद शर्मा का समर्पित श्रम भी पूर्व की भाति इस प्रकाशन से जुडा हुआ है। तदर्थ विद्वान-द्वय साधुवाद के शतश: अधिकारी है।

—आचार्य शिव मुनि
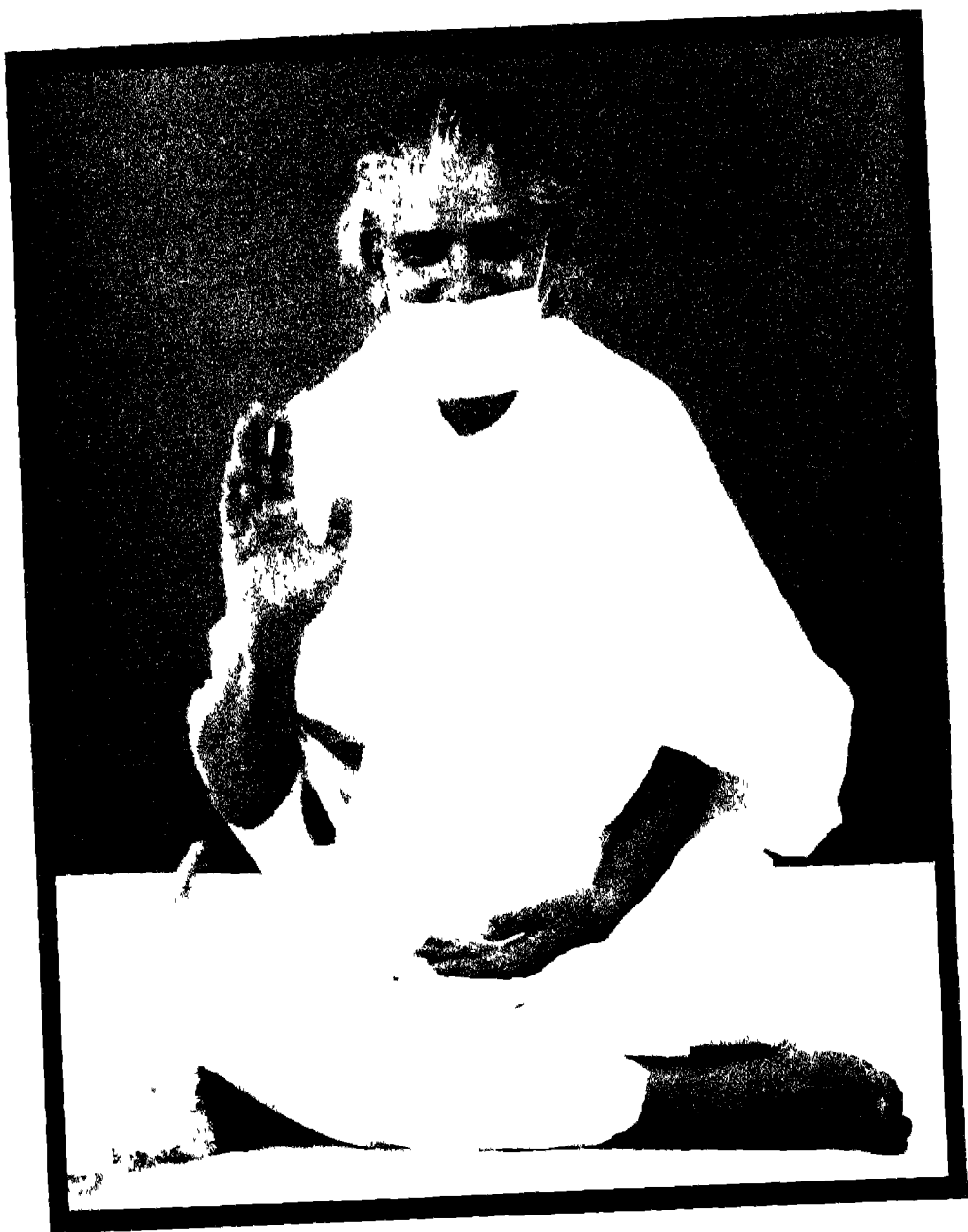
जैन धर्म दिवाकर ध्यान योगी

आचार्य सम्राट् डा० श्री शिवमुनि जी महाराज

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव
आगम प्रकाशन समिति के सहयोगी-सदस्य

1 समादरणीया माता श्रीमती विद्यादेवी जैन धर्मपत्नी श्री चिरजीलाल जी जैन, मलौट मण्डी (पजाब)
2 श्री सदीप जैन, अध्यक्ष श्री एस एस जैन सभा, सिरसा (हरियाणा)
3 श्री महेन्द्र कुमार जी जैन, मिनी किग, लुधियाना, पजाब
4 श्री शोभनलाल जी जैन, लुधियाना, पजाब
5 आर एन ओसवाल परिवार, लुधियाना, पजाब
6 सुश्राविका लीला बहन, मोगा, पजाब
7 सुश्राविका सुशीला बहन लोहटिया, लुधियाना, पजाब
8 उमेश बहन, लुधियाना, पजाब
9 स्व श्री सुशील कुमार जी जैन, लुधियाना, पजाब
10 श्री नवरग लाल जी जैन, सगरिया मण्डी, पजाब
11 श्रीमती शकुन्तला जैन धर्मपत्नी श्री राजकुमार जैन, सिरसा, हरियाणा
12 श्री रवीन्द्र कुमार जैन, भटिण्डा, पजाब
13 लाला श्रीराम जी जैन सर्राफ, मालेरकोटला, पजाब
14 श्री चमनलाल जी जैन सुपुत्र श्री नन्द किशोर जी जैन, मालेरकोटला, पजाब
15 श्रीमती मूर्ति देवी जैन धर्मपत्नी श्री रतनलाल जी जैन (अध्यक्ष), मालेरकोटला, पजाब
16 श्रीमती माला जैन धर्मपत्नी श्री राममूर्ति जैन लोहटिया, मालेरकोटला, पजाब
17 श्रीमती एव श्री रत्नचद जी जैन एड सस, मालेरकोटला, पजाब
18 श्री बचनलाल जी जैन सुपुत्र स्व श्री डोगरमल जी जैन, मालेर कोटला, पजाब
19 श्री अनिल कुमार जैन, श्री कुलभूषण जैन सुपुत्र श्री केसरीदास जैन, मालेरकोटला, पजाब
20 श्रीमती काता जैन धर्मपत्नी श्री गोकुलचन्द जी जैन, शिरडी, महाराष्ट्र
21 किरण बहन, रमेश कुमार जैन बोकडिया, सूरत, गुजरात
22 श्री श्रीपत सिह गाखरू, जुहू स्कीम मुम्बई, महाराष्ट्र
23 प्रेमचन्द जैन सुपुत्र श्री बनारसी दास जैन मालेरकोटला, पजाब
24 प्रमोद जैन, मन्त्री एस एस जैन सभा, मालेरकोटला, पजाब
25 श्री सुदर्शन कुमार जैन, सेक्रेटरी एस एस जैन सभा, मालेरकोटला, पजाब
26 श्री जगदीश चन्द्र जैन हवेली वाले, मालेरकोटला, पजाब
27 श्री सतोष जैन, खन्ना मण्डी, पजाब

28 श्री पार्वती जैन महिला मण्डल, मालेरकोटला, पजाब

29 श्री आनन्द प्रकाश जैन, अध्यक्ष जैन महासघ, दिल्ली प्रदेश

30 श्री चान्दमल जी, मण्डोत, सूरत

31 श्री शील कुमार जैन, दिल्ली

32 श्री राजेन्द्र कुमार जी लुकड, पूना

33 श्री गोविन्द जी परमार, सूरत

34 श्री शान्तिलाल जी, मण्डोत, सूरत

35 श्री चान्दमल जी माद्रेचा, सूरत

36 श्री आर डी जैन, विवेक विहार, दिल्ली

37 श्री एस एस जैन, प्रीत विहार, दिल्ली

38 श्री राजकुमार जेन, सुनाम, पजाब

39 श्री लोकनाथ जी जैन, नोलखा साबुन वाले, दिल्ली

40 श्री नेमचन्द जी जेन, सरदूलगढ, पजाब

41 श्री स्नेहलता जैन धर्मपत्नी श्री किशनलाल जेन, सफीदो मण्डी (हरियाणा)

42 श्री सूर्यकान्त टी भटेवरा, पूणे, (महाराष्ट्र)

43 श्रीमती किरण जेन, करनाल (हरियाणा)

44 श्री विमल प्रकाश जी, जालधर, पजाब

45 श्री राजिदर जेन, श्री राकेश जेन, जालधर, पजाब

46 स्त्री सभा, रूपा मिस्त्री गली, लुधियाना, पजाब

47 वर्धमान शिक्षण सस्थान, फरीदकोट, पजाब

48 एस एस जैन सभा, जगराओ, पजाब

49 एस एस जैन सभा, गीदडवाहा, पजाब

50 एस एस जैन सभा, केसरी-सिहपुर, पजाब

51 एस एस जेन सभा, हनुमानगढ, (राजस्थान)

52 एस एस जैन सभा, रत्नपुरा, पजाब

53 एस एस जेन सभा, रानिया, पजाब

54 एस एस जेन सभा सगरिया, पजाब

55 एस एस जन सभा, सरदूलगढ, पजाब

56 एस एस जैन सभा, बरनाला, पजाब

57 श्री एस एस जेन सभा, मलोट मण्डी, पजाब

58 श्री एस एस जेन सभा, सिरसा, हरियाणा

59 एस एस जैन बिरादरी, तपावाली, मालेरकोटला, पजाब

60 श्री एस एस जन सभा, सगरूर, पजाब

अपने संघ, संस्था एवं घर में अपना पुस्तकालय

'भगवान महावीर मेडीटेशन एण्ड रिसर्च सेन्टर ट्रस्ट' के अन्तर्गत 'आत्म-ज्ञान- श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति' द्वारा आचार्य सम्राट् पूज्य श्री शिवमुनि जी म सा के निर्देशन मे श्रमण सघीय प्रथम पट्टधर आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी म सा द्वारा व्याख्यायित जैन आगमो की टीकाओ का पुनर्मुद्रण एव सपादन कार्य द्रुतगति मे चल रहा है। श्री उपासकदशाग सूत्रम् , श्री अनुत्तरौपपातिक सूत्रम् , श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् भाग 1-2-3 अतकृद्दशाग सूत्रम्, श्री आचाराग सूत्रम् (प्रथम तथा द्वितीय श्रुतस्कध), श्री दशवैकालिक सूत्रम्, श्री नन्दीसूत्रम्, श्री विपाकसूत्रम्, श्री निरयावलिका सूत्रम्, श्री दशाश्रुतस्कध सूत्रम्, श्री स्थानाङ्ग सूत्रम् आदि आगम प्रकाशित हो चुके है।

प्रकाशन योजना के अन्तर्गत जो भी श्रावक सघ अथवा सस्था या कोई भी स्वाध्यायी बन्धु आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी म सा के आगमो के प्रकाशन मे सहयोग देना चाहते है एव स्वाध्याय हेतु आगम प्राप्त करना चाहते है, उनके लिए एक योजना बनाई गई है। 11,000/ (ग्यारह हजार रुपए मात्र) भेजकर जो भी इस प्रकाशन कार्य मे सहयोग देगे उनको प्रकाशित समस्त आगम एव आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म सा द्वारा लिखित समस्त साहित्य तथा "आत्म दीप" मासिक पत्रिका दीर्घकाल तक प्रेषित की जाएगी। इच्छुक व्यक्ति निम्न पतो पर सम्पर्क करे.—

(1) भगवान महावीर मेडीटेशन एण्ड रिसर्च सेन्टर ट्रस्ट
आदीश्वर धाम, सन्मति नगर, कुप्प कला, जि सगरूर (पजाब)
(लुधियाना मालेर कोटला रोड पर स्थित)

(2) श्री प्रमोद जैन
द्वारा श्री श्रीपाल जैन, पुराना लोहा बाजार
पो मालेर कोटला, जिला · सगरूर, (पजाब)
फोन . 0167–5258944

(3) श्री अनिल जैन
1924, गली न 5, कुलदीप नगर,
लुधियाना—141008 (पजाब)
फोन 9417011298

श्री स्थानांग सूत्रम्

अनुक्रमणिका

***** पंचम स्थान : सूत्र संख्या-89 *****

पंचम स्थान : प्रथम उद्देशक

पंचम स्थान : द्वितीय उद्देशक

पंचम स्थान : तृतीय उद्देशक

***** षष्ठम स्थान : सूत्र संख्या-66 *****

*** सप्तम स्थान : सूत्र संख्या-53 ***

*** अष्टम स्थान : सूत्र संख्या-71 ***

***** नवम स्थान : सूत्र संख्या-48 *****

***** दशम स्थान : सूत्र संख्या-82 *****

●●●

****

नमन

वीर प्रभु महाप्राण, सुधर्मा जी गुणखान।

अमर जी युगभान, महिमा अपार है।

मोतीराम प्रज्ञावन्त, गणपत गुणवन्त।

जयराम जयवन्त, सदा जयकार है।।

ज्ञानी-ध्यानी शालीग्राम, जैनाचार्य आत्माराम।

ज्ञान गुरु गुणधाम, नमन हजार है।

ध्यान योगी शिवमुनि, मुनियों के शिरोमणि।

पूज्यवर प्रज्ञाधनी शिरीष नैया पार है।।

श्री स्थानाङ्ग सूत्रम्

प्रथम उद्देशक

इस उद्देशक में–

महाव्रतों, अणुव्रतों , वर्ण, कामगुण, अनुरक्तिस्थान, दुर्गति व सुगति के कारण, प्रतिमा-भेद, स्थावरकाय, अवधि-दर्शन के विनाश-कारण, केवलज्ञान एवं केवलज्ञान में अक्षोभ के कारण, विविध शरीरों के वर्ण-रस आदि, तीर्थकरो के लिए दुर्बोध और सुबोध स्थान, भगवान् महावीर द्वारा अनुज्ञात विविध स्थान, महा निर्जरा और महापर्यवसान के कारण, विसांभोगिक बनाने के कारण पाराञ्चित प्रायश्चित्त, आचार्य और उपाध्याय के शान्ति और कलह स्थान, पांच आसन और पांच आर्जव, ज्योतिष्क देव, परिचारणा, असुरेन्द्र चमर की पांच महारानियां, इन्द्रों की सेनाएं, शक्रेन्द्र-परिषद् के देवों का स्थान, ईशानेन्द्र-परिषद् की देवियों की स्थिति, प्रतिघात, आजीवक, राजककुद, छद्मस्थ द्वारा परीषहों और उपसर्गो को सहन करने के कारण, केवली महापुरुषों द्वारा परीषह सहन के कारण, हेतु, अहेत, अनुत्तर, अरिहन्तों के कल्याणक, नक्षत्र आदि विषयों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

प्रथम भाग मे स्थानाग-सूत्र क चार स्थान पूर्ण हो चुके है। प्रथम भाग मे पृष्ठाक १२४८ तक था। प्रस्तुत द्वितीय भाग मे पचम स्थान से लेकर दशम स्थान तक रहेगे। यहा सुविधा की दृष्टि से पृष्ठांक एक से आरम्भ किया जा रहा है।

पंचम स्थान

प्रथम उद्देशक

सामान्य-परिचय

प्रस्तुत पंचम स्थान में सूक्ष्म-दृष्टि शास्त्रकार ने विश्व के उन नाना पदार्थों, भावों एवं क्रियाओं का वर्णन किया है जिनकी संख्या पांच तक सीमित है।

महाव्रत और अणुव्रत

मूल—पंच महव्वया पण्णत्ता, तं जहा—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं जाव सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं।

पंचाणुव्वया पण्णत्ता, तं जहा—थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे, इच्छापरिमाणे ॥ १ ॥

छाया—पञ्च महाव्रताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सर्वस्मात् प्राणातिपाताद् विरमणं यावत् सर्वस्मात् परिग्रहाद् विरमणम्।

पञ्चाणुव्रता· प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्थूलात् प्राणातिपाताद् विरमणं, स्थूलान्मृषावादाद् विरमणं, स्थूलाददत्तादानाद् विरमणं, स्वदारसन्तोषः, इच्छापरिमाणम्।

शब्दार्थ—पंच महव्वया पण्णत्ता, तं जहा—पाच महाव्रत कथन किए गए है, जैसे, **सव्वाओ पाणाइवायाओ**—समस्त प्राणातिपात से, **वेरमणं**—विरमण, **जाव**—यावत्, **सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं**—समस्त परिग्रह से विरमण।

पंचाणुव्वया पण्णत्ता, तं जहा—पाच अणुव्रत कथन किए गए हैं, जैसे, **थूलाओ**—स्थूल, **पाणाइवायाओ वेरमणं**—प्राणातिपात से विरमण, **थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं**—स्थूल मृषावाद से विरमण, **थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं**—स्थूल अदत्तादान से विरमण, **सदारसंतोसे**—स्वदार सन्तोष, **इच्छापरिमाणे**—इच्छा-परिमाण।

मूलार्थ—पाच महाव्रत प्रतिपादित किए गए है, जैसे—समस्त प्राणातिपात अर्थात् जीव-हिंसा से उपरत होना यावत् समस्त परिग्रह अर्थात् धनादि के सग्रह से उपराम होना।

श्रावक के पांच अणुव्रत कथन किए गए हैं, जैसे—स्थूल प्राणातिपात से उपरति, स्थूल मृषावाद से उपरति, स्थूल अदत्तादान अर्थात् चोरी से उपरति, स्वदार-सन्तोष अर्थात् अपनी स्त्री से मर्यादित गृहस्थाचरण और पर-स्त्री का परित्याग, इच्छापरिमाण अर्थात् धनादि के सम्बन्ध मे अपनी परिग्रह सम्बन्धी इच्छाओ को सीमित करना।

विवेचनिका—विश्व में मुख्यतया जीव और अजीव ये दो ही पदार्थ हैं। ये दोनो पदार्थ अनत धर्मात्मक हैं। अनत धर्मो वाले पदार्थो का जिन-जिन रूपो में वर्णन अपेक्षित था, उन-उन रूपो का वर्णन विगत चार स्थानो में किया जा चुका है, अब पञ्चत्व की अपेक्षा रखने वाले पदार्थो, भावों और क्रियाओ का वर्णन इस पञ्चम स्थान के तीन उद्देशको में हो रहा है। इस स्थान के पहले उद्देशक मे सर्व प्रथम अनासक्त जीवन के महापथिक त्यागाश्रित महापुरुषों के पांच महाव्रतो और गृहस्थ जीवन मे रहते हुए भी क्रमश. त्याग मार्ग को अपनाते हुए साधक के पाच अणुव्रतो का परिचय दिया जा रहा है।

महाव्रत—व्रत का अर्थ है किसी महती धारणा की स्वीकृति। इस स्वीकृति को पूर्ण रूप से पाना सार्वभौम महाव्रत है और आशिक रूप से पाना अणुव्रत। अन्य व्रतों की अपेक्षा इन्हे महाव्रत कहते है। कहा भी है—**महान्ति-बृहन्ति च तानि व्रतानि च नियमा महाव्रतानि,** जिन व्रतों की आराधना-पालना भी महान हो और जिन्हें अपनाने से मानव आत्मा **महतोऽपि महीयान्** अर्थात् महान् से महान् बन जाए उनको महाव्रत कहा जाता है। महाव्रतो की आराधना से ही अरिहन्त एव सिद्ध पद प्राप्त किया जा सकता है और महाव्रतो के द्वारा ही जीव अनुत्तर विमानवासी देव बनता हैं, अत: इन्हे महाव्रत कहा जाता है। ये महाव्रत पाच है, जैसे कि—

१. अहिंसा महाव्रत—मै और तू के भेद का बोध ही हिंसा है और उस भेद का मिट जाना अहिंसा है, क्योकि मै और तू का भेद रहने पर मै तू को और तू मै को समाप्त कर देना चाहता है, यह समाप्ति का भाव ही हिंसा है और जब यह भाव मिट जाता है तो सर्वत्र समता के दर्शन होने लगते हैं। यह समता सहानुभूति, प्रेम और करुणा को जन्म देती है और इनके उदय होने पर सब को अपने समान समझने का बोध जागृत हो जाता है, तब समस्त हिसा के भाव मिट जाते हैं। विश्व भर मे किसी भी जीव की मन, वचन और काया से हिसा न स्वयं करना न दूसरो के द्वारा करवाना और न ही हिसा करने वाले की क्रिया का अनुमोदन एव समर्थन करना पूर्ण अहिसा है। इस अहिसा व्रत के बाधक कारणो को नष्ट करना, हिंसाशील साधनों से सर्वथा दूर रहना ही पहला महाव्रत है। प्राणातिपात अर्थात् किसी भी प्राणी के शरीर से प्राणो को अलग करना रूप क्रिया से सर्वथा निवृत्ति पाना ही प्राणातिपात-

विरमण है। इन्द्रिय, योग, श्वासोच्छ्वास और आयु इनके समन्वित रूप को प्राण कहते हैं, इनका विध्वस न करना ही 'प्राणातिपात-विरमण है'।

२. मृषावाद-विरमण—मृषावाद से सर्वथा निवृत्ति पाना सत्य है। झूठ का प्रयोग चार कारणों से होता है, जैसे कि सत्य का अपलाप करना, जिसका सद्भाव है, उसका निषेध या नास्ति कहना, **''सद्भावप्रतिषेधो मृषा''** है। जिस वस्तु का अभाव हो उसका भाव सिद्ध करना, असत् को सत् मानना, अनहोनी को होनी कहना भी मृषा है, इसको दूसरे शब्दों में **''असत उद्भावना''** भी कहते हैं। गलतफहमी एव भ्रांति से कहा हुआ शब्द भी मृषाभूत कहलाता है, इसको **''अर्थान्तरोक्ति''** भी कहते हैं। गाली, दुर्वचन या निदनीय शब्दों का प्रयोग करना, जैसे अन्धे को अन्धा कहना 'मृषावाद' है। न स्वयं मृषा बोलना न दूसरे से मृषा बुलवाना और न मृषाभाषी का समर्थन करना मन, वचन और काय से, इस प्रकार के मृषावाद से सर्वथा निवृत्ति पाना ही 'मृषावाद-विरमण' नामक दूसरा महाव्रत है।

३. अदत्तादान-विरमण—किसी की आज्ञा के बिना ही किसी की वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। चोरी भी चार प्रकार की होती है—जड और चेतन पदार्थो का ग्रहण करना ''द्रव्य चोरी'' है। किसी के क्षेत्र पर बलात् अधिकार जमाना तथा ग्राम, नगर, राजधानी आदि पर बिना अनुमति के ही आधिपत्य करना ''क्षेत्र-चोरी'' है। किसी अनुबन्ध के अनुसार समय पर काम न करना, वेतन लेते हुए काम न करना ''काल-चोरी'' है। राग-द्वेष-मोह की भावना से ओतप्रोत होना, नियम एव सत् प्रतिज्ञा तोडना भाव-चोरी है। किसी के ग्रन्थ को, कविता को, नाटक एवं उपन्यास आदि साहित्य को छल से चुराकर अपने नाम से प्रकाशित करना भी ''भाव चोरी'' ही मानी जाती है। सूक्ष्म, स्थूल, द्रव्य, भाव किसी भी प्रकार की चोरी न करना—वस्तु के स्वामी की आज्ञा लिए बिना उसकी वस्तु को ग्रहण न करना 'अदत्तादान-विरमण' नामक तीसरा महाव्रत है।

४. मैथुन-विरमण—वासना-तृप्ति के लिए दो प्राणियों के शारीरिक मिलन को मैथुन कहते है। देवता-सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बधी और तिर्यंच-सम्बधी काम-भोगो से सर्वथा निवृत्ति पाना, कामोद्दीपक बातें न करना, अश्लील बातें न सुनना, कामोद्दीपक अश्लील साहित्य के पठन से दूर रहना, भुक्त काम-भोगो का स्मरण भी न करना, वासनोत्तेजक दृश्य, चित्र या किसी के अंगोपागों को न देखना और न ही स्पर्श करना, इसी प्रकार अश्लील वातावरण में न रहना और इसके विपरीत मन, वाणी और काय तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण रखकर स्वाध्याय-ध्यान-समाधि के द्वारा आत्मचिंतन मे लीनता ही ब्रह्मचर्य है। पूर्णतया ब्रह्मचर्य पालन करना ही 'मैथुन-विरमण' नामक चौथा महाव्रत है।

५. परिग्रह-विरमण—लोभ के वशीभूत होकर किसी भी वस्तु पर ममत्व का बढ़ते जाना ही परिग्रह है। परिग्रह के कारण ही जीव हिंसा, झूठ, चोरी आदि सभी तरह के पापाचरण करने मे तत्पर होता है, अत: परिग्रह ही समस्त पापाचरणो का मूल है। मनुष्य

का जिस पर ममत्व है उस पर वह अपना अधिकार समझता है और उस अधिकार पर व्याघात होते ही हिंसा जाग उठती है। ममत्व का शक्ति से विस्तार न कर पाने की दशा में ही तो चोरी की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। स्त्री पर अधिकार एवं ममत्व ही वासना को उद्दीप्त कर काम-भोगों की ओर बढ़ने को प्रेरित करता है और ममत्व के विस्तार के लिए जागृत छल-कपट ही असत्य भाषण की प्रवृत्ति को जन्म देता है। इस प्रकार पापाचरण का मूल परिग्रह ही माना जाता है। अत: सचित्त, अचित्त, मिश्र, आभ्यन्तर एव बाह्य सभी तरह के परिग्रह से मुक्त होना ही 'परिग्रह-विरमण' महाव्रत है। स्वय परिग्रह न रखना, दूसरों को परिग्रह रखने के लिए प्रेरित न करना और परिग्रहशील के परिग्रह का अनुमोदन-समर्थन न करते हुए मन, वचन और काय से परिग्रह न रखने की प्रतिज्ञा को अपरिग्रह महाव्रत कहते हैं।

महाव्रत जीवन भर के लिए धारण किए जाते है। महाव्रतों में किसी प्रकार की छूट, आगार या अपवाद नहीं होता। इन्हे धारण करने वाला साधक जीवन-भर के लिए धारण करता है और जीवन-भर इनके रक्षण और पालन के लिए यत्नशील रहता है। पहले महाव्रत का सीधा सम्बन्ध छ: जीव-निकाय से है, दूसरे महाव्रत का सम्बन्ध सब द्रव्यों से है, क्योकि सर्व द्रव्य और सर्व पर्याय को मानना ही दूसरा महाव्रत है। तीसरे महाव्रत का सम्बन्ध द्रव्यो के एक देश से है। रूप और रूप सहगत पदार्थो से निवृत्ति पाना ही चौथा महाव्रत है। कामोत्तेजक चित्र, मूर्ति या अन्य किसी जड़ पदार्थ को ''रूप'' कहते है और अलंकार सहित एवं अलकार-रहित चेतन को ''रूप-सहगत'' कहा जाता है। कामोद्दीपक रूप और रूप-सहगत से सर्वथा निवृत्ति पाना ही चौथे महाव्रत का विषय है। पाचवे महाव्रत का विषय सर्व-द्रव्य-निवृत्ति है। आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त अन्य सभी रूपी या अरूपी द्रव्यो से मुक्त होना ही वस्तुत: अपरिग्रह है।

प्रत्येक महाव्रत की पाच-पाच भावनाए होती है, जिनका विस्तृत वर्णन आचाराग, प्रश्नव्याकरण तथा समवायांग सूत्र मे मिलता है। ये महाव्रत आत्म-विकास के लिए ग्रहण किए जाते हैं। वास्तव मे देखा जाए तो ये महाव्रत चारित्ररूपधर्म के सर्वस्व है।

साधक दो वर्गो में विभक्त है। पहला वर्ग उन साधकों का है जिनका जीवन वैराग्य के महापथ पर अग्रसर होकर शरीर यात्रा की भी चिन्ता न करते हुए आत्म-चिंतन को ही प्रधानता देता है। ऐसे महापुरुष ही 'साधु' कहलाते है और ऐसा साधुवर्ग ही उपर्युक्त महाव्रतो का पालन कर सकता है।

दूसरे वर्ग के साधक वे है जो गृहस्थ जीवन मे रहते हुए भी आत्मोत्थान की तीव्र अभिलाषा रखते हैं। गृहस्थ जीवन मे अहिसा आदि व्रतों का पूर्णत: पालन नही किया जा सकता, परन्तु अहिंसा आदि व्रतो के बिना साधक की साधना सफल नहीं हो सकती, अत: वह इन व्रतों का आशिक पालन करता है, कुछ मर्यादाओं के द्वारा इन्हें जीवन से अधिकाधिक सम्बद्ध करता है, उसके इसी प्रयास को 'अणव्रत' कहा जाता है।

अणुव्रत :—

१. संसार के सभी जीवों को दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है— त्रस और स्थावर। चलते-फिरते सभी जीवो को त्रस कहते हैं, शेष जीवों को स्थावर कहा जाता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एव पंचेन्द्रिय जीवो को त्रस और पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति-कायिक जीवों को स्थावर कहते हैं। निरपराधी चलने-फिरने वाले त्रस प्राणी की हिंसा करने का त्याग करना, जान-बूझ कर मारने की इच्छा से किसी छोटे-बडे प्राणी को न मारना, स्थावरों की मर्यादा करना, किसी को अनुचित दंड न देना, क्रोध और लोभ के वशीभूत होकर किसी प्राणी को पीड़ित न करना, इस प्रकार से की जाने वाली प्रतिज्ञा को 'स्थूल-प्राणातिपात-विरमण' अणुव्रत कहते है।

२. जो असत्य अपने और दूसरो के लिए हानिकारक हो, जिसे दूसरे शब्दों में 'स्थूल-मृषावाद' भी कहते हैं, जैसे कि कन्या के निमित्त से, पशुओ के निमित्त से, भूमि के निमित्त से, धरोहर के निमित्त से झूठ बोलना, झूठी गवाही देना, बिना विचारे बोलना, किसी की गुप्त बात को प्रकाशित करना, जाली सिक्के तैयार करना, झूठा दस्तावेज बनाना, झूठ बोलने का उपदेश देना आदि समस्त क्रियाए स्थूल मृषावाद है, अत: स्थूल मृषावाद का परित्याग करना दूसरा अणुव्रत है जिसको 'स्थूल-मृषावाद-विरमण-व्रत' भी कहते है।

३ बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना अदत्त-आदान है। किसी के ताले मे कुजी लगाकर खोलना, सेध लगाना, मार्ग में किसी को लूटना, किसी की गांठ कतरना, डाका मारना, चोर की चुराई हुई वस्तु लेना, चोर को सहयोग देना, राज्य-विरुद्ध कार्य करना, कम तोलना, कम मापना, असली वस्तु मे नकली वस्तु मिलाना, नकली वस्तु मे असली वस्तु मिलाना, ये चोरी के ही स्थूल रूप है, इनका परित्याग ही तीसरा अणुव्रत है, जिसे 'स्थूल-अदत्तादान-विरमण-व्रत' कहा जाता है।

४ विवाहित पति एवं पत्नी तक ही अपनी वासनाओ को मर्यादित रखना एव अधिकाधिक सयम का ध्यान रखना चौथा अणुव्रत है। कुलटा स्त्रियों और दुराचारियो की सगति का परित्याग करना, नीति विरुद्ध एवं प्रकृति-विरुद्ध संगति से दूर रहना, कामवर्द्धक खेल तमाशे देखना, काम वासना को बढ़ाने के लिए दवाओ का प्रयोग करना, किसी को कुदृष्टि से देखना दुराचार है। उपर्युक्त क्रियाओ से स्वदार संतोषित या स्वभर्त्ता संतोषित व्रत दूषित हो जाता है। जैसे स्त्री का धर्म पतिव्रत है वैसे ही पुरुष का धर्म पत्नीव्रत है। जिसके साथ विवाह संबध जुड़ा है उसके अतिरिक्त सभी के साथ भाई-बहिनों जैसा व्यवहार करने पर ही इस व्रत का पालन हो सकता है।

इस व्रत के उपासक पति-पत्नी के लिए यह भी स्मरणीय एव आचरणीय है कि वे परस्पर प्रेम का व्यवहार करे, परन्तु अत्यासक्ति का परित्याग करें। अत्यासक्ति 'स्वदार-सन्तोष-व्रत' को विकृत एव दूषित कर देती है।

५ मर्यादित रीति-नीति से आवश्यकता की पूर्ति करना ही 'स्थूल परिग्रह-परिमाण-व्रत' कहलाता है। आगमों में इस व्रत को ''इच्छापरिमाणव्रत'' नाम भी दिया है। इच्छाएं आकाश की तरह अनन्त हैं, **इच्छा हु आगास समा अणंतिया।** इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य लाखों प्रयत्न करता है फिर भी वे पूरी नहीं हो पातीं, वे सर्वदा अधूरी ही रहती हैं। इच्छाओं पर नियंत्रण करने से ही आत्मा समाधिस्थ हो सकता है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि इच्छाओं का दमन जीवन के लिए हानिकारक होता है, क्योकि दमित वासनाए सामान्य से सस्कार पाते ही ऐसे उभर आती है, जैसे वर्षा पड़ते ही धरती में दबे वनस्पतियो के अंकुर फूट पड़ते है, अत: इच्छाओं का रोकना हानिकारक भी है और अशक्य भी। इसलिए इच्छाओ का मार्ग बदल देना चाहिए उन्हें तप, त्याग, मैत्री, करुणा, सहानुभूति, प्रेम स्वाध्याय आदि की ओर मोड़ देना चाहिए। इस प्रकार इच्छाओ का दमन नही, उन पर नियत्रण होना चाहिए। उपार्जित द्रव्य को यथाशक्य दान मे लगाना भी इस व्रत का एक अग है। इच्छाओ को सीमित एव नियन्त्रित करना ही 'इच्छा-परिमाण-व्रत' है।

इन पाच अणुव्रतों का पालन करना गृहस्थो के लिए आवश्यक है। इन के पालन से ही व्यक्ति आदर्श गृहस्थ बन सकता है। आदर्श गृहस्थ ही श्रमणोपासक या भगवान का भक्त बन पाता है। इन पाच अणुव्रतो को 'मूलगुण' भी कहते हैं। मूलगुणो से ही आत्मा का विकास होता है। अणुव्रतो का आराधक जीव उत्कृष्ट बारहवे देवलोक में उत्पन्न हो सकता है फिर भले ही वह गृहस्थ पुरुष हो या स्त्री। जिसकी जीवनचर्या दैवी भावनाओ से ओत-प्रोत है वही देवत्व को प्राप्त करता है, अन्य नही।

काम-गुण और आसक्ति आदि के स्थान

मूल—पंच वन्ना पण्णत्ता, तं जहा—किण्हा, नीला, लोहिया, हालिद्दा, सुक्किला।

पंचरसा पण्णत्ता, तं जहा—तित्ता जाव महुरा।

पंच कामगुणा पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा, रूवा, गंधा, रसा, फासा।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा सज्जंति, तं जहा—सद्देहिं जाव फासेहिं। एवं रज्जंति, मुच्छंति, गिज्झंति, अज्झोववज्जंति।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा विणिघायमावज्जंति, तं जहा—सद्देहिं जाव फासेहिं।

पंच ठाणा अपरिण्णाया जीवाणं अहियाए, असुभाए, अखेमाए, अणिस्सेयसाए, अणाणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—सद्दा जाव फासा।

पंच ठाणा सुपरिण्णाया जीवाणं हियाए, सुहाए जाव अणाणुगामिय-त्ताए भवंति, तं जहा—सद्दा जाव फासा।

पंच ठाणा अपरिण्णाया जीवाणं दुग्गइगमणाए भवंति, तं जहा—सद्दा जाव फासा।

पंच ठाणा परिण्णाया जीवाणं सुग्गइगमणयाए भवंति, तं जहा—सद्दा जाव फासा॥ २॥

छाया—पञ्च वर्णाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णाः, नीलाः, लोहिता., हारिद्राः, शुक्लाः।

पञ्च रसाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—तिक्तः, यावत् मधुरः।

पञ्च कामगुणाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शब्दाः, रूपाणि, गन्धाः, रसा·, स्पर्शाः।

पञ्चसु स्थानेषु जीवाः सज्यन्ते, तद्यथा—शब्देषु यावत् स्पर्शेषु। एवं रज्यन्ते, मूर्च्छन्ति, गृद्ध्यन्ति, अध्युपपद्यन्ते।

पञ्चभिः स्थानैर्जीवा विनिघातमापद्यन्ते, तद्यथा—शब्दैर्यावत् स्पर्शैः।

पञ्च स्थानानि अपरिज्ञातानि जीवानामहिताय, अशुभाय, अक्षमाय, अनिः-श्रेयसाय, अननुगामिकतायै भवन्ति, तद्यथा—शब्दा यावत् स्पर्शाः।

पञ्च स्थानानि सुपरिज्ञातानि जीवानां हिताय, शुभाय यावद् आनुगामिकतायै भवन्ति, तद्यथा—शब्दाः यावत् स्पर्शाः।

पञ्च स्थानानि अपरिज्ञातानि जीवानां दुर्गतिगमनाय भवन्ति, तद्यथा—शब्दा यावत् स्पर्शाः।

पञ्च स्थानानि परिज्ञातानि जीवानां सद्गतिगमनाय भवन्ति, तद्यथा—शब्दाः यावत् स्पर्शाः।

मूलार्थ—पाच वर्ण कथन किए गए है, जैसे—कृष्ण, नील, लोहित, पीत, और शुक्ल।

पांच रस हैं, जैसे—तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल और मधुर।

पांच कामगुण हैं, जैसे कि—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श। इसी प्रकार पांच कारणो से जीव आसक्त होते हैं, अनुरक्त होते हैं, मूर्च्छित होते है, गृद्ध होते है, अतीव संसक्त होते है, जैसे—शब्दों में यावत् स्पर्शो में।

पांच कारणों से जीव विनाश को प्राप्त होते है, जैसे—शब्दो से यावत् स्पर्शो से।

पांच स्थान यदि अपरिज्ञात हो तो जीवों को अहित, अशुभ, अनौचित्य, अकल्याण

एवं परलोक में अननुगामिकता (साथ में न जाना) के लिए होते हैं, जैसे—शब्द यावत् स्पर्श।

पाच स्थान यदि सुपरिज्ञात हो, तो जीवों को हित, शुभ यावत् परलोक में अनुगामिकता (साथ मे जाना) के लिए होते हैं—शब्द यावत् स्पर्श।

पाच स्थान यदि अपरिज्ञात हों तो जीवों को दुर्गति में ले जाने वाले होते हैं, जैसे—शब्द यावत् स्पर्श।

पाच स्थान यदि सुपरिज्ञात हो तो जीवों को सुगति मे ले जाने के लिए होते हैं, जैसे—शब्द यावत् स्पर्श।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे अन्तिम प्रतिपाद्य है "इच्छा-परिमाण" और इच्छा-परिमाण भौतिक पदार्थो का ही होता है। भौतिक पदार्थ सभी रूप और रस वाले है, अत: इस सूत्र मे क्रम प्राप्त वर्ण आदि तेरह विषयो का दिग्दर्शन कराया गया है। वर्ण यद्यपि अनेक अर्थो का द्योतक है, जैसे कि ब्राह्मण क्षत्रिय आदि समाज के चार भागो को वर्ण कहा जाता है, अकार आदि अक्षरो को भी "वर्ण" कहते हैं, जैसे कि "वर्ण-माला"। इसी प्रकार गुण, यश, कीर्ति और स्तुति आदि अर्थो मे भी "वर्ण" शब्द प्रयुक्त होता है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण मे रूप शब्द रग के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। काला, नीला, लाल, पीला, धवल आदि रगो का समावेश वर्ण मे होता है और वर्ण चक्षु का विषय है। अंजन काला होता है, वैडूर्यमणि नीली होती है, लालमणि लाल, सुवर्ण पीला, अर्जुन रत्न एव रजत आदि सफेद होते है, इन्ही के सम्मिश्रण से अन्य अनेक रग उत्पन्न होते है, अत. कपिश हरित आदि अन्य वर्णो का समावेश उक्त पाच मे ही हो जाता है।

रस पद भी अनेक अर्थो का द्योतक है, जैसे कि जल, तरल पदार्थ, फलो से प्राप्त द्रव पदार्थ, काव्य के नौ रस, आनन्द की अनुभूति इत्यादि। किन्तु यहा रस का तात्पर्य रसनेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य विषय ही है। जिह्वा जिस रस को ग्रहण करती है उसे रस कहते है, वह पाच प्रकार का होता है, जैसे कि तिक्त, सोठ, मिर्च आदि का रस। कटु जैसे अफीम, हरड़, कडवे तूबे आदि का रस। कसैला जैसे कच्चे रतालू, कचालू आदि का रस। खट्टा जैसे नींबू, फटकडी आदि का रस। मधुर— मिश्री खांड आदि का रस। शेष सभी रसो का अन्तर्भाव उक्त पाच मे ही हो जाता है।

काम-गुण—

जो पौद्गलिक गुण वासनात्मक भावो को जगाने वाले हैं, उन्हें काम-गुण कहते है, वे सख्या में पाच ही हैं। उपर्युक्त शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन्हें काम-बाण भी कहते है। वृत्तिकार भी लिखते हैं—

कामस्य मदनाभिलाषस्य अभिलाषमात्रस्य वा संपादका गुणा—धर्माः पुद्गलानां,

काम्यन्त इति कामाः, ते च ते गुणाश्चेति वा कामगुणा इति।

अर्थात् पुद्गल जन्य-वासनात्मक गुणो की प्राप्ति के लिए कामना करना ही वस्तुतः काम-गुण है। इन काम गुणो मे संसारी जीव आसक्त हो रहे हैं, इनके प्रति प्राणी मात्र की स्वाभाविक अनुरक्ति है, अतः उन्हीं की प्राप्ति को वे जीवन-लक्ष्य मान बैठे हैं, अतः वे प्राप्त भोगो से कभी सन्तुष्ट नही होते। इसके विपरीत वे उनकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक कामना करते है और इन्ही के वशीभूत होकर अपने प्राणो की आहुति भी दे डालते हैं। कहा भी है—

रक्तः शब्दे हरिणः, स्पर्शे नागो, रसे च वारिचरः।
कृपणः पतंगो रूपे, भुजगो गन्धे ननु विनष्टः॥
पञ्चसु रक्ताः पञ्च विनष्टाः यत्रागृहीतपरमार्थाः।
एक. पञ्चसु रक्तः प्रयाति भस्मान्ततां मूढः॥

अर्थात् शब्द मे आसक्त होकर हरिण प्राणों को गंवाता है, स्पर्श मे अनुरक्त होकर हाथी, रस के वशीभूत होकर मछली आदि जलचर जीव, रूप मे आसक्त होकर पतंगे, गंध मे अनुरक्त होकर सर्प प्राणो को गवा देता है। एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत हुए ये प्राणी जब मृत्यु को प्राप्त हो जाते है फिर पांचो गुणों मे एक साथ आसक्त होने वाला मानव विषयासक्ति की आग मे जल कर राख न होगा तो क्या होगा ? अतः जिसने इनके स्वरूप को परमार्थ रूप से नही जाना और प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्याख्यान नहीं किया, उसके लिए उक्त पांच गुण अहितकर, दुखप्रद-अशुभकर, हानिकर, अकल्याणकर तथा भवान्तर मे भी सुखप्रद नहीं है, किन्तु जिसने इन गुणो को भली-भांति जान लिया है और उन्हें त्याग दिया है, उसके लिए शब्द आदि पांच गुण हितकर, सुखकर, सामर्थ्यकर, लाभदायक, निःश्रेयसकर एवं परभव में भी शुभानुबधी हो जाते हैं।

जिसके मन मे भोग-विलासों की पुष्टि करने वाले शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन पांच कामगुणो पर आसक्ति है तथा जो इनके वशीभूत हो रहा है, जिसने ज्ञ-परिज्ञा से इन्हे जाना नही और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्यागा नहीं उसके लिए ये पांच गुण दुर्गति के कारण बन जाते हैं और जिसने इन्हे जाना, समझा और इनका त्याग किया है उसके लिए ये पांच गुण सुगति के कारण बन जाते है। जैसे एक मनुष्य वासनोत्तेजक शब्द सुन रहा है और दूसरा जिनवाणी या सतवाणी सुन रहा है, एक कामराग बढ़ाने वाले व्यक्ति को देखता है और दूसरा आत्मार्थी मुनिराज के दर्शन करता है, एक कामशास्त्र पढता है और दूसरा धर्मशास्त्र पढ़ता है। एक वेश्या के चरणों का स्पर्श करता है और दूसरा संतों के चरणों पर झुकता है। इनमें पहला कर्मो का बन्ध करता है तो दूसरा कर्मों की निर्जरा करता है। इसी कारण यह कहा गया है कि जो कामगुणो मे आसक्त है वह दुर्गति में और जो अनासक्त है वह सुगति मे गमन करता है। गुणों की कामना करने से जीव कर्मो का बन्ध करता है,

उनसे विमुख होकर जीव बन्धन से मुक्त होता है, अतः काम-गुणो से विमुख होना और आत्म-गुणों की ओर अग्रसर होना ही साधना है, इस साधन के द्वारा ही, जीव कृत-कृत्य हो सकता है।

दुर्गति और सुगति में जाने के कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं जीवा दोग्गइं गच्छंति, तं जहा—पाणाइवाएणं जाव परिग्गहेणं।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा सोग्गइं गच्छंति, तं जहा—पाणाइवायवेरमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं॥ ३॥

छाया—**पञ्चभिः स्थानैर्जीवा दुर्गतिं गच्छन्ति, तद्यथा—प्राणातिपातेन यावत् परिग्रहेण।**

पञ्चभिः स्थानैर्जीवा सुगतिं गच्छन्ति, तद्यथा—प्राणातिपातविरमणेन यावत् परिग्रहविरमणेन।

शब्दार्थ—पचहिं ठाणेहिं—पाच कारणो से, **जीवा**—जीवात्मा, **दोग्गइ गच्छति, तं जहा**—दुर्गति को जाते हैं, जैसे, **पाणाइवाएण**—प्राणातिपात से, **जाव**—यावत्, **परिग्गहेणं**—परिग्रह से।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा—पांच कारणो से जीव, **सोग्गइं गच्छंति, तं जहा**— सुगति को प्राप्त करते है, जैसे, **पाणाइवायवेरमणेणं**—प्राणातिपातविरमण से, **जाव**—यावत्, **परिग्गहवेरमणेणं**—परिग्रह विरमण से।

मूलार्थ—पाच कारणों से जीव दुर्गति मे जाते हैं, जैसे—प्राणातिपात से, मृषावाद से, अदत्तादान से, मैथुन से और परिग्रह से।

पांच कारणो से जीव सुगति मे जाते हैं, जैसे कि प्राणातिपात-विरमण से अर्थात् जीव हिंसा की विरति से यावत् परिग्रह-विरमण आदि से।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में इन्द्रिय-विषय शब्द-स्पर्श आदि से ज्ञान-पूर्वक निवृत्ति होने पर मुक्ति और उन्हीं मे आसक्ति पूर्वक विलीन होने पर दुर्गति का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में पुनः उसी विषय का दूसरे रूप मे वर्णन किया जा रहा है—

पाच कारणो से जीव नरक आदि दुर्गति को प्राप्त करते है, जैसे कि—संकल्पी हिंसा करने से, सकल्पी हिंसा कराने से और सकल्पी हिंसा का अनुमोदन एव समर्थन करने से, छल-प्रपञ्च की भावना से, झूठ बोलने की प्रेरणा देने पर और झूठ बोलने वाले का समर्थन करने पर, प्रमत्त योग से चोरी करने पर, चोरी करवाने पर और चोरी करने वाले का समर्थन—अनुमोदन करने पर, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन आदि दुराचारमय कर्मों से भी जीव दुर्गति को प्राप्त करता है और परिग्रह अर्थात् अत्यासक्ति से भी जीव को दुर्गति की प्राप्ति होती है।

पांच कारणो से जीव सुगति स्वर्गादि लोको एवं शुभ कुलो मे जन्म लेता है, जैसे कि अहिंसा, क्षमा, मैत्री एवं दया पालने से, सत्य बोलने से, चोरी न करने से एवं सदाचार का पालन करने से और संतोष धारण करने से अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह के त्याग करने से सुगति की प्राप्ति होती है।

यहां सुगति से अभिप्राय अभ्युदय और नि:श्रेयस-सिद्धि है। सुगति सभी जीव चाहते है, अत: उस की प्राप्ति के लिए उक्त पाच कारणो का आचरण आवश्यकीय हो जाता है। साराश यह है कि शुभ कारणों से सुगति और अशुभ कारणों से दुर्गति प्राप्त होती है।

प्रतिमा-भेद

मूल—पंच पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—भद्दा, सुभद्दा, महाभद्दा, सव्वओभद्दा, भद्दुत्तरपडिमा॥४॥

छाया—पञ्च प्रतिमाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भद्रा, सुभद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा, भद्रोत्तरप्रतिमा।

शब्दार्थ—पच पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा— पांच प्रतिमाए कथन की गई है, जैसे, **भद्दा**— भद्रा, **सुभद्दा**— सुभद्रा, **महाभद्दा**— महाभद्रा, **सव्वओभद्दा**— सर्वतोभद्रा और, **भद्दुत्तरपडिमा**— भद्रोत्तर प्रतिमा।

मूलार्थ—पांच प्रतिमाएं प्रतिपादित की गई है, जैसे भद्रा, सुभद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा और भद्रोत्तर प्रतिमा।

विवेचनिका— शब्द-स्पर्शादि विषयो मे आसक्ति ही दुर्गति का कारण है, परन्तु जीवन-व्यवहार मे इनका परित्याग कैसे किया जा सकता है? साधक जीवन का यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न के समाधान के रूप में शास्त्रकार भद्रा आदि प्रतिमाओं के आचरण के रूप में उस तप-विधि का वर्णन करते है जिसके द्वारा इन पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

तप से सचित कर्मो का भस्मीकरण होता है। तप करने का विधि-विधान साधक की शक्ति, श्रद्धा एव अभिरुचि पर निर्भर होता है। समुन्नत भावनाओं का वेग जितना महान होता है, कठिन साधना भी साधक के लिए उतनी सुगम बन जाती है। यद्यपि भद्रा, सुभद्रा, महाभद्रा और सर्वतोभद्रा इन चार प्रतिमाओ का विशद वर्णन चतुर्थ स्थान में किया जा चुका है, फिर भी विषय की स्पष्टता के लिए यहां पुन: उस विषय का विवेचन किया जा रहा है।

चार दिशाओं में चार-चार पहर तक कायोत्सर्ग करना **भद्रा** प्रतिमा मानी जाती है। इस अनुष्ठान मे दो दिन लगते हैं।

चार दिशाओ में एक-एक अहोरात्र कायोत्सर्ग करना, **महाभद्रा** प्रतिमा की साधना का

स्वरूप है। इस प्रक्रिया मे चार दिन लगते हैं।

दस दिशाओ में एक-एक अहोरात्र कायोत्सर्ग करना **सर्वतोभद्रा** है, इसकी साधना में दस दिन लगते हैं। सुभद्रा प्रतिमा के विषय मे वृत्तिकार का कहना है "**सुभद्रा त्वदृष्टत्वान्न लिखिता**"—अर्थात् सुभद्रा प्रतिमा का स्वरूप कही देखने में नहीं आया, इस कारण नहीं लिखा गया। प्रकारान्तर से इनका विवरण निम्नलिखित है—

क्षुल्लिका सर्वतोभद्रा

सर्वतोभद्रा प्रतिमा दो प्रकार की होती है, क्षुल्लिका सर्वतोभद्रा और महती सर्वतोभद्रा। इनमें से पहली प्रतिमा को दूसरे शब्दो मे सुभद्रा प्रतिमा एवं खुड्डयासव्वतो-भद्द-पडिमा भी कहते हैं। सुभद्रा प्रतिमा का स्थापना-यन्त्र सामने प्रदर्शित किया गया है।

उपवास, बेला, तेला, चौला, पंचौला। अन्य कोष्ठकों मे जिस क्रम से अंक दिए गए है उसी क्रम से सभी कोष्ठकों को तपस्या से पूरा करना होता है। इसका स्वरूप अन्तगड-सूत्र के आठवें वर्ग मे वर्णित है। इसको पूरा करने मे सो दिन लगते हैं, उनमे ७५ दिन तपस्या मे और २५ दिन पारणे में लगते है। इस तप की स्थापना के विषय मे एक गाथा भी वर्णित है—

एगाई पचंते ठवेउं मज्झं तु आइ मणुयंति।
उचियक्कमेण य सेसे जाण लहु सव्वओभद्द॥

महतीभद्रा-प्रतिमा

महतीभद्रा-प्रतिमा एक उपवास से लेकर सात उपवास—सतौला पर्यत की जाती है। वह १९६ दिनों में समाप्त होती है। इस प्रतिमा के पारणे के दिन ४९ होते हैं शेष सब तपस्या में व्यतीत होते है। इस प्रतिमा को ही 'महालिया सव्वतोभद्द-पडिमा' भी कहते है। इसका स्थापना-यन्त्र दाई ओर प्रदर्शित किया गया है। इसके विषय में एक गाथा में कहा गया है—

एगाई सत्तते ठविउं मज्झं तु आइमणुयंति।
उचियकमेण य सेसे जाण महेसव्वओभद्द॥

महालिया
सव्वतोभद्द-पडिमा

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

तपदिन १९६ — पारणे ४९

भद्दुत्तरा-प्रतिमा
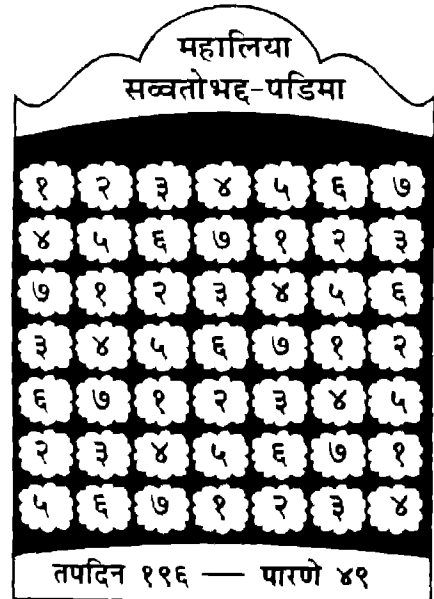
भद्रोतरा-प्रतिमा भी दो प्रकार से वर्णित की गई है—क्षुल्लिका और महती। पांच उपवास से लेकर नौ उपवास पर्यन्त जिस में किए जाते हैं वह क्षुल्लिका भद्रोत्तर-प्रतिमा कहलाती है। उसमें उपवास के कुल १७५ दिन होते है और पारणे के दिन २५ होते है। दो सौ दिनों में यह अनुष्ठान पूर्ण होता है। इसके विषय में कहा गया है :—

पंचाई य नवंते ठविउं मज्झं तु आदिमणुयंतिं।
उचियकमेण य सेसे जाणह भद्दोत्तरं खुड्डं॥

क्षुल्लिका भद्रोत्तरा-प्रतिमा का स्थापना- यन्त्र सामने प्रदर्शित किया गया है।

भद्दुत्तरा-पडिमा

५	६	७	८	९
७	८	९	५	६
९	५	६	७	८
६	७	८	९	५
८	९	५	६	७

तपदिन १०५ पारणे २५
सर्वकाल ६ मास २० दिन

महती भद्रोत्तरा-प्रतिमा

महती भद्रोत्तरा-प्रतिमा पाच उपवास से लेकर ११ उपवास पर्यन्त की जाती है। तपस्या के दिन ३९२ होते हैं और पारणे के ४९ दिन होते है।
महती तु द्वादशादिना चतुर्विंशतितमान्तेन द्विन-वत्यधिकदिनशतत्रयमानेन तपसा भवति तत्र च गाथा—

पंचादिगारसंते ठविउं मज्झं तु आइमणुयंतिं।
उचिय कमेण य सेसे महई-भद्दोत्तरं जाण॥

महती भद्रोत्तरा-प्रतिमा का स्थापना-यन्त्र सामने प्रदर्शित किया गया है।

महती भद्रोत्तरा प्रतिमा						
५	६	७	८	९	१०	११
८	९	१०	११	५	६	७
११	५	६	७	८	९	१०
७	८	९	१०	११	५	६
१०	११	५	६	७	८	९
६	७	८	९	१०	११	५
९	१०	११	५	६	७	८
● तप दिन : ३९२ ● पारणे : ४९						

अंको के अनुसार निर्जल उपवास करना, अथवा जल के अतिरिक्त तिविहारी उपवास करने का भी इसमें विधान है, किन्तु शक्ति न्यून होने से इन्हे आयंबिल, एकलट्ठाण एव एकासनों से भी सम्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार से की हुई तपस्या से कर्मो की निर्जरा होनी स्वाभाविक है।

स्थावरकाय-भेद

मूल—पंच थावरकाया पण्णत्ता, तं जहा—इंदे थावरकाए, बंभे थावरकाए, सिप्पे थावरकाए, संमई थावरकाए, पाजावच्चे थावरकाए।

पञ्च थावरकायाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—इंदे थावरकायाहिवई जाव पाजावच्चे थावरकायाहिवई ॥५॥

छाया—पञ्च स्थावरकायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—इन्द्रः स्थावरकायः, ब्रह्मा स्थावरकायः, शिल्पः स्थावरकायः, सम्मतिः स्थावरकायः, प्रजापतिः स्थावरकायः।

पञ्च स्थावरकायाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—इन्द्रः स्थावरकायाधिपतिर्यावत् प्रजापतिः स्थावरकायाधिपतिः।

शब्दार्थ—पंच थावरकाया पण्णत्ता, तं जहा—पांच स्थावरकाय कथन किए गए हैं, जैसे, **इंदे थावरकाए**—इन्द्र स्थावरकाय—पृथ्वी, **बंभे थावरकाए**—ब्रह्म स्थावरकाय—जल, **सिप्पे थावरकाए**—शिल्प स्थावरकाय—अग्नि, **संमई थावरकाए**—सम्मति स्थावरकाय—वायु, **पाजावच्चे थावरकाए**—प्रजापति स्थावरकाय—वनस्पति।

पञ्च थावरकायाहिवई पण्णत्ता, त जहा—पांच स्थावरकाय के अधिपति कथन किए गए है, जैसे, **इंदे थावरकायाहिवई**—इन्द्र स्थावरकाय का अधिपति है, **जाव**—यावत्, **पाजावच्चे थावरकायाहिवई**—प्रजापति स्थावरकाय का अधिपति है।

मूलार्थ—पांच स्थावरकाय हैं, जैसे—इन्द्र स्थावरकाय, ब्रह्म स्थावरकाय, शिल्प स्थावरकाय, सम्मति स्थावरकाय और प्रजापति स्थावरकाय।

पाच स्थावरकायों के अधिपति कथन किए गए हैं, जैसे—पृथ्वी स्थावरकाय का अधिपति इन्द्रदेव है, जल स्थावरकाय का अधिपति ब्रह्म है, अग्नि स्थावरकाय का अधिपति शिल्प है, वायु स्थावरकाय का अधिपति समति है, वनस्पति स्थावरकाय का अधिपति प्रजापति देव है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे तपस्या का वर्णन किया गया है, तपस्या के द्वारा स्थावरकाय आदि योनियो में जन्म लेने से जीव बच जाता है, अतः अब सूत्रकार स्थावरकायों और उनके अधिपतियो का परिचय देते हैं—पृथ्वी का ही दूसरा नाम है इन्द्र, इसी प्रकार अप्काय का नाम ब्रह्म है, तेजस्काय अर्थात् अग्नि का नाम शिल्प है, वायुकाय का सम्मति, और वनस्पतिकाय का नाम प्रजापति है।

पृथ्वी का अधिपति इंद्र है, अप् का अधिपति ब्रह्म है, तेजस्काय का अधिपति शिल्प है, वायुकाय का अधिपति सम्मति है और वनस्पतिकाय का अधिपति प्रजापति है।

सस्कृत में इन्द्र का अर्थ—"आकर्षण-विकर्षण शक्ति" भी है, पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण प्रसिद्ध है, अतः पृथ्वी का अधिपति इन्द्र अथवा पृथ्वी का नाम 'इन्द्र' स्वाभाविक है। वैदिक साहित्य मे 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' प्राप्त होता है, अतः **'ब्रह्माक्षर समुद्भवम्'**—ब्रह्म अक्षरों से उत्पन्न होता है यह कहा जाता है। जल के बिना ज्ञानचेतना का कार्यशील होना असम्भव है, अतः जल का अधिपति ब्रह्म को स्वीकार किया गया है। अग्नि का

अधिपति 'शिल्प' कहा गया है, शिल्प तो एक कला है, सौन्दर्य-विधान की विद्या है, अत: उसका 'आधिपत्य' बुद्धि को अपील नहीं करता है, यह भी कहने वाले कह सकते हैं, परन्तु यहां शिल्प का अभिप्राय है कि कोई भी शिल्प तेजस्काय के बिना पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता, अत: तेजस्काय ही शिल्प है, उसकी शिल्पमयता की ओर ही यहा संकेत किया गया है। वायु का अधिपति 'सम्मति' बताया गया है, जिसका अभिप्राय यह हो सकता है कि प्राण, अपान, व्यान, समान उदान आदि विविध रूपो मे पारस्परिक सम्मति अर्थात् सहयोग से जीवन का विधायक होने से वायु पर सम्मति का आधिपत्य है। प्रजापति शब्द सूर्य, चन्द्र और ब्रह्म नामक देवता का वाचक है। यहा प्रकरणानुकूल उसका अर्थ चन्द्र उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योकि सम्पूर्ण वनस्पतियों का अधिपति 'चन्द्र' वैदिक परम्परा और आयुर्वेद मे प्रसिद्ध है। नवीन विज्ञान भी वनस्पतियो और चन्द्र का घनिष्ट सम्बन्ध स्वीकार करता है, अत: वनस्पतियो का अधिपति प्रजापति भी सर्वथा उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

जिस प्रकार दिशाओ के नाम इंद्र अग्नि आदि आगमो मे मिलते है तथा जिस प्रकार नक्षत्रो के अधिपति देवों के नाम आगमो मे निर्दिष्ट हैं, उसी प्रकार स्थावरकाय के अधिपतियो के नामो का भी यहां निर्देश किया गया है। सूक्ष्म रूप से पांच स्थावर सर्व लोक में व्याप्त हैं। वनस्पतिकाय को छोडकर शेष चार स्थावर असंख्यात जीवों के समूह रूप है, किन्तु वनस्पतिकाय में निगोद वा साधारण वनस्पति अनत जीवों का समूह रूप होता है। इस विषय का विस्तृत वर्णन जीवाभिगम आदि आगमों में प्राप्त होता है।

अवधि-दर्शन के संक्षोभ के कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं ओहिदंसणे समुप्पज्जिउकामेवि तप्पढमयाए खंभाएज्जा, तं जहा—अप्पभूयं वा पुढविं पासित्ता तप्पढमयाए खंभाएज्जा। कुंथुरासिभूयं वा पुढविं पासित्ता तप्पढमयाए खंभाएज्जा। महइमहालयं वा महोरगसरीरं पासित्ता तप्पढमयाए खंभाएज्जा। देवं वा महड्डियं जाव महेसक्खं पासित्ता तप्पढमयाए खंभाएज्जा। पुरेसु वा पोराणाइं महइमहा-लयाइं महानिहाणाइं पहीणसामियाइं, पहीणसेउयाइं, पहीणगुत्तागाराइं, उच्छिन्नसामियाइं, उच्छिन्नसेउयाइं, उच्छिन्नगुत्तागाराइं जाइं इमाइं गामागर-णगरखेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह- पट्टणासम-संबाह-सन्निवेसेसु सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहपहेसु णगर-णिद्धमणेसु सुसाण-सुन्नागार-गिरिकंदर-संतिसेलोवट्ठाणभवणगिहेसु संनिक्खित्ताइं चिट्ठंति, ताइं वा पासित्ता तप्पढमयाए खंभाएज्जा।

इच्चेहिं पंचहिं ठाणेहिं ओहिदंसणे समुप्पज्जिउकामे तप्पढमयाए खंभाएज्जा ॥६॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैरवधिदर्शनं समुत्पत्तुकाममपि तत्प्रथमतया स्कभ्नीयात्, तद्यथा—अल्पभूतां वा पृथिवीं दृष्ट्वा तत्प्रथमतया स्कभ्नीयात्, कुन्थुराशिभूतां वा पृथिवीं दृष्ट्वा तत्प्रथमतया स्कभ्नीयात्, महातिमहत् महोरगशरीरं दृष्ट्वा तत्प्रथमतया स्कभ्नीयात्, देवं वा महर्द्धिकं यावत् महासौख्यं दृष्ट्वा तत्प्रथमतया स्कभ्नीयात्, पुरेषु वा पुराणानि महातिमहान्ति महानिधानानि प्रहीणस्वामिकानि, प्रहीणसेतुकानि, प्रहीणगोत्राकाराणि, उच्छिन्नस्वामिकानि, उच्छिन्न, सेतुकानि, उच्छिन्न-गोत्राकाराणि, यानि इमानि ग्रामाकर-नगर-खेट-कर्बट-मडम्ब-द्रोणमुख-पत्तनाश्रम-संबाह-सन्निवेशेषु, शृङ्गाटक-त्रिक-चतुष्क-चत्वर-चतुर्मुख महापथपथेषु, नगर-निर्द्धमनेषु, श्मशान-शून्यागार-गिरिकन्दर-शान्ति-शैलोपस्थान-भवनगृहेषु, सन्निक्षिप्तानि, तिष्ठन्ति तानि वा दृष्ट्वा तत्प्रथमतया स्कभ्नीयात्।

इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैरवधिदर्शनं समुत्पत्तुकाममपि तत्प्रथमतया स्कभ्नीयात्।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं—पाच कारणो से, **ओहिदसणे समुप्पज्जिउकामेवि**—अवधि-दर्शन पैदा होने की इच्छा रखते हुए भी, अर्थात् अवधि-दर्शन के उत्पन्न होते ही, **तप्पढमयाए**—प्रथम समय में ही, **खंभाएज्जा**—विचलित हो जाता है, **तं जहा**—जैसे कि, **अप्पभूयं वा पुढविं**—विशाल पृथ्वी की कल्पना रखने वाले का अल्प पृथ्वी को, **पासित्ता**—देखकर, **तप्पढमयाए खंभाएज्जा**—प्रथम समय में ही विचलित हो जाता है। **कुथुरासिभूयं वा पुढविं पासित्ता**—कुन्थु राशि से व्याप्त पृथ्वी को देखकर, **तप्पढमयाए खंभाएज्जा**—प्रथम समय मे ही विचलित हो जाता है। **महइमहालयं वा महोरगसरीर पासित्ता**—अतीव महान् महोरग जाति के सर्प का शरीर देखकर, **तप्पढमयाए खंभाएज्जा**—प्रथम समय में ही विचलित हो जाता है, **देवं वा महिड्ढियं जाव महेसक्ख पासित्ता**—महर्द्धिक यावत् महान् सुखी देवता को देखकर, **तप्पढमयाए खंभाएज्जा**—प्रथम समय मे ही नष्ट हो जाता है, **पुरेसु वा**—नगरों में, **पोराणाइं**—पुराने, **महइमहालयाइं**—अतीव विशाल, **महानिहाणाइं**—महान् निधान, जिनके, **पहीण सामियाइं**—स्वामी नष्ट हो गए हैं, **पहीण- सेउयाइ**—जिनके सकेत मार्ग नष्ट हो गए है, **पहीणगुत्तागाराइं**—जिनके नाम और आकार भी नष्ट हो गए है, **उच्छिन्नसामियाइं**—जिनके स्वामी सर्वथा उच्छिन्न हो चुके हैं, **उच्छिन्नसेउयाइं**—जिनके मार्ग सर्वथा उच्छिन्न हो चुके है, **उच्छिन्नगुत्तागाराइं**—जिनके नाम और आकार भी नष्ट हो चुके हो, **जाइं इमाइं**—और जो ये, **गामागर-णगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-संबाह-सन्निवेसेसु**—ग्राम, धातु आदि की खान, नगर, खेट, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन, आश्रम, सबाह, सन्निवेश, **सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहपहेसु**—शृगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, महापथ आदि

पथों में, **णगरणिद्धमणेसु**—नगर की मोरियों में, **सुसाण-सुन्नागार-गिरिकंदर-संतिसेलो-वट्ठाणभवणगिहेसु**—श्मशान, शून्य गृह, पर्वत-गुफा, शान्तिगृह, शैल-गृह, आस्थान-मण्डप, साधारण गृहों में, **संनिक्खित्ताइं**—गड़े हुए, **चिट्ठंति**—हैं, **ताइं वा**—उनको, **पासित्ता**—देखकर, **तप्पढमयाए खंभाएज्जा**—प्रथम समय में ही विचलित हो जाता है।

इच्चेहिं—इन, **पंचहिं ठाणेहिं**—पाच स्थानों से, **ओहिदंसणे**—अवधि-दर्शन, **समुप्पज्जिउकामे**—उत्पन्न होते-होते, **तप्पढमयाए खंभाएज्जा**—उत्पन्न अवधिदर्शन प्रथम समय मे ही विचलित हो जाता है।

मूलार्थ—पांच कारणों से अवधि-दर्शन उत्पन्न होते ही उसी समय नष्ट हो जाता है, जैसे—अवधि-दर्शन उत्पन्न होने से पहले पृथ्वी के सम्बन्ध में उसकी विशालता की कल्पना न होने से, साक्षात् अल्प पृथ्वी को देखकर अवधिदर्शन उसी समय विचलित हो जाता है। कुन्थु आदि सूक्ष्म जीवों से व्याप्त पृथ्वी को देखकर अवधिदर्शन उसी समय विचलित हो जाता है। अतीव विशालकाय महोरग जाति के सर्प को देखकर अवधिदर्शन उसी समय विचलित हो जाता है। महर्द्धिक एवं महासुखी देवो को देखकर अवधिदर्शन उसी समय विचलित हो जाता है। ग्राम आकर अर्थात् खान, नगर, खेट (जिसका कोट धूल, मिट्टी का बना हुआ हो), कर्बट (छोटा नगर), मडब (जिसके चारो ओर दो-दो कोस पर छोटे-छोटे ग्राम हों), द्रोणमुख (जिसके जल और स्थल दोनो मार्ग हों), पत्तन—(नदी तट पर स्थित नगर), आश्रम (तीर्थस्थान), सबाह-पर्वत आदि दुर्गम स्थानों मे तथा धान्य आदि के संग्रह करने योग्य स्थान विशेष, सन्निवेश—यात्रियों के विश्राम स्थान अथवा अजापालकों के रहने के स्थान इत्यादि विविध स्थानों में और शृगाटक—जहां सिंघाड़े की आकृति मे तीन मार्ग मिलते हो, त्रिक—जहा सामान्य रूप से तीन मार्ग मिलते हों, चतुष्क—जहां चार मार्ग मिलते हो, चत्वर—जहा अनेक मार्ग मिलते हों, चतुर्मुख—देवकुलादि, महापथ—राजमार्ग आदि विविध मार्गो में, एवं नगर की मोरियो में, श्मशान, शून्यागार, गिरिकन्दरा, शान्तिगृह, शैलगृह-पहाड़ मे काट कर बनाई हुई गुफा, सभा-भवन, भवनगृह-साधारण घर इत्यादि स्थानों में जहां अनेक ऐसे अतीव विशाल महानिधि गड़े हुए हैं, जिनके स्वामी नष्ट हो चुके हैं, जिनके संकेत-मार्ग भी लुप्त हो चुके हैं, जिनके नाम और आकार भी नष्ट हो गए हैं, एवं जिनके स्वामी, संकेतमार्ग और नाम, आकार पूर्णतया उच्छिन्न अर्थात् ध्वस्त हो चुके हैं, उनके निधानों को देखकर आश्चर्य के कारण मोहोदय से अवधिदर्शन उत्पन्न होते ही विचलित हो जाता है।

इन पांच कारणों से अवधि-दर्शन उत्पत्तिकाल मे ही विक्षुब्ध हो जाया करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पांच स्थावरकायो के अधिपतियों का वर्णन किया गया है। ये स्थावराधिपति भी अवधि-दर्शन सपन्न हुआ करते हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी कारण हैं जिनसे अवधि-दर्शन उत्पन्न होते ही विचलित हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र मे उन्ही कारणों का उल्लेख किया गया है।

अवधि-दर्शन वह आध्यात्मिक शक्ति है जिसके द्वारा साधक अनेक बाधाओ और व्यवधानों के होते हुए भी किसी दूरस्थ, समीपस्थ, स्थूल, सूक्ष्म, जीव, अजीव आदि पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, परन्तु इस ज्ञान को सुरक्षित रख पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि सामान्य-सा मनोविकार उत्पन्न होते ही साधक उस ज्ञान-शक्ति से हाथ धो बैठता है। यद्यपि ये मनोविकार अनेक हो सकते है, परन्तु शास्त्रकार की दिव्य प्रतिभा ने उन समस्त कारणो का अन्तर्भाव निम्न-निर्दिष्ट पांच कारणों मे ही कर लिया है।

अवधि-दर्शन की शक्ति का मूल कारण है मन की एकाग्रता, जब मन किसी एक केन्द्र पर स्थिर नहीं रह जाता, विचलित एवं संदिग्ध हो जाता है, भयभीत एवं लोभाविष्ट होकर विचलित हो जाता है तब उसकी एकाग्रता नष्ट हो जाती है और एकाग्रता के अभाव में वह अपनी अवधि-दर्शन की शक्ति को विक्षुब्ध कर देता है। वे पांच कारण निम्नलिखित है :—

१ जब साधक का मन विशाल प्रदेश की कल्पना कर रहा होता है, किन्तु यह ज्ञान होते ही कि जिस प्रदेश की विशालता का उसे परिज्ञान था वह प्रदेश तो बहुत छोटा सा है, तब उसका मन सदेह से विक्षुब्ध हो उठता है और वही विक्षोभ अवधि-ज्ञान लुप्त होने का कारण बन जाता है।

२ अवधि-दर्शन उत्पन्न होते ही जब साधक सारी पृथ्वी को छोटे-छोटे जीवों से व्याप्त देखता है, तब वह दयाविष्ट होकर प्रेम से भर जाता है, उसी प्रेम के आवेश में उसका अवधि-दर्शन विक्षुब्ध हो जाता है।

३. जब कोई साधक महावनों और समुद्रो में रहने वाले विशालकाय अजगर को देखता है तब वह भय से घबरा उठता है, उस घबराहट से उसका हृदय प्रकम्पित हो उठता है और उस भय-जन्य कम्प की अवस्था मे उसका अवधिदर्शन एकदम विक्षुब्ध हो जाता है।

४. जब कोई साधक किसी देव के वैभव को, उसकी कान्ति एवं सौन्दर्य को, उसकी दैवी सामर्थ्य को देखता है तो वह उसके लिए लालायित हो उठता है। यही लालसा उसके अवधि-दर्शन को विचलित कर देती है।

५. जब कोई अवधि-ज्ञानी अपने अवधि-दर्शन के प्रभाव से किसी पुराने नगर, ग्राम, आकर, खेड,कर्बट, मडम्ब, द्रोणमुख, पाटन, आश्रम, संबाह, सन्निवेश मार्गो के मिलन-स्थल, राजमार्ग, गलियो, नालियों, श्मशानो, सूने घरो, पर्वतों की गुफाओं, शांतिगृहों,

उपस्थानों, भवनो आदि स्थानों में गडे हुए बहुमूल्य रत्नो आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और यह भी जान लेता है कि इस धन के स्वामी नष्ट हो चुके हैं, उसके स्वामित्व की परंपरा भी विच्छिन्न हो गई है, उसके स्वामी का नाम गोत्र भी लुप्त हो चुका है, उन निधानों तक पहुंचने के मार्ग भी लोक-दृष्टि से ओझल हो चुके हैं, उस वैभव का निर्देश करने वाले चिह्न भी शेष नही रहे है, यह जानते ही अवधि-ज्ञान रखने वाले साधक का मन यदि लोभाविष्ट होकर उसे प्राप्त करने के लिए विचलित हो उठता है तो उस दशा में उसका अवधि-दर्शन ऐसे विचलित हो जाता है जैसे प्रबल वायु के झोंके से दीपक टिमटिमाने लग जाता है।

पृथ्वी, कुथुओ की राशि, महाकाय सर्प, देवो का सुख और पृथ्वी के गर्भ में रखे हुए धन को देखते ही "**आः किमेतदेवमित्येवं**" शका या विस्मय के कारण साधक जीवन में ज्ञान स्थिर नहीं रह सकता, क्योंकि उस समय उसका हृदय मोह एवं आवरण से आवृत हो जाता है। जब आवरण का क्षयोपशम स्वल्प हो और मोह का उदय अधिक हो तब अवधि-दर्शन विचलित हो जाता है। जब क्षयोपशम प्रबल हो और मोह का उदय प्रबल न हो तब अवधिदर्शन तत्क्षण विचलित नहीं होता, क्योकि विस्मय-अचभा, भय, लोभ एवं मन की चंचलता, ये सब उत्पन्न होने वाले अवधि-दर्शन मे अस्थिरता पैदा करते हैं और अस्थिरता का मूल कारण मोह का उदय ही माना जाता है।

"**पहीणसामियाइं, पहीणसेउयाइं, पहीणगुत्तागाराइं**", इन शब्दों का आशय यह है कि जिनका कोई स्वामी नही है, उन निधानो के ऊपर पुनः अधिकार प्राप्त कर सकने वाले पुत्र, पौत्र भी नही रहे, उनके नाम, गोत्र एवं चित्र आदि भी सर्वथा प्रणष्ट हो गए है।

आगे सूत्रकार ने पहीण के स्थान पर **उच्छिन्न** शब्द का प्रयोग किया है जिसका भाव यह है कि जिनका उल्लेख किसी बही मे, शिला पर या किसी पुस्तक में नही मिलता, किसी की स्मृति में भी नहीं है, उनके लिए ये तीन पद दिए गए है।

जिस निधान का कोई न कोई स्वामी जीवित है उसे देखकर लालच या विस्मय नही होता, क्योकि स्वामीहीन निधान को देखकर ही मन में विस्मय उत्पन्न होता है और लालच भी। जनता बिना कारण के धनाभाव के दुख से दुखित है, यदि लोग इन महानिधानों में रखे हुए धन को निकाल ले तो निश्चय ही सारा राष्ट्र समृद्ध एव धनाढ्य बन जाएगा। सभी लोग आनन्द पूर्वक जीवन निर्वाह कर सकेगे। इस प्रकार का लालच एवं विस्मय होता है। जिसकी समाधि उक्त पांच कारणों से विचलित नही होती, उसका अवधिदर्शन भी विचलित नहीं होता। अतः साधक को स्थित-प्रज्ञ होना चाहिए तभी उत्पन्न हुआ ज्ञान अवस्थित रह सकता है।

केवलज्ञान-दर्शन की अक्षोभता के कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे तप्पढमयाए

नो खंभाएज्जा, तं जहा—अप्पभूयं वा पुढविं पासित्ता तप्पढमयाए णो खंभाएज्जा, सेसं तहेव जाव भवणगिहेसु संनिक्खित्ताइं चिट्ठंति, ताइं वा पासित्ता तप्पढमयाए णो खंभाएज्जा। सेसं तहेव। इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं जाव नो खंभाएज्जा ॥ ७ ॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैः केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पत्तुकामं तत्प्रथमतया नो स्कभ्नीयात्, तद्यथा—अल्पभूतां वा पृथ्वीं दृष्ट्वा तत्प्रथमतया नो स्कभ्नीयात्, शेषं तथैव यावत् भवनगृहेषु संनिक्षिप्तानि तिष्ठन्ति, तानि वा दृष्ट्वा तत्प्रथमतया नो स्कभ्नीयात्। शेषं तथैव। इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैर्यावत् नो स्कभ्नीयात्।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहि—पाच कारणों से, **केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे**—केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न होता हुआ, **तप्पढमयाए नो खंभाएज्जा**—प्रथम समय में नही नष्ट होता, **त जहा**—जैसे, **अप्पभूयं वा पुढविं**—अल्पभूत पृथ्वी को, **पासित्ता**—देखकर, **तप्पढमयाए णो खंभाएज्जा**—प्रथम समय मे नष्ट नहीं होता, **सेसं**—शेष, **तहेव**—उसी प्रकार, **जाव भवणगिहेसु**—भवन गृहों आदि में, **संनिक्खित्ताइं**—निक्षिप्त निधि, **चिट्ठंति**—है, **ताइं वा पासित्ता**—उनको देखकर, **तप्पढमयाए**—प्रथम समय में, **णो खंभाएज्जा**—विक्षुब्ध नही होता।

मूलार्थ—श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन उक्त पांच कारणों से उत्पन्न होते ही विचलित नहीं होते, प्रत्युत अक्षय रहते है, जैसे—अल्पभूत पृथ्वी को देखकर केवलज्ञान और केवलदर्शन विक्षुब्ध नहीं होते, पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट भवन आदि स्थानों में निक्षिप्त प्राचीन निधियो को देखकर भी केवलज्ञान एवं केवलदर्शन विचलित नही होते।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे अवधि-दर्शन के विचलित हो जाने के कारणो पर प्रकाश डाला गया है। अब सूत्रकार उसी परम्परा मे यह बताना चाहते है कि जो कारण अवधिदर्शन को विचलित कर सकते है वे कारण केवल-ज्ञान को विचलित करने मे सर्वथा असमर्थ है। अत: इस विषय की विवेचना करते हुए सूत्रकार का कथन है कि—

किसी विस्मय एव लोभावेश आदि के कारण केवलज्ञानियो के ज्ञान मे विक्षोभ नहीं हो सकता, क्योकि केवलज्ञान का उदय होते ही सभी कषाय इस प्रकार स्वत: ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है। सूर्य भी चमक रहा हो और अन्धकार भी छाया रहे, यह हो नही सकता, ठीक इसी प्रकार केवलज्ञान के उदय होने पर कषायों की सत्ता का बना रहना असम्भव हो जाता है। दर्पण मे समस्त विश्व प्रतिबिम्बित होता है, परन्तु किसी भी बिम्ब का प्रभाव दर्पण पर नही छूटता, दर्पण शुद्ध रहता है, प्रतिबिम्ब आते रहते है, जाते रहते हैं, दर्पण ज्यों का त्यों बना रहता है। उसी प्रकार केवलज्ञानी

के ज्ञान की परिधि में प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय समस्त विश्व होता है, परन्तु विश्व के किसी भी राग या द्वेष का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड सकता। प्रतिबिम्ब के हट जाने पर भी दर्पण ज्यों का त्यों बना रहता है, उसकी सत्ता में कोई अन्तर नही आता, इसी प्रकार केवलज्ञान के दर्पण की सत्ता भी अखण्ड रहती है।

वस्तुत: समस्त कषायों के नष्ट हो जाने पर ही केवलज्ञान उद्भूत होता है, जो नष्ट हो चुका है, जिसकी सत्ता ही समाप्त हो चुकी है, पुन: किसी वस्तु पर उसका प्रभाव होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती, अत: जिन विस्मय-लोभावेश आदि कारणो से अवधिदर्शन विक्षुब्ध हो जाता है, उनसे केवल-ज्ञान के विचलित होने की सम्भावना भी नहीं की जा सकती। केवलज्ञानी शुद्ध-बुद्ध होता है, जो बुद्ध है और आत्म-जागरण की पूर्ण अवस्था में है, वह सदैव शुद्ध ही रहता है। जो शुद्ध है, वह तो तभी शुद्ध एवं अविचल है जबकि समस्त विकृतियों से वह मुक्त है, इसलिए केवलज्ञान एक शाश्वत ज्ञान-धारा है जिसका प्रवाह अविकृत एव अखण्ड है।

पांच शरीरों के वर्ण-रस आदि

मूल—णेरइयाणं सरीरगा पंचवण्णा पंचरसा पण्णत्ता, तं जहा— किण्हा जाव सुक्किला, तित्ता जाव महुरा। एवं निरंतरं जाव वेमाणियाणं।

पंच सरीरगा पण्णत्ता तं जहा—ओरालिए, वेउव्विए, आहारए, तेयए, कम्मए। ओरालियसरीरे पंच वण्णे, पंच रसे पण्णत्ते, तं जहा—किण्हे जाव सुक्किले, तित्ते जाव महुरे। एवं जाव कम्मगसरीरे। सव्वेवि णं बादरबोंदिधरा कलेवरा पंचवण्णा, पंचरसा, दुगंधा, अट्ठफासा॥८॥

छाया—नैरयिकाणां शरीरकाणि पञ्चवर्णानि-पञ्चरसानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—कृष्णानि यावत् शुक्लानि, तिक्तानि यावत् मधुराणि। एवं निरन्तरं यावत् वैमानिकानाम्।

पञ्च शरीरकाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—औदारिकं, वैक्रियकम्, आहारकं, तैजसं, कार्मणम्। औदारिकशरीरं पञ्चवर्णं, पञ्चरसं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—कृष्णं यावत् शुक्लं, तिक्तं यावत् मधुरम्। एव यावत्, कार्मणशरीरम्। सर्वाण्यपि बादरबोन्दिधराणि कलेवराणि पञ्चवर्णानि, पञ्चरसानि, द्विगन्धानि, अष्टस्पर्शानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नारको के शरीर पांच वर्ण और पाच रस वाले प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे— कृष्ण, शुक्ल आदि वर्णो वाले तथा तिक्त आदि रसों वाले, इसी प्रकार वैमानिक देवों तक के शरीरों के वर्ण एवं रस आदि जानने चाहिएं।

पांच शरीर वर्णित किए गए हैं, जैसे—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस,

कार्मण। औदारिक शरीर पांच वर्ण एवं पांच रस वाला कथन किया गया है, जैसे— कृष्ण, शुक्ल आदि पाच वर्णो वाला तथा तिक्त, मधुर आदि पांच रसों वाला। इसी प्रकार कार्मण शरीर आदि के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए। सब के सब स्थूल शरीर धारण करने वालों के कलेवर पांच वर्ण, पाच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श वाले होते हैं।

विवेचनिका—अवधि-दर्शन एवं केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए शरीर की सत्ता आवश्यक है, अत: केवल-ज्ञान की अविनश्वरता की विवेचना के अनन्तर सूत्रकार शरीर के विविध रूपो और उनके वर्ण रस आदि का परिचय देते हैं। रूप और रस आदि गुण पुद्गल में ही पाए जाते है, शरीर सभी पौद्गलिक ही होते है, क्योकि ये मिटते और बनते रहते हैं, फिर भी अपनी विशेष सत्ता बनाए रखते है। पुद्गल वही है जो पर्याय की अपेक्षा मिटता रहता है, बनता रहता है फिर भी वह ध्रुव है। जैसे नदी का प्रवाह आता रहता है, जाता रहता है और होता भी है। शरीरों की भी यही दशा है। शरीर सूक्ष्म हो या स्थूल, दृश्य हो या अदृश्य, नारकी जीवो से लेकर वैमानिक देवो पर्यन्त सभी के शरीर पौद्गलिक होते है, अत: वे पाच वर्णो और पांच रसो से युक्त होते है। दुर्गति मे पड़े हुए जीवों के शरीर अशुभ, अशुभतर और अशुभतम होते हैं और सुगति मे पहुचे हुए जीवो के शरीर शुभ, शुभतर और शुभतम हुआ करते हैं। ये शरीर उत्पत्ति के समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण एवं बढ़ते-घटते रहते हैं और वे शरीर नामकर्म के उदय से ही उत्पन्न होते हैं।

शरीर पांच प्रकार के होते हैं जैसे कि औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। इन का परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है—

औदारिक शरीर—उदार, उराल, उरल ओराल, ओदारिय प्राकृत के इन शब्दों का सस्कृत रूप ''औदारिक'' बनता है। यद्यपि ये शब्द एकार्थक है फिर भी इन शब्दो की सूक्ष्म व्याख्या करने पर ये शरीर के पर्यायवाची होते हुए भी भिन्न-भिन्न अर्थो के बोधक है। जैसे कि उदार शब्द का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ। सर्वश्रेष्ठ पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है। तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव तथा गणधरों के शरीर इसी कोटि के होते है।

उराल शब्द का अर्थ होता है विशाल, जो शरीर अन्य शरीरों की अपेक्षा विशाल परिमाण वाला हो उसे भी औदारिक कहते हैं। मच्छ और महोरग आदि का शरीर परिमाण उत्कृष्ट हजार योजन तक का होता है तथा हजार योजन गहरे समुद्र मे उत्पन्न हुए कमल का आमूलचूल परिमाण हजार योजन से कुछ अधिक माना जाता है, क्योकि उसकी जड़ जमीन में फैली हुई होती है और कमल पानी की सतह से बाहर होता है, उसकी नाल हजार योजन की होती है। इस अपेक्षा से हजार योजन से कुछ अधिक विशाल होने से उसे औदारिक रूप वाला कहा जाता है। अथवा जो शरीर अन्य चार शरीरों की अपेक्षा अल्प

प्रदेशी हो और परिमाण में विशाल हो उसको प्राकृत भाषा मे उराल कहते हैं और संस्कृत में औदारिक कहा जाता है। भिंडी की तरह परिमाण मे बड़ी और वजन में हल्की इसी प्रकार जिस शरीर में पोलापन अधिक हो और देखने में बडे परिमाण का हो उसे औदारिक कहते हैं। अथवा जो शरीर मांस-हड्डी, रुधिर, स्नायु, शिरा आदि वाला हो वह ओराल कहलाता है। ओराल का संस्कृत रूप भी औदारिक बनता है। यह शरीर मनुष्यों और तिर्यंचों का होता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी तिर्यचो के शरीर औदारिक ही होते है।

२ **वैक्रिय शरीर**—अपनी इच्छा के अनुसार एक होते हुए भी अनेक रूप धारण करने वाला, अनेकरूप होकर भी एक रूप धारण करने वाला, छोटे शरीर से बडा बनकर प्रकट हो सकने वाला और बड़े से छोटा बन जाने वाला, दृश्य होकर अदृश्य और अदृश्य होकर दृश्य हो जाने वाला, बिना किसी आश्रय के आकाश में गमन कर सकने का सामर्थ्य रखने वाला, इस प्रकार की अन्य विशिष्ट क्रियाए करने वाला शरीर ही वैक्रिय शरीर कहलाता है। नारकी और देव वैक्रिय शरीर वाले होते हैं। नारकी जीव का भवधारणीय वैक्रिय शरीर जितने बडे प्रमाण एव आकार का होता है उत्तरवैक्रिय उसकी अपेक्षा दुगुना हो सकता है। यदि कोई देव उत्तरवैक्रिय शरीर की रचना करे तो वह उत्कृष्ट एक लाख योजन तक का शरीर बना सकता है। मनुष्य और तिर्यच भी लब्धिप्रत्यय वैक्रियशरीर बना सकते है, परन्तु वैक्रियलब्धि के प्रयोग की शक्ति उन्ही तिर्यंच या मनुष्यों को प्राप्त हो सकती है, जिन्होने पूर्वभव में या इस भव में विशेष सयम, तप और शुभ अनुष्ठान किया हो। भवधारणीय वैक्रियशरीर वह होता है जो कम से कम एक अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण हुआ करता है और अधिक से अधिक पाच सौ धनुष का हो सकता है, इससे अधिक नही।

३ **आहारक शरीर**—जिसने आहारक शरीर नामकर्म का बंध किया हुआ हो उसी को वह शरीर प्राप्त होता है। इसका उदय योगजन्य लब्धियों से सम्पन्न, चौदह पूर्वधर प्रमत्त सयत को एक जन्म में अधिक से अधिक तीन बार हो सकता है। अनेक जन्मो की अपेक्षा से सात बार उसका प्रयोग किया जा सकता है। किसी युग मे आहारक लब्धियों वाले कुछ ही सयमी होते है और किसी में एक भी नहीं। जब कभी होते हैं, तब कम से कम एक, दो, तीन और अधिक से अधिक नौ हजार आहारक शरीरी हो सकते हैं। आहारक शरीर धारण करने के अनेक कारण बताए गए हैं। जैसे कि प्राणी-दया के निमित्त, तीर्थकर भगवान की ऋद्धि प्रदर्शित करने के लिए, तथा सशय निवारणार्थ, इत्यादि प्रयोजनों से चौदह पूर्वधर मुनिसत्तम किसी अभीष्ट अन्य क्षेत्र मे विराजित तीर्थकर भगवान के पास भेजने के लिए आहारक लब्धि से अति विशुद्ध स्फटिक रत्न के सदृश एक हाथ का एक छोटा-सा शरीर निकालते हैं वह आहारक शरीर कहलाता है। आहारक शरीर की गति अप्रतिहत एव प्रकाश की तरह अत्यन्त वेगवती होती है। उक्त प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने पर वह आहारक शरीर औदारिक शरीर मे प्रविष्ट होकर पुन: उसी में विलीन हो जाता है।

जिसने ''आहारकशरीर नामकर्म'' का बध न किया हुआ हो वह चौदह पूर्वधर मुनि होते हुए भी आहारक-लब्धि-सम्पन्न नहीं हो सकता। आहारक लब्धि की प्राप्ति साधु को ही होती है, साध्वी को नही।

४. तैजस शरीर—तैजस पुद्गलों के द्वारा बना हुआ शरीर तैजस शरीर कहलाता है। प्राणियो के शरीर में रही हुई उष्णता से इसका अस्तित्व सिद्ध होता है। आहार का पाचन इसी शरीर से होता है, ऐसे शरीर का तापमान कभी बढता है तो कभी घटता है और कभी अपने स्तर पर रहता है। यह सब तैजस शरीर का कार्य है। तैजस समुद्घात भी इस शरीर के होने पर ही होता है। इससे ही तेजोलेश्या उत्पन्न होती है। तेजोलेश्या और शरीर में उष्णता, ये दोनो तैजस शरीर के कार्य हैं। इसका मूल कारण कार्मण-शरीर है।

५ कार्मण शरीर—कर्मो से बने हुए शरीर को कार्मण शरीर कहते है। आत्मा मे प्रदेशों के साथ लगी हुई अष्टविध कर्म-प्रकृतियो को कार्मण शरीर कहा जाता है। कार्मण शरीर नामकर्म आठ कर्मो का भाजन बना हुआ है। इसके होने पर ही शेष शरीर पाए जाते हैं। अन्य चार शरीरो की निष्पत्ति भी इसी के प्रभाव से होती है। जब तक यह शरीर है, तब तक संसार है।

औदारिक तथा वैक्रिय भवधारणीय शरीर से अलग होना ही मृत्यु है और तैजस एव कार्मण-शरीर से सर्वथा पृथक् होना ही निर्वाण एव मुक्ति है। ये पांच शरीर पौद्गलिक तथा क्रमश: उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर हैं।[१] सभी शरीर पांच वर्ण, पाच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श वाले होते है। जिस शरीर मे जिस वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की मुख्यता होती है व्यवहारनय के मत से उसी का प्रयोग किया जाता है, किन्तु निश्चयनय से उसमे सभी वर्ण आदि पाए जाते है।

सूत्रकार ने परमाणुवाद को बडे ही स्पष्टरूप से वर्णित किया है। शरीर भी परमाणु पुद्गल का स्कंध है। सूत्रकार ने जो **बादर बोंदिधरा कलेवरा** कहा है—इसका भाव यह है कि जो जीव पर्याप्तक है उन्ही को लक्ष्य मे रखकर यह कहा गया है, क्योकि पांच सूक्ष्म स्थावरो के अतिरिक्त शेष सभी जीव बादर कहलाते है। उन मे भी जो पर्याप्त हैं उनका अन्तर्भाव उक्त पद में हो जाता है।

दुर्गम, सुगम और अभ्यनुज्ञात स्थान

मूल—पंचहिं ठाणेहिं पुरिम-पच्छिमगाणं जिणाणं दुग्गमं भवइ, तं जहा—दुआइक्खं, दुविभज्जं, दुपस्सं, दुतितिक्खं, दुरणुचरं।

पंचहिं ठाणेहिं मज्झिमगाणं जिणाणं सुगमं भवइ, तं जहा—सुआइक्खं,

१. इन शरीरो का पूर्ण विवरण प्रज्ञापना सूत्र के शरीर-पद मे देखना चाहिए।

सुविभज्जं, सुपस्सं, सुतितिक्खं, सुरणुचरं।

पंच ठाणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णिच्चं वन्नियाइं, णिच्चं कित्तियाइ, णिच्चं बुइयाइं, णिच्चं पसत्थाइं, णिच्चमब्भ-णुन्नायाइं भवंति, तं जहा—खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे।

पंच ठाणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं जाव अब्भणुन्नायाइं भवंति, तं जहा—सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे।

पंच ठाणाइं समणाणं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—उक्खित्तचरए, निक्खित्तचरए, अंतचरए, पंतचरए, लूहचरए।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—अन्नायचरए, अन्नगिलायचरए, मोणचरे, संसट्ठकप्पिए, तज्जायसंसट्ठकप्पिए।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—उवनिहिए, सुद्धेसणिए, संखादत्तिए, दिट्ठलाभिए, पुट्ठलाभिए।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—आयंबिलिए, निव्वियए, पुरिमड्ढिए, परिमियपिंडवाइए, भिन्नपिंडवाइए।

पंच ठाणाइं अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—अरसाहारे, विरसाहारे, अंताहारे, पंताहारे, लूहाहारे।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—अरसजीवी, विरसजीवी, अंतजीवी, पंतजीवी, लूहजीवी।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—ठाणाइए, उक्कुडु-आसणिए, पडिमट्ठाई, वीरासणिए, णेसज्जिए।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—दंडायइए, लगंडसाई, आयावए, अवाउडए, अकंडूयए॥ १॥

छाया—पञ्चसु स्थानेषु पूर्व-पश्चिमकानां जिनानां दुर्गमं भवति, तद्यथा—दुराख्येयं, दुर्विभजं, दुर्दर्शं, दुस्तितिक्षं, दुरनुचरम्।

पञ्चसु स्थानेषु मध्यमानां जिनानां सुगमं भवति, तद्यथा—स्वाख्येयं, सुविभजं, सुदर्शं, सुतितिक्षं, स्वनुचरम्।

पञ्च स्थानानि श्रमणेन भगवता महावीरेण श्रमणानां निर्ग्रन्थानां नित्यं वर्णितानि, नित्यं कीर्तितानि, नित्यमुक्तानि, नित्यं प्रशंसितानि, नित्यमभ्यनुज्ञातानि भवन्ति,

तद्यथा—क्षान्तिः, मुक्तिः, आर्जवं, मार्दवं, लाघवम्।

पञ्च स्थानानि श्रमणानां यावद् अभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—सत्यं, संयमः, तपः, त्यागः, ब्रह्मचर्यवासः।

पञ्च स्थानानि श्रमणानां यावद् अभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—उत्क्षिप्तचरकः, निक्षिप्तचरकः, अन्तचरकः, प्रान्तचरकः, रूक्षचरकः।

पञ्च स्थानानि यावद् अभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—अज्ञातचरकः, अन्नग्लायकचरकः, मौनचरकः, संसृष्टकल्पिकः, तज्जातसंसृष्टकल्पिकः।

पञ्च स्थानानि यावद् अभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—औपनिधिकः, शुद्धैषणिकः, संख्यादत्तिकः, दृष्टलाभिकः, पृष्टलाभिकः।

पञ्च स्थानानि यावद् अभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—आचाम्लिकः, निर्विकृतिकः, पूर्वार्द्धिकः, परिमितपिण्डपातिकः, भिन्नपिण्डपातिकः।

पञ्च स्थानानि यावत् अभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—अरसाहारः, विरसाहारः, अन्ताहारः, प्रान्ताहारः, रूक्षाहारः।

पञ्च स्थानानि यावद् अभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—अरसजीवी, विरसजीवी, अन्तजीवी, प्रान्तजीवी, रूक्षजीवी।

पञ्च स्थानानि यावदभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—स्थानादितः, उत्कुटुकासनिकः, प्रतिमस्थायी, वीरासनिकः, नैषद्यिकः।

पञ्च स्थानानि यावदभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—दण्डायतिकः, लगण्डशायी, आतापकः, अप्रावृतकः, अकण्डूयकः।

शब्दार्थ—पचहिं ठाणेहिं—पांच स्थानो में, **पुरिमपच्छिमगाणं जिणाणं**—प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों के शासन में, **दुग्गमं**—शिष्यो को बोध देने मे कठिनाई, **भवइ, तं जहा**—होती है, जैसे, **दुआइक्खं**—वस्तु तत्त्व को कथन करने में कठिनाई होती है, **दुविभज्जं**—वस्तु-तत्त्व का विभाग पूर्वक कथन करने में कठिनाई, **दुपस्सं**—युक्तियो के द्वारा जीवाजीवादि का स्वरूप दिखलाने मे कठिनाई, **दुतितिक्ख**—शिष्यादि को परीषहों के सहन करने मे कठिनाई, **दुरणुचर**—आचार के पालन करने मे कठिनाई होती है।

पंचहिं ठाणेहिं—पाच स्थानों मे, **मज्झिमगाणं जिणाणं**—मध्य के बाईस तीर्थंकरों के शासन में, **सुगमं भवइ, तं जहा**—सुगमता होती है, जैसे, **सुआइक्खं**—शिष्यों के प्रति वस्तुतत्त्व के कथन करने में सुगमता होती है, **सुविभज्जं**—विभागपूर्वक वस्तुतत्त्व के कथन करने मे सुगमता होती है, **सुपस्सं**—युक्ति के द्वारा वस्तु-तत्त्व की प्रतीति कराने में सुगमता होती है, **सुतितिक्खं**—परीषह आदि के सहन करने मे सुगमता होती है, **सुरणुचरं**—अहिंसा आदि आचार का पालन कराने मे सुगमता होती है।

पंच ठाणाइं—पांच स्थान, **समणेणं**—श्रमण, **भगवया**—भगवान, **महावीरेणं**—महावीर ने, **समणाणं णिग्गंथाणं**—श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए, **णिच्चं**—नित्य, **वन्नियाइं**—फल रूप से वर्णन किए हैं, **णिच्चं कित्तियाइं**—नाम रूप से कथन किए हैं, **णिच्चं बुइयाइं**—स्वरूप से नित्य कथन किए हैं, **णिच्चं पसत्थाइं**—नित्य प्रशंसा की है, **णिच्चमब्भणु-ण्णायाइं**— नित्य ही पालन कराने की आज्ञा दी है, **तं जहा**—जैसे, **खंती**—क्षमा, **मुत्ती**—निर्लोभता, **अज्जवे**—सरलता, **मद्दवे**—मृदुता, **लाघवे**—लघुता।

पंच ठाणाइं—पांच स्थान, **समणेणं भगवया महावीरेणं**—श्रमण भगवान महावीर के द्वारा, **जाव अब्भणुण्णायाइं**—यावत् अभ्यनुज्ञात, **भवंति**—हैं, **तं जहा**—जैसे, **सच्चे**—सत्य, **संजमे**—संयम, **तवे**—तप, **चियाए**—त्याग, **बंभचेरवासे**—ब्रह्मचर्यवास।

पंच ठाणाइं समणाणं जाव—पाच स्थान श्रमणों को यावत्, **अब्भणुण्णायाइं भवंति, त जहा**—अनुज्ञात है, जैसे, **उक्खित्तचरए**—उत्क्षिप्त चरक, **निक्खित्तचरए**—निक्षिप्त-चरक, **अंतचरए**—अत-चरक, **पंतचरए**—प्रान्त-चरक, **लूहचरए**—रूक्ष-चरक।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—पांच स्थान यावत् अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे, **अण्णायचरए**—अज्ञात चरक, **अण्णइलायचरए**—भोजन के समय से अन्य समय भिक्षा लेने वाला, **मोणचरए**—मौन से भिक्षा करने वाला, **संसट्ठकप्पिए**—संसृष्ट हाथ से भिक्षा लेने वाला, **तज्जायसंसट्ठकप्पिए**—तज्जातससृष्टकल्पिक।

पच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—पाच स्थान यावत् अभ्यनुज्ञात है, जैसे, **उवनिहिए**—उपनिहित, **सुद्धेसणिए**—शुद्ध एषणा से भिक्षा ग्रहण करने वाला, **संखादत्तिए**—दत्ति की संख्या से आहार ग्रहण करने वाला, **दिट्ठलाभिए**—दृष्टि में आई वस्तु को लेने वाला, **पुट्ठलाभिए**—पूछ कर आहार लेने वाला।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवति, तं जहा—पाच स्थान यावत् अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे, **आयंबिलिए**—आयबिल करने वाला, **निव्वियए**—विकृतियो (विगयो) का त्याग करने वाला, **पुरिमड्ढिए**—दोपहरी करने वाला, **परिमियपिंडवाइए**—परिमित पिंड लेने वाला, **भिण्णपिंडवाइए**—अखण्ड वस्तु न लेने वाला।

पंच ठाणाइं अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—पाच स्थान अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे, **अरसाहारे**—रस रहित आहार लेने वाला, **विरसाहारे**—विरस आहार लेने वाला, **अंताहारे**—खाने से बचा हुआ आहार लेने वाला, **पंताहारे**—अतीव तुच्छ आहार लेने वाला, **लूहाहारे**—रूखा-सूखा आहार लेने वाला।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—पांच स्थान अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे, **अरसजीवी**—अरसाहार से जीवन चलाने वाला, **विरसजीवी**—विरस आहार से जीवन चलाने वाला, **अंतजीवी**—भक्तशेष आहार से जीवन चलाने वाला, **पंतजीवी**—तुच्छ आहार से जीवन चलाने वाला, **लूहजीवी**—रूक्ष आहार से जीवन चलाने वाला।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—पांच स्थान अभ्यनुज्ञात है, जैसे, **ठाणाइए**—कायोत्सर्ग करने वाला, **उक्कुडुआसणिए**—उत्कुटुक आसन से बैठने वाला, **पडिमट्ठाई**—प्रतिमा में स्थित रहने वाला, **वीरासणिए**—वीर आसन से स्थित रहने वाला, **णेसज्जिए**—निषद्या-आसन से बैठे रहने वाला।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—पाच स्थान अभ्यनुज्ञात है, जैसे, **दंडायइए**—लम्बे होकर लेटे रहने वाला, **लगंडसाई**—लक्कड़ के समान टेढे होकर लेटने वाला, **आयावए**—धूप में आतापना लेने वाला, **अवाउडे**—वस्त्र आदि से शरीर न ढकने वाला, **अकंडूयए**—खाज न करने वाला।

मूलार्थ—पांच कारणों से प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों के शासन में शिष्यों को प्रतिबोध देने में कठिनाई होती है, जैसे कि—संक्षेप में न समझने के कारण विस्तृत रूप से कथन करना होता है, अत: दुराख्येय रूप कठिनता है। भेदानुभेद के साथ वस्तु-तत्व का उपदेश करना होता है, अत: दुर्विभज रूप कठिनाई है। अनेकानेक युक्तियो के द्वारा जीवादि पदार्थों का स्वरूप दिखलाना होता है, अत: दुर्दर्श रूप कठिनाई है। अधीर शिष्यों को परीषह आदि के सहन कराने में विशेष श्रम करना होता है, अत: दुस्तितिक्ष रूप कठिनाई है। सयम के नियमोपनियम पालन कराने मे विशेष श्रम करना होता है, अत: दुरनुचर रूप कठिनाई है।

पांच कारणो से मध्य के बाईस तीर्थकरो के शासन में शिष्यों को प्रतिबोध देने में सुगमता होती है, जैसे—संक्षेप में वस्तुतत्व का ज्ञान कराने में सुगमता होती है। अधिक भेदानुभेद में न जाकर साधारण विभागपूर्वक कथन से ही समझ जाते है, अत: यह दूसरी सुगमता है। संक्षेप में युक्तियों से वस्तुतत्त्व की प्रतीति कराने मे सुगमता है। परीषह सहन कराने में सुगमता है। सयम पालन कराने में सुगमता है।

पांच स्थान श्रमण भगवान महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थो को नित्य ही फल रूप से वर्णन किए हैं, नाम रूप से कीर्तन किए हैं, स्वरूप में कथन किए हैं, प्रशंसा के रूप में वर्णित किए हैं, आचरण में लाने के लिए अनुज्ञात हैं, जैसे—क्षमा, निर्लोभता, सरलता, अहकार रहित नम्रता और निष्परिग्रहता।

पांच स्थान श्रमण भगवान महावीर ने श्रमण-निर्ग्रन्थों को नित्य ही आचरण में लाने के लिए बताए हैं, जैसे—सत्य, संयम, तप, त्याग—साथ के साधुओं को प्राप्त आहार का दान देना और ब्रह्मचर्य-वास।

पाच स्थान अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे—उत्क्षिप्तचरक—गृहस्थ ने भोजन करने के उद्देश्य से हंडिया में से जो खाद्य निकाला हो, उसे ही लेने वाला अभिग्रहधारी,

निक्षिप्तचरक—निकाला हुआ भोजन बच जाने पर पुन: पात्र में डाल दिया हुआ हो उसे ग्रहण करने वाला अभिग्रहधारी, अन्तचरक—भोजन करने से बचा हुआ आहार लेने वाला, प्रान्तचरक—चने आदि का तुच्छ आहार लेने वाला और रूक्षचरक—रूखा-सूखा आहार लेने वाला।

पांच स्थान अनुज्ञात हैं, जैसे—अज्ञात कुल से भिक्षा लेना, भोजन का समय छोड़कर अन्य समय भिक्षा लेना, सर्वथा मौन भाव से भिक्षा ग्रहण करना, भोजन लिप्त हाथों से भिक्षा ग्रहण करना और जो वस्तु लेनी हो उसी से हाथ सने हों तो भिक्षा लेना।

पांच स्थान यावत् अभ्यनुज्ञात है, जैसे—आस-पास से ही भिक्षा ग्रहण करना, शुद्ध एषणा की विधि से भिक्षा ग्रहण करना, दत्ति की संख्या कर भिक्षा लेना, देखा हुआ भोजन ही ग्रहण करना और पूछ-ताछ कर आहार ग्रहण करना।

पांच स्थान यावत् अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे—आयंबिल तप करना, घृतादि की विकृति से रहित साधारण भोजन लेना, दोपहरी का तप करना, परिमित भोजन ग्रहण करना, अखण्ड वस्तु न लेकर खण्डित (रोटी का टुकडा आदि) खाद्य वस्तु ग्रहण करना।

पाच स्थान भगवान महावीर के द्वारा अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे—रसरहित आहार लेना, विरस आहार लेना, खाने से बचा हुआ आहार लेना, अतीव तुच्छ चणक (चने) आदि का आहार लेना और रूखा-सूखा आहार लेना।

पांच स्थान भगवान महावीर के द्वारा अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे—अरसाहार से जीवन-निर्वाह करना, विरसाहार से जीवन-निर्वाह करना, भुक्तशेष आहार ग्रहण कर के जीवन निर्वाह करना, तुच्छाहार से जीवन-निर्वाह करना, रूखे-सूखे आहार से जीवन-निर्वाह करना।

पांच स्थान भगवान महावीर के द्वारा अभ्यनुज्ञात है, जैसे—कायोत्सर्ग करना, उकडू आसन करना, प्रतिमा में स्थित रहना, वीरासन से स्थित रहना, निषद्या नामक आसन से बैठे रहना।

पांच स्थान भगवान महावीर के द्वारा अनुज्ञात हैं, जैसे—दण्ड के समान पांव पसार कर लेटना, काष्ठ के समान एक करवट से लेटना, धूप मे आतापना लेना, शीतकाल में वस्त्रादि से शरीर न ढांपना, शरीर में खाज न करना।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में शरीरों का वर्णन किया गया है, अब काल की अपेक्षा से सशरीरी जीवों के स्वभाव का वर्णन और साथ ही विविध साधु-चर्याओं का निरूपण भी इस सूत्र में किया जा रहा है।

भरत और ऐरवत क्षेत्रों की अपेक्षा से जो अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणीकाल में पहले और पिछले तीर्थंकर होते है, उनके शासनकाल में साधको के लिए पांच बातें दुर्गम होती हैं। क्योंकि पहले तीर्थंकर के शासनकाल मे मनुष्य जड़बुद्धि एवं सरल होते हैं और अन्तिम तीर्थंकर के युग में मनुष्य वक्र और जड होते हैं। जडता के कारण धर्म का समझना और वक्रता एवं कुटिलता से उसका पालन दु:शक्य हो जाता है। धर्म के रहस्य को समझने के लिए बुद्धि की स्वच्छता अपेक्षित है और उसका पालन करने के लिए ऋजुता अपेक्षित होती है। वे दुर्गम्य पांच बातें निम्नलिखित हैं—

१. **दुआइक्खं**—जो व्यक्ति जड एवं वक्र होते हैं, उन्हें शिक्षा देना, धर्म-तत्त्व समझाना अति कठिन होता है। इसमे दो कारण हो सकते है, बुद्धि की मंदता के कारण व्यक्ति चारित्र आदि गहन विषयो को बार-बार समझाने पर भी अच्छी तरह नही समझ सकता। जिस तरह भी शिष्य समझ सके उस तरह कहना कठिन होने के कारण धर्म-बोध दुर्गम्य हो जाता है। जब विषय महान या गम्भीर हो और बुद्धि मंद हो तब ऐसा हो जाना स्वाभाविक है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि क्रोधी, अभिमानी, अविनीत एव हठीले व्यक्ति को समझाना अत्यन्त कठिन होता है, समझाने वाला भी सकोच करता है, कलह आदि होने के भय से डरता है इत्यादि कारणों से धर्म-कथन दुराख्येय हो जाता है।

२ **दुविभज्जं**—किसी गहन विषय को अलग-अलग विभाग करके समझना और समझाना भी होता है। प्रमाणवाद, सप्तभंगीवाद, नयवाद, अनुयोग, लक्षण, निक्षेप, उपक्रम, उत्सर्ग, अपवाद, जिनकल्प, स्थविरकल्प इत्यादि विधि-विधानो से आगमो के प्रत्येक पद का विभाग करके समझाना और कहना कठिन होता है।

३. **दुपस्सं**—तत्त्वों का स्वरूप दिखाना कठिन है। जिनभाषित तत्त्वो को बुद्धि से प्रत्यक्ष करना एव कराना कठिन है। अति सूक्ष्म बातों को न समझने के कारण श्रद्धा भी डावांडोल हो जाती है। तब मनुष्य कह उठता है कि इन सूक्ष्म बातों के लिखने और कहने से आखिरकार लाभ क्या? बुद्धि की मन्दता के कारण जो मुश्किल से दिखलाया जा सके, उसे दुपस्सं अर्थात् दुर्दर्श कहा जाता है। सूक्ष्म तत्त्व को दर्शाना अत्यन्त कठिन है।

४. **दुतितिक्खं**—परीषह-उपसर्गो का सहन करना अत्यन्त कठिन है। यह सहिष्णुता का परिचायक है, श्रद्धा और भावना की दुर्बलता होने पर सहनशीलता नही बढती। सहनशीलता के बिना चारित्र का पालन ठीक तरह से नही हो पाता।

५ **दुरणुचरं**—उन शिष्यो का भगवान के कहे हुए मार्ग पर चलना कठिन होता है, क्योंकि सयम के प्रतिकूल वातावरण में चारित्र का पालन दु:शक्य हो जाता है। रस-लोलुपता, सुकुमारता और महत्त्वाकांक्षा इन कारणों से श्रुत और चारित्र रूप धर्म की आराधना करनी दु:शक्य है। ऋजुता के साथ जड़त्व है तब भी दुर्गम्य है और वक्रत्व के साथ जडत्व हो तब तो और भी कठिन हो जाता है।

सूत्र मे जो "**दुग्गमं**" पद दिया है—उसका आशय यह है—**दुग्गमंति दुःखेन गम्यत इति दुर्गमं, भावसाधनोऽयं कृच्छ्रवृत्तिरित्यर्थः, तद्भवति विनेयानामृजुजडत्वेन वक्रजडत्वेन च।**

मध्यम बाईस तीर्थंकरों के युग में और महाविदेह के एक सौ साठ विजयों में मनुष्य प्रायः ऋजु एवं प्रज्ञावान् होते हैं। उन्हे धर्म के स्वरूप को समझने में और पालन करने में कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि वे हृदय के सरल और बुद्धि के स्वामी होते हैं। उनके लिए पांच बातें सुगम होती हैं। वे पांच बातें निम्नलिखित हैं। जैसे कि—

१. **सुआइक्खं**—उन्हें धर्म का स्वरूप कहना सुगम है, धर्म शिक्षा देनी आसान है। वास्तविक बात को समझाने में गुरु को कठिनाई नहीं आती, उन्हे प्रतिबोध सुगमता से दिया जा सकता है।

२. **सुविभज्ज**—उन्हें आगमों के पाठो का विभिन्न दृष्टिकोणो से विभाग करके समझना और समझाना सुगम है। गुरु के संकेत व उपदेश को सुनकर राजहस के समान क्षीर-नीर विवेक से सूक्ष्म या महान विषय को पृथक्-पृथक् करके समझना और समझाना सुगम है।

३. **सुपस्सं**—उन्हें मत-मतांतरो में रहे हुए सत्यांश को समझना और समझाना भी सुगम है, उनके लिए सूक्ष्म विषय भी सुबोध है और छुपे हुए सत्य को प्रदर्शित करना भी आसान है।

४ **सुतितिक्खं**—उन्हे किसी भी परीषह उपसर्ग को सहना कठिन नही है।

५ **सुरणुचरं**—उनके लिए निरतिचार संयम और तप की आराधना करना भी कोई कठिन कार्य नही है। ऊपर कहे हुए पांच भेदो में पहला और दूसरा भेद सम्यग्ज्ञान से सम्बन्धित है, तीसरा सम्यग्दर्शन से और चौथा एवं पांचवां सम्यक् चारित्र से सम्बन्धित है। इस वर्णन-परम्परा से सूत्रकर्त्ता ने सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के विषय का प्रतिपादन किया है।

श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने सर्वविरति अर्थात् पूर्ण रूप से विरक्त साधु और साध्वियो के लिए पाच जीवनोपयोगी महागुणो का स्वरूप और फल बताया है, उनकी उपयोगिता बताई है और प्रशसा भी की है। साथ ही उन गुणों को जीवन में उतारने अर्थात् आचरण में लाने की आज्ञा प्रदान की है, जैसे कि क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव, मार्दव और लाघव।

१. **क्षांति**—क्रोध का सर्वथा त्याग करना, क्रोध उत्पन्न होने के कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध न करना, वाणी या अन्य साधनों से कष्ट देने वाले पर भी रोष न करना, सशक्त होने पर भी प्रतिकार न करते हुए क्षमा करना, शांति को सदा-सर्वदा बनाए रखना, इस प्रकार अपना जीवन शान्त बनाना, जिससे दूसरों को भी शान्त रहने की प्रेरणा मिल सके,

ऐसे गुण-समूह को क्षान्ति कहा जाता है। यह क्षान्ति यद्यपि मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी है, तथापि साधु-जीवन के लिए इसकी अनिवार्यता सर्वमान्य है।

२. **मुक्ति**—यहां मुक्ति का अर्थ है इच्छाओ से छुटकारा। इच्छाओं के आधीन न रह कर, इच्छा-मुक्त जीवन व्यतीत करना। पदार्थो की तृष्णा का त्याग, यहा तक कि धर्मोपकरणों या शरीर पर भी ममत्व न रखना, लोभ-मुक्त मानसिक दशा में रहकर संतोष धारण करना ही मुक्ति है। यह वह दूसरा गुण है जिसे साधु-जीवन के विकास के लिए आवश्यक माना गया है।

३. **आर्जव**—मन, वाणी और काया में किसी प्रकार का कपट न रखना, अपने अवगुणों एवं दोषों को न छिपाना, कपट को त्याग कर सरल जीवन व्यतीत करना ही आर्जव है। सरलता को धर्म की जननी कहा गया है, क्योंकि सरल व्यक्ति ही विनम्र होता है, नमनशील होता है और नमनशील ही ज्ञान-प्राप्ति के योग्य माना गया है—"**तद्विद्धि प्रणिपातेन**— विनम्रता से ज्ञान को प्राप्त करो" यह आध्यात्मिक सूक्ति इसी ओर सकेत करती है।

४. **मार्दव**—मार्दव का अर्थ है अपने अह को गला कर अपने आपको समर्पण के योग्य बना देना। अह से कठोरता का उदय होता है और विनम्रता से जीवन में कोमलता एवं प्रफुल्लता की वृद्धि होती है, अत: मार्दव जीवन-निर्माणकारी महान् तत्त्व है, क्योंकि यही 'पापमूल अभिमान' को नष्ट करता है।

५ **लाघव**—लाघव का अर्थ है हल्कापन, शरीर और मन को बोझल न बनने देना। जब मानव अत्यधिक परिग्रही हो जाता है, सचयशील हो जाता है तो वह उन वस्तुओ की सुरक्षा की चिन्ता से दबा रहता है, परिणामस्वरूप मानव का मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है, आध्यात्मिकता के द्वार बन्द हो जाते है। परिग्रह रूप बोझ को त्याग कर किसी भी समय मन को बोझल न बनने देना ही लाघव है।

अत्यधिक भोजन आदि से शरीर में प्रमाद एवं आलस्य बढ जाता है, शरीर में भारीपन होने लगता है, ऐसी दशा मे जबकि लोक-व्यवहार ही नहीं हो पाता, तब अध्यात्म-साधना कैसे हो सकती है, अत: सतुलित आहार के द्वारा शरीर को हल्का रखना भी लाघव ही है।

सर्वविरति के लिए पाच बाते भगवान ने और भी वर्णित की है, जैसे कि—सत्य, सयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य। ये पाचो तत्त्व साधुत्व रूप कल्पवृक्ष के मूल हैं, अत: भगवान ने इनकी आराधना के द्वारा साधुत्व के विकास के लिए आदेश दिया है, प्रेरणा दी है और इस बात का हार्दिक समर्थन किया है कि साधु-जीवन के लिए संयमादि का अनुष्ठान अनिवार्य है और साथ-साथ हितकर भी।

१. **सत्य**—श्रमण निर्ग्रथों के लिए मिथ्या भाषण सर्वथा हेय है, उन्हें मृषावाद का त्याग तीन करण और तीन योग से करना चाहिए, फिर भी जो सत्य किसी के लिए अप्रिय, अहितकर एवं सदोष है, उस सत्य का भी त्याग करना आवश्यक है। जो सत्य मधुर, प्रिय

और हितकर है ऐसा सत्य मन में, वाणी में और व्यवहार में होना चाहिए, वस्तुत: वही सत्य आत्मा को प्रकाशित करने वाला है। अप्रिय सत्य में हिंसा है, अत: ऐसा सत्य बोलने की अपेक्षा मौन श्रेयस्कारी कहा जा सकता है।

२. संयम—अपने को सम्यक् प्रकार से नियंत्रित करना ही संयम है। वह सत्रह प्रकार का होता है, जैसे कि पांच आश्रवों से निवृत्ति, पांच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों पर विजय और दण्डत्रय से विरति। इन सबके समुदाय को संयम कहते हैं।[१] अथवा पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय इन समस्त जीवों की हिंसा न करना, हिंसा न करवाना और न ही हिंसा का अनुमोदन करना, मर्यादा-विरुद्ध धर्मोपकरण न रखना, गृहीत उपकरणों से यतना-पूर्वक काम लेना और उठने-बैठने और सोने के स्थान की इस प्रकार निरीक्षण करना कि वहां कोई जीव न हो, गृहस्थ के पापकर्मो का अनुमोदन न करना, विधि से परठना, वस्त्र-पात्र आदि की प्रतिलेखना- प्रमार्जना करना, मन में दुर्भाव न रखना, दुर्वचन न बोलना और यतना से गमनागमन करना, इन समस्त प्रक्रियाओं के सामूहिक रूप को संयम कहते हैं।[२] इस प्रकार भी १७ भेद संयम के होते है।

३. तप—इच्छाओ का निरोध करना ही तप है, जिस अनुष्ठान से शरीर की समस्त विकृतिया एवं आठों कर्म जलकर नष्ट हो जाए उसी अनुष्ठान को तप कहा जाता है। यह तप बारह प्रकार का होता है। उनमें छ: प्रकार का बाह्य तप है और छ: प्रकार का आभ्यतर तप है। प्रत्येक के भेद-प्रभेद और अनुभेद अनेकों ही है।[३]

४. त्याग—आत्मविकास मे बाधक समस्त पदार्थो का तथा राग, द्वेष, कषाय आदि का त्याग करना ही वस्तुत: त्याग है। त्याग शब्द शुद्ध एव निस्वार्थ दान का पर्यायवाची भी है। सयमियों के द्वारा आहार-पानी, वस्त्र, पात्र आदि संयम-उपयोगी वस्तुओ का दान करना भी त्याग कहलाता है। सुपात्र को दान देना, धर्म-दान करना, तपस्वी, रोगी और नवदीक्षित को आहार-पानी देना, आलस्य, प्रमाद आदि बुराइयों को छोडना भी त्याग है। इसके विषय मे वृत्तिकार लिखते है—

तो कय पच्चक्खाणो आयरियगिलाणबालबुड्ढाणं।
देज्जाऽसणाइ संते लाभे कय वीरियायारो ॥
संविग्ग अन्न संभोइयाण देसिज्ज सड्ढगकुलाणि।
अतरंतो वा संभोइयाण वा देसे जह समाही ॥

---

१ पञ्चाश्रवाद्विरमण पञ्चेन्द्रियनिग्रह कषायजय·।
दण्डत्रयविरतिश्चेति संयम. सप्तदश भेद.॥

२ पुढविदगअगणिमारुयवणप्फइ बि ति चउ पणिंदि अजीवे।
पेहोपेह पमज्जण परिट्ठवण मणो वई काए॥

३. विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए ''औपपातिक सूत्र''।

अर्थात् सशक्य होने पर उद्यत विहारी बने, किसी भी वस्तु का लाभ होने पर सहयोगी साधुओं को आहार पानी देना, अशक्त होने पर यथासभव उन्हें गृहस्थों के घर बताना, इसी प्रकार उद्यत विहारी होना, असाभोगिक सहधर्मी साधुओं को श्रावकों के घर बताना आदि समस्त प्रक्रियाओं का पालन करना भी त्याग कहा गया है। संचय की प्रवृत्ति पर विजय ही वास्तविक त्याग है।

५. ब्रह्मचर्यवास—इसका अर्थ है ब्रह्मचर्य में वास करना या ब्रह्मचर्य से अपने को वासित करना। नव बाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालन करना, ब्रह्मचर्य की साधना के लिए काम-वेग को शान्त करना। यह वेग बड़ा ही भयंकर है, इसके आगे बड़ी से बड़ी शक्तियां भी घुटने टेक देती हैं। इसे वश करना या इस पर विजय पाना दुष्कर ही नहीं नितान्त कठिन है। जो इसका यथातथ्य पालन करता है उसे भगवान बनने में कोई विलम्ब नहीं रह जाता। वस्तुत: गुप्त ब्रह्मचारी ही भगवान है, ब्रह्मचर्यवास परमात्म-पद पाने के लिए अमोघ साधन है।

क्षांति से लेकर ब्रह्मचर्यवास पर्यन्त इन दस शिक्षा-बिन्दुओं को श्रमण-धर्म एवं यति-धर्म कहा जाता है, इन सब को जीवन मे उतारना ही साधुता है। कहा भी है—

खंती य मद्दवऽज्जवमुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे।
सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइ धम्मो॥

मनुष्य जब संयमवृत्ति मे प्रविष्ट होता है, तब वह अनेक प्रकार के अभिग्रहो के द्वारा तप को ग्रहण कर कर्मो से सर्वथा विमुक्त होने के लिए प्रयत्नशील होता है। श्रमण भगवान महावीर ने श्रमण एवं निर्ग्रन्थों के लिए नित्य आचरणीय अभिग्रहो को धारण करने की आज्ञा प्रदान की है। अभिग्रह का अर्थ है दूसरो के द्वारा अविज्ञात ऐसी धारणा जो संयम-निष्ठा को पूर्णत: जागृत कर सके। इस अभिग्रह के पांच-पांच विभागो मे अनेक रूप बताए गए हैं, जैसे कि—

१ उत्क्षिप्त-चरक—दो शब्दो से इस पद की निष्पत्ति हुई है। उत्क्षिप्त का अर्थ है हडिया पतीली आदि मे से निकाला हुआ भोजन और चरक का अर्थ है ऐसे आहार की गवेषणा करने वाला साधु। इस प्रकार उत्क्षिप्त-चरक उस साधु को कहा जाता है जो गोचरी के समय ऐसे भोजन की अभिलाषा करता है जो हडिया एवं पतीली आदि से निकाला जा रहा हो। कुछ साधु पहले ऐसा अभिग्रह कर लेते हैं कि जिस बर्तन में अन्न पकाया गया हो यदि कोई गृहस्थ अपने निमित्त से उस भोजन को उस बर्तन से निकाल रहा हो तभी मैं इस प्रकार का निर्दोष आहार ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकार के अभिग्रह पूर्वक आहार की खोज करने वाले साधु उत्क्षिप्तचरक कहलाते हैं

२. निक्षिप्त-चरक—जिस बर्तन में अन्न पकाया गया है यदि उसी में से निकालकर कोई देगा और वह भी निर्दोष होगा, तो ही मैं उसे ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं, ऐसे आहार

की एषणा गवेषणा करने वाला साधु निक्षिप्तचरक कहलाता है। उत्क्षिप्तचरक पकाए जाने वाले बर्तन में से निकलते हुए आहार को ग्रहण करता है और निक्षिप्तचरक पकाने के बर्तन में से ही आहार ग्रहण करता है यही दोनों में अन्तर है।

३. अन्त-चरक—यहां पर अंत शब्द का अर्थ है ऐसे कुल अर्थात् वंश जिनके वैभव का अन्त हो चुका है, अर्थात् निर्धन एवं अभावग्रस्त कुलों से भिक्षा ग्रहण करने की जिसने प्रतिज्ञा ले रखी है, उस साधु को अन्तचरक कहा जाता है।

४. प्रान्त-चरक—तुच्छ एवं साधारण कुलों से भिक्षा ग्रहण करने वाले साधु को प्रान्तचरक कहा जाता है। अन्तचरक निर्धन किन्तु उच्च कुलो से आहार ग्रहण करता है और प्रान्तचरक निर्धन एवं हीन कुलो से ही आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करता है, यही दोनो में अन्तर है।

५. रूक्ष-चरक—भुने हुए दाने या रूखी रोटी ही ग्रहण करूंगा, जिस साधु ने यह प्रतिज्ञा ली हुई है उस साधु को रूक्षचरक कहते है।

भगवान के द्वारा उपदिष्ट एवं अनुमत पांच अन्य अभिग्रह भी है जैसे कि—

१. अज्ञात-चरक—परिचय रहित अज्ञात घरो से ही भिक्षा ग्रहण करूगा या अपनी जाति या कुल का परिचय दिए बिना ही अज्ञात अवस्था में रहकर भिक्षा ग्रहण करूंगा, इस प्रकार के अभिग्रहधारी साधु को अज्ञातचरक कहा जाता है।

२. अन्नग्लायक-चरक—भूख लगने पर ही भिक्षा के लिए जाने वाले साधु को अन्नग्लायकचरक कहा जाता है। इसका पर्यायवाची शब्द **अन्यग्लायकचरक** भी है, जिसका अभिप्राय है वह साधु जो दूसरे मुनिवर के लिए आहार की गवेषणा करने वाला है। कुछ साधु ऐसे भी होते है जो अपने लाए हुए आहार का उपयोग स्वयं नहीं करते, वे आहार लाते हैं केवल दूसरों के लिए। वृत्तिकार ने[१] इसको कालाभिग्रह भी माना है, जिसका अभिप्राय है आहार के समय को छोडकर आहार के लिए गमन करना, प्रात: और साय इन दो समयों में ही गोचरी के लिए जाना अन्य किसी समय मे नहीं। इस को भी 'कालाभिग्रह' कहा जा सकता है।

३. मौन-चरक—जो साधु भिक्षा के समय मौन रहता है, उसे मौनचरक कहा जाता है। मौन रहने से प्रथम तो अनायास ही भाषा-समिति का पालन हो जाता है, वाणी पर नियन्त्रण-हीनता नहीं आ पाती और साधु यथालाभ सन्तोष की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

४. संसृष्टकल्पिक—''अचित्त पदार्थो से भरे हुए हाथो से, कड़छी या कटोरी आदि

---

१ 'अन्नइलायचरए' त्ति अन्नग्लानको दोषान्नभुगिति भगवती टिप्पण के उक्त: एव विध सन् अथवा अन्नविना ग्लायक·-समुत्पन्नवेदनाऽऽदिकारण एवेत्यर्थ:, अन्यस्मै वा ग्लायकाय भोजनार्थं चरतीति अन्यग्लायक-चरको अन्यग्लायकचरकोऽन्नग्लायकचरकोऽन्यगलायकचरको वा, क्वचित् पाठ. 'अन्नवेल'' ति तत्रान्यस्या भोजनकालापेक्षयाऽऽद्यवसानरूपायां वेलाया समये चरतीत्यादि दृश्य, अय च कालाभिग्रह इति।

से यदि कोई आहार देगा तो ही ग्रहण करूंगा, अन्यथा नही" इस प्रकार का अभिग्रह धारण करने वाला साधु **संसृष्टकल्पिक** कहलाता है। **कप्पिए** का अर्थ होता है कल्पनीय। जो वस्तु निर्दोष एवं ग्रहणीय हो, उसी वस्तु को उचित पदार्थों से सने हुए हाथों आदि से ग्रहण किया जाए, अन्यथा नहीं।

५. **तज्जातसंसृष्टकल्पिक**—जो उचित वस्तु ग्रहण करनी है यदि उसी से हाथ, बर्तन या कड़छी भरी हो तो ग्रहण करना या जिस वस्तु से हाथ आदि भरे हुए हों देने वाला वही वस्तु दे तो ही भिक्षा ग्रहण करना, इस प्रकार के अभिग्रहधारी को 'तज्जात-संसृष्ट-कल्पिक' कहा जाता है।

भगवान के द्वारा उपदिष्ट और आचरणीय बताए गए अन्य भी पाच अभिग्रह हैं, जैसे कि—

१. **औपनिधिक**—उपाश्रय के समीपवर्ती घरों से ही आहार की गवेषणा करने वाला या "किसी गृहस्थ के समीप रखी हुई वस्तु यदि मिले तो ग्रहण करूं किन्तु दूर रखी हुई वस्तु नही" ऐसी प्रतिज्ञा करके आहार की गवेषणा करने वाले साधु औपनिधिक कहलाते हैं।

२. **शुद्धैषणिक**—१६ उद्गम दोष, १६ उत्पादन दोष और १० एषणा के दोष—इन ४२ दोषो से मुक्त आहार की गवेषणा करने वाला साधु 'शुद्धैषणिक' कहलाता है।[1]

३. **संख्यादत्तिक**—दत्तियो की संख्या के अनुसार भिक्षा ग्रहण करने वाला साधु 'संख्यादत्तिक' कहलाता है। दत्ति का अर्थ है साधु के पात्र में दाता के द्वारा दिए जाने वाले पदार्थ की जब तक अखडधारा पड़ती है वह एक "दत्ति" मानी जाती है। धारा टूट जाने पर पुन: पात्र मे पड़े वह दूसरी दत्ति होगी, इसी को दूसरे शब्दों मे "दात" भी कहते हैं। जिस दिन जितनी दत्तियां ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की हो, उस दिन उतनी ही दत्तियो को ग्रहण करने वाला साधु 'सख्या-दत्तिक' कहलाता है।[2]

४. **दृष्टिलाभिक**—जो वस्तु देखने में आ रही हो उसी मे से यदि कोई भिक्षा दे तो उसी को ग्रहण करने वाला साधु 'दृष्टलाभिक' कहलाता है। दृष्टलाभिक साधु ढक कर या अलमारी आदि मे बद करके रखी हुई वस्तु को ग्रहण नही करता है।

५. **पृष्टलाभिक**—किसी के पूछने पर ही उससे भिक्षा ग्रहण करने वाला साधु 'पृष्टलाभिक' कहलाता है। इस प्रकार के साधु के सामने जब कोई गृहस्थ "मुनिवर, क्या

---

१ इन दोषो का विवरण समिति गुप्ति थोकडे मे मिलता है।

२. निम्नलिखित गाथा उक्त विषय को स्पष्ट करती है जैसे कि—
दत्तीउ जत्तिए वारे खिवइ होंति तत्तिया।
अव्वोच्छिन्न णिवायाओ, दत्ती होई दवेतरा ।।

आप भिक्षा के लिए पधारे हैं ?' यह प्रश्न करता है और साथ ही वह भिक्षा भी देना चाहता है उसी से वह भिक्षा ग्रहण करता है।

यहां यह स्मरणीय है कि साधु के इस प्रकार के अभिग्रहों को धारण करने की प्रेरणा इसलिए दी गई है कि वह भोजनासक्ति का परित्याग कर सके। अभिग्रहपूर्ति पर उसे हर्ष न हो और अभिग्रह पूर्ण न होने पर उसे दु:ख न हो। इस प्रकार यह निस्पृह जीवन के लिए सुन्दर साधना है। अन्य भी पांच प्रकार के अभिग्रह भगवान के द्वारा उपदिष्ट, प्रशंसित एवं अनुमत है, जैसे कि—

१. **आचाम्लिक**—जो साधु आयंबिल करता है, उसे आचाम्लिक कहा जाता है। जो वस्तु अभीष्ट रस से रहित एवं जिसमे विगय अर्थात् घी, दूध आदि का अश भी नही और जिसके सेवन करने से बिल्कुल भी तृप्ति न हो, ऐसी अरुचिकर वस्तु का आहार करने वाला साधु आचाम्लिक कहलाता है।

२. **निर्विकृतिक**—जो साधु किसी भी विगय अर्थात् घी, दूध, दही, मक्खन, मधु आदि का सेवन नहीं करता उसे "निर्विकृतिक" कहते हैं। रूखी रोटी और छाछ के आधार पर ही जीवन-यापन करने वाले साधु इसी श्रेणी मे माने जाते है।

३. **पूर्वार्द्धिक**—जो साधु दिन के तीसरे पहर मे ही आहार करता है, पहले या दूसरे पहर में नहीं, वह साधु पूर्वार्द्धिक कहलाता है।

४. **परिमितपिण्डपातिक**—द्रव्यो का परिमाण या घरों का परिमाण करके आहार के लिए विचरने वाला साधु परिमित-पिण्डपातिक कहलाता है। जिस-जिस द्रव्य की जितनी मर्यादा की हो उससे अधिक द्रव्य न लाने वाला और जितने घरो से भिक्षा-ग्रहण की प्रतिज्ञा की हो उतने ही घरों से भिक्षा ग्रहण करने वाला परिमित-पिण्ड-पातिक कहलाता है।

५. **भिन्नपिण्डपातिक**—किसी भी अखंड वस्तु को न लेकर टुकड़े-टुकड़े की हुई वस्तु को ही ग्रहण करने वाला साधु भिन्न-पिण्ड-पातिक कहलाता है। जैसे कि टूटे हुए मोदक आदि लेना, या सत्तू आदि का आहार लेना।[१]

अन्य भी पांच प्रकार के अभिग्रह-धारियों का वर्णन भगवान ने किया है, उनकी भी पहले की ही तरह प्रशसा की है, उनकी उस कठोर साधना की अनुमोदना भी की है। जैसे कि—

१. **अरसाहार**—जो साधु हींग आदि मसालेदार व्यंजनों से रहित भोजन लेता है और उसी आहार की गवेषणा करता है, उस साधु को 'अरसाहार' कहा जाता है।

२. **विरसाहार**—जो साधु पुराने धान्य से बने हुआ आहार की गवेषणा करता है, उसे

---

१ वृत्तिकार लिखते है—
"भिन्नस्यैव—स्फोटितस्यैव पिण्डस्य सक्तुकादिसमबन्धिन: पातो-लाभोऽस्यास्ति स भिन्नपिण्डपातिक:।

'विरसाहार' साधु कहते हैं।

३. **अन्ताहार**—जो साधु अन्य साधुओ के भोजन के बाद भुक्तावशेष पदार्थो का आहार करने वाला है, वह 'अन्ताहार' कहलाता है।

४. **प्रान्ताहार**—जो साधु तुच्छ एव बासी तथा शीत वस्तु का आहार करने वाला है, वह 'प्रान्ताहार' कहलाता है।

५. **रूक्षाहार**—जो साधु रूक्ष पदार्थों का आहार करता है वह रूक्षाहार कहलाता है। वह घी, तेल, दूध, दही आदि का प्रयोग नही करता। केवल नीरस पदार्थों का ही आहार करता है।

भगवान ने अन्य भी पाच प्रकार के अभिग्रहधारी साधुओ का वर्णन एव समर्थन किया है, जैसे कि—

अरसजीवी, विरसजीवी, अन्तजीवी, प्रातजीवी और रूक्षजीवी। इनका विवरण ऊपर लिखे सदृश ही समझना चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है कि निश्चितकाल के लिए अरस आदि आहार करने वाले साधु पहले पांच भेदो के अन्तर्भूत होते है, किन्तु जिन्होंने उक्त प्रतिज्ञा जीवन भर के लिए की है, उनको अरसजीवी कहा जाता है।

अगले दो सूत्रों में भगवान ने कायक्लेश तप के कुछ भेदों का वर्णन किया है, उनकी साधना करने के लिए भी भगवान ने अनुमति दी है। जो-जो क्रियाए सयम एवं तप के लिए उपयोगी हैं वे ही भगवान के द्वारा सर्वदा प्रशंसित रही है। श्रमण-निर्ग्रन्थो को किन-किन आसनों का उपयोग करना चाहिए? इस विषय का विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. **स्थानातिग**—कायोत्सर्ग करके ध्यान-मुद्रा में खड़े रहने की प्रतिज्ञा वाला साधु 'स्थानातिग' कहलाता है।

२. **उत्कटासनिक**—पैरों के भार से बैठकर स्वाध्याय ध्यान आदि धर्म-क्रिया करने वाले साधु को उत्कटासनिक कहा गया है।

३. **प्रतिमास्थायी**—जो साधु बारहवी भिक्षु-प्रतिमा को अगीकार करके अवस्थित रहने वाला है, धर्म-ध्यान करते समय मेरुगिरि की तरह निष्कम्प एवं अडोल रहने वाला है, वह साधु 'प्रतिमास्थायी' कहलाता है।

४. **वीरासनिक**—वीरासन से बैठने वाला साधु 'वीरासनिक' कहलाता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति भूमि पर दोनो पैर रखकर कुर्सी पर बैठा हो फिर उसके नीचे से कुर्सी हटा देने पर वह व्यक्ति यदि पहले की तरह ही बैठा रहे उस आसन को वीरासन कहते है।[१]

५ **नैषद्यिक**—बैठने के एक प्रकार को निषद्या कहते हैं। इस निषद्या मुद्रा मे बैठकर

---

१ 'वीरासन भून्यस्तपादस्य सिंहासने उपविष्टस्य तदपनयने या कायावस्था तद्रूप, दुष्कर च तदिति, अतएव वीरस्य-साहसिकस्यासनमिति वीरासनमुक्त, तदस्यास्तीति वीरासनिक:।

साधना करने वाले साधु को 'नैषद्यिक' कहा जाता है। जो आसन सयम के उपयोगी हो वही आसन समुचित माना गया है, जो आसन अविनीतता, असभ्यता, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान की स्थिति को प्रकट करने वाला हो, वह आसन सदा परिवर्जनीय है। पर्यक-आसन, अर्धपर्यक आसन, पद्मासन, गोदुहासन, उत्कटासन इत्यादि आसनो का समावेश उक्त-पद में हो जाता है।

आसन वह शारीरिक साधना है जिसके द्वारा शरीर की समस्त जीवन-प्रक्रिया को नियन्त्रित किया जाता, श्वास-प्रश्वास की क्रिया को बल दिया जाता है, शरीर के रक्त-संचार को सुव्यवस्थित एवं शुद्ध किया जाता है। इस प्रकार शरीर को आलस्य से मुक्त करके उसे साधना के योग्य बनाया जाता है।

भगवान महावीर के द्वारा उपदिष्ट एवं अनुमत कायक्लेश तप के पाच प्रकार है जो कि कठिन ही नहीं, अति कठिन है जैसे कि—

१. **दण्डायतिक**—जो साधु दड की तरह सर्वाङ्ग फैलाकर लेट जाता है, किसी भी अंग को हिलाता-डुलाता नहीं तथा सिर और पैरों को अधर रखता है उसे दडायतिक कहते है, ऐसा आसन किसी विशेष अवस्था मे निश्चित एवं अनिश्चित काल के लिए किया जाता है।

२. **लगंडशायी**—लगड का अर्थ है वृक्ष आदि का ऐसा अनघड भाग जो दोनों ओर से पृथ्वी को छू रहा हो, परन्तु उसका मध्य भाग ऊंचा उठा हुआ हो। जिस तरह वह काठ दोनो ओर से भूमि पर लगा होता है और उसका मध्य भाग भूमि से ऊंचा रहता है वैस ही जो साधु पीठ को भूमि पर बिना लगाए लेटे रहने वाला है वह लगंडशायी कहलाता है।

३. **आतापक**—जो साधु गर्मी की ऋतु में धूप की आतापना लेता है उसे आतापक कहते हैं।

४. **अप्रावृनिक**—शीतकाल में वस्त्र का उपयोग न करके सूखी घास आदि का ही उपयोग करने वाला साधु अप्रावृतिक कहलाता है, इस साधना में साधुवेष के अतिरिक्त नग्न मुद्रा सहित ध्यानावस्था में स्थिर होने की विधि भी बताई गई है।

५. **अकंडूयक**—जो शरीर मे खुजली चलने पर भी शरीर को खुजलाता न हो ऐसे साधु को अकण्डूयक कहते है। ऐसा करना भी कठिन ही है, इसमे सहनशीलता की पराकाष्ठा है।

प्रश्न हो सकता है कि साधु इस प्रकार शरीर-यातनाए क्यो सहन करे ? क्यो न वह शान्त भाव से बैठकर ध्यान करते हुए आत्म-चितन के पथ पर अग्रसर हो ? यह भी कहा जाता है कि क्या स्वशरीर को कष्ट देना हिंसा नही है ? बात बहुत हद तक ठीक भी है, परन्तु जैन साधु-साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट होकर जहां अन्य ममताओं का परित्याग करता है वहा वह शरीर-ममता को भी छोड़ देता है। ''आप मेट जीवित मरे, तो पावै करतार'' की उक्ति

प्रसिद्ध है। साधु जीते जी मर जाता है—शरीर को छोड़ देता है। शरीर की ममता का मर जाना ही साधु का जीते जी मर जाना है। वह इस प्रकार साधु-आसनों द्वारा एवं काय-क्लेशो द्वारा अपनी परीक्षा स्वयं लेता है कि वह शरीर-ममता का त्याग कर पाया है या नही। जब उसे शारीरिक वेदनाओं की अनुभूति नहीं हो पाती तब वह समझता है कि अब मैं कायोत्सर्ग की साधना करने के योग्य स्थिति को प्राप्त कर चुका हू, अत: वह इस स्थिति की प्राप्ति के लिए ही इस प्रकार के शारीरिक कष्ट सहन करता है।

इस प्रकार की क्रिया करने वाले मुनियो की श्री भगवान ने प्रशंसा की है। ये क्रियाए योगबल के साथ होने से अनेक प्रकार की लब्धियां अर्थात् सिद्धिया प्रकट करने की सामर्थ्य रखती हैं। साथ ही इन क्रियाओ की निष्काम आराधना आत्मोद्धार में भी परम सहायक होती है, क्योकि इनके द्वारा मनोनियन्त्रण की प्रक्रिया का विकास होता है।

महानिर्जरा और महापर्यवसान के कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ तं जहा—अगिलाए आयरियवेयावच्चं करेमाणे, उवज्झायवेयावच्चं करेमाणे, थेरवेयावच्चं करेमाणे, तवस्सिवेयावच्चं करेमाणे, गिलाणवेयावच्चं करेमाणे।

पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ, तं जहा—अगिलाए सेहवेयावच्चं करेमाणे, अगिलाए कुलवेयावच्चं करेमाणे, अगिलाए गणवेयावच्चं करेमाणे, संघवेयावच्चं करेमाणे, अगिलाए साहम्मिय-वेयावच्चं करेमाणे॥१०॥

छाया—पञ्चभि. स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति, तद्यथा—अग्लान्या आचार्य-वैयावृत्यं कुर्वाणः, एवमुपाध्याय- वैयावृत्यं कुर्वाणः, स्थविर-वैयावृत्यं कुर्वाणः, तपस्वि-वैयावृत्यं कुर्वाणः ग्लान-वैयावृत्यं कुर्वाणः।

पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति, तद्यथा—अग्लान्या शैक्ष-वैयावृत्य कुर्वाणः, अग्लान्या कुल-वैयावृत्यं कुर्वाणः, अग्लान्या गणवैयावृत्य कुर्वाणः, अग्लान्या सघ-वैयावृत्यं कुर्वाणः, अग्लान्या साधर्मिक-वैयावृत्यं कुर्वाणः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पाच कारणों से श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा एवं महापर्यवसान अर्थात् निर्वाण प्राप्त करने वाला होता है, जैसे—अग्लानि से आचार्य की सेवा करने से,

उपाध्याय की सेवा करने से, स्थविर की सेवा करने से, तपस्वी की सेवा करने से और ग्लान अर्थात् रोगी की सेवा करने से।

पांच कारणो से श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा एवं महापर्यवसान अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने वाला होता है, जैसे—ग्लानिरहित होकर नवदीक्षित की सेवा करने से, ग्लानि-रहित होकर कुल की सेवा करने से, ग्लानि-रहित होकर गण की सेवा करने से, ग्लानि-रहित होकर संघ की सेवा करने से और ग्लानि-रहित हो कर साधर्मिक बन्धुओं की सेवा करने से।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अभिग्रह आदि साधु-चर्याओं का वर्णन किया गया है, वे चर्याएं कर्म-निर्जरा और मोक्षोपलब्धि में सहायक हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र मे दो सूत्रांशों द्वारा महानिर्जरा और महापर्यवसान के पाच-पाच कारण निर्दिष्ट किए गए हैं। महानिर्जरा का अर्थ है 'वह महासाधना जिससे संचित कर्मो का क्षय हो और महापर्यवसान का अर्थ है—वह प्रक्रिया जिससे निर्वाण-पद की प्राप्ति हो, इसे ही दूसरे शब्दों में अपुनर्बन्धक कहा जाता है। वृत्तिकार भी यही लिखते है जैसे कि—

''महानिर्जरो—बृहत्कर्मक्षयकारी, महानिर्जरत्वाच्च महद्—आत्यंतिकं पुनरुद्भवा-भावात् पर्यवसानं अन्तो यस्य स तथा'' विशाल कर्म-समुदाय का क्षय कर देने वाला ''महानिर्जर'' है और महानिर्जर होने से ही वह पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है, अत: वह महापर्यवसान बन जाता है अर्थात् मोक्षाभिमुख हो जाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे आए हुए 'अगिलाए' शब्द का अर्थ है किसी दबाव एव अरुचि से नही, अपितु आत्म-प्रेरणा एव सम्मान के भाव से सेवा करने वाला।

प्रस्तुत सूत्र का ''वैयावच्चं'' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ''वैयावच्च'' का सामान्य अर्थ है सेवा, परन्तु सकाम सेवा नहीं निष्काम सेवा। जिस सेवा के बदले कुछ चाहिए वह सेवा नही दासता है। ऐसी सेवा तो सभी करते है, लाखों लोग जो नौकरी-पेशा हैं वे सेवक ही तो है, सकाम सेवा जो कर रहे है, परन्तु ''वैयावच्च'' वह सेवा है जिससे सेवाभावी को कुछ भी मिलता नही है, कुछ भी प्राप्त नही होता है, हां कुछ कटता अवश्य है, कुछ छूट जाता है, भण्डार मे से कुछ कम हो जाता है अर्थात् कर्म-बन्धन कट जाते हैं, कर्म पके हुए फल के समान झड़ जाते हैं और सेवाभावी सब कुछ छोड़कर ऐसे ही हल्का होता जाता है जैसे दवाई से रोग हटते जाते हैं और मनुष्य रोग-भार से मुक्त होता जाता है। दवाई से रोग झड़ते हैं, कटते हैं, परन्तु दवाई से शक्ति नही मिलती है, रोग अवश्य नष्ट होते हैं। वैयावृत्य से भी कर्म झड़ते हैं और साधक 'महानिर्जर' बनता जाता है। इसीलिए ''वैयावच्च'' सयमी पुरुषों की होती है जो स्वयं कर्मनिर्जरा की महासाधना मे लगे हुए हैं, उनकी संयम-साधना के पोषण के लिए यह सेवा होती है, उनसे कुछ पाने के लिए नहीं। सेवा के लिए सेवा

की जाती है, देवलोक की सीढ़ी प्राप्त करने के लिए नहीं। अत: ''वैयावृत्य'' को महानिर्जरा का साधक बताया गया है। सूत्र के प्रथमाश में वैयावृत्य करने के योग्य पांच महा साधक बताए गए हैं, जैसे कि—

१. **आचार्य**—जो महापुरुष स्वय पांच प्रकार के आचारो का पालन करता है और दूसरों से भी पालन करवाता है वह आचार्य कहलाता है। यह दायित्व चतुर्विध श्री संघ के अधिनायक का है, अत: उसे ही आचार्य कहते हैं। वह अपनी महासाधना से जन-मानस को प्रभावित करने में सिद्धहस्त होता है और साथ ही अनुशासन-कला में भी प्रवीण होता है।

जैन सस्कृति आचार्य के—प्रव्राजनाचार्य, दिगाचार्य, सूत्रोद्देशनाचार्य, सूत्रसमुद्देशनाचार्य और वाचनाचार्य ये पांच रूप मानती है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(क) **प्रव्राजनाचार्य**—जो शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुसार त्यागमय जीवन अपनाने के अभिलाषियों को दीक्षित करते है।

(ख) **दिगाचार्य**—जो भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देने में सिद्धहस्त हैं।

(ग) **उद्देशनाचार्य**—जो किस-किस शिष्य की कैसी-कैसी योग्यता है, इस बात को लक्ष्य मे रखकर उनकी योग्यता एवं अभिरुचि के अनुसार आगमों के अध्ययन के लिए आज्ञा देने वाले है।

(घ) **समुद्देशनाचार्य**—जो आगमों के अन्तर्वर्ती विशेष प्रकरणों को समझने के लिए या आगमो का ज्ञान स्थिर रखने के लिए तथा साधक-वर्ग को सयम में स्थिर रखने के लिए छोटे-छोटे कार्यो के लिए आज्ञा देते हैं।

(ङ) **वाचनाचार्य**—जो शिष्यों को स्वयमेव सूत्र और अर्थ का अध्ययन करवाते है।

२. **उपाध्याय**—जो मुनिराज आगमों का अध्ययन करवाते है और प्रमाण-नय-निक्षेप-अनुगम-उत्सर्ग-अपवाद तथा विभिन्न दर्शनों की मान्यता को लक्ष्य में रखकर भेद-प्रभेदों सहित विषय को स्पष्ट कर साधकों के मन को समाहित करते है, उन्हें उपाध्याय कहते है।

३ **स्थविर**—धर्म मे स्थिर करने वाले को स्थविर कहते हैं। स्थविर तीन प्रकार के होते हैं—जिनकी आयु साठ वर्ष की हो गई है, उन्हें **वय:स्थविर** कहा जाता है। जिनकी दीक्षा बीस वर्ष की हो चुकी है उन्हे **पर्यायस्थविर** कहते है, जिन्होने स्थानाङ्ग और समवायाग सूत्रो का क्रमश: अच्छी तरह अध्ययन कर लिया है उन्हें **श्रुतस्थविर** कहा जाता है। इस प्रकार आयु, दीक्षा और अध्ययन की दृष्टि से स्थविरों के भी तीन रूप माने गए हैं।

४. **तपस्वी**—जिनकी तपस्या निरन्तर चलती रहती है, अर्थात् जिनका समस्त जीवन तपस्यामय बन गया है और जो तपस्या के द्वारा कर्मनिर्जरा का महाप्रयास कर रहे हैं उन्हें ही तपस्वी कहा जाता है। तपस्वी-जीवन मे बाह्य तपो की अपेक्षा अन्त:तप की ही प्रधानता रहती है।

५. **ग्लान**—जो रोगग्रस्त हैं, आतंकित हैं, व्याधि आदि से अशक्त हैं, कर्मों के उदय से या वात-पित्त और कफ आदि की विषमता से जो शरीर-साधना में असमर्थ हैं या आधात आदि हो जाने से पीडा-ग्रस्त हैं, वे ग्लान हैं। उनकी निस्वार्थ भाव से, रुचि एवं सम्मान-पूर्वक जो वैयावृत्य करता है वह कर्मों की महानिर्जरा एवं महापर्यवसान करता है।

महानिर्जरा और महापर्यवसान करने के लिए पांच अन्य साधक भी सेवनीय बताए गए हैं—

१. **नवदीक्षित**—नव दीक्षित को आचार-विचार की शिक्षा देना, उसे पढाना, उसके खान-पान, रहन-सहन का ध्यान रखना, संयम एव सम्यग्दर्शन में जैसे भी वह स्थिर रह सके उस प्रकार उसकी सेवा करना।

२. **कुल**—एक गुरु की संतति को कुल कहा जाता है। कुल-सेवा भी आवश्यक है।

३. **गण**—कुल के समुदाय को गण कहते हैं, और गण-सेवा भी अनिवार्य है।

४. **संघ**—गणों के समुदाय को सघ कहते हैं, सघ-सेवा को महा सेवा माना गया है।

५. **साधर्मिक**—समान धर्म वाला साधु साधर्मिक कहलाता है। इनकी समुचित रीति से सेवा करने वाला भी कर्मों की महानिर्जरा और महापर्यवसान करता है।

विसांभोगिकता और पाराञ्चित प्रायश्चित्त

मूल—पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे साहम्मियं संभोइयं विसंभोइयं करेमाणे णाइक्कमइ, तं जहा—सकिरिअट्ठाणं पडिसेवित्ता भवइ, प्रडिसेवित्ता णो आलोएइ, आलोइत्ता णो पट्ठवेइ, पट्ठवेत्ता णो णिव्विसइ, जाइं इमाइं-थेराणं ठिइपकप्पाइं भवंति, ताइं अतियंचिय-अतियंचिय पडिसेवेइ। ते हंदऽहं पडिसेवामि, किं मे थेरा करिस्संति।

पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे साहम्मियं पारंचियं करेमाणे णाइक्कमइ, तं जहा—सकुले वसइ, सकुलस्स भेदाए अब्भुट्ठित्ता भवइ, गणे वसइ, गणस्स भेयाए अब्भुट्ठेत्ता भवइ, हिंसप्पेही, छिद्दप्पेही, अभिक्खणं पसिणाययणाइं पउंजित्ता भवइ ॥११॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थः साधर्मिकं साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं कुर्वाणो नातिक्रामति, तद्यथा—सक्रियस्थानं प्रतिषेविता भवति, प्रतिषेव्य नो आलोचयति, आलोच्य नो प्रस्थापयति, प्रस्थाप्य नो निर्विशति, यानि इमानि स्थविराणां स्थितिप्रकल्प्यानि भवन्ति तान्यतिक्रम्यातिक्रम्य प्रतिषेवते, तद् हन्त! प्रतिषेवामि, किं मम स्थविराः करिष्यन्ति?

की जाती है, देवलोक की सीढी प्राप्त करने के लिए नही। अत: "वैयावृत्य" को महानिर्जरा का साधक बताया गया है। सूत्र के प्रथमांश मे वैयावृत्य करने के योग्य पाच महा साधक बताए गए हैं, जैसे कि—

१. **आचार्य**—जो महापुरुष स्वय पांच प्रकार के आचारों का पालन करता है और दूसरों से भी पालन करवाता है वह आचार्य कहलाता है। यह दायित्व चतुर्विध श्री संघ के अधिनायक का है, अत: उसे ही आचार्य कहते हैं। वह अपनी महासाधना से जन-मानस को प्रभावित करने में सिद्धहस्त होता है और साथ ही अनुशासन-कला में भी प्रवीण होता है।

जैन सस्कृति आचार्य के—प्रव्राजनाचार्य, दिगाचार्य, सूत्रोद्देशनाचार्य, सूत्रसमुद्देशनाचार्य और वाचनाचार्य ये पाच रूप मानती है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(क) प्रव्राजनाचार्य—जो शास्त्रीय विधि-विधानो के अनुसार त्यागमय जीवन अपनाने के अभिलाषियों को दीक्षित करते है।

(ख) दिगाचार्य—जो भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देने में सिद्धहस्त हैं।

(ग) उद्देशनाचार्य—जो किस-किस शिष्य की कैसी-कैसी योग्यता है, इस बात को लक्ष्य में रखकर उनकी योग्यता एवं अभिरुचि के अनुसार आगमो के अध्ययन के लिए आज्ञा देने वाले हैं।

(घ) समुद्देशनाचार्य—जो आगमो के अन्तर्वर्ती विशेष प्रकरणो को समझने के लिए या आगमो का ज्ञान स्थिर रखने के लिए तथा साधक-वर्ग को सयम में स्थिर रखने के लिए छोटे-छोटे कार्यों के लिए आज्ञा देते हैं।

(ङ) वाचनाचार्य—जो शिष्यों को स्वयमेव सूत्र और अर्थ का अध्ययन करवाते है।

२ **उपाध्याय**—जो मुनिराज आगमों का अध्ययन करवाते हैं और प्रमाण-नय-निक्षेप-अनुगम-उत्सर्ग-अपवाद तथा विभिन्न दर्शनों की मान्यता को लक्ष्य मे रखकर भेद-प्रभेदों सहित विषय को स्पष्ट कर साधको के मन को समाहित करते हैं, उन्हे उपाध्याय कहते हैं।

३. **स्थविर**—धर्म मे स्थिर करने वाले को स्थविर कहते हैं। स्थविर तीन प्रकार के होते हैं—जिनकी आयु साठ वर्ष की हो गई है, उन्हे **वय:स्थविर** कहा जाता है। जिनकी दीक्षा बीस वर्ष की हो चुकी है उन्हे **पर्यायस्थविर** कहते हैं, जिन्होने स्थानाङ्ग और समवायांग सूत्रों का क्रमश: अच्छी तरह अध्ययन कर लिया है उन्हे **श्रुतस्थविर** कहा जाता है। इस प्रकार आयु, दीक्षा और अध्ययन की दृष्टि से स्थविरों के भी तीन रूप माने गए हैं।

४ **तपस्वी**—जिनकी तपस्या निरन्तर चलती रहती है, अर्थात् जिनका समस्त जीवन तपस्यामय बन गया है और जो तपस्या के द्वारा कर्मनिर्जरा का महाप्रयास कर रहे हैं उन्हें ही तपस्वी कहा जाता है। तपस्वी-जीवन में बाह्य तपो की अपेक्षा अन्त:तप की ही प्रधानता रहती है।

५. **ग्लान**—जो रोगग्रस्त हैं, आतंकित हैं, व्याधि आदि से अशक्त हैं, कर्मों के उदय से या वात-पित्त और कफ आदि की विषमता से जो शरीर-साधना में असमर्थ हैं या आघात आदि हो जाने से पीडा-ग्रस्त है, वे ग्लान हैं। उनकी निस्वार्थ भाव से, रुचि एवं सम्मान-पूर्वक जो वैयावृत्य करता है वह कर्मो की महानिर्जरा एवं महापर्यवसान करता है।

महानिर्जरा और महापर्यवसान करने के लिए पांच अन्य साधक भी सेवनीय बताए गए हैं—

१. **नवदीक्षित**—नव दीक्षित को आचार-विचार की शिक्षा देना, उसे पढ़ाना, उसके खान-पान, रहन-सहन का ध्यान रखना, संयम एवं सम्यग्दर्शन में जैसे भी वह स्थिर रह सके उस प्रकार उसकी सेवा करना।

२. **कुल**—एक गुरु की संतति को कुल कहा जाता है। कुल-सेवा भी आवश्यक है।

३. **गण**—कुल के समुदाय को गण कहते है, और गण-सेवा भी अनिवार्य है।

४. **संघ**—गणों के समुदाय को सघ कहते हैं, संघ-सेवा को महा सेवा माना गया है।

५. **साधर्मिक**—समान धर्म वाला साधु साधर्मिक कहलाता है। इनकी समुचित रीति से सेवा करने वाला भी कर्मो की महानिर्जरा और महापर्यवसान करता है।

विसांभोगिकता और पाराञ्चित प्रायश्चित्त

मूल—पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे साहम्मियं संभोइयं विसंभोइयं करेमाणे णाइक्कमइ, तं जहा—सकिरिअट्ठाणं पडिसेवित्ता भवइ, प्रडिसेवित्ता णो आलोएइ, आलोइत्ता णो पट्ठवेइ, पट्ठवेत्ता णो णिव्विसइ, जाइं इमाइं-थेराणं ठिइपकप्पाइं भवंति, ताइं अतियंचिय-अतियंचिय पडिसेवेइ। ते हंदऽहं पडिसेवामि, किं मे थेरा करिस्संति।

पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे साहम्मियं पारंचियं करेमाणे णाइक्कमइ, तं जहा—सकुले वसइ, सकुलस्स भेदाए अब्भुट्ठित्ता भवइ, गणे वसइ, गणस्स भेयाए अब्भुट्ठेत्ता भवइ, हिंसप्पेही, छिद्दप्पेही, अभिक्खणं पसिणाययणाइं पउंजित्ता भवइ ॥११॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थः साधर्मिकं साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं कुर्वाणो नातिक्रामति, तद्यथा—सक्रियस्थानं प्रतिषेविता भवति, प्रतिषेव्य नो आलोचयति, आलोच्य नो प्रस्थापयति, प्रस्थाप्य नो निर्विशति, यानि इमानि स्थविराणां स्थितिप्रकल्प्यानि भवन्ति तान्यतिक्रम्यातिक्रम्य प्रतिषेवते, तद् हन्त! प्रतिषेवामि, किं मम स्थविराः करिष्यन्ति?

पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थः साधर्मिकं पारञ्चितं कुर्वाणो नातिक्रामति तद्यथा—स्वकुले वसति, स्वकुलस्य भेदाय अभ्युत्थाता भवति, गणे वसति, गणस्य भेदाय अभ्युत्थाता भवति, हिंसाप्रेक्षी, छिद्रप्रेक्षी, अभीक्ष्णमभीक्ष्णं प्रश्नायतनानि प्रयोक्ता भवति।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं—पाच कारणों से, **समणे णिग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ, **सहम्मियं संभोइयं**—साधर्मिक संभोगी साधु को, **विसंभोइयं**—विसंभोगी, **करेमाणे णाइक्कमइ**—करता हुआ मर्यादा का उल्लघन नही करता है, **तं जहा**—जैसे, **सकिरिअट्ठाणं**—जो साधक सक्रिय स्थान का, **पडिसेवित्ता भवइ**—सेवन करने वाला है (परन्तु), **पडिसेवित्ता**—सेवन करके, **णो आलोएइ**—आलोचना नही करता, **आलोइत्ता**—आलोचना करके, **णो पट्ठवेइ**—प्रायश्चित्त करना प्रारम्भ नही करता, **पट्ठवेत्ता**—प्रायश्चित्त करना शुरू करके, **णो णिव्विसइ**—उसे अच्छी तरह पूर्ण नहीं करता है, **जाइं**—जो, **इमाइं**—ये, **थेराणं**—स्थविरो के, **ठिइपकप्पाइं भवंति**—स्थिति कल्प हैं, **ताइं**—उन्हें, **अतियंचिय-अतियंचिय**—बार-बार अतिक्रमण करके, **पडिसेवेइ**—सेवन करता है और कहता है, **से**—उसे, **हदऽहं**—हा! मै, **पडिसेवामि**—सेवन करता हू, **थेरा**—स्थविर लोग, **किं**—क्या, **मे**—मेरा, **करिस्संति**—करेगे ?

पंचहिं ठाणेहिं—पाच कारणों से, **समणे निग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ, **साहम्मियं**—साधर्मिक को, **पारंचियं**—पारांचित प्रायश्चित्त मे नियुक्त, **करेमाणे**—करता हुआ, **णाइक्कमइ**—आज्ञा का अतिक्रमण नही करता है, **तं जहा**—जैसे, **सकुले**—जिस अपने कुल में, **वसइ**—वास करता है, **सकुलस्स**—उस कुल के, **भेदाए**—भेद के लिए, **अब्भुट्ठित्ता भवइ**—प्रयत्न करता है, **गणे वसइ**—जिस गण में रहता है, **गणस्स**—उस गण के, **भेदाए**—भेद के लिए, **अब्भुट्ठेत्ता भवइ**—प्रयत्न करता है, **हिंसप्पेही**—जो हिंसा करता है, **छिद्दप्पेही**—छिद्र देखता है, **अभिक्खणं**—बार-बार, **पसिणाययणाइं**—सावद्य प्रश्नों का, **पउंजित्ता**—प्रयोग करने वाला, **भवइ**—बनता है।

मूलार्थ—पाच कारणो से यदि श्रमण-निर्ग्रन्थ अपने साधर्मिक सांभोगिक साधु को विसांभोगिक—मांडले से बहिष्कृत करता है तो वह संघ की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है, जैसे कि जो सक्रिय स्थान-पापकारी कर्म का सेवन करता है, पाप-कर्म का सेवन करके आलोचना नहीं करता, आलोचना करके तदनुसार प्रस्थापना अर्थात् प्रायश्चित्त का प्रारंभ नहीं करता और गृहीत प्रायश्चित्त का भली-भांति निर्वाह नहीं करता और स्थविरो की कल्प-स्थिति अर्थात् जो साधु सामाचारियां बनी हुई हैं उनका बार-बार उल्लंघन करके निषिद्ध कर्म का सेवन करता है और पूछने पर उद्दण्डता से कहता है कि—"अरे हा! मैं यह पाप-कर्म सेवन करता हू, स्थविर मेरा क्या कर सकते हैं"।

पांच कारणों से श्रमण-निर्ग्रन्थ यदि अपने साधर्मिक साधु को पाराञ्चित प्रायश्चित्त देता है तो वह साधु मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता है, जैसे कि जो कुल के अन्दर रहता हुआ भी कुल में भेद डालने का प्रयत्न करता है, गण में रहता हुआ भी जो गण मे भेद डालने का प्रयत्न करता है, हिंसा करता है, दूसरे साथियों के छिद्र देखता है, बार-बार सावद्य (ज्योतिष सामुद्रिक आदि) प्रश्नों का प्रयोग करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे महासाधकों द्वारा कर्म-निर्जरा एवं मोक्षोपलब्धि के लिए किए जाने वाले आचार्यो आदि के वैयावृत्य का वर्णन किया गया है, प्रस्तुत सूत्र में आचार्यों, आदि के विरुद्ध आचरण करने वाले को दण्डित करने पर भी श्रमण साधु-मर्यादा का उल्लघन नहीं करता, इस विषय का वर्णन किया गया है। जिस साधु के साथ साधु एक पक्ति में बैठ कर भोजन करते हैं वे उसे सांभोगिक कहते हैं, किन्तु साधु-पंक्ति से जिसका बहिष्कार कर दिया जाता है उसे विसांभोगिक कहा जाता है। जिसके साथ कभी भी पंक्तिबद्ध भोजन नहीं किया गया और न ही मिलवर्तन की गई है उसे असांभोगिक कहते है। साभोगिक साधर्मी को पाच कारणों मे से किसी भी एक कारण से विसांभोगिक करते हुए भगवान की आज्ञा का उल्लघन नही होता, जैसे कि—

१ जो साधु लोकापवादजनक अकरणीय एव निन्दनीय दोषों का सेवन करता है।

२. जो अकरणीय दोषो का सेवन करके गुरु के पास आकर उन अकृत्य कर्मों की आलोचना नहीं करता है।

३ जो साधु आलोचना करने पर भी गुरु के द्वारा दिए हुए प्रायश्चित्त को ग्रहण नही करता है।

४ जो साधु प्रायश्चित्त लेने पर भी उसका पूर्ण-रूपेण पालन नहीं करता है।

५. स्थविरो ने जो साधु-समाचारी के नियम बनाए हुए हैं, उनका पुनः-पुनः उल्लंघन करता है। यदि इसे कोई विरक्त साथी कहता है कि इस गण की नियमावली का उल्लंघन तुम क्यो करते हो? तो वह इसके उत्तर मे यह कहता है कि मै इस गण-समाचारी को नहीं मानता, अत: मै इस समाचारी के प्रतिकूल चल रहा हूं, मैं देखूंगा कि स्थविर मेरा क्या कर सकेंगे। यदि स्थविर रुष्ट हो जाएंगे तो वे मेरा कुछ भी बिगाड नही सकते।।

इन पांच कारणों से साभोगिक को विसांभोगिक बनाते हुए प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन होना नहीं माना जाता। विसांभोगिक न बनाने से और उसको साथ रखने से अन्य साधुओ के जीवन पर दुष्प्रभाव पडे बिना नही रह सकता। जैसे गले-सड़े अग का ऑप्रेशन किए बिना शेष अंग सुरक्षित नहीं रह सकते वैसे ही उसके सम्मिलित रहते संघ व्यवस्थित नहीं रह सकता, अत: संघ की रक्षा के लिए दुर्विनीत को विसांभोगिक बना देने में ही श्रेय है।

सूत्रकर्त्ता ने जो **ठिइपकप्पाइं** पद दिया है इसका भाव वृत्तिकार ने अपने शब्दों में इस

प्रकार व्यक्त किया है—''**स्थविरकल्पिकानां स्थितौ समाचारे प्रकल्प्यानि- प्रकल्पनीयानि योग्यानि विशुद्धपिण्डशय्यादीनि स्थितिप्रकल्प्यानि**'' अर्थात् बहुमत से या सर्व-सम्मति से गण-समाचारी का निर्माण होता है और वह समाचारी देश और काल एव समयानुकूल परिस्थितियों के अनुसार होती है। इसका उल्लंघन करना किसी प्रकार भी योग्य नहीं है। जो मुनि उनका उल्लंघन करता है वह आहार की पंक्ति से बहिष्कृत करने योग्य है।

सांभोगिक को विसांभोगिक बनाने पर मानसिक कष्ट अवश्य होगा, कष्ट देना ही हिंसा है और निर्ग्रन्थ श्रमण ने हिंसा के त्याग का महाव्रत धारण किया हुआ है, अत: महाश्रमण किसी को विसांभोगिक बनाकर हिंसा कैसे कर सकता है? शास्त्रकार के मन में यह प्रश्न अवश्य जागृत हुआ होगा, उसका समाधान होना आवश्यक था, प्रस्तुत सूत्र उसी का समाधान है। श्रमण-निर्ग्रन्थ मर्यादाशील है और मर्यादाओ का रक्षक भी, अत: वह देखता है कि कोई दुर्विनीत तथाकथित साधक साधु-जीवन की मर्यादाओं का उल्लंघन तो नही कर रहा है, यदि कोई वरिष्ठ मुनिवर सयम शुद्धि के लिए दण्ड देता और सयमी का साथ देता है, तो वह हिंसा नहीं करता, अपितु अहिंसा व्रत की रक्षा करता हुआ, मर्यादाओ की रक्षा के दायित्व का भी पालन करता है।

इस सूत्र के दूसरे अनुच्छेद में पारांचित प्रायश्चित्त का उल्लेख किया गया है। राजनीति मे जैसे सबसे बड़ा दण्ड प्राणदण्ड या आजीवन कारावास है, वैसे ही जो साधु साधना मे संलग्न होकर विषय-कषाय, कलह एवं भेद-नीति में सलग्न रहता है उसे पाराचित प्रायश्चित्त दिया जाता है। वह पचम स्थान के अनुरोध से पाच प्रकार का कथन किया गया है। सम्भव है कोई मुमुक्षु उक्त दंड को जानकर वैसी प्रवृत्ति न करे इसी दृष्टि से सूत्रकार ने पाच कारणो का उल्लेख किया है, जैसे कि—

१. जो साधु जिस कुल या गच्छ मे रह रहा है यदि वह उसी मे भेद या फूट डालने के यत्न करता है।

२ जो साधु जिस गण या गच्छ में रहता है वह उसमे किसी तरह भेद पड़ जाए इस अभिप्राय से परस्पर कलह उत्पन्न करता है। कलह उत्पन्न करने की प्रवृत्ति करना महादोष है।

३ जो साधु किसी गृहस्थ या साधु की हत्या करने का षड्यंत्र रचता है।

४. जो साधु किसी को मारने के लिए छिद्र देखता रहता है।

५. जो साधु सावद्य—पाप सहित अनुष्ठान के विषय में असंयमी से पूछताछ करता ही रहता है। जो बाते गृहस्थ से नहीं पूछनी चाहिएं, उन्हें उनसे पूछता रहता है। जिन प्रश्नों से साधु के मूलगुण और उत्तरगुण विकृत हो जाते हो ऐसे प्रश्न पूछने वाले और बताने वाले साधक को पारांचित प्रायश्चित्त का भागी बताया गया है।

इनमें से किसी एक भी दोष का सेवन करने वाला साधु पारांचित प्रायश्चित्त का भागी

बनता है। "**इसमें साधु को नियत काल के लिए दोष की शुद्धि पर्यन्त साधु वृत्ति पालते हुए गृहस्थ के वेष में रहना पड़ता है।**" इससे सिद्ध होता है कि कुल में भेद डालना, गण में भेद डालना, मन में हिंसा के भाव लाना, किसी की कमियां एवं दोष देखना, जिससे आत्मा धर्म-मार्ग से भटक जाए ऐसे प्रश्न पूछना और हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार आदि में प्रवृत्त कराने वाले उत्तर देना—ये सब बड़े अपराध हैं और उनके लिए प्रायश्चित्त भी बड़ा ही बताया गया है, ताकि ऐसे अपराध करने के लिए किसी का साहस ही न हो। अन्यथा गण एव संघ की रक्षा नही हो सकती। सघ को सुदृढ़ व्यवस्थित रखना ही भगवान की सेवा तथा भक्ति है। प्रथम सूत्र में स्थविर आदि की सेवा बताई गई है और इस सूत्र में प्रकारान्तर से गण सेवा का उल्लेख हुआ है।

कलह और शान्ति के कारण

मूल—आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि पंच वुग्गहट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—आयरियउवज्झाए णं गणंसि आणं वा, धारणं वा नो सम्मं पउंजेत्ता भवइ, आयरियउवज्झाए णं गणंसि आहारइणियाए किइकम्मं नो सम्मं पउंजित्ता भवइ, आयरियउवज्झाए जे सुत्तपज्जवजाए धारेंति, ते काले णो सम्ममणुप्पवाइत्ता भवइ, आयरियउवज्झाए गणंसि गिलाणसेहवेयावच्चं नो सम्ममब्भुट्ठित्ता भवइ, आयरियउवज्झाए गणंसि अणापुच्छियचारी यावि हवइ नो आपुच्छियचारी।

आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि पंचा अवुग्गहट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा, धारणं वा सम्मं पउंजित्ता भवइ, एवमहारायणियाए सम्मं किइकम्मं पउंजित्ता भवइ, आयरियउवज्झाए णं गणंसि जे सुत्तपज्जवजाए धारेइ, ते काले-काले सम्मं अणुपवाइत्ता भवइ, आयरियउवज्झाए गणंसि गिलाणसेहवेयावच्चं सम्मं अब्भुट्ठित्ता भवइ, आयरियउवज्झाए गणंसि आपुच्छियचारी यावि भवइ, णो अणापुच्छिय-चारी॥१२॥

छाया—आचार्योपाध्यायस्य (योः) गणे पञ्च विग्रह-स्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आचार्योपाध्यायौ गणे आज्ञां वा, धारणां वा नो सम्यक् प्रयोक्तारौ भवतः, आचार्योपाध्यायौ गणे यथारात्निकतया कीर्तिकर्म नो सम्यक् प्रयोक्तारौ भवतः, आचार्योपाध्यायौ गणे यानि श्रुतपर्यवजातानि धारयतस्तानि काले-काले नो सम्यगनुप्रवाचयितारौ भवतः, आचार्योपाध्यायौ गणे ग्लानशैक्षवैयावृत्यं नो

सम्यगभ्युत्थितारौ भवतः, आचार्योपाध्यायौ गणे अनापृच्छ्यचारिणौ चाऽपि भवतः, नो आपृच्छ्यचारिणौ भवतः।

आचार्योपाध्यायस्य गणे पञ्च अविग्रहस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा— आचार्योपाध्यायौ गणे आज्ञां वा, धारणां वा सम्यक् प्रयोक्तारौ भवतः, एवं यथारात्निकतया सम्यक् कीर्त्तिकर्म प्रयोक्तारौ भवतः, आचार्योपाध्यायौ गणे यानि श्रुतपर्यवजातानि धारयतस्तानि काले-काले सम्यगनुप्रवाचयितारौ भवतः, आचार्योपाध्यायौ गणे ग्लानशैक्षवैयावृत्यं सम्यगभ्युत्थितारौ भवतः, आचार्योपाध्यायौ गणे आपृच्छ्यचारिणौ चाऽपि भवतः, नो अनापृच्छ्यचारिणौ भवतः।

शब्दार्थ—आयरियउवज्झायस्स णं—आचार्य उपाध्याय के, **गणंसि**—गण में, **पंच वुग्गहट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा**—पांच कलह के स्थान कथन किए गए हैं, जैसे, **आयरियउवज्झाए णं**—आचार्य और उपाध्याय, **गणंसि**—गच्छ मे, **आणं वा**—आज्ञा का और, **धारणं वा**—धारणा का, **सम्मं पउंजेत्ता**—सम्यक् प्रयोग करने वाले, **नो भवइ**—नही हैं, **आयरियउवज्झाएणं गणंसि**—आचार्य उपाध्याय के गण मे, **आहाराइणियाए**—यथारात्निको के प्रति, **किइकम्मं**—कीर्त्तिकर्म-वन्दन का, **नो सम्मं पउंजित्ता भवइ**—सम्यक् प्रकार से प्रयोग नही करते, **आयरियउवज्झाए गणंसि**—आचार्य उपाध्याय गण मे, **जे**—जो, **सुत्तपज्जवजाए धारेइ**—श्रुत के पर्याय धारण करते है, **ते**—वे शिष्यो को, **काले-काले**— यथाकाल, **सम्ममणुप्पवाइत्ता**—सम्यक् रूप से वाचन देने वाले, **नो भवइ**—नहीं होते हैं, **आयरियउवज्झाए गणंसि**—आचार्य उपाध्याय गण में, **गिलाणसेहवेयावच्चं**—रोगी और नवदीक्षित के वैयावृत्य का, **सम्ममब्भुट्ठित्ता**—सम्यक् रूप से प्रयत्न करने वाले, **नो भवइ**—नहीं होते है, **आयरियउवज्झाए गणंसि**—आचार्य-उपाध्याय गण मे, **अणापुच्छियचारी**—बिना पूछे विचरने वाले, **यावि भवइ**—होते है, **आपुच्छियचारी नो भवइ**—पूछ कर विचरने वाले नहीं होते।।

आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि—आचार्य-उपाध्याय के गण में, **पंचवुग्गहट्ठाणा**—पाच व्युद्ग्रह के स्थान, **पण्णत्ता, तं जहा**—प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **आयरियउवज्झाए गणंसि**—आचार्य और उपाध्याय गण में, **आणं वा, धारणं वा**—आज्ञा और धारण का, **सम्मं**—सम्यक्, **पउंजित्ता**—प्रयोग करने वाले, **भवइ**—होते है, **एवं**—इसी प्रकार, **आहारायणियाए**—यथारात्निको के प्रति, **सम्मं**—सम्यक्, **किइकम्मं**—कीर्त्तिकर्म का, **पउंजित्ता भवइ**—प्रयोग करने वाले होते हैं, **आयरियउवज्झाए गणंसि**—आचार्य-उपाध्याय गण में, **जे**—जो, **सुत्तपज्जवजाए धारेइ**—श्रुतपर्याय धारण करते है, **ते**—उन को, **काले-काले**— यथाकाल, **सम्मं**—सम्यक्, **अणुप्पवाइत्ता भवइ**—वाचना देने वाले होते हैं, **आयरियउवज्झाए गणंसि**—आचार्य उपाध्याय गण में, **गिलाण-सेह वेयावच्चं**—रोगी और नवदीक्षित की सेवा के लिए, **सम्मं**—सम्यक् रूप से, **अब्भुट्ठित्ता भवइ**—प्रयत्न

करते हैं, **आयरियउवज्झाए गणंसि**—आचार्य-उपाध्याय गण में, **आपुच्छियचारी यावि भवइ**—गच्छ से पूछ कर विचरने वाले होते है, **णो अणापुच्छियचारी**—बिना पूछे विचरने वाले नहीं होते हैं।

मूलार्थ—आचार्य और उपाध्याय के लिए गण (संघ) में पांच विग्रह-कलह के स्थान बतलाए गए हैं, जैसे—जब आचार्य और उपाध्याय गण में आज्ञा और धारणा का सम्यक् प्रयोग नहीं करते हैं, आचार्य और उपाध्याय गण में यथारात्निक—बड़े और छोटे के क्रम से वन्दन का प्रयोग नहीं करते, आचार्य-उपाध्याय गण में अधीत श्रुत की यथाकाल शिष्यों को वाचना नहीं देते, आचार्य एवं उपाध्याय गण में रोगी और नव दीक्षित की सेवा का सम्यक् प्रबन्ध नही करते है और आचार्य तथा उपाध्याय गण को पूछे बिना ही दूर देश मे विचरते हैं, पूछ कर नहीं विचरते।

आचार्य और उपाध्याय के गण में पांच अविग्रह के स्थान बतलाए गए हैं, जैसे—जब आचार्य और उपाध्याय गण मे आज्ञा और धारणा का सम्यक् प्रयोग करते हैं, आचार्य तथा उपाध्याय गण में जब रात्निक वन्दन का प्रयोग करते हैं, आचार्य और उपाध्याय गण में अधीत श्रुत की यथासमय शिष्यों को वाचना देते हैं, आचार्य-उपाध्याय गण मे रोगी एव नवदीक्षित की सेवा का समुचित प्रबन्ध करते हैं, आचार्य और उपाध्याय गण को पूछकर ही दूर देश में भ्रमणार्थ जाते हैं, बिना पूछे नहीं जाते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे मर्यादा-विरुद्ध आचरण करने वाले शिष्यों को प्रायश्चित्त आदि देने पर भी आचार्य एवं उपाध्याय की निर्दोषता का वर्णन करने के अनन्तर अब सूत्रकार आचार्य एव उपाध्याय से सम्बन्धित गण की दुर्व्यवस्था एव सुव्यवस्था का वर्णन करते हैं। यद्यपि साधक की निजी साधना ही आत्मोत्थान में सहायक हो सकती है, पर व्यक्ति को समाज से भिन्न रूप मे नही देखा जा सकता, अत: वैयक्तिक साधना भी तभी सम्पन्न हो सकती है जब कि साधक को अच्छा साधना-निर्देश प्राप्त हो। साधना-निर्देश आचार्य और उपाध्याय ही दे सकते है, परन्तु उसी दशा मे जबकि उनके द्वारा संचालित एव शासित गण सुव्यवस्थित हो, अत. साधक की साधना गण की सुव्यवस्था एवं दुर्व्यवस्था पर भी निर्भर है। गण में दुर्व्यवस्था कब फैलती है ? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते है—

१. जिस गण में आचार्य एव उपाध्याय की आज्ञा एव धारणा का सम्यक्तया पालन नहीं होता है उस गण मे अव्यवस्था एव कलह जागृत हो जाती है। सूत्र निर्दिष्ट "**आणं**" का अर्थ है आज्ञा। आज्ञा विधायक शब्द है। जब आचार्य एवं उपाध्याय साधकों को 'तुम्हें ऐसा करना चाहिए।' 'तुम ऐसा करो।' यह आदेश देते हैं—करने का विधान करते हैं, यदि

गण में इस विधान का पालन नहीं होता है तो गण अव्यवस्थित एवं अनुशासनहीन हो जाता है।

सूत्रगत '**धारणं**' शब्द निवृत्त्यात्मक है—नकारात्मक है। जब आचार्य एव उपाध्याय साधको को यह आदेश देते हैं कि 'तुम ऐसा मत करो!' 'तुम्हें यह कार्य नहीं करना चाहिए!' तब वे 'धारणा' का प्रयोग करते है, यहां पर 'धारणा' शब्द इसी विशेष अर्थ का बोधक है। 'किसी ध्येय पर सतत मन की एकाग्रता' वाला प्रसिद्ध अर्थ यहां अभीष्ट नही है। जब आचार्य एवं उपाध्याय साधकों को किसी अकरणीय कृत्य से रोकते है तब भी वे साधक यदि उस अकरणीय कृत्य का परित्याग नही करते है तो गण में अव्यवस्था फैल जाती है।

वृत्तिकार ने '**धारणं**' शब्द की एक अन्य रूप मे भी व्याख्या की है, जैसे कि जब कोई गीतार्थ मुनि अर्थात् साधु-वृत्ति का भली-भांति आचरण करने वाला साधु, साधु-वृत्ति को दूषित करने वाला कोई आचरण हो जाने पर स्वय ही उसकी आलोचना करता हुआ उसके लिए कोई प्रायश्चित्त लेना चाहता है तो वह अपने गण के किन्हीं सामान्य-बुद्धि साधको को किसी विशेष अभिप्राय को व्यजित करने वाली रहस्यमयी ध्वन्यात्मक भाषा मे पत्र लिखकर किसी दूर प्रदेश मे विराजमान आचार्य एवं उपाध्याय के पास भेज देता है तो, वे उस पत्र को पढकर जब उसका अभिप्राय समझ लेते हैं, व उसी प्रकार की गूढ़ अर्थ को व्यजित करने वाली सश्लिष्ट भाषा में उस गीतार्थ मुनि के लिए प्रायश्चित्त-विधान रूप जो आदेश प्रेषित करते हैं, वह आदेश ही आज्ञा है और उनके द्वारा भेजी गई प्रायश्चित्त रूप आज्ञा को स्वेच्छा से पालन करना धारणा है। यदि गण में इस प्रकार की आज्ञा और धारणा का विधिवत् पालन होता है तो गण में सुव्यवस्था बनी रहती है, यदि आज्ञा का उल्लंघन होता है, धारणा वृत्ति का पालन नही किया जाता है तो गण अव्यवस्थित एव विग्रह-स्थान बन जाता है।[१]

२ जो मुनि किसी मुनि से दीक्षा में बडे होते हैं उन्हे जैन-भाषा मे 'रात्निक' कहा जाता है। रत्नो वाला ही रात्निक है। रत्न दो प्रकार के होते हैं—'द्रव्य-रत्न' और 'भाव-रत्न'। प्रवाल, वैडूर्य, हीरक आदि सोलह प्रकार के रत्न प्रसिद्ध है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र को 'भाव-रत्न' कहा जाता है। जो दीक्षा में बडे मुनिराज है और साथ ही रत्न-त्रय से सम्पन्न हैं अथवा रत्न-त्रय की उपलब्धि मे लीन है उनका कृति-कर्म अर्थात् वन्दन, विनय, सेवा आदि का जब गण में अभाव होता है तो गण में कलह जन्म ले लेती है। बडों का यथा-क्रम मान-सम्मान न करना और गण में रहने वालो का अनुशासन-विहीन होना उन्हें उन्मत्त बना देता है और उन्मत्तता ही कलह का सबसे बड़ा कारण है।

---

१ गूढार्थपदैरगीतार्थस्य पुरत. देशान्तरस्थगीतार्थनिवेदनाय गीतार्थो यदतिचारनिवेदनं करोति, सा आज्ञा, असकृदालोचनादानेन यत्प्रायश्चित्तविशेषावधारण सा धारणा, तयोर्न सम्यक् प्रयोक्तेति, स: कलहभागिति प्रथमम्।

—वृत्तिकार

३. जो आगमों के वेत्ता हैं वे यदि शिष्यों को अध्यापन नहीं कराते, तो वे अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जाते हैं और तभी गण में कलह उत्पन्न हो जाता है।

सूत्रकर्त्ता ने '**जे सुत्तपज्जवजाए धारेंति, ते काले-काले णो सम्ममणुप्पवाइत्ता भवइ**', यह लिखा है। इसका भाव यह है कि जो सूत्र एवं अर्थ के भावों को जानता है, परन्तु यथाविधि-यथासमय शिष्यों को पढाता नहीं है, तो उसकी यह कर्त्तव्य-विमुखता कलह का कारण बन जाती है। व्यवहार सूत्र के दसवें उद्देशक में आगमों के पाठ्यक्रम के विषय में वर्णन किया गया है। आगमों के अध्यापन के लिए संयमपर्याय, गम्भीरता, उपधान-तप, प्रगाढ़ श्रद्धा और ग्रहण-शक्ति जैसी-जैसी शिष्यों में पाई जाती है, वैसी-वैसी अध्ययन-पद्धति अपनानी आवश्यक बताई गई है। इससे विपरीत श्रुताध्ययन लाभ के बदले कलह का कारण बनता है।

४. गण में क्लेश और अशान्ति का चौथा कारण है रोगी और नवदीक्षित की देखभाल एवं सेवा का न होना। रोगी की सेवा न करने से उसमें आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान हो जाने की सभावना रहती है और वह संयम से पतित भी हो सकता है। इसी प्रकार नवदीक्षित को संयम मे स्थिर न करना, उसके साथ दुर्व्यवहार करना, इससे भी गण मे कलह उत्पन्न हो सकता है।

५ गच्छ मे क्लेश और अशान्ति का पाचवा कारण है बिना पूछे काम करना। जो काम बिना ही पूछे किया जाता है उसके पीछे अनेक तरह की आपत्तियां एव विपत्तियां छिपी रहती है। ऐसा करना भी क्लेश एवं अशांति का मूल कारण है। गच्छ में रहने वाले अनुशास्ता और सदस्य सभी का कर्त्तव्य हो जाता है कि शासन की रीति-नीति मे ढील न आने दें। जिस ओर से भी कुछ ढ़ील दिखाई दे उसी ओर से तुरन्त उसकी रोक-थाम कर देनी चाहिए, इसी में सबका कल्याण है।

जिस गच्छ या बिरादरी में आज्ञा व धारणा का सम्यक् प्रकार से पालन होता है, यथाविधि वन्दन व्यवहार होता है, यथाविधि, यथासमय श्रुताध्ययन किया व कराया जाता है, रोगी व नवदीक्षित की परिचर्या सम्यक् प्रकार से होती है, आचार्य एवं उपाध्याय को पूछकर ही सब कार्य किए जाते है, उस गण में सदैव शान्ति की वृद्धि होती है और शान्त वातावरण में ही साधकों की साधना सफल एवं सम्पन्न हो सकती है।

पांच आसन और आर्जव स्थान

मूल—पंच निसिज्जाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—उक्कुडुई, गोदोहिया, समपायपुता, पलियंका, अद्धपलियंका।

पंच अज्जवट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—साहु-अज्जवं, साहु-मद्दवं, साहु-लाघवं, साहु-खंती, साहु-मुत्ती॥१३॥

छाया—पञ्च निषद्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उत्कुटुका, गोदोहिका, समपादपुता, पर्यङ्का, अर्धपर्यङ्का।

पञ्च आर्जव-स्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—साधु-आर्जवं, साधु-मार्दवं, साधु -लाघवं, साधु-क्षान्तिः, साधु-मुक्तिः।

शब्दार्थ—पंच निसिज्जाओ—पांच आसन, **पण्णत्ताओ, तं जहा**—कथन किए गए हैं, जैसे, **उक्कुडुई**—उकुडू आसन, **गोदोहिया**—गाय दूहने जैसा आसन, **समपायपुता**—वह आसन जिसमें पैर और अण्डकोष भूमि को छूते हों, **पलियंका**—पर्यङ्क आसन, **अद्धपलियंका**— अर्ध-पर्यङ्क-आसन।

पंच अज्जवट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—पांच आर्जव के स्थान कथन किए गए हैं, जैसे, **साहु-अज्जवं**—श्रेष्ठ सरलता, **साहु-मद्दवं**—श्रेष्ठ-मृदुता, **साहु-लाघवं**—श्रेष्ठ लाघव, **साहु-खंती**—श्रेष्ठ-क्षमा, **साहु-मुत्ती**—श्रेष्ठ मुक्ति-निर्लोभता।

मूलार्थ—पांच निषद्या अर्थात् आसन-विशेष वर्णित किए गए हैं, जैसे—उत्कुटुक आसन, गोदोहिका-गाय दूहने जैसा आसन, समपादपुत आसन—जिसमें पैर और अण्डकोष भूमि को छूते हों, पर्यङ्क-आसन—पद्म-आसन, अर्धपर्यङ्क-आसन—अर्धपद्मासन।

पांच आर्जव अर्थात् संवर के स्थान वर्णित किए गए हैं, जैसे—श्रेष्ठ-ऋजुता, श्रेष्ठ-मृदुता, श्रेष्ठ-लघुता, श्रेष्ठ-क्षमा, श्रेष्ठ-मुक्ति अर्थात् निर्लोभता।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे गण-व्यवस्था का वर्णन किया गया है। गण-व्यवस्था का पालन साधनाशील मुनिराज ही कर सकते हैं। साधना से पूर्व उसकी तैयारी के लिए अनेक प्रकार के साधन अपनाने पडते है, उन्हीं साधनो मे आसन भी है, अत: उन साधनों का वर्णन प्रस्तुत सूत्र मे किया गया है। पैरो के भार बैठना उत्कुटुकासन, गाय को दोहने की मुद्रा मे बैठना गोदुहासन, चौकड़ी या पालथी लगाकर बैठना समपाद-पूतासन, पद्मासन लगाकर बैठना पर्यकासन, एक पैर जघा पर रखकर बैठना अर्धपर्यकासन है।

हृदय से सरल होकर माया का निग्रह करना आर्जव है, किसी भी गुण या ऋद्धि पर अभिमान न करना, विनम्र व्यवहार रखना मार्दव है, ऋद्धि, साता और रस इन तीन गौरवों से हल्का रहना और कर्म-भार से भी हल्का रहना लाघव है। क्रोध का निग्रह करना और दूसरो के अपराधों की उपेक्षा कर देना अर्थात् यह समझ लेना कि जो कुछ अपराधी ने किया है, वही यह कर सकता था, उसने जो कुछ किया है वह अपनी शक्ति के अनुरूप किया है, अत: यह करुणा-पात्र है, इस प्रकार की भावना को और शान्ति को स्थायी रखना क्षान्ति है। लोभ का निग्रह कर सतोष को अपनाना मुक्ति है। इनका सेवन यदि सम्यग्दर्शनपूर्वक किया जाए तो निर्वाण-प्राप्ति निश्चित है। इसीलिए सूत्रकर्त्ता ने यहां साधु शब्द का प्रयोग किया है।

यहा यह स्मरणीय है कि मानव-शरीर में तैजस पुद्‌गलों के कारण जो तैजस् शक्ति उत्पन्न होती रहती है, उसे शरीर-विज्ञान की भाषा में ऊर्जा कहा जाता है। यह ऊर्जा शरीर में संचित होती रहती है और हाथ-पैरो की अगुलियों से वह शरीर से बहती भी रहती है। तपस्वी साधकों के शरीर मे एव ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करने वालों में यह शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है। जैसे किसी नहर का किनारा फूट जाए, या कोई बांध टूट जाए तो उसके पीछे जल की अधिकता के कारण टूटे स्थान से बहने वाले जल का प्रवाह और भी तीव्र हो जाता है, इसी प्रकार तप:प्रधान जीवन में जब यह शारीरिक ऊर्जा बढ़ने लगती है तो उसके बहने का प्रवाह भी तीव्र हो जाता है। ऐसी दशा मे उस प्रवाह का रोकना एवं उस पर नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है।

पद्मासन, सिद्धासन, उत्कुटुक आसन आदि में हाथ-पैरों को 'ऐसी दशा में ले जाया जाता है जिससे शरीर में एक वर्तुल निर्मित हो जाता है, वर्तुल में पडकर ऊर्जा का प्रवाह शरीर मे ही घूमने लगता है जिससे साधक की शक्तियां शरीर मे ही सुरक्षित हो जाती हैं। बिजली की मोटरो और पखो आदि मे जो शक्ति उत्पन्न होती है वह विद्युत् के वर्तुलाकार-भ्रमण से ही उत्पन्न होती है। साधक की ऊर्जा भी वर्तुलाकार बनकर साधक में शक्ति का कोष भरने लगती है। अतएव साधक जीवन के लिए अनेक प्रकार के आसनों का विधान किया गया है।

इस सूत्र का दूसरा पक्ष है मार्दव एव क्षान्ति आदि गुणो का विकास। जब साधक मे आसनों आदि के माध्यम से शक्ति का भण्डार बढ़ जाएगा, तो हो सकता है उस समय उसके स्वभाव मे उग्रता आ जाए और वह अपनी तप:शक्ति का दुरुपयोग करने लगे। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि तप-शक्ति का सचय करने के अनन्तर साधक को कोमल स्वभाव, क्षमाशील, शान्त एव क्रोध और अह के भार से मुक्त रहकर अपने आपको सामान्य साधक समझना चाहिए।

तप:शक्ति के प्राप्त होते ही मनुष्य की इच्छा-शक्ति बढ़ जाती है और वह अपनी इच्छा-शक्ति के द्वारा जो चाहे वह प्राप्त कर सकता है, असाध्य को साध्य बना सकता है। इसे ही सिद्धियों का प्राप्त होना कहा जाता है। शास्त्रकार इस समय साधक में 'मुक्ति' नामक विशेष गुण का विकसित होना आवश्यक मानते हैं। यहां पर 'मुक्त' का अर्थ ''लोभ रहित रहना'' किया गया है, क्योकि लोभ-वृत्ति के उदित रहने पर साधक अपनी शक्तियों को सांसारिक पदार्थों की उपलब्धियो के लिए प्रयुक्त करने लगेगा, अत: उसका वास्तविक ध्येय लुप्त हो जाएगा।

स्मरण रहे कि तेज का स्वभाव ऊपर उठना है, दीपक की ज्योति दीपक को उलटा कर देने पर भी ऊपर की ओर ही जाती है। यदि साधक तप के द्वारा प्राप्त ऊर्जा को सुरक्षित रखेगा तो वह उसके आत्मोत्थान में सहायक होगी और वह अपने ध्येय-निर्वाण की ओर उन्मुख हो सकेगा।

पञ्चविध देव

मूल—पंचविहा जोइसिया पण्णत्ता, तं जहा—चंदा, सूरा, गहा, नक्खत्ता, ताराओ।

पंचविहा देवा पण्णत्ता, तं जहा—भवियदव्वदेवा, णरदेवा, धम्मदेवा, देवाहिदेवा, भावदेवा ॥ १४ ॥

छाया—पञ्चविधाः ज्योतिष्काः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चन्द्राः, सूर्याः, ग्रहाः, नक्षत्राणि, ताराः।

पञ्चविधाः देवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भविकद्रव्यदेवाः, नरदेवाः, धर्मदेवाः, देवाधि-देवाः, भावदेवाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पाच प्रकार के ज्योतिष्क देव कथन किए गए है, जैसे—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे।

पांच प्रकार के अन्य देव कथन किए गए हैं, जैसे—भविकद्रव्यदेव—वे व्यक्ति जो अगले जन्म में देव होने वाले है, नरदेव—चक्रवर्ती राजा, धर्मदेव—शुद्ध संयमी साधु, देवाधिदेव—तीर्थकर, भावदेव—वैमानिक आदि चतुर्विध देव।

विवेचनिका—आर्जव आदि गुणो से जीव देवगति को प्राप्त करते है, अतः सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में आर्जव आदि गुणो के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले देवत्व का परिचय दिया है।

सूत्रकार ने सर्वप्रथम चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे इन पांच ज्योतिष्क देवों का परिचय दिया है। पृथ्वी के ऊपर विशाल आकाश में चन्द्र सब से निकट है और उसका पृथ्वी पर सबसे अधिक प्रभाव पडता है। वनस्पतियों के रसीय तत्व के उत्पादन में, समुद्र के ज्वारभाटे में, चन्द्र का प्रकाश तो कारण है ही साथ ही मनुष्य की मनोवृत्तियों के रूपान्तरण में भी इसका प्रभाव प्रत्यक्ष-सिद्ध है। चन्द्र का प्रकाश जीवन मे सहायक है, अतः यही प्रथम ज्योतिष्क देव है।

यद्यपि पृथ्वी से सूर्य की दूरी अन्य अनेक नक्षत्रों की अपेक्षा अधिक है, परन्तु प्रभावशीलता की दृष्टि से पृथ्वीलोक से दूरी अधिक होते हुए भी सम्बन्ध विशेष के महत्त्व की दृष्टि से दूसरा ज्योतिष्क देव सूर्य ही है।

यद्यपि हमारी दृष्टि से चन्द्र और सूर्य एक ही है, परन्तु केवलज्ञानी का दृश्य-अदृश्य-दर्शी ज्ञान उन अनेक चन्द्र-सूर्यो के भी दर्शन करता है जिन्हें आज के वैज्ञानिक बड़ी-बडी दूरदर्शिनी दूरबीनों से भी प्रत्यक्ष नही कर पाते है, परन्तु विज्ञान इस तथ्य से सहमत है कि

आकाश अनेक चन्द्रों और अनेक सूर्यो से परिपूर्ण है।

मंगल आदि महान् ज्योतिष्क-मण्डलों को ग्रह कहा जाता है, चन्द्र और सूर्य के अनन्तर इन्हीं की प्रभावशीलता से हमारा पृथ्वीलोक प्रभावित होता है, अत: सूर्य के अनन्तर इन्हीं का परिचय दिया गया है।

अश्विनी, भरणी आदि ज्योति-मण्डल 'नक्षत्र' नामक ज्योतिष्क देव कहे गए हैं। ये ज्योतिमण्डल पृथ्वी पर प्रभाव ही नहीं डालते, अपितु ग्रहों के परिभ्रमण में भी सहायक माने जाते हैं।

प्रत्येक नक्षत्र के आस-पास कुछ अन्य ज्योति-पुज भी दृष्टिगोचर होते है जिन्हें 'तारा' कहा जाता है। उपर्युक्त सभी ज्योति-मण्डल ज्योतिष्क देव के नाम से शास्त्रकार ने उपस्थित किए हैं। यहां यह भी स्मरणीय है कि प्रत्येक ज्योति-मण्डल मे शास्त्रकारों ने दिव्य आत्माओं की सत्ता स्वीकार की है। यद्यपि आज के वैज्ञानिको का एक समूह इसे स्वीकार नही करता, परन्तु दूसरे वैज्ञानिक समूह ने इसकी सत्ता को अस्वीकार करना विज्ञान की भारी भूल बताई है। वह दिन दूर नहीं है जब वैज्ञानिको को ज्योति-मण्डलो मे भी दिव्य जीवों की सत्ता स्वीकार करनी पडेगी।

प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय अश मे सूत्रकार उन देवो का वर्णन करते हैं जिन्हे पुण्य-पथ पर प्रगति करते हुए तेजस्विता, भव्यता, अलौकिकता, समृद्धि-शीलता एवं दिव्य ज्ञान-सम्पत्तियों की अनन्त रूपों में उपलब्धि हो चुकी है। उनका परिचय देते हुए पहले भव्यदेव बताए गए है।

भविक द्रव्य-देव—साधना के मार्ग पर चलते हुए वे प्राणी भव्य देव कहलाते है जिन्होने अपने तपोबल से देवलोक की आयु का बन्ध किया है। मानव शरीर के त्यागने के अनन्तर देवलोको की ओर प्रस्थान करता है और दिव्य देवलोकों की समृद्धियों मे रहते हुए भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति का परित्याग नहीं करता। इस प्रकार के महान् साधक इसी शरीर में इतने तेजस्वी प्रतीत होने लगते है कि कोटि-कोटि जनता के मस्तक उनके चरणों पर झुक जाते हैं, इन्ही तेजस्वी पुरुषो को भविक-द्रव्य-देव कहा जाता है। चण्डकौशिक जैसे तिर्यच जीव भी भविक द्रव्य देव कहलाते है, क्योंकि वे भी मृत्यु के अनन्तर देवलोक-विहारी देव-शरीर ही धारण किया करते हैं।

नरदेव—इसका अर्थ है चक्रवर्ती सम्राट, ऐसा महान् शासक जिसके चरणों पर समस्त पृथ्वी-पतियों के मस्तक झुक जाते हो, जिसके पास समस्त भौतिक सम्पत्तियां स्वयं निवास कर रही हों, जिसका शासन अप्रतिहत हो। इस प्रकार तेजस्वी सम्राटो की गणना भी देवों में ही की गई है। क्योंकि वे भी देवों के समान समाज-पूज्य होते है।

धर्मदेव—धर्म को अपने जीवन में उतार कर अपने आदर्श-जीवन एवं आदर्श धर्म-व्यवहार द्वारा जन-जन को मंगलमय धर्म-मार्ग पर प्रेरित करने वाले महापुरुष धर्म-देव

कहलाते है। ये महापुरुष भविक देव और नरदेव दोनो के द्वारा पूज्य होते है, क्योंकि ये उनके मार्ग को प्रशस्त करने वाले होते है।

देवाधिदेव—उपर्युक्त तीन देवों के वर्णन मे शास्त्रकार ने एक क्रम रखा है। जो भव्य आत्माएं देव-लोको में जाने को प्रस्तुत हैं, वे आत्माएं भविक द्रव्य देव हैं, जो आत्माएं देवलोकों से आकर चक्रवर्तित्व प्राप्त करती हैं वे नरदेव है, परन्तु जो भव्य एवं दिव्य आत्माएं देवलोकों से पुन: धरती पर आकर लौकिक ऐश्वर्यों को ठोकर मार देती हैं और पुन: पूर्वजन्मो की अपेक्षा और भी अधिक धर्म-मार्ग का अनुसरण करने लगती हैं, वे आत्माएं 'धर्मदेव' रूप बन जाती है, परन्तु जो आत्माएं क्रमश: आत्मोत्थान के मार्ग पर बढ़ती रहती हैं और अन्त में कषायों से मुक्त होकर अन्तराय कर्मो की बाधाओं को हटाकर, सम्पूर्ण कर्म-पाशो से मुक्त होकर आत्म-अवस्थित होकर केवली अवस्था को प्राप्त कर चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करती है, वे महान् एवं दिव्य आत्माएं तीर्थंकर पद प्राप्त कर लेती हैं, ऐसे तीर्थंकर ही देवाधिदेव कहलाते है।

भावदेव—यद्यपि टीकाकारों ने उन देवों को भावदेव कहा है जिनके देवगति, आयु, नाम, गोत्र एव भव-सुख आदि कर्मो का उदय हो चुका है, भवन-पति, वान-व्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवो की गणना इन्हीं देवों मे की गई है।

इस प्रकार सूत्रकार ने देवों के द्विविध पांच-पाच रूपों का सुन्दर परिचय दिया है।

पञ्चविध परिचारणा

मूल—पंचविहा परियारणा पण्णत्ता, तं जहा—कायपरियारणा, फासपरियारणा, रूवपरियारणा, सद्दपरियारणा, मणपरियारणा ॥ १५ ॥

छाया—पञ्चविधा परिचारणा प्रज्ञप्तास्तद्यथा—काय-परिचारणा, स्पर्श-परिचारणा, रूप-परिचारणा, शब्द-परिचारणा, मनः-परिचारणा।

शब्दार्थ—पंचविहा—पाच प्रकार की, **परियारणा पण्णत्ता, त जहा**—परिचारणा कथन की है, जैसे, **कायपरियारणा**—काय-परिचारणा, **फासपरियारणा**—स्पर्श-परिचारणा, **रूवपरियारणा**—रूप-परिचारणा, **सद्दपरियारणा**—शब्द-परिचारणा, **मणपरियारणा**—मन:परिचारणा।

मूलार्थ—पाच प्रकार की परिचारणा अर्थात् मैथुन-क्रिया कथन की गई है, जैसे—काय-परिचारणा, स्पर्श-परिचारणा, रूप-परिचारणा, शब्द-परिचारणा, मन:-परिचारणा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में देवो का परिचय दिया गया है। देवों के जीवन-व्यवहार में क्या कोई वासना का भी स्थान है ? यह प्रश्न स्वाभाविक था, क्योंकि उत्पत्ति-क्रम

वासना-मूलक है। अब प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते है—

देव-मैथुन को परिचारणा कहा जाता है। इसकी व्युत्पत्ति है "**परियारणत्ति-वेदोदयप्रतीकारः, तत्र स्त्रीपुंसयो कायेन परिचारणा—मैथुनप्रवृत्तिः, कायपरिचारणा, ईशानकल्पं यावत्**" अर्थात् जब कर्म का उदय होता है—कामवासना उत्पन्न होती है तब उसके प्रतीकार रूप स्त्री-पुरुष का शारीरिक सम्बन्ध हो जाना ही परिचारणा कहलाती है।

देवों की परिचारणा पांच प्रकार की होती है—जैसे कि शरीर से, स्पर्श से, रूप से, शब्द से और मन से। भवनपति, वानव्यंतर-ज्योतिष्क और ईशानकल्प तक देव काय-परिचारणा करते हैं अर्थात् शरीर-सम्बन्ध से काम-तृप्ति किया करते है। तीसरे और चौथे कल्प में देवों द्वारा पारस्परिक स्पर्श से ही परिचारणा सुख प्राप्त कर लिया जाता है। पाचवें और छठे कल्प में रूप से परिचारणा होती है, अर्थात् देव-देवियां एक दूसरे के रूप-दर्शन मात्र से कामतृप्ति की अनुभूति कर लेते है। सातवें और आठवें कल्प में देव केवल शब्द मात्र से परिचारणा करते है। शेष चार कल्प देवलोकों मे देव केवल मन से ही परिचारणा करते हैं। इन देवों के शुक्र-पुद्गल वैक्रिय-शक्ति से पूर्ण होते हैं, अतः वे देवियों के सर्वांग-सुख रूप में परिणत हो जाते है।[१]

असुरेन्द्र चमर की पांच महारानियां

मूल—चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो पंच अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—काली, राई, रयणी, विज्जू, मेहा।

बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो पंच अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—सुभा, णिसुभा, रंभा, णिरंभा, मयणा ॥ १६ ॥

छाया—चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य पञ्च अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—काली, रात्रिः, रजनी, विद्युत्, मेघा।

बलेः वैरोचनेन्द्रस्य वैरोचनराजस्य पञ्च अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शुभा, निशुभा, रम्भा, निरम्भा, मदना।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—असुर-कुमारों के राजा असुरेन्द्र चमर की पांच अग्रमहिषियां अर्थात् पट्टदेवियां कथन की गई हैं, जैसे—काली, रात्रि, रजनी, विद्युत्, मेघा।

वैरोचन-कुमारों के राजा वैरोचनेन्द्र की पांच अग्रमहिषियां कथन की गई हैं, जैसे— शुभा, निशुभा, रम्भा, निरम्भा, मदना।

---

१ इस विषय का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के ३४वें परिचारणा नामक पद में देखिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में देव-परिचारणा का वर्णन किया गया है। परिचारणा के लिए स्त्रीत्व की अपेक्षा अनिवार्य है। प्रत्येक देव की देवियों का वर्णन जिस विस्तार की अपेक्षा करता है वह विस्तार शास्त्रकार को इष्ट नही है, अत: शास्त्रकार पचम स्थान के अनुरोध से केवल उन देव-स्वामियों का ही वर्णन करते हैं जिनकी परिचारणा का आधार केवल पांच पट्टरानियां ही है।

प्रमुख देवियो अर्थात् पट्टरानियो को अग्रमहिषी कहा जाता है। असुर-कुमारों के इन्द्र चमर और बली की पाच-पांच अग्रमहिषिया हैं। चमरेन्द्र की अग्रमहिषी देवियो के नाम काली, रात्रि, रजनी, विद्युत् और मेघा है। बली नामक असुरेन्द्र की अग्रमहिषी देवियो के नाम—शुभा, निशुभा, रंभा, निरभा और मदना है। इनका विस्तृत वर्णन ''ज्ञाता-धर्मकथा'' सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध मे वर्णित है। वहा पर इन देवियों के पूर्व जन्म, दीक्षा-पर्याय, देवीत्व के रूप मे जन्म, इनकी ऋद्धियों इत्यादि विषयों का पूर्ण परिचय दिया गया है। वहां की आयु पूर्ण होने पर इन देवियो के जीव महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-भव धारण कर निर्वाण-पद प्राप्त करेंगे। ''वैरोचनेन्द्र'' बली का विशेषण है। संभव है उत्तर दिशा की ओर जो असुर-कुमार रहते है, उनकी जाति वैरोचन हो, तभी उसे वैरोचनेन्द्र कहा जाता है।

इन्द्रों की पंचविध सेनाएं

मूल—चमरस्स णमसुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो पंच संगामिया अणिया, पंच अणियाहिवई पण्णत्ता तं जहा—पायत्ताणिये, पीढाणिये, कुंजराणिये, महिसाणिए, रहाणिये। दुमे पायत्ताणियाहिवई, सोदामी आसराया पीढाणियाहिवई, कुन्थू हत्थिराया कुंजारणियाहिवई, लोहियक्खे महि-साणियाहिवई, किन्नरे रहाणयाहिवई। बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो पंच संगामियाणिया, पंच संगामियाणीयाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव रहाणिए। महद्दुमे पायत्ताणियाहिवई, महासोदामो आसराया पीढाणियाहिवई, मालं कारो हत्थिराया कुंजराणि-याहिवई, महालोहिअक्खो महिसाणियाहिवई, किंपुरिसे रहाणियाहिवई।

धरणस्स णं णागकुमारिंदस्स णागकुमाररण्णो पंच संगामिया आणिया, पंच संगामियाणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव रहाणिए। भद्दसेणे पायत्ताणियाहिवई, जसोधरे आसराया पीढाणियाहिवई, सुदंसणे हत्थिराया कुंजराणियाहिवई, नीलकंठे महिसाणियाहिवई, आणंदे रहाणि-याहिवई।

भूयाणंदस्स नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो पंच संगामियाणिया, पंच संगामियाणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव रहाणिए। दक्खे पायत्ताणियाहिवई, सुग्गीवे आसराया पीढाणियाहिवई, सुविक्कमे हत्थिराया कुंजराणियाहिवई, सेयकंठे महिसाणियाहिवई, नंदुत्तरे रहाणियाहिवई।

वेणुदेवस्स णं सुवन्निंदस्स सुवण्णकुमाररण्णो पंच संगामियाणिया पंच संगामियाणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव जहा धरणस्स तहा वेणुदेवस्सवि। वेणुदालियस्स जहा भूयाणंदस्स। जहा धरणस्स तहा सव्वेसिं दाहिणिल्लाणं जाव घोसस्स। जहा भूयाणंदस्स तहा सव्वेसिं उत्तरिल्लाणं जाव महाघोसस्स।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो पंच संगामियाणिया, पंच संगामियाणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव उसभाणिए। हरिणेगमेसी पायत्ताणियाहिवई, वाऊ आसराया पीढाणियाहिवई, एरावणे हत्थिराया कुंजराणियाहिवई, दामड्ढी उसभाणियाहिवई, माढरो रहाणियाहिवई।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरण्णो पंच संगामिया अणिया जाव पायत्ताणिए पीढाणिए, कुंजराणिए, उसभाणिए, रहाणिए। लहुपरक्कमे पायत्ताणियाहिवई, महावाऊ आसराया पीढाणियाहिवई, पुप्फदंते हत्थिराया कुंजराणियाहिवई, महादामड्ढी उसभाणियाहिवई, महामाढरे रहाणियाहिवई। जहा सक्कस्स णं तहा सव्वेसिं दाहिणिल्लाणं जाव आरणस्स। जहा ईसाणस्स तहा सव्वेसिं उत्तरिल्लाणं जाव अच्चुत्तस्स॥१७॥

छाया—चमरस्य खलु असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य पञ्च सांग्रामिकाणि अनीकानि, पञ्च सांग्रामिका अनीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं, पीठानीकं, कुञ्जरानीकं, महिषानीकं, रथानीकम्। द्रुमः पादातानीकाधिपतिः, सौदामी अश्वराजः पीठानीकाधिपतिः, कुन्थुः हस्तिराजः कुञ्जरानीकाधिपतिः, लोहिताक्षः महिषानीकाधिपतिः, किन्नरः रथानीकाधिपतिः।

बलेः वैरोचनेन्द्रस्य वैरोचनराजस्य पञ्च सांग्रामिकाणि अनीकानि, पञ्च सांग्रामिका अनीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावत् रथानीकम्। महाद्रुमः पादातानीकाधिपतिः, महासौदाम अश्वराजः पीठानीकाधिपतिः मालङ्कारो हस्तिराजः कुञ्जरानीकाधिपतिः, महालोहिताक्षो महिषानीकाधिपतिः, किम्पुरुषो रथानीकाधिपतिः।

धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य पञ्च सांग्रामिकाणि अनीकानि, पञ्च सांग्रामिका अनीकाधिपतयः, प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावत् रथानीकम्। भद्रसेनः पादातानीकाधिपतिः, यशोधरोऽश्वराजः पीठानीकाधिपतिः, सुदर्शनो हस्तिराजः कुञ्जरानीकाधिपतिः, नीलकण्ठो महिषानीकाधिपतिः, आनन्दो रथानीकाधिपतिः।

भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य पञ्च सांग्रामिकाणि-अनीकानि, पञ्च सांग्रामिकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पादातानीकं यावत् रथानीकम्। दक्षः पादातानीकाधिपतिः, सुग्रीवोऽश्वराजः, पीठानीकाधिपतिः, सुविक्रमो हस्तिराजः कुञ्जरानीकाधिपतिः, श्वेतकण्ठो महिषानीकाधिपतिः, नन्दोत्तरो रथानीकाधिपतिः।

वेणुदेवस्य सुपर्णेन्द्रस्य सुपर्णकुमारराजस्य पञ्च सांग्रामिकाणि-अनीकानि, पञ्च सांग्रामिकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकम्, एवं यथा धरणस्य तथा वेणुदेवस्यापि। वेणुदालिकस्य यथा भूतानन्दस्य। यथा धरणस्य तथा सर्वेषां दाक्षिणात्यानां यावत् घोषस्य। यथा भूतानन्दस्य तथा सर्वेषामौत्तराणां यावत् महाघोषस्य। शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य पञ्च सांग्रामिकाणि अनीकानि, पञ्च सांग्रामिका अनीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावत् वृषभानीकम्। हरिणैगमैषी पादातानीकाधिपतिः, वायुः अश्वराजः पीठानीकाधिपतिः, ऐरावतो हस्तिराजः कुञ्जरानीकाधिपतिः, दामर्द्धि वृषभानीकाधिपतिः, माठरो रथानीकाधिपतिः।

ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य पञ्च सांग्रामिकाणि-अनीकानि यावत् पादातानीकं, पीठानीकं, कुञ्जरानीकं, वृषभानीकं, रथानीकम्। लघुपराक्रमः पादातानीकाधिपति·, महावायुः अश्वराजः पीठानीकाधिपतिः, पुष्पदन्तो हस्तिराजः कुञ्जरानीकाधिपतिः, महादामर्द्धिः ऋषभानीकाधिपतिः, महामाठरो रथानीकाधिपतिः, यथा शक्रस्य तथा सर्वेषां दाक्षिणात्यानां यावत् आरणस्य। यथा ईशानस्य तथा सर्वेषामौत्तराणां यावत् अच्युतस्य।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—असुरकुमारों के राजा असुरेन्द्र चमर के पाच सांग्रामिक (सेना-समूह) हैं, एव पांच सांग्रामिक सेना के अधिपति हैं, जैसे—पदाति-सेना, अश्व-सेना, कुञ्जर-सेना, महिष-सेना, रथ-सेना। द्रुम पदाति सेना का अधिपति है, सौदामी अश्वराज अश्वसेना का अधिपति है, कुन्थु हस्तिराज कुञ्जर सेना का अधिपति है, लोहिताक्ष महिषसेना का अधिपति है, किन्नर रथ सेना का अधिपति है।

वैरोचनो के राजा वैरोचनेन्द्र बलि के पांच सांग्रामिक अनीक हैं, एवं पांच सांग्रामिक अनीकाधिपति हैं, जैसे—पदाति सेना, अश्वसेना, कुञ्जरसेना, महिषसेना और रथसेना। महाद्रुम पदाति सेना का अधिपति है, महासौदाम अश्वराज अश्वसेना का अधिपति है। हस्तिराज मालकार कुञ्जर सेना का अधिपति है, महालोहिताक्ष

महिष-सेना का अधिपति है, किम्पुरुष रथसेना का अधिपति है।

नागकुमारों के राजा नागकुमारेन्द्र धरण के पांच सांग्रामिक अनीक हैं, एवं पांच ही सांग्रामिक अनीकाधिपति हैं, जैसे—पदातिसेना, रथसेना आदि। भद्रसेन पदाति सेना का अधिपति है, यशोधर अश्वराज अश्वसेना का अधिपति है, हस्तिराज सुदर्शन कुञ्जरसेना का अधिपति है, नीलकण्ठ महिषसेना का अधिपति है, आनन्द रथ-सेना का अधिपति है।

नागकुमारों के राजा नागकुमारेन्द्र भूतानन्द के पांच अनीक हैं, एवं पांच सांग्रामिक अनीकाधिपति हैं, जैसे—पैदल-सेना, रथ-सेना आदि। दक्ष पैदल सेना का अधिपति है, सुग्रीव अश्वराज अश्वसेना का अधिपति है, हस्तिराज सुविक्रम कुंजर-सेना का अधिपति है, श्वेतकण्ठ महिष-सेना का अधिपति है, नन्दोत्तर रथसेना का अधिपति है।

सुपर्ण कुमारों के राजा सुपर्णेन्द्र वेणु देव के पांच सांग्रामिक अनीक हैं, एवं पांच साग्रामिक अनीकाधिपति हैं, जैसे—पैदल सेना आदि। जिस प्रकार नागकुमारेन्द्र धरण का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार वेणुदेव का भी है। जिस प्रकार भूतानन्द का वर्णन है उसी प्रकार वेणुदालिक का भी है। जिस प्रकार नागकुमारेन्द्र धरण का वर्णन है, उसी प्रकार घोष पर्यन्त सब दाक्षिणात्य इन्द्रों के सांग्रामिक आदि समझने चाहिएं। जिस तरह नागकुमारेन्द्र भूतानन्द का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार महाघोष पर्यन्त सभी उत्तर दिशा के इन्द्रों के सांग्रामिक आदि समझ लेने चाहिएं। देवों के राजा देवेन्द्र शक्र के पाच सांग्रामिक अनीक है, एवं पांच सांग्रामिक अनीकाधिपति हैं, जैसे—पदाति-सेना से लेकर वृषभ-सेना पर्यन्त। हरिणैगमेषी पदाति सेना का अधिपति है, अश्वराज वायु अश्वसेना का अधिपति है, हस्तिराज ऐरावत कुजर-सेना का अधिपति है, दामर्द्धि वृषभ-सेना का अधिपति है, माठर रथ-सेना का अधिपति है।

ईशान दिशा के देवेन्द्र देवराज के पांच साग्रामिक अनीक है, एवं पाच सांग्रामिक अनीकाधिपति हैं, जैसे—पदाति-सेना, अश्वसेना, गज-सेना, वृषभ-सेना और रथ-सेना। लघुपराक्रम पदाति-सेना का अधिपति है, महावायु अश्वराज अश्व-सेना का अधिपति है, पुष्पदन्त हस्तिराज कुंजर-सेना का अधिपति है। महादामर्द्धि वृषभ-सेना का अधिपति है। महामठर रथसेना का अधिपति है। जिस प्रकार शक्र का वर्णन किया गया है उसी प्रकार सब दक्षिण दिशा वाले आरण नामक इन्द्र पर्यन्त सभी इन्द्रों का वर्णन जानना चाहिए और जिस तरह ईशानेन्द्र देवराज का वर्णन

किया गया है, उसी प्रकार अच्युतेन्द्र आदि उत्तर दिशा वाले इन्द्रों का वर्णन जानना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे देवो की अग्रमहिषियों आदि का वर्णन किया गया है। अब उनकी सेनाओं की पचविधता का वर्णन किया जा रहा है।

देव और असुर परस्पर विपरीत स्वभाव वाले हैं, स्वभाव-वैपरीत्य द्वेष को जन्म देता है और द्वेष के कारण युद्ध अवश्यंभावी हो जाता है। युद्ध उन्माद जागृत करता है, होश बिगाड देता है, आदमी को पागल बना देता है और आदमी युद्धोन्माद में युद्धों की योजनाए बनाने लगता है, षड्यन्त्र रचने लगता है। तब उसे योद्धाओ की आवश्यकता पड़ती है, युद्ध साधनो को जुटाने की चिन्ता लग जाती है। बस इसी चिन्ता में सेनाए खड़ी की जाती हैं, सेना को सर्वगामिनी एवं अजेय बनाने के लिए हाथी, घोड़े, बैल, रथ, पदाति सब एकत्रित होने लगते हैं। इन सबके एकत्रित होते ही शक्ति का उन्माद उफनने लगता है और युद्ध आरम्भ हो जाते है। युद्ध-महाहिंसा है। भगवान महावीर बताना चाहते है कि देवता भी इस उन्माद से मुक्त नहीं हैं, अत: हमें देवत्व इष्ट नहीं, हमे इष्ट है देवत्व से भी ऊपर उठना। सभी विनाशशील अस्तित्वों से मुक्त होकर शाश्वत अस्तित्व ग्रहण करना। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत सूत्र मे देव-सेनाओं का परिचय दिया गया है।

दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि शास्त्रकार की श्रद्धा यह व्यक्त करना चाहती है कि भगवान महावीर अतीन्द्रिय ज्ञान के धारक थे, वे ससीम दिखते हुए भी असीम थे, पृथ्वी पर बैठे हुए ही उनका ज्ञान लोकालोक को प्रत्यक्ष कर लेता था। देवलोक की स्थिति के सम्बन्ध मे किसी हृदय में सम्भवत: कोई प्रश्न उठा हो और प्रभु महावीर की सर्वज्ञ प्रतिभा ने उसे देखा होगा और उसी का उत्तर दिया होगा प्रस्तुत वर्णन के रूप मे।

देवलोको और असुर-लोको मे सेनाओं और सेनापतियों की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्रकार कहते है—

राष्ट्र की रक्षा के लिए जिस प्रकार सेनाएं होती हैं उसी तरह भवनों और विमानों की रक्षा के लिए इन्द्रों की पांच-पाच प्रकार की सेनाए हैं और उनके सेनापति भी हैं। जब देव और असुर कुमारो के परस्पर युद्ध होने का प्रसग आता है तब उनकी आवश्यकता पड़ती है। जहा-जहां राजनीति है, वहां-वहा संघर्ष भी अवश्य है और जहां-जहां संघर्ष है वहा-वहा सेना का होना अनिवार्य है। सभी इन्द्रों की पांच-पांच प्रकार की सेनाए हैं, जैसे कि पदाति—पैदल चलने वाली सेना, पीठानीक—घुड़सवार सेना, कुञ्जरानीक—हस्ती सवार सेना, महिषानीक—भैसे की सवारी करने वाली सेना, रथानीक—रथिक सेना। असुर और देवों की सेनाओं में अन्तर केवल इतना ही है कि वैमानिक देवों की महिषानीक के स्थान पर वृषभानीक है।

क्या देवलोकों मे भी घोड़े, हाथी, भैसे और वृषभ आदि पशु होते हैं? यदि देवलोकों

में भी पशुओं का अस्तित्व है तो फिर पशुत्व को गर्हित क्यों समझा जाता है, क्यों उसे निन्दनीय माना गया है। वस्तुत: देवलोको मे पशुता का अस्तित्व नहीं है, अपितु युद्धोन्माद के सवार होने पर देव ही हाथी, घोड़े आदि का रूप धारण कर लेते है जोकि उस समय उपयोगी होते हैं, यह कल्पस्थिति बारहवें देवलोक पर्यन्त है, उससे ऊपर के देवलोकों में यह कल्पस्थिति अर्थात् नीति नहीं है। वे देव राजनीति से उन्मुक्त हैं, अत: वहा न संघर्ष है न युद्ध है। असुरों में एक भेद भैंसा है और वही देवों में वृषभ है। इसका कारण यह है कि भैंस जाति में आलस्य है, उन्माद है और शक्ति की अधिकता है। अत: आलस्य और उन्माद प्रधान असुर भैंसे का ही रूप धारण करते है।[१]

सेनापतियों के नाम निर्देश मूलार्थ में किए गए है, अन्तर केवल इतना ही है कि असुर-कुमारों के अतिरिक्त शेष भवनपतियों के नव निकाय और सोलह प्रकार के वानव्यन्तर है, वे दो भागों मे विभाजित है, कुछ दक्षिण की ओर रहते है और कुछ उत्तर की ओर। यदि उनको दाक्षिणात्य तथा उदीचीन कहा जाए तो अधिक उचित होगा।

धरणेन्द्र दाक्षिणात्य नागकुमारो का इन्द्र है। उसके शासन मे पाच सेनापतियों के जो-जो नाम सूत्रकार ने दिये हैं, बिल्कुल वे ही नाम शेष दाक्षिणात्य इन्द्रों के अनुशासन में रहने वाले पाच-पांच सेनापतियों के भी हैं। जो उदीचीन है उन सेनापतियों के नाम भूतानन्द इन्द्र के सेनापतियों जैसे है। सौधर्मेन्द्र के सेनापतियो के जो नाम है वे ही तीसरे, पाचवे, सातवें, नौवें और ग्यारहवे देवलोक के सेनापतियों के नाम हैं तथा जो दूसरे ईशानेन्द्र के सेनापतियों के नाम है वे ही चौथे, छठे, आठवें, दसवे और बारहवें देवलोक के सेनापतियो के नाम है। विषम सख्या वाले देव दाक्षिणात्य है और सम संख्या वाले देव उदीचीन कहलाते हैं।

ज्ञात होता है कि ये नाम व्यक्ति-परक नही हैं, पदवी-परक है, अत: दक्षिण की परम्परा के सेनापतियों के नामो मे समानता का अर्थ है उनकी पदवी प्रकट करने वाले एक जैसे नाम।

उत्तर की परम्परा भिन्न है। अत: उत्तर की देव सेनाओ के सेनापतियों के नाम भी समान ही हो सकते है।

---

१ वैदिक सस्कृति मे भगवती दुर्गा का महिषासुर से जो युद्ध प्रदर्शित किया गया है उसमे महिषासुर भैसे का रूप बनाकर ही आता है और भगवती से लड़ता है। दूसरी ओर देव जाति में सात्विकता की प्रधानता मानी गई है। देव सत्त्वगुण प्रधान है, अत: वे वृषभ का रूप धारण करते है। इसीलिए पुराण-सस्कृति बैल को धर्म रूप-मानती है और शकर को बैल पर सवार होने वाला कह कर यह कहती है कि जो व्यक्ति धर्मारूढ है वही व्यक्ति शकर बन सकता है, अर्थात् कल्याणकारी रूप धारण कर सकता है।''

शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र पार्षद देव-देवियों की स्थिति

मूल—सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अब्भंतरपरिसाए देवाणं पंच पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तं जहा—ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अब्भंतरपरिसाए देवीणं पंच पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता॥१८॥

छाया—शक्रस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य आभ्यन्तरपरिषदः देवानां पञ्च पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता। ईशानस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य आभ्यन्तरपरिषदः देवीनां पञ्च पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—देवराज देवेन्द्र शक्र की आभ्यन्तर परिषद् के देवों की पांच पल्योपम स्थिति वर्णित की गई है। देवेन्द्र देवराज ईशान की आभ्यन्तर परिषद् की देवियों की पाच पल्योपम स्थिति वर्णित की गई है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में देव-राष्ट्र के सेना एवं सेनाध्यक्ष आदि सुरक्षात्मक बाह्य जगत् का परिचय दिया गया है। प्रत्येक राष्ट्र युद्ध से पूर्व आन्तरिक परिषदों मे, गुप्त समितियों मे एवं विश्वस्त अधिकारियों से विचार-विमर्श अवश्य करता है। अतः अब प्रकरण प्राप्त देवों की विचार-परिषदों एवं परिषद-सदस्यों की आयुस्थिति का परिचय दिया जा रहा है—

देवों की तीन परिषदें मानी गई हैं—आभ्यन्तर-परिषद्, मध्यम-परिषद् और बाह्य परिषद्। ठीक वैसे ही जैसे कि आजकल लोक-परिषद् और राज्य-परिषद् आदि की स्थिति है। प्रजातन्त्र राष्ट्र मे नर और नारी का समान महत्व एवं समान अधिकार है। अस्तित्व के लिए दो शक्तियो का ऐक्य आवश्यक होता है। नेगेटिव और पॉजिटिव अर्थात् ऋण और धन दोनों विद्युत् शक्तियो के मेल से ही प्रकाश एवं शक्ति की सृष्टि होती है। प्रकृति ने नारी में ऋणात्मक ऊर्जा को, पुरुष में धनात्मक ऊर्जा को प्राधान्य देकर सामाजिक शक्ति के अस्तित्व की स्थापना की है। देव इस तथ्य से परिचित हैं, अतः देवों की सामाजिक व्यवस्था में नारी को पुरुष के समान ही अधिकार एवं महत्व दिया गया है।

भगवान महावीर के उपदेशो में सर्वत्र यह भाव पुष्प से सुरभि के समान उद्भूत होता है कि मनुष्य-लोक मे नारी को वही महत्व एव अधिकार प्राप्त होने चाहिएं जो पुरुष को प्राप्त हैं, अतः प्रभु महावीर को नारी-लोक का उद्धारक माना जाता है।

प्रस्तुत प्रकरण में बताया गया है कि प्रत्येक इन्द्र और प्रत्येक महर्द्धिक देव की मन्त्रणा के लिए तीनों परिषदें अवश्य होती हैं और उन परिषदों के निर्णय ही सेनाओं आदि द्वारा क्रियान्वित किए जाते है।

शास्त्रकार कहते हैं कि सौधर्मेन्द्र और आभ्यन्तरिक परिषदों के देवों की स्थिति पांच-

पल्योपम है। अर्थात् पांच पल्योपम काल के व्यतीत होने पर उन्हें देव-लोकों का परित्याग कर देना पड़ता है।

पल्योपम एक बहुत बडा काल है। वर्षों में इसकी गणना मानव-प्रतिभा की सीमा से बाहर है, अत: उसे शास्त्रकारो ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि—चार कोस लम्बे, चार कोस चौड़े और चार कोस गहरे किसी बहुत बड़े खड्ड को यदि किसी नवजात शिशु के कोमल बालो के छोटे-से-छोटे टुकडे करके उनसे उसे भर दिया जाए और फिर उन बालों के टुकडो को सौ-सौ वर्ष के अन्तर से एक-एक करके निकाला जाए, इस प्रकार निकालते-निकालते जितने समय में वह खड्डा खाली हो जाए, उतने समय को एक पल्य कहा जाता है। इस प्रकार के पाच पल्य के काल तक ये देव-देवियां देवलोकों में निवास करते है।

इतना बड़ा जीवन और वह भी संघर्षो मे उलझा हुआ, कही असुर-सग्राम के भय, कहीं कामावेश के उन्माद और कही अन्य विध्वसक परिस्थितिया और साथ मे पुन: देवलोक छोड़ने का डर ये सब अशान्ति के कारण भी विद्यमान है, अत: देवलोक भी मनुष्य का ध्येय नही होना चाहिए। मनुष्य का ध्येय होना चाहिए वह शाश्वत जीवन, अखण्ड जीवन जहा कुछ भी शेष नही रह जाता, मुक्तावस्था—आवागमन से मुक्ति की प्राप्ति।

प्रतिघात-भेद

मूल—पंचविहा पडिहा पण्णत्ता, तं जहा—गइ-पडिहा, ठिइ-पडिहा, बंधण-पडिहा, भोग-पडिहा, बल-वीरिअपुरिसयार-परक्कम-पडिहा ॥ १९ ॥

छाया—पञ्चविध: प्रतिघात· प्रज्ञप्तस्तद्यथा—गति-प्रतिघात:, स्थिति-प्रतिघात:, बन्धन-प्रतिघात:, बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रम-प्रतिघात:।

शब्दार्थ—पंचविहा—पाच प्रकार का, **पडिहा**—प्रतिघात, **पण्णत्ता, तं जहा**—कथन किया गया है, जैसे, **गइ-पडिहा**—देव आदि शुभ गति का पाप-कर्म के कारण प्रतिघात, **ठिइपडिहा**—अध्यवसाय विशेष के कारण देवादि की स्थिति का प्रतिघात, **बंधणपडिहा**—औदारिक आदि नाम-कर्म-रूप शुभ बन्धनों का प्रतिघात, **भोग-पडिहा**—भोग का प्रतिघात, **बल-वीरिअपुरिसयार-परक्कम-पडिहा**—शारीरिक बल, आत्म-शक्ति, एवं पुरुषकार, पराक्रम का प्रतिघात।

मूलार्थ—पांच प्रकार का प्रतिघात वर्णित किया गया है, जैसे—गति का प्रतिघात, अर्थात् तपश्चरण आदि से प्राप्त होने वाली देव आदि शुभ गति का पापाचरण करके उसका प्रतिघात करना, शुभ गति का न पा सकना। देव आदि गतियों की

दीर्घ स्थिति का अध्यवसाय विशेष के द्वारा ह्रास करना स्थिति-प्रतिघात है। नाम कर्मोदय—जन्म-बन्धन आदि का प्रतिघात कर देना बन्धन-प्रतिघात है। प्रशस्त भोगों का प्रतिघात करना भोग-प्रतिघात है। बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम का प्रतिघात बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रम-प्रतिघात है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में आभ्यन्तर-पार्षद् देव-देवियों की स्थिति का वर्णन किया गया है। देवलोक की अवस्थिति अपेक्षाकृत अच्छी ही होती है, परन्तु कभी-कभी जीव ऐसे कर्म कर बैठता है जिससे वह अपने पुण्योपार्जित साधनों को भी खो देता है और उनके द्वारा प्राप्त होने वाले अभीष्ट प्राप्त नहीं कर सकता है। इस प्रकार किए कराए पर पानी फेरने वाले कर्म करने पर अभीष्ट प्राप्तव्य की प्राप्ति में होने वाले व्यवधान को प्रतिघात कहा जाता है। अब शास्त्रकार साधक जो भी करे अप्रमत्त हो कर करे, इसी उद्बोध के लिए प्रतिघात का वर्णन करते हैं—प्राप्तव्य की प्राप्ति में रुकावट पड़ जाना ही प्रतिघात है। बुराई मे रुकावट पड़ जाना प्रतिघात नही, पुण्य-कार्यो मे व्यवधान हो जाना—बाधा पड जाना ही प्रतिघात है। यद्यपि प्रतिघात अनेकविध होते हैं, तथापि उन सबका अन्तर्भाव निम्न पाच रूपों में ही हो जाता है।

१. गति-प्रतिघात—किसी गतिशील चेतन पदार्थ का अथवा किसी जड पदार्थ का किसी दूसरी वस्तु से टकराकर रुक जाना व्यावहारिक गति-प्रतिघात कहलाता है। जिस आत्मा ने शुभगति के प्राप्त होने योग्य कर्मो का सचय करना था, किन्तु दुष्ट अध्यवसायो के कारणा देवगति के योग्य पुद्गलों को नरक-प्राप्ति के योग्य बना डालना नैश्चयिक गति-प्रतिघात है। जैसे कुण्डरीक को प्रव्रज्या-ग्रहण करके सयम-तप की आराधना करते हुए देव-गति प्राप्त होनी थी, परन्तु अशुद्ध परिणामो से उसको नरक-गति प्राप्त हुई। इस प्रकार देवगति का प्रतिघात हो गया, यह प्रतिघात "गति-प्रतिघात" कहलाएगा।

२. स्थिति-प्रतिघात—जिस वस्तु का अस्तित्व सुदीर्घ काल तक रहना है, परन्तु किसी विपरीत तत्त्व के योग से उसकी स्थिति स्वल्पकाल की ही रह जाए, अथवा वह वस्तु सर्वथा नष्ट हो जाए, यह व्यावहारिक स्थिति-प्रतिघात है, कर्मो की शुभ स्थिति बाधकर अशुभ भावों से दीर्घकालीन स्थिति को छोटी स्थिति मे परिणत कर देना "नैश्चयिक स्थिति-प्रतिघात है"। जैसे कि आगमकार कहते है—**"दीहकालठिइयाओ हस्सकाल-ठिइयाओ पकरेइ"**।

३. बंधन-प्रतिघात—किसी अभीष्ट वस्तु का, अभीष्ट वस्तु के साथ बधन न होकर अशुभ वस्तु के साथ बधन हो जाना व्यावहारिक बंधन-प्रतिघात है। बन्धन नाम-कर्म का एक भेद है। इसके औदारिक बधन आदि पांच भेद हैं। दुष्ट परिणामों के द्वारा औदारिक आदि प्रशस्त प्रकृतियो का प्रतिघात करना "बन्धन-प्रतिघात है"। उपलक्षण से बंधन शब्द

ग्रहण करने पर उसके सहचारी प्रशस्त शरीर, सुन्दर अंगोपांग, शुभ संहनन, शुभ संस्थान आदि का प्रतिघात भी समझ लेना चाहिए।

४. भोग-प्रतिघात—धन, स्त्री आदि सुख-सामग्री मिलते ही कोई ऐसा कारण बन जाए जिस से भोग सामग्री नष्ट-भ्रष्ट हो जाए, इसे व्यावहारिक भोग-प्रतिघात कहते हैं। प्रशस्त गति-स्थिति-बंधन आदि का प्रतिघात होने पर भोग का प्रतिघात होना अनिवार्य है, क्योंकि कारण के अभाव होने पर कार्य का अभाव होना सुनिश्चित है। इसको नैश्चयिक भोग-प्रतिघात कहते हैं।

५. बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रम-प्रतिघात—शारीरिक शक्ति को बल, जीव की शक्ति को वीर्य, पुरुषाभिमान को पुरुषकार, बल और वीर्य के सम्मिलित रूप को पराक्रम कहते हैं। किसी सशक्त प्रतिद्वन्द्वी के समक्ष या बीमारी आदि के कारण बल का क्षीण हो कर हतोत्साह हो जाना, स्वाभिमान को खो बैठना, व्यावहारिक बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रम प्रतिघात है। गति, स्थिति आदि के प्रतिघात होने पर भोग की तरह प्रशस्त बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रम की प्राप्ति में भी रुकावट हो जाना "नैश्चयिक बल आदि का प्रतिघात है"।

अशुद्ध भावो के द्वारा जीव सुगति, सुस्थिति, सुबधन, सुभोग, सुबल-वीर्य आदि का प्रतिघात करता है, अत: सदैव शुभ भावों के द्वारा जीवन-यापन करना चाहिए। गति निश्चित होने पर ही स्थिति-बंधन आदि हो सकते है।

पञ्चविध आजीविक

मूल—पंचविहे आजीविए पण्णत्ते, तं जहा—जाइ-आजीवे, कुलाजीवे, कम्माजीवे, सिप्पाजीवे, लिंगाजीवे ॥ २०॥

छाया—पञ्चविध आजीवक: प्रज्ञप्तस्तद्यथा—जात्याजीवक:, कुलाजीवक:, कर्माजीवक:, शिल्पाजीवक:, लिङ्गाजीवक:।

शब्दार्थ—पंचविहे—पाच प्रकार के, **आजीविए**—आजीविका करने वाले कथन किए गए हैं, जैसे, **जाइ-आजीवे**—ब्राह्मण आदि जाति के द्वारा आजीविका करने वाला, **कुला-जीवे**— कुल से आजीविका करने वाला, **कम्माजीवे**—कृषि आदि से आजीविका करने वाला, **सिप्पाजीवे**—शिल्प के द्वारा आजीविका करने वाला, **लिंगाजीवे**—ज्ञान आदि से शून्य केवल साधु-वेष द्वारा आजीविका करने वाला।

मूलार्थ—पांच प्रकार के आजीविका करने वाले हैं, जैसे—ब्राह्मणादि जाति के द्वारा आजीविका करने वाला जात्याजीवक है। उग्रादि कुल के द्वारा आजीविका करने वाला कुलाजीवक है। कृषि आदि कर्मों के द्वारा आजीविका करने वाला कर्माजीवक है। वस्त्र बुनना आदि के द्वारा आजीविका करने वाला शिल्पाजीवक

है। ज्ञान आदि से शून्य केवल वेशमात्र धारण करके आजीविका करने वाला लिङ्गाजीवक है।

विवेचनिका—जो कुछ जीव के लिए प्राप्तव्य है उसकी प्राप्ति मे होने वाले व्यवधान को ही प्रतिघात कहा जाता है। लौकिक दृष्टि से जो कुछ जीवन में प्राप्तव्य है उसे ही आजीविका कहा जाता है, अत: अब सूत्रकार आजीविका की पच-विधता का प्रतिपादन करते हैं—कर्म-भूमि मे आकर जीवित रहने के लिए मनुष्य को शरीर के निर्वाह के लिए धन-धान्यादि जीवन-साधनों की आवश्यकता होती है। उन जीवन-साधनों को प्राप्त करने की प्रक्रिया को आजीविका कहा जाता है। जीवित रहने के लिए आजीविका का प्रबन्ध करना ही पडता है।

यद्यपि आज के युग मे आजीविका के अगणित स्रोत बन गए है, क्योंकि आज के बुद्धिवादी मानव के समक्ष आजीविका ही मुख्यलक्ष्य है और साथ ही वैज्ञानिक प्रगति ने आजीविका के क्षेत्रों को अत्यन्त विस्तृत कर दिया है। ऐसी दशा में आजीविका के रूपों की गणना असम्भव सी प्रतीत होती है, परन्तु समष्टि-प्रधान दृष्टिकोण से विचार करने पर समस्त आजीविका-साधनो को शास्त्रकार द्वारा निर्दिष्ट निम्नलिखित पांच रूपों मे ही विभक्त किया जा सकता है। जैसे कि—

१. **जात्याजीवक**—जो व्यक्ति जातीय आधार पर आजीविका का उपार्जन करते हैं वे 'जात्याजीवक' कहलाते है। ब्राह्मण पौरोहित्य कर्म करता है, केवल अपनी जाति के ही आधार पर, क्योंकि यह अधिकार किसी और वर्ण को नही दिया गया, अत: ब्राह्मण को जात्याजीवक ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार अपनी जाति-परम्परा के अनुरूप कर्म से जीविका का अर्जन करने वाले सभी व्यक्ति 'जात्याजीवक' ही माने जाएंगे।

२. **कुलाजीवक**—जो व्यक्ति अपनी कुल-परम्परा से प्राप्त विद्या आदि द्वारा जीवन साधनो का उपार्जन करते हैं वे कुलाजीवक कहलाते हैं। जैसे किसी कुल में वंशानुक्रम से चिकित्सा का कार्य हो रहा है तो वह व्यक्ति चिकित्सा-शास्त्र का ज्ञान कुल-परम्परा से ही प्राप्त कर लेता है और उसी से अपना-भरण-पोषण करता है। ऐसे व्यक्ति को 'कुलाजीवक' कहा जाएगा।

३. **कर्माजीवक**—यहां 'कर्म' शब्द परिश्रम एवं मेहनत-मजदूरी का द्योतक है। जो व्यक्ति परिश्रम करके जीवन-निर्वाह करते हैं, उन्हें 'कर्माजीवक' की श्रेणी में स्थान दिया जाएगा। कृषक वर्ग इसी श्रेणी के आजीवक है।

४. **शिल्पाजीवक**—शिल्प का अर्थ है निर्माण-विद्या, जिसे आज के युग में कला (आर्ट) एवं इजीनियरिंग आदि कहा जाता है। चित्रकार, कलाकार, इंजीनियर आदि शिल्पाजीवक की कोटि में आते हैं, क्योंकि इनकी आजीविका का आधार उनका शिल्पज्ञान ही माना जाता है।

५. लिङ्गाजीवक—वे व्यक्ति जो पाखण्ड, ढोंग, रूप-परिवर्तन आदि के द्वारा जनता को धोखा देकर आजीविकोपार्जन करते हैं उन्हें 'लिङ्गाजीवक' कहा जाता है।

किसी-किसी प्रति में 'लिंग-आजीवक' के स्थान में 'गण' शब्द का उल्लेख भी मिलता है। गण का अर्थ है मल्लो का समुदाय, इससे भी जीवन-निर्वाह होता है।

पंचविध राज-चिन्ह

मूल—पंच रायककुहा पण्णत्ता, तं जहा—खग्गं, छत्तं, उप्फेसं, उपाणहाओ, वालवीअणी ॥२१॥

छाया—पञ्च राजककुदानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—खड्गः, छत्तं, शेखरकः, उपानहौ, बालव्यजनी।

शब्दार्थ—पंच—पांच, **रायककुहा पण्णत्ता, तं जहा**—राज-चिह्न बताए गए है, जैसे, **खग्गं**—खड्ग, **छत्तं**—छत्र, **उप्फेसं**—मुकुट, **उपाणहाओ**—जूती-जोड़ा, **वालवी-अणी**—चवर।

मूलार्थ—राजा के पांच चिह्न बताए गए है, जैसे—तलवार, छत्र, मुकुट, जूता और चवर।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे सामान्य जनता की आजीविका के साधनों की ओर संकेत किया गया है, परन्तु राजकीय जीवन इन सबसे भिन्न होता है, राजा की आजीविका के साधन उपर्युक्त पाचों से स्पष्ट ही पृथक् होते है। अतः सूत्रकार राज-चिह्नों के वर्णन-माध्यम से यह स्पष्ट करना चाहते है कि राजा अपने कन्धों पर पाच भारी दायित्व लेकर अपनी आजीविका चलाता है।

यद्यपि जैनागमों में निवृत्ति के स्वरों की प्रधानता रही है और राजा एवं राज-समृद्धि सब प्रवृत्ति-प्रधानता के अन्तिम रूप हैं, फिर निवृत्ति के गायको को इन वर्णनों की क्या आवश्यकता पडी ? यह प्रश्न स्वाभाविक है, परन्तु यह ज्ञातव्य है कि प्रवृत्ति निवृत्ति का ही प्रथम रूप है, प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही सिक्के के दो पहलू है। एक पहलू वाला सिक्का कभी बना ही नहीं, बनेगा भी नही, बन सकता भी नहीं, अतः निवृत्ति को समझने के लिए प्रवृत्ति का जानना अनिवार्य है।

प्रवृत्ति-प्रधान जीवन की चरम-सीमा है राज्य-समृद्धि, अतः प्रस्तुत सूत्र मे राज्य-समृद्धि के उन चिन्हो का परिचय दिया गया है जो राज्य-समृद्धि प्राप्त व्यक्ति का परिचय देते हैं।

राज्य का प्रथम-चिह्न है—'खड्ग' अर्थात् तलवार। यद्यपि खड्ग का प्रयोग तत्कालीन जीवन में सामान्य क्षत्रिय भी किया करते थे, परन्तु उनके लिए खड्ग की अनिवार्यता नहीं थी, राजा के लिए उसकी अनिवार्यता थी। वह राजगद्दी पर खड्ग के बिना आसीन न हो

सकता था। खड्ग उसे राज्याभिषेक के समय यह कहकर दिया जाता था कि यह खड्ग तुम्हारे रक्षण-दायित्व का प्रतीक है। प्रजा ने तुम्हे रक्षण का भार समर्पित कर दिया है। जिस दिन तुमने इस दायित्व का पालन न किया उस दिन तुम्हें राज्य-सिंहासन के योग्य न माना जाएगा।

यद्यपि खड्ग हिंसा का प्रतीक भी है, परन्तु राष्ट्र की रक्षा के लिए उसके प्रयोग की छूट धार्मिक परम्पराओं मे भी मान्य ही रही है।

दूसरा समृद्धि-चिह्न है छत्र। राजाओं को छत्र ओढ़ा कर यह दायित्व सौंपा जाता था कि प्रजा छत्र बनकर तुम्हारी रक्षा करेगी, तुम्हें कर देकर समृद्ध बनाएगी, परन्तु तुमने भी प्रजा की इस प्रकार रक्षा करनी होगी जैसे छत्र तुम्हारी धूप-वर्षा और अकस्मात् होने वाले आक्रमणो से तुम्हारी रक्षा करता है।

उसका तीसरा चिह्न था 'सुवर्ण-मुकुट'। सूर्य आदि नक्षत्रो से प्राप्त होने वाली ऊर्जा को सबसे अधिक सुवर्ण ही ग्रहण करता है। राजा के मस्तिष्क पर रखा हुआ यह सुवर्ण उसे अधिकाधिक ऊर्जा देकर तेजस्वी बनाता था। साथ ही सुवर्ण मुकुट पहनाकर उस पर यह दायित्व सौंपा जाता था कि तुम्हारे मस्तिष्क में सर्वदा प्रजा के हित के लिए सुवर्ण अर्थात् वैभव-सम्पन्नता के उपायों को खोजने की भावना बनी रहनी चाहिए।

यद्यपि जूता प्रत्येक व्यक्ति पहनता था, परन्तु राजाओं के लिए विशेष प्रकार के जरीदार जूते बनाए जाते थे, सौन्दर्य और सुरक्षा दोनों दृष्टियों को ध्यान मे रखकर उन जूतों का निमार्ण किया जाता था। वैसा जूता कठोर शासन का भी प्रतीक है।

पांचवां चिह्न चंवर था, चंवर डुलाने का कार्य प्राय: सुन्दरतम दासियो को दिया जाता था। ये दासिया प्रजा की प्रतीक मानी जाती थी। अभिप्राय यह होता था कि प्रजा ने तुम्हे सौन्दर्य दिया है, तुम्हें मक्खी और मच्छर तक के आक्रमण से बचाने का उपाय किया है, तुम्हे भी प्रजा को आक्रमणों से बचाना होगा, नगरो, मार्गो और ग्रामो को सुन्दर रूप देना होगा, उसके लिए शीतलवायु का प्रबन्ध करने के लिए सुन्दर उद्यानो का निर्माण करना होगा।

इस प्रकार प्राचीन युग में राजा को इन चिह्नो से युक्त करके उसको उसके दायित्वों के प्रति सजग किया जाता था।

राजाओं का जीवन संघर्षमय होता था, उनको सर्वदा सुरक्षा की चिन्ता रहती थी, क्योंकि समृद्धि संरक्षण की चिंता के बिना रह नहीं सकती। चिन्ता ही जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। अत: प्राचीन राजाओं को हम राज्य-समृद्धियो के संघर्षो से ऊब कर प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर आते देखते है, अत: प्रवृत्ति का वर्णन भी निवृत्ति का ही एक पक्ष है।

छद्मस्थ परीषह-उपसर्गों को क्यों सहन करें?

मूल—पञ्चहिं ठाणेहिं छउमत्थे णं उदिन्ने परिस्सहोवसग्गे सम्मं सहेज्जा, तितिक्खेज्जा, अहियासेज्जा, तं जहा—उदिन्नेकम्मे खलु अयं पुरिसे उम्मत्तगभूए, तेण मे एस पुरिसे अक्कोसइ वा, अवहसइ वा, णिच्छोढेई वा, णिब्भंछेइ वा, बंधइ वा, रुंभइ वा, छविच्छेयं करेइ वा, पमारं वा नेइ, उद्दवेइ वा, वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणमच्छिंदइ वा, विच्छिंदइ वा, भिंदइ वा, अवहरइ वा।

जक्खाइट्ठे खलु अयं पुरिसे, तेण मे एस पुरिसे अक्कोसइ वा, तहेव जाव अवहरइ वा।

ममं च णं तब्भववेयणिज्जे कम्मे उइन्ने भवइ, तेण मे एस पुरिसे अक्कोसइ वा, जाव अवहरइ वा।

ममं च णं सम्ममसहमाणस्स, अखममाणस्स, अतितिक्खमाणस्स, अणहियासमाणस्स किं मन्ने कज्जइ? एगंतसो मे पावे कम्मे कज्जइ।

ममं च णं सम्मं सहमाणस्स जाव अहियासेमाणस्स किं मन्ने कज्जइ? एगंतसो मे णिज्जरा कज्जइ।

इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं छउमत्थे उदिन्ने परीसहोवसग्गे सम्मं सहेज्जा जाव अहियासेज्जा ॥ २२ ॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैः छद्मस्थः खलु उदितान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहेत्, क्षमेत्, तितिक्षेत्, अध्यासीत्, तद्यथा—उदीर्णकर्मा खल्वयं पुरुषः उन्मत्तकभूतः, तेन ममैष आक्रोशति वा, अपहसति वा, निश्छोटयति वा, निर्भर्त्सयति वा, बध्नाति वा रुणद्धि वा, छविश्छेदं करोति वा, प्रमारं वा नयति, उपद्रवयति वा वस्त्रं वा, पतद्ग्रहं वा, कम्बलं वा, पादप्रोञ्छनमाच्छिनत्ति वा, विच्छिनत्ति वा, भिनत्ति वा, अपहरति वा।

यक्षाविष्टः खल्वयं पुरुषस्तेन मामेष पुरुष आक्रोशति वा, तथैव यावत् अपहरति वा।

मम च तद्भववेदनीयं कर्म उदीरणं भवति, तेन मामेषः पुरुष आक्रोशति वा, यावत् अपहरति वा।

मम च सम्यगसहमानस्य, अक्षममानस्य, अतितिक्षमाणस्य, अनध्यासमानस्य किं मन्ये क्रियते? एकान्तशो मया पापं कर्म क्रियते।

मम च सम्यक् सहमानस्य यावत् अध्यासमानस्य किं मन्ये क्रियते? एकान्तशो मया निर्जरा क्रियते।

इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैः छद्मस्थ उदितान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहेत् यावत् अध्यासीत्।

शब्दार्थ—पञ्चहिं ठाणेहिं—पांच कारणो से, **छउमत्थे णं**—छद्मस्थ, **उदिन्ने**—उदय में आए हुए, **परिस्सहोवसग्गे**—परीषह और उपसर्गो को, **सम्मं**—अच्छी तरह, **सहेज्जा**—सहन करे, **खमेज्जा**—क्षमाभाव रखे, **तितिक्खेज्जा**—अदीन रहे, **अहियासेज्जा**—विचलित न हो, **तं जहा**—जैसे, **उदिन्नेकम्मे खलु अयं पुरिसे**—यह पुरुष मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय वाला है, **उम्मत्तगभूए**—उन्मत्त-सा हो रहा है, **तेणं**—अतः, **मे**—मेरे प्रति, **एस पुरिसे**—यह पुरुष, **अक्कोसइ वा**—आक्रोश करता है, **अवहसइ वा**—उपहास करता है, **णिच्छोढेई वा**—हाथ पकडकर धक्का देता है, **णिब्भंछेइ वा**—तिरस्कार करता है, **बंधइ वा**—रज्जु आदि से बाधता है, **रुंभइ वा**—कारागारादि में बंद करता है, **छविच्छेयं करेइ वा**—शरीर के अवयव हाथ-पैर आदि को काटता है, **पमारं वा नेइ**—मूर्च्छा या मृत्यु की ओर ले जाता है, **उद्दवेइ वा**—उपद्रव करता है, **वत्थं वा**—वस्त्र, **पडिग्गहं वा**—पात्र, **कंबलं वा**—कम्बल, **पायपुंच्छणं**—पादप्रोंछन, **आच्छिंदइ वा**—छीनता है, **विच्छिंदइ वा**—दूर फैंकता है, **भिंदइ वा**—तोड़ता है, **अवहरइ वा**—चुराता है, **वा**—शब्द विकल्पार्थक है, **खलु**—निश्चय ही।

अयं पुरिसे—यह पुरुष, **खलु**—निश्चय ही, **जक्खाइट्ठे**—यक्ष से आविष्ट है, **तेणं**—अतः, **एस पुरिसे**—यह पुरुष, **मे**—मुझे, **अक्कोसइ वा**—कोसता है, **जाव**—यावत्, **अपहरइ वा**—वस्त्र-पात्र आदि चुराता है।

ममं च णं—निश्चय ही मेरा, **तब्भवेयणिज्जे**—तद्भव वेदनीय अर्थात् प्रस्तुत मानव भव मे ही भोगने योग्य, **कम्मे**—कर्म, **उदिन्ने**—उदय, **भवइ**—हो गया है, **जेण**—फलतः, **एस पुरिसे**—यह पुरुष, **मे**—मुझे, **अक्कोसइ**—कोसता है, **जाव**—यावत्, **अवहरइ वा**—वस्त्रदि चुराता है।

सम्म—सम्यक् रूप से, **असहमाणस्स**—परीषह और उपसर्गों को न सहते हुए, **अखममाणस्स**—न खमते हुए, **अतितिक्खमाणस्स**—तितिक्षा न करते हुए, **अणहियासमाणस्स**—विचलित हुए, **ममं च णं**—मुझे, **किं मन्ने कज्जइ ?**—क्या होता है?, **मे**—मेरे द्वारा, **एगंतसो**—एकान्त रूप से, **पावे कम्मे**—पाप कर्म, **कज्जइ**—किया जाता है।

सम्मं—सम्यग् रूप से, **सहमाणस्स**—सहते हुए, **जाव**—यावत्, **अहियासमाणस्स**—विचलित न होते हुए, **ममं च णं**—मुझे, **किं मन्ने**—क्या, **कज्जइ**—होता है, **मे**—मेरे द्वारा, **एगंतसो**—एकान्त रूप से, **णिज्जरा**—कर्मों की निर्जरा, **कज्जइ**—की जाती है।

इच्चेएहिं—इस प्रकार इन, **पंचहिं ठाणेहिं**—पाच कारणों से, **छउमत्थे**—छद्मस्थ, **उदिन्ने**—उदीर्ण, **परीसहोवसग्गे**—परीषह और उपसर्गों को, **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से, **सहेज्जा**—सहन करे, **जाव**—यावत्, **अहियासेज्जा**—विचलित न हो।

मूलार्थ—पांच कारणों से छद्मस्थ मुनि उदित होने वाले परीषह और उपसर्गों को सहन करता है, तितिक्षा करता है, विचलित नही होता है। जैसे कि—

१. यह पुरुष मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय वाला है, उन्मत्त सा हो रहा है, अतएव मुझे कोसता है, हंसता है, धक्का देता है, झिड़कता है, बांधता है, कैद में डालता है, मूर्च्छा या मृत्यु की ओर ले जाता है, उपद्रव करता है तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण छीनता है, दूर फैंकता है, तोड़ता-फोड़ता है, चुराता है।

२. यह पुरुष भूताविष्ट है, अतएव मुझे कोसता है, यावत् मेरे वस्त्र-पात्र आदि चुराता है।

३ मेरा प्रस्तुत मानव-जन्म में भोगने योग्य कर्म उदय हो गया है, फलत: यह पुरुष मुझे कोसता है, यावत् मेरे वस्त्र आदि चुराता है।

४. यदि मैं उदीर्ण परीषह और उपसर्गो को सम्यक् रूप से सहन नही करता हूं, क्षमा नही करता हू, तितिक्षा नहीं करता हूं, विचलित हो जाता हूं तो मुझे इसका क्या फल होगा ? इस दशा में मैं निश्चय ही एकान्त रूप से पाप-कर्म का उपार्जन करता हूं।

५. यदि मैं परीषहोपसर्गो को सहन करता हूं, यावत् विचलित नहीं होता हूं, तो मुझे इसका क्या होगा ? इस दशा में निश्चय ही मै एकान्त रूप से निर्जरा करता हू।

इस प्रकार इन पांच कारणों से छद्मस्थ उदीर्ण परीषह और उपसर्गो को सम्यक्तया सहन करता है, यावत् विचलित नहीं होता है।

विवेचनिका—सामान्य वैभव ही नहीं राज्य-समृद्धियों तक को जिनका त्याग ठोकर मार देता है वे ही महासाधक मुनिराज कहलाते हैं, परन्तु मुनि-जीवन के लिए त्याग यदि पहली शर्त है तो दूसरी शर्त है साधनामय जीवन में आने वाले कष्टो को समभाव से सहन करना। समता प्राप्त करके केवली अवस्था में पहुचे हुए महापुरुषों को तो कष्ट की प्रतीति ही नही होती, परन्तु जो अभी साधना के पथ पर बढ़ ही रहे हैं, अभी जिन्हें स्व-पर की प्रतीति बनी हुई है, अभी जो शरीर-विस्मृति के साथ आत्म-अवस्थिति की दशा को प्राप्त नहीं कर सके ऐसे मुनि छद्मस्थ कहलाते हैं। कषाय या घनघाती कर्मो को भी छद्म कहते हैं, उसमें स्थित होने वाली साधनाशील आत्मा ही छद्मस्थ है। छद्मस्थ साधक को यह भान होता है कि मुझे पीडा दी जा रही है, फिर भी वह उसे सहन करता है। क्या सोचकर सहन करता है ? इसी प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है।

छद्मस्थ साधु उदय में आए परीषह-उपसर्गों को पाच कारणों से कषायों का निग्रह करके समभाव से निर्भय होकर सहन करता है, क्षमा के द्वारा क्षमण करता है, अदीन मन से तितिक्षा करता है, कष्टों से विचलित नही होता है। वे पांच कारण निम्नलिखित हैं, जैसे कि—

१. यह कष्ट देने वाला पुरुष उदितकर्मा है—इसके मिथ्यात्व से आवेष्टित मोहनीय कर्म उदय में आ रहे है, अत: यह शराबी की तरह उन्मत्त-सा बना हुआ है, इसी कारण यह पुरुष मुझे **आकोसइ**—गाली दे रहा है, **अवहसइ**—मेरा मजाक उड़ा रहा है, **णिच्छोढेइ**—भर्त्सना करता है एवं झिड़की देता है, **णिब्भंछेइ**—तिरस्कृत एव अपमानित करता है, **बंधइ**—रस्सियों आदि से बाधता है, **खंभइ**—कारागार में बन्द करता है या मेरा मार्ग रोकता है, **छविच्छेयं करेइ**—शरीर के किसी अवयव का छेदन करता है, **पमारं वा नेइ**—मूर्च्छित करता है या वध्यभूमि में ले जाता है या मरणान्त दु:ख देता है, **उवद्दवेइ**—विभिन्न प्रकार से उपद्रव करता है तथा, **अच्छिन्दइ**—मेरे वस्त्र, पात्र, कंबल तथा रजोहरण आदि उपकरणों को छीनता है, **विच्छिंदइ**—जबरदस्ती लूटता है, **भिंदइ**—पात्रों को तोड़ता-फोड़ता है, **अवहरइ**—जबरन उठा ले जा रहा है।

इनमें पहली आठ क्रियाएं शारीरिक यातनाओं से सम्बन्ध रखती है और अंतिम चार क्रियाएं उपकरणों से सम्बन्ध रखती है, परीषह-ग्रस्त मुनि यह जानकर समस्त कष्टो को सहन करता है कि वास्तव में इस बेचारे का दोष नहीं, इसके अशुभकर्म उदय मे आए हुए हैं इसी कारण यह मुझे कष्ट देकर परेशान कर रहा है। इस जैसे और मनुष्य भी तो यहां रहते हैं, उन्होंने मुझे कुछ भी नहीं कहा, अत: यह स्पष्ट है कि इस व्यक्ति के अशुभ कर्म उदय में आए हुए हैं। ऐसा समझकर आए हुए उपसर्ग को मुनि समभाव से सहन करता है।

२. यह पुरुष यक्षाविष्ट है—इस कारण यह मुझे गाली देता है, मेरा मखौल करता है, मेरे उपकरणो को चुराता है और पूर्वोक्त सभी दुर्व्यवहार मेरे साथ करता है, वास्तव में इसका कोई दोष नहीं, यक्षावेश ही इससे दुर्व्यवहार करवा रहा है।

३. मेरा असाता-वेदनीय कर्म उदय हो गया है जिसका फल मुझे इसी जन्म में भोगना है। यदि मेरे अशुभ कर्मो का अभी उदय न हुआ होता तो इसकी क्या शक्ति थी कि बिना अपराध के ही यह मुझे गाली देता, मेरे उपकरणों को चुराता, अथवा अन्य कोई भी दुर्व्यवहार मेरे साथ करता। वस्तुत: इस दुर्घटना मे मूल कारण मेरे ही असातावेदनीय कर्म का उदय है। इसका कोई दोष नहीं। यही समझकर छद्मस्थ मुनि समस्त कष्टो को सहन कर लेता है।

४ कोई छद्मस्थ मुनिराज इस भाव से भी परीषह-उपसर्गों को सहन कर लेते हैं कि इस व्यक्ति को पाप का भय नही है जो कि मुझे अपमानित कर रहा है, गाली दे रहा है मेरे उपकरणों को चुरा रहा है और मेरे साथ अकरणीय कृत्य कर रहा है, इस समय मेरा कर्त्तव्य

सहन करना है। यदि मैं सहन नही करूंगा, क्षमाभाव से बर्दाशत नहीं करूगा, दीनता प्रकट करूंगा तो मैं अपने साधु-धर्म से विचलित हो जाऊंगा और ऐसी दशा में मैं एकान्त पाप का ही भागी बनूंगा।

५. यह व्यक्ति मुझे कष्ट देता हुआ पाप कर्म-बांध रहा है जोकि अपराध किए बिना ही मुझे कष्ट दे रहा है। मेरे धर्मोपकरणों को लूट कर मेरे साथ अन्य अनर्थकारी कार्य कर रहा है। इस समय मेरा कर्त्तव्य यही है कि इस आए हुए परीषह को सहर्ष सहन करूं, क्षमा धारण करूं, दीनता न प्रकट करूं, इसके द्वारा दिए गए भय से विचलित न होऊं, समता रखूं, ऐसा करने से कर्मों की निर्जरा होगी, कर्मों का भार जितना उतारा जाए उतना ही मेरा भला है। समाधिस्थ रहने से ही उपसर्ग-कष्ट सहन किए जा सकते है, इस प्रकार के कष्टों को सहन करने के लिए ही मैं दीक्षित हुआ हूं, न कि सुख-भोग करने के लिए। समाधिस्थ रहने में ही एकान्त निर्जरा हो सकती है ऐसा समझ कर साधु परीषहों को सहता है।

सूत्रकर्त्ता ने जो "**तब्भववेयणिज्जे कम्मे उइन्ने भवइ**" पद दिया है इसका भाव यह है कि मनुष्य भव मे किए हुए कर्म मेरे उदय में आ गए हैं। इसी बात को वृत्तिकार अपने शब्दों में लिखते हैं "**मानुष्यकेण भवेन जन्मना वेद्यते अनुभूयते यत्तत्तद्भववेदनीयं कर्म उदीर्णं भवति**"।

छद्मस्थ मुनिराज उपर्युक्त पाच कारणों मे से किसी एक कारण का आश्रयण करके समाधिस्थ हो शान्ति एव क्षमा के साथ परीषहों को सहते हैं।

मूल सूत्र में जो "**आक्कोसइ**" आदि बारह क्रियाएं दी गई है उनका सम्बध प्रत्येक क्रिया के साथ जोड़ना चाहिए। '**वा**' पद विकल्प अर्थ मे प्रयुक्त है, उक्त बारह क्रियाओं मे से किसी एक या दो-तीन कारणो से कोई उपसर्ग दे रहा है उसे दृढ़ता से सहन करता है। सभी एक ही कारण का आश्रयण करके सहते हैं ऐसी बात नहीं, कोई साधु किसी कारण से सहता है और कोई किसी कारण से।

निष्कर्ष यह कि पुरुष की अयोग्यता, यक्ष का आवेश, तद्भव-वेदनीय कर्म का उदय, न सहने पर एकान्त पाप कर्म का बध और सहने पर एकान्त निर्जरा इन पांच कारणो से छद्मस्थ आत्मा उपसर्ग सहन करते है।

केवली द्वारा परीषह-सहन के कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं केवली उदिन्ने परीसहोपसग्गे सम्मं सहेज्जा जाव अहियासेज्जा, तं जहा—खित्तचित्ते खलु अयं पुरिसे, तेण मे एस पुरिसे अक्कोसइ वा, तहेव जाव अवहरइ वा।

दित्तचित्ते खलु अयं पुरिसे, तेण मे एस पुरिसे जाव अवहरइ वा।

जक्खाइट्ठे खलु अयं पुरिसे, तेण मे एस पुरिसे जाव अवहरइ वा।

ममं च णं तब्भववेयणिज्जे कम्मे उदिन्ने भवइ, तेण मे एस पुरिसे जाव अवहरइ वा।

ममं च णं सम्मं सहमाणं, खममाणं, तितिक्खमाणं अहियासेमाणं पासेत्ता बहवे अन्ने छउमत्था समणा णिग्गंथा उदिन्ने परीसहोवसग्गे एवं सम्मं सहिस्संति जाव अहियासिस्संति।

इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं केवली उदिन्ने परीसहोवसग्गे सम्मं सहेजा जाव अहियासेज्जा॥२३॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैः केवली उदीर्णान् (उदितान्) परीषहोपसर्गान् सम्यग् सहते, यावत् अध्यासते, तद्यथा—क्षिप्तचित्तः खल्वयं पुरुषः तेन मामेष पुरुष आक्रोशति वा, तथैव यावद् अपहरति वा।

दृप्तचित्तः खल्वयं पुरुषः, तेन मामेषः यावत् अपहरति वा।

यक्षाविष्टः खल्वयं पुरुषः, तेन मामेष पुरुषः यावद् अपहरति वा।

मम च खलु तद्भववेदनीयं कर्म उदीर्ण भवति, तेन मामेष पुरुषः यावद् अपहरति वा। मां च खलु सम्यक् सहमानं, क्षममाणं, तितिक्षमाणम्, अध्यासमानं दृष्ट्वा बहवोऽन्ये छद्मस्थाः श्रमणाः निर्ग्रन्था उदीर्णान् परीषहोपसर्गानेवं सम्यक् सहिष्यन्ते यावद् अध्यासिष्यन्ते।

इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैः केवली उदीर्णान् परीषहोपसर्गान् सम्यग् सहते, यावत् अध्यासते।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं—पाच कारणों से, **केवली**—केवली भगवान्, **उदिन्ने**—उदीर्ण, **परीसहोवसग्गे**—परीषह और उपसर्गो को, **सम्मं सहेज्जा**—सम्यक् रूप से सहन करता है, **जाव**—यावत्, **अहियासेज्जा**—विचलित नही होता है, **तं जहा**—जैसे, **खित्तचित्ते**—क्षिप्त चित्त है, **खलु**—निश्चय ही, **अयं पुरिसे**—यह पुरुष, **तेण**—अतः, **एस**—यह, **पुरिसे**—पुरुष, **मे**—मुझे, **अक्कोसइ वा**—कोसता है, **तहेव**—तथैव, **जाव**—यावत्, **अवहरइ वा**—मेरे वस्त्र-पात्र आदि चुराता है।

अयं पुरिसे—यह पुरुष, **खलु**—निश्चय ही, **दित्तचित्ते**—पुत्र-जन्मादि-जन्य हर्षोन्मत्त है, **तेण**—फलतः, **एस पुरिसे**—यह पुरुष, **मे**—मुझे कोसता है, **जाव**—यावत्, **अवहरइ वा**—चुराता है।

जक्खाइट्ठे—यक्षाविष्ट है, **खलु**—निश्चय ही, **अयं पुरिसे**—यह पुरुष, **तेण**—इसलिए, **एस पुरिसे**—यह पुरुष, **मे**—मुझे कोसता है, **जाव**—मेरे वस्त्रादि, **अवहरइ**—चुराता है।

ममं च णं—मेरा, **तब्भववेयणिज्जे**—तद्भव वेदनीय, **कम्मे**—कर्म, **उदिन्ने**—उदय, **भवइ**—हो गया है, **तेण**—इसलिए, **एस पुरिसे**—यह पुरुष, **मे**—मुझे कोसता है, **जाव**—मेरे वस्त्रादि, **अवहरइ**—चुराता है।

ममं च णं—मुझे, **सम्मं**—सम्यक् रूप से, **सहमाणं**—सहते हुए, **खममाणं**—क्षमा करते हुए, **तितिक्खमाणं**—तितिक्षा करते हुए, **अहियासेमाणं**—अध्यास करते हुए, **पासित्ता**—देखकर, **बहवे**—बहुत से, **अन्ने**—अन्य, **छउमत्था**—छद्मस्थ, **समणाणिग्गंथा**—श्रमण-निर्ग्रन्थ, **उदिन्ने**—उदीर्ण, **परीसहोवसग्गे**—परीषह और उपसर्गो को, **एवं**—इसी प्रकार, **सम्मं**—सम्यक् रूप से, **सहिस्संति**—सहन करेंगे, **जाव**—यावत्, **अहियासिस्संति**—विचलित न होगे, **इच्चेएहिं**—इस प्रकार इन, **पंचहिं ठाणेहिं**—पाच स्थानों से, **केवली**—केवली, **उदिन्ने**—उदय प्राप्त, **परीसहोवसग्गे**—परीषह और उपसर्गो को, **सम्मं सहेज्जा**—सम्यक् रूप से सहन करता है, **जाव**—यावत्, **अहियासेज्जा**—विचलित नहीं होता है।

मूलार्थ—पांच कारणों से केवली उदय में आये हुए परीषह और उपसर्गों को सम्यग् रूप से सहन करता है यावत् विचलित नहीं होता है। जैसे—

१ यह मनुष्य विक्षिप्त चित्त अर्थात् पागल है, अतएव मुझे कोस रहा है, और मेरे वस्त्र-पात्रादि का अपहरण करता है।

२ यह मनुष्य पुत्रादि-जन्म के कारण हर्षोन्मत्त है, अतएव मुझे कोस रहा है, यावत् मेरे वस्त्रादि का अपहरण करता है।

३. यह पुरुष यक्षाविष्ट है, अतएव मुझे कोसता है, यावत् मेरे वस्त्रादि का अपहरण करता है।

४. मेरा तद्भव-प्रस्तुत मनुष्य जन्म मे ही भोगने योग्य वेदनीय कर्म उदित हो गया है, अतएव यह पुरुष मुझे कोस रहा है, यावत् मेरे वस्त्रादि का अपहरण करता है।

५. मुझे परीषहोपसर्गों को सम्यग् रूप से सहन करते हुए, क्षमा करते हुए, तितिक्षा करते हुए, अध्यास करते हुए, देखकर दूसरे बहुसंख्यक छद्मस्थ श्रमण निर्ग्रन्थ उदीर्ण परीषहोपसर्गों को सम्यक् रूप से सहन करेंगे, यावत् अध्यास करेंगे अर्थात् विचलित न होंगे।

इस प्रकार इन पांच कारणो से केवली भगवान् उदीर्ण परीषहों एवं उपसर्गों को सम्यक् रूप से सहन करते हैं, यावत् विचलित नहीं होते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में छद्मस्थ किन-किन कारणों से परीषह उपसर्गों को सहते

हैं इसका विवेचन किया गया है, परन्तु परीषह एव उपसर्गों को केवली महापुरुष भी तो सहते हैं। उनके द्वारा कष्ट-सहन क्यों किया जाता है? यह प्रश्न स्वाभाविक था, अत: प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार इसी विषय का विवेचन करते हैं। केवली शब्द से श्रुत-केवली, अवधि-ज्ञानी, मन:पर्यव-ज्ञानी और केवलज्ञानी सभी सूत्रकार को इष्ट हैं। वे भी पांच कारणों में से किसी एक कारण से परीषहोपसर्गों को सहन करते हैं। वे पाचों कारण एक साथ नहीं होते, उन मे से यथावसर किसी एक कारण से उन्हे कष्टों को सहर्ष सहन करना पड़ता है। वे पांच कारण निम्नलिखित हैं—

१. यह पुरुष विक्षिप्त-चित्त है—पुत्र शोक आदि के दुख से इस पुरुष का चित्त खिन्न हो रहा है, अथवा मानसिक एव मस्तिष्क सम्बन्धी विकृतियों के कारण यह पागल हो गया है, इसलिए यह पुरुष गालिया दे रहा है, मेरा उपहास कर रहा है, मुझे बार-बार झिडक रहा है, मुझे अपमानित कर रहा है, रस्सियों से बांध रहा है, मुझे बन्द कर रहा है, मेरा मार्ग रोक रहा है, मेरे अंग काट रहा और अनेक प्रकार के उपद्रव करता हुआ मेरे वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि साधना-उपकरणो को छीन रहा है, तोड रहा है एवं उन्हें उठा कर ले जा रहा है।

२. यह पुरुष दृप्त-चित्त है अर्थात् इसे अभिमान हो गया है, पुत्र-जन्म आदि के कारण हर्षोन्मत्त हो रहा है। इसी कारण आक्रोश आदि उपसर्ग देने मे तत्पर है।

३. यह पुरुष यक्षाविष्ट है, जो कुछ यह उपसर्ग दे रहा है, इसमें मुख्य रूप से यक्षावेश ही कारण है, इसीलिए ही यह कष्ट दे रहा है।

४ मेरे ही भोगने योग्य कर्म उदय में आ गए है उन्ही कर्मो की प्रेरणा से यह पुरुष मुझे कष्ट दे रहा है, इसमे इसका कोई दोष नहीं है।

५ आए हुए उपसर्गो को मै सम्यक् प्रकार से सहन करूगा, अदीन भाव से सहन करते हुए एवं परीषह से विचलित न होते हुए मुझे देखकर बहुत से छद्मस्थ साधु उदय मे आए हुए परीषह-उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहेंगे, अपराधी को क्षमा करेगे, कष्टों से विचलित नहीं होगे, क्योकि यह नियम है कि "**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तद् तदेवेतरो जन:**" प्राय: सामान्य जन महापुरुषों का अनुसरण किया करते हैं। और कहा भी है—

जे उत्तमेहिं मग्गो पहओ, सो दुक्करो य सेसाणं।
आयरियम्मि जयंते, तयाणुचरा केण सीएज्जा॥

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के मार्ग पर अन्य साधारण पुरुषो के लिए चलना कठिन है फिर भी वे यत्नपूर्वक उनके अनुगमन मे ढील कैसे कर सकते है ? अत: उपसर्ग सहना छद्मस्थ और केवली दोनों का मुख्य कर्त्तव्य है, क्योंकि वेदनीयकर्म को बिना भोगे कोई भी आत्मा विमुक्त नही हो सकती।

पांच हेतु, पांच अहेतु और पांच केवली अनुत्तर

मूल—पंच हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—हेउं ण जाणइ, हेऊं ण पासइ, हेउं ण बुज्झइ, हेउं णाभिगच्छइ, हेउं अन्नाण-मरणं मरइ।

पंच हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—हेउणा, ण जाणइ, जाव हेउणा अन्नाण-मरणं मरइ।

पंच हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—हेउं जाणइ जाव हेउं छउमत्थ-मरणं मरइ।

पंच हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—हेउणा जाणइ, जाव हेउणा छउमत्थ-मरणं मरइ।

पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउं ण जाणइ, जाव अहेउं छउमत्थ-मरणं मरइ।

पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउणा न जाणइ, जाव अहेउणा छउमत्थमरणं मरइ।

पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउं जाणइ जाव अहेउं केवलि-मरणं मरइ।

पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउणा ण जाणइ, जाव अहेउणा केवलिमरणं मरइ।

केवलिस्स णं पंच अणुत्तरा पण्णत्ता, तं जहा—अणुत्तरे णाणे, अणुत्तरे दंसणे, अणुत्तरे चरित्ते, अणुत्तरे तवे, अणुत्तरे वीरिए॥ २४॥

छाया—पञ्च हेतव· प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हेतुं न जानाति, हेतुं न पश्यति, हेतुं न बुध्यते, हेतुं नाभिगच्छति, हेतुमज्ञानमरणं म्रियते।

पञ्च हेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हेतुं न जानाति, यावद् हेतुना अज्ञानमरणं म्रियते।

पञ्च हेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हेतुं जानाति, यावद् हेतुं छद्मस्थ-मरणं म्रियते।

पञ्च हेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हेतुना जानाति, यावद् हेतुना छद्मस्थ-मरणं म्रियते।

पञ्च अहेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अहेतुं न जानाति, यावद् अहेतुं छद्मस्थ-मरणं म्रियते।

पञ्च अहेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अहेतुना न जानाति, यावद् अहेतुना छद्मस्थ-मरणं म्रियते।

पञ्च अहेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अहेतुं जानाति, यावद् अहेतुं केवलि-मरणं म्रियते।

पञ्च अहेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अहेतुना न जानाति, यावद् अहेतुना केवलि-मरणं म्रियते।

केवलिनः खलु पञ्च अनुत्तराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अनुत्तरं ज्ञानम्, अनुत्तरं दर्शनम्, अनुत्तरं चारित्रम्, अनुत्तरं तपः, अनुत्तरं वीर्यम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पांच हेतु कथन किए गए हैं, जैसे—हेतु को नहीं जानता है, हेतु को नहीं देखता है, हेतु पर श्रद्धान नहीं करता है, हेतु को प्राप्त नहीं करता है, अध्यवसाय आदि के द्वारा अज्ञान-मरण से मरता है।

पांच हेतु कथन किए गए हैं, जैसे—हेतु द्वारा नहीं जानता है, यावत् हेतु के द्वारा अज्ञान-मरण से मरता है।

पांच हेतु कथन किए गए हैं, जैसे—हेतु को जानता है, हेतु को देखता है, यावत् हेतु द्वारा छद्मस्थ-मरण से मरता है।

पांच हेतु कथन किए गए हैं, जैसे—हेतु के द्वारा जानता है, यावत् हेतु के द्वारा छद्मस्थ-मरण से मरता है।

पांच अहेतु कथन किए गए हैं, जैसे—अहेतु को नहीं जानता है, यावत् अहेतु से छद्मस्थ-मरण मरता है।

पांच अहेतु कथन किए गए हैं, जैसे—अहेतु के द्वारा नहीं जानता है, यावत् अहेतु के द्वारा छद्मस्थ-मरण से मरता है।

पाच अहेतु कथन किए गए हैं, जैसे—अहेतु को जानता है, यावत् अहेतु द्वारा केवली-मरण मरता है।

पांच अहेतु कथन किए गए हैं, जैसे—अहेतु के द्वारा जानता है, यावत् अहेतु के द्वारा केवली-मरण मरता है।

केवली के पांच अनुत्तर अर्थात् अद्वितीय साध्य हैं, जैसे—अनुत्तर ज्ञान, अनुत्तर दर्शन, अनुत्तर चारित्र, अनुत्तर तप, अनुत्तर वीर्य।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में केवली महापुरुषों द्वारा परीषहोपसर्गों को सहन करने के कारणों का विश्लेषण किया गया है। अब हेतु और अहेतु के विषय को स्पष्ट करते हुए केवलित्व-प्राप्ति के कौन से साधन है और किन साधनों से आत्मा केवलित्व प्राप्त करते हैं ? इस विषय का सूत्रकार वर्णन करते हैं—

इस सूत्र में नौ सूत्रांशों के द्वारा हेतु, अहेतु और साध्य का निर्देश किया गया है। जिससे साध्य का ज्ञान हो उसे हेतु कहा जाता है, बंध और बध के उपायों को एवं मोक्ष और उस

के उपायों को भी हेतु ही कहते हैं। इस संसार का मूल कारण बंध है और बन्ध का मूल कारण आश्रव है। बंध से मुक्त होना ही मोक्ष है और किन-किन कारणों की निवृत्ति एवं प्रवृत्ति से जीव मुक्त हो सकता है इन सबका व्यवहार हेतु शब्द से किया जा सकता है। हेतु एवं अहेतु आदि का विश्लेषण इस प्रकार है—

१. **हेउं न जाणइ**—जो जीव ससार में परिभ्रमण कराने वाले कारणो को सम्यक् प्रकार से नहीं जानता है। २. **हेउं न पासइ**—दु:ख के गर्त्त में डालने वाले कारणों को सम्यक् प्रकार से नही देखता है। ३. **हेउं न बुज्झइ**—मोक्ष के उपायभूत साधनों को श्रद्धा से ग्रहण नहीं करता है। ४. **हेउं णाभिगच्छइ**—संसार-सागर से पार करने वाले साधनों को नहीं अपनाता है। ५. **हेउं अन्नाणमरणं मरइ**—अज्ञानतापूर्वक मरण कराने वाले कारणों को अपनाकर ही मरता है।

छद्मस्थ आत्मा अनुमान के पंचावयवों के द्वारा पदार्थो के स्वरूप को जानता है जैसे धूम के द्वारा अग्नि के अस्तित्व का निश्चय किया जाता है। जिससे साध्य का ज्ञान हो, उसे लिंग या साधन कहा जाता है। हेतु का लक्षण है जिसके होने पर निश्चित रूप से साध्य का अस्तित्व पाया जाए और जिसके न होने पर उसके अस्तित्व का अभाव सिद्ध हो वही हेतु कहलाता है। ऐसे सत् अर्थात् वास्तविक हेतु को जो नहीं जानता है, न देखता है, न उस पर श्रद्धा करता है और न उसे अपनाता ही है वह अज्ञानमरण रूप हेतु को पाकर ही मरता है। अज्ञान-मृत्यु मिथ्यादृष्टि व्यक्तियों की ही हुआ करती है।

जो हेतु को ही नहीं जानता वह हेतु से पदार्थो के स्वरूप को कैसे जान सकता है? वह हेतु से अनुमेय पदार्थ को नही जानता, न ही देखता है, न ही उसके प्रति श्रद्धा करता है, न ही हेतु के द्वारा किसी पदार्थ को जानने का प्रयास ही करता है। वह व्यक्ति भी अज्ञान-मृत्यु को प्राप्त कर जन्म-मरण के जाल में उलझा रहता है।

चार्वाक् दर्शन अनुमान को प्रमाण नहीं मानता। हेतु अनुमान का ही प्रमुख अग है, परन्तु अज्ञानी जीव का मरण किसी न किसी हेतु से ही होता है, हेतु के दूसरे सूत्राश तक जो सूत्रकार ने वर्णन किया है उसका सीधा सम्बंध अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि व्यक्तियों से ही सम्बन्धित है। इस स्थान पर नञ् का प्रयोग कुत्सित अर्थ में हुआ है—"**नञ् कुत्सार्थ-त्वादेवासम्यगवगच्छतीत्यर्थ:**" अर्थात् जो हेतु को वा हेतु के द्वारा साध्य को सम्यक् रूप से नहीं जानता है वही अज्ञान-मृत्यु को प्राप्त होता है।

सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से अब कर्म-रूप हेतु और करण-रूप हेतु का विश्लेषण किया जाता है। सम्यगदृष्टि आत्माभिमुख होता है, वह कर्म-बन्ध के हेतु और उससे विमुक्त होने के हेतु को भली-भांति जानता है तथा अपने पुनीत अनुभव एवं साधना के द्वारा देखता है, वह मोक्ष और मोक्ष के उपाय रूप साधनों को श्रद्धा से अपनाता है और यथाशक्ति

कर्मक्षपण- हेतु रूप संवर एव निर्जरा के कारणों को अपनाता है। किसी न किसी शुभ हेतु को पाकर ही उसका छद्मस्थ-मरण होता है।

अनुमान के मुख्य अग को भी वह सम्यक् रूप से जानता है, देखता है, उसके प्रति श्रद्धा करता है, सद्हेतु के अभिमुख होता है और जिससे छद्मस्थ-मरण हो सकता है उस हेतु को भी अच्छी तरह जानता है।

अब करण अर्थात् साधन रूप हेतु को लक्ष्य में रखकर विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते है कि सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ जीव परोक्ष पदार्थो को हेतु से जानता है, हेतु से देखता है, हेतु से ही उनके प्रति श्रद्धा करता है, हेतु से ही साध्य को प्राप्त करता है और उसका छद्मस्थ-मरण भी किसी न किसी आन्तरिक एवं बाह्य हेतु से ही होता है। जो हेतु को सम्यक् जानता है, वही वस्तुत: हेतु से पदार्थो को जानने मे समर्थ है, वही हेतु के सम्यग् ज्ञान द्वारा छद्मस्थ-मरण प्राप्त करता है। इस विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—जैसे कि **"हेतुहेतुमद्-छद्मस्थ-मरणं सम्यगदृष्टित्वान्नाज्ञानमरणमनुमातृत्वाच्च न केवलिमरणमिति"** सम्यग्-दृष्टि होने से छद्मस्थ-मरण होता है, किन्तु अज्ञान-मरण नही होता है तथा अनुमाता होने से वह केवली मरण नही, क्योकि केवली अनुमाता नहीं होता, छद्मस्थ ही अनुमान करने वाला होता है, अत: वही अनुमाता भी है।

तीसरे सूत्र-भाग मे अहेतु के विषय में निरूपण किया गया है। अहेतु का अर्थ होता है हेत्वाभास, जो हेतु तो नही है, किन्तु हेतु जैसा लगता है, उसे अहेतु कहा जाता है, अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र मोक्ष के लिए अहेतु हैं। अहेतु किसी भी कार्य के यथार्थ ज्ञान मे अकिंचित्कर होता है। जैसे हेतु को जानना अनिवार्य है, वैसे ही अहेतु को भी। जो अहेतु को नही जानता, वह हेतु को भी भली-भांति नहीं जान सकता। हेतु और अहेतु को सम्यग्दृष्टि जीव ही जानता है, मिथ्यादृष्टि नही। मिथ्यादृष्टि व्यावहारिक हेतु और अहेतु को भी यत्किंचित् ही जान पाता है पूर्णत: नहीं, जबकि सम्यग्दृष्टि हेतु और अहेतु दोनो को सम्यक् रूप से जानता है। शेष पदो का विवेचन हेतु की तरह ही समझ लेना चाहिए। अतर केवल इतना ही है कि निरुपक्रमी आयुष्क का मरण बिना ही हेतु अर्थात् कारण से होता है उसकी मृत्यु मे कोई कारण नही होता है।

हेतु का व्यवहार श्रुतज्ञान के अर्थ मे होता है, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान में नहीं, क्योंकि ये ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते है। जब उक्त ज्ञान के धारण करने वाले उसमें उपयोग लगाते हैं, तब वे अनुमान से किसी भी पदार्थ की जानकारी नही करते, अपितु वस्तुतत्व को प्रत्यक्ष रूप से जानते है, अत: वे बिना हेतु के ही जानते एवं देखते है।

केवलीमरण भी बिना ही हेतु के प्राप्त होता है। यहां हेतु से अभिप्राय निमित्त से है, केवली की आयु अपवर्तनीय एवं निरुपक्रमी होती है, अत: केवली का मरण अहेतु अर्थात् बिना किसी निमित्त से होता है, क्योंकि केवली भगवान कर्म-समूह का क्षय कर देते है।

जब कारण रूप कर्म ही नहीं तो मृत्यु का सकारण होना कैसे हो सकता है ? अत: केवली भगवान आयुष्य क्षय की अवधि सन्निकट जानकर शरीर का परित्याग कर देते हैं। केवलीमरण पुनर्जन्म के लिए नही, प्रत्युत अमर होने के लिए होता है।

केवलीपद की अनुवृत्ति से सूत्रकार ने केवली भगवान मे पाए जाने वाले पांच अनुत्तर गुणरत्नों का उल्लेख किया है। अनुत्तर का अर्थ होता है—सर्वोत्तम—परमप्रधान अर्थात् जिससे बढ कर कोई अन्य ज्ञान न हो वह अनुत्तर ज्ञान है। जिससे बढ़ कर कोई अन्य दर्शन न हो वह अनुत्तर दर्शन है। इन दो गुणों को दूसरे शब्दो मे केवलज्ञान और केवलदर्शन भी कहते हैं। आवरण रूप सर्वघाती कर्मो का सर्वथा क्षय होने से उक्त गुणरत्न आत्मा में जागृत होते हैं जो कि सदा सर्वदा उस में रहने वाले हैं। मोहनीयकर्म के सर्वथा क्षय होने से आत्मा में अनुत्तर-चारित्र और अनुत्तर-तप रूप ये दो गुण उत्पन्न होते है। वस्तुत: देखा जाए तो पूर्ण संवर ही अनुत्तर-चारित्र है। वह चौदहवे गुणस्थान के अन्तर्गत शैलेशी अवस्था में होता है, क्योंकि परमशुक्ल ध्यान ही पूर्ण संवर है और तप के बारह भेदों में शुक्लध्यान भी एक तप है। उसके चौथे चरण में पहुंचने पर ही वह अनुत्तर-तप कहलाता है।[१]

जो कर्म आत्मा की अनन्त शक्ति को प्रकट नहीं होने देता उसे वीर्यान्तराय कहते है। उसके सर्वथा क्षय होने से अनुत्तरवीर्य उत्पन्न होता है। इन पाच गुण-रत्नों में अन्य गुणों का भी समावेश हो जाता है। इससे यह स्वत: सिद्ध हो जाता है कि कर्म-क्षय से उक्त गुण प्रकट होते हैं, अत: कर्मक्षय करने के लिए साधक को सर्वदा यत्नशील रहना चाहिए।

अरिहन्तों के कल्याणक-नक्षत्र

मूल—पउमप्पहे णं अरहा पंचचित्ते हुत्था, तं जहा—चित्ताहिं चुए, चइत्ता गब्भंवक्कंते, चित्ताहिं जाए, चित्ताहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, चित्ताहिं अणंते अणुत्तरे णिव्वाघाए, णिरावरणे, कसिणे, पडिपुण्णे, केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने, चिताहिं परिणिव्वुए।

पुप्फदंते णं अरहा पंच मूले हुत्था, तं जहा—मूलेणं चुए, चइत्ता गब्भंवक्कंते। एवं चेव एवमेएणं अभिलावेणं इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ—

पउमप्पभस्स चित्ता मूले पुण होइ पुप्फदंतस्स।
पुव्वाइं आसाढा सीयलस्सुत्तर विमलभद्दवया ॥ १ ॥
रेवइया अणंतजिणो, पूसो धम्मस्स संतिणो भरणी।
कुंथुस्स कत्तियाओ, अरस्स तह रेवईओ य ॥ २॥

---

१ इस विषय की स्पष्टता के लिए देखिये भगवती सूत्र शतक ५वा, उद्देशक ७वा।

मुणिसुव्वयस्स सवणो, असिणि णमिणो य नेमिणो चित्ता।
पासस्स विसाहाओ, पंच य हत्थुत्तरो वीरो ॥३॥

समणे भगवं महावीरे पंचहत्थुत्तरे होत्था, तं जहा—हत्थुत्तराहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते, हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, हत्थुत्तराहिं जाए, हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए, हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पण्णे॥ २५॥

छाया—पद्मप्रभोऽर्हन् पञ्चचित्रोऽभूत्, तद्यथा—चित्राभिश्च्युतः, च्युत्वा गर्भं व्युत्क्रान्तः, चित्राभिर्जातः, चित्राभिर्मुण्डोभूत्वाऽऽगाराद् अनगारितां प्रव्रजितः, चित्राभिरनन्तमनुत्तरं निर्व्याघातं, निरावरणं, कृत्स्नं, प्रतिपूर्णं केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पन्नं, चित्राभिः परिनिर्वृतः।

पुष्पदन्तोऽर्हन् पञ्चमूलोऽभूत्, तद्यथा—मूलेन च्युतः, च्युत्वा गर्भं व्युत्क्रान्तः, एवं चैव। एवमेतेन अभिलापेन इमा गाथा अनुगन्तव्याः—

पद्मप्रभस्यचित्रा, मूलं पुनर्भवति पुष्पदन्तस्य।
पूर्वाषाढा शीतलस्य, उत्तरा विमलस्य भाद्रपदा ॥ १ ॥
रेवतिकोऽनन्तजिनः, पुष्यं धर्मस्य शान्तेर्भरणिः।
कुन्थोः कृत्तिका, अरस्य तथा रेवती च ॥ २ ॥
मुनिसुव्रतस्य श्रवणम्, अश्विनी नमेश्च नेमेश्चित्रा।
पार्श्वस्य विशाखा, पञ्च च हस्तोत्तरो वीरः ॥ ३ ॥

श्रमणो भगवान् महावीरः पञ्चहस्तोत्तरोऽभूत्—हस्तोत्तराभिश्च्युतः, च्युत्वा गर्भं व्युत्क्रान्तः, हस्तोत्तराभिर्गर्भाद् गर्भं संहृतः, हस्तोत्तराभिर्जातः, हस्तोत्तराभिर्मुण्डो भूत्वा यावत् प्रव्रजितः, हस्तोत्तराभिरनन्तमनुत्तरं यावत् केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पन्नम्।

शब्दार्थ—पउमप्पहे णं—पद्मप्रभ, **अरहा**—अर्हन्त, **पंचचित्ते**—पाच चित्रा नक्षत्र वाले, **हुत्था**—थे, **तं जहा**—जैसे, **चित्ताहिं चुए**—चित्रा में च्युत होकर, **गब्भं**—गर्भ मे, **वक्कंते**—प्रविष्ट हुए, **चित्ताहि जाए**—चित्रा मे जन्म लिया, **चित्ताहि मुडे भवित्ता**—चित्रा में मुण्डित होकर, **अगाराओ**—गृहस्थवास से, **अणगारियं**—अनगार भाव को, **पव्वइए**—धारण किया, **चित्ताहिं**—चित्रा में ही, **अणंते**—अनन्त, **अणुत्तरे**—अनुत्तर, **णिव्वाघाए**—निर्व्याघात, **णिरावरणे**—आवरण-रहित, **कसिणे**—कृत्स्न, **पडिपुण्णे**—प्रतिपूर्ण, **केवलवरनाण-दंसणे**—श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन, **समुप्पन्ने**—उत्पन्न हुए, **चिताहिं**—चित्रा में, **परिणिव्वुए**—निर्वाण को प्राप्त हुए।

पुप्फदंते णं अरहा—पुष्पदन्त अर्हन् के, **पंच मूले हुत्था**—पाच कल्याणक मूल नक्षत्र वाले थे, **मूलेणं**—मूल मे, **चुए**—च्युत हुए, **चइत्ता**—च्युत होकर, **गब्भंवक्कंते**—

गर्भ में अवतीर्ण हुए, **एवं चेव**— इसी तरह अन्य भी समझना, **एवमेएणं अभिलावेणं**— इसी तरह इसी अभिलाप से, **इमाओ**— ये, **गाहाओ**— गाथाएं, **अणुगंतव्वाओ**— जान लेनी चाहिएं।

पउमप्पभस्स— पद्मप्रभ का, **चित्ता**— चित्रा है, **पुप्फदंतस्स**— पुष्पदंत, **पुण**— फिर, **मूलं होइ**— मूल है, **सीयलस्स**— शीतल का, **पुव्वाइं आसाढा**— पूर्वाषाढा है, **विमलस्स**— विमल का, **उत्तरभद्दवया**— उत्तराभाद्रपदा है, **अणंतजिणो**— अनन्तनाथ जिन, **रेवइया**— रेवती नक्षत्र में पाच कल्याणक वाले है, **धम्मस्स**— धर्म का, **पूसो**— पुष्य है, **संतिणो**— शान्ति का, **भरणी**— भरणि है, **कुंथुस्स**— कुथु का, **कत्तियाओ**— कृत्तिका है, **तह**— तथा, **अरस्स**— अरनाथ का, **रेवईओ**— रेवती है, **मुणिसुव्वयस्स**— मुनि सुव्रत का, **सवणो**— श्रवण है, **णमिणो**— नमि का, **असिणि**— अश्विनी है, **नेमिणो**— नेमि का, **चित्ता**— चित्रा है, **पासस्स**— पार्श्व का, **विसाहाओ**— विशाखा है, **वीरो**— वीर के, **पंचहत्थुत्तरो**— पांचो कल्याणक हस्तोत्तरा नक्षत्र वाले हैं।

समणे भगवं महावीरे— श्रमण भगवान महावीर, **पंचहत्थुत्तरे होत्था**— पांच हस्तोत्तरा नक्षत्र वाले थे, **हत्थुत्तराहिं चुए**— हस्तोत्तरा में च्युत हुए, **चइत्ता**— च्युत होकर, **गब्भं**— गर्भ में, **वक्कंते**— अवतरित हुए, **हत्थुत्तराहिं**— हस्तोत्तरा मे, **गब्भाओ गब्भं**— देवानन्दा के गर्भ से त्रिशला के गर्भ में, **साहरिए**— हरण किए गए, **हत्थुत्तराहिं जाए**— हस्तोत्तरा मे उत्पन्न हुए, **हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता**— हस्तोत्तरा में मुण्डित होकर, **जाव**— यावत्, **पव्वइए**— प्रव्रजित हुए, **हत्थुत्तराहिं**— हस्तोत्तरा में, **अणंते**— अनन्त, **अणुत्तरे**— अनुत्तर, **जाव**— यावत्, **केवलवरनाण दंसणे**— श्रेष्ठ केवलज्ञान एवं दर्शन, **समुप्पण्णे**— उत्पन्न हुए।

मूलार्थ— पद्मप्रभ अरिहन्त के पांचो कल्याणक चित्रा नक्षत्र मे हुए, जैसे— १. चित्रा नक्षत्र में स्वर्गलोक से च्युत हुए और च्युत होकर गर्भ में अवतरित हुए। २. चित्रा मे जन्म ग्रहण किया। ३. चित्रा में दीक्षित हो कर आगारवास से अनगार-भाव को प्राप्त हुए। ४. चित्रा में अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया। ५. चित्रा में ही उनका निर्वाण हुआ।

अरिहन्त पुष्पदन्त के पांच कल्याणक मूला नक्षत्र में हुए, जैसे— १. मूला नक्षत्र में ही स्वर्ग से च्युत हुए और च्युत होकर गर्भ में अवतरित हुए। इसी प्रकार शेष कथन भी समझ लेना चाहिए। इसी अभिलाप से ये गाथाएं ज्ञातव्य हैं—

भगवान् पद्मप्रभ के पांच कल्याणक चित्रा मे, पुष्पदन्त के मूल में शीतलनाथ के पूर्वाषाढा में, विमल के उत्तराभाद्रपदा में।

भगवान् अनन्त नाथ के रेवती में, धर्मनाथ के पुष्य मे, शान्तिनाथ के भरणी

मे, कुन्थुनाथ के कृत्तिका में तथा अरनाथ के रेवती में।

भगवान् मुनि सुव्रत के श्रवण मे, नमि के अश्विनी में, नेमि के चित्रा मे, पार्श्वनाथ के विशाखा में और भगवान् महावीर के पाच कल्याणक हस्तोत्तरा में हुए थे।

श्रमण भगवान् महावीर के च्यवन आदि पाचों कल्याणक हस्तोत्तरा अर्थात् उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए थे, जैसे कि—हस्तोत्तरा में स्वर्गलोक से च्युत हुए और च्युत होकर गर्भ मे अवतरित हुए, हस्तोत्तरा में एक गर्भ से दूसरे गर्भ में संहृत हुए, हस्तोत्तरा मे जन्म ग्रहण किया, हस्तोत्तरा में मुण्डित होकर यावत् प्रव्रजित हुए, हस्तोत्तरा में अनन्त, अनुत्तर यावत् केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुए।

विवेचनिका— पूर्व सूत्र के अन्तिम सूत्राश में केवली भगवान के पाच अनुत्तर गुणों का अर्थात् उनकी दिव्य आध्यात्मिक सम्पत्तियो का वर्णन किया गया है, अनुत्तर गुण सभी कल्याणकारी है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने जिस नक्षत्र में जिन-जिन के पांच कल्याणक हुए हैं उन तीर्थकरों के पवित्र नाम और नक्षत्रो का निर्देश किया है। सभी कल्याणक पूर्व जन्मोपार्जित पुण्यानुबधी पुण्य से प्राप्त होते है। उनकी सूचना उनके जन्मकाल से ही प्राप्त हो गई थी, वह जन्मकाल कौन-सा था ? अब सूत्रकार इसी जिज्ञासा के समाधान के रूप मे अरिहन्तो के पच कल्याणको का वर्णन करते हैं।

यद्यपि प्रस्तुत विषय ज्योतिष से सम्बन्धित है, परन्तु ज्योतिष हमारे जीवन-विज्ञान से भिन्न नही है, ज्योतिष वह प्रकाश है जो प्राणीमात्र के जीवन की गति-विधियो का जन्मकालीन नक्षत्रो के आधार पर विश्लेषण करता है।

वर्तमान जगत में कुछ ऐसे भी विचारक है जो ज्योतिर्विज्ञान का सबसे बडा उपहास उडाया करते थे, परन्तु उन्ही व्यक्तियो ने जब बहुत से डाक्टरों, सेनापतियो और कवियो की जन्म-कुण्डलियो का मिलान किया तो वे अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गए कि सभी लडाकू सेनापतियों की कुण्डलियो मे मगलग्रह की स्थिति प्राय: समान नक्षत्र एव समान राशि पर थी। इसी प्रकार कवियों की कुण्डलियो में शुक्र की स्थिति समान नक्षत्रों एव समान राशि पर देखी गई।

यह निश्चित है कि ग्रहो एवं नक्षत्रो का जीवन से पारस्परिक सम्बन्ध है, क्योकि जन्म लेने वाला प्राणी नक्षत्रो से प्रभावित होता है और जन्म लेने वाले प्राणी से ग्रह-नक्षत्र प्रभावित होते है, क्योंकि प्रभाव एक तरफा नही होता। यदि महावीर किसी विशेष नक्षत्र में जन्म लेने पर उससे प्रभावित होते है तो वह नक्षत्र भी महावीर से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। महावीर के कारण सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों के कारण धरती पर उठने वाले तूफान शान्त हो जाते हैं, शान्ति की धारा बह निकलती है, लोगो की चेतना पर शान्ति का प्रकाश

छाने लगता है। यही कारण है कि भगवान शान्तिनाथ के जन्म लेते ही महाकाल सा मुंह फैलाकर बढ़ती हुई महामारी को शान्त हो जाना पडा। भगवान् महावीर के जन्म लेते ही वैशाली में वैभव के प्रवाह फूट पड़े।

जन्मकालीन नक्षत्र हमें जन्म-लेने वाले के अतीत का पूर्ण परिचय देते है, अत: जैन ज्योतिर्विदों ने प्रत्येक दिव्यात्मा का अन्य लोको से कब प्रयाण हुआ? उन्होंने कब किसी पुण्यशीला माता के गर्भ में प्रवेश किया, यह भी जान लेते हैं और साथ ही जन्म-नक्षत्र से यह भी जान लेते हैं कि भविष्य मे इस प्राणी ने कैसा, क्या करना है? क्योकि ज्योतिष केवल ग्रह-नक्षत्रो का अध्ययन ही नही करता, अपितु उनके माध्यम से जीवन के भविष्य को टटोलने के लिए भी महाप्रयास करता है।

कल्याणकारी महापुरुषो का जीवन ससार के लिए कल्याणकारी होता है, अत: उनका देवलोको से प्रयाण (च्यवन), मातृ-गर्भ मे प्रवेश, पृथ्वी पर आगमन, दीक्षा एवं निर्वाण सभी कल्याणक कहलाते हैं। जैन शास्त्रों ने ज्योतिष की इस अद्भुत घटना पर प्रकाश डाला है कि तीर्थकर के रूप में धरती पर आकर धरती को पावन करने वाले अध्यात्म शक्तियो से सम्पन्न महापुरुषों के सभी कल्याणक एक परम्परा मे बधे हुए समान नक्षत्रों में हुआ करते है। एक-आध मे कभी-कभी भिन्नता भी होती है, जैसे भगवान महावीर का पाचवां निर्वाण कल्याणक स्वाती नक्षत्र मे हुआ।

यह एक ऐसी ही घटना है जैसे जब जुडवा बच्चे पैदा होते हैं तो उन दोनों को चाहे भिन्न-भिन्न देशो मे पहुचा दिया जाए फिर भी जब एक को जुकाम होता है तो दूसरी ओर दूसरे बच्चे को भी अवश्य जुकाम हो जाता है, प्राय: ऐसे बच्चों की मृत्यु मे तीन दिन, तीन मास या तीन वर्ष का ही अन्तर होता है। दोनो बच्चो की एक जैसी स्थिति एव जीवन-यात्रा की नियम-बद्धता जन्म-नक्षत्र के प्रभाव की ही सूचक है। ठीक इसी प्रकार तीर्थकरों के पांचो कल्याणको की प्राय: समान नक्षत्र मे अवस्थिति उनकी दिव्यता की परिचायिका है।

कल्याणक पांच होते है—पहला कल्याणक वह है जब कोई महर्द्धिक देव का जीव उस देव आयु की पूर्णता पर किसी क्षत्रिय महारानी के गर्भ मे तीर्थकर बनने के लिए अवतरित होता है। यह कल्याणक चौदह महास्वप्नो से सूचित होता है।

दूसरा कल्याणक वह है जब गर्भवास की अवधिपूर्ण होकर तीर्थंकर का जन्म होता है।

तीसरा कल्याणक वह है जब कि तीर्थकर निर्ग्रन्थवृत्ति को धारण करने के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करते है।

चौथा कल्याणक वह है जब कि उच्च साधना करते-करते सभी घनघाती कर्मो का सर्वथा क्षय होने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न होता है तथा तीर्थ की स्थापना करते हैं।

पांचवां कल्याणक वह है जब तीर्थंकर भगवान् शेष चार अघाति कर्मों को क्षय करके सिद्धपद को प्राप्त करते हैं। सिद्धपद प्राप्त करते ही आत्मा के सभी गुणो की पूर्णता हो जाती है।

छठे तीर्थंकर भगवान् श्री पद्मप्रभ के पांच कल्याणक चित्रा नक्षत्र में हुए हैं।

नौवें तीर्थकर श्री पुष्पदन्त (अपर नाम सुविधिनाथ) के पांच कल्याणक मूल नक्षत्र में हुए हैं।

दसवें तीर्थंकर श्री शीतल भगवान् के पाचों कल्याणक पूर्वाषाढा नक्षत्र में हुए हैं।

तेरहवे तीर्थंकर श्री विमल भगवान् के पांचों कल्याणक उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मे हुए हैं।

चौदहवे तीर्थंकर श्री अनन्त भगवान् के पाचो कल्याणक रेवती नक्षत्र मे हुए हैं।

पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मजिनेश्वर के पाचों कल्याणक पुष्य नक्षत्र में हुए है।

सोलहवें तीर्थकर श्री शान्ति जिनेन्द्र के पांचों कल्याणक भरणी नक्षत्र में हुए है।

सत्रहवे तीर्थकर श्री कुंथु भगवान् के पाचों कल्याणक कृत्तिका नक्षत्र में सम्पन्न हुए है।

अठारहवें तीर्थकर श्री अर भगवान् के पाचो कल्याणक रेवती नक्षत्र में सपन्न हुए है।

बीसवें तीर्थकर भगवान् मुनिसुव्रत के पाचों कल्याणक श्रवण नक्षत्र में संपन्न हुए हैं।

इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान् नमिनाथ के पाचों कल्याणक अश्विनी नक्षत्र मे हुए है।

बाईसवे तीर्थकर श्री अरिष्टनेमि के पाचो कल्याणक चित्रा नक्षत्र में हुए है।

तेईसवे तीर्थकर श्री पार्श्व भगवान् के पाचों कल्याणक विशाखा नक्षत्र में हुए है।

चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर का दसवे देवलोक से जब च्यवन हुआ तब उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था, गर्भसाहरण, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान भी उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही हुए, किन्तु निर्वाणकल्याणक स्वाती नक्षत्र मे हुआ।

गर्भ से गर्भ मे साहरण रूप आश्चर्यकारिणी क्रिया को कुछ विज्ञ धर्माचार्य कल्याणक नही मानते और कुछ मानते हैं, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो इस आश्चर्यरूप क्रिया को कल्याणकरूप नहीं दिया जा सकता। यदि यह कहा जाए कि अगर यह घटना कल्याणक नही है तो फिर सूत्रकार ने उसे कल्याणको मे ग्रहण क्यो किया ? उत्तर सामान्य-सा है कि पचम स्थान के अनुरोध से सूत्रकार ने पांच बोलो का सग्रह एक नक्षत्र में कर दिया है।

प्रत्येक तीर्थकर के जो कल्याणक कहे गए है वे जनता में विशेष धर्म-प्रचार के तथा आत्म-विकास के लिए मार्ग दर्शनार्थ है। यद्यपि वृत्तिकार ने तिथि और मास के विषय मे मतान्तर भेद दिखलाए हैं, किन्तु जो सर्वमान्य मास व तिथियां है उन्ही को मान कर धर्म-प्रचार करना चाहिए।

सूत्रकर्त्ता ने **'समणे भगव महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था'** यह सूत्र दिया है। इसका

भाव यह है कि जिस नक्षत्र के आगे हस्त नक्षत्र हो उसे हस्तोत्तरा कहते हैं, वह नक्षत्र उत्तराफाल्गुनी है। वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं "**समणेत्यादि, हस्तोपलक्षिता उत्तरा हस्तो वोत्तरो यासां ताः हस्तोत्तराः—उत्तराफाल्गुन्यः पंचसु च्यवनगर्भहरणादिषु हस्तोत्तरा यस्याः सा तया**" हस्तोत्तरा नक्षत्र से उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का बोध होता है।

कल्याणको के पांच अंक देने से तीर्थंकरो का जीवन-चरित्र संक्षेप मे प्रदर्शित किया गया है। जैसे कि देवलोक से च्यवन कर गर्भ में आना, इससे देवलोक की चर्या का दिग्दर्शन कराया गया है। जन्म से गर्भ-रक्षा और कुमारभाव प्रदर्शित किया गया है। दीक्षा-ग्रहण करने से साधु-जीवन का महत्वपूर्ण परिचय मिलता है। केवलज्ञान से केवली के जीवन का परिचय दिया गया है। निर्वाणपद से जीव की शुद्ध दशा का वर्णन किया गया है। इन कल्याणकों का पूर्ण विवरण और तीर्थंकरो के जीवन-चरित "त्रिषष्टि शलाका-पुरुष" आदि चरित्र ग्रंथों में पढ़ना चाहिए।

कल्याणक तिथियों में और नक्षत्र मे की हुई साधनाएं महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस उद्देशक का प्रारम्भ पांच महाव्रतो से हुआ था और समाप्ति पच कल्याणक नक्षत्रों के वर्णन से हुई है। इससे सिद्ध होता है कि सयम और तप की सम्यक्तया आराधंना करने से जीव तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है।

॥ पंचम स्थान का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥
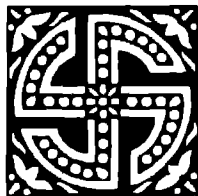
निर्णीत तिथि आदि का क्रमिक विवरण इस प्रकार है–

तीर्थंकर	च्यवन	जन्म	दीक्षा	केवलज्ञान	मोक्ष
१ ऋषभदेव	आषाढ वदि ४	चैत्र वदि ८	चैत्र वदि ८	फा वदि ११	माघ वदि १३
२ अजितनाथ	वै शुदि १३	माघ शुदि ८	माघ शुदि ९	पौष शुदि ११	चैत्र शुदि ५
३ संभवनाथ	फा शुदि ८	मार्ग शुदि १४	मार्ग शुदि १५	का वदि ५	चैत्र शुदि ५
४. अभिनदन	वै शुदि ४	माघ शुदि २	माघ शुदि १२	पौ शुदि १४	वै शुदि ८
५ सुमतिनाथ	श्रा शुदि २	वै शुदि ८	वै शुदि ९	चैत्र शुदि ११	चैत्र शुदि ९
६ पद्मप्रभ	माघ वदि ६	का वदि १२	का वदि १३	चैत्र शुदि १५	मार्ग वदि ११
७ सुपार्श्वनाथ	भा वदि ८	ज्येष्ठ शुदि १२	ज्येष्ठ शुदि १३	फा वदि ६	फा वदि ७
८ चन्द्रप्रभ	चैत्र वदि ५	पौ वदि १२	पौष वदि १३	फा वदि ७	आ वदि ७
९ सुविधिनाथ	फा वदि ९	मार्ग वदि ५	मार्ग वदि ६	का शुदि ३	भा शुदि ९
१०. शीतलनाथ	वै वदि ६	माघ वदि १२	माघ वदि १२	पौष वदि १४	वै वदि २
११ श्रेयासनाथ	ज्येष्ठ वदि ६	फा वदि १२	फा. वदि १३	मार्ग वदि ३०	श्रा वदि ३
१२ वासुपूज्य	ज्येष्ठ शुदि ९	फा वदि १४	फा वदि ३०	माघ शुदि २	आषा शुदि १४
१३ विमलनाथ	वै शुदि १२	माघ शुदि ३	माघ शुदि ४	पौष शुदि ६	आषा वदि ७
१४ अनन्तनाथ	श्रा वदि ७	वै वदि १३	वै वदि १४	वै वदि १४	चैत्र शुदि ५
१५ धर्मनाथ	वै शुदि ७	माघ शुदि ३	माघ शुदि १३	पौष शुदि १५	ज्येष्ठ शुदि ५
१६ शांतिनाथ	भा वदि ७	ज्येष्ठ वदि १३	ज्येष्ठ वदि १४	पौष शुदि ९	ज्येष्ठ वदि १३
१७ कुन्थुनाथ	श्रा वदि ९	वै वदि १४	वै वदि ५	चैत्र शुदि ३	वै वदि ९
१८ अरनाथ	फा शुदि २	मार्ग शुदि १०	मार्ग शुदि ११	का शुदि १२	मार्ग शुदि १०
१९ मल्लिनाथ	फा शुदि ४	मार्ग शुदि ११	मार्ग शुदि ११	मार्ग शुदि ११	फा शुदि १२
२० मुनि सुव्रत	श्रा शुदि १५	ज्येष्ठ वदि ८	फा शुदि १२	फा वदि १२	ज्येष्ठ वदि ९
२१ नमिनाथ	आ शुदि १५	श्रा वदि ८	आषा वदि ९	मार्ग शुदि ११	वै वदि १०
२२ नेमिनाथ	का वदि १२	श्रा शुदि ५	श्रा शुदि ६	आ वदि ३०	आषा शुदि ८
२३ पार्श्वनाथ	चैत्र वदि ४	पौष वदि १०	पौष वदि ११	चैत्र वदि ४	श्रा शुदि ८
२४ महावीर स्वामी	आषा शुदि ६	चैत्र शुदि १३	मार्ग वदि १०	वै शुदि १०	का वदि ३०

ये समस्त तिथिया तीर्थकरों के तप:शील पुण्य-जीवन एव महासाधना से प्रभावित है, अत: इन तिथियों मे धर्माराधना का विशेष प्रभावशील होना स्वाभाविक है

पंचम स्थान

द्वितीय उद्देशक

[इस उद्देशक में भिक्षु के लिए नदी सन्तरण और वर्षावास मे विहार के विधि-निषेध, पाच अनुद्घातिक प्रायश्चित्त, साधु के लिए अन्त:पुर मे प्रवेश के विहित कारण, गर्भधारण करने और न करने के कारण, साधु-साध्वियो की एकत्र स्थिति के अपवाद, अचेलक साधु का सवस्त्र-साध्वियो के साथ निवास के अपवाद, आस्रव-द्वार, सवर-द्वार, दण्ड, क्रिया, परिज्ञा, व्यवहार, संयमी एवं असंयमी के जागृत एव प्रसुप्त, कर्मबन्ध के कारण, कर्म-क्षय के कारण, भिक्षु-प्रतिमाधारी के लिए दत्तिया, उपघात, दुर्लभबोधि और सुलभबोधि के कारण, प्रतिसलीन, अप्रतिसंलीन, संयम, तृण-वनस्पति-कायिक, आचार-प्रकल्प, वक्षस्कार पर्वत, श्री ऋषभदेव एव भरत चक्रवर्ती की ऊचाई, जागृति के कारण, साधु द्वारा साध्वी-सहायता के अपवाद, आचार्य एवं उपाध्याय के अतिशय, आचार्य एव उपाध्याय के गण-व्यवच्छेद के कारण और ऋद्धिमान पुरुष आदि की पचविधता का वर्णन किया गया है।]

संयमी के पांच नदियों के सन्तरणार्थ विधि-निषेध

मूल—नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा इमाओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वियंजियाओ पंच महण्णवाओ महाणईओ अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा, तिक्खुत्तो वा, उत्तरित्तए वा, संतरित्तए वा, तं जहा—गंगा, जउणा, सरऊ, एरावई, मही।

पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ, तं जहा—भयंसि वा, दुब्भिक्खंसि वा, पव्वहेज्ज व णं कोई, दओघंसि वा एज्जमाणंसि महया वा, अणारिएसु ॥ २६ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा, निर्ग्रन्थीनां वा, इमा उद्दिष्टाः गणिता व्यञ्जिताः पञ्च महार्णवा महानदीः अन्तरमासस्य द्विकृत्वो वा, त्रिकृत्वो वा, उत्तरीतुं वा, संतरीतुं वा, तद्यथा—गङ्गा, यमुना, सरयूः, एरावती, मही।

पञ्चभिः स्थानैः कल्पते, तद्यथा—भये वा, दुर्भिक्षे वा, प्रव्यथते वा खलु कश्चित्, दकौघे वा आगच्छति महता वा, अनार्येषु।

शब्दार्थ—नो कप्पइ—नही कल्पता है, **णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा**—निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को, **इमाओ**—इन, **उद्दिट्ठाओ**—सामान्य रूप से कथित, **गणियाओ**—गिनी हुई, **वियंजियाओ**—प्रसिद्ध, **महण्णवाओ**—समुद्र के समान महान् जल वाली, **पंच महाणईओ**—पांच महानदियों को, **अंतोमासस्स**—एक माह के अन्दर, **दुक्खुत्तो वा**—दो बार, **तिक्खुत्तो वा**—तीन बार, **उत्तरित्तए वा**—बाहु अथवा जंघा से तैरना, **संतरित्तए वा**— नौका आदि से पार करना, **तं जहा**—जैसे कि, **गंगा**—गंगा, **जउणा**—यमुना, **सरऊ**—सरयू, **एरावई**—एरावती, **मही**—मही।

पंचहिं ठाणेहि—पांच कारणो से उक्त महानदियो को पार करना, **कप्पइ**—कल्पता है, **तं जहा**—जैसे कि, **भयंसि वा**—भय होने पर, **दुब्भिक्खंसि वा**—दुर्भिक्ष होने पर, **कोई**—कोई, **पव्वहेज्जव णं**—दु:ख पहुंचाये तो, **दओघंसि वा एज्जमाणंसि महयावा**—महा जलप्रवाह के आने पर, **अणारिएसु**—अनार्य—म्लेच्छों का आक्रमण होने पर।

मूलार्थ—भिक्षु और भिक्षुणियों को अग्र-लिखित गिनी हुई, सुप्रसिद्ध, समुद्र के तुल्य महान् जल वाली पांच महानदियों को एक मास के अन्दर दो बार अथवा तीन बार भुजाओं से तैरकर अथवा नौका आदि से पार करना विहित नहीं है, जैसे—गंगा, यमुना, सरयू, एरावती और मही।

पांच कारणो से उक्त महानदियों को तैरना या पार करना विहित है, जैसे—राजा आदि का भय होने पर, दुर्भिक्ष में भिक्षा का अभाव होने पर, किसी दुर्जन के द्वारा पीड़ा पहुचाने पर, बडे वेग से जल-प्रवाह अर्थात् बाढ़ आने पर, म्लेच्छो का आक्रमण होने पर।

विवेचनिका—पूर्व उद्देशक मे पच महाव्रतो के पालन रूप साधु-जीवन की साधना के वर्णन से आरम्भ करके साधना के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले मोक्ष तक का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार साधु-जीवन की कुछ विशेष मर्यादाओ पर प्रकाश डालते हैं।

साधु भी आखिरकार मनुष्य ही है और साथ ही चातुर्मास के अतिरिक्त अन्य आठ मासो मे विशेष परिस्थितियो को छोड कर उसके लिए विचरण करते रहने का विधान है। विचरण-मार्ग मे उन नदियों का आना स्वाभाविक ही है जिन्हें पार कर वह अन्यत्र विचरण कर सकता है। नदी-जल सचित्त है, अहिंसाव्रती साधु सचित्त जल-पूर्ण उन नदियों को पार करे या नहीं ? पार करे तो किन परिस्थितियो मे ? न करे तो किन परिस्थितियों में ? इन प्रश्नों का विधि-निषेधात्मक उत्तर प्रस्तुत सूत्र मे दिया गया है।

जीवन के सामान्य विहित मार्ग को उत्सर्ग कहा जाता है और विशेष परिस्थितियो मे

विवशता से ही जो कार्य करने पड़े उन्हें अपवाद कहा जाता है। जैन साधु के लिए विहित उत्सर्गमार्ग तो यही है कि वह नदियों को पार न करे, परन्तु विशेष परिस्थितियों में वह नदियों को तैर कर या नौका आदि द्वारा पार करके भी अपने महाव्रत की सुरक्षा कर सकता है। जैसे—राजा आदि का भय होने पर, दुर्भिक्ष में भिक्षा का अभाव होने पर, किसी दुर्जन के द्वारा पीडा पहुंचाने पर, बड़े वेग से जल-प्रवाह अर्थात् बाढ आने पर, म्लेच्छो का आक्रमण होने पर।

स्वच्छन्दता एकान्त रूप से संयम की घातिका एवं विनाशिका है। आत्मनिरपेक्ष संयम की आराधना उत्सर्गमार्ग है और आत्म-सापेक्ष सयम की रक्षा अपवाद मार्ग है।

आगमों में जहां कहीं किसी बात का निषेध किया गया है, उसे न करना उत्सर्ग मार्ग है। विशेष कारण होने पर जहां कहीं उसे करने के लिए विधान किया गया हो, वह पाठ अपवादमार्ग को सिद्ध करता है। प्रस्तुत सूत्र के पहले भाग में उत्सर्ग मार्ग का और दूसरे भाग मे अपवाद-मार्ग का उल्लेख किया गया है। जैसे कि उत्सर्ग-मार्ग कहता है कि साधु और साध्वियों को गंगा, यमुना, सरयू, एरावती और मही इन पांच महानदियो को एक मास मे दो बार, तीन बार पानी मे उतर कर अथवा नौका आदि से तैरना नही चाहिए। अतिजला होने के कारण इन पांच नदियो को महार्णव कहा गया है। पांच नदियो के नाम ग्रहण करने से इस प्रकार की अन्य नदियो का भी उपलक्षण से ग्रहण कर लेना चाहिए।[१]

सूत्रकर्त्ता ने **इमाओ, उद्दिट्ठाओ** ये दो पद दिए है इनका भाव है कि ये प्रत्यक्षवर्ती महानदिया, **गणियाओ**—जो कि सख्या मे पाच हैं, **वियंजियाओ**—जिनके गगा आदि के नाम से उल्लेख किए गए है अर्थात् नाम व्यंजित किए गए है।

यहा ऐतिहासिक दृष्टि से एक बात उल्लेखनीय है कि सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे जिन पांच नदियो के नाम गिनाए है उनमे माही नदी विहार मे है, गंगा, यमुना और सरयू ये तीन नदियां उत्तर प्रदेश मे है और एरावती यह नाम पंजाब की प्रसिद्ध नदी रावी का है जो लाहौर के पास बहती है। इन पाच नदियों का उल्लेख करके शास्त्रकार ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि उस समय जैन साधुओं की विहरण-भूमि विहार से लेकर पश्चिमी पजाब तक थी और इस प्रकार सारा उत्तरी भारत जैन संस्कृति का प्रचार केन्द्र था।

इस विशाल प्रदेश की समुद्र-सी विशाल नदियों को तैर कर पार करना प्रत्येक व्यक्ति द्वारा साध्य नही है, अत: ये नदिया प्राय: नौकाओ द्वारा ही पार की जाती थी। तैरकर अथवा अल्पजला नदियों को नाभि तक आने वाले जल मे घुसकर चलते हुए पार करने के विहित मार्ग का सकेत करके यह विधान नदी मात्र के लिए उपस्थित कर दिया गया है।

---

१ इमाउत्ति सुत्तउत्ता उद्दिट्ठ; नईओ गणिय पचेव।
गंगादि वंजियाओ बहूदय महण्णवाओ य।।
''पंचण्ह गहणेणं सेसा वि उ सुइया महासलिला''
इस गाथा का भाव ऊपर लिखा जा चुका है। (बृहत्कल्प भाष्य)

सूत्र के उत्तर भाग में नदियों को कितनी बार और किन कारणों से पार किया जाए इसका निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि एक मास मे दो या तीन बार नदी-संतरण नहीं करना चाहिए और यदि पार करना पड़े, तो वह भी निम्नलिखित पांच कारणों से ही:—

पहला कारण—किसी अन्यायी राजा का भय होने पर एवं इसी प्रकार की अन्य राजनैतिक परिस्थितियों के बिगड जाने पर साधु-साध्वी नदी पार करके अन्यत्र जा सकते हैं।

दूसरा कारण—जिस प्रदेश मे साधु या साध्वी विराजित हों, यदि वहां दुर्भिक्ष पड रहा हो, अत: भिक्षा न मिलती हो और नदी से पार भिक्षा मिलनी सुलभ हो, ऐसी अवस्था में साधु-साध्वी नदी पार कर सकते हैं।

तीसरा कारण—यदि कोई विरोधी द्वेष के वशीभूत होकर व्यथा पहुचाता हो या साधु-साध्वी को पानी में प्रवाहित करने के लिए उद्यत हो जाए तो ऐसी भयंकर परिस्थिति में नदियों को पार करना विहित है।[१]

चौथा कारण—सर्वविरति महात्मा जिस प्रदेश में विराजमान हैं, यदि उस क्षेत्र मे पानी की बाढ आ जाए तो उस विपत्ति की दशा में अपनी और संयम की रक्षा के निमित्त नदी पार करना कल्पता है।

पांचवां कारण—यदि कोई अनार्य/म्लेच्छ साधु-साध्वी के जीवन को या सयम को लूटने के लिए अड जाए तो अपनी एवं चारित्र की रक्षा के निमित्त किसी भी महानदी को पार करना उसके लिए मर्यादानुकूल है।

यहा यह स्मरणीय है कि छोटी नदी महीने में दो बार और साल भर में नौ बार पार की जा सकती है, किन्तु दसवी बार पार करने में 'शबल दोष' लगता है, जो कि चारित्र को क्षतिग्रस्त कर देता है, किन्तु महानदी को यदि कोई एक बार पार करे तो वह क्षम्य है, बिना कारण दूसरी बार या तीसरी बार उसे पार करे तो स्वच्छन्दता के कारण साधु प्रायश्चित्त का भागी बनता है, परन्तु उपर्युक्त पांच कारणों में से किसी भी कारण से वह दो या तीन बार भी नदी को पार कर सकता है।

सूत्रकर्त्ता ने जो **अणारिएसु**—पद दिया है इसका भाव यह है कि अनार्यो द्वारा यदि चारित्र के नाश होने की आशंका हो अथवा अनार्यो द्वारा चारित्र का अपहरण किया जा रहा हो तब भी महानदियों को पार करना कल्पता है। चारित्र की रक्षा करना आवश्यक है, भले ही उसकी रक्षा के लिए दो या तीन बार महानदी पार करनी पडे। यदि सैर-सपाटे के उद्देश्य से साधु-साध्वी किसी नदी को बार-बार पार करते है तो वे अपने संयम को दूषित कर देते हैं।

---

१ ''पव्वहेज्ज व ण कोई'' इस पद को व्याख्या करते हुए वृत्तिकार लिखते है—पव्वहेज्ज त्ति—प्रव्यथते—बाधते अन्तर्भूतकारितार्थत्वाद्वा प्रवाहयेत् कश्चित् प्रत्यनीक:, तत्रैव गगादौ प्रक्षिपेदित्यर्थ ।

संयमियों के लिए वर्षावास में विहार का विधि-निषेध

मूल—णो कप्पइ णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा पढमपाउसंसि गामाणुगामं दूइज्जित्तए। पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ, तं जहा—भयंसि वा, दुब्भिक्खंसि वा जाव महया वा अणारिएहिं।

वासावासं पज्जोसवियाणं णो कप्पइ णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा, गामाणुगामं दूइज्जित्तए। पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ, तं जहा—णाणट्ठयाए, दंसणट्ठयाए, चरित्तट्ठयाए, आयरियउवज्झाया वा से विसुंभेज्जा, आयरियउवज्झायाणं वा बहिया वेआवच्चं करणयाए॥२७॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रथमप्रावृषि ग्रामानुग्रामं गन्तुं। पञ्चभिः स्थानैः कल्पते, तद्यथा—भये वा, दुर्भिक्षे वा, यावत् महता वा अनार्यैः।

वर्षावासं पर्युषितानां नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा, निर्ग्रन्थीनां वा ग्रामानुग्रामं गन्तुं। पंचभिः स्थानैः कल्पते, तद्यथा—ज्ञानार्थतया, दर्शनार्थतया, चारित्रार्थतया, आचार्योपाध्यायौ विश्रम्भेताम्, आचार्योपाध्यायानां बहिस्तात् वैयावृत्यं करणतया।

शब्दार्थ—णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा—निर्ग्रन्थो को और निर्ग्रन्थियों को, **पढमपाउसंसि**—प्रथम वर्षा ऋतु मे, **गामाणुगामं**—ग्रामानुग्राम, **दूइज्जित्तए**—भ्रमण करना, **णो कप्पइ**—नहीं कल्पता है, **पचहिं ठाणेहिं**—पाच कारणो से, **कप्पइ**—कल्पता है, **तं जहा**—जैसे, **भयंसि वा**—भय होने पर, **दुब्भिक्खंसि वा**—दुर्भिक्ष होने पर, **जाव**—यावत्, **महया**—महान बाढ़ आने पर, **अणारिएहिं**—अनार्यो का आक्रमण होने पर।

वासावासं—वर्षावास मे, **पज्जोसवियाणं**—निवास करने वाले, **णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा**—निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को, **गामाणुगामं**—ग्रामानुग्राम, **दूइज्जित्तए**—भ्रमण करना, **णो कप्पइ**—नही कल्पता है, **पंचहिं ठाणेहिं**—पाच कारणो से, **कप्पइ**—कल्पता है, **तं जहा**—जैसे, **णाणट्ठयाए**—ज्ञान के लिए, **दंसणट्ठयाए**—दर्शन के लिए, **चरित्तट्ठयाए**—चारित्र के लिए, **आयरियउवज्झाया वा**—आचार्य और उपाध्याय, **से**—उसे, **विसुंभेज्जा**—विश्वस्त समझते हो रहस्य मन्त्रणा के लिए, **आयरियउवज्झायाणं**—आचार्य और उपाध्यायो के रोग-ग्रस्त हो जाने पर, **बहिया**—बाहर, **वेआवच्चं**—वैयावृत्य, **करणयाए**—करने के लिए।

मूलार्थ—साधु अथवा साध्वियों को प्रथम वर्षा ऋतु मे एक गाव से दूसरे गाव में विचरना विहित नहीं है, परन्तु पांच कारणों से वे विचरण कर सकते हैं, भय होने पर, दुर्भिक्ष होने पर, यावत् बाढ़ आने पर, म्लेच्छों का आक्रमण होने पर।

वर्षावास (चौमासा) में अवस्थित साधु अथवा साध्वियों को ग्रामानुग्राम विचरना

नहीं कल्पता है। परन्तु पांच कारणों से वे विहार कर सकते हैं, जैसेख्रज्ञान के लिए, दर्शन के लिए, चारित्र के लिए, आचार्य और उपाध्याय के शरीर शान्त हो जाने पर अथवा उनका विश्वासपात्र होने के कारण किसी रहस्य मन्त्रणा के लिए बुलाने पर, आचार्य और उपाध्याय किसी स्थान पर बीमार हो तो उनकी सेवा करने के लिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे विहरणशील मुनियों के मार्गावरोध रूप नदियों के सन्तरण नियमो की विवेचना की गई है, परन्तु साधु-साध्वियां वर्षावास मे एक ही स्थान पर निवास करते हैं, उस वर्षावास मे वे एक निश्चित सीमा से बाहर नहीं जा सकते, परन्तु किसी भयंकरतम परिस्थिति में यदि उन्हे वहा से चलना आवश्यक ही हो जाए तो, उन्हे क्या करना चाहिए ? वही रहना चाहिए अथवा वे अन्यत्र गमन कर सकते है ? अब सूत्रकार इसी विषय की विवेचना करते हैं।

भगवान् महावीर के युग मे तथा वैदिक परम्परा मे भी सन्यासी के लिए चातुर्मास मे एक ही स्थान पर निवास करने का नियम था। गौतम बुद्ध के अनुयायी पहले तो चातुर्मास नहीं मनाते थे, किन्तु जैन और वैदिक परम्परा को देखते हुए उन्होंने भी चातुर्मास मनाने की यत्किंचित् रीति-नीति अपनायी, किन्तु वर्तमान मे जैन-परम्परा के साधु-साध्वी ही इस परम्परा का पालन कर रहे है, शेष परम्पराओं मे चातुर्मास निवास की पद्धति बिल्कुल बद जैसी ही हो गई है। जैन-परम्परा में जितने भी साधु और साध्विया है, वे सब वर्षावास मे किसी एक क्षेत्र मे ठहरते हैं, चाहे वह ग्राम हो या नगर, चार महीने वर्षा-काल के एक क्षेत्र में व्यतीत करते हैं या किसी एक क्षेत्र को केन्द्र मानकर उसके चारो ओर ढाई-ढाई कोस आ-जा सकते है, उससे बाहर न जाने-आने के नियम का पालन करते है। इन दिनों उनके लिए गृहस्थ से धागा, रुई, वस्त्र आदि लेना सर्वथा निषिद्ध है। वर्षावास मे सर्व-विरति को क्या लेना और क्या नहीं लेना चाहिए ? क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए ? इस विषय का विस्तृत वर्णन कल्पसूत्र के अन्तर्गत समाचारी प्रकरण मे किया गया है।

वर्षावास के चातुर्मास काल को प्रावृट्काल कहते हैं। ऋषि-पचमी या संवत्सरी के पूर्व वर्षाकाल को प्रथम प्रावृट्काल कहा जाता है। लौकिक पक्ष मे श्रावण और भाद्रपद ये दोनों मास प्रावृट् ऋतु के माने जाते है। चातुर्मास के प्रारम्भिक पचास दिनो मे यदि विहार करना पड़े, तो पांच कारणों से साधु-साध्वियों को आपवादिक स्थिति होने पर विहार करना विहित है, जैसे कि—

१. किसी प्राणान्त भय के उत्पन्न होने पर या सस्कृति-विरोधी लोगों के द्वारा साधना-उपकरणों के चुराए जाने का भय उपस्थित होने पर वे विहार कर सकते हैं।

२. दुर्भिक्ष आदि के कारण यदि भिक्षा न मिलती हो तो साधु-साध्वियो के लिए विहार करना विहित है।

३. दुष्ट राजपुरुष आदि यदि ग्राम से बाहर निकाल दे तो उन्हें विहार करना मर्यादा-सिद्ध है।

४ पानी की बाढ आने पर निवास योग्य स्थान के डूब जाने का भय होने पर भी उन्हें विहार करना कल्पता है।

५. किसी महादुष्ट व्यक्ति के द्वारा यदि चारित्रिक पतन की आशका हो जाए, तो वर्षावास के पहले भाग में भी विहार करना निषिद्ध नहीं है। रोग आदि कारणो के उपस्थित हो जाने पर भी विहार किया जा सकता है। वर्षावास क्षेत्र में भयंकर संक्रामक रोग फैल गया है या कोई साधु-साध्वी उस रोग से ग्रस्त हो गया है, तो रोग के उपचार के निमित्त विहार करना कल्पता है। इनमें से किसी एक कारण के उत्पन्न होने पर भी वर्षाकाल के प्रथम भाग में विहार करने का विधान अपवाद मार्ग है।

वर्षावास के उत्तर भाग में पर्युपशमना—सवत्सरी के अनन्तर शेष सत्तर दिनो में पाच कारणो से विहार करना कल्पता है, जैसे कि:—

१ किसी आचार्य या आगमवेत्ता ने अनशन—सथारा करना हो और उन्होने ज्ञान पढने के लिए साधु या साध्वियों को सूचित किया हो, तब चातुर्मास में ज्ञान प्राप्ति के लिए विहार किया जा सकता है। यदि वह शास्त्रीय ज्ञान उक्त आचार्य आदि से ग्रहण न किया गया, तो उसका विच्छेद हो जाएगा, यह सोचकर उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए वर्षाकाल में भी विहार करना कल्पता है, क्योंकि परम्परा प्राप्त ज्ञान की सुरक्षा साधु का प्रमुख धर्म है।

२. जो दर्शनशास्त्र का अद्वितीय वेत्ता है, वह संथारा करने से पूर्व यदि साधु और साध्वी सम्यग्दर्शन मे सुदृढ़ हो जाए इस भावना से दार्शनिक ज्ञान देना चाहता है या दर्शन की प्रभावना करने वाले शास्त्रज्ञान की प्राप्ति की इच्छा से विहार कर सकते हैं, या वर्षावास क्षेत्र मे एकान्त मिथ्यादृष्टि लोगो का अधिक प्रभाव हो, वहा रहते हुए यदि सयम नष्ट या दूषित होने की सभावना हो तो विहार करना कल्पता है।

३. जिस क्षेत्र मे एषणीय आहार न मिलता हो, जीवो की उत्पत्ति अत्यधिक हो रही हो, स्त्री-पुरुष अपेक्षाकृत अधिक दुराचारी एवं भ्रष्टाचारी हों, जहा पर रहकर संयम-साधना करनी कठिन हो तो अपने चारित्र की रक्षा के निमित्त वर्षावास में भी विहार किया जा सकता है।

४ आचार्य या उपाध्याय के शरीर शान्त हो जाने पर अन्य आचार्य या उपाध्याय के न होने पर किसी अन्य गण का आश्रय लेने के लिए अथवा आचार्य और उपाध्याय का विश्वस्त होने के कारण किसी रहस्य-मंत्रणा के लिए वर्षावास में भी विहार करना कल्पता है।

५. आचार्य या उपाध्याय की आज्ञा होने पर बाहर किसी साधु या साध्वी की सेवा के लिए यदि जाना पड़े तो वर्षाकाल में भी विहार करना विहित है। इन पाच कारणों मे से किसी

एक कारण के उपस्थित होने पर ही साधु-साध्वी के लिए वर्षावास में विहार करना कल्पता है।

अहिंसात्मक महाव्रत की रक्षा के लिए, ज्ञान प्राप्ति के लिए, तप-अनुष्ठान के लिए एव श्रावक तथा श्राविका संघ को लाभान्वित करने के लिए, प्रवचन-प्रभावना के लिए वर्षावास का विधान है।

सूत्रकर्त्ता ने **वासावासं पज्जोसवियाणं णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा गामाणुगामं दूइजित्तए**—अर्थात् वर्षाकाल में बसते हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी को ग्रामानुग्राम विहार करना नही कल्पता है, इसका आशय यह है कि वर्षाकाल चार महीने का होता है। सूत्रकार ने बारह मास के तीन भाग किए है जैसे कि ग्रीष्मकाल, हेमंतकाल, वर्षाकाल। आगमकार कहते हैं कि महातपोधन मुनि ग्रीष्मकाल में आतापना लेते है, हेमतकाल में वस्त्रो का उपयोग नहीं करते हैं और वर्षाऋतु मे प्रतिसंलीनता तप करते हैं। इस तरह वे विजितेन्द्रिय एव सुसमाधि मे लीन रहते है।[१]

इस सूत्र से यह स्वय सिद्ध हो जाता है कि एक वर्ष में तीन चातुर्मास होते है, वर्षावास के अतिरिक्त शेष आठ महीनों में अधिक से अधिक कल्प पर्यन्त सर्वविरति ठहर सकता है। हा, जो वार्द्धक्य से घिरा हुआ है, रोगग्रस्त है, या जिसने दीर्घकालिक तपस्या आरम्भ की हुई है या जो उनकी सेवा करने वाले है, वे कल्प उपरान्त भी ठहर सकते हैं।

वर्षावास—पर्युपशमनाकल्प मे साधु का विधान क्या है? इसके विषय मे सक्षेप से एक गाथा में कहा गया है—

''दव्वट्ठवणऽऽहारे विगई संथार मत्तए लोए।
सच्चित्ते अचित्ते वोसिरणं गहण धारणाइ॥''

अर्थात् चातुर्मास मे ऊनोदरी तप, विगयो का त्याग, मर्यादित पाट-पाटले, मर्यादित वस्त्र और मर्यादित पात्र, लोच करना, प्रव्रज्या न देना, वर्षाकाल से पहले ग्रहण किए भस्म आदि का परित्याग करना, नवीन का ग्रहण करना, विहार न करना, चातुर्मास में नवीन वस्त्र पात्र न ग्रहण करना आदि नियमों का ध्यान रखना, उसके लिए आवश्यक होता है। अत: साधु-साध्वी के लिए अन्य दो चातुर्मासो की अपेक्षा वर्षावास चातुर्मास विशेष महत्वपूर्ण माना जाता है।

पञ्च अनुद्घातिक

मूल—पंच अणुग्घाइया पण्णत्ता, तं जहा—हत्थकम्मकरेमाणे, मेहुणं पडिसेवमाणे, राईभोयणं भुंजमाणे, सागारियपिंडं भुंजमाणे, रायपिंडं भुंजमाणे॥२८॥

---

१. दशवैकालिक सूत्र अध्ययन-३।

छाया—पञ्च अनुद्घातिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हस्तकर्मकुर्वाणः, मैथुनं प्रतिषेवमाणः, रात्रिभोजनं भुञ्जानः, सागारिकपिंडं भुञ्जानः, राजपिंडं भुञ्जानः।

शब्दार्थ—पंच अणुग्घाइया पण्णत्ता, तं जहा—पांच अनुद्घातिक कथन किए गए हैं, जैसे, **हत्थकम्मकरेमाणे**—हस्तकर्म करता हुआ, **मेहुणं पडिसेवमाणे**—मैथुन सेवन करता हुआ, **राईभोयणं भुंजमाणे**—रात्रि भोजन करता हुआ, **सागारियपिंडं भुंजमाणे**—शय्यातर का भोजन करता हुआ, **रायपिंड भुंजमाणे**—राजपिण्ड खाता हुआ।

मूलार्थ—पाच व्यक्ति अनुद्घातिक अर्थात् उस प्रायश्चित्त के अधिकारी माने जाते है, जिसमें यथाश्रुत तप करना पडता है, उसमें किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं की जा सकती, जैसे कि—हस्तकर्म करने वाला, मैथुन-सेवन करने वाला, -रात्रि-भोजन करने वाला, शय्यातर का भोजन करने वाला और राजपिण्ड का भोजन करने वाला।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे संयमियो के लिये चातुर्मास में विहार के विधि-निषेधों का वर्णन किया गया है, उसी परम्परा मे प्रस्तुत सूत्र सयमियों के लिए अनिवार्य प्रायश्चित्तों का विधान करता है। वह अनिवार्य प्रायश्चित्त ही गुरुप्रायश्चित्त है, उद्घात शब्द का अर्थ है लघु अर्थात् छोटा उपवास आदि का प्रायश्चित्त जो उद्घात न हो उसे अनुद्घात कहते है। जिस दोष की निवृत्ति के लिए गुरुमासिक या गुरुचौमासिक प्रायश्चित्त किया जाता है, उसे अनुद्घातिक प्रायश्चित्त कहा जाता है। एक महीने की दीक्षा का छेद करना "गुरुमासिक" और चार महीने की दीक्षा का छेद करना "गुरु चौमासी प्रायश्चित्त" कहलाता है। यह प्रायश्चित्त पाच व्यक्तियों को दिया जाता है, जैसे कि—

१. **हस्तकर्म**—एक सूक्तिकार का कथन है कि 'मदोन्मत्त हाथियो के गण्डस्थलों पर प्रहार करने वाले शूर मिल सकते हैं, मस्ती में झूमते वनराज सिह के अयालों को खीच कर उसे वश करने वाले भी हो सकते है, परन्तु काम पर विजय पाने वाले बड़ी कठिनाई से ही मिला करते हैं।' भगवान महावीर तो कहते है—"**उग्गं महव्वयं बंभं धारेयव्वं सुदुक्करं**" ब्रह्मचर्य रूप महाव्रत को धारण करना अत्यन्त दुष्कर है।

प्राणीमात्र मे 'काम' की जागृति होती ही है, यौवन के आने पर कामोद्वेग की शरीर मे जागृति ऐसे ही स्वाभाविक है जैसे भूख-प्यास और निद्रा आदि के वेग उत्पन्न हुआ करते है। काम हमारी प्राण-शक्ति का ही एक अग है, यौवन में जब प्राणशक्ति का वेग उद्दाम हो जाता है तो कामोद्वेग की तरंगें भी उसमें स्वभावतः ही उठने लगती है। बच्चे में प्राण-शक्ति का रूप प्रारम्भिक होता है, अतः उसमें कामोद्रेग का तीव्र प्रवाह नहीं होता, यही कारण है कि बच्चे की प्राणशक्ति में काम-लहरियां नहीं उठती, बुढ़ापे मे प्राण-शक्ति के शिथिल पड़ने पर काम-वेग भी शिथिल हो जाता है।

जब मानवीय प्राणशक्ति बहिर्मुखी हो जाती है, तब वह काम-शक्ति के रूप में प्रवाहित होने लगती है और जब प्राणशक्ति अन्तर्मुखी हो जाती है तो वह आत्म-शक्ति के साथ मिलकर ओज का रूप धारण कर लेती है। प्राणशक्ति को अन्तर्मुखी बनाकर आत्म-केन्द्रित कर लेना ही ब्रह्मचर्य है। यह शक्ति स्वय में कुछ नही, वह अपने प्रयोक्ता के आधीन है, वह जब चाहे उसे अन्तर्मुखी बना दे और जब चाहे बहिर्मुखी बना दे। जब यह शक्ति बहिर्मुखी हो जाती है तो उस समय वह अपना प्रथम प्रभाव जननेन्द्रिय पर ही डालती है, क्योकि शक्ति का केन्द्रनाभि है। जब यहां से शक्तिधारा अन्तर्मुखी होती है, तब यह शक्तिधारा उस ओर प्रवाहित होने लगती है जहां चेतना का केन्द्रबिन्दु है, और जब वह नीचे की ओर प्रवाहित होती है तो वह निकटतम होने के कारण कामेन्द्रिय को ही उत्तेजित करती है। जब यह उत्तेजना आदत बन जाती है तो मानव मन नाना दुष्कृत्यो की ओर अग्रसर होने लगता है।

संयमी साधक भी इसका अपवाद नही हो सकता। यदि उससे प्राणशक्ति के संयमित करने मे थोडा-सा भी प्रमाद हो गया तो उस पर भी कामवेग सवार हो उठेगा। शरीर-शास्त्री कहते हैं कि कामोद्वेग वैपरीत्य चाहता है, कामोद्वेग में पुरुष स्त्री को चाहता है, स्त्री-पुरुष को चाहती है और यदि संयमी प्राणशक्ति को अन्तर्मुखी कर देता है तो वह स्वयं को चाहता है, आत्मा को चाहता है। इस वैपरीत्य-प्राप्ति की इच्छा मे बाधा होने पर ही हस्तमैथुन की ओर प्रवृत्ति हो जाया करती है। हो सकता है कि किसी समय किसी साधु में भी यह वृत्ति जाग उठे और उसका मन ऐसे कुकृत्य के लिए मचल उठे। तभी उसे सावधान होकर सोचना चाहिए "मैने संयमव्रत स्वीकार किया है, अत: मुझे ऐसी वृत्तियो से बचना चाहिए।" पर हो सकता है फिर भी उससे भूल हो जाए, क्योकि बीज धरती मे पड़ेगा तो अंकुरित होगा ही, कामोद्वेग जागेगा तो अनाचारी वृत्तिया जागेगी ही, परन्तु यह निश्चित है कि कामोद्वेग मे रस नहीं है, उसमे रस की भ्रान्ति मात्र होती है, अत: वीर्य के रूप में प्राणशक्ति के प्रवाहित होते ही कामोद्वेग शान्त हो जाता है और उस समय चित्त मे महाग्लानि उत्पन्न होती है। यह ग्लानि अगर स्थायित्व प्राप्त कर ले तो सयम-साधना का पथिक तुरन्त ही अपनी भूल को पहचान जाता है और वह विनीत होकर बडो के समक्ष अपराध-स्वीकृति के लिए प्रस्तुत हो जाता है। अपराध स्वीकृति की अवस्था मे वह प्रायश्चित्त करता है, उस समय उसे कौन-सा प्रायश्चित्त करना चाहिए सूत्रकार कहते हैं, उस समय उसे बड़ा प्रायश्चित्त अर्थात् दीक्षा-छेदन रूप प्रायश्चित्त देना चाहिए, जिससे उसे अपनी हीन कर्म-प्रवृत्ति का बोध हर समय होता रहे और वह अप्रमत्त भाव से दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए एव अपनी प्राण-ऊर्जा को अन्तर्मुखी बनाने के लिए सर्वदा यत्नशील रहे।

२. मैथुन सेवन—ऊपर कहा जा चुका है कि कामोद्वेग वैपरीत्य चाहता है। विपरीत चेतना के साथ ऐन्द्रिय सुख ही मैथुन है। संयमी साधक भी तो मानव ही है, अत: यौवन

में उसकी प्राण-ऊर्जा के महानद में कामोर्मियों का जागना स्वाभाविक है। कभी-कभी लोक में सयमी-साधक के प्राण-ऊर्जा के महानद मे कामोर्मियों को जागृत कर दिया जाता है। शान्त जल में जैसे पत्थर के फैंकते ही उसमें ऊर्मिवर्तुल उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही कभी-कभी सयमी की प्राण-ऊर्जा के महानद में विपरीत चेतना के प्राणी विकारो के पत्थर फैंककर उसमें कामोर्मियां जागृत कर देते हैं। तभी तो सुयगडांग सूत्र में कहा गया है—

"सुहुमेणं तं परिक्कम्म, छन्नपएण इत्थिओ मंदा।
उव्वायं पि ताउं जाणंसु, जहा लिस्संति भिक्खुणो एगे॥" (४।१।२)

बुद्धिहीन नारियां उस संयम-साधक को भी भ्रष्ट कर देती हैं, क्योंकि वे युवतियां भिक्षुओं के वशीकरण की क्रिया को जानती हैं।

इस प्रकार विकार के पत्थरों से जागृत कामोर्मियों को यदि साधक नियन्त्रित करने में लग जाता है तो धीरे-धीरे वह स्त्री-सहवास की कामना करने लगता है। यह कामना ही तो उसको ब्रह्मचर्य के उच्चशिखर से गिरा देती है। ऐसी गिरावट का अवसर उपस्थित होने पर साधक को सोचना चाहिए कि मुझे शीघ्र ही सावधान हो जाना चाहिए। अन्यथा—

"अह से अणुतप्पइ पच्छा, भोच्चा पायस व विसमिस्सं।"

विषमिश्रित खीर खाने वाले के समान मुझे परितप्त होना पड़ेगा। यह परिताप उसे पुन: जागृत कर देता है और वह फिसलते-फिसलते सभल जाता है और शारीरिक गिरावट से पूर्व ही वह मानसिक विकृति की अवस्था मे उद्‌बुद्ध होकर सोचता है कि "मैंने शारीरिक दृष्टि से चाहे अपने को सुरक्षित रखा है, परन्तु मन से मै पाप में प्रवृत्त हो चुका हूं।" अत: वह सावधान होकर मानसिक रूप से कृत पाप का प्रायश्चित्त चाहता है, तब उसे दीक्षा-छेदन रूप प्रायश्चित्त ही देना चाहिए, जिससे बाद मे दीक्षित होने वालो को वन्दना करता हुआ वह प्रतिदिन अपने कृत अपराध की आवृत्ति न होने देने के लिए सावधान रह सके।

३. रात्रिभोजन—भगवान महावीर ने कहा है—**"राइभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो"** रात्रि भोजन न करने वाले अनाश्रव हो जाते हैं। 'अनाश्रव' हो जाने की उपलब्धि महान् उपलब्धि है, क्योंकि जब हम घर में अकेले रहते है तो कोई उपद्रव नही होता, समस्त उपद्रव तभी होते हैं जब हमारे घर मे औरो का भी प्रवेश हो जाता है। हमारे जीवन के दो रूप है, एक बाहरी जीवन जिसका दूर तक विस्तार है, जो नाना सम्बन्धों मे जकड़ा हुआ है। एक हमारा आन्तरिक जीवन है, इस जीवन में कोई उपद्रव नही है, शान्ति है। जब हमारे आन्तरिक जीवन में अन्यों का प्रवेश हो जाता है तो हमारे अन्तर में उपद्रव ही उपद्रव आरम्भ हो जाते हैं, कभी अन्दर क्रोध आ जाता है, कभी राग आ जाता है, कभी लोभ आ जाता है, कभी अन्य विकार अन्दर घुसकर उपद्रव मचाने लगते हैं। भगवान महावीर कहते हैं— रात्रि भोजन न करने से साधक 'अनाश्रव' हो जाता है, अर्थात् उसके आन्तरिक जीवन में आने के सभी प्रवेशद्वार बंद हो जाते हैं, तब काम, क्रोध, लोभ, मोह,

राग, द्वेष किसी का भी प्रवेश वहां नहीं हो पाता। इसके दूसरे पहलू पर विचार करने पर हम यह भी कह सकते है कि रात्रि-भोजन आश्रव है, वह सभी विकारों को अन्दर प्रवेश पाने के लिए द्वार खोल देता है, अत: उस संयमी साधक के लिए रात्रि-भोजन निषिद्ध है जो अन्तर में शान्ति चाहता है, 'निराश्रव' होना चाहता है।

यह सर्वज्ञात सत्य है कि सूर्य के निकलते ही वातावरण में 'प्राणवायु' अर्थात् ऑक्सीजन बढ जाती है, अत: शरीर में चेतना, जागृति, स्फूर्ति एव क्षमता बढ जाती है। सूर्यास्त होते ही वातावरण में से प्राणवायु लुप्त होकर प्रदूषित वायु (कॉर्बनडाइऑक्साइड) बढ जाती है। वैज्ञानिक बतलाते हैं कि वस्तुओं के सड़ने-गलने से 'कॉर्बनडाईऑक्साइड पैदा होती है और यह जीवन के लिए हानिकारक है। रात्रि-भोजन करने पर जब पाचन-क्रिया ठीक न हो पाएगी तब अन्दर गए हुए पदार्थ गले-सडेंगे ही, अत: वे प्रदूषित वायु को बढा कर जीवन को खतरे मे डाल देगे।

भोजन को पचाने के लिए प्राणवायु की प्रबलता आवश्यक होती है और वह दिन मे ही प्राप्त होती है रात्रि मे नही, अत: रात्रि मे भोजन करने से वह ठीक प्रकार से पच नही सकता, जब भोजन पचेगा नहीं तो रात्रि में नींद न आएगी, पेट गुड-गुडाता रहेगा, परिणाम स्वरूप शरीर में उपद्रव आरम्भ हो जाएगे, अत: रात्रि-भोजन आश्रवद्वार खोलने वाला है और रात्रि-भोजन का अभाव साधक को 'अनाश्रव' बना देता है।

यह विज्ञान-सिद्ध है कि 'कॉर्बनडाई ऑक्साइड' से अग्नि बुझ जाती है। शरीर मे इसके बढने से पाचन करने वाला तापमान मन्द पड़ जाता है, अत: भोजन पचता नही, अपितु अन्दर ही अन्दर सडने लगता है, अत: वह प्रदूषित वायु के बढ़ाव का कारण बन कर शरीर में नाना व्याधियो के लिए प्रवेश द्वार खोल देता है, अत: रात्रि-भोजन अहितकर है।

दिन मे अनेक बार भूख लगती है, रात्रि मे आप बारह घण्टे सोए रहे भूख नहीं लगती, लगे भी कैसे ? भूख लगाने वाली ऑक्सीजन का—प्राणवायु का अभाव है और बिना भूख के किया हुआ भोजन आश्रवद्वार खोलने का ही तो कारण बनेगा, अत: रात्रि-भोजन को उचित नही माना गया है।

एक और बात भी सोचने योग्य है कि **"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी"** जब सब प्राणी सोते है तब सयमी जागता है। एकान्त साधना के लिए रात्रि का समय ही तो उपयुक्त होता है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि भोजन के पेट में जाते ही शरीर की समस्त शक्तिया उसे पचाने में जुट जाती हैं, अत: मस्तिष्क ढीला पड़ जाता है, इसीलिए भोजन के बाद नीद आने लगती है, सुस्ती छा जाती है, निद्रालु और सुस्त व्यक्ति, साधना में कैसे लग सकते है ? अत: सयमी के लिए तो यह कहा गया है कि वह रात में मन से भी भोजन की इच्छा न करे—"मनसा वि न पत्थए" इसका अभिप्राय यह है कि रात्रि मे भोजन तो

दूर रहा भोजन की स्मृतिमात्र से मानसिक विकृतिया जाग उठती है, क्योंकि जब मन भोजन का स्मरण करेगा तो वह भोजन के रस की अनुभूति करने लगेगा, इस अनुभूति मे आत्मानुभूति की साधना खो जाएगी, अत: रात्रि-भोजन आत्मानुभूति मे बाधक बनकर 'आश्रवी' बन जाएगा, भोक्ता को निराश्रवी नहीं रहने देगा।

रात्रि-भोजन स्वास्थ्य के लिए अहितकर है, अत: रात्रिभोजन में आत्म-हिंसा है, आत्मोपलब्धि के लिए यत्नशील साधक को आत्महिंसा को आत्महत्या समझ कर उससे बचना चाहिए। इसीलिए रात्रिभोजन को जैन-संस्कृति ने सर्वथा निषिद्ध माना है।

संयमी साधक यदि भोजन पास मे रख लेगा तो उसका भोजन-परिग्रह उसकी मनोवृत्तियों को भोजन के साथ जोड़े रखेगा, मनोवृत्तियो का भोजन के साथ जुड़ना भी भोजन ही है, अत: जैन साधु उतना ही भोजन लाता है जितने का वह सूर्यास्त से पूर्व उपयोग कर सकता है, जिससे कि वह मानसिक भोजन के दोष से भी मुक्त रहकर मुक्ति की साधना कर सके। यदि समस्त प्राण-शक्ति पाचन आदि क्रियाओं से मुक्त होगी, तभी तो वह मनोवृत्तियो को एकाग्र करने मे सफल हो सकेगी, अत: ध्यान के लिए भी रात्रि-भोजन का अभाव आवश्यक है।

इतना सब कुछ होते हुए भी यदि किसी कारणवशात् सयम-पथ का पथिक साधु रात्रि भोजन कर बैठे, उसे भी अपने जीवन को यदि निराश्रव बनाने की कामना हो, यदि वह समस्त उपद्रवों से रहित शान्त जीवन चाहता हो, तो उसे दीक्षा-छेदनरूप बडा प्रायश्चित्त स्वीकार कर लेना चाहिए जिससे कि वह पुन: इस भूल को दोहराने की गलती न कर सके। उसे यह ज्ञात हो सके कि मैं भोजन के लिए नहीं हूं, अपितु भोजन मेरे लिए है और मेरे लिए भी भोजन ही सब कुछ नहीं, भोजन से परे भी बहुत कुछ है जिसे भोजन का चिन्तन छोड़ कर ही पाया जा सकता है।

४. शय्यातरपिण्ड का निषेध

यद्यपि आज जैन-समाज के सत्प्रयत्नो से प्रत्येक नगर एवं कस्बे में उपाश्रय पौषध-शाला, धर्मशालादि धार्मिक स्थान विद्यमान हैं, परन्तु इन धर्मस्थानकों का स्वामित्व वहा के समाज का ही होता है, अत· साधु को वहा ठहरने के लिए किसी विशेष व्यक्ति से आज्ञा लेनी पड़ती है। जिससे अनगार साधु आज्ञा लेता है, अथवा जो संयमी को रहने के लिए स्थान या मकान की आज्ञा देकर तरने का अधिकारी बन जाता है, उसे 'शय्यातर' कहा जाता है। सदाविहारी ग्रामानुग्रामचारी सन्तो को ऐसे ग्राम आदि में भी जाना पडता है जहां निवासार्थ उपाश्रय नही होता। ऐसी दशा में उन्हे किसी गृहस्थ के ऐसे स्थान मे रहना पड़ता है जो उसकी पारिवारिक स्थिति से सर्वथा भिन्न हो, जिसके स्थान पर साधु ठहरते हैं, जैन भाषा में उस गृहस्थ को भी 'शय्यातर' ही कहा जाता है और शय्यातर के घर के लिए गए आहार-पानी को 'शय्यातर पिण्ड' कहा गया है। शास्त्रकार ने साधु के लिए 'शय्यातर-पिण्ड'

का निषेध किया है। इसके भी अनेक व्यावहारिक एव मनोवैज्ञानिक कारण है। जैसे कि गृहस्वामी के गृह से ही आहार-पानी लेने पर साधु में प्रमाद आ जाएगा और अकर्मण्य बनकर एक ही स्थान पर पड़े रहने की वृत्ति उसमें जागृत होकर संयम मे शिथिलता, स्थान एवं भोजन देने वाले के प्रति राग का जागृत होना भी स्वाभाविक ही है और विरक्त साधु के लिए राग अभिशाप है।

गृहस्वामी के घर से ही आहार लेने पर घरेलू सम्पर्क बढ जाता है, ऐसी दशा मे गृहस्थ जीवन की गतिविधियो को देखकर विरक्त साधु की मनोभूमि मे विकृतियो के बीज पड़ जाने स्वाभाविक होते हैं, पड़े हुए बीज की सामान्य से आकर्षण जल को पाकर अकुरित होने की सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता, अत: 'शय्यातर-पिण्ड' का शास्त्रकार निषेध करते हैं।

अनगार साधु के लिए केवल स्थान देने मे किसी को हिचक नहीं हो सकती, वह गरीब से गरीब व्यक्ति भी दे सकता है, यदि जन-मानस मे यह विश्वास बैठ जाएगा कि इन साधुओ को कौन ठहराएगा, इन्हे तो स्थान के साथ भोजन भी देना पड़ेगा तो इस भय से गृहस्थों को साधु के लिए विश्राम-स्थान देना भी कठिन हो जाएगा।

अन्य अनेक कारण भी हो सकते हैं, परन्तु प्रमुख कारण यही है कि उसकी निस्पृहता, उसकी वैराग्यशीलता और उसकी पावनता सदा सुरक्षित रहे। यदि किसी समय परिस्थिति-वश बाध्य होकर साधु शय्यातर-पिण्ड ग्रहण कर ले तो उसे शीघ्र ही दीक्षा-छेदन रूप प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेना चाहिए।

५. राज-पिण्ड—

यद्यपि राज-पिण्ड मे अशन, पानक, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रोछन की भी गणना की गई है, परन्तु प्रमुखत: राज-पिण्ड का अर्थ है—राजभोग अर्थात् राजा के घर का आहार-पानी। यह सूक्ति सर्व-परिचित है कि "जैसा खाय अन्न वैसा होवे मन।" राजा हिंसावादी होते हैं एव परिग्रहशील भी होते हैं, उनका वैभव दूसरों के कष्टों की आधारशिला पर टिका होता है, अत: राजगृह का अन्न खाने पर साधु भी उस हिंसा का भागी बन जाता है, उसमे भी परिग्रहशीलता की वृत्ति जागृत हो सकती है।

राजपिण्ड लेने के लिए साधु को राजा के अन्त:करण मे भी जाना पड़ेगा, वहा का सौन्दर्य, वहां का वैभव और राजमहलो के सुखोपकरण उसकी वैराग्यशीलता पर प्रहार कर सकते है, अत: उसे वहा जाना ही नही चाहिए। उसका अन्त:पुर निषेध इसी तथ्य की ओर सकेत करता है।

यदि किसी राजा ने भी श्रावक के बारह व्रत धारण कर लिए हों, वह अतिथि-सविभाग व्रत का निष्ठा से पालन करने लग गया हो, उसका मन वैभव से उपरति प्राप्त कर रहा हो तो ऐसे राजा के द्वारा दिया गया आहार-पानी ग्राह्य भी हो सकता है, परन्तु सामान्यत: साधु

को राजपिण्ड का परित्याग ही करना चाहिए। यदि किसी कारणवशात् वह राजपिण्ड ग्रहण कर ले और फिर उसे अपने कृत अपराध पर पश्चात्ताप होने लगे तो उसे तुरन्त ही दीक्षा-छेदन रूप प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेना चाहिए जिससे वह पुन: राजपिण्ड से बच सके।

श्रमण के लिए अन्त:पुर प्रवेश के आपवादिक कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे रायंतेउरमणुपविसमाणे नाइक्कमइ, तं जहा—नगरं सिया सव्वओ समंता गुत्ते, गुत्तदुवारे, बहवे समणमाहणा णो संचाएंति भत्ताए वा, पाणाए वा, निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, तेसिं विन्नवणट्ठयाए रायंतेउरमणुपव्विसेज्जा। पाडिहारियं वा पीढ-फलग-सेज्जा-संथारगं पच्चप्पिणमाणे रायंतेउरमणुपवेसेज्जा। हयस्स वा, गयस्स वा दुट्ठस्स आगच्छमाणस्स भीए रायंतेउरमणुपवेसिज्जा। परो वा, णं सहसा वा, बलसा वा, बाहाए गहाय अंतेउरमणुपवेसेज्जा। बहिया व णं आरामगयं वा, उज्जाणगयं वा, रायंतेउरजणो सव्वओ समंता संपरिक्खिवित्ता णं निवेसिज्जा।

इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे जाव णाइक्कमइ॥ २९॥

छाया—पञ्चभि: स्थानै: श्रमणो निर्ग्रन्थ: राजान्त:पुरमनुप्रविशन् नातिक्रामति, तद्यथा—नगरं स्यात् सर्वत: समन्ताद् गुप्तं, गुप्तद्वारं, बहव: श्रमण-ब्राह्मणा: नो शक्नुवन्ति भक्ताय वा पानाय वा निष्क्रमितुं वा, प्रवेष्टुं वा, तेषां विज्ञापनार्थतया राजान्त:पुरमनु प्रविशेत्। प्रातिहारिकं वा पीठ-फलक-शय्यासंस्तारकं प्रत्यर्पयन् राजान्त:पुरमनुप्रविशेत्। हयाद् वा, गजाद् वा आगच्छतो भीत: राजान्त:पुरमनुप्रविशेत्। परो वा सहसा बलेन वा बाहौ गृहीत्वा अन्त:पुरमनुप्रविशेत्। बहिर्वा आरामगतं वा, उद्यानगतं वा राजान्त:पुरजन: सर्वत: समन्तात् संपरिक्षिप्य निविशेत्।

इत्येतै: पञ्चभि: स्थानै: श्रमणो निर्ग्रन्थो यावत् नातिक्रामति।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं—पाच कारणो से, **समणे णिग्गथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ, **रायंतउरं**—राजा के अन्त:पुर में, **अणुपविसमाणे**—प्रवेश करता हुआ, **नाइक्कमइ, तं जहा**—जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है, जैसे, **नगर**—नगर, **सिया**—यदि, **सव्वओ समंता**—सब ओर से—चारों ओर से, **गुत्ते**—बन्द हो, **गुत्तदुवारे**—उसके द्वार बन्द हों, फलत:, **बहवे**—बहुत से, **समणमाहणा**—बौद्ध भिक्षु अथवा ब्राह्मणादि, **भत्ताए वा**—भोजन के लिए, **पाणाए वा**—पानी के लिए, **निक्खमित्तए वा**—बाहर जाने के लिए, **पविसित्तए वा**—बाहर से अन्दर प्रवेश करने के लिए, **णो संचाएंति**—समर्थ नहीं होते हैं, तो, **तेसिं**—उनके, **विन्नवणट्ठयाए**—विज्ञापन—निवेदन करने के लिए, **रायंतेउरं**—राजा के अन्त:पुर में,

अणुपवेसेज्जा—प्रवेश करे, **पाडिहारियं वा**—वापिस लौटाने योग्य, **पीढफलगसेज्जा-संथारगं**—चौकी, पट्टा, शय्या और संस्तारक को, **पच्चप्पिणमाणे**—प्रत्यर्पण करता हुआ, **रायंतेउर**—राजा के अन्त:पुर में, **अणुपवेसेज्जा**—प्रवेश करे। **हयस्स वा**—अश्व से, **गयस्स वा**—हाथी से, **दुट्ठस्से**—अथवा दुष्ट प्रकृति वाले से, **आगच्छमाणस्स**—सम्मुख आते हुए से, **भीए**—भीत होकर, **रायंतेउरं**— राजा के अन्त:पुर में, **अणुपवेसेज्जा**—प्रवेश करे। **परो वा णं**—दूसरा कोई दुर्जन, **सहसा**—सहसा, **बलसा वा**—अथवा बलपूर्वक, **बाहाए**—भुजा, **गहाय**—पकडकर, **अंतेउरं**—अन्त:पुर में, **अणुपवेसेज्जा**—प्रवेश करा दे। **बहिया व णं**—नगर के बाहर, **आरामगयं वा**—आराम में उपस्थित अथवा, **उज्जाणगयं वा**—उद्यान मे उपस्थित साधु को, **रायंतेउरजणो**—राजा का अन्त:पुर—रनवास, **सव्वओ समंता**—सब ओर से, **संपरिक्खित्ताणं**—घेर कर, **निवेसेज्जा**—पडाव डाल दे, तब। **इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं**—इस प्रकार इन पाच कारणो से, **समणे णिग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ, **जाव**—यावत् अन्त:पुर में जाता हुआ, **णाइक्कमइ**—जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करता **है**।

मूलार्थ—पांच कारणो से श्रमण निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) राजा के अन्त:पुर में प्रवेश करता हुआ जिनाज्ञा का उल्लघन नही करता है, जैसे कि—

१. यदि नगर सब ओर से प्राकार द्वारा परिवेष्टित हो, उसके द्वार बन्द हों, फलत: बहुत से शाक्यादि श्रमण और ब्राह्मण भोजन-पान के लिए अन्दर से बाहर न जा सकते हो और बाहर से अन्दर न आ सकते हों, तब दयालु निर्ग्रन्थ मुनि उन जैनेतर भिक्षु एव ब्राह्मणो के सम्बन्ध मे विज्ञापन-निवेदन करने के लिए (आहार-पानी आदि की छूट दिलाने के लिए) राजा के अन्त:पुर मे प्रवेश कर सकता है।

२. वापिस लौटाने के योग्य पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि प्रत्यर्पण करने के लिए राजा के अन्त:पुर में प्रवेश कर सकता है।

३. सम्मुख आने वाले उन्मत्त (दुष्ट) अश्व अथवा गज से भय-भीत हो कर राजा के अन्त:पुर में प्रवेश कर सकता है।

४ यदि कोई दुष्ट पुरुष सहसा या बलात्कार से मुनि को भुजा से पकड़कर राजा के अन्त:पुर में ले जाए तो वह वहां जा सकता है।

५. नगर के बाहर आराम से अथवा उद्यान में उपस्थित मुनि को राजा का अन्त:पुर चारों ओर से घेरा डाल कर पडाव डाल दे, तो वहां राजा के अन्त:पुर मे अवस्थित मुनि जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

इस भांति उक्त पांच कारणो से श्रमण निर्ग्रन्थ यावत् राजा के अन्त:पुर में प्रवेश करता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में निषेधात्मक कर्म करने वाले साधु के लिए प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है। अब प्रायश्चित्त-परम्परा में इस विषय का वर्णन किया जा रहा है कि आगमकार साधु का अन्त:पुर में प्रवेश निषिद्ध मानते हैं, फिर भी यदि किसी कारणवश साधु को अन्त:पुर में जाना ही पड़े तो उसके लिए क्या प्रायश्चित्त का विधान होगा, और किन कारणो से उसका अन्त:पुर में प्रवेश निषिद्ध नही है। राजस्त्रियों के निवास-स्थान को अन्त:पुर कहते हैं। वह तीन तरह का होता है—वृद्धाओं का अन्त:पुर, तरुणियो का अन्त:पुर और कन्याओं का अन्त:पुर। सभी अन्त:पुरों में साधु का प्रवेश निषिद्ध है, क्योंकि अन्त:पुर में प्रवेश करने के पीछे अनेक अनर्थ छिपे हुए है। लाभ की कम, परन्तु अनर्थों की अपेक्षा अधिक है, इसीलिए आगमकारों ने साधु का अन्त:पुर में प्रवेश करना निषिद्ध बताया है। किन्तु निम्नलिखित पांच कारणो मे से किसी एक कारण से भी यदि साधु अन्त:पुर में प्रवेश कर जाए, तो वह भगवान जिनेन्द्र देव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है। वे पांच कारण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१ जब कोई नगर प्राकार से घिरा हुआ हो और नगर के प्रवेश-द्वार बिल्कुल बन्द हों, न कोई बाहर से अन्दर आ सकता हो और न अन्दर से बाहर जा सकता हो, तब ऐसे समय में यदि बहुत से श्रमण, माहन आहार-पानी के लिये न नगर से बाहर निकल सकते हों और न बाहर से भीतर प्रवेश कर सकते हो, उन श्रमण, माहन आदि की रक्षा के निमित्त करुणा-मूर्ति मुनि अन्त: पुर मे बैठे हुए राजा को या अधिकार-प्राप्त रानी को उनकी कठिनाइयों का ज्ञान करवाने के लिये अन्त:पुर मे प्रवेश कर सकता है।

मानसिक व्यग्रता के बिना तपस्या करने वाले को "श्रमण" और अहिंसा का उपदेश करते हुए मूलगुणों और उत्तर गुणो की आराधना करने वाले को "माहन" कहते है अथवा जैनेतर सन्यासी, तापस आदि को "श्रमण" और ब्राह्मण ग्रथों का अनुसरण करने वाले ब्राह्मण "माहन" कहलाते हैं। ऐसी दशा मे श्रमणो एवं माहनो की रक्षा के लिये साधु का अन्त:पुर मे प्रवेश किसी स्वार्थ से नहीं होता, उसकी प्रेरक शक्ति उसकी अन्त:करुणा होती है, परोपकारी वृत्ति होती है। करुणा एव परोपकार साधु के गुण है, अवगुण नही, अत: उनसे प्रेरित होकर उसका अन्त:पुर प्रवेश उचित ही होता है।

जैन धर्म अहिंसा और अनुकम्पा में धर्म मानता है और इन्हीं से वह सर्वोदय की भावना का पोषण करता है।

२. पडिहारी—प्रातिहारिक—जिस वस्तु को लेकर सर्वविरति उसे पुन: लौटा देता है, कार्य समाप्त होने पर वापिस करने योग्य ऐसी सभी वस्तुए पडिहारी कहलाती हैं, जैसे कि चौकी, पट्टा, मकान, फूस इत्यादि वस्तुएं पडिहारी कहलाती हैं। साधु के लिए जिस-जिस की वस्तुएं हैं, विहार करने से पहले उन्हें लौटाना जरूरी होता है। प्रातिहारिक वस्तुओं को वापिस करने के लिये मुनि राजा के अन्त:पुर में जा सकता है, क्योंकि जो वस्तु जहां

से लाई गई है उसे वापिस वहीं सौंपने का साधु का नियम है। प्रातिहारिक लेने के लिए भी राजा के अन्त:पुर में जाने का निषेध नही है, क्योकि ग्रहण करने पर ही वापिस करना सम्भव है।

३. राजा के अन्त:पुर मे प्रवेश करने का तीसरा कारण यह है कि यदि कोई दुष्ट एव उन्मत्त हाथी, घोडा, बैल, कुत्ता इत्यादि मारने या काटने वाला सामने से आ रहा हो तो मुनि राजा के अन्त:पुर मे जा सकता है। क्योंकि ऐसी दशा में अपना बचाव करना मानवमात्र का स्वभाव है, परन्तु बचाव मे पशु को चोट पहुचने की सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता, अहिंसा-व्रती साधु चोट पहुचाने पर अपनी व्रतनिष्ठा से गिर जाएगा, अत: उसे हिंसा-वृत्ति अपनाने की अपेक्षा अन्त:पुर में प्रवेश करना उचित है। इससे भी वह प्रभु-आज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

४ यदि कोई पुरुष अचानक या भुजबल से पकड कर किसी मुनिराज को राजा के अत:पुर में ले जाए तो अन्त:पुर में प्रवेश करता हुआ मुनिराज भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। दया बुद्धि से या शासक की आज्ञा से उसे कोई भी भुजा पकड़ कर अंत·पुर मे ले जा सकता है। **बलसा**—इस पद में सकार आगमिक है।

५. नगर आदि से बाहर आराम या उद्यान में राजा क्रीडा के लिए गया हो और वह अपने परिवार से घिरा हुआ हो, राजा की ओर से वहा शिविर लगे हुए हो, वहा रहे हुए साधु को राजा का अंत.पुर चारो ओर से घेर कर बैठ जाए या उसे ही चौकी-पट्टा आदि लेने के लिए या देने के लिये अन्त:पुर मे प्रवेश करना पड़े तो उसके लिये वह प्रवेश दोष-युक्त नहीं माना जाता।

जो पुष्पों से उपशोभित हो उसे आराम, जो विभिन्न प्रकार के वृक्षो से सुशोभित हो वह उद्यान कहलाता है। यह सब आपवादिक स्थिति हैं। अपवाद में नियमेन प्रायश्चित्त आता है ऐसा कोई विधान नही है। हां स्वच्छन्दता मे नियमेन प्रायश्चित्त लेना आवश्यक होता है, जिसे करना भी जरूरी हो जाता है। अपवाद का सेवन भी स्थविरकल्पी ही करते हैं, जिनकल्पी नहीं।

गर्भ-धारण करने और न करने के कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिमित्थी पुरिसेण सद्धिं असंवसमाणी वि गब्भं धरेज्जा, तं जहा—इत्थी दुव्वियडा दुन्निसण्णा सुक्कपोग्गले अहिट्ठिज्जा। सुक्कपोग्गलसंसिट्ठे व से वत्थे अन्तो जोणीए अणुपवेसेज्जा। सइं वा सा सुक्कपोग्गले अणुपवेसेज्जा। परो वा से सुक्कपोग्गले अणुपवेसेज्जा। सीओदगवियडेण वा से आयममाणीए सुक्कपोग्गला अणुपवेसेज्जा। इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं जाव धरेज्जा।

पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणीवि गब्भं नो धरेज्जा, तं जहा—अप्पत्तजोवणा, अइकंतजोवणा, जाइवंझा, गेलन्नपुट्ठा, दोमणसिया। इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं जाव नो धरेज्जा।

पंचहिं ठाणेहिमित्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणीवि नो गब्भं धरेज्जा, तं जहा—निच्चोउया, अणोउया, वावन्नसोया, वाविद्धसोया, अणंग-पडिसेवणी। इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिमित्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणीवि गब्भं णो धरेज्जा।

पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणी वि गब्भं नो धरेज्जा, तं जहा—उउंमि णो णिगामपडिसेविणी यावि भवइ, समागया वा से सुक्कपोग्गला पडिविद्धं संति, उदिन्ने वा से पित्तसोणिये, पुरा वा देवकम्मुणा, पुत्तफले वा नो निद्दिट्ठे भवइ। इच्चेएहिं जाव नो धरेज्जा ॥ ३० ॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैः स्त्री पुरुषेण सार्द्धं असंवसन्त्यपि गर्भं धारयेत्, तद्यथा—स्त्री दुर्विवृता दुर्निषण्णा शुक्रपुद्गलानधितिष्ठेत्, शुक्रपुद्गलसंसृष्टं वा तस्याः वस्त्रमन्तर्योनौ अनुप्रवेशयेत्, स्वयं वा सा शुक्रपुद्गलाननुप्रवेशयेत्, परो वा तस्याः शुक्रपुद्गलाननुप्रवेशयेत्, शीतोदकविकटेन व तस्या आचमन्त्याः शुक्रपुद्गला अनुप्रविशेयुः। इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैर्यावत् धारयेत्।

पञ्चभिः स्थानैः स्त्री पुरुषेण सार्द्ध संवसन्त्यपि गर्भ नो धारयेत्, तद्यथा—अप्राप्तयौवना, अतिक्रान्तयौवना, जातिवन्ध्या, ग्लान्यस्पृष्टा, दौर्मनस्किता। इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैर्यावत् नो धारयेत्।

पञ्चभिः स्थानैः पुरुषेण सार्द्धं संवसन्त्यपि नो गर्भ धारयेत्, तद्यथा—*नित्यर्तुका, अनृतुका, व्यापन्नस्त्रोता, व्याविद्धस्त्रोता, अनङ्गप्रतिषेविणी।* इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैः स्त्री पुरुषेण सार्द्धं संवसन्त्यपि गर्भ नो धारयेत्।

पञ्चभिः स्थानैः स्त्री पुरुषेण सार्द्ध संवसन्त्यपि गर्भं नो धारयेत्, तद्यथा—ऋतौ नो निकामप्रतिषेविणी चापि भवति, समागता वा तस्याः शुक्रपुद्गलाः प्रतिविध्वंसंते, उदीर्णं वा तस्याः पित्तशोणितं, पुरा वा देवकर्मणा पुत्र फलं वा नो निर्दिष्टं भवति। इत्येतैर्यावत् नो धारयेत्।

शब्दार्थ—**पंचहिं ठाणेहिं**—पांच कारणों से, **इत्थी**—स्त्री, **पुरिसेण सद्धिं**—पुरुष के साथ, **असंवसमाणीवि**—सहवास न करती हुई भी, **गब्भं**—गर्भ को, **धरेज्जा**—धारण कर सकती है, **तं जहा**—जैसे यदि, **इत्थी**—स्त्री, **दुव्वियडा**—परिधान रहित—नग्न, **दुन्निसण्णा**—

भद्दे ढंग से बैठी हुई हो तो, **सुक्कपोग्गले**—शुक्र-पुद्गलों को, **अहिट्ठिज्जा**—योनि में प्रवेश कर ले, **सुक्कपोग्गलसंसिट्ठे वा**—शुक्र-पुद्गलों से युक्त, **वत्थं**—वस्त्र को, **से**— उसकी, **अन्तोजोणीए**—योनि के अन्दर, **अणुपवेसेज्जा**—प्रवेश करा दिया जाए, **सइं वा**—अथवा स्वयं ही, **सा**—वह, **सुक्कपोग्गले**—शुक्र पुद्गलो को, **अणुपवेसेज्जा**—योनि में प्रविष्ट कर ले, **परो वा**—दूसरा कोई पुरुष, **से**—उस की योनि में, **सुक्कपोग्गले**— शुक्र-पुद्गलों को, **अणुपवेसेज्जा**—प्रवेश करा दे, **सीओदगवियडेण वा**—तालाब आदि के ठंडे जल से, **आयममाणीए**—स्नान करती हुई—अथवा आचमन करती हुई, **से**—उसकी योनि मे, **सुक्कपोग्गले**—शुक्र-पुद्गल, **अणुपवेसेज्जा**—प्रवेश कर जायें। **इच्चेएहिं**—इस प्रकार इन, **पंचहिं ठाणेहिं**—पांच कारणों से स्त्री, **जाव**—यावत् गर्भ, **धरेज्जा**—धारण कर सकती है।

पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणो से, **इत्थी**—स्त्री, **पुरिसेण सद्धिं**—पुरुष के साथ, **संवसमाणीवि**—सहवास करती हुई भी, **गब्भं**—गर्भ, **नो धरेज्जा**—नहीं धारण कर सकती है, **तं जहा**—जैसे, **अप्पत्तजोवणा**—स्त्री अप्राप्त यौवना हो—बालिका हो, **अइकंतजोवणा**—वृद्धा हो, **जाइवंझा**—जन्म से बांझ हो, **गेलन्नपुट्ठा**—रोगग्रस्त हो, **दोमणसिया**—सहवास के समय उसका मन किसी कारण से खिन्न हो। **इच्चेएहिं**—इस प्रकार इन, **पंचहिं ठाणेहिं**—पांच कारणो से स्त्री, **जाव**—यावत् गर्भ, **नो धरेज्जा**—नही धारण कर सकती।

पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणों से, **इत्थी**—स्त्री, **पुरिसेण सद्धिं**—पुरुष के साथ, **संवसमाणीवि**—सहवास करती हुई भी, **नो**—नहीं, **गब्भं**—गर्भ को, **धरेज्जा**—धारण कर सकती है, **तं जहा**—जैसे, **निच्चोउया**—नित्य ही ऋतुवती रहती हो, **अणोउया**—कभी ऋतुवती ही न होती हो, **वावन्नसोया**—उसका गर्भाशय नष्ट हो गया हो, **वाविद्धसोया**—गर्भाशय शक्तिहीन हो गया हो, **अणंगपडिसेवणी**—स्त्री चिह्न से अतिरिक्त अग से काम सेवन करने वाली हो। **इच्चेएहिं**—इस प्रकार इन, **पंचहिं ठाणेहिं**—पाच कारणों से, **इत्थी पुरिसेण सद्धिं**—स्त्री पुरुष के साथ, **संवसमाणीवि**—सहवास करती हुई भी, **गब्भं णो धरेज्जा**—गर्भ नहीं धारण कर सकती है।

पंचहिं ठाणेहि—पाच कारणों से, **इत्थी**—स्त्री, **पुरिसेण सद्धिं**—पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ धारण नहीं कर सकती है, **तं जहा**—जैसे, **उउंमि**—ऋतु के समय, **णो णिगामपडिसेविणी भवइ**—अति काम वासना का सेवन करते हुए, **सुक्कपोग्गला**— शुक्रपुद्गल, **पडिविद्धंसंति**—नष्ट हो जाये, **से**—उसको, **पित्तसोणिए**—पित्तप्रधान रक्त का, **उदिन्ने**—उद्रेक हो जाय, **पुरा**—प्राक्कालीन, **देवकम्मुणा**—किसी दैवी प्रकोप के कारण, **पुत्तफले**—पुत्र फल, **नो निदिट्ठे भवइ**—प्राप्त होने वाले न हों। **इच्चेएहिं**—इस प्रकार इन पांच कारणों से, **जाव नो धरेज्जा**—यावत् स्त्री पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ धारण नहीं कर सकती है।

मूलार्थ—पांच कारणों से स्त्री पुरुष के साथ संगम न करती हुई भी गर्भ धारण कर सकती है, जैसे—स्त्री नग्नावस्था में भद्दे ढंग से बैठी हुई हो तो वहां रहे हुए शुक्रपुद्गल उसकी योनि में प्रविष्ट हो जायें। शुक्रपुद्गल से सना हुआ वस्त्र योनि में चला जाए। वह स्वयं शुक्रपुद्गलों को योनि में प्रविष्ट कर ले। दूसरा कोई शुक्रपुद्गलों को योनि में प्रविष्ट करा दे। तालाब आदि में शीतल जल से आचमन या स्नान करती हुई स्त्री की योनि में शुक्रपुद्गल प्रविष्ट हो जाएं। इस भांति उक्त पांच कारणों से स्त्री पुरुष के साथ सहवास न करती हुई भी गर्भ धारण कर सकती है।

पांच कारणों से स्त्री पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ नहीं धारण कर सकती है, जैसे-अभी यौवन अवस्था को प्राप्त न हुई हो। यौवन अवस्था बीत चुकी हो। जन्म से वन्ध्या हो। रोगग्रस्त हो। सहवास के समय किसी कारण से उसका मन खिन्न हो। इस भाति उक्त पांच कारणों से स्त्री पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ धारण नहीं कर सकती है।

पांच कारणों से स्त्री पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ धारण कर सकती है, जैसे—नित्य ऋतु वाली हो। कभी ऋतुमती न होती हो। उसका गर्भाशय नष्ट हो गया हो। उसके गर्भाशय की शक्ति क्षीण हो गई हो। असेवनीय अंग के द्वारा काम वासना की पूर्ति करती हो। इन पांच कारणों से स्त्री पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ धारण नहीं कर सकती है।

पांच कारणों से स्त्री पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ धारण नहीं कर सकती, जैसे—ऋतुकाल में पूर्ण रूप से काम का सेवन करने वाली न हो। योनि में आये हुए शुक्रपुद्गल नष्ट हो जाते हों। पित्त-प्रधान शोणित का उद्रेक हो जाता हो। पूर्व-कृत दैवी प्रकोप हो। अथवा भाग्य में पुत्र प्राप्ति का फल न हो। इस प्रकार इन पांच कारणों से पुरुष का सहवास करती हुई भी स्त्री गर्भ धारण नहीं कर सकती है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे साधु के अन्त:पुर में प्रवेश के वे कारण बताए गए हैं, जिन कारणों से वह अन्त:पुर मे प्रवेश करता हुआ भी आज्ञा का उल्लघन नहीं करता। अन्त:पुर का सम्बन्ध स्त्रियो से है, वे स्त्रिया गर्भ धारण कर सन्तानोत्पत्ति किया करती है। उनके गर्भ-धारण का कारण पुरुष का सहवास होता है, परन्तु कभी-कभी वे बिना सहवास के भी गर्भ धारण कर लेती हैं और कभी सहवास करके भी गर्भ धारण नहीं कर पातीं। कोई राजमहिषी जब अनेक कारणों से गर्भ धारण नहीं कर पाती तो वह अन्य पुरुष का संसर्ग चाहती है, उस अवस्था में वह अन्त:पुर में जाने वाले साधु को भी विचलित करने का प्रयास कर सकती है, अत: साधु का प्रवेश वहा वर्जित कहा गया है। अतएव साधु को सावधान

करने की दृष्टि से यहां सूत्रकार स्त्री द्वारा गर्भ धारण कर सकने के और न कर सकने के कारण प्रदर्शित करते हैं।

कभी-कभी स्त्री पुरुष के साथ सहवास न करने पर भी गर्भ धारण कर लेती है। बिना पुरुष संयोग के गर्भाधान कैसे हो सकता है? सबसे पहले उन्हीं कारणों का विवेचन सूत्रकार ने किया है। पुरुष के साथ संग न करती हुई स्त्री अपनी असावधानी के कारण गर्भ धारण कर सकती है, उसके पांच कारण बताए गए हैं, जैसे कि—

१. कोई स्त्री गुह्यस्थान को बिना ढके पड़े हुए किसी शुक्र पुद्गल पर आकर बैठ जाए और उसके स्पर्श से अपत्यमार्ग द्वारा पुद्गल अन्दर प्रविष्ट हो जाएं तो वह स्त्री पुरुष के संयोग के बिना ही गर्भ धारण कर लेती है।

२ यदि शुक्रपुद्गल से भरे हुए वस्त्र को अपत्यमार्ग के मध्य में रख दिया जाए तो आकर्षण द्वारा बिना उपयोग से वह गर्भ धारण का कारण हो सकता है।

३ किसी व्यक्ति का शुक्रपुद्गल लेकर अपने ही हाथ से यदि कोई स्त्री अपत्यमार्ग में डाल दे तो भी वह गर्भ का कारण बन सकता है।

४. पुत्र की आशा से किसी समर्थ पुरुष का शुक्रपुद्गल लाकर यदि कोई श्वसुर आदि पुत्रवधू के स्मरमंदिर में डाल दे तो वह स्त्री गर्भ धारण कर सकती है।

५. जिस तालाब में बहुत से पुरुष स्नान करते है यदि उस जल मे कारण वश किसी पुरुष का शुक्रपुद्गल गिरा हुआ हो, उसके बाद कोई स्त्री नग्न होकर उसी तालाब में प्रविष्ट हो जाए, स्नान करने लग जाए, उस समय वह शुक्रपुद्गल किसी प्रकार यदि उसके स्मरमंदिर में प्रविष्ट हो जाए तो वह स्त्री बिना किसी सयोग से गर्भ धारण कर सकती है।

उपर्युक्त सूत्र से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि पतिव्रता, विधवा स्त्री और कन्या इन को उपर्युक्त पांच कारणों से सदैव सावधान रहना चाहिए। अपने अगों को सदा संगुप्त रखना चाहिए, वे बिना उपयोग बैठना आदि कोई क्रिया न करें, तभी वे कलंक से बच सकती हैं।

पांच कारणों से स्त्री सहवास करती हुई भी गर्भ धारण नहीं करती—

१. अप्राप्त-यौवना—जब तक मासिकधर्म आना प्रारम्भ नहीं होता, तब तक उसे अप्राप्त-यौवना ही कहते है। सोलह वर्ष की प्राय: प्राप्त-यौवना होती है।

२. अतिक्रान्तयौवना—जिस स्त्री का यौवन बीत गया हो। ६० वर्ष की आयु बीतने पर एव मासिक धर्म सर्वथा बद होने पर स्त्री को अतिक्रांत-यौवना कहा जाता है। अत: उक्त दो पदों से यह ध्वनित होता है कि गर्भ-धारण के योग्य केवल यौवन अवस्था ही है। अप्राप्तयौवन और अतिक्रान्त यौवन नहीं। विचारशील व्यक्ति को चाहिए कि वे पूर्व और पश्चिम अवस्था में ब्रह्मचर्य का पालन करें।

३. जाति-वन्ध्या—वन्ध्या शब्द का अर्थ होता है निर्बीजा, जो स्त्री गर्भ-धारण करने के सर्वथा अयोग्य है वह जाति वन्ध्या कहलाती है। यह दोष किसी-किसी स्त्री में जन्मजात ही होता है।

४. ग्लान्यस्पृष्ट—जो स्त्री रोगग्रस्त रहती है, वह पुरुष से गमन करती हुई भी गर्भ धारण नहीं कर सकती, क्योंकि रोग के कारण शुक्रपुद्‌गल गर्भाशय में तुरन्त विध्वस्त हो जाते हैं, अतः स्वस्थ स्त्री ही गर्भ धारण करने में समर्थ होती है।

५. दौर्मनस्यका—जो स्त्री सदैव चिंतातुर रहती है एवं शोकमग्न भी, वह पुरुष से सहवास करती हुई भी गर्भ धारण करने में समर्थ नहीं होती। बिना इच्छा से मैथुन करना, उदासीन रहना, कलह करने मे सलग्न रहना, ऐसी कुप्रवृत्तियों में फंसी हुई स्त्री गर्भ धारण नहीं कर सकती। गर्भधारण करने के लिये हर्षान्वित रहना आवश्यक है। उक्त पांच कारणो से सहवास करती हुई भी स्त्री गर्भाधान नहीं कर सकती।

गर्भाधान न होने के अन्य पांच कारण—

१. जो स्त्री नित्य ही रजस्वला बनी रहती है, जिसकी योनि से नित्य ही रक्तस्राव होता रहता है, ऋतु के तीन दिन का कोई परिमाण नही रहता है, इस कारण शुक्रपुद्‌गल और ओज गर्भाशय में ठहरने नहीं पाते, गर्भाधान होने पर मासिकधर्म बिल्कुल बंद हो जाता है।

२. अनृतुका—जिस स्त्री का मासिकधर्म का आना प्रौढ-यौवना होने पर भी बन्द हो गया है, मासिकधर्म के प्रारम्भिक दिन से लेकर गर्भाशय का मुख-पद्म पन्द्रह दिन खुला रहता है। पहले के तीन दिन निकाल कर शेष १२ दिन गर्भाधान के लिये श्रेष्ठ होते हैं। गर्भाधान होने पर भी गर्भाशय का मुख-पद्म संकुचित एव बन्द हो जाता है और शेष १५ दिन बिल्कुल बन्द ही हो जाता है। मुखपद्म बन्द हो जाने पर पुरुष के साथ सहवास करने पर भी शुक्रपुद्‌गल गर्भाशय मे प्रविष्ट नही होता है, अतः स्त्री गर्भाधान नहीं करती है।

३. व्यापन्नस्रोता—जिस स्त्री का गर्भाशय रोग के कारण विध्वस्त हो गया है, वह स्त्री गर्भ धारण करने के लिये सर्वथा असमर्थ होती है।

४. व्यादिग्धस्रोता—जिस स्त्री का गर्भाशय वायु से व्याप्त हो, वह स्त्री भी गर्भ धारण करने के समर्थ नही रहती।

५. जो स्त्री कामवासना के उद्रेक से अप्राकृतिक मैथुन सेवन करती है, वह भी गर्भाधान के सर्वथा अयोग्य हो जाती है। मेहन और भग इन मुख्य अंगों को छोड़ कर प्रकृति विरुद्ध मैथुन करने वाली अथवा कामवासना की अधिकता से वेश्या की तरह अन्य पुरुषो के साथ क्रीड़ा करने वाली स्त्री को 'अनंग-प्रतिषेवणी' कहा जाता है। वह भी गर्भधारण करने में असमर्थ है। इन पाच कारणो से स्त्री पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ धारण नहीं कर सकती।

गर्भाधान न होने के अन्य पांच कारण—

निम्नलिखित पांच कारणो से स्त्री पुरुष के साथ सहवास भी यदि करती रहे तो भी गर्भधारण नहीं कर सकती, जैसे कि—

१. जो ऋतुकाल में भी पुरुष के साथ अत्यर्थ सगम नहीं करती अर्थात् प्रमाणोपेत पुरुष का वीर्यपात न मिलने से वह गर्भधारण नही कर सकती।

२. यदि स्मरमंदिर में शुक्रपुद्गल सम्यक् प्रकार से प्रविष्ट न हों, अथवा योनि-दोष से उसकी शक्ति नष्ट हो जाए या शुक्रपुद्गल के बाहर निकल जाने से विध्वस्त हो जाए, तो स्त्री गर्भ धारण नहीं कर सकती।

३ जिस स्त्री का शोणित उत्कट रूप से पित्त-प्रधान बन गया है, उसके संसर्ग से शुक्रपुद्गल बीज रूप न होकर अबीज रूप हो जाता है, इस कारण स्त्री पुरुष से संगम करती हुई भी गर्भ धारण नहीं कर सकती।

४. गर्भ अवसर से पहले ही जिसका गर्भाशय दैवी प्रकोप से नष्ट-भ्रष्ट हो गया हो, या किसी औषधि विशेष से या आप्रेशन से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया हो, तब भी स्त्री को गर्भ धारण नहीं हो सकता।

५ जिस स्त्री ने पूर्व जन्म मे पुत्र रूप फल की उपलब्धि के योग्य कर्म न किए हो, अर्थात् जिस दान से पुत्रफल की प्राप्ति हो वह दान यदि न दिया हुआ हो तो वह पुरुष का सहवास करने पर भी पुत्र-फल की प्राप्ति नही कर सकती।

प्रस्तुत सूत्र से सदाचार मे प्रवृत्ति, आयुर्वेद द्वारा रोग की निवृत्ति, बालविवाह और वृद्धविवाह का निषेध, पुत्रेच्छा को छोड़कर विषय-वासना का परित्याग, जिस दान से पुत्रफल की प्राप्ति हो उसकी कर्त्तव्यता बताई गई है। साथ ही देवक्रिया को भी कारण बतलाया गया है। शास्त्रकार ने अति विषय सेवन पुत्रफल के लिये अयोग्य सिद्ध किया है, स्वदारा-संतोष व्रती एवं स्वभर्ता-संतोष व्रत धारण करने वाले स्त्री-पुरुषों के लिये यह पाठ विशेष अनुमनन के योग्य है।

साधु और साध्वियों की एकत्र स्थिति के अपवाद

मूल—पंचहिं ठाणेहिं निग्गंथा निग्गंथीओ य एगअओ ठाणं वा, सिज्जं वा, निसीहियं वा चेएमाणे णाइक्कमंति, तं जहा—अत्थेगइया निग्गंथा निग्गंथीओ एगं महं अगामियं छिन्नावायं दीहमद्धमडविमणुपविट्ठा, तत्थेगयओ ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेएमाणे णाइक्कमइ।

अत्थेगइया निग्गंथा निग्गंथीओ य गामंसि वा, णगरंसि वा जाव

रायहाणिंसि वा वासं उवागता एगइया जत्थ उवस्सयं लभंति, एगइया णो लभंति, तत्थेगइओ ठाणं वा जाव नाइक्कमंति।

अत्थेगइया निग्गंथा य निग्गंथीओ य नागकुमारावासंसि वा (सुवण्ण-कुमारावासंसि वा) वासं उवागया, तत्थेगयओ जाव णाइक्कमंति।

आमोसगा दीसंति, ते इच्छंति निग्गंथीओ चीवरपडियाए पडिगाहित्तए, तत्थेगयओ ठाणं वा जाव णाइक्कमंति।

जुवाणा दीसंति, ते इच्छंति निग्गंथीओ मेहुणवडियाए पडिगाहित्तए, तत्थेगयओ ठाणं वा जाव णाइक्कमंति।

इच्चेहिं पंचहिं ठाणेहिं जाव नाइक्कमंति ॥३१॥

छाया—पञ्चभि: स्थानैर्निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च एकत्र स्थानं वा, शय्यां वा, निषीदिकां वा कुर्वाणा नातिक्रमन्ति, तद्यथा—अस्त्येका निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्चैकां छिन्नापातां दीर्घाध्वानमटवीमनुप्रविष्टा:, तत्रैकत: स्थानं वा, शय्यां वा, निषीदिकां वा कुर्वाणा नातिक्रमन्ति।

अस्त्येका निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च, ग्रामे वा, नगरे वा यावत् राजधान्यां वा वासमु-पागता:, एकका यत्रोपाश्रयं लभन्ते, एकका नो लभन्ते, तत्रैकत: स्थानं वा यावत् नातिक्रमन्ति।

अस्त्येकका निर्ग्रन्था: निर्ग्रन्थ्यश्च, नागकुमारवासे वा (सुपर्णकुमारवासे वा) वासमुपगतास्तत्रैकतो यावत् नातिक्रमन्ति।

आमोषका दृश्यन्ते, ते इच्छन्ति निर्ग्रन्थीश्चीवरप्रतिज्ञया प्रतिग्रहीतुं, तत्रैकत: स्थानं वा यावत् नातिक्रमन्ति।

युवानो दृष्यन्ते ते इच्छन्ति निर्ग्रन्थी: मैथुनप्रतिज्ञया प्रतिग्रहीतुं, तत्रैकत: स्थानं वा यावत् नातिक्रमन्ति।

इत्येतै: पञ्चभि: स्थानैर्यावत् नातिक्रमन्ति।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं—पाच कारणों से, **निग्गंथा**—निर्ग्रन्थ, **निग्गंथीओ**—निर्ग्रन्थी-साध्वी, **एगअओ**—एक स्थान पर, **ठाणं वा**—स्थिति, **सिज्जं वा**—शयन, **निसीहियं वा**—स्वाध्याय, **चेएमाणे**—करते हुए, **णाइक्कमंति**—जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते है, **तं जहा**—जैसे, **अत्थेगइया**—एक ही स्थान प्राप्त कर पाए हों तो, **निग्गंथा**—साधु, **निग्गंथीओ**—साध्वी, **एगं**—एक, **महं**—महती, **आगामियं**—ग्राम-शून्य, **छिन्नावायं**—जहां मनुष्यो का आना-जाना नही है, **दीहमद्धं**—लम्बे रास्ते वाली, **अडविं**—अटवी में, **अणुपविट्ठा**—प्रवेश किये हुए हों, **तत्थ**—वहां, **एगअओ**—एक जगह, **ठाणं वा**—बैठना,

सेज्जं वा—शयन और, **निसीहियं वा**—स्वाध्याय, **चेएमाणे**—करते हुए, **णाइक्कमंति**—जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करते है।

अत्थेगइया—एक को ही स्थान मिलने पर, **निग्गंथा निग्गंथीओ**—निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी, **गामंसि वा**—ग्राम में, **जाव**—यावत्, **रायहाणिंसि वा**—राजधानी मे, **वासं उवागया**—निवास को प्राप्त हुए हों, **एगइया**—एकत्र स्थिति वाले, **जत्थ**—जहा, **उवस्सयं**—उपाश्रय, **लभंति**—प्राप्त कर लेते हैं, **एगइया**—उनमे से एक, **णो लभंति**—नहीं प्राप्त कर पाते हैं तो, **तत्थ**—वहां, **एगइओ**—एकत्र, **ठाणं वा**—स्थिति, **जाव**—यावत्, **नाइक्कमंति**—जिनाज्ञा का उल्लघन नहीं करते हैं।

अत्थेगइया—एक ही स्थान पर, **निग्गंथा निग्गंथीओ**—श्रमण निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी, **नागकुमार-वासंसि वा**—नागकुमार के मदिर मे, **सुवण्णकुमारवासंसि वा**—सुपर्णकुमार के मंदिर में, **वासं उवागया**—निवास करने को प्राप्त हुए हों, **तत्थ**—वहां, **एगइओ**—एकत्र, **जाव**—यावत्, **णाइक्कमंति**—आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते है।

आमोसगा—चोर, **दीसंति**—दिखलाई दें, **ते**—वे, **निग्गंथी**—साध्वियो के, **चीवर-पडियाए**—वस्त्रों की इच्छा से, **पडिगाहित्तए**—छीनना, **इच्छंति**—चाहते हो, **तत्थ**—वहा, **एगइओ**—एक स्थान पर, **जाव**—यावत् रहते हुए, **णाइक्कमंति**—जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते हैं।

जुवाणा दीसंति—युवा व्यक्ति दिखलाई देते हैं, **ते**—वे, **निग्गंथी**—साध्वियो को, **मेहुणपडियाए**—मैथुन की इच्छा से, **पडिगाहित्तए**—पकड़ना, **इच्छंति**—चाहते हैं, **इच्चेएहिं**—इस प्रकार इन, **पंचहिं ठाणेहिं**—पांच कारणों से, **जाव**—यावत् जिनाज्ञा का, **णाइक्कमंति**—उल्लंघन नही करते है।

मूलार्थ—पांच कारणों से निर्ग्रन्थ (साधु) और साध्वियां एकत्र स्थिति, शय्या एवं स्वाध्याय करते हुए भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं, जैसे—कुछ साधु और साध्वियां एक विशाल ग्राम-रहित निर्जन लम्बे मार्ग वाली अटवी मे से यात्रा कर रहे हों तो वहां एकत्र स्थिति, शय्या एवं स्वाध्याय करते हुए वे जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं।

कुछ साधु और साध्वियां ग्राम में, नगर में यावत् राजधानी में निवास करने आये हों, उन में से एक उपाश्रय पा गये हो, परन्तु दूसरे न पा सके हों, तो वहां एकत्र स्थिति और स्वाध्याय आदि करते हुए वे जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं।

कुछ साधु और साध्वियां नागकुमार के अथवा सुपर्णकुमार के मन्दिर में निवास कर रहे हों, तो वहां एकत्र स्थिति और स्वाध्याय आदि करते हुए जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते हैं।

आर्मोषक अर्थात् चोर आदि वस्त्र लेने की इच्छा से साध्वियों को पकड़ना चाहते हों तो वहां (उनकी रक्षा के लिये) साधु-साध्वियों की एकत्र स्थिति और स्वाध्याय आदि करना जिनाज्ञा के विरुद्ध नहीं माना जाता है।

(कुछ भ्रष्ट) युवक लोग मैथुन की इच्छा से साध्वियों को पकड़ना चाहें तो वहां एकत्र स्थिति एवं स्वाध्याय आदि करते हुए साधु-साध्वी जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं।

इस प्रकार उक्त पांच कारणों से साधु और साध्वी परस्पर एक दूसरे के साथ स्थिति करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते हैं।

विवेचनिका—इससे पूर्व के सूत्र मे सूत्रकार ने पुरुष-सहवास के बिना भी पांच कारणों से नारी गर्भ धारण कर लेती है, इस विषय का विवेचन किया था, जिससे साधु-साध्वियों की एकत्र स्थिति के निषेध का कारण भी ध्वनित हो रहा था। समादरणीय साध्वियो के लिये मर्यादित एवं ध्वनि-प्रधान भाषा का प्रयोग ही उचित था, अत: शास्त्रकार ने उसे ध्वनित ही किया है, फिर भी साध्वी-जीवन एव साधु-जीवन मे कभी ऐसी आपत्कालीन स्थिति भी आ सकती है जहां साधु-साध्वियो को एक ही स्थान पर रहना पड़ जाए तो उसी आपत्कालीन परिस्थिति म एक ही स्थान पर रहने के पाच आपवादिक कारणों पर प्रस्तुत सूत्र मे प्रकाश डाला गया है।

पांच कारणों के उपस्थित हो जाने पर साधु और आर्याए एक स्थान में रहते हुए भी भगवान की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते, वे एक ही स्थान मे रहते हुए कायोत्सर्ग, ध्यान, स्वाध्याय एवं समाधिस्थ होने की साधना कर सकते है। वे पाच कारण निम्नलिखित है—

१. यदि दुर्भिक्ष पड़ने पर एक दिशा की ओर से स्थविरकल्पी साधु विहार करते हुए और दूसरी ओर से आर्याएं विहार करती हुईं किसी ऐसी महाटवी में प्रविष्ट हो गए हों जिसमें न कोई ग्राम है और न कोई नगर है, न किसी यात्री का आवागमन हो, उस अटवी में अकस्मात् यदि सायंकाल एक जगह साधु और साध्वियां सम्मिलित हो जाए तो एक ही स्थान में कायोत्सर्ग, धर्मध्यान, समाधि, स्वाध्याय, निद्रामोचन आदि क्रियाएं करते हुए वे भगवान की आज्ञा का उल्लंघन नही करते है।

२. यदि साधु और साध्वीवृन्द किसी ग्राम, नगर या राजधानी में अकस्मात् ही विपरीत दिशाओं से आए हों, उनमें से किसी को ठहरने के लिए स्थान मिल गया है और दूसरे वृन्द को न मिल पा रहा हो और विहार का समय न रहा हो तो वे इस स्थिति में एक ही स्थान पर ठहर कर कायोत्सर्ग आदि क्रियाएं करते हुए जिनेन्द्र देव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं।

३. यदि साधु और आर्याएं नागकुमार या सुपर्णकुमार के आवास में विपरीत दिशाओं

से विहार करते हुए अकस्मात् ही आ पहुंचे और उस आवास मे अन्य बहुत से लोग भी आए हुए हों, उनका कोई नायक न हो, या वह आवास सूना ही हो तो साध्वीजन की रक्षा के लिये वे एक स्थान पर रह सकते है और ऐसी दशा में वे एक ही स्थान पर कायोत्सर्ग, स्वाध्याय आदि क्रिया करते हुए जिनेन्द्र देव की आज्ञा का अतिक्रमण नही करते।

४. यदि साध्वीवृन्द के पीछे चोर लगे हुए हो और वे उनके वस्त्र आदि छीनने के लिए साध्वियों को पकडना चाहते हों तो साध्वीजन की रक्षा के लिये साधु-साध्वी एक स्थान में रहकर कायोत्सर्ग आदि शुभ क्रियाए करते हुए मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते।

५ यदि कोई पुरुष किसी साध्वी के शील भग करने की इच्छा से उसे पकडना चाहता हो और साध्वी अपने आप को बचाने के लिये शरण चाहती हो और उस समय उधर से अकस्मात् साधु आ पहुंचें तो ऐसे अवसर में साधु साध्वी की रक्षा के निमित्त एक स्थान मे रहकर कायोत्सर्ग, स्वाध्याय आदि करते हुए प्रभु-आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते।

उत्सर्ग-मार्ग मे साधु-साध्वी के लिये एक स्थान मे रहकर कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, रहना, सोना आदि सभी क्रियाए करना निषिद्ध है, किन्तु उपर्युक्त पांच कारणो से साधु-साध्वी एक स्थान मे रहकर कायोत्सर्ग करना, स्वाध्याय करना, रहना, निद्रामोचन करना इत्यादि सभी शुभ क्रियाए करते हुए भगवान की आज्ञा या साधु-मर्यादा का उल्लघन नहीं करते। आपवादिक स्थिति में अपवादमार्ग का अवलबन लेना भी स्थविर कल्पियों का कर्त्तव्य है।

वृत्तिकार भी इस विषय में लिखते हैं "**इदमपवादसूत्रम्**"। जो सूत्र मे '**ठाणं**' पद दिया है उसका आशय है कायोत्सर्ग और बैठना '**कायोत्सर्गम्-उपवेशनं वा**'। जो '**सिज्जं**' पद दिया है उसका भाव शयन है। जो '**निसीहियं**' पद दिया है उसका भाव स्वाध्याय है तथा जो '**चेएमाणे**' पद दिया है उसका अर्थ है करते हुए। जो "**अगामियं**" पद दिया है उस के दो अर्थ निकलते हैं— '**अग्रामिकां**' जिस मे कोई ग्राम नहीं है एवं '**अकामिकां**'— बिना कामना के जिस अटवी मे प्रवेश किया गया हो। '**आमोसगा**' पद से चोर जानने चाहिएं। **आमुष्णन्ति—इति आमोषकाः—चौराः**। "**चीवरपडियाए**" वस्त्र ग्रहण करने की आशा से। पाचवें अंश मे "**जुवाणा**" यह बहुवचन बहुत निर्ग्रन्थियों का सूचक है।

साधु का साध्वियों के साथ निवास करने के पांच अपवाद

मूल—पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे अचेलए सचेलियाहिं निग्गंथीहिं सद्धिं समवसमाणे नाइक्कमइ, तं जहा—खित्तचित्ते समणे निग्गंथे निग्गंथेहिं अविज्जमाणेहिं अचेलए सचेलियाहिं निग्गंथीहिं सद्धिं समवसमाणे णाइक्कमइ। एवमेएणं गमएणं दित्तचित्ते, जक्खाइट्ठे, उम्मायपत्ते, निग्गंथी पव्वावियए, समणे णिग्गंथेहिं अविज्जमाणेहिं अचेलए सचेलियाहिं णिग्गंथीहिं सद्धिं संवसमाणे णाइक्कमइ ॥ ३२ ॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थोऽचेलकः सचेलिकाभिर्निर्ग्रन्थीभिः सार्द्ध संवसन् नातिक्रामति, तद्यथा—क्षिप्तचित्तः श्रमणो निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थेष्वविद्यमानेष्व-चेलकः सचेलकाभिः निर्ग्रन्थीभिः सार्द्ध संवसन् नातिक्रामति। एवमेतेन गमेन दृप्तचित्तः श्रमणो निर्ग्रन्थः यक्षाविष्टः, उन्मादप्राप्तः, निर्ग्रन्थीप्रव्राजितः श्रमणो निर्ग्रन्थेष्वविद्य-मानेषु सचेलिकाभिर्निर्ग्रन्थीभिः सार्द्धं समवसन् नातिक्रामति।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणों से, **समणे निग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ, **अचेलए**—अचेलक—नग्न, **सचेलियाहिं**—वस्त्र धारण करने वाली, **निग्गंथीहिं**—निर्ग्रन्थियों के, **सद्धिं**—साथ, **समवसमाणे**—रहता हुआ, **नाइक्कमइ**—अतिक्रमण नहीं करता है, **तं जहा**—जैसे, **खित्तचित्ते**—क्षिप्तचित्त—पागल है यदि, **समणे निग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ, **निग्गंथेहिं**—दूसरे साधुओं के, **अविज्जमाणेहिं**—विद्यमान न रहने पर, **अचेलए**—अचेलक, **सचेलियाहिं निग्गंथीहिं**—सवस्त्रा निर्ग्रन्थियों के, **सद्धिं**—साथ, **संवसमाणे**—रहता है, तो, **णाइक्कमइ**—अतिक्रमण नही करता है, **एवं**—इसी प्रकार, **एवमेएणं गमएणं**—इस गमक से, **दित्तचित्ते**—हर्षादि के कारण दृप्तचित्त, **जक्खाइट्ठे**—यक्षाविष्ट, **उम्मायपत्ते**—उन्माद प्राप्त, **निग्गंथीपव्वावियए समाणे**—साध्वियों के द्वारा प्रव्राजित अर्थात् दीक्षित होता हुआ, **णिग्गंथेहिं**—साधुओं के, **अविज्जमाणेहिं**—विद्यमान न रहने पर, **अचेलए**—अचेलक, **सचेलियाहिं णिग्गंथीहिं**—सचेलक साध्वियों के, **सद्धिं**—साथ, **संवसमाणे**—रहता हुआ, **णाइक्कमइ**—अतिक्रमण नहीं करता है।

मूलार्थ—पांच कारणों से अचेलक अर्थात् नग्न श्रमण निर्ग्रन्थ सचेलक अर्थात् सवस्त्रा साध्वियों के साथ रहता हुआ भी जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है, जैसे-श्रमण निर्ग्रन्थ यदि क्षिप्तचित्त (पागल) हो, तो वह दूसरे साधुओं के आसपास विद्यमान न होने पर सवस्त्रा साध्वियों के साथ रहता हुआ जिन आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है। इसी प्रकार इसी गमक से अगले पाठ भी समझ लेने चाहिएं अर्थात् हर्षोन्मत्त, यक्षाविष्ट, उन्माद को प्राप्त, साध्वी के द्वारा दीक्षित, अचेलक श्रमण यदि आस-पास दूसरे साधु विद्यमान न हों, तो सवस्त्रा साध्वियों के साथ रहता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे साधु-साध्वियों के एकत्र अवस्थान की आपवादिक स्थिति का वर्णन किया गया है, उसी परम्परा में पुनः प्रस्तुत सूत्र में साधु-साध्वियों की एकत्र स्थिति के आपवादिक नियमों का शास्त्रकार उल्लेख कर रहे है।

किसी विशेष कारण के उपस्थित होने पर ही अपवाद-मार्ग में प्रवृत्ति हुआ करती है। जैसे ग्रीष्म-काल में कम्बल ओढने की स्वभावतः आवश्यकता नहीं होती, यही उत्सर्ग-मार्ग है, किन्तु ओले बरसने पर जैसे ग्रीष्म-काल में भी कम्बल ओढ़ना पड़ता है, वैसे ही

कभी-कभी संयमी के समक्ष आपवादिक परिस्थितियां भी आ जाया करती है। उस समय यदि अपवाद का अवलम्बन न किया जाए तो जीवन-यात्रा भी असम्भव हो जाती है। परन्तु कर्त्तव्य-विमुखता को अपवाद मान कर चलते रहने पर जीवन और समाज में शिथिलता आ जाती है, अत: साधक के सामने चारित्र-शुद्धि और व्यवहार-शुद्धि का लक्ष्य सदैव बना रहना चाहिए। उसके लिये दोनों का ही पालन करना आवश्यक होता है। दोनो के समन्वय में किसी को कोई विरोध नहीं है, किन्तु कभी-कभी चारित्र-शुद्धि को प्रमुखता देते हुए व्यवहार-शुद्धि को गौण कर दिया जाता है, उसी स्थिति को अपवाद कहा गया है। ऐसी आपवादिक स्थिति में पांच कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ साध्वियों के साथ रहता हुआ भी मर्यादा का उल्लघन नही करता है। जैसे कि:—

१. **क्षिप्तचित्त**—गुरु शिष्य चले जा रहे है, उनमें से किसी स्थान पर गुरु का शरीर शान्त हो जाता है और शिष्य-दीक्षा पर्याय में बहुत छोटा है और उसकी आयु भी कम है। उसी समय अकस्मात् उधर से साध्वी वृन्द वही आ पहुंचा, उन्होने उस निर्ग्रन्थ को समझाया और शोक-मुक्त किया ऐसी दशा मे जहां तक अन्य कोई श्रमण निर्ग्रन्थ न मिले वहां तक वह साधु साध्वियों के साथ रहता हुआ शास्त्र-आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। तब तक उसका अकेला रहना उचित नहीं है जब तक कि वह स्ववशी न बन जाए। उसके शोक और किंकर्त्तव्यविमूढता को दूर करने के लिए तथा संयमी जीवन को स्थिर रखने के लिये उसका साध्वियों के साथ रहना भी समुचित है।

२. **दृप्तचित्त**—जो साधु अतिहर्ष से पागल-सा हो रहा है या गर्वित हो रहा है, संभव है गुरु के देवलोक में गमन कर जाने पर वह देव रूप में स्वर्ग से दर्शन देने आया हो और शिष्य को या साथी साधु को "तेरा भावी जीवन प्रत्येक दृष्टि से समुज्ज्वल और समुन्नत होगा" ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गया हो और उससे वह दृप्तचित्त वाला हो रहा हो, वह यदि जहां तक अन्य साथी साधु न मिलें वहां तक साध्वियो के साथ रहे या साध्विया उसे साथ रखें तो वे भगवान की आज्ञा का उल्लघन नहीं करते, क्योंकि वह दीक्षा और वय मे अभी कच्चा है। उसे अकेला न रहने देना ही उचित है।

३. **यक्षाविष्ट**—यदि कोई साधु गुरु-आज्ञा से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए देवाधिष्ठित हो जाए और दूसरी ओर वही पर अकस्मात् साध्वीवृन्द आ पहुचे तो उसकी सार-संभाल करने के लिये तथा उसके संयम की रक्षा के लिए साध्वी-वृन्द उसे साथ रखे। अथवा "वह कह दे कि मुझे अमुक साधु के पास छोड़ दीजिए तो उसे साथ रखते हुए या वह किसी निश्चित समय के लिए उनके साथ रहे तो वह भगवान की आज्ञा का उल्लंघन नहीं माना जाता। संयम की रक्षा करना, सयम में स्थिर करना भी सर्वविरति का परम कर्त्तव्य है।

४. **उन्मादप्राप्त**—यदि कोई साधु शोक से या वायु के प्रकोप से पागल जैसा हो रहा

हो, उधर से अकस्मात् साध्वी वृन्द वहां आ पहुंचे और वह उनसे कहता है कि मुझे ''अमुक साधु के पास जाना है'' तो साध्वी वृद उसकी और उसके सयम की रक्षा का ध्यान रखते हुए साथ ले जाए तब वह उनके साथ रहता हुआ भी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

५. **निर्ग्रन्थी-प्रव्रजित**—किसी वैरागन माता ने या बड़ी बहन ने स्वय दीक्षा लेते हुए ऐसे पुत्र या छोटे भाई को भी साथ ही दीक्षित किया है, जो वय से और दीक्षा से लघु है उसे तब तक साध्वी वृन्द साथ रख सकता है जब तक कि दूसरे श्रमण निर्ग्रन्थ न मिल जाएं। ऐसा करते हुए तथा साधु उनके साथ रहते हुए मर्यादा कर भग नहीं करता। नवदीक्षित की सार-संभाल करना उतना ही जरूरी है जितना कि शिशु का पालन आवश्यक होता है।

क्षिप्तचित्त, दृप्तचित्त, यक्षाविष्ट तथा उन्मादप्राप्त ये चार सूत्र तो अनुकंपा और परोपकार के सूचक है, क्योंकि वैयावृत्य अर्थात् सेवा अनुकंपा के आधार से ही हो सकती है। पांचवां सूत्र दीक्षा विषयक है, वह ऐहलौकिक और पारलौकिक हित के लिये कथन किया गया है। चौथे भंग में 'उन्माद' शब्द से कामवासना से अधिकृत नहीं, अपितु वातादि के क्षोभ से जानना चाहिए।

यद्यपि प्रस्तुत सूत्र में साधु का विशेषण 'अचेलक' दिया हुआ है, परन्तु उसका अभिप्राय स्वल्प वस्त्र साधु ही है, सर्वथा नग्नता व्यवहारानुकूल नही है। उन्माद की अवस्था में यदि शरीर स्मृति से रहित साधु निर्वस्त्र भी हो तो भी वह साध्वियो के साथ रह सकता है। साध्वी नियमित रूप से वस्त्र धारण करती है, अत: उसे सचेलिका कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे साधु के साथ एक वचन और साध्वियो के साथ बहुवचन का प्रयोग किया गया है, जिससे यह ध्वनित होता है कि एक साधु उपर्युक्त दशाओं में अनेक साध्वियो के साथ रह सकता है, अकेली साध्वी के साथ नहीं।

पञ्चविध आस्त्रव-द्वार, संवर-द्वार और दण्ड

मूल—पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा—मिच्छत्तं, अविरई, पमाए, कसाया, जोगा।

पंच संवरदारा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मत्तं, विरई, अपमाओ, अकसाइत्तमजोगित्तं।

पंच दंडा पण्णत्ता, तं जहा—अट्ठादंडे, अणट्ठादंडे, हिंसादंडे, अकम्हा दंडे, दिट्ठीविप्परियासियादंडे ॥ ३३ ॥

छाया—पंच आस्त्रवद्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मिथ्यात्वम्, अविरतिः, प्रमादः, कषायाः, योगाः।

पंच संवरद्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—सम्यक्त्वं, विरतिः, अप्रमादः, अकषायित्वम्, अयोगित्वम्।

पञ्च दण्डाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—अर्थदण्डः, अनर्थदण्डः, हिंसादण्डः, अकस्माद्दण्डः, दृष्टिविपर्यासित-दण्डः।

शब्दार्थ—पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा—पांच आस्रव के द्वार—मार्ग कथन किये गए हैं, जैसे, **मिच्छत्तं**—मिथ्यात्व, **अविरई**—अविरति, **पमाए**—प्रमाद, **कसाया**—कषाय और, **जोगा**—योग।

पंच संवरदारा पण्णत्ता, तं जहा—पाच संवर के द्वार कथन किये गए हैं, जैसे, **सम्मत्तं**—सम्यक्त्व, **विरई**—विरति, **अपमाओ**—अप्रमाद, **अकसाइत्तं**—अकषायित्व, **अजोगित्तं**—अयोगित्व।

पंच दंडा पण्णत्ता, तं जहा—पाच दण्ड कथन किये गए है, जैसे, **अट्ठादंडे**—अर्थ-दण्ड, **अणट्ठादंडे**—अनर्थ-दण्ड, **हिंसादंडे**—हिंसा-दण्ड, **अकम्हादंडे**—अकस्मात् दण्ड, **दिट्ठीविप्परियासिया दंडे**—मित्र को शत्रु समझते हुए मारना दृष्टि विपर्यास दण्ड है।

मूलार्थ—पाच आस्रव-द्वार वर्णित किये गए हैं, जैसे—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग।

पाच संवर-द्वार कथन किये गए हैं, जैसे—सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषायित्व और अयोगित्व।

पांच दण्ड वर्णन किये गए है, जैसे—अर्थदण्ड—किसी प्रयोजन को लेकर प्राणी की हिंसा करना, अनर्थ-दण्ड—बिना प्रयोजन व्यर्थ ही किसी प्राणी की हिंसा करना, सर्पादि से भयभीत होकर उनको मारना हिंसा-दण्ड है, अन्य को मारने के लिये बाण आदि छोड़ना, किन्तु वह जिसके लिये छोडा गया है उसे न लग कर अकस्मात् ही किसी दूसरे को लग जाए तो वह अकस्मात् दण्ड है। शत्रु के भ्रम से मित्र को ही मार देना दृष्टि-विपर्यास दण्ड है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रों में आपवादिक परिस्थितियो का वर्णन किया गया है। यदि कोई साधक आपवादिक मार्ग की स्थिति न होने पर भी उसे आपवादिक स्थिति मान कर जिनाज्ञा का उल्लघन करता है तो वह आस्रव-द्वारो का उद्घाटन करता है, भूल मालूम होने पर आस्रव-द्वारो को अवरुद्ध करने का प्रयास भी करता है और जीव-हिंसा हेतु दण्ड ग्रहण करने के लिये भी मनुष्य प्रस्तुत हो जाता है, अतः अब शास्त्रकार इसी विषय का वर्णन करते हैं।

आस्रव और उसके भेद—आस्रव दो प्रकार का होता है—द्रव्य-आस्रव और भावास्रव। जीव का कार्मण पुद्गलों के सन्निकट हो जाना द्रव्यास्रव है। प्रमादपूर्ण योगो से अथवा

रागद्वेष आदि भावों के प्रवाह का नाम भावास्त्रव है। इन दोनो मे जन्य-जनक भाव संबध है। आस्त्रव-द्वार पांच प्रकार के होते हैं जैसे कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये कर्मों के प्रवेश-द्वार हैं। इन से ही कर्मो का बंध होता है। तत्त्व में अतत्त्व बुद्धि और अतत्त्व मे तत्त्व-बुद्धि तथा शास्त्र-मर्यादा के विरुद्ध आचरण को मिथ्यात्व कहा जाता है, पापों से निवृत्ति न पाना और भोगासक्ति को प्रधानता देना अविरति है, धर्म से विमुख होकर जीवन व्यतीत करना और स्वकर्त्तव्य-विमुख रहना प्रमाद है, क्रोध, मान, माया और लोभ पर नियंत्रण न करना कषाय है और मन, वचन तथा काय को वश में न करना एव इन्द्रियों का निग्रह न करना योगास्त्रव है।

संवर और उसके भेद—आस्त्रव के द्वारों को रोकना सवर है, जैसे द्वार खुले रहने से मकान मे धूल आदि आने लग जाते है और द्वार बंद हो जाने से वायु और मिट्टी आदि सबका निरोध हो जाता है, इसी प्रकार कर्मो के सभी प्रवेश-द्वारो को रोकना संवर है। मिथ्यात्व द्वार के रोकने से आत्मा मे सम्यक्त्व गुण उत्पन्न होता है। जब तक जीव सम्यक्त्व गुण मे अवस्थित रहता है, तब तक मिथ्यात्व का आस्त्रव सर्वथा बद ही रहता है। तत्त्वज्ञान मे श्रद्धा रख कर आत्मानुभूति करना ही सम्यक्त्व कहलाता है। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इनसे सर्वथा निवृत्ति पाना ही विरति-सवर है। विरति अवस्था मे ऊपर कहे हुए पापों का सेवन नहीं होता, इसलिये अविरति से होने वाला आस्त्रव तब तक बद रहता है, जब तक कि विरति के परिणाम बने रहते हैं। प्रमाद का अभाव ही अप्रमाद कहलाता है। धर्म से सम्बन्ध तोड़ लेना ही प्रमाद है और धर्म से किसी भी क्षण मे सम्बन्ध विच्छेद न करना ही अप्रमाद-सवर है। अप्रमाद अवस्था मे प्रमाद-आस्त्रव के लिये कोई भी स्थान नहीं है। कषायभाव का अभाव ही अकषाय संवर है। योगों का सर्वथा निरोध करना ही अयोग-संवर है। सम्यक्त्व संवर का फल है—उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र संसार शेष रह जाना। विरति संवर का फल है—उत्कृष्ट १५ जन्म शेष रह जाना। अप्रमाद-सवर और अकषाय-सवर का फल है उत्कृष्ट उसी भव मे केवल-ज्ञान का हो जाना। अयोग संवर का फल है—उसी समय मोक्ष हो जाना। इस प्रकार पांच सवरो का फल आगमों मे स्पष्ट रूप से वर्णित है।

दंड और उसके भेद—जिससे प्राणी दड का भागो बने उसे दंड कहते है। दण्ड भी पांच प्रकार के होते हैं, जैसे कि त्रस और स्थावर जीवों को अपने लिये या दूसरो के लिये दडित करना अर्थ-दण्ड कहलाता है। जिससे न अपना स्वार्थ सिद्ध हो और न दूसरे का ही उपकार हो इस प्रकार ही हिंसा को 'अनर्थ-दण्ड' कहते हैं। शत्रुता सिद्ध होने से या शत्रुता की सभावना से किसी को मारना 'हिंसा-दण्ड' है। मारने का उद्देश्य तो किसी अन्य का था, मारा गया कोई अन्य ही, अथवा बिना ही संकल्प के किसी की हत्या हो जाना 'अकस्मात् दण्ड' है। भ्रान्ति या गलतफहमी से किसी की हत्या कर देना या किसी को हानि

पहुंचा देना 'दृष्टिविपर्यास दण्ड' है। सभी प्रकार के दण्ड से मुक्त होना ही पूर्ण अहिंसा है।

विविध दृष्टियों से क्रिया का विश्लेषण

मूल—पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया।

मिच्छदिट्ठियाणं नेरइयाणं पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जाव मिच्छा-दंसणवत्तिया। एवं सव्वेसिं निरंतरं जाव मिच्छद्दिट्ठियाणं वेमाणियाणं, नवरं विगलिंदिया मिच्छद्दिट्ठी णं भण्णंति, सेसं तहेव।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—काइया, अहिगरिणिया, पाओसिया, पारियावणिया, पाणाइवायकिरिया। णेरइयाणं पंच एवं चेव निरंतरं जाव वेमाणियाणं।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—दिट्ठिया, पुट्ठिया, पाडोचिया, सामंतोवणिवाइया, साहत्थिया। एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णेसत्थिया, आणवणिया, वेयारणिया अणाभोगवत्तिया, अणवकंखवत्तिया। एवं जाव वेमाणियाणं।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पेज्जवत्तिया, दोसवत्तिया, पओगकिरिया, समुदाणकिरिया, ईरियावहिया। एवं मणुस्साणं वि, सेसाणं नत्थि ॥ ३४ ॥

छाया—पञ्च क्रियाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्ययिकी, अप्रत्याख्यानक्रिया, मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी।

मिथ्यादृष्टीनां नैरयिकाणां पञ्च क्रियाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—यावत् मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी। एवं सर्वेषां निरन्तरं यावत् मिथ्यादृष्टिकानां वैमानिकानां, नवरं विकलेन्द्रियाः मिथ्यादृष्टयो न भण्यन्ते, शेषं तथैव।

पञ्च क्रियाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारिता-पनिकी, प्राणातिपातक्रिया। नैरयिकाणां पञ्च पञ्च एवं चैव निरन्तरं यावत् वैमानिकानाम्। पञ्च क्रियाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—दृष्टिका, स्पृष्टिका, प्रातीतिका, सामन्तोपनिपातिका, स्वहस्तिका। एवं नैरयिकाणां यावत् वैमानिकानाम्।

पञ्च क्रियाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैसृष्टिकी, आज्ञापनिका, वैदारणिका, अनाप्रत्ययिकी, अनवकांक्षाप्रत्ययिकी। एवं यावत् वैमानिकानाम्।

पञ्च क्रियाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रेमप्रत्ययिकी, द्वेषप्रत्ययिकी, प्रयोगक्रिया, समुदानक्रिया, ऐर्यापथिकी। एवं मनुष्याणामपि, शेषाणां नास्ति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पांच क्रियाएं कथित की गई हैं, जैसे आरम्भिकी, आरम्भ अर्थात् हिंसा से होने वाली क्रिया। पारिग्रहिकी, परिग्रह से होने वाली क्रिया। मायाप्रत्ययिकी, माया से सम्बन्ध रखने वाली क्रिया। अप्रत्याख्यान-क्रिया, प्रत्याख्यान न करने से होने वाली क्रिया। मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी, मिथ्यादर्शन से होने वाली क्रिया।

मिथ्यादृष्टि नारकों की पांच ही क्रियाए होती हैं, जैसे—आरम्भिकी यावत् मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी। इसी प्रकार सभी दण्डकों के सम्बन्ध में जानना चाहिए, निरन्तर मिथ्यादृष्टि वैमानिक देवों तक की भी पांच क्रियाएं होती हैं। इतना विशेष है कि विकलेन्द्रिय दण्डकों में मिथ्यादृष्टि पद नहीं है, शेष सभी क्रियाएं उन्हीं दण्डकों के समान है।

पांच क्रियाएं कथन की गई हैं, जैसे—कायिकी, काया से होने वाली। आधिकरणिकी-शस्त्रों से होने वाली। प्राद्वेषिकी-द्वेष एवं मत्सर से होनी वाली। पारितापनिकी-दूसरों को पीड़ा पहुँचाने से होने वाली। प्राणातिपातक्रिया—किसी प्राणी के प्राणो का घात (नाश) कर देने से होने वाली क्रिया। नारकों की ये पांच क्रियाए होती हैं। निरन्तर वैमानिक दण्डक तक इसी प्रकार क्रियाएं जाननी चाहिएं।

पांच क्रियाएं कथन की गई हैं, जैसे दृष्टिका—दृष्टि के विकार से होने वाली। स्पृष्टिका-स्पर्शन के विकार से होने वाली क्रिया। प्रातीतिकी-बाहर के निमित्त-विशेष से होने वाली। सामन्तोपनिपातिकी-मेले आदि मे सामूहिक रूप से होने वाली क्रिया। स्वहस्तिका- अपने हाथ से होने वाली। इसी प्रकार नारक जीवों की पांच क्रियाएं जाननी चाहिएं, यावत् वैमानिक देवो के दण्डक तक यही क्रिया-व्यवस्था है।

पांच क्रियाएं कथन की गई हैं, जैसे—नैसृष्टिकी-पत्थर आदि फैंकने से होने वाली। आज्ञापनिका-आज्ञा प्रदान करने पर होने वाली। वैदारणिका-विदारण अर्थात् छेदन-भेदन करने से होने वाली। अनाभोगप्रत्ययिकी-अज्ञानता से अनजानपने में होने वाली। अनवकाक्षाप्रत्ययिकी, अर्थात् स्व-पर जीवन की अपेक्षा किए बिना दु:साहस से होने वाली क्रिया। इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक क्रिया-व्यवस्था जाननी चाहिए।

पांच क्रियायें कथन की गई है, जैसे—प्रेमप्रत्ययिकी-रागभाव से होने वाली।

द्वेषप्रत्ययिकी-द्वेष भाव से होने वाली। प्रयोगक्रिया-मन आदि की दुश्चेष्टाओं से होने वाली। समुदानक्रिया-सामूहिक रूप से होने वाली क्रिया। ईर्यापथिकी-गमना-गमन से सम्बन्ध रखने वाली क्रियाविशेष। इसी भांति मनुष्यों को भी, अन्य जीवों को नहीं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में आस्रव, संवर और दण्ड की पंच-विधता का वर्णन किया गया है। आस्रव का मूल कारण नानाविध वे क्रियाएं हैं जो मनुष्य ही नहीं चौबीस दण्डकों में रहे हुए जीवों द्वारा भी हुआ करती है, अत: अब सूत्रकार क्रिया के नाना रूपों का वर्णन कर रहे हैं।

यद्यपि क्रिया का सामान्य अर्थ है 'करना' परन्तु प्रस्तुत प्रकरण मे क्रिया शब्द दोष-विधायक कर्मों का द्योतक है। ये क्रियाएं चौबीसों दण्डकों मे रहने वाले जीवों के द्वारा होती रहती है। जीव-भेद से क्रिया-भेद भी हो जाना अनिवार्य है, अत: इस विषय का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करके उसके पच्चीस प्रकारो का वर्णन किया गया है।

जिस-जिस क्रिया का जिस-जिस दण्डक में अवतरण सभव हो सकता है, उसमे उसका समवतार प्रदर्शित किया गया है।

१. प्रथम प्रकार की पांच क्रियाएं—

१. आरंभिया—इन्द्रियों की पोषणा के लिये, शरीर को सुख पहुचाने के लिये, आजीविका के लिये, अपनी मान-मर्यादा के लिये होने वाली हिसा तथा असावधानी से होने वाली जीव-हिंसा को 'आरम्भिया क्रिया' कहते है।

२. परिग्गहिया—जिस-जिस वस्तु पर जीव का समत्व भाव है उससे लगने वाली क्रिया परिग्गहिया कहलाती है। ममत्व जीव पर भी होता है और अजीव पर भी, कनक पर भी और कामिनी पर भी, क्षेत्र पर भी और वस्तु पर भी, मनुष्य पर भी और पशु पर भी, धन पर भी और धान्य पर भी। जिस पर भी ममत्व है वही परिग्रह है। परिग्रह-प्रेरित सभी क्रियाएं 'परिग्गहिया' है।

३. मायावत्तिया—कपट भाव से की जाने वाली क्रिया। जैसे अशुभ भावो को छिपाकर शुभ भाव प्रकट करना, दोषो को छिपाकर अपने आपको निर्दोष दर्शाना, दूसरे को धोखा देना इत्यादि क्रियाएं 'मायावत्तिया' कहलाती है।

४. अपच्चक्खाणी—वह क्रिया जिससे जीव न तो मूलगुण पच्चक्खाणी बन सके और न उत्तरगुण पच्चक्खाणी, किसी भी पाप का त्याग न कर सके उसे 'अपच्चक्खाणी' क्रिया कहा जाता है।

५. मिच्छादंसणवत्तिया—सम्यक् तत्त्वों पर श्रद्धा न करने से और अतत्त्वों में श्रद्धा करने से सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर श्रद्धा न करने से तथा कुदेव, कुगुरु और कुधर्म पर श्रद्धा करने से दोनो रूप में 'मिथ्यादर्शनी' क्रिया जन्म लेती है।

इन में से मिथ्यादृष्टि को नियमेन पांच ही क्रियाएं लगती हैं। अविरति-सम्यगृदृष्टि को अन्तिम चार क्रियाएं लगती हैं, मिथ्यात्व क्रिया टल जाती है। आदि की दो क्रियाओं को छोड़कर शेष तीन क्रियाएं श्रावक को लगती हैं। आदि की तीन क्रियाओ को छोड़कर शेष दो क्रियाएं अयत्नशील साधु को लगती हैं। अन्तिम क्रिया अप्रमत्त संयत को लगती है। एकान्त मिथ्यादृष्टि जीव जिस दंडक में भी है, सब को नियमेन पांचों क्रियाए लगती हैं। जिन जीवों मे चार क्रियाएं पाई जाती है उनका यहां वर्णन नहीं किया गया है, इसलिये विकलेन्द्रियों के दण्डक वर्जित किए गए है, क्योंकि अपर्याप्तकाल मे किसी-किसी जीव में सास्वादन सम्यक्त्व पाया भी जाता है।

२. द्वितीय प्रकार की पांच क्रियाएं—

१. **काइया**—काया से होने वाली क्रिया को 'काइया' क्रिया कहते हैं।

२. **अहिगरिणिया**—अधिकरण का अर्थ है—शस्त्र-अस्त्र। उनका निर्माण करने से या उनके प्रयोग से जो क्रिया लगती है उसे 'अहिगरिणिया' कहते हैं।

३. **पाओसिया**—द्वेष एवं मात्सर्य से होने वाली क्रिया 'पाओसिया' कहलाती है।

४. **परियावणिया**—दूसरे को परितापना अर्थात् पीड़ा पहुंचाने से होने वाली क्रिया।

५. **पाणाइवायकिरिया**—दूसरो के हनन से होने वाली क्रिया।

ये पांच प्रकार की क्रियायें नारकी से लेकर वैमानिक देव पर्यन्त चौबीस दण्डकों के प्राणियों द्वारा होती है। अप्रमत्त संयत महासाधक को एव केवली महापुरुषों को ऊपर कही हुई पांच क्रियाओं मे से एक भी नही लगती, वे इन से मुक्त रहते हैं, शेष सभी जीवो को उक्त क्रियाएं लगती है, उनसे कर्मों का बंध होता है।

३. तीसरे प्रकार की पांच क्रियाएं—

१. **दिट्ठिया**—रागद्वेष-पूर्वक किसी जीव या अजीव को देखने से होने वाली क्रिया।

२. **पुट्ठिया**—किसी जीव या अजीव को राग-द्वेष-पूर्वक छूने या स्पर्श करने से होने वाली क्रिया।

३. **पाडोचिया**—जीव एव अजीव के निमित्त से उत्पन्न रागद्वेषादि के कारण होने वाली क्रिया।

४. **सामंतोवणिवाइया**—भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर इकट्ठे हुए लोगों के द्वारा घोड़े आदि किसी प्राणी की और रथ आदि किसी जड़ पदार्थ की प्रशंसा सुनकर उनके स्वामी जिस क्रिया-बन्धन में बंधते है उसे 'सामन्तोपनिपातिका' क्रिया कहा जाता है।

५. **साहत्थिया**—किसी जीव को अपने हाथों से मारने से एवं प्रताड़ित करने से होने वाली क्रिया 'स्वहस्तिका' कहलाती है।

ये पांच क्रियाएं भी अप्रमत्त संयत महासाधकों और केवली महापुरुषों को छोड़कर शेष सभी दण्डकों मे रहने वाले प्राणियों के द्वारा होती हैं और उन्हें कर्म-जाल में बांधती हैं।

४. चौथे प्रकार की पांच क्रियाएं—

१. नेसत्थिया—किसी वस्तु को असावधानी पूर्वक फैंकने से जो पाप-क्रिया जन्म लेती है, वह क्रिया 'नैसृष्टिकी' कहलाती है।

२. आणवणिया—किसी वस्तु को भेजने या मंगवाने के लिये किसी असयत वृत्ति वाले व्यक्ति को आज्ञा देने से या पाप कराने की अनुमति देने से जो पापक्रिया जन्म लेती है वह 'आज्ञापनिका' कहलाती है।

३. वेयारणिया—किसी जीव को जाने या अनजाने में चीरने से जो पाप-क्रिया जन्म लेती है उसे 'वैदारणिका' क्रिया कहा जाता है।

४. अणाभोगवत्तिया—जीवनोपयोगी वस्तुओ को असावधानी से उठाने-धरने पर जीव-हत्या जन्य जो पाप-क्रिया जन्म लेती है वह 'अनाभोग-प्रत्ययिकी' क्रिया कहलाती है।

५. अणवकंखवत्तिया—अपने प्राणो की परवाह न करके दूसरों की हत्या या हानि पहुचाने के लिये की जाने वाली पापात्मिका क्रिया 'अनवकाक्ष-प्रत्ययिकी' क्रिया कहलाती है। ये क्रियाएं भी अप्रमत्तसयत महासाधक और केवली महापुरुषों के अतिरिक्त शेष सभी दण्डकों मे रहने वाले प्राणियों के द्वारा हो जाया करती हैं।

५. पांचवें प्रकार की पांच क्रियाएं—

१. पेज्जवत्तिया—दूषित प्रेम एव माया और लोभ से उत्पन्न होने वाली क्रिया 'प्रेम-प्रत्ययिकी' कहलाती है।

२. दोसवत्तिया—ईर्ष्या, क्रोध और मान के कारण उत्पन्न बन्ध के लिये कारण-भूत क्रिया 'दोषप्रत्ययिकी' मानी जाती है।

३. पयोगकिरिया—शास्त्र-विरुद्ध एव धर्मविरुद्ध कार्य में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से जन्म लेने वाली क्रिया 'प्रयोग-प्रत्ययिकी' कहलाती है।

४. समुदाणकिरिया—अनेक मनुष्यो के जीवन मे एक साथ एक समान पाप-प्रवृत्ति के कारण जो पाप-क्रिया उत्पन्न होती है, जैसे—किसी खेल, तमाशे, नाटक, चित्रपट आदि को देखते हुए दर्शकों में जो पाप-प्रवृत्ति जागृत होती है, वह 'समुदान' क्रिया कहलाती है। ऐसी क्रिया का फल प्राय: ऐसे प्राणी समानकाल मे ही भोगा करते हैं

५. ईर्यावहिया—केवल शारीरिक प्रवृत्तियों से होने वाली क्रिया जो अप्रमत्त संयतों को भी ११ वें, १२ वे और १३ वें गुणस्थान में भी लग जाया करती है, उसे 'ऐर्यापथिकी क्रिया' कहा जाता है।

इन पांच क्रियाओं में से पहली चार क्रियाए चौबीस दण्डकों के सभी प्राणियो द्वारा होती हैं, किन्तु मनुष्य के द्वारा ये पांचो क्रियाए होती हैं।

ये पच्चीस क्रियाएं आस्रवरूपा है, अत: ये आत्मा को कर्म-बन्धनों मे बांध कर उसकी मोक्ष-प्रवृत्ति में बाधाए उपस्थित करती है, अत: साधक को चाहिए कि वह इन अशुभ क्रिया-प्रवृत्तियों से बचने का प्रयास करे।

एकेन्द्रिय आदि जीवो में जो क्रियाएं कथन की गई हैं, वे केवल उनके संकल्प और पूर्वजन्मो की अपेक्षा से ही जाननी चाहिएं। वृत्तिकार का भी इस विषय में यही अभिमत है—"**इहैकेन्द्रियादीनामविशेषेण क्रियोक्ता, सा च पूर्वभवापेक्षया सर्वापि सम्भवतीति भावनीयम्**"। क्रियाओ का विस्तृत वर्णन द्वितीय स्थान मे किया जा चुका है, किन्तु पाच क्रियाएं किस-किस दंडक मे कितनी-कितनी पाई जाती हैं, इस विषय की स्पष्टता के लिए पुन: उनका यहा उल्लेख हुआ है।

सूयगडाग सूत्र के दूसरे स्कन्ध के दूसरे अध्ययन में प्रकारान्तर से तेरह क्रिया-स्थान प्रतिप्रादित किए गए है, जिनमे पाच तो पहले सूत्र के अतर्गत दडरूप में वर्णित है, उनके अतिरिक्त आठ क्रिया-स्थानो का वर्णन पाठको की जानकारी के लिये सक्षेप में प्रस्तुत करना भी आवश्यक है--

१. **मोसवत्तिए**—अपने स्वार्थ के लिए, परिवार के लिए, एव स्वजन संबंधियो के लिये झूठ बोलना, दूसरो से झूठ बोलवाना, झूठ बोलने वाले का समर्थन करना, झूठ का उपदेश करना यह प्रथम क्रियास्थान है।

२. **अदिण्णादाणवत्तिए**—अपने लिये चोरी करना, दूसरे के लिए या जाति-बन्धुओं के लिये चोरी करना, दूसरे से चोरी कराना, चोर का समर्थन करना, चोर को सहायता देना, चोरी का माल लेना, बिना आज्ञा से किसी वस्तु को उठाना रूप द्वितीय क्रिया-स्थान है।

३. **अज्झत्थवत्तिए**—आर्त्तध्यान में मग्न रहना, बिना ही कारण और बिना ही किसी के कहे किसी की बुराई सोचना, शंकाशील रहना, शोक-मग्न रहना यह तृतीय क्रिया-स्थान है।

४. **माणवत्तिए**—आठ मद-स्थानों का सेवन करना, जाति आदि का अभिमान करना, प्रत्येक दृष्टि से अपने को उच्च और दूसरे को नीच समझना यह चतुर्थ क्रिया-स्थान है।

५. **मित्तदोसवत्तिए**—माता, पिता, पुत्र-भ्राता, स्वजन आदि को स्वल्प सा अपराध होने पर भी भयंकर 'यातना' देना, उन्हें दण्डित करना, उन्हे शत्रु रूप से देखना, उनसे वैर-विरोध बढ़ाना, यह पाप-क्रिया का पाचवां स्थान है।

६. **मायावत्तिए**—दूसरों को माया-जाल में फंसाना, छल-कपट का व्यवहार करना, दूसरे को छल-कपट द्वारा पथ-भ्रष्ट करना, पाप-क्रिया का छटा स्थान है।

७. **लोभवत्तिए**—लोभ के वशीभूत होकर संतोष की मर्यादा का उल्लघन करना, पापाचरण करना, पाप-क्रिया का सातवां स्थान है।

८. **इरियावहिए**—केवल योग से होने वाली क्रिया ईर्यापथिकी क्रिया कहलाती है, उससे साता वेदनीय कर्म का ही बन्ध होता है, वह भी एक सामयिक ही। अन्य कर्मो का बंध नहीं होता। यह क्रिया उपशान्त-मोह, क्षीण-मोह और सयोगी केवली इन तीन गुण-स्थानों में पाई जाती है। १३ गुणस्थान सक्रिय है और १४ वा गुण स्थान अक्रिय है। इन आठ क्रियाओं का विस्तृत वर्णन सुयगडाग-सूत्र मे प्राप्त होता है।

पञ्च परिज्ञाएं

मूल—पंचविहा परिन्ना पण्णत्ता, तं जहा—उवहिपरिन्ना, उवस्सयपरिन्ना, कसायपरिन्ना, जोगपरिन्ना, भत्तपाणपरिन्ना ॥ ३५ ॥

छाया—पञ्चविधा परिज्ञा प्रज्ञप्ता तद्यथा—उपधिपरिज्ञा, उपाश्रयपरिज्ञा, कषायपरिज्ञा, योगपरिज्ञा, भक्तपानपरिज्ञा।

शब्दार्थ—पंचविहा—पाच प्रकार की, **परिन्ना पण्णत्ता, तं जहा**—परिज्ञा कथन की गई हैं, जैसे कि, **उवहिपरिन्ना**—भाण्डोपकरण रूप उपधि की परिज्ञा, **उवस्सयपरिन्ना**—उपाश्रय की परिज्ञा, **कसायपरिन्ना**—कषाय की परिज्ञा, **जोगपरिन्ना**—योग परिज्ञा, **भत्तपाणपरिन्ना**— भक्त-पान की परिज्ञा।

मूलार्थ—पांच प्रकार की परिज्ञा (वस्तु स्वरूप का ज्ञान और ज्ञान पूर्वक उसका प्रत्याख्यान) कथन की गई हैं, जैसे—उपधि-परिज्ञा, उपाश्रय-परिज्ञा, कषाय-परिज्ञा, योग-परिज्ञा, भक्त-पान-परिज्ञा।

विवेचनिका—कर्मो के बंध का कारण अशुभ-क्रिया है। कर्मों से छुटकारा कैसे हो सकता है? प्रस्तुत सूत्र में निर्जरा की साधनभूत परिज्ञाओं का वर्णन किया गया है। परिज्ञा का अर्थ होता है—वस्तु के स्वरूप को पहले ज्ञान के द्वारा जानना और फिर उसे प्रत्याख्यान के द्वारा छोडना। यह परिज्ञा दो तरह की होती है, द्रव्य से और भाव से। सासारिक पदार्थो को चिन्तन-मनन पूर्वक एव पूर्वकृत प्रत्याख्यान का ध्यान न रख कर परित्याग करना द्रव्यपरिज्ञा है, मर्यादा एव पूर्वकृत प्रत्याख्यान के चिन्तन-मनन सहित परित्याग करना भाव-परिज्ञा है। "**भावपरिन्नजाणेण पच्चक्खाणं च भावेण**" अर्थात् भाव से पदार्थ को जानना और भाव से ही उसका परित्याग करना भाव-परिज्ञा है। अन्तर्मुखी आत्मा की दो दशाए होती है—साधक दशा और सिद्ध दशा। साधक दशा मे पांच परिज्ञाओ का विवरण निम्नलिखित है जैसे कि—

१. **उपधिपरिज्ञा**—संयम के लिये उपयोगी बाह्य सामग्री को उपधि कहते हैं। मुखपत्ती,

रजोहरण, वस्त्र-पात्र आदि सबको उपधि कहा जाता है। अशुभ, सदोष उपधि का त्याग करना शुभ एवं निर्दोष उपधि का संयममय जीवन के निर्वाह के लिये ग्रहण करना, वह भी मर्यादित ही, उसे "उपधि-परिज्ञा" कहा जाता है।

२. **उपाश्रयपरिज्ञा**—अकल्पनीय, सदोष उपाश्रय का परित्याग करना और संयम एवं ब्रह्मचर्य के लिये उपयुक्त उपाश्रय का ग्रहण करना 'उपाश्रय-परिज्ञा" है। उपाश्रय शब्द की व्युत्पत्ति भी यही कहती है—"**उपाश्रीयते सेव्यते संयम-आत्मपालनतया इत्युपाश्रयः**" अर्थात् जिस मकान का सेवन आत्म-रक्षा और संयम-रक्षा के लिये किया जाता है, वह उपाश्रय कहलाता है।

३. **कषायपरिज्ञा**—जिस कषाय से कुल में, गण मे या सघ में विभेद हो, कलह, तू-तू मैं-मै बढ जाए, जिस कषाय से दूसरो को हानि पहुचे, या दूसरो को अखरे, संयम एवं स्वाध्याय में बाधा पडे, असमाधि उत्पन्न हो जाए, उसका परित्याग करना जिससे शान्ति, व्यवस्था और शुद्धीकरण की प्रक्रिया बनी रहे।

४. **योग-परिज्ञा**—योग का अर्थ है—मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति तथा इन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति। इससे साधक के हृदय में लोभ बढ़ता है, नाना सासारिक पदार्थों के प्रति आकर्षण बढ़ता है, साथ ही नानाविध सम्बन्धो के विस्तार की कामना जागृत होती है। अशुभ योगों से निवृत्त होकर शुभ मे प्रवृत्त होना ही 'योग-परिज्ञा' है।

५ **भत्त-पान-परिज्ञा**—"जैसा खाए अन्न वैसा होवे मन" यह उक्ति साधक के लिये खान-पान के विवेक की महत्ता पर प्रकाश डाल रही है। साधु को यह जानना चाहिए कि उसके लिये कौन से भक्ष्य एवं पेय पदार्थ ग्रहणीय है और किसका उसे परित्याग करना चाहिए। इस विषय का पहले अच्छी प्रकार से ज्ञान प्राप्त करके शुद्ध आहार-पानी के ग्रहण की प्रतिज्ञा एवं अशुद्ध तथा अनेषणीय आहार-पानी के परित्याग को अपनाना 'भत्त-पान-परिज्ञा' कहलाती है।

इस प्रकार साधक-जीवन के लिये विवेक प्रत्याख्यान की महत्ता प्रस्तुत सूत्र मे प्रदर्शित की गई है।

पंचविध व्यवहार

मूल—पंचविहे ववहारे पण्णत्ते, तं जहा—आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए। जहा से तत्थ आगमे सिया, आगमेणं ववहारं पट्ठवेज्जा। णो से तत्थ आगमे सिया, जहा से तत्थ सुए सिया, सुएणं ववहारं पट्ठवेज्जा। णो से तत्थ सुए सिया, एवं जाव जहा से तत्थ जीए सिया, जीएणं ववहारं पट्ठवेज्जा। इच्चेएहिं पंचहिं ववहारं पट्ठवेज्जा-आगमेणं जाव जीएणं।

जहा-जहा से तत्थ आगमे जाव जीए, तहा-तहा ववहारं पट्ठवेज्जा। से किमाहु भंते! आगमबलिया समणा निग्गंथा! इच्चेयं पंचविहं ववहारं जया-जया जहिं-जहिं, तया-तया तहिं-तहिं अणिस्सिओवस्सियं सम्मं ववहारमाणे समणे णिग्गंथे आणाए आराहए भवइ॥ ३६॥

छाया—पञ्चविधो व्यवहारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—आगमः श्रुतम्, आज्ञा, धारणा, जीतम्। यथा तस्य तत्र आगमः स्यात्, आगमेन व्यवहारं प्रस्थापयेत्। नो तस्य तत्र आगमः स्यात्, यथा तस्य तत्र श्रुतं स्याद् श्रुतेन व्यवहारं प्रस्थापयेत्। नो तस्य तत्र श्रुतं स्यात्, एवं यावद् यथा तस्य तत्र जीतं स्याद् जीतेन व्यवहारं प्रस्थापयेत्। इत्येतैः पञ्चभिर्व्यवहारं प्रस्थापयेत्—आगमेन यावज्जीतेन। यथा-यथा तस्य तत्र आगमो यावद्ज्जीतं तथा-तथा व्यवहारं प्रस्थापयेत्। अथ किमाहुः भदन्त! आगमबलिकाः श्रमणाः निर्ग्रन्थाः। इत्येतं पञ्चविधं व्यवहारं यदा-यदा, यत्र-यत्र, तदा-तदा, तत्र-तत्र अनिश्रितोपाश्रितं सम्यग् व्यवहरन् श्रमणो निर्ग्रन्थ आज्ञया आराधको भवति।

शब्दार्थ—पंचविहे—पांच प्रकार का, **ववहारे पण्णत्ते, तं जहा**—व्यवहार कथन किया गया है, जैसे, **आगमे**—आगम, **सुए**—श्रुत, **आणा**—आज्ञा, **धारणा**—धारणा, **जीए**—जीत। **जहा**—जिस प्रकार, **से**—उसको, **तत्थ**—वहां, **आगमे**—आगम, **सिया**—होवे तो, **आगमेणं**—उस आगम से (केवल, मनःपर्यव, अवधि, चतुर्दश पूर्व, दशपूर्व, नवपूर्व से), **ववहारं**—व्यवहार को, **पट्ठवेज्जा**—प्रस्थापित करे, यदि, **तत्थ**—वहा, **आगमे**—आगम, **णो**—नहीं, **से**—उस व्यवहार करने वाले को, **सिया**—होवे तो, **जहा**—जैसा कि, **से**—उसको, **तत्थ**—वहा, **सुए सिया**—श्रुत होवे तो, **सुएण**—श्रुत से, **ववहारं पट्ठवेज्जा**—श्रुत से व्यवहार को प्रस्थापित करे, यदि, **तत्थ**—वहा, **से**—उसे, **सुए णो सिया**—श्रुत न होवे, **एवं**—इसी प्रकार, **जाव**—यावत् आज्ञा, धारणा के सम्बन्ध मे जानना, **जहा**—जिस प्रकार, **तत्थ**—वहां, **से**—उसको, **जीए सिया**—जीत व्यवहार हो तो, **जीएणं ववहार पट्ठवेज्जा**—जीत से व्यवहार को प्रस्थापित करे। **इच्चेएहिं**—इस प्रकार इन, **पंचहिं**—पाचों से, **ववहार पट्ठवेज्जा**—व्यवहार को प्रस्थापित करे। **आगमेणं जाव जीएणं**—आगम से यावत् जीत से, **जहा-जहा**—जैसे-जैसे, **से**—उसको, **तत्थ**—वहा, **आगमे जाव जीए**—आगम यावत् जीत हो, **तहा-तहा**—वैसे-वैसे, **ववहारं**—व्यवहार को, **पट्ठवेज्जा**—प्रस्थापित करे। **से किमाहु भंते**—हे भगवन्! यह कैसे कहा है कि, **आगमबलिया समणा निग्गंथा**—श्रमण निर्ग्रन्थ आगम से बलवान् होते है ? **इच्चेयं**—इस प्रकार, **पंचविहं ववहारं**—पाच प्रकार के व्यवहार को, **जया-जया**—यदा-यदा, **जहिं-जहिं**—जहा-जहां, **तया-तया**—तदा-तदा, **तहिं-तहिं**—वहां-वहां, **अणिस्सिओवस्सियं**—पक्षपातरहित, **सम्मं**—सम्यक्, **ववहारेमाणे**—व्यवहार करता हुआ, **समणे णिग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ, **आणाए**—आज्ञा का, **आराहए**—आराधक, **भवइ**—होता है।

मूलार्थ—पांच प्रकार का व्यवहार अर्थात् मुमुक्षुओं का प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप मार्ग कथन किया गया है, जैसे—आगम, श्रुत अर्थात् आचाराङ्ग आदि, आज्ञा, धारणा, जीत अर्थात् परम्परा-व्यवहार।

जिस व्यवहार-कर्त्ता के पास जितना आगम-ज्ञान हो, वहां उसे उस आगम से व्यवहार प्रस्थापित करना चाहिए। यदि आगम न हो तो वहा जो श्रुत हो, उस श्रुत से व्यवहार प्रस्थापित करना चाहिए। यदि श्रुत भी न हो, तो वहां जैसा आज्ञा एवं धारणा का व्यवहार हो, उस आज्ञा एवं धारणा से व्यवहार करना चाहिए। यदि ये भी न होवे तो जैसे कि जीत हो उस जीत से व्यवहार करना चाहिए।

इस भांति इन पाचों के द्वारा व्यवहार की व्यवस्था करनी चाहिए, आगम से लेकर जीत तक व्यवहार-विधियां हैं। जैसा-जैसा व्यवहार-कर्त्ता के पास आगम से लेकर जीत आदि तक हो, वहा वैसा-वैसा व्यवहार प्रस्थापित करना चाहिए।

भगवन्! उक्त पाच व्यवहारों मे कौन सा व्यवहार बलवान् है? श्रमण निर्ग्रन्थों का प्रमुख बल-आगम ही है। इस प्रकार उक्त पचविध व्यवहार को जब-जब, जहा-जहां, तब-तब, वहां-वहा पक्षपात-रहित सम्यक् रूप से अपने व्यवहार में लाता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ प्रभु की आज्ञा का आराधक होता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे परिज्ञा का वर्णन किया गया है। परिज्ञा का ज्ञान व्यवहार-कुशल व्यक्ति को ही होता है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे शास्त्रीय व्यवहार का दिग्दर्शन कराया गया है। यद्यपि व्यवहार शब्द के अनेक अर्थ है, जैसे एक दूसरे से बर्ताव, आचरण, व्यापार-धन्धा आदि, किन्तु इस प्रसग मे यह अर्थ घटित नही होते। प्रस्तुत प्रकरण में इसका पारिभाषिक अर्थ है दोषों के नाशार्थ किया जाने वाला प्रायश्चित्त विधान तथा मोक्ष-पथ के पथिक के लिये प्रवृत्ति-निवृत्ति का कारणभूत ज्ञान-विशेष। जिसका निर्णय किसी ज्ञान-समृद्ध व्यक्ति के द्वारा हो सकता है। प्रायश्चित को क्रियात्मक रूप देने के लिये व्यवहार का परिज्ञान आवश्यक है। वह व्यवहार पाच प्रकार का होता है जैसे कि—

१. आगम-व्यवहार—केवलज्ञान, मन:पर्यवज्ञान, अवधिज्ञान, चौदहपूर्व, दसपूर्व और नौ पूर्वो का ज्ञान आगम कहलाता है। उपर्युक्त ज्ञान संपन्न मुनिवरों के युग मे आगम-व्यवहार होता है। आगमों के वास्तविक अभिप्राय एवं उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग के ज्ञाता आचार्यो द्वारा प्रवृत्त हुआ प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार भी आगम-व्यवहार है। आगमोक्त व्यवहार के आधार पर साधना-पथ पर बढ़ने वाले साधक आगम-व्यवहारी युगप्रवर्त्तक माने जाते हैं।

२. श्रुत-व्यवहार—जिस युग में न केवलज्ञानी हो, न मन:पर्यवज्ञानी, न अवधिज्ञानी, न चौदह पूर्वधर, न दस पूर्वधर और न नव पूर्वधर हों, केवल आचाराङ्ग आदि ग्यारह अङ्गों

के एव एक से लेकर कुछ न्यून नव पूर्वो के वेत्ता हो, उस युग में सूत्रव्यवहार से काम लिया जाता है। सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट व्यवहार श्रुतव्यवहार कहलाता है। उस युग मे जो साधको मे प्रवृत्ति और निवृत्ति की भावना जागृत की जाती है, वह सूत्र-व्यवहार के आधार पर ही हुआ करती है। इसलिये उसे श्रुत-व्यवहार कहा जाता है।

३. आज्ञा- व्यवहार—जिस युग मे पूर्वो का ज्ञान भी लुप्त हो जाता है तथा शेष ग्यारह अंगों का ज्ञान भी सर्व-गम्य एव सर्व-सुलभ नहीं रह जाता है, उस युग में आत्मशुद्धि के लिये आचार्य, उपाध्याय, स्थविर या प्रवर्त्तक जिस व्यवहार को लेकर चलते है, जिसको लक्ष्य मे रखकर साधको को प्रवृत्ति-निवृत्ति की आज्ञा देते है, उसी आज्ञा को आज्ञा-व्यवहार कहा जाता है। दो गीतार्थ दृढसयमी मुनि एक दूसरे से सर्वथा दूर देश मे रह रहे हों और शरीर के क्षीण हो जाने के कारण वे एक दूसरे को मिलने मे असमर्थ हो, उनमे से किसी एक से प्रायश्चित्त के योग्य कार्य हो जाने पर वह साधु योग्य गीतार्थ शिष्य के न होने पर मति और धारणा मे अकुशल, अगीतार्थ शिष्य को आगम की साकेतिक एवं गूढ़ भाषा में अपने अतिचार अर्थात् दोष कहकर या लिखकर उसे अन्य गीतार्थ मुनि के पास भेजता है और उसके द्वारा आलोचना करता है। साकेतिक भाषा मे कही हुई या लिखी हुई आलोचना के आधार पर वे मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, सहनन और धैर्यबल का विचार करके स्वय ही आ जाए या योग्य गीतार्थ शिष्य को समझाकर भेज दे या वैसा गीतार्थ शिष्य न हो तो आलोचना का सदेश लाने वाले के द्वारा ही आगम की साकेतिक भाषा में अतिचार की शुद्धि के लिये जो प्रायश्चित्त देते हैं, वह आज्ञा-व्यवहार है। गीतार्थ मुनि जैसी आज्ञा दें, उसी को तीर्थङ्कर भगवान की आज्ञा मानकर साधक को प्रवृत्ति-निवृत्ति करनी चाहिये।

४. धारणा-व्यवहार—गीतार्थ स्थविर मुनीश्वरो के पास रहते हुए साधक ने उनके द्वारा जैसे-जैसे कर्मो पर जैसा-जैसा प्रायश्चित्त देते हुए देखा हो, उन सब को स्मृति मे रखकर जब कभी प्रायश्चित्त देने का कारण उपस्थित हो, तब पूर्व स्मृति के आधार पर प्रायश्चित्त आदि देना ''धारणा-व्यवहार'' कहलाता है। स्थविरो ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जिस आधार से जो प्रायश्चित्त दिया है उसी धारणा से वैसे अपराध मे जैसे भी शुद्धीकरण हो सके वैसा प्रायश्चित्त देना चाहिए। धारणा के आधार पर दूसरो को प्रवृत्ति-निवृत्ति की ओर लगाना ही धारणा-व्यवहार है।

५. जीत-व्यवहार—जीत का अर्थ होता है—प्रायश्चित्त से संबंध रखने वाली प्रचलित प्रथा अर्थात् जैन-सूत्रो मे प्रदर्शित परम्परा के अनुसार या किसी भिन्न रीति-नीति से प्रायश्चित्तों का परम्परागत आचार। अनेक गीतार्थ मुनियों द्वारा की हुई मर्यादा के अनुसार प्रवृत्ति-निवृत्ति में साधकों को प्रवृत्त करना जीत-व्यवहार है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रतिसेवन, धृति, संहनन, व्यक्ति और उसकी अपराध- भावना को देखकर प्रायश्चित्त देना चाहिए। जो व्यवहार बहुत आचार्यों द्वारा आचरित हो, श्री सघ भी बराबर उसकी आराधना कर रहा हो वही ''जीत-व्यवहार'' है।

जिस समय आगम हो, उस समय आगम-व्यवहार को स्थापित करे, उसके न होने पर श्रुत-व्यवहार, उसके न होने पर आज्ञा-व्यवहार और उस के न होने पर धारणा-व्यवहार और उसके न होने पर जीत-व्यवहार के द्वारा ही कार्य करना चाहिए। आगम-व्यवहारो मे भी केवलज्ञान से जाना हुआ व्यवहार सबसे बलवान है, उसकी अपेक्षा से मन:पर्यवज्ञान न्यून बली है, अवधिज्ञान उससे भी न्यून बली है। इसी क्रम से चौदह पूर्वो का ज्ञान, दस पूर्वो का ज्ञान एवं नौ पूर्वो का ज्ञान क्रमश: न्यून बली माने गए हैं, किन्तु अन्य सभी व्यवहारो की अपेक्षा से आगम-व्यवहार आत्मशुद्धि के लिये श्रेष्ठ व्यवहार है। इस लिये सूत्रकार ने कहा है—**''से किमाहु भन्ते! आगमबलिया समणा निग्गंथा ?''** इस से सिद्ध होता है कि आगम व्यवहार वाले श्रमण निर्ग्रन्थ धर्म-नीति की अपेक्षा से सर्वोत्कृष्ट माने जाते है। उस मे पक्षपात या तर्क-वितर्क करने का कोई स्थान ही नही है।

आगम-युग के साधक ही सिद्धगति को प्राप्त कर सकते है, शेष श्रुत-व्यवहार आदि के युगों मे जीव आराधक तो बन सकता है, किन्तु उसी जन्म मे सिद्ध-गति को प्राप्त नही कर सकता, क्योंकि उसकी पूर्णतया शुद्धि नही हो सकती। आज के युग मे आगम-व्यवहारी नही है। शेष चार व्यवहारो से ही कार्य चलाया जा रहा है। आगम-व्यवहारियो मे भी ''जुगंतकडभूमि'' तक जीव मुक्त हो सकता है, उसके बाद आगम-व्यवहारी भी उस भव में सिद्धगति को प्राप्त नही कर सकता। दूसरे या तीसरे भव मे मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

सूत्रकार ने ''**जया-जया, जहिं-जहिं, तया-तया, तहिं-तहिं अणिस्सिओवस्सियं सम्मं ववहारमाणे समणे णिग्गंथे आणाए आराहए भवइ**'' कहा है, उस से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि तब-तब, उस-उस प्रयोजन के होने पर आशसा-रहित तटस्थ होकर सम्यक् प्रकार से व्यवहार करते हुए ही श्रमण निर्ग्रन्थ प्रभु की आज्ञा का आराधक हो सकता है।

'**अणिस्सिओवस्सियं**' इस पद का संस्कृत रूप '**अनिश्रितोपाश्रित**' होता है। शिष्य के रूप मे स्वीकृत को निश्रित, और वही शिष्य सेवाभावी एवं निकटतम रहने के कारण 'उपाश्रित' कहलाता है। न्याय करते हुए किसी का भी पक्षपात नहीं होना चाहिए। आहार आदि की लिप्सा से और जिस शिष्य से वह आहार अंगीकार किया गया है, उससे अनासक्त रहते हुए ही मुनिराजों को प्रायश्चित्त आदि का निर्णय देना चाहिए। अपने पक्ष से राग न करना और परपक्ष से द्वेष न करना भी ''**अनिश्रितोपाश्रित**'' कहलाता है, क्योकि निश्रित राग का पर्यायवाची शब्द है और उपाश्रित द्वेष का, इन दोनों से तटस्थ रहकर ही व्यवहारो का पालन हो सकता है।

व्यवहारी का मुख्योद्देश्य साधक की शुद्धि और चतुर्विध संघ में शान्ति-स्थापना ही होता है। यह निष्पक्ष व्यवहार न्यायशील मुनीश्वर ही कर सकते है। न्याय करने से ही अपना और दूसरों का कल्याण होता है।

जैन संस्कृति का प्रमुख लक्ष्य अपनी और अपने साथियों एवं आश्रितों की आत्मशुद्धि ही है, अत: उसने नाना रूपों में आत्मशुद्धि के विधानों को साधकों के समक्ष रक्खा है, परन्तु सर्वत्र प्रभु-आज्ञा का ध्यान रखना उसके लिये अनिवार्य है।

संयमी-असंयमी पुरुष के लिये पंचविध जागृत और सुप्त

मूल—संजयमणुस्साणं सुत्ताणं पंच जागरा पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा, जाव फासा।

संजयमणुस्साणं जागराणं पंच सुत्ता पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा, जाव फासा।

असंजयमणुस्साणं सुत्ताणं वा, जागराणं वा पंच जागरा पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा, जाव फासा॥३७॥

छाया—संयतमनुष्यानां सुप्तानां पञ्च जागराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शब्दाः यावत् स्पर्शाः।

संयतमनुष्याणां जागराणां पञ्च सुप्ताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शब्दाः यावत् स्पर्शाः।

असंयतमनुष्यानां सुप्तानां वा, जागराणां वा पञ्च जागराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शब्दाः यावत् स्पर्शाः।

शब्दार्थ—संजयमणुस्साणं—संयमी मनुष्य, **सुत्ताणं**—सोये हुओ के, **पंच**—पाच, **जागरा पण्णत्ता, तं जहा**—जागृत कथित किए गए हैं, जैसे, **सद्दा जाव फासा**—शब्द यावत् स्पर्श।

सजयमणुस्साणं—सयमी मनुष्यो के, **जागराण**—जागृतों के, **पंच**—पाच, **सुत्ता**—सुप्त, **पण्णत्ता, तं जहा**—कथन किये गए हैं, जैसे, **सद्दा जाव फासा**—शब्द से लेकर यावत् स्पर्श तक।

असंजयमणुस्साणं सुत्ताणं वा, जागराणं—असयमी मनुष्यों के सुप्त अथवा जागृतों के, **पंच जागरा पण्णत्ता, तं जहा**—पाच जागृत कथन किए गए है, जैसे, **सद्दा जाव फासा**—शब्द से लेकर यावत् स्पर्श तक।

मूलार्थ—संयमी मनुष्य-साधु यदि सुप्त हो, तो उनके पांच जागृत अर्थात् कर्मबन्ध के कारण माने गए हैं, जैसे—शब्द से लेकर स्पर्श तक।

सयमी मनुष्य यदि जागृत हो, तो उनके पांच सुप्त अर्थात् कर्म-बन्धन न करने वाले कथन किये गए हैं. जैसे—शब्द से लेकर स्पर्श तक।

असंयमी मनुष्य चाहे सुप्त हो या जागृत, उनके पाच जागृत ही रहते हैं, जैसे—

शब्द से लेकर स्पर्श तक पांच।

विवेचनिका—पांच व्यवहारों का यथार्थ रूप से पालन वे श्रमण निर्ग्रन्थ ही करते है, जो सयम-साधना में लीन रहते हैं और सयम-शुद्धि की अभिलाषा रखते हैं। संयम-साधना तभी सफल हो सकती है, जबकि सयमाराधक सदा सावधान रहे, जागृत रहे, सोए नहीं। अत: प्रस्तुत सूत्र में संयत और असंयत सुप्त और जागृत अवस्था का वर्णन किया गया है। संयत की सुप्तदशा वह कहलाती है, जिस समय में वह प्रमाद का सेवन करता है। मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा इन पांच प्रमादों में से जब किसी का भी सेवन किया जाए, वह प्रमाद ही है। जितने भी प्रमादी सयत हैं, उनकी पांच इन्द्रिया अपने-अपने विषय को ग्रहण करने के लिये सदा उद्यत एव जागरूक रहती है, किन्तु जो संयत अप्रमादी हैं, उनके पांच विषय सुप्त रहते हैं। प्रमाद-काल मे कर्मो का बन्ध होता है और अप्रमाद-काल मे कर्मों का क्षय होता है। अप्रमत्त संयत चाहे सो भी जाए, किन्तु वह शब्दादि विषयों का त्यागी कहलाता है। इससे विपरीत असयत मनुष्य भले ही जागता हो या सुप्त फिर भी त्याग-भावना एवं विवेक न होने से उसके लिये शब्द आदि पाच विषय सदैव जागृत ही रहते हैं और उसे प्रभावित करते ही रहते हैं। जैसे सिंह, चोर और क्षण-क्षण मे दुराचारी व्यक्ति प्रगाढ़ निद्रा में सोए पडे हों, तब भी सिंह हिसक ही है, चोर-चोर ही है और दुराचारी-दुराचारी है। उनको दयालु, ईमानदार और सदाचारी नहीं कहा जा सकता। वैसे ही त्याग के अभाव में यदि असयत सोए पड़े है, तब भी उन्हे जितेन्द्रिय नही कहा जा सकता, जागृत अवस्था मे तो वे इन्द्रियो के दास ही होते है, क्योंकि असयत का जीवन सर्वदा प्रमाद में ही बीतता है।

जिस साधक ने शब्द आदि पांच विषयो को वश मे कर लिया है वह अप्रमत्त संयत है। जिसके भाव कभी-कभी शब्दादि पाच विषयो के कारण लडखड़ा जाते है वह प्रमत्त संयत है और जो शब्द आदि पाच विषयों के बहाव मे निरन्तर बह रहा है, वह असंयत मनुष्य कहलाता है। सिद्ध पथ का अधिकारी वही हो सकता है जो संयतेन्द्रिय है। जिसने अच्छी तरह इन्द्रियों को सयत नहीं किया वह प्रमत्त-संयत है। जिसने इन्द्रियो की बागडोर खुली छोड़ी हुई है वह असंयत है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में जागृति का अर्थ है विषयो से बचाव के लिये सावधान रहना, उनसे अपनी रक्षा करते रहना। साथ ही मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के माध्यम से सूत्रकार ने यह भी बताया है कि विषयासक्त चाहे जागृत भी रहे, अर्थात् ऊपर से विषयासक्ति के परित्याग और विरक्ति को भी प्रकट करे, तो भी समझना चाहिए कि उसके अन्तर मे विषयासक्ति विद्यमान है। जब तक अन्तर का विवेक स्वच्छ न होगा, तब तक सिद्ध पद के लिये बाह्य प्रदर्शन सर्वथा व्यर्थ हैं।

कर्मबन्ध और कर्मक्षय के कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं जीवा रयं आइज्जंति, तं जहा—पाणाइवाएणं जाव परिग्गहेणं।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा रयं वमंति तं जहा—पाणाइवायवेरमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं ॥ ३८ ॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैर्जीवा रजः (कर्म) आददति, तद्यथा—प्राणातिपातेन यावत् परिग्रहेण। पञ्चभिः स्थानैर्जीवा रजो वमन्ति, तद्यथा—प्राणातिपातविरमणेन यावत् परिग्रहविरमणेण।

शब्दार्थ—**पंचहिं ठाणेहिं**—पाच स्थानो से, **जीवा**—जीव, **रयं**—कर्म, **आइज्जंति**—बांधते है, **त जहा**—जैसे, **पाणाइवाएणं**—प्राणातिपात अर्थात् जीव हिंसा से, **जाव**—यावत्, **परिग्गहेणं**—परिग्रह से।

पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणों से, **जीवा**—जीव, **रयं वमंति**—रज-कर्म को क्षय करते है, **त जहा**—जैसे, **पाणाइवायवेरमणेण**—प्राणातिपात से विरति करने से, **जाव**—यावत्, **परिग्गहवेरमणेण**—परिग्रह विरति होने से।

मूलार्थ—पाच कारणों से जीव कर्मो को बाधते हैं, जैसे—प्राणातिपात से यावत् परिग्रह से।

पांच कारणों से जीव कर्म-क्षय करते है, जैसे—प्राणातिपात अर्थात् हिंसा का परित्याग करने से और असत्य, विषयासक्ति, स्तेय और परिग्रह का त्याग करने से।

विवेचनिका—रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शादि इन्द्रिय विषयो की पूर्ति के लिये मनुष्य की हिंसा आदि मे प्रवृत्ति होती है, अत: अब सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र मे कर्मबन्ध के कारणभूत हिंसा, स्तेय आदि कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहते है कि कर्मो का उपार्जन पांच कारणों से होता है—जीव-हिंसा करने से, असत्य के प्रयोग से, चोरी करने से, मैथुन सेवन से और सासारिक पदार्थो में ममत्व रखने से। आत्मा के अतिरिक्त शेष सभी पदार्थ हेय है, उन्हें ग्राह्य समझना ही परिग्रह है। परिग्रह सभी पाप-प्रवृत्तियो का मूल कारण है।

उपर्युक्त तथ्य के विपरीत पाच कारणो से जीव कर्मबन्ध को तोडता है—हिंसा के सर्वथा परित्याग से, असत्याचरण के सर्वथा परित्याग से, चोरी के परिवर्जन से, ब्रह्मचर्य की गुप्ति से, इच्छा, सग्रह एव ममत्व रूप परिग्रह के परिवर्जन से। इन साधनाओ द्वारा कर्मो के प्रवेश-द्वारों को रोका जाता है और बद्ध कर्मो का क्षय किया जाता है। जब पाच तरह के पापों का ज्ञान पूर्वक त्याग किया जाता है, तब आत्मा विकास की पराकाष्ठा को पाकर निर्वाणपद की प्राप्ति कर लेता है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि उक्त पांच आस्रवो

में प्रवृत्ति करने से कर्मबंध और निवृत्ति से कर्मो का क्षय होता है, अतएव इन के त्याग मे ही मानव का हित है।

पांच मासिक भिक्षु-प्रतिमा धारक मुनि के लिये पांच दत्तियां

मूल—पंच मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणगस्स ॥ ३९ ॥

छाया—पञ्चमासिकीं भिक्षु प्रतिमां प्रतिपन्नस्य अनगारस्य कल्पन्ते पञ्च दत्तीः भोजनस्य प्रतिगृहीतुं पंच पानकस्य।

शब्दार्थ—पंचमासियं णं—पांच मास वाली, **भिक्खुपडिमं**—भिक्षु प्रतिमा को, **पडिवन्नस्स**—स्वीकार करने वाले, **अणगारस्स**—अनगार के लिये, **भोयणस्स**—भोजन की, **पच दत्तीओ**—पांच दाते, **पडिगाहेत्तए**—लेनी, **कप्पंति**—कल्पती हैं अर्थात् उसके लिये ग्रहणीय है, **पंच पाणगस्स**—पानी की भी पांच ही दत्तियां उसे ग्रहण करनी चाहिए।

मूलार्थ—पांच मास की भिक्षु-प्रतिमा को धारण करने वाले भिक्षु को भोजन की और जल की केवल पाच-पाच दत्तियां ही ग्रहण करनी कल्पती हैं अर्थात् उसके लिये ग्राह्य हैं।

विवेचनिका—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह का सर्वथा परित्याग करने वाला महा साधक ही भिक्षु कहलाता है। पूर्व सूत्र मे हिसा आदि को कर्मबन्ध का कारण बता कर उनसे विरक्त होने का प्रयास भिक्षु के लिये आवश्यक बताया गया है। उस भिक्षु के लिये कर्मद्वारो का अवरोध करने के लिए अन्न-जल ग्रहण की मर्यादा आवश्यक है, अत: अब सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में उस मर्यादा का वर्णन करते है। जिस भिक्षु ने कर्म-बन्ध से मुक्त होने के लिये पंचमासिक भिक्षुप्रतिमा अगीकार की हुई है उसे भोजन और पानक की पांच-पांच दत्तियां ही ग्रहण करनी होती हैं। श्रद्धा-शील श्रावक-श्राविका के द्वारा जब साधुपात्र में एक ही बार अविच्छिन्न रूप से जितना पदार्थ डाला जाए तब उसे एक दत्ति कहा जाता है। इस प्रकार की पाच-पाच दत्तिया ही उसे ग्रहण करनी होती हैं अधिक नही। यह प्रतिमा चारित्र-दृढ़ता की पराकाष्ठा प्राप्त करने के लिये धारण की जाती है, जिससे शीघ्र ही कर्म-बन्ध से मुक्ति प्राप्त हो सके। दशाश्रुतस्कन्धसूत्र मे भिक्षु की बारह प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है जो कि त्यागवृत्ति का एक महान् आदर्श है। इस त्याग-वृत्ति से आत्मा अपने निज स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है।

"**भिक्खुपडिमं**" इस पद से यह सिद्ध होता है कि श्रमणोपासक की प्रतिमाए भिक्षु प्रतिमाओं से भिन्न हैं।

उपघात और विशोधि

मूल—पंचविहे उवघाए पण्णत्ते, तं जहा—उग्गमोवघाए, उप्पाय-णोवघाए, एसणोवघाए, परिकम्मोवघाए, परिहरणोवघाए।

पंचविहा विसोही पण्णत्ता, तं जहा—उग्गमविसोही, उप्पायणविसोही, एसणाविसोही, परिकम्मविसोही, परिहरणविसोही ॥४०॥

छाया—पञ्चविध उपघातः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—उद्‌गमोपघातः, उत्पादनोपघातः, एषणोपघातः, परिकर्मोपघात., परिहरणोपघातः।

पञ्चविधा विशोधिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—उद्‌गमविशोधिः, उत्पादनविशोधिः, एषणाविशोधिः, परिकर्मविशोधिः, परिहरणविशोधिः।

शब्दार्थ—पंचविहे—पांच प्रकार का, **उवघाए पण्णत्ते, त जहा**—उपघात अर्थात् अशुद्धत्व कथन किया गया है, जैसे, **उग्गमोवघाए**—उद्‌गम सम्बन्धी उपघात, **उप्पायणो-वघाए**—उत्पादन-सम्बन्धी उपघात, **एसणोवघाए**—एषणा सम्बन्धी उपघात, **परिकम्मो-वघाए**—परिकर्म अर्थात् वस्त्र-पात्रादि सम्बन्धी उपघात, **परिहरणोवघाए**— परिभोग-सम्बन्धी उपघात।

पंचविहा विसोही पण्णत्ता, तं जहा—पाच प्रकार की विशुद्धि कथन की गई है, जैसे—उद्‌गम-सम्बन्धी विशुद्धि, **उप्पायणविसोही**—उत्पादन सम्बन्धी विशोधि, **एसणा-विसोही**—एषणा सम्बन्धी विशोधि, **परिकम्म-विसोही**—परिकर्म-विशोधि, **परिहण-विसोही**—उपभोग सम्बन्धी विशोधि।

मूलार्थ—पाच प्रकार का उपघात वर्णित किया गया है, जैसे—उद्‌गम सम्बन्धी उपघात, उत्पादन सम्बन्धी-उपघात, एषणा-सम्बन्धी उपघात, परिकर्म अर्थात् वस्त्र-पात्रादि सम्बन्धी उपघात, परिहरण सम्बन्धी उपघात।

पांच प्रकार की विशोधि वर्णित की गई है, जैसे—उद्‌गम-विशोधि, उत्पादन-विशोधि, एषणा-विशोधि, परिकर्म-विशोधि एव परिहरण-विशोधि।

विवेचनिका—दत्तियो आदि की मर्यादा चारित्र-शुद्धि मे सहायक होती है और मर्यादा-विहीनता अशुद्ध संस्कारो को जन्म देती है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे उपघात अर्थात् अशुद्धता और विशोधि अर्थात् विशुद्धता का वर्णन किया गया है। जिस कारण से चारित्र की विराधना अर्थात् संयम में अशुद्धता होती है उसे सकारण उपघात कहा जाता है। उपघात से सयम दूषित हो जाता है। दूषित वस्तु कोई भी हो, वह साधक जीवन के लिये हानिकारक है। आध्यात्मिक दृष्टि से उपघात भी साधना-सिद्धि में बाधक है। चारित्र में जो-जो बाधक तत्व हैं, उनसे निवृत्ति पाना या उन से दूर रहना ही साधना-पथ पर प्रगति है। पांच प्रकार

के उपघातों का विवरण निम्नलिखित है—

१. उद्गमोपघात—आहार आदि की उत्पत्ति से संबन्ध रखने वाले भिक्षा-दोष, आधाकर्म आदि सोलह भोजन-पानी के दोष उद्गमोपघात कहलाते हैं जो कि भिक्षु के लिये सदैव वर्जनीय हैं। जो भोजन-पानी साधु के निमित्त से बना हुआ है उसे यदि कोई साधु ग्रहण करता है तो उसे उद्गम-उपघात दोष का भागी बनना पड़ता है। इस प्रकार का भोजन-पानी भिक्षु के लिये सर्वथा अकल्पनीय अर्थात् त्याज्य है। सदोष आहार ग्रहण व सेवन करने से चारित्र क्षत-विक्षत एवं दूषित हो जाता है।

२. उत्पादनोपघात—यदि स्वय प्रेरणा एवं सहयोग देकर गृहस्थ के द्वारा भोजन पानी तैयार करवाकर ग्रहण किया जाता है तो साधु को उत्पादनोपघात दोष का भागी बनना पड़ता है। दीनता से, गृहस्थ के कार्य मे सहयोग देने से या कषाय की उदीरणा करके गृहस्थ द्वारा आहार-पानी लेने से जो साधु को दोष लगता है उसे उत्पादनोपघात कहते हैं। इस दोष के धात्री आदि सोलह भेद हैं। अनुचित रीति से यदि साधु गृहस्थ से भोजन-पानी ग्रहण करता है, तो वह उसके साधुत्व की मर्यादा के सर्वथा विरुद्ध माना जाता है।

३ एषणोपघात—जो दोष देने वाले गृहस्थ और लेने वाले साधु दोनो के द्वारा लगे, उसे 'एषणोपघात' कहा जाता है। इसके शकित आदि दस भेद है। उनमें से किसी एक दोष के सेवन करने से साधुता दूषित हो जाती है, अत: 'एषणोपघात' भी चारित्र में बाधक होने से मुनि-जीवन के लिये वर्जनीय है।

४. परिकर्मोपघात—विधि-विधान की उपेक्षा करके वस्त्र-पात्र आदि को सवारना, छेदन, सीवन आदि क्रिया करना परिकर्म है, उससे लगने वाला दोष 'परिकर्मोपघात' कहलाता है। विभूषा के निमित्त किसी भी वस्त्र को छोटे से बडा बनाना और बड़े से छोटा बनाना, धोना, तीन सीवन से अधिक सीना, तीन थिगलो से अधिक सीना, तारकशी करना, कसीदा निकालना, कढ़ाई करना इत्यादि रूपो में 'वस्त्र-परिकर्म-उपघात' है। इसी प्रकार विभूषा के निमित्त पात्रो को सुसज्जित करना 'पात्र-परिकर्मोपघात' है। इनका विस्तृत वर्णन आचाराङ्ग सूत्र के वस्त्रैषणा और पात्रैषणा नामक अध्ययनो मे द्रष्टव्य है। सदोष-निर्दोष वस्त्र-पात्र कौन-कौन से हैं? कौन से कल्पनीय हैं और कौन से अकल्पनीय है? इनका ज्ञान होने से ही दोषो से निवृत्ति की जा सकती है।

निवास-स्थान के विषय मे परिकर्मोपघात उसे कहते हैं जो—साधु के निमित्त से किसी स्थान को चूने से लीपा गया हो, डास-मच्छरों के विनाश के लिये वहा कोई कीटाणुनाशक द्रव्य छिडका गया हो, धूप से सुगंधित किया गया हो, दीपक या बिजली से प्रकाशमान किया गया हो, भूत आदि के लिये बलि दी गई हो, गोबर से लीपा गया हो, जल का छिडकाव किया गया हो, इस प्रकार से संवारे हुए मकान में ठहरना परिकर्मोपघात है। इस प्रकार का निवास-स्थान अकल्पनीय होने से परिवर्जनीय है।

५. **परिहरणोपघात**—जो उपधि अर्थात् साधनोपकरण साधु के लिये अकल्पनीय है, उसे ग्रहण करना, जैसे कि जो व्यक्ति साधुवेश छोड़कर चला गया उसके यदि वस्त्र-पात्र पड़े हो या जो साधु बिना आज्ञा के विचरता रहा हो, जिसका जीवन प्रतीतिकारी न रहा हो, कारण वश यदि वह मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो उसके जो भी वस्त्र-पात्र हो उन्हे ग्रहण करना 'परिहरणोपघात' दोष है। अप्रतीतिकारी एकाकी साधु जिस मकान मे ठहरा हुआ था, उसके बाद वह विहार कर जाए और तत्काल ही वहा सयमी साधु पहुंच जाए, तो उसके लिये उस मकान मे ठहरना उचित नही कहा गया है। चातुर्मास के पश्चात् दो चतुर्मास अन्यत्र स्थान मे बिना ही व्यतीत किए अकारण उसी स्थान में चातुर्मास करने से कालातिक्रान्त क्रिया लगती है। यह दोष भी इसी के अन्तर्गत है। बिना विधि के भोजन पानी का ग्रहण करना, उसका उपभोग करना, अविधि से परिष्ठापन करना, ये सब दोष 'परिहरणोपघात' मे ग्रहण किए जाते है।

जिस प्रकार उपघातों का वर्णन किया गया है, उससे विपरीत विशुद्धि के विषय मे भी जान लेना चाहिए। जैसे उद्गमविशुद्धि, उत्पादन-विशुद्धि, एषणा-विशुद्धि, परिकर्म-विशुद्धि और परिहरण-विशुद्धि। इन पाच प्रकार की विशुद्धियों से चारित्र की पूर्णतया आराधना की जा सकती है। उद्गम, उत्पादन और एषणा इन तीन पदों से आहार का विषय वर्णन किया गया है। परिकर्मपद से वस्त्र-पात्र आदि का ग्रहण होता है और परिहरण पद से सब प्रकार की उपधि का ग्रहण, क्षेत्र से उपाश्रयादि, काल से चातुर्मास आदि साधु के ग्रहण करने योग्य एव अयोग्य पदार्थो का ग्रहण किया गया है। अत· उपघात और विशुद्धि पदो से क्रमश· चारित्र की विराधना और आराधना का स्पष्ट रूप से वर्णन हुआ है। उपघात को छोडकर विशुद्धि के आश्रित होकर चारित्र की सम्यक्तया आराधना करनी चाहिए।

दुर्लभ-बोधि और सुलभ-बोधि के पांच कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभबोहियत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा— अरहंताणं अवन्नं वयमाणे, अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वयमाणे, आयरियउवज्झायाणं अवन्नं वयमाणे, चाउवन्नस्स संघस्स अवन्नं वयमाणे, विवक्कतवबंभचेराणं देवाणं अवन्नं वयमाणे।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा सुलभबोहियत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा— अरहंताणं वन्नं वयमाणे जाव विवक्कतवबंभचेराणं देवाणं वन्नं वयमाणे ॥४१॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैर्जीवा दुर्लभबोधिकतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा— अर्हतामवर्ण वदन्, अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्य अवर्ण वदन् आचार्योपाध्यायानामवर्ण वदन्,

चातुर्वर्णस्य संघस्यावर्ण वदन्, विपक्वतपो ब्रह्मचर्याणां देवानामवर्णं वदन्।

पञ्चभिः स्थानैर्जीवाः सुलभबोधिकतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—अर्हतां वर्ण वदन् यावत् विपक्वतपोब्रह्मचर्याणां देवानां वर्णं वदन्।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणों से, **जीवा**—जीव, **दुल्लभबोहियत्ताए**—दुर्लभ बोधि के लिये, **कम्मं पकरेंति, तं जहा**—कर्म करते है, जैसे, **अरहताणं**—अरिहन्तों के, **अवन्नं**—अवर्ण अर्थात् निन्दा-वचन, **वयमाणे**—बोलता हुआ, **अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स**—अरिहन्तों के द्वारा प्ररूपित धर्म का, **अवन्नं**—निन्दा-वचन, **वयमाणे**—कहता हुआ, **आयरियउवज्झायाणं**—आचार्य और उपाध्यायो का, **अवन्नं**—निन्दा-वचन, **वयमाणे**—बोलता हुआ, **विवक्कतवबंभचेराणं**—जिनका पूर्व जन्म उपार्जित तप और ब्रह्मचर्य परिपक्वभाव को प्राप्त हो चुका उन-उन, **देवाणं**—देवो की, **अवन्नं**—निन्दा, **वयमाणे**—बोलता हुआ।

पंचहिं ठाणेहिं—पाच कारणों से, **जीवा**—जीव, **सुलभबोहियत्ताए**—सुलभबोधि के लिये, **कम्मं पगरेंति**—कर्म करते है, **तं जहा**—जैसे, **अरिहंताणं**—अरिहन्तों के, **वन्नं वयमाणे**—वर्ण अर्थात् स्तुति-वचन बोलता हुआ, **जाव**—यावत्, **विवक्कतवबंभचेराणं**—परिपक्व तप और ब्रह्मचर्य का फल भोगने वाले, **देवाणं वन्नं वयमाणे**—देवो की स्तुति करते हुए।

मूलार्थ—पांच कारणों से जीवात्मा दुर्लभबोधि अर्थात् जिन-धर्म की कठिनता से प्राप्ति के लिये कर्म करते हैं, जैसे—अरिहन्तों की निन्दा करने से, अरिहन्तों द्वारा प्ररूपित धर्म की निन्दा करने से, आचार्य और उपाध्यायों की निन्दा करने से, चतुर्विध सघ की निन्दा करने से, परिपक्व तप एवं ब्रह्मचर्य-फल प्राप्त देवों की निन्दा करने से।

पांच कारणों से जीवात्मा सुलभबोधि अर्थात् जिन-धर्म की सुविधा से प्राप्ति के लिये कर्म करते हैं, जैसे—अरिहन्तों की स्तुति करने से, यावत् परिपक्व तप एवं ब्रह्मचर्य फल प्राप्त देवो की स्तुति करने से।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में उपघात से अधार्मिकता की वृद्धि और विशुद्धि से जीवों की धार्मिकता के विकास का वर्णन किया गया है। धार्मिकता के विकास से बोधि की सुलभता और अधार्मिकता के विकास से बोधि की दुर्लभता हो जाती है, अतः अब सूत्रकार प्रसंग-प्राप्त दुर्लभ-बोधिता का वर्णन करते हैं।

कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। यदि कारण मिट्टी है तो घट भी मिट्टी का ही होता है, यदि कारण स्वर्ण है तो घट भी स्वर्ण का ही होता है। इसी प्रकार अशुभ कारणों से अशुभ प्रकृति का बंध होता है और शुभ कारणो से शुभ प्रकृतियों का बन्ध हुआ करता

है। अशुभ कर्मों के उदय से जीव अशुभ कर्मों मे सलग्न होते हैं, वे सत् एवं एकान्त गुणों में भी असत् एवं दोषो की कल्पना किया करते हैं, उनका दृष्टिकोण प्रत्येक दृष्टि से अशुभ होता है। जिन कारणों से जिन-धर्म का मिलना दुष्प्राप्य हो जाए, उसे दुर्लभबोधित्व कहते है। जिन कारणों से जीव दुर्लभबोधि के योग्य कर्मों का उपार्जन करते हैं, वे कारण पांच हैं। जैसे कि—

१. अरहंताणं अवन्नं वयमाणे—अरिहत भगवन्तो की निन्दा करने से जीव दुर्लभबोधि के योग्य कर्मो का उपार्जन करते हैं। अवर्ण शब्द का अर्थ है निन्दा। अरिहन्तो के अस्तित्व से इन्कार करना, सर्वथा निर्दोष होते हुए भी उनमे दोष देखना। जैसे कि जब अरिहन्तों को गर्भ मे ही तीन ज्ञान होते हैं, तब वे संसार मे क्यों रहते हैं ? और राज्य क्यो करते हैं ? तथा वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी कैसे माने जा सकते हैं ? शंकाशील हृदय मे उठने वाली इस प्रकार की शंकाए निन्दा ही है और वे निन्दाए अशुभ कर्मो के बन्ध का कारण बन जाती हैं।

२. अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वयमाणे—अरिहन्त-भाषित धर्म का अवर्णवाद करने से जीव दुर्लभबोधि बनते है। केवलि-भाषित-धर्म दो तरह का है—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। उनमे जो श्रुतधर्म है वह आप्त-प्रणीत नही है, श्रुत-साहित्य अर्द्धमागधी भाषा मे होने से प्रमाणित नहीं माना जा सकता इत्यादि रूपो मे निन्दा करना, चारित्र-धर्म की निंदा करना, जैसे चारित्र धर्म से तो दान देना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि सर्वथा निवृत्ति करने से जनता का कोई उपकार नही होता। इस प्रकार के वचन बोलना केवलिभाषित धर्म की निंदा है। जिनधर्म की निंदा करने से जीव दुर्लभबोधि के योग्य कर्मो का उपार्जन करते हैं। चारित्रशील, वृद्ध, बाल, स्त्री आदि के उपकार के लिये श्रुत का निर्माण प्राकृत भाषा में हुआ है। चारित्रधर्म से निर्वाण की प्राप्ति होती है, अत: चारित्र-धर्म और श्रुत-धर्म दोनो सर्वहितकारी हैं और सभी की उन्नति के विधायक है।

३. आयरिय-उवज्झायाणं अवन्नं वयमाणे—आचार्य एवं उपाध्यायों का अवर्णवाद करने से। लोगों मे उनकी बुराई करना, अपकीर्ति मे सहयोग देना, धृष्टता से उन्हे दुर्वचन बोलना, जनता में उनके अवगुण प्रकट करना इत्यादि अवर्णवाद ही है। इससे भी जीव दुर्लभबोधि बनते है।

४. चाउवन्नस्स संघस्स अवन्नं वयमाणे—'चाउवन्नस्स' अर्थात् 'चातुर्वर्णस्य' इस शब्द में 'वर्ण' का अर्थ है 'प्रकार'।[१] श्रमण, श्रमणी, श्रावक-श्राविका रूप चार अगो वाले संघ की निंदा करने पर बोधि अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। सघ को भगवान का रूप कहा गया है, अत: संघ की निन्दा भगवान् की ही निंदा है। निन्दा सम्बन्ध का विच्छेद करनी वाली है, निषेधात्मिक वृत्ति है, विधायिका वृत्ति नहीं, अत: यह ज्ञान के

---

१ चत्वारो वर्णा:—प्रकारा. श्रमणादयो यस्मिन् स.—इति वृत्तिकार

महास्रोत भगवान् से सम्बन्ध का विच्छेद करके साधक को आत्म-ज्ञान से दूर ले जाती है, उस दशा मे बोधि अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ हो जाना स्वाभाविक है, अत: श्रीसघ की निन्दा करने वाले को दुर्लभबोधि कहा गया है।

५. **विवक्कतवबंभचेराण देवाणं अवन्नं वयमाणे**—जिन महासाधको ने पूर्व जन्मो में संयम, तप एवं ब्रह्मचर्य की आराधना की है और उन्होंने आराधना के बल पर देवगति को प्राप्त किया है, ऐसे साधना-समृद्धि-सम्पन्न देवो की निंदा करना, सम्यग्दृष्टि देवो की सत्ता को न मानना भी दुर्लभ-बोधिकता का कारण है और इससे जीव के लिये जन्म-जन्मान्तरो तक जिन-धर्म का मिलना दुष्प्राप्य हो जाता है, अत: देव-निन्दा से भी जीव दर्शन-मोहनीय कर्म का बन्ध करते हैं और इस कर्म के उदय होने पर कुमार्ग में ही जीवों को भटकना पडता है।

सुलभबोधिता—

जिन जीवो को जिन-धर्म की प्राप्ति इस जन्म मे अथवा जन्मान्तर मे सुलभ है, उन्हें सुलभबोधि कहा जाता है। सुलभ-बोधिता के भी पाच कारण हैं—जैसे कि अरिहत भगवान की स्तुति करने से एव उनके चरणो मे श्रद्धा-भक्ति रखने से जीव सुलभ-बोधि बनता है। स्तुति एक विधायिका महाशक्ति है जिसका अर्थ है—महिमा का गान। जैसे कि—

जियरागदोसमोहा सव्वन्नू तियसनाहकयपूया।
अच्चतसच्चवयणा सिवगइगमणा जयंति जिणा॥

अर्थात् जिन महापुरुषों ने राग-द्वेष, मोह आदि जीत लिए है, जो सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी हैं, इन्द्रो के द्वारा जिनकी महिमा का गान किया गया है, जिन के वचन एकान्त सत्य है, जिनके चरण मोक्ष-द्वार तक पहुंच चुके है, उन भगवान् जिनेन्द्र देव की जय हो। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करने से जीव सुलभबोधि बनता है। केवलीभाषित धर्म की स्तुति इस प्रकार की जाती है, जैसे कि—

वत्थुपयासणसूरो अइसयरयणाणसायरो जयइ।
सव्व जय जीव बंधुरबंधू दुविहो वि जिणधम्मो॥

अर्थात् जो धर्म वस्तुओ को प्रकाशित करने में सूर्य के समान है, अतिशय गुण-रत्नो का महासमुद्र है, जगत् के सभी प्राणियो का दिव्य बंधु है, गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म अथवा श्रुतधर्म और चारित्रधर्म रूप केवलिभाषित धर्म सर्वोत्कर्ष वाला होने से विजयशील है। इस प्रकार केवलिभाषित धर्म की स्तुति करते रहने से जीव सुलभबोधि बनता है।

आचार्य और उपाध्याय की स्तुति इस प्रकार की जाती है, जैसे कि—

तेसिं नमो तेसिं नमो, भावेण पुणो वि तेसिं चेव नमो।
अणुवकय परहियरया, जे नाणं देंति भव्वाणं॥

अर्थात् उन आचार्य एव उपाध्यायो को मन, वचन और काय से पुनः-पुनः भावपूर्वक नमस्कार हो, जो बिना किसी इच्छा के परहित मे तत्पर है, भव्य आत्माओं को निर्मल ज्ञान देते है। इस प्रकार उनकी स्तुति-श्लाघा करने से जीव सद्गुणों का पात्र बनता है और सुलभबोधिता के योग्य हो जाता है।

चतुर्विध श्रीसघ की स्तुति इस प्रकार की जा सकती है, जैसे कि—

एयम्मि पूइयम्मि नत्थि तयं जं न पूइयं होइ।
भुवणे वि पूअणिज्जो न गुणी संघाओ जं अन्नो॥

अर्थात् चतुर्विध श्रीसंघ के पूजे जाने पर ऐसा कोई पूज्य नही रह जाता है जिस की पूजा करनी शेष रह गई हो। विश्व में श्री संघ से अन्य कोई पूजनीय गुणी हो यह सम्भाव्य नहीं है। इस तरह चतुर्विध श्रीसंघ की स्तुति करता हुआ जीव सुलभबोधि बनता है।

सम्यग्दृष्टि देवो का वर्णवाद अर्थात् स्तुति इस प्रकार की जा सकती है, जैसे कि—

धण्णा खलु ते देवा विसयविमोहावि हत जिण सविहे।
धम्मं सुणंति सम्मं तित्थपभावं च कुव्वंति॥

अर्थात् वे धन्य है जो विषयों से विमुख रहकर जिनेन्द्र देव के समीप सम्यक् प्रकार से धर्म-उपदेश सुनते है और तीर्थ की प्रभावना करते हैं।

इस प्रकार देवों की स्तुति करता हुआ जीव सुलभबोधि बनता है। निंदा का परिणाम 'दुर्लभबोधिता' और स्तुति का परिणाम 'सुलभबोधिता' है।

प्रतिसंलीन और संवर

मूल—पञ्च पडिसंलीणा पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदियपडिसंलीणे जाव फासिंदियपडिसंलीणे।

पञ्च अप्पडिसंलीणा पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदिय-अप्पडिसंलीणे जाव फासिंदिय-अप्पडिसंलीणे।

पञ्चविहे संवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियसंवरे जाव फासिंदियसंवरे।

पञ्चविहे असंवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदिय-असंवरे जाव फासिंदिय-असंवरे ॥४२॥

छाया—पञ्च प्रतिसंलीनाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियप्रतिसंलीनो यावत् स्पर्शेन्द्रिय-प्रतिसंलीनः।

पञ्च अप्रतिसंलीनाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियाप्रतिसंलीनो यावत् स्पर्शेन्द्रिया-प्रतिसंलीनाः।

पञ्चविधः संवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रिय-संवरो यावत् स्पर्शेन्द्रिय-संवरः।
पञ्चविधोऽसंवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियासंवरो यावत् स्पर्शेन्द्रियासंवर.।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पांच इन्द्रिय-निग्रह कथन किये गए हैं, जैसे कि—श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह यावत् स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह।

पांच इन्द्रिय-अनिग्रह कहे गए है, जैसे कि श्रोत्रेन्द्रिय-अनिग्रह यावत् स्पर्श-नेन्द्रिय-अनिग्रह।

पांच संवर बताए गए हैं, जैसे कि—श्रोत्रेन्द्रिय-संवर यावत् स्पर्शनेन्द्रिय, संवर।

पांच असंवर अर्थात् आस्रव बताए गए है, जैसे कि—श्रोत्रेन्द्रिय-असंवर यावत् स्पर्शनेन्द्रिय-असंवर।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे 'सुलभ-बोधि' और 'दुर्लभ-बोधि' का परिचय दिया गया है और साथ ही सुलभबोधिता और दुर्लभबोधिता के कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। अब सूत्रकार उसी विषय का प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं।

'लीनता' का अर्थ है—'अपने आपको खो देना, 'तल्लीनता' का अर्थ है अपने आपको दूसरे मे विलीन कर देना। 'सलीनता' का अर्थ है—अपने आपको चारों ओर से समेट कर अपने मे लीन कर देना अर्थात् आत्म-अवस्थित हो जाना। चौथा शब्द है 'प्रतिसंलीनता' इसका अर्थ है अपनी वृत्तियो को एवं चेतना को बाहर से अन्दर लाकर उन्हें अपने आप मे लीन करने का प्रयत्न करना।

इन्द्रिय-वृत्तियो की विवेचना में प्राय: अन्यत्र 'रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श' यह क्रम रखा गया है, क्योंकि प्राय: यह देखा गया है कि जब हम पहले नेत्रेन्द्रिय के द्वारा किसी वस्तु या जीव के रूप को देख लेते हैं उसके अनन्तर ही रस आदि के प्रति आकर्षण जागृत होता है। परन्तु भगवान महावीर 'शब्द' एव शब्द-ग्राहिका श्रोत्रेन्द्रिय को प्राथमिकता देते हैं, क्योकि आंखें सामान्य रीति से बद की जा सकती है और तब रूप का आकर्षण समाप्त हो जाता है, किन्तु कानो को सामान्यरूप से बद नही किया जा सकता। आखे बंद करके ध्यान लगाना आरम्भ करने पर भी कानों में शब्द पडते ही हैं और कानो में शब्दों के आते ही कल्पित रूप मन के समक्ष उपस्थित हो जाता है, अत: साधक को सर्व प्रथम कर्म-निग्रह अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बन्ध तोडना चाहिए। इसके टूटते ही रूप आदि की परम्परा स्वत: ही टूटने लगती है। भगवान महावीर ने इतनी अधिक श्रोत्रेन्द्रिय प्रति-सलीनता की साधना कर ली थी कि कानो में कीलिया ठुक जाने पर भी उनकी महाचेतना उन कानो तक लौटी ही नहीं, वे प्रतिसंलीन ही बने रहे।

श्रोत्रेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता की साधना के अनन्तर रूपाकर्षण की समाप्ति के लिए

नेत्रेन्द्रिय प्रतिसंलीनता की साधना होनी चाहिए। तदनन्तर क्रमश: रसाकर्षण की समाप्ति के लिये जिव्हेन्द्रियप्रतिसंलीनता की तथा गन्ध-प्रवाह से मुक्ति पाने के लिये घ्राणेन्द्रिय-प्रतिसलीनता की साधना होनी चाहिए। किसी भी पदार्थ के विषय में सुनते ही पहले उसकी ओर दृष्टि जाती है, फिर उसकी गन्ध के लिये आकर्षण पैदा होता है, गन्ध अच्छी लगने पर मन उसका रस लेना चाहता है और उसमे रस की उत्तमता उपलब्ध होने पर उस पदार्थ को छूना चाहता है, उसका स्पर्श करना चाहता है, अत: शब्देन्द्रिय को प्रथम स्थान देकर अन्त में स्पर्शेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता को स्थान दिया गया है।

जब साधक प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्ध तोड़ लेता है तब उसकी ज्ञानधारा बाह्य जगत से मुक्त हो जाती है और इसी मुक्तावस्था में साधक की ज्ञानधारा का प्रवाह अन्तर्मुखी हो जाता है, यह अन्तर्मुखता ही सलीनता है। बाह्य विषयो से मुक्त ज्ञान को ही सम्यक् ज्ञान कहा जाता है, क्योंकि वही ज्ञान स्व-स्वरूप की उपलब्धि के लिये यत्नशील हो सकता है और स्व-स्वरूप की उपलब्धि से सम्पन्न महासाधक ही 'सुलभ-बोधि' कहलाता है।

इसके विपरीत जिसकी चेतना बहिर्मुखी है वह अप्रतिसलीन है। अप्रतिसलीनता की भी पांच अवस्थाए है, श्रोत्रेन्द्रिय-अप्रतिसंलीनता, नेत्रेन्द्रिय-अप्रतिसंलीनता, जिव्हेन्द्रिय-अप्रतिसंलीनता। घ्राणेन्द्रिय-अप्रतिसलीनता और स्पर्शनेन्द्रिय-अप्रतिसंलीनता। इन्हीं के आधार पर अप्रतिसंलीनों के पाच रूप उपस्थित किए गए है।

यद्यपि विषयानुभूति में सभी इन्द्रिया एक दूसरे की सहायक है और विषयानुभूति की तीव्रता मे पांचो ज्ञानेन्द्रिया सम्मिलित होकर कार्य करती हैं फिर भी साधना-अवस्था मे जब एक साधक ध्यानावस्थित होकर बैठा है, उसकी आखे बन्द है, वह सुगन्ध, दुर्गन्ध के ज्ञान की रसानुभूति और स्पर्श की सुखद अथवा दुखद अनुभूतियो से दूर है, परन्तु तभी उसके कानों मे कोई गीत की कडी आ पहुंची और उसकी चेतना आत्म-पथ का परित्याग करके श्रोत्रेन्द्रिय के साथ जुड़ जाएगी, उस अवस्था मे उसे श्रोत्रेन्द्रिय-अप्रतिसंलीन कहा जाएगा। इसी प्रकार किसी के आकर्षक रूप को देखकर जब उसकी चेतना रूप में तल्लीन हो जाती है, तब वह पास के गीत भी नहीं सुन पाती, उसको ग्रीष्म की लूए और बर्फानी हवाओं की भी प्रतीति नही होती, उस दशा में उसे नेत्रेन्द्रिय-अप्रतिसंलीन कहा जाता है।

यद्यपि प्रतिसलीनता और संवर शब्द मिलते-जुलते अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, फिर भी इन में सूक्ष्म भेद है। प्रतिसंलीनता का अर्थ है जो कुछ अपने से भिन्न है, जो कुछ बाहर से आया हुआ है, जिसकी अनुभूति के लिये चेतना इन्द्रियो की गुलाम बनी हुई है उससे अपने आपको विमुख करना, तोड़ना और संवर का अर्थ है स्व-स्वरूप की स्वीकृति को अपने से जोड़ना। प्रतिसंलीनता बाहर से सम्बन्ध तोड़ती है और संवर अन्दर से सम्बन्ध जोड़ता है। इस प्रकार प्रथम प्रक्रिया तोडने की है और दूसरी प्रक्रिया जोड़ने की है। श्रोत्रेन्द्रिय-संवर का अर्थ है श्रोत्रेन्द्रिय से चेतना का सम्बन्ध टूट जाने पर उसे पुन: आत्मा के साथ

जोडना। अत: मन:-प्रक्रिया के ज्ञाता शास्त्रकार ने प्रतिसलीनता और सवर को एव उनकी विरुद्ध अवस्थाओं को एक साथ प्रकट किया है।

संयम और उसके भेद

मूल—पंचविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा—सामाइयसंजमे, छेओवट्ठा-वणियसंजमे, परिहारविसुद्धियसंजमे, सुहुमसंपरायसंजमे, अहक्खायचरित्त संजमे ॥४३॥

छाया—पञ्चविध: संयम: प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सामायिकसंयम:, छेदोपस्था-पनीयसंयम:, परिहारविशुद्धिकसंयम:, सूक्ष्मसंपरायसंयम:, यथाख्यातचारित्रसंयम:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पांच प्रकार का सयम कथन किया गया है, जैसे—सामायिक संयम, छेदोपस्थापनीय संयम, परिहारविशुद्धिक सयम, सूक्ष्मसंपराय संयम, यथाख्यात सयम।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे संवर का वर्णन किया गया है, सवर सयम का ही एक रूप है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे परम्परा प्राप्त सयम की पचविधता का वर्णन किया गया है। जिससे अपने को और दूसरे को शान्ति प्राप्त हो अथवा जिससे ज्ञान-पूर्वक पाप-क्रियाओ से सर्वथा निवृत्ति हो, वही सयम है—'**संयमनं सयम.**।' जिस अनुष्ठान से सभी जीवो की रक्षा हो, उसे भी संयम ही कहा जाता है। इस सयम के भी पांच रूप है, जैसे कि—

१. **सामायिक-सयम**—सभी पाप-मय व्यापारों का त्याग करना और आध्यात्मिक साधना मे सहायक व्यापारो मे प्रवृत्ति करना सामायिक संयम है, वे साधनाएं भी सामायिक-संयम के अन्तर्गत आती है, जिनसे प्रतिक्षण होने वाली कर्म-निर्जरा के कारण जीव की मानसिक शुद्धि होती है। उस ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र रूप रत्नत्रय की उपलब्धि को भी सामायिक-सयम कहा जाता है जिससे भव-भ्रमण समाप्त होता है, सभी प्रकार के दु:खों का नाश होता है और अनिर्वचनीय सुख की उपलब्धि होती है।

२. **छेदोपस्थापनीय-सयम**—पूर्व पर्याय का छेदन करके शिष्य को पुन: पाच महाव्रतों मे नियुक्त करना छेदोपस्थापनीय सयम है। यह सयम भरत और ऐरवत क्षेत्रो में प्रथम और चरम तीर्थङ्करो के तीर्थ मे ही होता है। शेष २२ तीर्थङ्करों और महाविदेह क्षेत्र मे विचरने वाले तीर्थङ्करो के तीर्थ मे यह संयम नही पाया जाता।

यह संयम दो प्रकार का होता है। जब एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ मे जाने वाले सर्वविरतियो के लिये जो महाव्रतो का आरोपण होता है तब वह "निरतिचार छेदोपस्थापनीय" है, जैसे कि भगवान पार्श्वनाथ के शासन के साधु जब भगवान महावीर के शासन में आए थे तब

उन्हे पुन: पाच महाव्रतों से दीक्षित किया गया था। इसी प्रकार एक सप्ताह के अनन्तर जो नव-दीक्षित को छेदोपस्थापनीय सयम दिया जाता है वह भी इसी कोटि का होता है। जब कोई साधक मूलगुणो को किसी प्रकार दूषित कर देता हो तो उसे पुन: महाव्रतो से सम्पन्न किया जाता है वह संयम 'सातिचार छेदोपस्थापनीय' होता है।

३. परिहारविशुद्धि-संयम—यदि किसी संयमी साधक द्वारा कोई संयम-विरुद्ध कार्य हो जाता है तो उसके दोष की निवृत्ति के लिये जो विशेष रूप से शुद्धीकरण की प्रक्रिया अपनाई जाती है, जिसमें आपवादिक स्थिति के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता वह परिहारविशुद्धि-सयम कहलाता है। यह कल्पस्थिति इस प्रकार प्रसिद्ध है—वे नव साधु जिनका अध्ययन कम से कम नौवे पूर्व की तीसरी वस्तु पर्यन्त हो, जो दीक्षास्थविर हों, वे इस संयम को धारण कर सकते है। ऐसे संयमी आचार्य-उपाध्याय की शुभ आज्ञा को पाकर गच्छ से बाहर निकलकर १८ मास पर्यन्त विशेष विधिविधान के अनुसाार तप करते हैं, जैसे कि—चार साधु छ: मास तक तप करते हैं, चार साधु तपस्वियो की **वैयावृत्य** अर्थात् सेवा करते हैं और उनमे से एक वाचनाचार्य होकर ठहरता है। दूसरी बार की षाण्मासिक साधना में वैयावृत्य करने वाले साधु तप करते है और तप करने वाले साधु वैयावृत्य मे सलग्न होते हैं, किन्तु वाचनाचार्य वही रहता है जो पहले था। तीसरे छ: महीने मे वाचनाचार्य स्वय तप करता है, शेष आठ मे से एक वाचनाचार्य बनता है और सात मुनिवर वैयावृत्य करते है। इस प्रकार यह संयम साधना १८ महीनों में पूर्ण होती है।[१]

४. सूक्ष्मसंपराय-संयम—यहा सूक्ष्म शब्द से लोभ और संपराय शब्द से कषाय का ग्रहण किया जाता है। जब सूक्ष्म रूप से लोभ का उदय हो और शेष कषायों का उदय न हो, तब उसे सूक्ष्मसपराय संयम कहते हैं। यह संयम दसवे गुणस्थान में होता है, ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान के अभिमुख सयमी के परिणाम विशुद्ध्यमान होते है किन्तु दसवे गुणस्थान से प्रतिपाती होते हुए जब सयमी नौवे गुणस्थान के अभिमुख होता है तब उसके भाव सक्लिश्यमान होते है।

५. यथाख्यात-संयम—इसका शाब्दिक अर्थ है—जिसकी कथनी और करणी संतुलित हो, जैसे कहता है, वैसे ही करता है। इसके अधिकारी पूर्ण सत्यवादी, उत्तम सहनन वाला, छद्मस्थ और केवली दोनों ही होते हैं। इस सयम में कषायों का उदय नही होता। ११वे, १२वे, १३वें और १४वें गुणस्थान में ही यथाख्यात-सयम पाया जाता है। निर्वाण-प्राप्ति में सहायक

---

१ इह च नवको गणो भवति, तत्र चत्वार. परिहारका:, अपरे तु तद्वैयावृत्यकराश्चत्वार एवानुपरिहारका., एकस्तु कल्पस्थितो वाचनाचार्यो गुरुभूत इत्यर्थ:, एतेषा च निर्विशमानकानामय परिहार., ग्रीष्मे जघन्यादीनि चतुर्थषष्ठाष्टमादीनि, शिशिरे तु षष्ठाष्टमदशमानि, वर्षास्वष्टमदशमद्वादशानि, पारणके चायाम, इतरेषा सर्वेषामायाममेव। एवमेते चत्वार: षण्मासान्, पुनरन्ये चत्वार·, षडेव पुनर्वाचनाचार्य:, षडिति सर्व एवायमष्टादशमासिक कल्प इति:। —*इति वृत्तिकार*

यही मुख्य सयम है। इसकी आराधना से जीव आत्म-विकास करते हुए अक्षय मोक्ष पद की प्राप्ति कर सकते हैं।

एकेन्द्रिय जीवाश्रित संयम-असंयम

मूल—एगिंदिया णं जीवा असमारभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ, तं जहा—पुढविकाइयसंजमे जाव वणस्सइकाइयसंजमे।

एगिंदिया णं जीवा समारभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ, तं जहा—पुढविकाइय-असंजमे जाव वणस्सइकाइय-असंजमे ॥ ४४ ॥

छाया—एकेन्द्रियान् जीवान् असमारभमानस्य पञ्चविधः संयमः क्रियते, तद्यथा—पृथिवीकायिक-संयमो यावत् वनस्पतिकायिकसंयमः।

एकेन्द्रियान् जीवान् समारभमानस्य पञ्चविधोऽसंयमः क्रियते, तद्यथा—पृथिवीकायिकासंयमो यावत् वनस्पतिकायिकासंयमः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—एकेन्द्रिय जीवों का समारम्भ अर्थात् हिंसा न करने वाला पाच प्रकार का सयम करता है, जैसे—पृथ्वीकाय का संयम यावत् वनस्पतिकाय का सयम।

एकेन्द्रिय जीवों का समारम्भ करने वाला पांच प्रकार का असंयम करता है, जैसे—पृथ्वीकाय का असयम यावत् वनस्पतिकाय का असयम।

विवेचनिका—सयम-प्रकरण के अन्तर्गत प्रस्तुत सूत्र मे भी संयम का ही वर्णन किया गया है। जो व्यक्ति एकेन्द्रिय जीवों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक जीवो का समारम्भ अर्थात् हिंसा नही करते, वे पाच प्रकार के सयम का पालन करते है, जैसे कि पृथ्वीकाय- संयम, अपकाय-संयम, तेजस्काय-सयम, वायुकाय-सयम और वनस्पतिकाय-संयम, अर्थात् ऐसे साधक एकेन्द्रिय जीवो से सम्बन्धित अहिंसा-व्रत का पालन करते है

जो एकेन्द्रिय जीवो का समारम्भ—हिंसा करते हैं, उनका असयम भी पाच प्रकार का होता है। जैसे कि पृथ्वीकाय-असंयम, अप्काय-असयम, वायुकाय-असयम, तेजस्काय-असयम और वनस्पतिकाय-असंयम।

संयम से उत्थान होता है और असंयम से पतन। इस सूत्र में अहिंसा और हिंसा को क्रमशः सयम और असयम बतलाया गया है। अहिंसा और संयम दोनों जैनधर्म के प्राण है, प्राणों की रक्षा करना ही प्राणी की रक्षा है।

जैन संस्कृति का अहिंसा स्वर अत्यन्त व्यापक है, अतः वह पृथ्वीकाय आदि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों तक की हिंसा के परित्याग को संयम कह कर संयमी के लिए महान्

जीव-रक्षा का विधान करता है। आधुनिक विज्ञान के विकास से पूर्व जैन सस्कृति ने ही वनस्पतियो आदि मे प्राणों के दर्शन करके जीव-विज्ञान के विकास में प्रथम योगदान दिया है।

इन्द्रियाधिष्ठित संयम-असंयम

मूल—पंचिंदिया णं जीवा असमारभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ, तं जहा—सोइंदियसंजमे जाव फासिंदियसंजमे।

पंचिंदिया णं जीवा समारभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ, तं जहा—सोइंदिय-असंजमे जाव फासिंदिय-असंजमे।

सव्वपाण-भूय-जीव-सत्ताणं असमारभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ, तं जहा—एगिंदियसंजमे जाव पंचिंदिय-संजमे।

सव्वपाण-भूय-जीव-सत्ताणं समारभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ, तं जहा—एगिंदिय-असंजमे जाव पंचिंदिय-असंजमे ॥४५॥

छाया—पञ्चेन्द्रियान् जीवान् समारभमाणस्य पञ्चविधः संयम. क्रियते, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियसंयमो यावत् स्पर्शेन्द्रियसंयमः।

पञ्चेन्द्रियान् जीवान् समारभमाणस्य पञ्चविधोऽसंयम· क्रियते, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियासंयमो यावत् स्पर्शेन्द्रियासंयमः।

सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वान्यसमारभमाणस्य पञ्चविधः संयमः क्रियते, तद्यथा—एकेन्द्रियसंयमो यावत् पञ्चेन्द्रियसंयमः।

सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वानि समारभमाणस्य पञ्चविधोऽसंयमः क्रियते, तद्यथा—एकेन्द्रियासंयमो यावत् पञ्चेन्द्रियासंयमः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पञ्चेन्द्रिय जीवों का समारम्भ अर्थात् हिसा न करने वाला व्यक्ति पांच प्रकार का सयम करता है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय के संयम से लेकर स्पर्शेन्द्रिय के संयम तक।

पञ्चेन्द्रिय जीवों का समारम्भ अर्थात् हिसा करने वाला व्यक्ति पांच प्रकार का असयम करता है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय के असंयम से लेकर स्पर्शनेन्द्रिय के असंयम तक।

सर्व प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वो का समारम्भ न करने वाला व्यक्ति पांच

प्रकार का संयम करता है, जैसे—एकेन्द्रिय के संयम से लेकर पञ्चेन्द्रिय के संयम तक।

सर्व प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वो का समारम्भ अर्थात् हिंसा करने वाला पांच प्रकार का असंयम करता है, जैसे—एकेन्द्रिय के असंयम से लेकर पञ्चेन्द्रिय के असयम तक।

विवेचनिका—सयम का प्रकरण होने से प्रस्तुत सूत्र में भी संयम और असयम का ही वर्णन किया गया है। पचेन्द्रिय जीवों को कष्ट न देने से एवं उनकी हत्या न करने से पाच प्रकार के संयम का पालन किया जाता है, जैसे कि किसी के द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय की रक्षा करना श्रोत्रेन्द्रिय-संयम है। किसी के द्वारा चक्षुरिन्द्रिय की रक्षा करना चक्षुरिन्द्रिय संयम है, किसी के द्वारा घ्राणेन्द्रिय की रक्षा करना घ्राणेन्द्रिय सयम है, किसी के द्वारा रसनेन्द्रिय की रक्षा करना रसनेन्द्रिय संयम है और किसी के द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय की रक्षा करना स्पर्शनेन्द्रिय सयम है, अर्थात् किसी भी इन्द्रिय को नष्ट न करना उसे साता पहुंचाना सयम है, क्योंकि पांच ज्ञान इन्द्रियां भी प्राण ही है। प्राण सभी जीवो को प्रिय है। अत: प्राणियो की इन्द्रियों की रक्षा करना प्राण-रक्षा है, यह रक्षा सयम का ही एक रूप है। इससे विपरीत आचरण करना असंयम है।

समस्त प्राणी-भूत-जीव-सत्त्वों को कष्ट देना, उनकी हिंसा करना, उन्हें परितप्त करना आदि क्रियाओ से निवृत्ति रूप पांच प्रकार का सयम होता है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जीवों तक इस संयम की मर्यादा है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो को प्राणी कहते है, वनस्पतिकाय को भूत, पचेन्द्रिय जीवो को जीव कहा जाता है और इनके अतिरिक्त शेष पृथिवी कायिक आदि चार स्थावरो को सत्त्व कहते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सभी जीव जीना चाहते है, उनकी हिंसा न करना, उन्हे पीड़ित न करना और उन्हे साता पहुचाना संयम है।

हिंसा से कर्मो का बध होता है और प्राणियो के साथ वैर बढता है। जो समाधि और विवेक साधना में सलग्न हैं, वे सयम जैसे श्रेय-मार्ग को छोडकर असंयम के त्याज्य-मार्ग पर कभी नहीं जाते हैं

पंचविध तृण-वनस्पति-कायिक

मूल—पंचविहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता, तं जहा—अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया, बीयरुहा॥ ४६॥

छाया—पञ्चविधास्तृण-वनस्पतिकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अग्रबीजाः, मूलबीजाः, पर्वबीजाः, स्कन्धबीजाः, बीजरुहाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पांच प्रकार के बादर अर्थात् स्थूल वनस्पतिकायिक जीव कथन किये गए हैं, जैसे—अग्रबीज-जिनका अग्रभाग ही बीज हो कोरण्टक आदि। मूलबीज-जिनका मूलभाग ही बीज हो उत्पलकन्द आदि। पर्वबीज-जिनका पर्व भाग अर्थात् गांठ ही बीज हो बांस, ईख आदि। स्कन्धबीज-जिनका स्कन्धभाग अर्थात् पेड़ी ही बीज हो, शल्लकी आदि। बीजरुह-जो बीज से ही बोने पर उत्पन्न होते हों, बरगद आदि।

विवेचनिका—भूत शब्द और वनस्पति शब्द दोनों वनस्पति-कायिक जीवों के पर्याय-वाची नाम हैं। इस लिये प्रस्तुत सूत्र में तृण-वनस्पति-काय के पाच भेदों का वर्णन किया गया है। स्थूल वनस्पति कोई अग्रबीज वाली होती है, जैसे कोरंट आदि, मूलबीज कमलकंद आदि, पर्वबीज ईख आदि, स्कन्धबीज शल्लकी आदि, बीजरुह वट आदि।[1]

वैसे तो आयुर्वेद शास्त्र में वनस्पतियों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, आजकल तो वनस्पति शास्त्र के रूप में विशेष एव सर्वथा पृथक् रूप में इस विषय के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा विस्तृत हो रही है। परन्तु इस विषय का प्रथम विवेचन हमें जैनागमो के द्वारा ही प्राप्त होता है, वनस्पतियों का प्रस्तुत विभागीकरण इसका साक्षी है।

पंचविध आचार

मूल—पंचविहे आयारे पण्णत्ते, तं जहा—णाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, वीरियायारे ॥४७॥

छाया—पञ्चविध आचार: प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ज्ञानाचार:, दर्शनाचार·, चारित्राचार:, तपाचार:, वीर्याचार:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पाच प्रकार का आचार वर्णित किया गया है, जैसे—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार, वीर्य-आचार।

विवेचनिका—वनस्पति आदि जीवो की रक्षा आचार का ही एक रूप है, इसलिये प्रस्तुत सूत्र में परम्परा प्राप्त पांच प्रकार के आचारों का निर्देश किया गया है।

श्रुतज्ञान की प्राप्ति अर्थात् आगमो का अध्ययन चौदह अतिचारो को छोड़कर ही करना चाहिए और साथ ही आगमज्ञान सम्मान के साथ प्राप्त करना चाहिए, यही 'ज्ञानाचार है'।

शका आदि दोषों से रहित होकर शुद्ध सम्यग्दर्शन की आराधना करना ही 'दर्शनाचार' है।

समिति, गुप्ति रूप भेदो सहित सम्यक्तया चारित्र की आराधना करना 'चारित्राचार' है।

---

१ इनका विस्तृत स्वरूप मृत्रकृताङ्ग सूत्र के आहार-परिज्ञा नामक अध्ययन मे देखिए।

अनशन आदि बारह भेदों सहित सम्यक् रूप से तप की आराधना करना 'तपाचार' है।

उक्त चार प्रकार के आचारो का पालन करने के लिये दृढप्रतिज्ञ होना और अपनी शक्ति के अनुरूप प्रत्येक आचार के पालन के लिये यत्नशील रहना 'वीर्याचार' है।

इस सूत्र मे निर्ग्रन्थ प्रवचन के विराट रूप का सामान्य रूप से प्रदर्शन किया गया है। ज्ञानाचार में प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण और नय, निक्षेप, लक्षण आदि विषय समाविष्ट हो जाते है। इतना ही नही, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इस त्रिपदी का भी इसी मे अन्तर्भाव हो जाता है। दर्शनाचार मे सम्यग्दर्शन की आराधना का और मिथ्यादर्शन एवं मिश्रदर्शन की निवृत्ति का समावेश हो जाता है। सयम और सयमासयम इनको चारित्राचार का ही अग समझना चाहिए। तपाचार मे सकाम निर्जरा का तथा वीर्याचार में आत्मा के आत्मभूत लक्षण रूप शक्ति और उपयोग के विषय का अन्तर्भाव माना जाता है। इस प्रकार पाच आचारो के विषय जानने चाहिएं। यद्यपि वीर्याचार के पडितवीर्य और बाल-पडित वीर्य, इस तरह दो भेद है, तदपि इस स्थान पर केवल सम्यग्दर्शन पूर्वक वीर्याचार का ही ग्रहण किया गया है।

आचार-प्रकल्प

मूल—पंचविहे आयारपकप्पे पण्णत्ते, तं जहा—मासिए उग्घाइए, मासिए अणुग्घाइए, चउमासिए उग्घाइए, चाउम्मासिए अणुग्घाइए, आरोवणा।

आरोवणा पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—पट्ठविया, ठविया, कसिणा, अकसिणा, हाडहडा ॥४८॥

छाया—पञ्चविध आचारप्रकल्पः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मासिक उद्घातिकः, मासिकोऽनुद्घातिकः, चातुर्मासिक उद्घातिकः, चातुर्मासिकोऽनुद्घातिकः, आरोपणा।

आरोपणा पञ्चविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा प्रस्थापिता, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना, हाडहडो।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पाच प्रकार का आचार प्रकल्प वर्णित किया गया है, जैसे—उद्घातिक-मासिक, अनुद्घातिकमासिक, उद्घातिक चातुर्मासिक, अनुद्घातिक चातुर्मासिक, आरोपणा-मायापूर्वक आलोचना करने से मिलने वाला प्रायश्चित्त।

आरोपणा पांच प्रकार की है, जैसे—प्रस्थापिता, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना, हाडहडा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पाच आचारों का वर्णन किया गया है, पांच आचारो मे से किसी भी आचार मे लगे हुए दोष की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त का करना अनिवार्य होता

है। निशीथसूत्र मे कथित आधार से जो प्रायश्चित्त दिया और लिया जाता है उसी का निर्देश प्रस्तुत सूत्र मे किया गया है। आचारांग सूत्र के अतर्गत निशीथ नामक अध्ययन को आचार-प्रकल्प कहते हैं। निशीथ अध्ययन आचाराग सूत्र की पंचम चूलिका है। इसके २० उद्देशक हैं। उस चूलिका मे पांच प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन प्राप्त होता है। वृत्तिकार आचार-प्रकल्प का अर्थ निशीथ अध्ययन ही करते हैं, जैसे कि—

''आचारस्य—प्रथमाङ्गस्य पदविभागसमाचारी लक्षणप्रकृष्टकल्पाभिधायकत्वात् प्रकल्पः आचारप्रकल्पः—निशीथाध्ययनम्।''

निशीथ सूत्र के अंतर्गत कुछ उद्देशकों मे लघुमासिक प्रायश्चित्त का, कुछ उद्देशकों मे गुरुमासिक प्रायश्चित्त का, कुछ उद्देशकों मे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का, कुछ उद्देशकों मे गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त का तथा आरोपणा का विधान किया गया है। **'उग्घाइए'** पद लघु अर्थ में रूढ है और **'अणुग्घाइए'** पद गुरु अर्थ में। जो प्रायश्चित्त खण्ड-खण्ड करके दिया जाए वह उद्घातिक और जो प्रायश्चित्त एक साथ दिया जाए, वह अनुद्घातिक कहलाता है। मास के आधे १५ दिन और मासिक प्रायश्चित्त के पूर्ववर्ती २५ दिन के आधे साढे बारह दिन इन दोनों संख्याओ को जोड़ने से साढे सत्ताईस दिन होते हैं, इस तरह भाग करके जो एक मास का प्रायश्चित्त दिया जाता है वही अनुद्घातिक है। वृत्तिकार भी इसी प्रकार लिखते है, जैसे कि—

''अद्धेण छिन्नसेसं पूव्वद्धेण तु संजुयं काउं।
देज्जाहि लहुयदाणं गुरुदाणं तत्तियं चेव॥''

''एतद्भावना मासिकतपोऽधिकृत्योपदर्श्यते—मासस्यार्द्धच्छिन्नस्य शेषं दिनानां पञ्चदशकं तन्मासापेक्षया च पूर्वस्य—पञ्चविंशतिकस्यार्द्धेन सार्धद्वादशकेन संयुत कृतं सार्द्धसप्तविंशति भवतीति।''

गुरुमासिक प्रायश्चित्त तीस दिन का होता है और गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त पूरे १२० दिन का होता है, इससे न्यून अधिक नहीं।

प्रायश्चित्तों के ऊपर जो प्रायश्चित्त ६ मास पर्यन्त लगातार दिया जाता है उसे आरोपणा कहा जाता है। दीक्षा-छेदन करके भी प्रायश्चित्त दिया जाता है और तप करवा कर भी।

आरोपणा के पाच भेद है, जैसे कि प्रस्थापिता, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना और हाडहडा। इन का विवरण निम्नलिखित है—

१. प्रस्थापिता—आरोपित किए हुए प्रायश्चित्त का पालन यथाशीघ्र करना या करवाना अथवा दोषो से शीघ्रातिशीघ्र निवृत्ति पाने के लिए ग्रहण किए प्रायश्चित्त को कार्यान्वित करना प्रस्थापित प्रायश्चित्त है।

२ स्थापिता—जो आरोपणा प्रायश्चित्त दिया गया है, उस का वैयावृत्य अर्थात् सेवा

आदि विशेष कारणो से उसी समय यदि उसका पालन न कर सके तो भविष्य के लिए उसे स्थापित करना और पुनः अनुकूल समय आने पर उसका आचरण करवाना स्थापित प्रायश्चित्त है।

३. कृत्स्ना—एक साथ पूर्ण प्रायश्चित्त देना, जैसे कि तीर्थ में उत्कृष्ट छ: मास तक तप करने का विधान है। यदि अमुक मुनि के लिए छ: मास से अधिक का गुरुमास प्रायश्चित्त आवश्यक हो तो उसको छ: मास तक पृथक् तप आदि करने के लिए नियुक्त करना कृत्स्ना आरोपणा है। यद्यपि सभी प्रकार के तपो के लिए क्रोध और माया रहित होना आवश्यक होता है, तथापि इस तप मे क्रोध और माया से रहित होना विशेष रूप से अनिवार्य है।

४. अकृत्स्ना—दोषो की बहुलता से आरोपणा प्रायश्चित्त का कुल जोड़ यदि छ: मास से कही अधिक बैठता हो तो जिस प्रायश्चित्त में न्यूनता हो सकती है या एक जैसे अनेक दोषों का समावेश एक मे करके जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, उसे अकृत्स्ना आरोपणा कहते हैं।

५. हाडहडा—जिस साधक को जो लघु, गुरुमासिक आदि का प्रायश्चित्त आता हो तो उसको वही तप शीघ्रता से प्रदान करना हाडहडा प्रायश्चित्त है।[१]

उक्त भेदो से यह सिद्ध होता है कि छेदरूप या तप रूप प्रायश्चित्त का विधान ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशुद्धि के लिए किया गया है, किन्तु देश, काल, शक्ति, संहनन, संयम-विराधना, काय, इन्द्रिय, जाति और गुणोत्कर्ष इन सब बातो को देखकर ही यह प्रायश्चित्त दिया जाता है।

प्रायश्चित्त दण्ड नहीं, आत्म-विशुद्धि की तपोमयी प्रक्रिया है, साधक को उसके दोषों का ज्ञान करवा कर उनसे उसे मुक्त करना है, अत: साधक की शक्ति आदि के अनुरूप उसे अनेकविध प्रायश्चित्त देने पडते है, यही कारण है कि जैनागम प्रायश्चित्तो की अनेकविधता पर प्रकाश डालते है।

वक्षस्कार पर्वत एवं द्रह

मूल—जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमे णं सीयाए महानईए उत्तरेणं पंच वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—मालवंते, चित्तकूडे, पम्हकूडे, णलिणकूडे, एगसेले।

जंबूमंदरस्स पुरओ सीयाए महानईए दाहिणेणं पंच वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—तिकूडे, वेसमणकूडे, अंजणे, मायंजणे, सोमणसे।

१. इन प्रायश्चित्तो का पूर्ण विवरण निशीथ सूत्र के २०वे उद्देशक मे देखना चाहिए।

जंबूमंदरस्स पच्चत्थिमेणं सीओयाए महाणईए दाहिणेणं पंच वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—विज्जुप्पभे, अंकावई, पम्हावई, आसीविसे, सुहावहे।

जंबूमंदरपच्चत्थिमेणं सीओयाए महाणईए उत्तरेणं पंच वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—चंदपव्वए, सूरपव्वए, णागपव्वए, देवपव्वए, गंधमायणे

जंबूमंदरदाहिणेणं देवकुराए कुराए पंच महद्दहा पण्णत्ता, तं जहा—निसहद्दहे, देवकुरुद्दहे, सूरद्दहे, सुलसद्दहे, विज्जुप्पभद्दहे।

जंबूमंदरउत्तरकुराए कुराए पंच महद्दहा पण्णत्ता, तं जहा—नीलवंतद्दहे, उत्तरकुरुद्दहे, चंदद्दहे, एरावणद्दहे, मालवंतद्दहे।

सव्वेऽवि णं वक्खारपव्वया (तेणं) सीयासीओयाओ महाणईओ मंदरे वा पव्वयंतेणं पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, पंचगाउयसयाइं उव्वेहेणं। धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं पंच वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—मालवंते। एवं जहा जंबुद्दीवे तहा जाव पुक्खरवरदीवड्ढपच्चत्थिमद्धे वक्खारा, दहा य उच्चत्तं भाणियव्वं। समयक्खेत्ते णं पंच भरहाइं, पंच एरवयाइं। एवं जहा चउट्ठाणे बिईयउद्देसे तहा एत्थ वि भाणियव्वं जाव पंच मंदर, पंचमंदरचूलियाओ, णवरं उसुयारा णत्थि ॥४९॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्ये सीताया महानद्या उत्तरेण पंच वक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—माल्यवान्, चित्रकूटः, पद्मकूटः, नलिनकूटः, एकशैलः।

जम्बूमंदरस्य पुरतः सीताया महानद्याः दक्षिणेन पञ्चवक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—त्रिकूटः, वैश्रमणकूटः, अञ्जनः, मात्राञ्जनः, सौमनसः।

जम्बूमन्दरस्य पश्चिमे सीतोदाया महानद्याः, दक्षिणेन पञ्चवक्षस्कारपर्वताः, प्रज्ञप्तास्तद्यथा—विद्युत्प्रभः, अङ्कवती, पद्मावती, आशीविशः, सुखावहः।

जम्बूमन्दरपश्चिमे सीतोदाया महानद्या उत्तरेण पञ्चवक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चन्द्रपर्वतः, सूरपर्वतः, नागपर्वतः, देवपर्वतः, गन्धमादनः।

जम्बूमन्दरदक्षिणेन देवकुरायां कुरायां पञ्च महाद्रहाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—निषधद्रहः, देवकुरुद्रहः, सूरद्रहः, सुलसद्रहः, विद्युत्प्रभद्रहः।

जम्बूमन्दरोत्तरकुरायां कुरायां पञ्च महाद्रहाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नीलवद्द्रहः,

उत्तरकुरुद्रहः, चन्द्रद्रहः, एरावणद्रहः, माल्यवद्द्रहः।

सर्वेऽपि वक्षस्कारपर्वताः (तेन) सीतासीतोदे मन्दरो वा पर्वतस्तेन पञ्च योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन, पञ्चगव्यूतिशतान्युद्वेधेन।

धातकीषंडे द्वीपे पूर्वार्द्धे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्ये सीताया महानद्या उत्तरेण पञ्च वक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—माल्यवान्०। एवं यथा जम्बूद्वीपे तथा यावत् पुष्करवरद्वीपार्द्धपश्चिमार्द्धे वक्षस्काराः द्रहाश्च उच्चत्वं भणितव्यम्। समयक्षेत्रं पञ्च भरताः, पञ्चैरवतानि। एवं यथा चतुःस्थानके द्वितीयोद्देशके तथाऽत्रापि भणितव्यम्, यावत् पञ्चमन्दराः, पञ्च मन्दरचूलिकाः, नवरं इषुकारा न सन्ति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में मेरुपर्वत के पूर्व में सीता महानदी के उत्तर की ओर पांच वक्षस्कार पर्वत वर्णन किए हैं, जैसे—माल्यवान्, चित्रकूट, पद्मकूट, नलिनकूट, एकशैल।

जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के पूर्व मे सीता महानदी के दक्षिण की ओर पांच वक्षस्कार पर्वत वर्णन किए हैं, जैसे—त्रिकूट, वैश्रमणकूट, अञ्जन, मातञ्जन, सौमनस।

जम्बूद्वीप में मन्दर पर्वत के पश्चिम में सीतोदा महानदी के दक्षिण की ओर पांच वक्षस्कार पर्वत वर्णित किए गए हैं, जैसे—विद्युत्प्रभ, अकावती, पद्मावती, आशीविष, सुखावह।

जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के पश्चिम मे सीतोदा महादनी के उत्तर की ओर पाच वक्षस्कार पर्वत वर्णन किए है, जैसे—चन्द्रपर्वत, सूर्यपर्वत, नागपर्वत, देव पर्वत, गन्धमादन।

जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के दक्षिण में देवकुरु नामक अकर्मभूमि में पांच महाद्रह वर्णन किए है, जैसे—निषधद्रह, देवकुरुद्रह, सूरद्रह, सुलसद्रह, विद्युत्प्रभद्रह।

जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के उत्तर में उत्तरकुरु नामक अकर्मभूमि में पांच महाद्रह कथन किए है, जैसे—नीलवन्तद्रह, उत्तरकुरुद्रह, चन्द्रद्रह, ऐरावद्द्रह, माल्यवान् द्रह।

जम्बूद्वीपान्तर्गत सब के सब वक्षस्कार पर्वत, सीता, सीतोदा एवं मेरु पर्वत के पास हैं और पांच सौ योजन भूमि से ऊंचे एवं पांच सौ गव्यूत (दो हजार धनुष परिमित क्षेत्र) भूमि से नीचे हैं।

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वार्द्ध में, मेरुपर्वत के पूर्व में, सीता महानदी के उत्तर की ओर पांच वक्षस्कार पर्वत कथन किए हैं, जैसे—माल्यवान् आदि।

जिस प्रकार जम्बूद्वीप के सम्बन्ध मे उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार यहां पर भी जानना।

पुष्करार्द्धद्वीप के भी पूर्व और पश्चिम अर्धभाग मे वक्षस्कार, द्रह और वक्षस्कारों का ऊचापन आदि सब जम्बूद्वीप के समान ही कहना चाहिए। पांच भरत और पांच ऐरावत समयक्षेत्र हैं। जिस प्रकार चतुर्थ स्थान के द्वितीय उद्देशक में वर्णन किया गया है, उसी प्रकार यहां पर भी कहना चाहिए, यावत् पांच मेरुपर्वत की चूलिकायें जाननी चाहिएं। इतनी विशेषता है कि वहां इषुकार नहीं हैं।

विवेचनिका—सयमशील साधक मनुष्यक्षेत्र मे ही होते हैं और वह जम्बूद्वीप मनुष्य-क्षेत्र के अंतर्गत भी है, अत: अब सूत्रकार सयमशीलो के क्षेत्र जम्बूद्वीप की भौगोलिक स्थिति का परिज्ञान कराते हैं। इस सूत्र में बीस वक्षस्कार नामक पर्वतो का नामोल्लेख किया गया है, उन्हीं पर्वतो को गजदंत भी कहा जाता है। ये विशेष प्रकार के पर्वत है। इनका नाम वक्षस्कार इसलिए पडा है कि वे दो पर्वत मिलकर अपने मध्य मे क्षेत्र-विशेष को गोप्य करते है। माल्यवान् पर्वत के चारो दिशाओ मे चार वक्षस्कार पर्वत है। वे जम्बूद्वीप के मेरु से पूर्व की ओर तथा सीता महानदी के उत्तर की ओर अवस्थित है। इसी प्रकार त्रिकूट आदि पाच वक्षस्कार पर्वत सीता महानदी के दक्षिण की ओर अवस्थित हैं। जम्बूद्वीप के मेरु से पश्चिम की ओर शीतोदा महानदी के दक्षिण की ओर विद्युत्प्रभ आदि पांच वक्षस्कार पर्वत है। इसी प्रकार शीतोदा महानदी के उत्तर की ओर चन्द्र पर्वत आदि वक्षस्कार पर्वत अवस्थित हैं। इस प्रकार चार सूत्राशो के द्वारा सूत्रकार ने २० वक्षस्कार पर्वतों का वर्णन किया है।

जम्बूद्वीप के अन्तर्गत मेरु से दक्षिण की ओर देवकुरु क्षेत्र मे पाच महाह्रद है, जिनके शाश्वत नाम निषधह्रद, देवकुरुह्रद, सूर्यह्रद, सुलसह्रद और विद्युत्प्रभह्रद है। उसी मेरु से उत्तर की ओर पाच महाह्रद हैं, जिनके नाम नीलवत, उत्तरकुरु, चन्द्र, एरावण और मालवत ह्रद हैं। इन दस महाह्रदो से अनेक महानदियां प्रवाहित होती है।

सभी वक्षस्कार पर्वत शीता और शीतोदा महानदी के दक्षिण और उत्तर दिशा की ओर है, ये सभी पर्वत मेरुपर्वत के समीप है और पाच सौ योजन ऊंचे तथा पांच सौ कोस की गहराई तक अवस्थित हैं।

इसी प्रकार धातकी खंड द्वीप के पूर्वार्द्ध मे मेरुपर्वत से पूर्व की ओर जैसे—शीता महानदी के उत्तर दिशा में पाच वक्षस्कार पर्वतों का वर्णन किया गया है, वैसे ही अन्य भी पाच-पाच वक्षस्कारों का वर्णन जानना चाहिए।

इसी प्रकार धातकीखंड के पश्चिमार्द्ध के विषय में भी जान लेना चाहिए। पुष्करार्द्ध का सभी वर्णन धातकीखंड की तरह ही निर्विशेष समझना चाहिए।

ढाई द्वीप मे कर्म-भूमि और अकर्म-भूमि, वर्षधरपर्वत, शीता, शीतोदा आदि महानदिया

मंदर पर्वत सब पांच-पांच हैं, जैसे चौथे स्थान के दूसरे उद्देशक में वर्णन किया गया है वैसे ही यहां पर भी जान लेना। किन्तु इषुकार पर्वतों का वर्णन यहां नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे कुल चार ही हैं, पांच नहीं। इनका पूर्ण विवरण जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में किया गया है, वहां पर पर्वतो के नाम, ऊचाई, गहराई, लम्बाई, चौड़ाई, कूट, देवों के स्थान, उनकी राजधानियां, देवों की ऋद्धि इत्यादि विषय वर्णित हैं। पर्वत-मालाए, नदिया और क्षेत्र ये सब द्रव्य से शाश्वत हैं और पर्याय से नाशवान् हैं।

इस प्रसंग मे यह शका हो सकती है कि इस अध्यात्म-प्रधान शास्त्र मे पर्वत, नदी, क्षेत्र आदि के वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी ? इस शंका के समाधान मे कहा जा सकता है कि ये सब ज्ञेयरूप होने से ज्ञान के विषय हैं, अत: लोक-स्वरूप की भावना को जगाने के लिए इनकी अत्यन्त आवश्यकता है। आत्मा को लोकस्वरूप-भावना से पवित्र करना चाहिए। उक्त स्थानो मे प्रत्येक जीव ने अनन्त-अनन्त बार जन्म-मरण किए हैं, किन्तु आत्म-विकास के बिना इस भूमि से मुक्त होकर निर्वाण पद की प्राप्ति नही हो सकती।

श्री ऋषभदेव एवं चक्रवर्ती भरत की ऊंचाई

मूल—उसभेणं अरहा कोसलिए पंच धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था। भरहे णं राया चाउरंतचक्कवट्टी पंच धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं हुत्था। बाहुबलीणमणगारे एवं चेव। बंभी णामज्जा एवं चेव। एवं सुंदरीवि ॥५०॥

छाया—ऋषभोऽर्हन् कौशलिकः पञ्चधनु· शतान्युर्ध्वमुच्चत्वेनाभूत्। भरतो राजा चातुरन्तचक्रवर्ती पञ्च धनुः शतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेनाभूत्। बाहुबलि अनगार एवञ्चैव। ब्राह्मी नाम आर्यैवञ्चैव। एवं सुन्दर्यपि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—कौशलदेशोत्पन्न अरिहन्त श्री ऋषभदेव पांच सौ धनुष ऊंचे थे। चक्रवर्ती राजा भरत भी पांच सौ धनुष ऊंचे थे। बाहुबली अनगार, ब्राह्मी और सुन्दरी आर्या भी पाच सौ धनुष ऊंचे थे।

विवेचनिका—वर्तमान तीर्थंकरों की चौबीसी मे ढाईद्वीप के अन्तर्गत जम्बूद्वीप मे भगवान् श्री ऋषभदेव जी ने ही राज्य-व्यवस्था एव सयम-परायणता का आरम्भ किया था, अत: संयम और जम्बूद्वीप का वर्णन करने के अनन्तर भगवान् ऋषभदेव जी की एवं उनके परिवार की शारीरिक उच्चता का वर्णन किया जाता है।

ढाई द्वीप के अन्तर्गत इस भरत क्षेत्र मे कौशल देश मे उत्पन्न हुए अर्हद् भगवान् ऋषभदेव की अवगाहना अर्थात् शारीरिक ऊंचाई पाच सौ धनुष की थी। इसी प्रकार चक्रवर्ती भरत, अनगार बाहुबली भी पांच सौ धनुष की अवगाहना वाले थे। आर्या ब्राह्मी

और सुन्दरी की ऊंचाई भी पांच सौ धनुष की थी। ये सब व्यक्ति भगवान् ऋषभदेव के संसारी पक्ष के पुत्र और पुत्रियां थे। इन सब को अवगाहना अर्थात् ऊचाई बराबर थी। यह तथ्य सूत्रकार ने तीसरे आरे के तीसरे भाग में होने वाले जीवों के विषय मे कहा है। इस से अधिक अवगाहना वाले जीव सिद्ध-गति प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि यह उत्कृष्ट अवगाहना कर्मभूमिज मनुष्यों की कथन की गई है। निर्वाण-पद के अधिकारी केवल कर्मभूमिज मनुष्य ही हैं, क्योंकि मानवता एक चौराहा है, यहां किसी भी ओर जाने के लिए इसी चौराहे पर लौटना पड़ता है, बिना लौटे दूसरे मार्ग पर जाया ही नहीं जा सकता। यदि कोई व्यक्ति पुण्योत्कर्ष के कारण देवलोको मे पहुंच गया है तो उसे मोक्ष की ओर जाने के लिए वापिस मानवता के चौराहे पर लौटना ही पड़ेगा। इसी प्रकार अन्य गतियों से भी मोक्षार्थी मानवता के चौराहे पर लौटकर ही मोक्ष की ओर गमन कर सकता है।

जागृति के पांच कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं सुत्ते विबुज्झेज्जा, तं जहा—सद्देणं, फासेणं, भोयणपरिणामेणं, णिद्दक्खएणं, सुविणदंसणेणं ॥५१॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैः सुप्तो विबुद्धयेत्, तद्यथा—शब्देन, स्पर्शेन, भोजनपरिणामेन, निद्राक्षयेन, स्वप्नदर्शनेन।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणों से, **सुत्ते**—सोता हुआ, **विबुज्झेज्जा**—जाग उठता है, **तं जहा**—जैसे, **सद्देणं**—शब्द से, **फासेणं**—स्पर्श से, **भोयणपरिणामेणं**—भोजन के परिणाम से, **णिद्दक्खएणं**—निद्रा के क्षय से, **सुविणदंसणेणं**—स्वप्नदर्शन से।

मूलार्थ—पाच कारणों से सोता हुआ प्राणी जाग उठता है, जैसे—शब्द से, स्पर्श से, भोजन के परिणाम से, निद्रा-क्षय होने से और स्वप्न देखने से।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जिन दिव्य विभूतियों के नामो का उल्लेख किया गया है, वे सब प्रबुद्ध अर्थात् जागरुक थे। प्रबुद्ध दो प्रकार के होते है—द्रव्य-प्रबुद्ध और भाव प्रबुद्ध। निद्रा का सर्वथा नष्ट हो जाना द्रव्य-प्रबुद्धता है और मोहावेश का सर्वथा नष्ट हो जाना, जिससे जीव मे सादि-अनन्त जागरूकता उत्पन्न होती है वह भाव-प्रबुद्धता कहलाती है। द्रव्य-निद्रा में सोए हुए जीव पांच कारणों से जाग उठते हैं, जैसे कि शब्द सुनने से नींद खुल जाती है, किसी के द्वारा स्पर्श करने से भी नींद टूट जाती है भूख लगने पर भी नीद उड़ जाती है, निद्रा का समय पूरा होने से भी जागृति आ जाती है और किसी अद्भुत एवं चमत्कृत स्वप्न को देखने से भी लोग जाग उठते हैं। द्रव्य-निद्रा से जागने के उपर्युक्त कारण ही हो सकते हैं।

यद्यपि इस सूत्र मे भाव-निद्रा का वर्णन नहीं किया गया, केवल द्रव्य-निद्रा ही इस सूत्र का लक्ष्य है, फिर भी भावनिद्रा का अभिप्राय इस सूत्र में ध्वनित हो रहा है।

दर्शनावरणीय कर्म के उदय से मोह-निद्रा की उत्पत्ति होती है और निद्रा में जब कोई व्यक्ति सो जाता है तो उसका साधना-पथ अन्धकाराच्छन्न हो जाता है। शास्त्रों के श्रवण से (शब्द), गुरु चरणो एवं सन्तजनो के वरद हस्त के स्पर्श से, शुद्ध आहार को ग्रहण करने से, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से और ससार की विनाशशीलता को स्वप्न जैसा देखने से साधक इस निद्रा से जाग जाता है और तब वह अप्रमत्त होकर साधनालोक मे विचरण करने लगता है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र मे द्रव्य-निद्रा और भाव-निद्रा दोनों से जागृत होने के कारणों का स्पष्टीकरण किया गया है।

साधु द्वारा साध्वी को सहारा लगाने के पांच अपवाद

मूल—पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे णिग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ, तं जहा—णिग्गंथि च णं अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए ओहाएज्जा, तत्थ णिग्गंथे णिग्गंथिं गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ।

णिग्गंथे णिग्गंथिं दुग्गंसि वा, विसमंसि वा, पक्खलमाणिं वा, पवडमाणिं वा, गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ।

णिग्गंथे णिग्गंथिं सेयंसि वा, पंकंसि वा, पणगंसि वा, उक्कसमाणिं वा, उवुज्झमाणिं वा, गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ।

णिग्गंथे णिग्गंथिं नावं आरुभमाणे वा, ओरोहमाणे वा णाइक्कमइ।

खेत्तइत्तं, दित्तइत्तं, जक्खाइट्ठं, उम्मायपत्तं, उवसग्गपत्तं, साहिगरणं, सपायच्छित्तं जाव भत्तपाणपडियाइक्खियं अट्ठजायं वा णिग्गंथे णिग्गंथिं गेहण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥ ५२ ॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं गृह्णन् वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामति, तद्यथा—निर्ग्रन्थीं चान्यतरः पशुजातीयो वा, पक्षिजातीयो वा उपहन्यात्, तत्र निर्ग्रन्थो निग्रन्थीं गृह्णन् वा, अवलम्बमानो वा नातिक्रामति।

निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं दुर्गे वा, विषमे वा, प्रस्खलन्तीं वा, प्रपतन्तीं वा, गृह्णन् वा, अवलम्बमानो वा नातिक्रामति।

निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं सेके वा, पंके वा, पनके वा, उदके वा, अपकसन्तीं वा, अपोह्यमानां वा, गृह्णन् वा, अवलम्बमानो वा नातिक्रामति।

निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं नावमारोहयन् वा, अवरोहयन् वा नातिक्रामति।

क्षिप्तचित्तां, दृप्तचित्तां, यक्षाविष्टा, उन्मादप्राप्तां, उपसर्गप्राप्तां, साधिकरणां, सप्रायश्चित्तां यावत् भक्त-पानप्रत्याख्याताम्, अर्थजातां वा निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं गृह्णन् वा, अवलम्बमानो वा नातिक्रामति।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे—पांच कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ, **णिग्गंथिं**—साध्वी को, **गिण्हमाणे वा**—ग्रहण करता हुआ, **अवलंबमाणे वा**—अथवा हाथों से सहारा देता हुआ, **नाइक्कमइ**—जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता, **तं जहा**—जैसे कि, **निग्गंथिं च णं**—निर्ग्रन्थी पर, **अन्नयरे**—कोई एक, **पसुजाइए वा**—पशुजातीय अथवा, **पक्खिजाइए वा**—पक्षिजातीय प्राणी, **ओहाएज्जा**—आक्रमण कर रहा हो, **तत्थ**—वहा, **निग्गंथे**—निर्ग्रन्थ, **निग्गंथिं**—निर्ग्रन्थी को, **गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा**—ग्रहण करता हुआ और सहारा देता हुआ, **नाइक्कमइ**—जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करता।

णिग्गंथे णिग्गंथिं—निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को, **दुग्गंसि वा**—दुर्ग पर, **विसमंसि वा**—ऊची-नीची भूमि पर, **पक्खलमाणिं वा**—फिसलती हुई अथवा, **पवडमाणिं वा**—गिरती हुई को, **गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा**—पकडता हुआ और सहारा देता हुआ, **णाइक्कमइ**—जिनेश्वर की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता।

णिग्गंथे णिग्गंथिं—निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को, **सेयंसि वा**—सजल कर्दम मे, **पंकंसि वा**—कीचड़ में, **पणगंसि वा**—पनक अर्थात् पतले कीचड मे, **उक्कसमाणिं वा**—धसती हुई को अथवा, **उवुज्झमाणिं वा**—किसी के द्वारा ले जाती हुई को, **गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा**—पकडता हुआ या सहारा देता हुआ, **णाइक्कमइ**—जिनदेव की आज्ञा का उल्लघन नहीं करता है।

णिग्गंथे णिग्गंथिं—निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को, **नावं**—नौका पर, **आरुभमाणे वा**—चढाता हुआ या नाव से, **ओरोहमाणे वा**—उतारता हुआ, **णाइक्कमइ**—जिन-आज्ञा का उल्लंघन नही करता है।

खेत्तइत्तं—क्षिप्तचित्त, **दित्तइत्तं**—दृप्तचित्त, **जक्खाइट्ठं**—यक्षाविष्ट, **उम्मायपत्त**—उन्माद-प्राप्त, **उवसग्गपत्त**—उपसर्ग-प्राप्त, **साहिगरण**—कलह-प्राप्त, **सपायच्छित्तं**—प्रायश्चित्त करती हुई, **जाव**—यावत्, **भत्तपाणपडियाइक्खियं**—आहार-पानी का प्रत्याख्यान कर सथारे मे स्थित, **अट्ठजायं वा**—पति आदि के द्वारा संयम भाव से डिगाई जाती हुई को, **णिग्गंथे णिग्गंथिं**—निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को, **गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा**—पकड़ता हुआ या सहारा देता हुआ, **णाइक्कमइ**—प्रभु-आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

मूलार्थ—पांच कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ, निर्ग्रन्थी अर्थात् साध्वी को पकड़ता हुआ एवं सहारा देता हुआ जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करता है, जैसे—यदि आर्या पर कोई पशुजातीय किंवा पक्षिजातीय प्राणी आक्रमण कर रहा हो तो निर्ग्रन्थ मुनि आर्या को पकड़ता हुआ एव सहारा देता हुआ जिनाज्ञा का उल्लघन नही करता है।

निर्ग्रन्थ मुनि दुर्ग अथवा विषम भूमि पर फिसलती हुई अथवा गिरती हुई आर्या को पकड़ता हुआ अथवा सहारा देता हुआ जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करता है।

निर्ग्रन्थ मुनि यदि नाव पर चढती हुई अथवा उतरती हुई आर्या को चढ़ाता है अथवा उतारता है तो जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है।

क्षिप्तचित्त, दृप्तचित्त, यक्षाविष्ट, उन्मादप्राप्त, उपसर्गप्राप्त, साधिकरण अर्थात् कलहग्रस्त, सप्रायश्चित्त अर्थात् किसी घोर प्रायश्चित्त को प्राप्त, भोजन-पान आदि का परित्याग कर संथारा करती हुई आर्या को यदि पकडता है, हाथ आदि का सहारा देता है तो वह निर्ग्रन्थ मुनि जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे द्रव्य-निद्रा एव भाव-निद्रा का उल्लेख किया गया है। निद्रा पर विजय प्राप्त करने वाला सयमशील साधक सर्वदा अप्रमत्त रहता है और अप्रमत्त अवस्था में उसके लिए नारी-स्पर्श सर्वथा निषिद्ध है। फिर भी वह आपत्कालीन धर्म के रूप में यदि करुणा से प्रेरित होकर साधनाशील साध्वी का निम्नलिखित अवस्थाओं मे स्पर्श करता है तो भी वह अप्रमत्त साधक जिन-देव की आज्ञा का उल्लघन नही करता है, जैसे कि—

यदि वह देखे कि कोई उन्मत्त सांड आदि पशु या गृद्ध आदि पक्षी किसी साध्वी को मारने के लिए आक्रमण कर रहा है या करना चाहता है उस समय वह सयम-परायणा साध्वी की रक्षा के लिए करुणा-प्रेरित होकर यदि उसे हाथ का सहारा देकर उसे बचाता है तो उस दशा मे वह नारी-स्पर्श के दोष का भागी नही बनता है, क्योंकि ऐसी दशा मे साध्वी की रक्षा करना जिनेन्द्र आज्ञा के अनुकूल है।

यदि किसी समय कोई साध्वी दुर्ग या विषमस्थान से फिसल रही हो या गिर रही हो तो उस दशा मे साधु उसे बचाने के लिए उसे हाथ का सहारा देकर उसकी रक्षा करता है तो वह मर्यादा का भग नही करता है।

यद्यपि दुर्ग का सामान्य अर्थ किला ही होता है, परन्तु जैन परम्परा के साहित्य में उस स्थान को भी दुर्ग कहा जाता है जहा पर सामान्य गति से चलना कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से तीन प्रकार के दुर्ग बताए गए है, जैसे कि वृक्ष-दुर्ग, श्वापद-दुर्ग और मनुष्य-दुर्ग। जो मार्ग वृक्षों की अधिकता के कारण दुर्गम बन गया हो उस स्थान को वृक्ष-दुर्ग कहा जाता है, जहा पर हिसक जीवों की अधिकता के कारण मार्ग अगम्य हो गया हो वह स्थान श्वापद-दुर्ग कहा जाता है और जहा पर हिसक नर-भक्षी मानव जातियो के निवास के कारण लोगों का आवागमन दुस्साध्य हो गया हो उस स्थान को मनुष्य-दुर्ग कहा जाता है। ऐसे किसी भी दुर्गम स्थान में भ्रमण करती हुई साध्वी किसी विपत्ति से घिर जाए और संयमशील साधु उसकी प्राण-रक्षा के लिए करुणाभाव से यदि उसका स्पर्श करता है तो वह अपनी साधुवृत्ति से भ्रष्ट नहीं होता है, क्योकि उस दशा में उसकी रक्षा करना साधु का विहित कर्त्तव्य है।

यदि कोई साध्वी कीचड या दलदल मे फस गई हो या नदी में बह रही हो उस दशा मे कोई संयमी साधु उसे हाथ से सहारा देकर बचाता है तो वह साधुवृत्ति को दूषित नही करता है।

नौका पर चढ़ती हुई या उससे उतरती हुई साध्वी को यदि गिरने का भय हो तो उस समय साधु उसकी रक्षा के लिए हाथ से सहारा दे सकता है।

जो साध्वी राग से, भय से या अपमान से क्षिप्तचित्त वाली हो गई हो, अति सम्मान के कारण दृप्त चित्त वाली हो रही हो, यक्षावेश आदि के कारण सुध-बुध खो बैठी हो, वायु के प्रकोप के कारण उन्मत्त हो गई हो, उपसर्गो से घिरी हुई हो, किसी मानसिक चिंता से खिन्न हो रही हो, कलह के लिए उपस्थित हो रही हो, या कठोर प्रायश्चित्त लेने के कारण उसका चित्त व्यथित हो, जीवन भर के लिए भोजन-पानी का त्याग किए बैठी हो, किसी के द्वारा प्रयुक्त मंत्र-तन्त्र आदि के कारण अपने आपे से बाहर हो रही हो अथवा किसी दुष्ट पुरुष या म्लेच्छ आदि के द्वारा सयम से डिगाई जा रही हो, ऐसी साध्वी की सब तरह से रक्षा करता हुआ साधु प्रभु की आज्ञा का उल्लघन नही करता है।

ये पाच कारण अपवादमार्ग का आश्रय लेकर प्रतिपादित किए गए है। सूत्रकार ने "**पंचहि ठाणेहिं समणे णिग्गंथे णिग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलबमाणे वा नाइक्कमइ**" इन पदो से यह सिद्ध किया है कि किसी भी समय उक्त स्थितिया उत्पन्न हो जाने पर धर्म-भावना और साध्वीरक्षा की बुद्धि से अपवाद का सेवन करता हुआ भी साधु प्रभु-आज्ञा के विरुद्ध नही चलता है।

प्रस्तुत सूत्र में आए हुए **ओहाएज्जा**—पद का सस्कृत रूप है '**उपहन्यात्**'। यदि कोई पशु या पक्षी जातीय जीव मारने को आए तो साधु आर्या को बचा सकता है। यह कारण किसी भी समय मार्ग मे गमन करते हुए उपस्थित हो सकता है। दूसरा, तीसरा एव चौथा कारण भी मार्ग मे चलते हुए उपस्थित हो सकता है। पचम अपवाद किसी एक क्षेत्र मे रहते हुए भी सभव है। ये सब कारण अपवाद मार्ग की दृष्टि से कथन किए गए हैं।

स्वधर्मियो की रक्षा का विधान सूत्रकर्त्ता स्वय ही पहले कर चुके हैं।

'**भत्तपाणपडियाइक्खियं**' से ध्वनित कारण का अभिप्राय यह है कि अनशन करने पर यदि और कोई आर्या सथारा करती हुई आर्या के पास न हो तो उस दशा मे साधु उसकी सेवा एव रक्षा कर सकता है। '**अट्ठजायं**' सूत्रस्थ इस पद की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार लिखते है—

"**अर्थ—कार्यमुत्प्रव्राजनतः स्वकीयपरिणेत्रादेर्जातं यया—सार्थजाता पतिचौरादिना संयमाच्चाल्यमानेत्यर्थस्ता वा।**

इस व्याख्या से ध्वनित होता है कि साध्वी के सयम की रक्षा ही आपवादिक स्थिति ग्रहण करने मे प्रधान कारण है।

आचार्य उपाध्याय के पांच अतिशय

मूल—आयरिय-उवज्झायस्स णं गणंसि पंच अइसेसा पण्णत्ता, तं जहा—आयरियउवज्झाए अंतो उवस्सगस्स पाए णिगिज्झिय-णिगिज्झिय पप्फोडेमाणे वा, पमज्जेमाणे वा णाइक्कमइ।

आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सगस्स उच्चार-पासवणं विगिंचमाणे वा, विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ।

आयरिय-उवज्झाए पभू इच्छा वेयावडियं करेज्जा, इच्छा णो करेज्जा।

आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सगस्स एगरायं वा, दुरायं वा एगागी वसमाणे वा णाइक्कमइ।

आयरिय-उवज्झाए बाहिं उवस्सगस्स एगरायं वा, दुरायं वा वसमाणे णाइक्कमइ ॥ ५३ ॥

छाया—आचार्योपाध्यायोः गणे पञ्च अतिशेषाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आचार्योपाध्यायौ अन्तरुपाश्रयस्य पादौ निगृह्य-निगृह्य प्रस्फोटयन्तौ वा, प्रमार्जयन्तौ वा नातिक्रामत.।

आचार्योपाध्यायौ अन्तरुपाश्रयस्य उच्चारप्रस्त्रवणं विमोचयन्तौ वा, विशोधयन्तौ वा नातिक्रामत.।

आचार्योपाध्यायौ प्रभु इच्छा वैयावृत्यं कुर्याताम्, इच्छा नो कुर्याताम्।

आचार्योपाध्यायौ अन्तरुपाश्रयस्य एकरात्रं वा, द्विरात्रं वा एकाकिनौ वसन्तौ नातिक्रामतः।

आचार्योपाध्यायौ बहिरुपाश्रयाद् एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसन्तौ नातिक्रामतः।

शब्दार्थ—**आयरिय-उवज्झायस्स णं**—आचार्य और उपाध्याय के, **गणंसि**—गण में, **पंच अइसेसा पण्णत्ता, तं जहा**—पांच अतिशेष कथन किए गए हैं, जैसे कि, **आयरियउवज्झाए**—आचार्य और उपाध्याय, **उवस्सगस्स अंतो**—उपाश्रय के अन्दर, **पाए**—पैरों को, **णिगिज्झिय-णिगिज्झिय**—पकड़-पकड़ कर दूसरे साधुओं से या स्वयं, **पप्फोडेमाणे वा**—ओघे से झाड़ते हुए, **पमज्जेमाणे वा**—तथा पोछते हुए, **णाइक्कमई**—जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं।

आयरिय-उवज्झाए—आचार्य तथा उपाध्याय, **अंतो उवस्सगस्स**—उपाश्रय के अन्दर, **उच्चारपासवणं**—उच्चार एव प्रस्त्रवण का, **विगिंचमाणे वा**—त्याग करते हुए, **विसोहेमाणे**—शोधन करते हुए, **णाइक्कमइ**—जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं, **आयरियउवज्झाए**—

आचार्य और उपाध्याय, **पभू**—समर्थ हैं कि, **इच्छा**—उनकी इच्छा है कि वे, **वेयावडियं**—वैयावृत्य, **करेज्जा**—करें, **इच्छा**—इच्छा है, **णो करेज्जा**—न करे।

आयरियउवज्झाए—आचार्य और उपाध्याय, ***अंतो उवस्सगस्स***—उपाश्रय के अन्दर, **एगरायं वा**—एक रात तक, **दुरायं वा**—दो रात तक, **एगागी**—एकाकी, **वसमाणे**—रहते हुए, **णाइक्कमइ**—आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते।

आयरियउवज्झाए—आचार्य एवं उपाध्याय, **उवस्सगस्स बाहिं**—उपाश्रय के बाहर, **एगरायं वा**—एक रात अथवा, **दुरायं वा**—दो रात्रि, **वसमाणे वा**—रहते हुए, **णाइक्कमइ**—जिनाज्ञा का उल्लघन नही करते हैं।

मूलार्थ—आचार्य और उपाध्याय के गण में पांच अतिशेष अर्थात् अतिशय वर्णन किए गए हैं, जैसे—आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के भीतर पैरो को पकड़-पकड कर रजोहरण से झाड़ते हुए या पोंछते हुए जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं।

आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर उच्चार-प्रस्त्रवण का त्याग करते हुए अथवा शोधन करते हुए जिनाज्ञा का उल्लघन नही करते है।

आचार्य और उपाध्याय की इच्छा पर निर्भर है कि वे दूसरों की वैयावृत्य करे अथवा न करें।

आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर एक रात्रि अथवा दो रात्रि तक एकाकी निवास करते हुए जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते हैं।

आचार्य एव उपाध्याय उपाश्रय के बाहर एक रात्रि अथवा दो रात्रि तक निवास करते हुए जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे सामान्य साधु-वर्ग क लिए आपवादिक नियमो का उल्लेख किया गया है, प्रस्तुत सूत्र मे शास्त्रकार विशेष रूप से आचार्य और उपाध्याय के लिए आपवादिक नियमो का उल्लेख कर रहे है। अन्य साधुओं की अपेक्षा आचार्य और उपाध्याय के पाच अतिशय होत हैं। गण मे निवास करते हुए भी उनकी विलक्षणता निराली ही होती है, उनका अपवाद मार्ग भी अतिशयपूर्ण ही होता है, जैसे कि—

सामान्यत: साधु जब कहीं बाहर से आते है तब उपाश्रय मे प्रवेश करने से पहले बाहर ही पैरो को पोछते है और वस्त्र आदि से प्रमार्जन करते हैं। आचार्य और उपाध्याय भी उपाश्रय से बाहर ही खड़े रहते है, दूसरे साधु उनके पैरो का प्रमार्जन एव प्रस्फोटन करते है, किन्तु अन्य साधुओ की तरह आचार्य एवं उपाध्याय पाद-प्रोछन के बिना ही यदि उपाश्रय के अन्दर आ जाते हैं और अन्दर आकर अन्य साधुओ से पैरो को पुंछवाते है और धूलि आदि झड़वाते हैं तो वे आज्ञा के विराधक नही होते हैं। वे जैसा उचित समझे वैसा कर सकते है।

साधु के लिए उत्सर्ग-मार्ग यह है कि वह मल-मूत्र आदि के विसर्जन के लिए मकान से बाहर जाए, किन्तु आचार्य उपाध्याय यदि उपाश्रय मे रहते हुए ही लघुनीति (लघुशंका) या बड़ी नीति (मल विसर्जन) परठाते हैं अर्थात् मल-मूत्र का विसर्जन करते हैं तथा पैर आदि में लगी हुई अशुचि को हटाते हैं, तो वे साधु की मर्यादा उल्लघन नहीं करते है। मल-त्याग करने के लिए नगर से बाहर जाने पर कई प्रकार के दोष उत्पन्न होने की संभावना हो जाती है और पुन:-पुन: गमन-आगमन से जनता के हृदय की श्रद्धा का भी अभाव होने लग जाता है। प्रतिष्ठा-भंग होने से उनके वचन भी प्राय: आदेय नहीं रह सकते। क्योंकि विनय-भग होने से गृहस्थो के मन मे विद्यमान सम्मान न्यून हो जाता है, अत: आचार्य एवं उपाध्याय मल-त्याग उपाश्रय में ही करते हुए जिनाज्ञा का उल्लघन नहीं करते। यह आचार्य और उपाध्याय की इच्छा पर निर्भर है कि वे समर्थ होने पर भी भोजन-पानी के द्वारा अन्य साधुओ की सेवा करे, अथवा न करे, क्योकि वैयावृत्य का अर्थ निर्दोष भोजन-पानी की गवेषणा करना और ग्रहण किए हुए को साधुओ के लिए देना है, इस प्रकार के वैयावृत्य को कर्म-निर्जरा का कारण माना गया है, किन्तु यह वरिष्ठ मुनिराज की इच्छा पर निर्भर है, क्योकि आचार्य एव उपाध्यायो का भिक्षाटन के लिए फिरना उचित नही है और न ही जनता मे प्रिय लगता है। अन्य भी कई प्रकार के दोषों की संभावना रहती है, इससे शिष्यो के प्रति लोगो के मन मे अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, जैसे कि सशक्त शिष्य तो उपाश्रय में सुखपूर्वक बैठे हुए है और आचार्य-उपाध्याय भिक्षा के लिए भ्रमण कर रहे है। वृद्धों की पूजा-प्रतिष्ठा विनय-भाव से ही हो सकती है। यह कथन भी उत्सर्गमार्ग की अपेक्षा से कहा गया है। यदि अन्य साधु रोग आदि से ग्रस्त हो या किसी अनन्य उपासक की विनीत प्रार्थना हो तो आचार्य-उपाध्याय भी भिक्षा के लिए जा सकते है।

आचार्य-उपाध्याय उपाश्रय के भीतर एकाकी एक या दो रातों तक रहते हुए प्रभु-आज्ञा का उल्लघन नहीं करते। किसी विशिष्ट कारण के उपस्थित होने पर एकान्त-साधना के लिए वे एकाकी रह सकते है, क्योकि उनके पास साधना-बल का होना आवश्यक है।

आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय से बाहर एक या दो रात पर्यन्त अकेले रहते हुए भी प्रभु-आज्ञा का उल्लघन नही करते हैं। सघ-रक्षा, शासन-प्रभावना अथवा किसी विशेष साधना के लिए यदि उन्हे बाहर रहना पडे तो वे रह सकते है। आचार्य-उपाध्याय को छोडकर अन्य साधुओ को उपाश्रय के भीतर या किसी उद्यान आदि में एकाकी रहना निषिद्ध है, वरिष्ठ मुनिवरो को ही एकाकी रहने का अधिकार है। विशेष पर्व के दिनों मे एक अहोरात्र एकाकी रहने का विधान है, अधिक नहीं।

'आयरिय-उवज्झायस्स' इस सूत्र पद की वृत्ति करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है— **''आचार्यश्चासावुपाध्यायश्चेत्याचार्योपाध्याय:, स हि केषाञ्चिदर्थदायकत्वादाचार्योऽन्येषां सूत्रदायकत्वादुपाध्याय इति, तस्य आचार्योपाध्याययोर्वा, न शेषसाधूनाम''।**

जिस उपाध्याय को आचार्य-पद से भी विभूषित किया गया हो, उसे आचार्योपाध्याय कहते हैं अथवा किन्हीं को अर्थ-दायक होने से आचार्य और किन्हीं को सूत्रदायक होने से वे ही उपाध्याय हैं अथवा आचार्य और उपाध्याय ये दो पद अलग-अलग भी समझने चाहिएं। शेष साधुओं के लिए यह नियम नहीं है।

पद-परित्याग के कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं आयरिय-उवज्झायस्स गणावक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा—आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा, धारणं वा नो सम्मं पउंजित्ता भवइ।

आयरियउवज्झाए गणंसि अहारायणियाए किइकम्मं वेणइयं णो सम्मं पउंजित्ता भवइ।

आयरिय-उवज्झाए गणंसि जे सुयपज्जवजाए धारिंति, ते काले नो सम्ममणुपवाइत्ता भवइ।

आयरिय-उवज्झाए गणंसि सगणियाए वा परगणियाए वा निग्गंथीए बहिल्लेसे भवइ।

मित्ते णाइगणे वा से गणाओ अवक्कमेज्जा, तेसिं संगहोवग्गहट्ठयाए गणावक्कमणे पण्णत्ते ॥ ५४॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैराचार्योपाध्याययोर्गणापक्रमणं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आचार्योपाध्यायौ गणे आज्ञां वा, धारणां वा नो सम्यक् प्रयोक्तारौ भवतः।

आचार्योपाध्यायौ गणे यथारात्निकतया कृतिकर्म वैनयिकं नो सम्यक् प्रयोक्तारौ भवतः।

आचार्योपाध्यायौ गणे यानि श्रुतपर्यवजातानि धारयन्ति, तानि काले नो सम्यगनुप्रवाचयितारौ भवतः।

आचार्योपाध्यायौ गणे स्वगणसम्बन्धिन्यां वा, परगण सम्बन्धिन्यां वा निर्ग्रन्थ्यां बहिर्लेश्यौ भवतः।

मित्रं ज्ञातिगणो वा तयोः गणादपक्रामेत्, तेषां संग्रहोपग्रहार्थतायै गणापक्रमणं प्रज्ञप्तम्।

शब्दार्थ—पंचहि ठाणेहिं—पाच कारणो से, **आयरिय-उवज्झायस्स गणावक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा**—आचार्य और उपाध्याय को गण से अपाक्रमण करना विहित बतलाया है, जैसे, **आयरिय उवज्झाए गणंसि**—आचार्य वा उपाध्याय गण में, **आणं वा**—आज्ञा

और, **धारणं वा**—धारणा को, **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से, **पउंजित्ता**—प्रयुक्त, **नो भवइ**—नहीं कर सकते हों।

आयरियउवज्झाए गणंसि—आचार्य और उपाध्याय गण में, **अहारायणियाए**—बड़े छोटे के क्रम से, **वेणइयं किइकम्मं**—विनय सम्बन्धी वन्दना का, **सम्मं**—सम्यक् रूप से, **नो**—नही, **पउंजित्ता भवइ**—प्रयोग कर सकते हों।

आयरियउवज्झाए—आचार्य और उपाध्याय, **गणंसि**—गण मे, **जे**—जिन, **सुयपज्जवजाए**—श्रुत-पर्यायो को, **धारिंति**—धारण करते हैं, **ते**—उनका, **काले**—यथावसर, **सम्मं**—सम्यक् रूप से, **नो**—नही, **अणुपवाइत्ता भवइ**—वाचन कराते हों।

आयरियउवज्झाए गणंसि—आचार्य और उपाध्याय गण मे, **सगणियाए वा**—अपने गण की या, **परगणियाए वा**—दूसरे गण की, **निग्गंथीए**—आर्या पर, **बहिल्लेसे भवइ**—आसक्त हो जाएं।

मित्ते—मित्र, **णाइगणे वा**—ज्ञाति-गण, **से**—उनके, **गणाओ**—गण से, **अवक्कमेज्जा**—अपक्रमण कर गए हो तो, **तेसिं**—उनके, **संगहोवग्गहट्ठयाए**—सग्रह और उपकार के लिए, **गणावक्कमणे**—गण से अलग हो जाना, **पण्णत्ते**—बतलाया है।

मूलार्थ—पांच कारणों से आचार्य और उपाध्याय को गच्छ से बाहर निकलना कथन किया गया है, जैसे—

आचार्य और उपाध्याय गण मे आज्ञा और धारणा का भली-भान्ति प्रचलन न करते हों।

आचार्य और उपाध्याय गण मे यथारात्निक (छोटे-बड़े के क्रम से) विनय सम्बन्धी कृतिकर्म-वन्दन का सम्यक् प्रयोग न करते हों।

आचार्य और उपाध्याय गण में जितने भी श्रुत-पर्याय धारण किए हुए हो, वे शिष्यों को अच्छी तरह अध्ययन न कराते हों।

आचार्य और उपाध्याय गण में रहते हुए अपने गण की अथवा अन्य गण की आर्या पर आसक्त हो गए हों।

मित्र और ज्ञातिजन यदि किसी विशेष स्थिति में गण से अपक्रमण कर गए हों तो उनको पुन: स्वीकार अथवा उपकृत करने के लिए आचार्य और उपाध्याय के लिए गण अपक्रमण करना विहित बतलाया गया है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में आचार्य और उपाध्याय को आपवादिक नियमो के पालन की आज्ञा देते हुए उन्हें महत्त्व दिया गया है किन्तु आचार्य और उपाध्याय के आचार में शिथिलता आने पर उनके परित्याग का भी विधान है—

यद्यपि साधु और साध्वियो को तथा आचार्य या उपाध्याय को गच्छ मे ही रहना चाहिए यही विहित मार्ग है, तथापि निम्नलिखित पांच कारणों मे से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर आचार्य और उपाध्याय गण को छोड सकते है, यह उनके लिए अपवादमार्ग है। जिस गच्छ मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि नहीं होती हो, वह गच्छ उपादेय नहीं माना जा सकता। इससे शासक-की अकुशलता ही सिद्ध होती है, क्योंकि यदि गच्छ में रहने वाले साधक अविनीत होंगे तो उसका कारण संघ-शासकों की अकुशलता ही समझी जाती है। गण-परित्याग के पांच कारण निम्नलिखित है।

१. जब गण में आचार्य और उपाध्याय के द्वारा आज्ञा वा धारणा का प्रचलन सम्यक् प्रकार से न किया जा रहा हो, गच्छ मे अविनीतता बढ रही हो, तब साधु-साध्वी गच्छ से पृथक् हो सकते है। अथवा यदि गच्छ अविनीत हो और आचार्य उपाध्याय की इच्छानुसार प्रवृत्ति एव निवृत्ति धर्म को स्वीकार न किया जा रहा हो, तब आचार्य एवं उपाध्याय भी गच्छ को छोडकर पृथक् हो सकते हैं।

२ गच्छ में यदि यथाविधि वंदना व्यवहार न होता हो, छोटे साधु ज्येष्ठ मुनियों को सम्यक् प्रकार से कृतिकर्म—वन्दन-सम्मान बहुमान न करते हो, तथा आचार्य व उपाध्याय अपने पद के अभिमान से जो दीक्षा पर्याय मे ज्येष्ठ मुनि है उनकी विनय-वन्दना न करते हो, तो साधु उस गच्छ से पृथक् हो सकते है। वृत्तिकार भी इसी प्रकार लिखते हैं— **गणविषये यथारत्नाधिकतया—यथाज्येष्ठं कृतिकर्म तथा वैनयिकं—विनयं "नो" नैव सम्यक् प्रयोक्ता भवति, आचार्यसम्पदा साभिमानत्वात्, यतः आचार्येणापि प्रतिक्रमणक्षामणादिषूचितानामुचितविनय· कर्त्तव्य एवेति द्वितीयम्।**

३. गण मे जो श्रुतधर एव विद्वान् साधु है, वे यथासमय साधुओं को अकुशलता के कारण यदि सूत्रों का अध्ययन न करा सकते हो तो ऐसी दशा मे आचार्य-उपाध्याय को चाहिए कि गण से पृथक् हो जाए। क्योकि गण मे जितना अध्ययन-अध्यापन ठीक तरह से होता रहता है, उतना ही साधु-वर्ग का संयम सुदृढ रहता है। दूसरों की निदा-चुगली का अवसर भी नहीं रह जाता और ज्ञान-दर्शन भी निर्मल हो जाते है। अत: आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा निरन्तर चलती रहने से ही गच्छ विकासोन्मुख हो सकता है।

४. जिस आचार्य या उपाध्याय के गण मे सदाचार का पालन पूर्णत· न हो रहा हो तथा स्वगच्छ या परगच्छ की साध्वियो का सयम सुरक्षित न रह पा रहा हो अथवा उनका निजी अन्त:करण सयम से बाहर हो रहा हो, उनके मन में आसक्ति का विस्तार हो रहा हो, अथवा साधु-साध्वियों के पारस्परिक सम्बन्ध कलुषित हो रहे हों, ऐसी दशा मे आचार्य एवं उपाध्याय के लिए गण को छोड़कर अलग हो जाना विहित है। उस दशा में गण-परित्याग को अनुचित नहीं माना जा सकता। आचार्य-उपाध्याय भी ऐसी परिस्थिति में गण को छोड़कर अलग हो सकते हैं।

५. यदि आचार्य एवं उपाध्याय आदि के मित्र या ज्ञातीय मुनि पहले किसी कारण से गण को छोड़कर पृथक् हो गए हो तो उन्हे पुन: अपने गच्छ में लाने के लिए उनके संयमित जीवन से सघ को उपकृत करने के लिए आचार्य और उपाध्याय भी गच्छ को छोडकर जा सकते है।

उपर्युक्त पांच कारणों में से पहला कारण अविनीत गण से सम्बंध रखता है। दूसरा कारण आचार्य उपाध्याय एव साधुवृत्ति मे अहभाव की वृद्धि से सम्बन्ध रखता है। तीसरा कारण गण में सम्यक्तया श्रुताभ्यास न कराना, श्रुतज्ञान के प्रचार की बाधा से तथा चौथा कारण मोहनीय कर्म के उदय से होने वाली अनुचित आसक्ति के निवारणार्थ प्रस्तुत किया गया है। पांचवा कारण मित्र या ज्ञाति मुनियो के गण से सम्बंध रखता है। इसमें गच्छ और आचार्य के अशुभ कर्मों का उदय ही जानना चाहिए।

संग्रह शब्द से संस्कारी शिष्यों और सयम उपयोगी उपकरणो का संग्रह एकत्र करने का अर्थ जानना और उपग्रह शब्द से वस्त्र आदि उपकरण देकर उनकी रक्षा करना सिद्ध होता है।

जिसका अंत:करण सयम से विमुख हो, वह बहिर्लेश्य है, कहा भी है—

"बहिल्लेसे भवइ" अर्थात् तथाविधाशुभकर्मवशवर्त्तितया सकलकल्याणाश्रय-संयमसौधमध्याद् बहिर्लेश्या—अंत:करणं यस्यासौ बहिर्लेश्य: इति वृत्तिकार:।

ऋद्धिमान् महामानव

मूल—पंचविहा इड्ढीमंता मणुस्सा पण्णत्ता, तं जहा—अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेवा, वासुदेवा, भावियप्पाणो अणगारा ॥५५॥

छाया—पञ्चविधा: ऋद्धिमन्तो मनुष्या: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अर्हन्त:, चक्रवर्त्तिन:, बलदेवा:, वासुदेवा:, भावितात्मानोऽनगारा:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पांच प्रकार के ऋद्धिमान् मनुष्य वर्णित किए गए हैं, जैसे—अरिहन्त, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव और भावितात्मा अनगार।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे गच्छ-त्याग की मर्यादाओं का वर्णन किया गया है। केवल इसलिए कि गच्छ मर्यादाओ को जानकर सयमशील बना रहे, संयमशीलता से समृद्धियों की उपलब्धि होती है, अत: प्रस्तुत सूत्र में लब्धि-सम्पन्नता से युक्त विभूतियों का परिचय दिया गया है।

ऋद्धि-लब्धि मनुष्य को समुन्नत बनाती है। शुभ कर्मों के उदय से, अशुभ कर्मों के क्षय से, क्षयोपशम से और उपशम एवं शुभ परिणामों से जीवो को अनेक प्रकार की

लब्धियां प्राप्त होती हैं। लब्धियां अट्ठाईस प्रकार की बताई गई हैं, जैसे कि आमर्शौषधि, विप्रुडोषधि, जल्लौषधि, श्लेष्मौषधि, सर्वौषधि, संभिन्न-श्रोत्रलब्धि, अवधिज्ञान, ऋजु-मतिज्ञान, विपुलमतिज्ञान, चारणलब्धि, आशीविषलब्धि, केवलज्ञान, गणधर-लब्धि, पूर्वधर लब्धि, अर्हन्त पद, चक्रवर्त्ती पद, बलदेव लब्धि, वासुदेव लब्धि, क्षीराश्रव-मध्वाश्रव-सर्पिषाश्रव, कोष्टकबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारिणी बुद्धि, तेजोलेश्या, आहारक-लब्धि, शीतलेश्या, वैक्रिय-लब्धि, अक्षीणमहानसी, पुलाकलब्धि। इन ऋद्धियो से मनुष्य ऋद्धिमान कहलाते हैं।

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव तो ऋद्धिमान होते ही हैं, किन्तु भावितात्मा अनगार भी ऋद्धिमान हुआ करते हैं। जिसका अन्तःकरण सद्वासना से वासित है, वह अनगार भावितात्मा है। भावितात्मा अनगार अनेक लब्धियों के स्वामी होते हैं। लब्धियों से प्रभावित होकर देवता भी उनके चरणो में नतमस्तक हो जाते हैं। ऋद्धिमान् महामानव मगलकारी होते हैं इसी कारण इस उद्देशक के अतिम सूत्र में ऋद्धिमानो का वर्णन किया गया है।

॥ पंचम स्थान का द्वितीय उद्देशक संपूर्ण ॥

पंचम स्थान

तृतीय उद्देशक

[प्रस्तुत उद्देशक मे अस्तिकाय, गति, इन्द्रियार्थ, मुण्डन, बादर द्रव्य, निर्ग्रन्थ, निर्ग्रन्थो के वस्त्र और रजोहरण, निश्रास्थान, निधि, शौच, छद्मस्थ-ज्ञान, लोकस्थ बादरद्रव्य, नारकपुरुष, मत्स्य, वनीपक अचेलक, प्रशस्तता, उत्कल, समिति, ससार-समापन्नक जीव, धान्य-उत्पत्ति-शक्ति-स्थिति, संवत्सर, जीवों के निर्याणमार्ग, छेदन, आनन्तर्य, अनन्त ज्ञान, ज्ञानावरणीय कर्म, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, सूत्रवाचना, देव-विमान, गंगा की पांच महानदियो, कुमार-वास-प्रव्रजित तीर्थकरो, चमर-चञ्चा की पाच सभाओ, पाच नक्षत्रो वाले तारो और पापकर्म-सचित-पुद्गलों आदि की पचविधता का वर्णन किया गया है।]

पंचास्तिकाय के भेदानुभेद

मूल—पंच अत्थिकाया पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अहम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए।

धम्मत्थिकाए—अवन्ने, अगंधे, अरसे, अफासे, अरूवी, अजीवे, सासए, अवट्ठिए, लोगदव्वे। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ, गुणओ। दव्वओ णं—धम्मत्थिकाए एगं दव्वं, खेत्तओ लोगपमाणमेत्ते। कालओ ण कयाइ णासी, ण कयाइ ण भवइ, ण कयाइ ण भविस्सइत्ति, भुवि भवइ य भविस्सइ य, धुवे, णिइए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, णिच्चे। भावओ-अवन्ने, अगंधे, अरसे, अफासे। गुणओ गमणगुणे य।

अहम्मत्थिकाए—अवन्ने एवं चेव, णवरं गुणओ-ठाणगुणे।

आगासत्थिकाए–अवन्ने एवं चेव, णवरं खेत्तओ–लोगालोग-प्पमाणमित्ते। गुणओ-अवगाहण गुणे। सेसं तं चेव।

जीवत्थिकाए णं–अवन्ने, एवं चेव, णवरं दव्वओ णं जीवत्थिकाए अणंताइं दव्वाइं, अरूवि, जीवे, सासए। गुणओ–उवओगगुणे, सेसं तं चेव।

पोग्गलत्थिकाए–पंचवन्ने, पंचरसे, दुगंधे, अट्ठफासे, रूवी, अजीवे सासए, अवट्ठिए जाव दव्वओ णं–पोग्गलत्थिकाए अणंताइं दव्वाइं। खेत्तओ– लोगप्पमाणमेत्ते। कालओ–ण कयाइ णासि जाव णिच्चे। भावओ वन्नमंते, गंधमंते, रसमंते, फासमंते। गुणओ गहणगुणे॥५६॥

छाया–पञ्चास्तिकायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा–धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकायः, जीवास्तिकायः, पुद्गलास्तिकाय·। धर्मास्तिकायः–अवर्ण., अगन्धः, अरसः, अस्पर्शः, अरूपी, अजीवः, शाश्वतः अवस्थितो लोकद्रव्यम्। स समासतः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा–द्रव्यत·, क्षेत्रतः, कालतः, भावतः, गुणत·। द्रव्यत.–धर्मास्तिकाय एकं द्रव्यम्। क्षेत्रतः–लोकप्रमाणमात्रः। कालतो न कदाचिन्नासीत्, न कदाचिद् भवति, न कदाचिन्न भविष्यति, इति अभूत्, भवति, च भविष्यति च, ध्रुवः, नियतः, शाश्वतः, अक्षयः, अव्ययः, अवस्थितः, नित्यः। भावतः–अवर्णः, अगन्धः, अरसः, अस्पर्शः। गुणतः–गमनगुणश्च।

अधर्मास्तिकायः–अवर्णः एवं चैव, नवरं गुणतः–स्थानगुण.।

आकाशास्तिकायः–अवर्ण एवञ्चैव, नवरं क्षेत्रतः–लोकालोकप्रमाणमात्रः। गुणतः–अवगाहणागुणः, शेषं तच्चैव।

जीवास्तिकायः–अवर्णः, एवञ्चैव, नवरं द्रव्यं–जीवास्तिकायोऽनन्तानि द्रव्याणि, अरूपी, जीव·, शाश्वतः, गुणतः–उपयोगगुणः, शेषं तच्चैव।

पुद्गलास्तिकायः–पञ्चवर्णः, पञ्चरसः, द्विगन्धः, अष्टस्पर्शः, रूपी, अजीवः, शाश्वतः, अवस्थितो यावत् द्रव्यतः–पुद्गलास्तिकायो–अनन्तानि द्रव्याणि। क्षेत्रतः–लोक-प्रमाणमात्रः। कालतः–नकदाचिन्नासीद् यावन्नित्यः। भावतः वर्णवान्, गन्धवान्, रसवान्, स्पर्शवान्। गुणतः–ग्रहणगुणः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ–अस्तिकाय पांच वर्णित किए गए हैं, जैसे–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय।

धर्मास्तिकाय अवर्ण है, अगन्ध है, अरस है, अस्पर्श है, अरूपी है, अजीव है,

शाश्वत है, अवस्थित है, लोक-परिमाणमात्र द्रव्य है। वह संक्षेप से पांच प्रकार का है, जैसे—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से और गुण से। द्रव्य से धर्मास्तिकाय एक है, क्षेत्र से लोक प्रमाण मात्र है, काल से ऐसा नहीं कि भूतकाल में नहीं था, वर्तमानकाल में नहीं है, भविष्यकाल मे नही होगा, प्रत्युत भूतकाल में था, वर्तमान में है, भविष्यकाल में होगा, ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है, नित्य है, भाव से अवर्ण है, अगन्ध है, अरस है, अस्पर्श है। गुण से वह गति गुण वाला है।

अधर्मास्तिकाय अवर्ण है। शेष वर्णन धर्मास्तिकाय के समान समझना, किन्तु इतनी विशेषता है कि गुण की दृष्टि से वह स्थिति-गुण वाला है।

आकाशास्तिकाय अवर्ण है। शेष वर्णन धर्मास्तिकाय के समान समझना। इतना विशेष है कि क्षेत्र से लोकालोक प्रमाण है। गुण से वह अवगाहन गुण वाला है। शेष वर्णन पूर्ववत् ही समझ लेना चाहिए।

जीवास्तिकाय अवर्ण है। शेष वर्णन पूर्व की भाति समझना। इतना विशेष है कि द्रव्य से जीवास्तिकाय अनन्त द्रव्य है, अरूपी हैं, जीव हैं, शाश्वत हैं। गुण से उपयोग गुण वाले हैं। शेष वर्णन पूर्व वर्णन की भाति समझना चाहिए।

पुद्गलास्तिकाय पांच वर्ण वाला है, पाच रस वाला है, दो गन्ध वाला है, आठ स्पर्श वाला अजीव है, शाश्वत है, अवस्थित है, यावत् द्रव्य से पुद्गलास्तिकाय अनन्त द्रव्य है। क्षेत्र से लोक प्रमाण है। काल से ऐसा नही कि पुद्गल पहले कभी नही था, यावत् नित्य है। भाव से वर्ण वाला है, गन्ध वाला है, रस वाला है, स्पर्श वाला है। गुण से इन्द्रिय ग्राह्य है।

विवेचनिका—दूसरे उद्देशक मे प्राय· जीव धर्म का निरूपण किया गया है, परन्तु अजीव के बिना जीव का ज्ञान अपूर्ण है, अत· इस तीसरे उद्देशक मे सूत्रकार जीव और अजीव दोनो के स्वरूप का वर्णन करते है।

प्रस्तुत सूत्र मे पाच अस्तिकायों की विवेचना की गई है। सप्रदेशी द्रव्यो को अस्तिकाय कहते है। सूत्रकार ने सबसे पहले धर्मास्तिकाय पद का प्रयोग किया है, क्योंकि धर्म शब्द प्रत्येक दृष्टि से मागलिक है।

जीव का प्रतिपक्षी जैसे अजीव है, वैसे ही धर्म का प्रतिपक्षी अधर्म है, अत: अस्तिकाय का दूसरा पद अधर्मास्तिकाय है। दोनों का आधारभूत द्रव्य आकाशास्तिकाय है, अत: तीसरा द्रव्य आकाशास्तिकाय है। उसका आधेय जीवास्तिकाय है, इसलिए आकाशास्तिकाय के बाद जीवास्तिकाय का वर्णन किया गया है। पुन: उसका उपग्राहक पुद्गलास्तिकाय है, इस कारण उसका ग्रहण अंत में किया गया है। इस प्रकार परम्परा बद्ध पंचास्तिकाय का

नामोल्लेख वैज्ञानिक है।

१. **धर्मास्तिकाय**—गति परिणाम वाले जीव और पुद्गलो की गति मे जो सहायक हो, उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। जैसे पानी मछली की गति में सहायक होता है, वैसे ही धर्मास्तिकाय भी जीव और अजीव द्रव्य की गति मे सहायक माना गया है। **वह ऐसा द्रव्य है जिसकी संख्या एक है। क्षेत्र से वह लोकप्रमाण है** अर्थात् लोकाकाश के समान असख्यात प्रदेशी है। **काल की दृष्टि से**—वह सदाकाल भावी है, आदि अन्त से रहित है। **भाव अर्थात् सत्ता की दृष्टि से**—वह द्रव्य वर्ण, गध, रस और स्पर्श से रहित है। **गुण की दृष्टि से**—गतिशील द्रव्यों अर्थात् जीव और पुद्गलों की गति में सहायक होना ही इसका गुण है।

२. **अधर्मास्तिकाय**—जीव और पुद्गलो की स्थिति मे सहायक द्रव्य को अधर्मास्तिकाय कहा जाता है। सख्या की दृष्टि से वह एक है, **क्षेत्र की दृष्टि से**—लोक प्रमाण है, **काल की दृष्टि से**—आदि अन्त रहित शाश्वत द्रव्य है, **भाव की दृष्टि से**—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से सर्वथा रहित है। **गुण की दृष्टि से**—स्थितिस्वभाव वाला है, जैसे विश्राम चाहने वाले थके हुए पथिक के ठहरने से छायादार वृक्ष सहायक होता है, वैसे ही वह द्रव्य भी जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक है।

३. **आकाशास्तिकाय**—जो जीव आदि द्रव्यों की गति एवं स्थिति का आधार है, अर्थात् अन्य सभी द्रव्यों को ठहरने के लिए अवकाश देता है, उस द्रव्य-विशेष को आकाशास्तिकाय कहा जाता है। **वह भी संख्या की दृष्टि से एक ही है, क्षेत्र की दृष्टि से**—वह लोक-अलोक सर्वत्र व्याप्त है, **काल की दृष्टि से**—द्रव्य अनादि अनन्त है और **भाव की दृष्टि से**—वर्ण, गध, रस और स्पर्श से सर्वथा रहित है। जीव और अजीव को अवकाश देना ही इसका गुण है।

४ **जीवास्तिकाय**—जिसमे उपयोग और वीर्य दोनों पाए जाते हैं वह जीवास्तिकाय है। इसमे सभी जीवो का समावेश हो जाता है। **द्रव्य से**—वह अनन्त द्रव्यरूप है, क्योंकि अलग-अलग द्रव्य रूप जीव अनन्त हैं, **क्षेत्र से**—लोक परिमाण है, एक जीव की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी है, **काल की दृष्टि से**—वह अनादि अनन्त है, **भाव की दृष्टि से**—वह वर्ण, गध, रस और स्पर्श से सर्वथा रहित है। **गुण से**—चेतना गुण वाला है।

५ **पुद्गलास्तिकाय**—जो इन्द्रियो का विषय है, या जो इन्द्रियों के द्वारा विषय होने का सामर्थ्य रखता है, वह पुद्गलास्तिकाय है। **द्रव्य से**—वह अनन्त है, **क्षेत्र से**—लोक परिमाण है, **काल से**—सदाकाल भावी है, **भाव से**—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाला रूपी एवं मूर्तिमान है, **गुण से**—सड़न गलन पड़न एवं पूरण स्वभाव वाला है।

पहले चार अस्तिकाय अरूपी एवं अमूर्त हैं।

धर्मास्तिकाय के साथ काल की अपेक्षा सूत्रकार ने जो सात विशेषण जोडे हैं, वे

विशेषण मननीय हैं। जैसे कि **धुवे, निइए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे** इनका अर्थ निम्नलिखित है—**धुवे**—त्रैकालिक द्रव्य है। **निइए**—सर्वदा एक समान रहने वाला, **सासए**—सदैव काल रहने वाला, **अक्खए**—क्षय न होने वाला, **अव्वए**—पर्याय अपगम होने पर भी अविनाशी, **अवट्ठिए**—उत्पाद और व्यय होने पर भी अवस्थित, **निच्चे**—उपर्युक्त विशेषणों से संपन्न होने से नित्य है। उपरोक्त सात कारणों से धर्मास्तिकाय सदा रहने वाला है।

इसी प्रकार शेष चार अस्तिकायों के विषय मे भी जान लेना चाहिए। अथवा जैसे देवराजा के इन्द्र, शक्र, पुरदर इत्यादि नाम पर्यायवाची है, वैसे ही ध्रुव आदि शब्द भी नाना देशो के शिष्यो को बोध कराने के लिए कहे गए है। ये सब नित्य के पर्यायवाची नाम हैं।

प्रवाह की अपेक्षा से ये पंचास्तिकाय अनादि अनन्त हैं, किन्तु पर्याय की अपेक्षा सादिसान्त भी कहे जा सकते हैं। लोक पंचास्तिकाय रूप है इसलिए इसे लोक कहते हैं। जहां केवल आकाश ही आकाश हो, अन्य कोई द्रव्य न हो उसे अलोक कहा जाता है। पंचास्तिकाय के वर्णन के प्रसग में यह शका होनी स्वाभाविक है कि पचास्तिकाय में काल द्रव्य की गणना नहीं की गई, इसका क्या कारण है ? इस शंका को समाहित करने के लिए कहा जा सकता है कि प्रदेशो के अभाव होने से काल द्रव्य को पचास्तिकाय मे ग्रहण नहीं किया गया। केवल उपचार मात्र से ही इसे कालद्रव्य कहा गया है।

अनुयोगद्वार सूत्र में काल द्रव्य के दो भेद दिए गए हैं, जैसे कि प्रदेश-निष्पन्न और विभाग निष्पन्न, समय की स्थिति आदि की अपेक्षा प्रदेश-निष्पन्न और चन्द- सूर्य की गति से समय का विभाग करना जैसे मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, संवत्सर आदि विभाग-निष्पन्न कहलाता है। इसका विशद वर्णन द्वितीय स्थान में किया जा चुका है।

जैन आगमो मे "**गुणतो अवगाहणागुणे**" आकाश का अवगाहना गुण वर्णित किया गया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द आकाश का गुण नही है, क्योकि शब्द इन्द्रिय ग्राह्य है। जो-जो इन्द्रिय ग्राह्य है, वह पुद्गल है, अत. शब्द का समावेश पुद्गलास्तिकाय मे ही हो जाता है।

पंचविधा गति

मूल—पंच गईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णिरयगई, तिरियगई, मणुयगई, देवगई, सिद्धिगई ॥ ५७ ॥

छाया—पञ्च गतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—निरयगतिः, तिर्यग्गतिः, मनुजगतिः, देवगतिः, सिद्धिगतिः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पांच गतियां प्रतिपादित की गई है, जैसे—नरक-गति, तिर्यञ्च-गति,

मनुष्य-गति, देव-गति, सिद्धि-गति।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पंचास्तिकाय के प्रसंग में सर्वप्रथम गति-लक्षण वाले धर्मास्तिकाय का वर्णन किया गया है। धर्मास्तिकाय के सहयोग से होने वाली जीव-गति की अनेकरूपता प्रदर्शित करने के हेतु सूत्रकार गति का वर्णन करते हैं—

गति शब्द का सामान्य अर्थ है चलना, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में गति शब्द का पारिभाषिक अर्थ है—ऋजुगति या वक्रगति से जीव को अगले जन्म तक पहुचाने वाली विशेष प्रकार की क्रिया। गति नामकर्म के उदय होने पर कार्मण-काययोग से ही जीव गति करता हुआ भावी जन्म धारण किया करता है, जिसके द्वारा जीव भवान्तर मे जाता है वह गति नाम-कर्म का ही फल है। यह कर्म-प्रकृति जीव को नरक लोक मे, तिर्यञ्च गति मे, देवलोक और मनुष्य लोक तक पहुचाया करती है। गति के पाच रूप माने गए है:—

१. **जन्मान्तर-गति**—ऋजु एवं वक्र गति से जीव को अगले भव तक पहुंचाने वाली क्रिया को जन्मान्तर-गति कहते है। वृत्तिकार कहते हैं—"**गम्यते वा अनया कर्म-पुद्गल-संहत्येति गतिः—नामकर्मोत्तर प्रकृतिरूपा**"—अर्थात् नामकर्म के उदय से और कार्मणकाय योग से जो गति होती है वही जन्मान्तर-गति है।

२ **देशान्तर-गति**—जो प्राणी पंखो से, पैरों से, छाती के बल सरक कर या किसी यान-विशेष द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाते हैं, वह गमन रूप क्रिया भी एक गति है। पांच या छः पर्याप्तियों से पर्याप्त जीव जो गमन रूप क्रिया करते है, वह देशान्तर-गति है। यह गति जिस भव मे जीव रहा हुआ है, उसी में होती है।

३. **भवोपपात-गति**—जीव ने जिस भव के योग्य कर्मो का बन्ध किया हुआ है, उन कर्मों के उदय-क्षण से लेकर अन्तिम क्षण पर्यन्त उसी भव मे निवास करना 'भावोपपात-गति' है। इस गति के भी चार भेद हैं—नरक भवोपपातगति, तिर्यच भवोपपात- गति, मनुष्यभवोप-पातगति और देव भवोपपात गति। इसमें चौबीस दडको के सभी जीव समाविष्ट हो जाते हैं।

४ **कर्मच्छेदन-गति**—कर्मो के बंधन से मुक्त होते ही जो गति होती है वह एक सामयिक होती है। जब जीव कर्मो से सर्वथा विमुक्त हो जाता है तब उसकी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति होती है। सिद्धात्मा की गति तो होती है, परन्तु उसकी आगति नही होती, जबकि संसारस्थ जीवों की गति और आगति दोनो ही होती है। जो गति कृतकृत्य होकर सिद्धिगति के लिए होती है वह सिद्धि गति कहलाती है। इसे पचम गति भी कहते है। सिद्धिगति सादि-अनंत होने के कारण आगति से सर्वथा रहित है।

५. **विहायगति**—आकाश में चलने की क्रिया या शक्ति। इसके सत्रह भेद हैं, जैसे कि स्पृश्यमान-गति, अस्पृश्यमान-गति, उपसंपद्यमान-गति, अनुपसंपद्यमान-गति, पुद्गल-गति, मण्डूक-गति, नाव-गति, नय-गति, छाया-गति, छायानुपात-गति, लेश्या-गति,

लेश्यानुपात-गति, उद्देश्यप्रविभक्त-गति, चतु:पुरुषप्रविभक्त-गति, वक्र-गति, पंक-गति, बन्धनविमोचन-गति। इन सत्रह प्रकार की गतियों की व्याख्या जानने के लिए देखिए प्रज्ञापना सूत्र का सोलहवा पद।

प्रस्तुत सूत्र में नरक गति, तिर्यच गति, मनुष्य गति, देव गति और सिद्धि गति का वर्णन इसी उद्देश्य से किया गया है, ताकि मानव इनका स्वरूप जानकर अपने जाने का मार्ग स्वय ही निर्धारित कर सके।

इन्द्रियार्थ और मुण्डन

मूल—पंच इंदियत्था पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदियत्थे जाव फासिंदियत्थे।

पंच मुंडा पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदियमुंडे जाव फासिंदियमुंडे।

अहवा पंच मुंडा पण्णत्ता, तं जहा—कोहमुंडे, माणमुंडे, मायामुंडे, लोभमुंडे, सिरमुंडे ॥५८॥

छाया—पञ्चेन्द्रियार्थाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियार्थो यावत् स्पर्शनेन्द्रियार्थः।

पञ्च मुण्डाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियमुण्डो यावत् स्पर्शनेन्द्रियमुण्डः।

अथवा पञ्चमुण्डाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्रोधमुण्डः, मानमुण्ड·, मायामुण्डः, लोभमुण्डः, शिरोमुण्डः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पाच इन्द्रियों के अर्थ अर्थात् विषय वर्णन किए गए हैं, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय का अर्थ, घ्राणेन्द्रिय का अर्थ, जिह्वेन्द्रिय का अर्थ, नेत्रेन्द्रिय का अर्थ और स्पर्शनेन्द्रिय का अर्थ।

पाच मुण्ड अर्थात् राग-द्वेष का त्याग करने वाले कहे गए हैं, जैसे श्रोत्रेन्द्रिय से मुण्ड अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय के विषय के प्रति राग-द्वेष की भावना से रहित त्यागी यावत् स्पर्शनेन्द्रिय से मुण्ड।

अथवा पांच मुण्ड कथन किए गए हैं, जैसे—क्रोध से मुण्ड अर्थात् रहित, मान से रहित, माया से रहित, लोभ से रहित और शिर से मुण्डित।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे पांच गतियों का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने अन्तिम लक्ष्य-रूपा सिद्धि-गति का वर्णन किया है। वह सिद्धि-गति तभी प्राप्त हो सकती है जब साधक इन्द्रिय-विषयों अर्थात् शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के दुष्परिणाम को जाने, इन्हे विजित करे और इन्द्रिय-निग्रह के साथ-साथ कषाय-निग्रही बन कर साधना करे, इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार पांच इन्द्रिय-विषय, इन्द्रियनिग्रह और कषाय-जय आदि साधनाओं की ओर संकेत करते हैं।

जिस साधन के द्वारा आत्मा बाहरी पदार्थों के भिन्न-भिन्न गुणों का भिन्न-भिन्न रूपो में अनुभव करता है अथवा शरीर के वे अवयव जिनके द्वारा यह आत्मा विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है उन शारीरिक अवयवो को ज्ञान-इन्द्रिय कहा जाता है। इन्द्रियां दो प्रकार की होती है, जैसे कि द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय भी दो प्रकार की होती हैं, निर्वृति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय। निर्वृति का अर्थ है रचना। यह इन्द्रियाकार रचना पुद्गलो मे भी होती है और आत्मप्रदेशो मे भी। निर्वृति इन्द्रिय भी दो तरह की होती है, बाह्य और आभ्यंतर। बाह्य निर्वृति से इन्द्रियाकार पुद्गल-रचना ग्रहण की जाती है और आभ्यन्तर निर्वृति से इन्द्रियाकार आत्मप्रदेश ग्रहण किए जाते हैं। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय से सम्बद्ध ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम सर्वांग होता है, तदपि अंगोपांगनाम कर्म के उदय से पुद्गल-प्रचय-समूह रूप जिस द्रव्येन्द्रिय की रचना होती है वहीं के आत्म-प्रदेशों मे उस-उस इन्द्रिय को कार्य करने की क्षमता होती है। उपकरण का अर्थ है उपकार का प्रयोजक साधन। यह भी बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है—चक्षु-इन्द्रिय मे जो कृष्ण-शुक्ल मडल है वह आभ्यन्तर उपकरण है और पलके, भौए आदि बाह्य उपकरण है। इसी प्रकार श्रोत्र आदि अन्य इन्द्रियों के विषय मे भी समझना चाहिए।

भावेन्द्रिय के भी दो भेद है—लब्धि और उपयोग। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर पदार्थो के जानने की महती शक्ति को 'लब्धि-भावेन्द्रिय' कहा जाता है तथा ज्ञानावरणीय आदि कर्मो के क्षयोपशम होने पर आत्मा के व्यापार को 'उपयोग-भावेन्द्रिय' कहते है। जिस ओर ज्ञान-शक्ति का उपयोग होगा उसी ओर के पदार्थो का ज्ञान होता है दूसरी ओर वह लब्धि के रूप मे रहता है। कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य दस भाषाओ का ज्ञाता है, परन्तु बोलने या लिखने के समय उसकी ज्ञान-शक्ति एक ही भाषा पर केन्द्रित हो जाती है। एक साधक ध्यानावस्थित होकर गुरुमुख स शास्त्र-श्रवण कर रहा है, उस समय उसकी श्रवण- शक्ति एक ही श्रवण-विषय पर केन्द्रित रहती है, अर्थात् उसका उपयोग एक विषय तक सीमित हो जाता है, शेष श्रवण-विषय उपयोग-लब्धि के रूप में विद्यमान रहते हैं। सभी इन्द्रियो के विषय में यही सिद्धान्त है।

पांच इन्द्रियों के पाच विषय—

श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है शब्द, वह तीन प्रकार का होता है—जैसे कि जीव-शब्द, अजीव-शब्द और मिश्रशब्द। चक्षु-इन्द्रिय का विषय है रूप। रूप पांच प्रकार का होता है—काला, नीला, पीला, लाल और सफेद, शेष रग इन्ही के मिश्रण से बनते हैं। घ्राणेन्द्रिय का विषय है गध, वह दो तरह का होता है जैसे कि सुगध और दुर्गन्ध, इनसे अतिरिक्त तीसरी तरह का कोई गंध नही है। रसनेन्द्रिय का विषय है रस, वह पाच प्रकार का होता है, तिक्त, कटु, कसैला, खट्टा और मीठा। शेष रसों का अतर्भाव इन में ही हो जाता है। स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है स्पर्श, वह आठ प्रकार का होता है—जैसे कि कर्कश, कठोर, खुरदरा, सुकोमल,

हल्का, भारी, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। इनका ज्ञान स्पर्शनेन्द्रिय अर्थात् त्वचा के द्वारा होता है। ३+५+२+५+८ इस प्रकार क्रमशः इन्द्रियो के कुल २३ विषय है। इन्द्रियां ग्राहिका हैं और विषय ग्राह्य होते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने अभीष्ट विषय की लालसा मे लीन है, इन्द्रियां इन्हें चाहती हैं, अतः ये इन्द्रियो के लिए अभीष्ट है। इसीलिए इन्हें इन्द्रियार्थ कहा जाता है। यहां यह स्मरणीय है कि आंखे बन्द कर लेने पर स्थूल रूप से विषय-निग्रह हो जाता है, परन्तु अन्तश्चेतना उनसे विरक्त नही हो पाती है तो इस इन्द्रिय-निग्रह का कोई महत्व नहीं है, अतः भावेन्द्रिय का निग्रह भी आवश्यक है। जिस समय विषय-चिन्तन सर्वथा निरुद्ध हो जाता है, वही वस्तुतः इन्द्रिय-निग्रह की साधना मानी गई है।

इन्द्रिय-मुण्ड—

मनुष्य को इन्द्रिया पुण्य के उदय से तथा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती हैं। पुण्यशील ही विकलागता के कष्टो से मुक्त रहते है, अतः कोई भी इन्द्रिय बुरी नही है, सभी अच्छी है, आत्मकल्याण मे सहायक होने से उपकारी भी है, परन्तु उसी दशा मे जबकि उन्हें विषयों में आसक्त न होने दिया जाए, आसक्ति को दूर करना ही ''मुण्ड'' कहलाता है। जब इन्द्रियों को अभीष्ट विषय मिलते है, तब उनका इन विषयों में राग का होना स्वाभाविक हो जाता है और अनिष्ट विषयों के मिलने पर द्वेष का आवरण चेतना पर छा जाता है। इनसे मध्यस्थ रहना ही समाधि है। इष्ट-अनिष्ट, जड़-चेतन पदार्थो की बातें सुनते हुए, देखते हुए, सूंघते हुए, चखते हुए और स्पर्श करते हुए राग-द्वेष न करना ही वास्तव मे सतोष है, साधुता और मुण्डित्व है।

कषाय-मुण्ड—

साधक के लिए जैसे विषयों से निवृत्त होना जरूरी है वैसे ही कषायो से निवृत्त होना भी आवश्यक है। क्रोध, माना, माया और लोभ दूसरो के लिए तो घातक हैं ही, किन्तु साधक के अपने जीवन को भी ये दूषित करने वाले हैं, प्रगति में बाधक हैं तथा दुर्गति की ओर ले जाने वाले है, अतः उन्हे तालपुट विष के समान जानकर छोड़ देना चाहिए। उन्हे अन्तःकरण से दूर करना भावमुण्ड माना जाता है। पांच इन्द्रियों को वश करने से तथा चार कषायो के निग्रह करने से ही सिर से मुण्डित होना लाभदायक है। विषय और कषायो से निवृत्ति पाए बिना शिरःमुडन साधना का साधक नही हो सकता। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है—**'न वि मुण्डिएण समणो'**—केवल शिर का मुण्डन कर लेने से काई श्रमणत्व प्राप्त नहीं कर सकता है। **'समयाए समणो होइ'** समभाव अर्थात् कषाय-निग्रह करके सब जीवो से समता का व्यवहार ही उस श्रमणत्व मे सहायक है, जिसे प्राप्त कर जीव मोक्षोन्मुख हो सकता है।

बादर द्रव्य

मूल—अहेलोएणं पंच बायरा पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया,

आउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, ओराला तसा पाणा।

उड्ढलोए णं पंच बायरा पण्णत्ता, तं जहा—एवं त्तं चेव।

तिरियलोए णं पंच बायरा पण्णत्ता, तं जहा—एगिंदिया जाव पंचिंदिया।

पंचविहा बायर तेउकाइया पण्णत्ता, तं जहा—इंगाले, जाले, मुम्मुरे, अच्ची, अलाए।

पंचविहा बायरवाउकाइया पण्णत्ता, तं जहा—पाईणवाए, पडीणवाए, दाहिणवाए, उदीणवाए, विदिसवाए।

पंचविहा अचित्ता वाउकाइया पण्णत्ता, तं जहा—अक्कंते, धंते, पीलिए, सरीराणुगए, संमुच्छिमे ॥ ५९॥

छाया—अधोलोके पञ्च बादरा: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिका:, अप्कायिका:, वायुकायिका:, वनस्पतिकायिका:, उदारास्त्रसा: प्राणा:।

ऊर्ध्वलोके पञ्च बादरा: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एवं तच्चैव।

तिर्यग्लोके पञ्च बादरा: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकेन्द्रिया यावत् पञ्चेन्द्रिया:।

पञ्चविधा: बादरतेजस्कायिका: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अङ्गार:, ज्वाला, मुर्मुर·, अर्चि·, अलातम्।

पञ्चविधा: बादरवायुकायिका: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्राचीनवात., प्रतीचीनवात·, दक्षिण वात:, उदीचीनवात:, विदिग्वात:।

पञ्चविधा अचित्ता वायुकायिका: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आक्रान्त:, ध्मात:, पीडित., शरीरानुगत:, सम्मूर्च्छिम:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—अधोलोक में पांच बादर-स्थूल द्रव्य बतलाए गए है, जैसे—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, उदार अर्थात् प्रधान त्रस-प्राणी।

ऊर्ध्वलोक में पाच बादर द्रव्य कथन किए गए है, जैसे—अधोलोक के समान ही पांचो के नाम समझ लेने चाहिएं।

निर्यग्लोक मे पांच बादर कथन किए गए है, जैसे—एकेन्द्रिय जाति से लेकर पंचेन्द्रिय जाति तक।

पाच प्रकार के बादर तेजस्कायिक होते हैं, जैसे—अंगार, ज्वाला, मुर्मुर, अर्चि, और अलात।

पाच प्रकार के बादर वायुकायिक कथन किए गए हैं, जैसे—पूर्व का वायु,

पश्चिम का वायु, दक्षिण का वायु, उत्तर का वायु, विदिशाओं का वायु।

पांच प्रकार के अचित्त अर्थात् जीव-रहित वायुकायिक वर्णन किए गए हैं, जैसे—पैरों को भूतल पर रखने से उत्पन्न वायु, धौंकनी आदि के धौंकने से उत्पन्न वायु, पीडित—जल से भीगे हुए वस्त्र को निचोडने से उत्पन्न वायु और पंखा आदि करने से उत्पन्न वायु जिस को सम्मूर्च्छिम कहा जाता है।

विवेचनिका—जितना भी दृश्यमान जगत् है वह सब बादर द्रव्य ही है। सचित्त बादर द्रव्य कौन-कौन से हैं और वे कहां-कहा पाए जाते हैं ? इस विषय का स्पष्टीकरण प्रस्तुत सूत्र में मिलता है। जिन जीवो ने विषय-कषायों से मुक्ति नही पाई वे जीव एकेन्द्रिय आदि जातियो मे जन्म-मरण करते रहते हैं। सूक्ष्म स्थावर तो लोक भर में व्याप्त है, किन्तु स्थूलरूपधारी पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और उदार त्रस प्राणी अधोलोक में, मध्यलोक में, ऊर्ध्वलोक में तथा विदिशाओं में भी पाए जाते हैं। यद्यपि अधोलोक में बादर तेजस्कायिक जीव भी पाए जाते हैं, परन्तु अल्पतर होने से उनकी गणना नही की गई।

सूत्रकर्त्ता ने "**ओराला तसा पाणा**" पद दिया है, इसका भाव यह है कि आगमों में तेजस्कायिक और वायुकायिक को भी त्रस कहा गया है, अत: उनसे भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए ओराला पद रखा गया है। '**ओराला**' का अर्थ है द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीव। रत्नप्रभादि सात पृथ्वियों के सभी प्रस्तटो तथा भवनों मे केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय वैक्रिय शरीरी ही पाए जाते है, ऊर्ध्वलोक अन्तर्गत मेरु पर्वत के नदनादि वनो मे द्वीन्द्रिय आदि त्रस प्राणी पाए जाते है, किन्तु विमानो मे देवजाति का ही निवास है। असज्ञी द्वीन्द्रिय आदि विकलेन्द्रिय प्राणी वहा नहीं है।

मध्यलोक में एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त पाचों जातियो के जीव पाए जाते है। "एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म" के उदय से तथा तदावरण के क्षयोपशम से जीव को एकेन्द्रिय जाति प्राप्त होती है। उसी को एकेन्द्रिय जाति कहते है। एकेन्द्रिय जीवो मे स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है, पृथ्वी आदि पांच स्थावर जीवो की गणना एकेन्द्रिय जाति में ही की जाती है। द्वीन्द्रिय जाति में स्पर्शना और रसना ये दो इन्द्रियां होती हैं। त्रीन्द्रिय जाति में स्पर्शना, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रिया होती है। चतुरिन्द्रिय जाति मे स्पर्शना, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां पाई जाती हैं। पंचेन्द्रिय जाति मे चार पहली और पाचवी श्रोत्रेन्द्रिय ये पांच इन्द्रियां पाई जाती हैं। मध्यलोक मे एकेन्द्रिय जीवो से लेकर पञ्चेन्द्रिय जीवों तक सभी जीव निवास करते हैं।

बादर तेजस्कायिक पांच प्रकार के होते है, जैसे कि **इंगाले**—कोयले के रूप में अग्नि, ज्वाला—छिन्न-मूल अग्नि-शिखा, **मुर्मुर**—भस्ममिश्रित कणरूप अग्नि, **अर्चि**—अच्छिन्न-

मूला-अग्नि-शिखा और **अलायं**—जलता हुआ काष्ट या भट्टे की अग्नि। ये सब बादर तेजस्कायिक हैं।

पांच प्रकार के स्थूल वायुकायिक जीव है, पूर्व दिशा से चलने वाला वायु, पश्चिम दिशा से चलने वाला वायु, दक्षिण दिशा से चलने वाला वायु, उत्तर दिशा से चलने वाला वायु और विदिशा—आग्नेयादि कोणो से चलने वाली हवा।

पांच प्रकार का वायु अचित्त माना जाता है, जैसे कि **अक्कंते**—पैरों की आहट से या करतल ध्वनि से उत्पन्न होने वाली हवा, **धंते**—धौकनी-मशक या फुटबॉल आदि मे भरी हुई हवा, **पीलिए**—गीले वस्त्र आदि के पीडने से उत्पन्न हुई हवा, शरीर मे रही हुई या उत्पन्न हुई हवा, जैसे कि श्वासोच्छ्वास, छीक, डकार से निकलने वाली वायु, अपानवायु, समानवायु, व्यानवायु, वायुजनक खान-पान से उत्पन्न होने वाली वायु ये सब अचित्त होती हैं। **सम्मुच्छिमे**—पखे आदि से उत्पन्न होने वाली हवा भी अचित्त होती है। वायु का शस्त्र वायु ही है। अचित्त वायु से सचित्त वायु की विराधना होती है। जो वायु पहले अचित्त था वह सचित्त भी हो जाता है। इस वर्णन से शास्त्रकार का आशय जीव-ज्ञान है, क्योंकि ज्ञान होने पर ही उनकी रक्षा की जा सकती है। निर्ग्रन्थ-प्रवचन का आविर्भाव जीवों की रक्षा व दया के लिए ही हुआ है, अत: जीव-ज्ञान प्राप्त करके जीवों की रक्षा के लिए यत्नशील रहना चाहिए।

बादर वायुकाय का सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार से वर्णन किया गया है। बादर तेजस्काय केवल मनुष्य क्षेत्र मे ही होता है, अत: उसका विशेष वर्णन नही किया गया, किन्तु सूक्ष्म तेजस्काय सभी लोको मे व्याप्त है।[१]

पञ्चविध निर्ग्रन्थ और उनके भेद

मूल—पंच निग्गंथा पण्णत्ता, तं जहा—पुलाए, बउसे, कुसीले, णिग्गंथे, सिणाए।

पुलाए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—णाणपुलाए, दंसणपुलाए, चरित्तपुलाए, लिंगपुलाए, अहासुहुमपुलाए नामं पंचमे।

बउसे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—आभोगबउसे, अणाभोगबउसे, संवुडबउसे, असंवुडबउसे, अहासुहुमबउसे नामं पंचमे।

कुसीले पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—णाणकुसीले, दंसणकुसीले, चरित्तकुसीले, लिंगकुसीले, अहासुहुमकुसीले नामं पंचमे।

---

१ विशेष वर्णन के लिए देखिए श्री प्रज्ञापना सूत्र।

णियंठे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—पढमसमयनियंठे, अपढमसमयनियंठे, चरिमसमयनियंठे, अचरिमसमयनियंठे, अहासुहुमनियंठे।

सिणाए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—अच्छवी, असवले, अकम्मंसे, संसुद्धणाणदंसणधरे, अरहा जिणे केवली, अपरिस्सावी॥६०॥

छाया—पञ्च निर्ग्रन्थाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पुलाकः, बकुशः, कुशीलः, निर्ग्रन्थः, स्नातः।

पुलाकः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ज्ञानपुलाकः, दर्शनपुलाकः, चारित्रपुलाकः, लिङ्गपुलाकः, यथासूक्ष्मपुलाकनाम पञ्चमः।

बकुशः पञ्चविध. प्रज्ञप्तस्तद्यथा—आभोगबकुशः, अनाभोगबकुशः, संवृत-बकुशः, असंवृतबकुशः, यथासूक्ष्मबकुशो नाम पञ्चमः।

कुशीलः, पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ज्ञानकुशीलः, दर्शनकुशीलः, चारित्र-कुशीलः, लिङ्गकुशील·, यथासूक्ष्मकुशीलो नाम पञ्चमः।

निर्ग्रन्थः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रथमसमयनिर्ग्रन्थः, अप्रथमसमयनिर्ग्रन्थः, चरमसमयनिर्ग्रन्थ·, अचरमसमयनिर्ग्रन्थः, यथासूक्ष्मनिर्ग्रन्थः।

स्नातः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अच्छवि, अशबलः, अकर्मांश·, संशुद्धज्ञान-दर्शनधरोऽर्हन् जिनः केवली, अपरिश्रावी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पाच निर्ग्रन्थ वर्णन किए गए है, जैसे—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नात।

पुलाक पाँच प्रकार के वर्णित किए गए हैं, जैसे—ज्ञानपुलाक, दर्शन-पुलाक, चारित्र-पुलाक, लिंग-पुलाक और यथासूक्ष्म-पुलाक नामक पञ्चम।

बकुश पांच प्रकार के कहे गए है, जैसे—आभोग-बकुश, अनाभोग-बकुश, सवृत-बकुश, असंवृत-बकुश और पांचवा यथासूक्ष्म-बकुश।

कुशील पाच प्रकार के होते हैं, जैसे—ज्ञानकुशील, दर्शन-कुशील, चारित्र-कुशील, लिंग-कुशील, पांचवा यथासूक्ष्म-कुशील।

निर्ग्रन्थ पाच प्रकार के होते हैं, जैसे—प्रथम समय का निर्ग्रन्थ, अप्रथम समय का निर्ग्रन्थ, चरम समय का निर्ग्रन्थ, अचरम समय का निर्ग्रन्थ और यथासूक्ष्म निर्ग्रन्थ।

स्नात भी पांच प्रकार के होते हैं, जैसे—अच्छवि, अशबल, अकर्मांश, विशुद्ध ज्ञान-दर्शन के धारक अर्हन् जिन केवली, अपरिश्रावी।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे सूक्ष्म और बादर जीवो का वर्णन किया गया है। उन जीवों की रक्षा निर्ग्रन्थ मुनीश्वर करते है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे पाच प्रकार के निर्ग्रन्थों का तथा उनके पांच-पाच रूपों का वर्णन किया गया है। अरिहन्त भगवान की वाणी पर दृढ़ श्रद्धा रखते हुए जिसने संसार का परित्याग कर सम्यक् चारित्र को अगीकार किया है, अथवा जो ग्रन्थ अर्थात् धन-धान्यादि बाह्य ग्रन्थ (बाह्य परिग्रह) और मिथ्यात्व आदि आन्तरिक ग्रन्थ (आन्तरिक परिग्रह) से मुक्त हैं, उन्हें निर्ग्रथ कहा जाता है। निर्ग्रंन्थ शब्द जैन मुनियों के लिए ही प्रयुक्त होता है। क्रिया-भेद से ये निर्ग्रथ पाच प्रकार के होते है, जैसे कि पुलाक, बकुश, कुशीलं, निर्ग्रथ और स्नात। इनमे से कुशील निर्ग्रन्थ के दो भेद किए गए है, प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। इस प्रकार निर्ग्रथों के कुल छ: भेद होते हैं। पुन: प्रत्येक निर्ग्रथ के पाच-पांच भेद सूत्रकार ने प्रदर्शित किए हैं, उनका विवरण निम्नलिखित है—

१. पुलाक साधु—

दानो से रहित अखड धान्य की भूसी को या कदन्न विशेष को भी पुलाक कहा जाता है। जैसे पुलाक भीतर से निस्सार होता है वैसे ही जो तप और श्रुत के प्रभाव से किसी दूसरे को तथा संयम को निस्सार अर्थात् सत्त्वहीन बना सकता है उसे पुलाक साधु कहा जाता है। यह चतुर्विध श्रीसघ के हित एव रक्षा के लिए यान-वाहन सहित आततायी चक्रवर्ती की सेना को भी अपनी लब्धि से नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है। इस प्रकार चक्रवर्ती के मान को मर्दन करने की सिद्धि वाला साधु लब्धिपुलाक कहा जाता है, और ज्ञान आदि के अतिचारो का सेवन करने वाला साधु ''प्रतिसेवापुलाक'' कहलाता है। वह साधु पांच आचारो को निस्सार कर देता है, अत: उसे प्रतिसेवा-पुलाक कहा गया है। प्रतिसेवा पुलाक के भी पाच रूप माने गए हैं।

णाणपुलाए—चौदह प्रकार के अतिचारो से श्रुतज्ञान को मलिन एव दूषित कर श्रुत-ज्ञान को निस्सार करने वाला साधु 'ज्ञान-पुलाक' कहलाता है।

दसणपुलाए—कुदृष्टियों के संस्तव से, मिथ्याशास्त्रो के अध्ययन से, सम्यक्त्व को निस्सार करने वाले साधु को 'दर्शन पुलाक' कहा गया है।

चरित्तपुलाए—मूलगुणों में या उत्तरगुणों में दोष लगाने वाले साधु 'चरित्त पुलाक' कहलाते है।

लिंग पुलाए—आगमो मे जो साधुवेष कथन किया गया है, उस से भी अधिक वेष ग्रहण करने वाला या बिना ही कारण से अन्य वेष धारण करने वाला साधु 'लिगपुलाक' कहलाता है। वृत्तिकार भी लिखते है—''**यथोक्तलिङ्गाधिकग्रहणात्, निष्कारणेऽन्यलिङ्गकरणाद्वा।**''

अहासुहुमपुलाए—केवल मन से अकल्पनीय पदार्थो को ग्रहण करने की इच्छा करने

वाला साधु 'यथासूक्ष्म पुलाक' कहलाता है। केवल वेष मात्र के साधु को भी 'लिंगपुलाक' कहा जा सकता है।

२ बकुश साधु—

जिस साधु का संयम गुण और दोषो के मिले-जुले रूप के कारण चित्र विचित्र है, वही बकुश साधु है। शुद्धि और दोषों से मिला हुआ चारित्र अनेक प्रकार का होता है। सौंदर्य-लालसा से हाथ, पैर, मुह आदि धोने वाला आंख, कान, नाक आदि अवयवों से अनावश्यक मैल दूर करने वाला, दातुन करने वाला, केश आदि संवारने वाला, शारीरिक विभूषा करने वाला साधु 'शरीर बकुश' साधु कहलाता है। ऐसे ही वस्त्र, पात्र, दंड आदि को वारनिश-सफैदे आदि के द्वारा विभूषित करने वाला साधु 'उपकरण बकुश' कहलाता है। उसका चारित्र कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध मिश्ररूप होने से बकुश कहा गया है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के साधु मर्यादा-बाह्य वस्त्र-पात्र रखने वाले, ऋद्धि और यश के इच्छुक, साताप्रिय और रस- लोलुपी होते हैं, अत: वे दिनचर्या एव रात्रिचर्या के शुभ अनुष्ठानो मे सावधान नही रह सकते। इस प्रकार के साधु ही बकुशनिर्ग्रंथ कहलाते है। वे पाच प्रकार के होते है। उनका विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

आभोगबउसे—आभोग का अर्थ है—जानबूझ कर दोष लगाना, शरीर एवं उपकरणों की विभूषा करना, साधु मर्यादा के विरुद्ध है, यह जानते हुए भी शरीर की विभूषा तथा उपकरणो की विभूषा करने वाला साधु अपने चारित्र को दूषित कर देता है। ऐसे साधु आभोगबकुश कहलाते है।

अणाभोगबउसे—जिसको इस बात का ज्ञान नही कि शरीर या उपकरणों की विभूषा करना साधु-मर्यादा के विरुद्ध है, केवल अनजानपने मे चारित्र को दूषित करने वाले साधु 'अनाभोग-बकुश' निर्ग्रथ कहलाते है।

संवुडबउसे—जो साधु छिपकर शरीर विभूषा, स्नान आदि करते है तथा उपकरण विभूषा, वस्त्र आदि का प्रक्षालन करते है इस तरह छिपकर चारित्र मे दोष लगाने वाले साधु 'सवृत्त बकुश' कहलाते है।

असंवुडबउसे—प्रकट रूप मे विभूषा के निमित्त दोष सेवन करने वाले साधु 'असवृत्त बकुश' कहलाते हैं।

अहासुहुमबउसे—मूल गुण के सम्बन्ध मे प्रकट या प्रच्छन्न रूप से दोष सेवन करने वाले, प्रमाद सेवन करने वाले साधु 'यथासूक्ष्म बकुश' कहलाते है, अर्थात् शरीर और उपकरणो के निमित्त जिन दोषों का सेवन किया जाता है उन दोषों का अन्तर्भाव बकुश मे हो जाता है।

३. कुशील साधु—

विषय और कषाय सेवन करने से जो साधु सयम को दूषित करता है उसे 'कुशील

साधु' कहते है। कुशील के दो भेद हैं—प्रतिसैवना कुशील और कषाय-कुशील। जो साधु चारित्र पालन की प्रतिज्ञा लेकर भी जितेन्द्रिय नहीं हैं। पिंड-विशुद्धि, समिति, गुप्ति, भावना, तप, प्रतिमा आदि मूलगुणो एव उत्तर गुणो की विराधना करने में सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला 'कुशील' साधु कहलाता है। इन्द्रियो के वशीभूत होकर कभी मूलगुणों मे और कभी उत्तरगुणों में दोष लगाने वाले साधु 'प्रतिसेवना कुशील' कहलाते हैं। और जो साधु इन्द्रियो के वशीभूत होकर चारित्र को दूषित तो नहीं होने देते, परन्तु संज्वलन कषाय से जिनके चारित्र मे यदा-कदा दोष लग जाते है, वे साधु कषाय-कुशील कहे जाते है, अथवा जो साधु इन्द्रियों के वशीभूत होकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप सम्बन्धी और यथासूक्ष्म दोषो का सेवन करते हैं, वे 'प्रतिसेवनाकुशील' है और जो कषायो के उदय के कारण सयम मे दोष लगाते है वे साधु 'कषायकुशील' हैं। कुशील निर्ग्रन्थ भी पाच प्रकार से चारित्र को दूषित करता है, अत: उसके भी पांच रूप माने गए है—

णाणकुसीले—क्रोध के वशीभूत होकर विवाद के लिए विद्या का प्रयोग करने वाला, ज्ञान की किसी जटिल समस्या की उलझन के कारण क्रोध के आवेश मे आने वाला, कपट के साथ विद्याएं पढने वाला, अपनी विद्या पर अभिमान करने वाला, ज्ञानी एव ज्ञान के साधनो की अवहेलना करने वाला, साधु 'ज्ञानकुशील' कहलाता है।

दंसणकुसीले—शंका-कांक्षादि अतिचारो से सम्यक्त्व को मलिन करना, मै दर्शन ग्रन्थो का अद्वितीय वेत्ता हू, मै शास्त्रार्थ करने मे निपुण एव अजेय हू, यह समझते हुए दार्शनिक विद्या का अभिमान करना, माया से वादी को निग्रह-स्थान मे लाकर पराजित करना, लोभ के वशीभूत होकर सम्यग्दर्शन मे दोष लगाना, इस तरह के दर्शन-सम्बन्धी दोष सेवन करने वाला साधु 'दर्शनकुशील' कहलाता है।

चरित्तकुसीले—सज्वलन कषाय के आवेश मे किसी को शाप देना, परीक्षा के बहाने कपट करना, अपनी उच्च क्रिया पर अभिमान करना, शिष्यादि के लोभ से चारित्र में दोष लगाना, इस प्रकार सज्वलन कषायवश चारित्र मे दोष लगाने वाला साधु 'चारित्र कुशील' कहलाता है।

लिंगकुसीले—सज्वलन कषाय वश अन्य लिंग को धारण करने वाला साधु अथवा कुशीलियों के वेष को धारण करने वाले साधु को लिगकुशील कहते है।

अहासुहुमकुसीले—जो मन से कषाय प्रवृत्ति करता हुआ भी वाणी और शारीरिक क्रियाओ से उसे प्रकट नही करता, अर्थात् सूक्ष्मरूप से मनोमालिन्य रखने वाला साधु 'यथासूक्ष्मकुशील' कहलाता है। अपने साधु जीवन में अप्रशस्त लेश्याओ को स्थान देने वाला साधु भी कषायकुशील कहलाता है।

४. निर्ग्रन्थ—

ग्रन्थ मोह का पर्यायवाची शब्द है। जो छद्मस्थ अवस्था में ही मोह से रहित हो गया

है, उसे निर्ग्रन्थ कहा जाता है। उपशान्तमोह गुणस्थान और क्षीण-मोह गुणस्थान की स्थिति मे पहुंचे हुए साधना-सम्पत्ति-विभूषित मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते है। ये निर्ग्रन्थ मुनि भी पाच प्रकार के होते है, जैसे कि—

पढम समय नियंठे—उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थान में पहुंचे हुए अभी जिसे पहला ही समय[१] हुआ है वह 'प्रथमसमयनिर्ग्रथ' है।

अपढमसमयनियंठे—उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थान में पहुंचे हुए जिसे अनेक समय हो गए हैं वह निर्ग्रथ 'अप्रथम समय निर्ग्रथ' कहलाता है।

चरमसमयनियंठे—जिस साधक की स्थिति उस गुणस्थान मे एक ही समय शेष रह गई है वह 'चरमसमय निर्ग्रन्थ' कहलाता है।

अचरमसमयनियंठे—उक्त दो गुणस्थानो में से किसी एक में प्रविष्ट हुए जिसकी स्थिति अभी अनेक समय तक है, वह 'अचरम-समयनिर्ग्रथ' कहलाता है। ये दोनों भेद पश्चात् आनुपूर्वी से कथन किए गए है।

अहासुहुमनियंठे—उपशान्तमोह गुणस्थान मे पहले समय से लेकर अंतिम समय तक जो अवस्थित परिणामी है उसे 'यथासूक्ष्म-निर्ग्रन्थ' कहा जाता है।

५ स्नात निर्ग्रन्थ—

जो निर्ग्रन्थ मुनीश्वर कर्ममल को दूर कर शुद्ध एव निर्लेप हो गए है वे स्नात निर्ग्रन्थ कहलाते है। चार घनघाती कर्मो को क्षय करके जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है। जिस ज्ञान को पाकर फिर अन्य किसी ज्ञान को पाने की आवश्यकता नही रहती, वह केवल-ज्ञान शुक्लध्यान के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। सयोगी और अयोगी के भेद से स्नात भी दो तरह के होते है। तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान मे रहे हुए महासाधक निर्ग्रन्थ स्नात कहलाते हैं, वे नियमेन केवलज्ञानी होते है। वे भी पाच विशेषणों से युक्त होते हैं, जैसे कि—

अच्छवि—छवि का अर्थ है—शरीर। जब वे महासाधक शरीर के योग का निरोध करके चौदहवे गुणस्थान मे पहुच जाते है, तब शरीर होते हुए भी अयोगी होते है, इसलिए वे अच्छवि कहलाते हैं।

असबले—जिन का चारित्र सर्वथा निर्दोष है, शबलित नही, उन्हे अशबल कहते है।

अकम्मंसे—घाती कर्मो के क्षय होने पर स्नात अकर्मांश कहलाते हैं।

संसुद्धणाणदसणधरे अरहा जिणे केवली—पूर्ण विकसित शुद्ध निर्दोष ज्ञानदर्शन के धारक होने से अहिरंत, विकारों के विजेता होने से जिन, केवलज्ञानी होने से केवली कहलाते हैं।

---

१ एक बार आंख झपकने मे जितना समय व्यतीत होता है जैन सस्कृति उतने काल मे असख्यात समय मानती है।

अपरिस्सावी—काययोग के सर्वथा निरोध कर लेने से, जब स्नात निष्क्रिय हो जाता है और कर्म-प्रवाह का सर्वथा निरोध कर देता है, तब वह स्नात अपरिश्रावी कहलाता है।[१]

कल्पनीय वस्त्र एवं रजोहरण

मूल—कप्पइ णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा पंच वत्थाइं धारित्तए वा, परिहरित्तए वा, तं जहा—जंगिए, भंगिए, साणए, पोत्तिए, तिरीडपट्टए णामं पंचमए।

कप्पइ णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा पंच रयहरणाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तं जहा—उण्णिए, उट्टिए, साणए पच्चापिच्चयए, मुंजापिच्चिए णामं पंचमए ॥ ६१॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा, निर्ग्रन्थीनां वा पञ्च वस्त्राणि धारयितुं वा, परिधातुं वा, तद्यथा—जाङ्गमिकं, भाङ्गिकं, सानकं, पोतकं, तिरीटपट्टकं नाम पञ्चमम्।

कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीना वा पञ्च रजोहरणानि धारयितुं वा, परिधातुं वा, तद्यथा—और्णिकम्, औष्ट्रिकं, सानकं, वल्वजीयं, मुञ्जपिच्छितं नाम पञ्चमम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—साधु और साध्वियों के लिए पाच प्रकार के वस्त्र धारण करने और परिधान करने विहित हैं, जैसे—जाङ्गमिक जंगम अर्थात् पशुओ की ऊन से निर्मित, भाङ्गिक-अलसी आदि के वस्त्र, सानक-सन का वस्त्र, अरडी आदि और कार्पास-निर्मित अर्थात् सूती।

साधु और साध्वियो को पांच प्रकार के रजोहरण धारण और उपयोग मे लाने विहित हैं, जैसे—ऊन का बना हुआ, ऊट की ऊन का बना हुआ, सन का बना हुआ, तृण विशेष का बना हुआ और मूंज का बना हुआ।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र के अन्तिम अश में 'निर्ग्रन्थ' का वर्णन किया गया है, वे निर्ग्रन्थ मुनिवर भी अपने सयम की सुरक्षा के लिए वस्त्र रजोहरण आदि धर्मोपकरण रखते हैं। वे निर्ग्रन्थ कौन से वस्त्र एव कैसे रजोहरण रख सकते हैं, इस जिज्ञासा के समाधान के लिए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु और साध्वियां पाच प्रकार के वस्त्र एवं रजोहरण उपयोग मे ला सकते हैं, जैसे कि—

जंगिए—त्रस जीवो के रोम अर्थात् ऊन आदि से बने हुए जागमिक वस्त्र।

---

१ 'निर्ग्रन्थ' के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए भगवती सूत्र शतक २५, उद्देशक ६।

भंगिए—अलसी का बना हुआ भांगिक वस्त्र।

साणए—सन का बना हुआ सानक वस्त्र।

पोत्तिए—रुई का बना हुआ पोतक वस्त्र।

तिरीडपट्टए—तिरीड वृक्ष के बल्कल अर्थात् छाल से बने हुए तिरीडपट्टक वस्त्र।

इनमे से किसी भी तरह का वस्त्र उपयोग मे ला सकते हैं। उत्सर्ग-मार्ग में तो कार्पासिक और और्णिक ये दोनों प्रकार के वस्त्र ग्रहण करने का विधान है। पांचो का विधान तो केवल अपवाद-मार्ग में किया गया है। साधु के हृदय मे जब कभी वस्त्र ग्रहण करने की इच्छा हो तो उसके लिए अल्पमूल्य वाला वस्त्र ग्रहण करना ही उचित होता है, बहुमूल्य वस्त्र नहीं। अधिक कीमती वस्त्र रखना अथवा मर्यादा से अधिक वस्त्र रखना परिग्रह है। निष्परिग्रह के लिए परिग्रह से बचना अनिवार्य है।

जिसके द्वारा रज दूर की जाए उस रजोहरण कहते है, कहा भी है—

हरइ रयं जीवाणं बज्झं अब्भंतरं च जं तेणं।
रयहरणं ति पवुच्चइ कारण-कज्जोवयाराओ॥

रज को हरण करने वाले धर्म-उपकरण को रजोहरण कहते है। वह द्रव्य से मृण्मयरज का हरण करता है और भाव से कर्म- रज को दूर करता है। अत: कारण में कार्य का उपचार करके ऐसा कहा गया है। साधु के मुख्य दो चिह्न हैं, मुखवस्त्रिका और रजोहरण। दोनो ही जीव रक्षा के साधन एवं चिह्न हैं, जिससे अहिसा की पुष्टि हो वही चिह्न श्रेयस्कर होता है, क्योकि साधु का जीवन आमूल-चूल अहिंसामय ही होता है।

साधु या साध्वी वृद को पाच में से किसी एक प्रकार का रजोहरण रखना विहित है। जैसे कि—ऊन का बना हुआ और्णिक रजोहरण, ऊंट के रोमो से बना हुआ औष्ट्रिक रजोहरण, सन का बना हुआ सानक रजोहरण, बल्वज—तृण विशेष से बना हुआ रजोहरण और कुटे हुए मुज से बना हुआ रजोहरण। उत्सर्ग मार्ग में और्णिक या औष्ट्रिक रोमो से बना हुआ रजोहरण उपयोग मे लाना उचित बताया गया है। किन्तु शेष तीन तरह के रजोहरण अपवाद मार्ग में ग्रहण किए जाने चाहिएं।

धारित्तए—इस पद का अर्थ है ग्रहण करना, **परिहरित्तए**—पद का अर्थ है उपयोग मे लाना। सूत्रकर्त्ता ने उक्त-पांच प्रकार के वस्त्रों वा रजोहरणो का वर्णन किया है। जहा जिस प्रकार की गण समाचारी हो, उसके अनुसार ही ये ग्रहण किए जाने चाहिएं। विकलेन्द्रिय जीवों के अवयवों से बने हुए रेशमी वस्त्र व्यवहार पक्ष मे भी साधु के लिए अग्राह्य हैं।

धर्मात्मा के आश्रय-स्थान

मूल—धम्मं चरमाणस्स पंच णिस्साठाणा पण्णत्ता, तं जहा—छक्काए, गणे, राया, गिहवई, सरीरं ॥ ६२॥

छाया—धर्मं चरतः पञ्च निश्रास्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—षट्कायः, गणः, राजा, गृहपतिः, शरीरम्।

शब्दार्थ—धम्मं चरमाणस्स—धर्म का आचरण करने वाले के लिए, **पंच**—पांच, **णिस्साठाणा**—आलम्बन के स्थान, **पण्णत्ता, तं जहा**—प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **छक्काए**—षट्काय, **गणे**—गण, **राया**—राजा, **गिहवई**—गृहपति और, **सरीरं**—शरीर।

मूलार्थ—धर्म का आचरण करने वाले साधक के लिए पाच आश्रय-स्थान वर्णन किए गए है, जैसे—षट्काय, गण, राजा, गृहपति और शरीर।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में साधु और साध्वियो के सयम-पालन मे सहायक रजोहरण और वस्त्रों का वर्णन किया गया है। रजोहरण और वस्त्रादि के समान ही कुछ अन्य कारण भी धर्म मे सहायक होते है। अब सूत्रकार उन्हीं कारणों का वर्णन प्रस्तुत करते है।

जो साधक श्रुत और चारित्ररूप धर्म का पालन करने वाले है उनके पाच निश्रास्थान अर्थात् आलम्बन-स्थान प्रस्तुत सूत्र मे प्रतिपादित किए गए है। जिस प्रकार पक्षी को उडान लगाने के लिए आकाश आश्रय-स्थान है, उसी प्रकार संयमियों के लिए पांच आश्रय-स्थान है, क्योंकि सुदृढ़ आश्रय के आधार पर ही वे अपनी धार्मिक क्रियाएं सुखपूर्वक कर सकते हैं, जैसे कि—

१. छक्काए—छः काय जीव साधनाशील सयमी की साधना में उपकार करने वाले है, जैसे कि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। ये छः काय जीव यदि अनुकूल हैं, तभी साधनाशील जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो सकता है। सोना, बैठना, खडे होना, चलना, कायोत्सर्ग, सथारा इत्यादि सभी क्रियाए पृथ्वी पर ही होती हैं। मिट्टी के बने हुए पात्र इत्यादि पदार्थ भी धार्मिक वृत्ति के अनुसार साधक के लिए उपकारी है। प्यास शान्त करने के लिए, हाथ आदि अग धोने के लिए, वस्त्र और पात्र धोने के लिए, शुद्धि या आचमन के लिए और इसी प्रकार के अन्य नाना कार्यो के लिए जल की आवश्यकता रहती है, परन्तु वह यदि धार्मिक मर्यादा के अनुसार मिलता हो तो अप्काय भी साधना का आलम्बन ही है। अग्नि के द्वारा गर्म की हुई वस्तुएं, भस्म, भोजन आदि कार्यो के लिए तेजस्काय भी धार्मिक जीवन साधना मे सहायक होता है। रोमाहार, श्वासोच्छ्वास, आदि में सहायक वायु भी सयमियो का आलम्बन है। चौकी, पट्टा, फूस, पात्र, भोजन, औषध-भेषज, दण्ड, कपास के बने हुए वस्त्र, रूई, धागा इत्यादि रूपों मे वनस्पतिया भी धार्मिक जीवन-साधना मे सहायक होती है। यह ठीक है कि सयमशील साधु उनका प्रयोग विधि एव मर्यादा के अनुकूल ही करता है। उनका मर्यादानुकूल सेवन भी तो संयम साधना में सहायक होता है। चर्म, अस्थि, दत, नख, रोम, सीग, गोबर, गोमूत्र, दूध, दही, घी, मक्खन, ऊनी वस्त्र, रजोहरण इत्यादि पदार्थ देकर पचेन्द्रिय जीव भी अध्यात्म-साधको की साधना मे सहायता देते है। इसी प्रकार विकलेन्द्रिय जीव, मनुष्य और

देव भी यदि संयमी के अनुकूल बन जाए तो वे भी धार्मिक क्रियाओं के लिए सहायक बन जाते हैं। अत: षट्कायों के आश्रय की संयमियो को अत्यन्त आवश्यकता रहती है।

२. **गणे**—साधक का दूसरा आश्रय गच्छ है। गुरु का परिवार गच्छ कहलाता है। उस में रहते हुए साधक गुरुजनों एवं अन्य साधको की सहायता द्वारा महानिर्जरा कर सकता है। गच्छ मे रहने पर शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन, सेवा, विनय आदि मे दोष लगने की संभावना नहीं होती। एक दूसरे की साधना-निष्ठा एव विनय को देखने से गच्छ वासी मुनि नियम-पूर्वक अपनी साधना को क्रिया-काड के द्वारा सिद्ध कर सकता है, अत: सयम-पालन के लिए गच्छ भी एक आश्रय है। इसके बिना सयम पालन करना प्रत्येक साधक के लिए दु·शक्य है।

३. **राया**—राजा भी धर्म में सहायक होता है, क्योकि धर्म-परायण राजा साधुओ एव सज्जनो की रक्षा और दुष्टों को दड देता है। धर्म-क्रियाए करने के लिए राजा का आश्रय भी आवश्यक है। राजनीति की व्यवस्था ठीक होने पर ही धर्मनीति चल सकती है। जिस देश में अराजकता बढ जाती है उस देश में सज्जनों को या साधुओ को निवास करना कठिन हो जाता है।

४ **गिहवई**—साधु की साधना के लिए मकान आदि देने वाला व्यक्ति **'गृहपति'** कहलाता है। गृहपति साधुओ को ठहरने के लिए स्थान देकर उनके सयम-पालन मे सहायक बनता है। जिसने मुनिवरों को ठहरने के लिए उपाश्रय दिया है उसने उन्हे सब कुछ दे दिया है, क्योंकि उपाश्रय मे रहकर ही सयम-क्रियाएं सुख-पूर्वक पालन की जा सकती है। कहा भी है—

धृतिस्तेन दत्ता मतिस्तेन दत्ता, गतिस्तेन दत्ता, सुखं तेन दत्तम्।
गुणश्रीसमालिंगितेभ्यो वरेभ्यो, मुनिभ्यो मुदा येन दत्तो निवास:॥
जो देइ उवस्सयं जइवराण तव नियम जोग जुत्ताणं।
तेणं दिन्ना वत्थन्नपाणं सयणासणं विगप्पा॥

अर्थात् जिसने प्रसन्नता का अनुभव करते हुए साधु के लिए निवास-योग्य स्थान दे दिया है, उसने मानो उसे धृति, मति, गति और सुख आदि सब कुछ दे दिया है। दूसरी गाथा मे भी कहा गया है कि तपोनिधान मुनीश्वरो को स्थान देने वाले गृहपति ने मानो उन्हें वस्त्र, अन्न, जल, शयन, आसन आदि सब कुछ ही दे दिया है। अत· गृहपति भी साधनाशील की साधना का आलम्बन है।

५. **सरीरं**—शरीर तो धर्म का प्रमुख साधन है अतएव कहा गया है—**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**—शरीर के स्वस्थ रहने से ही सभी धर्म-क्रियाएं सुखपूर्वक चल सकती हैं। जैसे पर्वत से जल झरता है वैसे ही शरीर से धर्म-भाव प्रवाहित होता है।[१] आध्यात्मिक

१ शरीर ·धर्म सयुक्त रक्षणीय प्रयत्नत:।
शरीराच्छ्रवते धर्म: पर्वतात्सलिल यथा।।

साधना के लिए धर्म-परायण रहकर शरीर की रक्षा भी अवश्य ही करनी चाहिए।

संयमी पुरुषो को उक्त पांच आश्रयो के द्वारा अपने करणीय कार्य की सिद्धि करनी चाहिए। निम्नलिखित श्लोक मे भी पाच आश्रय स्थानों के नामोल्लेख किए गए हैं जैसे कि—

"धर्म चरतः साधोर्लोकनिश्रापदानि पञ्चैव।
राजा गृहपतिरपरः षट्काया गणशरीरे च॥"

षट्काय जीव, गण, गृहपति, शरीर और शासक इन पांचो को साधक के लिए आश्रय-स्थान कह कर शास्त्रकार ने **"परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ"** एक दूसरे को सहायता देते हुए ही परमश्रेय को प्राप्त कर सकोगे की भावना को जहा व्यक्त किया है वहा साधु के लिए यह भी निर्देश किया है कि उसे सर्वथा लोक-विमुख नहीं हो जाना चाहिए, क्योकि उपर्युक्त पांच आश्रयों में प्रायः ससार का सभी कुछ आ जाता है जो कि उसकी साधना मे सहायक हो सकता है।

पांच निधियां

मूल—पंच णिही पण्णत्ता, तं जहा—पुत्तनिही, मित्तनिही, सिप्पनिही धणणिही, धन्नणिही ॥६३॥

छाया—पञ्च निधयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पुत्रनिधिः, मित्रनिधिः, शिल्पनिधिः, धननिधिः, धान्यनिधिः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पाच प्रकार की निधियां अर्थात् कोष कथन किए गए है, जैमे पुत्र-निधि, शिल्प-निधि, धन-निधि, धान्य-निधि।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में साधु के आश्रय-स्थानो का वर्णन किया गया है। अब शास्त्रकार श्रावक के जीवन के लिए आश्रय रूप उन निधियो का वर्णन करते हैं जिनका उसे लोकाचार की रक्षा के लिए आश्रय लेना पडता है।

निधि शब्द का अर्थ है **"नितरा धीयते—स्थाप्यते यस्मिन् स निधिः"** अर्थात् रत्न स्वर्ण आदि विशिष्ट पदार्थो को सुरक्षित एव सचित रखन के स्थान को निधि कहा जाता है और वे व्यक्ति भी निधि माने जाते है जिन पर मानव की अभिलाषाए केन्द्रित होती है, जिन्हे वह जीवन का आधार मानता है और समझता है कि मै इनका सम्बल लेकर ही जीवन-यापन कर सकता हू। पुत्र, मित्र आदि को इसी आशय से निधि कहा गया है। ऐसी निधियां पाच है, जैसे कि—

१. **पुत्रनिधि**—ससार-पक्ष में सुयोग्य और विनीत पुत्र निधि है, क्योंकि **'कुल पुनातीति पुत्रः'** जो कुल को पवित्र करता है वही पुत्र हैं। कुल की वृद्धि पुत्र के बिना नही हो सकती।

साथ ही वह वृद्धावस्था में द्रव्योपार्जन के द्वारा माता-पिता का परिपोषक होता है और धार्मिक क्रियाओं मे सहायक भी हुआ करता है। इसीलिए अनुभवी नीति-विज्ञो ने कहा है—

"जन्मान्तरफलं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।
सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे॥"

अर्थात् तप और दान से उत्पन्न पुण्य तो परलोक में सुखरूप होता है, किन्तु शुद्धवश मे उत्पन्न हुई सन्तति लोक और परलोक दोनों लोकों में सुख एव कल्याण करने वाली होती है।

२. मित्रनिधि—जो सब बातो मे सहायक एवं शुभचिंतक हो वह मित्र है। जो दु:ख मे सहायक तथा दुर्व्यसनो से बचाने वाला हो, धर्म-क्रियाओं में सहायक हो, दु:ख-सुख का साथी हो, अर्थ, काम और धर्म का साधक हो ऐसे व्यक्ति को ही मित्र कहा जाता है। मित्र के विषय में एक कवि ने कहा है—

"कुतस्तयास्तु राज्यश्री· कुतस्तस्य मृगेक्षणाः।
यस्य शूर विनीतं च नास्ति मित्रं विचक्षणम्॥"

अर्थात् उस व्यक्ति को राज्यलक्ष्मी कहा प्राप्त हो सकती है और उसको मृगनयनी अत्यन्त सुन्दरियां कहा मिल सकती है जिसका कि कोई शूर, विनीत और विचक्षण मित्र नही है।

३. शिल्पनिधि—जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को अत्यधिक उपयोगी एव सुन्दर बनाने की विद्या को शिल्प कहा जाता है। कपड़ा ओढ कर भी काम चलाया जा सकता है, शरीर पर उसे लपेट कर भी लोक-लाज की रक्षा की जा सकती है, परन्तु उसी वस्त्र को कुशल शिल्पी (दर्जी) साज-संवार कर सुन्दर रूप दे देता है। जगल मे और बाग मे शिल्प-सौन्दर्य का ही तो अन्तर होता है।

लोक-व्यवहार सौदर्य-प्रिय है, अत: वह शिल्प का अर्थात् शिल्प द्वारा निर्मित वस्तुओ का निरन्तर सग्रह करता रहता है, अतएव शिल्प भी उसके लिए निधि अर्थात् सग्रहणीय है।

उपलक्षण से विद्या भी निधि है। विद्या से सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। जीवन-निर्वाह भी सुखपूर्वक विद्या से ही हो सकता है, इससे समाज मे प्रतिष्ठा भी बढ़ती है। नीति विज्ञो का कथन है—

"विद्यया राजपूज्यः स्याद् विद्यया कामिनीप्रियः।
विद्या हि सर्वलोकस्य वशीकरणकारणम्॥"

विद्या से मनुष्य राज्य-पूज्य एवं लोकमान्य बन सकता है, विद्या सर्वलोक को वश करने का वशीकरण मंत्र है, अत: विद्या मनुष्य की बहुत बडी निधि है।

४. धननिधि—भूगर्भ मे स्थापित, व्यापार में लगाया हुआ, तथा चल-सम्पत्ति और अचल-सम्पत्ति के रूप मे मणि, मोती, रत्न, राजमुद्रा, चादी, सोना और रुपया पैसे इत्यादि सब धन के ही अनेक रूप है। धन को सबसे अधिक संग्रहणीय माना गया है, क्योंकि—

"यस्यार्थस्तस्य मित्राणि, यस्यार्थस्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थः सः पुमांल्लोके, यस्यार्थः स च पण्डितः॥"

जिसके पास धन है उसके ससार मे अनेक मित्र बन जाते है, बन्धु-बान्धव भी उसे ही अपना बन्धु कहते हैं, धन से ही मनुष्य, मनुष्य माना जाता है और धनवान को ही यहां पण्डित अर्थात् बुद्धिमान समझा जाता है। अत· धन भी लोक-जीवन के लिए अत्यन्त उपकारी एवं संग्रहणीय होने से निधि है।

५. धान्य-निधि—यहा धान्य शब्द अन्न मात्र का उपलक्षण है। **"अन्नं वै प्राणाः"** अन्न ही प्राण है, इस उक्ति के अनुसार अन्न के बिना जीवन-निर्वाह असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। अन्न जीवन है और जीवन सबके लिए प्रिय एव रक्षणीय है, अत: अन्न को लोक में सबसे अधिक सग्रहणीय माना जाता है। इसलिए उसे पाचवी निधि कहा गया है। ये पाच निधिया लौकिक पक्ष के आश्रित हो कर ही कही गई है।

निधिया दो प्रकार की होती हैं, द्रव्य-निधि और भाव-निधि। द्रव्य से दस प्रकार के पुत्र और भाव से विनीत एवं कुशल अनुष्ठान करने वाला सुशिष्य भी निधि है। मित्र शब्द से, माता-पिता, स्त्री-पुत्र, स्वजन-सम्बंधी सभी द्रव्य मित्र माने जाते है तथा हित-शिक्षक एव शुभ-चिंतक साधु भाव-मित्र हैं। अनेक प्रकार के विज्ञान और कला-कौशल से सब द्रव्य-शिल्प है, वाद-लब्धि, कथा-लब्धि, शासन-लब्धि, मंत्रसिद्धि, विद्यासिद्धि इत्यादि सब भाव-शिल्प है। क्षेत्र, वस्तु, पशु, स्वर्ण आदि द्रव्यधन है और आध्यात्मिक लब्धियो का प्राप्त होना भाव-धन है। गेहू आदि द्रव्य धान्य है, सत् शिक्षा, सतोष, धर्मोपदेश इत्यादि सब भाव-धान्य हैं, अत: लोकोत्तरिक निधिया भी प्रस्तुत सूत्र मे समाविष्ट हो जाती हैं।

बाह्य और आन्तरिक शौच

मूल—सोए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविसोए, आउसोए, तेउसोए, मंतसोए, बंभसोए ॥ ६४॥

छाया—शौचः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पृथ्वी-शौचः, अप्-शौचः, तेजश्शौचः, मन्त्र-शौचः, ब्रह्म-शौचः।

शब्दार्थ—सोए पचविहे पण्णत्ते, त जहा—शौच पांच प्रकार का कथन किया गया है, जैसे, **पुढविसोए**—पृथ्वी शौच, **आउसोए**—जल-शौच, **तेउसोए**—तेज:शौच, **मंतसोए**—मन्त्र-शौच और, **बभसोए**—ब्रह्मचर्य-शौच।

मूलार्थ—शौच पाच प्रकार का वर्णन किया गया है, जेसे—पृथ्वी शौच, जल-शौच,

तेज:-शौच, मन्त्र-शौच और ब्रह्मचर्य-शौच।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पांच निधियो का वर्णन किया गया है। निधिया वही निवास करती है जहा पवित्रता है, शुद्धि है, शौच है। अत: सूत्रकार निधियो की प्राप्ति के लिए आवश्यक 'शौच' का वर्णन करते है।

शौच का अर्थ होता है शुद्धि अर्थात् पवित्रता। द्रव्य-शौच और भाव-शौच के रूप मे शौच के पाच रूपों का उल्लेख किया गया। इनमें प्रथम चार द्रव्य-शौच है और पांचवा भाव शौच है। सर्वप्रथम द्रव्य शौच के चारो रूपों का परिचय दिया जाता है—

१ **पृथ्वी-शौच**—जो शरीर में घृणास्पद मल हो या पात्र मे जूठन आदि हो उसे मिट्टी से साफ करना, मिट्टी से हाथ धोना, मिट्टी का लेप करना आदि पृथ्वी शौच है। इस शौच का उद्देश्य दूषित, विषाक्त एवं दुर्गन्धित पदार्थों से बचना है, जिससे साधना मे विघ्न-बाधा न हो।

२. **अप्-शौच**—जल द्वारा शरीर को, हाथो को, पैरों को, वस्त्रों को या भूमि को साफ करना, पात्रादि को पानी से धोकर उसकी मलिनता को दूर करना जल-शौच है।

३ **तेज:शौच**—धातु-पात्रो को भस्म से मांजकर शुद्धि की जाती है, रत्नकंबल को अग्नि मे डालकर शुद्ध किया जाता है, किसी धातु मे यदि विजातीय तत्त्व मिला हुआ हो तो उसे अग्नि मे डाल कर ही शुद्ध किया जाता है। कुछ खाने-पीने के पदार्थ भी अग्नि द्वारा शुद्ध होते है।

४ **मन्त्र-शौच**—मत्र से होने वाली शुद्धि जैसे किसी अस्पृश्य को मत्र के द्वारा शुद्ध किया जाता है। किसी मकान एव स्थान आदि को भी मत्र के द्वारा शुद्ध किया जाता है जिससे कि वह व्यन्तर आदि देवों के प्रकोपादि से शान्त एव पवित्र हो सके।

यद्यपि मन्त्र-शौच को द्रव्य शौच माना गया है, परन्तु इसे भाव-शौच भी कहा जा सकता है, क्योंकि मन्त्र-जप से मानसिक शुद्धि प्रसिद्ध है। जब मनुष्य का मन अपवित्र होता है तो बाहरी पवित्रता का भी ध्यान नही रहता, प्राय: मानसिक दूषणो से युक्त लोगो को पवित्रता से दूर रहते ही देखा गया है। मन्त्र मानसिक शुद्धि का विधायक है, अत: मन्त्र-शौच को भाव-शौच भी कहा जा सकता है।

५. **ब्रह्म-शौच**—आन्तरिक मल को दूर करने वाले अहिसा, सत्य, अस्तेय, सतोष, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-सयम, कषाय-निग्रह और तप आदि साधनों को ब्रह्म कहते है। ब्रह्म के द्वारा होने वाली आत्म-शुद्धि को ब्रह्म-शौच कहा जाता है।

उपर्युक्त पांच प्रकार के शौच का वर्णन एक अन्य प्रकार से भी प्राप्त होता है, जैसे कि—

"सत्यं शौचं तप. शौचं शौचमिन्द्रियनिग्रह:।
सर्वभूतदयाशौचं जलशौचञ्च पञ्चमम्॥"

सत्य, तप, इन्द्रिय-निग्रह और प्राणी मात्र पर करुणा ये चार भाव-तप हैं, क्योंकि इनसे भावनाए शुद्ध होती हैं और पांचवा जल-शौच है जो बाहरी शुद्धि का विधायक है। लौकिक दृष्टि से सात प्रकार के शौच माने गए है जो निम्नलिखित चार श्लोकों मे वर्णित है, जैसे कि—

''सप्त स्नानानि प्रोक्तानि स्वयमेव स्वयंभुवा।
द्रव्य-भाव-विशुद्ध्यर्थमृषीणां ब्रह्मचारिणाम्॥१॥
आग्नेयं वारुण ब्राह्मं वायव्यं दिव्यमेव च।
पार्थिवं मानसं चैव स्नानं सप्तविधं स्मृतम्॥२॥
आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्यं तु वारुणं।
आपोहिष्ठामयं ब्रह्मं वायव्यं तु गवा रजः॥३॥
सूर्यदृष्टं तु यद्दृष्टं तद्दिव्यमृषयो विदुः।
पार्थिवं तु मृदा स्नान, मन·शुद्धिस्तु मानसम्॥४॥

अर्थात् ऋषियों और ब्रह्मचारियों की मानसिक और बाह्य शुद्धि के लिए स्वयंभू ने सात स्नान बतलाए हैं, जैसे कि—आग्नेय, वारुण, ब्राह्म, वायव्य, दिव्य, पार्थिव और मानस।

भस्म से स्नान करना आग्नेय स्नान है, जल से स्नान करना वारुणस्नान है, जो स्नान मंत्र से किया जाता है वह ब्रह्म स्नान माना जाता है, गोधूलि से होने वाला स्नान वायव्य स्नान कहलाता है, सूर्य की आतापना लेनी दिव्यस्नान है, मिट्टी से होने वाला स्नान पार्थिव स्नान है और मन की शुद्धि के लिए तप, स्वाध्याय, सयमशीलता, अहिसा आदि के रूप में भावनाओं की पावनता रूप जल से किया जाने वाला स्नान मानस-स्नान कहलाता है।

इस विषय में शका उत्पन्न हो सकती है कि वायु और सूर्य की किरणो से जो ऋषियो ने शौच कहा है उसका उल्लेख प्रस्तुत सूत्र मे क्यो नही किया गया? समाधान मे कहा जा सकता है कि उक्त दोनो प्रकार के शौच कथित पाच शौचो में ही समाविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि सूर्य का विमान पृथ्वीमय है, उसकी किरणें शुचि रूप होने से पार्थिव शौच मे ही परिणित होती हैं। जैसे लोग मिट्टी के लेप से भूमि की शुद्धि करते है वैसे ही यथोचित स्थान पर सूर्य की रश्मियो से शुद्धीकरण माना जाता है। वायुशौच का अन्तर्भाव तेज·-शौच में हो जाता है, क्योकि वायु के बिना अग्नि प्रदीप्त नही होती, अग्नि का जीवन वायु के बिना नहीं रह सकता। आगमकार भी इस विषय मे कहते है—

इंगाल कारियाए ण भंते! अगणिकाए केवइय कालं संचिट्ठइ? गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्केसेण तिन्नि राइंदियाइं, अन्ने वि तत्थ वाउयाए वक्कमइ, न विणा वाउयाएणं अगणिकाय उज्जलइ।[१]

१ भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशक पहला सूत्र ५६२

अर्थात् अग्नि का वायु से अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है, अत: तेजस्काय के ग्रहण करने से वायुकाय का स्पर्श सदा-सर्वदा रहता ही है। उसके बिना किसी का कोई काम नहीं चलता है। यदि गो-रज को शुद्धि का कारण माना जाए तो वह भी मिट्टी ही है, मिट्टी के अतिरिक्त रज कोई अन्य पदार्थ नही है। पृथ्वी-शौच का वर्णन सूत्रकार ने स्वयं कर दिया है, अत: शौच की पंचविधता सर्वमान्य कही जा सकती है।

असीम और नि:सीम ज्ञान

मूल—पंच ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं ण जाणइ, ण पासइ, तं जहा— धम्मत्थिकायं, अधम्मत्थिकायं आकासत्थिकायं, जीवं असरीरपडिबद्धं, परमाणुपोग्गलं, एयाणि चेव उप्पन्ननाणदंसणधरे, अरहा जिणे केवली सव्वभावेणं जाणइ, पासइ, धम्मत्थिकायं जाव परमाणुपोग्गलं॥६५॥

छाया—पञ्चस्थानानि छद्मस्थ: सर्वभावेन न जानाति, न पश्यति, तद्यथा— धर्मास्तिकायम्, अधर्मास्तिकायम्, आकाशास्तिकायं, जीवमशरीरप्रतिबद्धं, परमाणुपुद्गलम्। एतानि चैवोत्पन्नज्ञानदर्शनधरोऽर्हन् जिन: केवली सर्वभावेन जानाति, पश्यति, धर्मास्तिकायं यावत् परमाणुपुद्गलम्।

शब्दार्थ—पंच ठाणाइं—पाच स्थानो को, **छउमत्थे**—छद्मस्थ, **सव्वभावेणं**—पूर्ण रूप से, **ण जाणइ**—नही जानता, **ण पासइ**—नही देख पाता, **तं जहा**—जैसे, **धम्मत्थिकायं**— धर्मास्तिकाय को, **अधम्मत्थिकायं**—अधर्मास्तिकाय को, **आकासत्थिकाय**— आकाशास्तिकाय को, **जीवं असरीरपडिबद्धं**—शरीर-रहित जीव को, **परमाणुपोग्गलं**— परमाणु पुद्गल का, **एयाणि चेव**—इन्ही को, **उप्पन्ननाण दंसणधरे**—उत्पन्न केवलज्ञान दर्शन के धारण करने वाले, **अरहा**—अर्हन्, **जिणे**—जिन, **केवली**—केवली, **सव्वभावेण**— सर्व भाव से, **जाणइ**—जानते है और, **पासइ**—देखते है, **धम्मत्थिकायं जाव परमाणुपोग्गल**— धर्मास्तिकाय से लेकर परमाणु-पुद्गल तक सभी पदार्थो को।

मूलार्थ—छद्मस्थ पांच वस्तुओं को सर्वभाव से नहीं जानता और न ही देख पाता है, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, शरीर के बन्धनो से मुक्त जीव और परमाणु पुद्गल। उक्त पाचो वस्तुओ को उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक अर्हन्, जिन और केवली धर्मास्तिकाय से लेकर परमाणु पुद्गल तक सर्वभाव से जानते और देखते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में द्रव्य-शौच और भाव-शौच का वर्णन किया गया है। द्रव्य-शौच परम्परया भाव-शौच में सहायक है। भाव-शौच की अवस्था प्राप्त होने पर जीव पुण्य-पथ एवं आत्म-साधना की ओर गतिशील हो उठता है। पुण्य-पथ और आत्म-साधना

के मार्ग पर चलता हुआ साधक उस अवस्था में पहुंच जाता है जबकि उसकी ज्ञान-सीमा का विस्तार होने लगता है। जब तक उसे पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो जाती तब तक वह साधक 'छद्मस्थ' कहलाता है। इस छद्मस्थ अवस्था मे उसकी ज्ञान सीमा विस्तृत हो जाने पर भी कुछ ऐसे पदार्थ होते है जिन्हे वह प्रत्यक्ष नही कर पाता, प्रस्तुत सूत्र मे छद्मस्थ साधक की सीमा से बाहर रहने वाले उन्ही पाच पदार्थो का बोध कराते हुए सूत्रकार यह भी निर्देश कर देते हैं कि ये पाच पदार्थ पूर्ण ज्ञानी केवली की ज्ञान-सीमा से बाहर नही रह पाते, वह उन्हें 'करामलकवत्' प्रत्यक्ष देखने लगता है। जैसे कि—

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, शरीर-रहित जीव और परमाणु पुद्गल। इनका साक्षात्कार छद्मस्थ जीव नहीं कर सकता। इनमें पहले चार पदार्थ अमूर्त एव अरूपी है, किन्तु अति सूक्ष्म होने से परमाणु पुद्गल मूर्त एव रूपी होने पर भी उसके साक्षात्कार का विषय नही बन पाता, क्योकि उसकी ज्ञान-सीमा सीमित होती है और पुद्गल प्रत्येक क्षण मे अपना रूप बदलता रहता है, उसकी एक सी अवस्थिति नही होती।

जिसको केवल ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो गया है ऐसे अरिहत, जिन, केवली इन पदार्थो का सभी रूपों में साक्षात्कार करते है। उन सर्वज्ञ महापुरुषों के ज्ञानालोक मे कुछ भी अदृश्य एवं अवर्ण्य नही रह जाता है।

परमावधि ज्ञानी और विपुल मन पर्यवज्ञानी भी परमाणु-पुद्गल का कथचित् प्रत्यक्ष कर सकते है, किन्तु वे भी सर्वभाव से उनको न जान सकते है और न ही देख सकते है। श्रुतकेवली भी परमाणु पुद्गल को यत्किचित् जानते और देख पाते है, किन्तु सर्वभाव से नही। अतीत काल मे परमाणु पुद्गल के अनन्त रूप बदल चुके हैं और भविष्य मे भी उसने अनन्त रूपों मे परिवर्तित होना होता है। परमाणु-पुद्गल अतीत में कौन-कौन से रूप धारण कर चुका है और भविष्य मे किन-किन रूपो मे परिवर्तित होगा, इस विषय का साक्षात्कार केवल अनन्तज्ञानी जिनेश्वर ही कर सकते हैं, साधारण छद्मस्थ ज्ञानी नही।

महानरकावास और महाविमान

मूल—अहोलोए णं पंच अणुत्तरा महइमहालया महानिरया पण्णत्ता, तं जहा—काले, महाकाले, रोरुए, महारोरुए, अप्पइट्ठाणे।

उड्ढलोए णं पंच अणुत्तरा महइमहालया महाविमाणा पण्णत्ता, तं जहा—विजये, वेजयंते, जयन्ते, अपराजिए, सव्वट्ठसिद्धे ॥ ६६॥

छाया—अधोलोके पञ्च अनुत्तरा महातिमहान्तो महानिरयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कालः, महाकाल·, रोरुकः, महारोरुकः, अप्रतिष्ठानः।

ऊर्ध्वलोके पञ्च अनुत्तरा महातिमहान्तो विमानाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा— विजयः, वैजयन्तः, जयन्तः, अपराजितः, सर्वार्थसिद्धः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—अधोलोक में पाच अनुत्तर अर्थात् प्रधान अत्यन्त विशाल महानरक कथन किए गए हैं जैसे—काल, महाकाल, रोरुक, महारोरुक, अप्रतिष्ठान।

ऊर्ध्वलोक में पांच अनुत्तर और अत्यन्त विशाल महाविमान कथन किए गए हैं, जैसे— विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्ध।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में छद्मस्थ और केवलज्ञान-सम्पन्न जिनेश्वरदेव की ज्ञान-सीमाओं का परिचय दिया गया है। प्रस्तुत सूत्र मे अनन्त ज्ञानी जिनेश्वर देव के ज्ञान की अनन्तता का परिचय देने के लिए सूत्रकार उनकी दूरदर्शिनी दृष्टि का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते है कि वे एक ही स्थान पर रहते हुए निम्नतम प्रदेशो मे अवस्थित नरकावासों को और ऊर्ध्वतम प्रदेशो में अवस्थित देव-विमानो को भी प्रत्यक्ष कर लेते हैं, अत: उन्होंने निम्नतम महानरकावासों की संख्या और ऊर्ध्वस्थित महाविमानों की सख्या का निर्देश करते हुए बतलाया है कि उनकी संख्या पाच-पाच है। नीचे लोक मे सात पृथ्विया है और उनमें सात नरक है। सातवां नरक सातवी पृथ्वी पर है और उसमे पाच नरकावास है। पूर्व दक्षिणादि चार दिशाओ मे क्रमश: काल, महाकाल, रौरव और महारौरव नरकावास हैं, जिनकी लम्बाई-चौड़ाई असंख्यात-असख्यात योजनो की है। उनके ठीक मध्य भाग मे अप्रतिष्ठान नरकावास है।

ये नरक अपनी विशालता की दृष्टि से तो बहुत बड़े है ही साथ ही पापी जीवो को जितनी वेदना की अनुभूति इन पाच नरकावासो मे होती है, उतनी अन्य किसी नरकावास मे नही, अत: सूत्रकार ने इन्हे 'अनुत्तर महातिमहान्त' कहा है। इनसे बढ कर अन्यत्र वेदना नही है अत: ये 'अनुत्तर हैं और विस्तार की अपेक्षा बहुत बडे होने से 'महातिमहान्त' है।

इसी प्रकार ऊर्ध्वलोको मे पाच अनुत्तर विमान है जिनके नाम हैं विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध। पहले के चार महाविमान चार दिशाओ मे हैं, पाचवा महाविमान उनके मध्य मे अवस्थित है। उनमें रहने वाले देव जितने सुखी है अन्य किसी देवलोक मे उतने सुखी देव नहीं हैं, अतएव उन्हें भी 'अनुत्तर एवं महातिमहान्त' बतलाया गया है।

पुरुष-प्रकृति

मूल—पंच पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा हिरिसत्ते, हिरिमणसत्ते, चलसत्ते, थिरसत्ते, उदयणसत्ते॥ ६७॥

छाया—पञ्च पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा ह्रीसत्वः, ह्रीमनःसत्वः, चलसत्वः, स्थिरसत्वः, उदयनसत्वः।

शब्दार्थ—पंच पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—पांच प्रकार के पुरुष वर्णन किए गए

हैं, जैसे, **हिरिसत्ते**—लज्जा के कारण सत्व को धारण करने वाला, **हिरिमणसत्ते**—लज्जा के कारण मात्र मन मे ही सत्व धारण करने वाला, **चलसत्ते**—अस्थिर सत्व वाला, **थिरसत्ते**—स्थिर सत्व वाला, **उदयणसत्ते**—वृद्धि पाये हुए सत्व को धारण करने वाला।

मूलार्थ—पाच प्रकार के पुरुष कथन किए गए है, जैसे—लज्जा के कारण संकट में भी शक्ति एव साहस रखने वाला। लज्जा के कारण शरीर मे तो नहीं, किन्तु मन मे सत्व रखने वाला, चल सत्व वाला, स्थिर सत्व वाला, वृद्धिशील सत्व वाला।

विवेचनिका—अनुत्तर नरक में और अनुत्तर-विमान में विशिष्ट शक्ति वाले पुरुष ही गमन करते है, अत: इस सूत्र मे पांच प्रकार के सत्वों अर्थात् शक्तियो का वर्णन किया गया है। जो सयमी परीषहों के आने पर लज्जावश सयम मे स्थिर रहता है वह ह्रीसत्व कहलाता है, अथवा जो योद्धा रणभूमि मे लज्जावश स्थिर रहता है उसे भी ह्रीसत्व ही कहते हैं। जिस व्यक्ति के केवल मन में लज्जा है, परन्तु वह शरीर द्वारा उसे व्यक्त नही होने देता, वह ह्रीमन:सत्व कहलाता है। जिसका सत्व अर्थात् बल अस्थिर होता है वह प्राणी चल-सत्व कहलाता है। जिसका सत्व स्थिर होता है उसे अचल सत्व कहते हैं और जिसका सत्व उदीयमान है या अनन्त शक्ति-युक्त है वह उदयन सत्व माना जाता है।

स्थिर-सत्व और उदयन-सत्व ये दोनो उत्कृष्ट कहे जाते हैं। ह्रीसत्व और ह्रीमन:सत्व ये दोनो मध्य सत्व माने गए है, किन्तु चल सत्व वाले जीव किसी भी कार्य के करने में सफल नहीं हो सकते, अत: धर्म-क्रिया के करने मे चल सत्व को छोडकर शेष चार सत्वो की आवश्यकता रहती है और ये चारो ही न्यूनाधिक सफलता प्राप्त कर लेते है। चल सत्व धर्म-क्रियाओं मे तो क्या, कहीं भी सफल नही हो पाता।

मत्स्योपम भिक्षु

मूल—पंच मच्छा पण्णत्ता, तं जहा—अणुसोयचारी, पडिसोयचारी, अंतचारी, मज्झचारी, सव्वचारी। एवमेव पंच भिक्खागा पण्णत्ता, तं जहा—अणुसोयचारी जाव सव्वसोयचारी॥६८॥

छाया—पञ्च मत्स्या: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अनुस्रोतचारी, प्रतिस्रोतचारी, अन्तश्चारी, मध्यचारी, सर्वचारी। एवमेव पञ्च भिक्षाका: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अनुस्रोतचारी यावत् सर्वस्रोतचारी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पांच प्रकार के मत्स्य कथन किए गए हैं, जैसे—अनुकूल प्रवाह में चलने वाला, प्रतिकूल प्रवाह मे चलने वाला, प्रवाह में ऊपर की ओर चलने वाला,

प्रवाह के बीचों-बीच चलने वाला, सर्वप्रकार से चलने वाला। इसी तरह पांच प्रकार के भिक्षु कथन किए गए हैं, जैसे—निवास-स्थान से यथाक्रम आने वाले गृहों से भिक्षा करने वाला, निवास-स्थान से सीधा आगे जाकर फिर वापसी के क्रम से गृहों से भिक्षा करने वाला, एक पार्श्व-भाग के गृहों से भिक्षा करने वाला, बीच के गृहों से भिक्षा करने वाला और समस्त पद्धतियो से भिक्षा करने वाला।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में ही-सत्व आदि पांच प्रकार के सत्व-सम्पन्न व्यक्तियों का वर्णन किया गया है। सत्व-सम्पन्न व्यक्ति ही भिक्षु बन सकता है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे दृष्टान्त मच्छ के माध्यम से दार्ष्टान्तिक भिक्षु की भिक्षावृत्ति की पचविधता वर्णित की गई है। जैसे कि जो मच्छ प्रवाह के अनुकूल चलने के स्वभाव वाला होता है वह अनुस्रोतचारी है, स्रोत के प्रतिकूल चलने वाला मच्छ प्रतिस्रोतचारी कहलाता है। किनारों के आस-पास चलने वाला मच्छ अतश्चारी कहलाता है, जो जल के न ऊपर, न नीचे, न आस-पास, केवल जल के मध्य मे चलता है, वह मध्यचारी और जो कभी प्रवाह के अनुकूल, कभी प्रवाह से प्रतिकूल, कभी तीर के आस-पास और कभी मध्य मे सभी प्रकार की गति करने वाला होता है वह सर्वचारी कहलाता है।

मत्स्य की तरह भिक्षु भी पाच प्रकार के होते है—

१. कुछ भिक्षु जब गली-कूचे में प्रवेश करते है तब पहले घर से लेकर भिक्षा लेते हुए मोहल्ले के दूसरे छोर तक चले जाते है, ऐसे भिक्षु अनुस्रोतचारी मत्स्य के समान होते है।

२ कुछ भिक्षु गली-मोहल्ले के अन्तिम छोर पर पहुच कर वापसी मे भिक्षा लेना प्रारंभ करते है वे भिक्षु प्रतिस्रोतचारी मत्स्य के समान होते है।

३ कुछ भिक्षु गली के दोनो ओर घरो से भिक्षा करने वाले होते हैं वे अन्तश्चारी मत्स्य के समान होते है अथवा गली के दोनो छोरो में रहे घरो का ही स्पर्श करते है मध्य के नही, वे भी अन्तश्चारी माने जाते हैं।

४. कुछ भिक्षु गली मे मध्य के घरो से ही भिक्षा ग्रहण करते हैं, वे मध्यचारी मत्स्य के समान भिक्षु हुआ करते हैं। कुछ घर अनेक मंजिलो वाले होते है, कुछ घर नीचे, कुछ मध्य में और कुछ ऊपर की मंजिल में हुआ करते हैं, उनमे मध्य की मंजिलों के घरों की स्पर्शना करने वाले भिक्षु भी उक्त भेद में समाविष्ट हो जाते हैं।

५ कुछ भिक्षु सभी प्रकार से भिक्षा ग्रहण करते हैं, वे सर्वचारी मत्स्य के समान होते हैं। भिक्षु के लिए 'वृत्ति-संक्षेप' तप भी आवश्यक माना गया है। इस वृत्ति-सक्षेप से भिक्षु प्राय: ''मैं अमुक प्रकार के घरो से ही भिक्षा लूंगा'', इस प्रकार का अभिग्रह धारण कर लेते है। वस्तुत: उपर्युक्त तप गृहों का आश्रय लेकर किए जाने वाले अभिग्रह विशेष का ही अपर नाम है।

पंच-विध याचक

मूल—पंच वणीमगा पण्णत्ता, तं जहा—अतिहिवणीमए, किविण-वणीमए, माहणवणीमए, साणवणीमए, समणवणीमए॥ ६१॥

छाया—पञ्च वनीपकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अतिथिवनीपकः, कृपणवनीपकः, ब्राह्मणवनीपकः, श्वावनीपकः, श्रमणवनीपकः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पाच प्रकार के वनीपक अर्थात् याचक कथन किए गए है, जैसे—अतिथि-वनीपक, कृपण-वनीपक, ब्राह्मण-वनीपक, श्वा-वनीपक और श्रमण-वनीपक।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में भिक्षावृत्ति का आश्रय लेकर भिक्षु के पांच रूपों पर प्रकाश डाला गया है, प्रस्तुत सूत्र में पुनः भिक्षावृत्ति के आधार पर याचको का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। 'वणीमय' शब्द का संस्कृतरूप वनीपक है। किसी व्यक्ति के सम्मुख अपनी दुर्दशा दिखाकर गिडगिडा कर याचना करते हुए जो कुछ द्रव्य मिलता है उसे 'वनी' कहा जाता है। 'वनी' का उपभोग करने वाला 'वनीपक' माना जाता है। अथवा दाता जिन्हे कुछ देना अपना कर्त्तव्य समझता है, अथवा श्रद्धेय व्यक्ति दाता के माने हुए जो अतिथि आदि हो अपने को उनका भक्त बताकर जो आहार मागता है, वह भिक्षु वनीपक कहलाता है।'

वनीपक भी पाच प्रकार के होते है, जैसे कि—

१. अतिथिवनीपक—भोजन के समय जो अचानक उपस्थित हो जाता है वह अतिथि कहलाता है। जब वह अतिथि दान की प्रशंसा करके अपने भक्त को दान के लिए तैयार करता है तब वह अतिथि वनीपक है। वह दाता के सामने कहता है कि ''उपकारी के लिए, परिचित जन के लिए या सेवा करने वाले के लिए जो कुछ दिया जाता है, वह दान नहीं है। जो मार्ग से चल कर आया हो, खेद-खिन्न हो, उसे प्रत्युपकार की आकांक्षा से रहित होकर जो आहार आदि देता है वस्तुतः वही दान है।'' इस प्रकार की प्रशसावलिया गा कर आहार आदि प्राप्त करने वाला अतिथि वनीपक कहलाता है।

२. कृपणवनीपक—निर्धन, दीन-दुखी को कृपण कहा जाता है। ''जिसका कोई बधु नही है, जो किसी आतंक से आतकित है, अंग-उपाग से हीन है, रोग से ग्रस्त है, इस प्रकार के दीनहीन दुखी को दान देने से महाफल होता है।'' इस प्रकार की वाक्यावलियों द्वारा कृपण-दान की प्रशसा करके भोजन आदि लेने वाला और उपभोग करने वाला कृपणवनीपक कहलाता है।

---

१ ''परेषामात्मदु.स्थत्वदर्शनेनानुकूलभाषणतो यल्लभ्यते द्रव्य मा वनी प्रतीता, ता पिवति–आस्वादयति, पातीति वेति वनीप , स एव वनीपको याचकः।'' *–इति वृत्तिकारः।*

३. ब्राह्मणवनीपक—जो देने वाला ब्राह्मणों का भक्त है उसके आगे ब्राह्मण दान की प्रशसा करके भोजन आदि लेने वाला ब्राह्मणवनीपक कहलाता है। अथवा जो ब्राह्मण के लिए दिए जाने वाले दान की प्रशसा करता हुआ भिक्षा के लिए परिभ्रमण करता है वह भी ब्राह्मण-वनीपक है। ऐसे लोग प्राय: यह कहा करते हैं कि 'ब्राह्मण लोक में अनुग्रह करने वाले भूदेव है, वे अपने यजमानों की रक्षा करते हैं, षट्-कर्म-परायण ब्राह्मण को दान देने से गृहस्थ महाफल प्राप्त करता है। ऐसी प्रशसा करके भोजन करने वाले सब ब्राह्मणवनीपक माने जाते हैं।

४. श्वावनीपक—श्वा कुत्ते को कहा जाता है, उपलक्षण से कौआ आदि भी श्वापद से ग्राह्य माने जाते हैं। भोजन के समय उपस्थित होने वाले कुत्ते आदि भी दरवेश समझे जाते हैं अथवा कुत्ते-कौए आदि को आहार आदि देने मे पुण्य समझने वाले दाता के आगे फल की प्रशंसा करके आहार आदि लेने वाला या भोगने वाला मानव भी श्वावनीपक कहलाता है।

५. श्रमणवनीपक—श्रमण शब्द पाच अर्थो मे व्यवहृत होता है, जैसे कि शाक्य, तापस, गैरिक, आजीवक तथा निर्ग्रन्थ। इनमें निर्ग्रन्थ वनीपक में गर्भित नही होता है। शेष सभी वनीपक है। जो साधुवृत्ति से रहित होकर केवल वेष के द्वारा जीवन-निर्वाह करने वाले हैं, वे भी इसी कोटि मे आ जाते है। जो दाता श्रमणों का भक्त एवं उपासक है उसके आगे जो श्रमण-दान की प्रशंसा करते हुए कहता है कि ''जो प्राणी विषयलोलुपी है, उन्हें दिया हुआ दान भी जब नष्ट नहीं होता तो श्रमणो को दिया हुआ दान कैसे नष्ट हो सकता है?'' इस प्रकार दान की प्रशसा करके आहार आदि प्राप्त करने वाला श्रमणवनीपक कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि साधुवृत्ति का सम्यक् रूप से पालन करने वाला साधक वनीपक नहीं कहा जा सकता। प्रशंसावृत्ति से एवं साधुवेश के आधार पर प्राप्त होने वाले आहार-पानी से जीवन-निर्वाह करने वाला ही श्रमण-वनीपक कहलाता है।

अचेलक की प्रशस्तता

मूल—पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवइ, तं जहा—अप्पा-पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुन्नाए, विउले इंदियनिग्गहे ॥७०॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैरचेलकः प्रशस्तो भवति, तद्यथा—अल्पाप्रतिलेखा, लाघविकं प्रशस्तं, रूपं वैश्वसिकं, तपोऽनुज्ञातं, विपुलइन्द्रियनिग्रहः।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणो से, **अचेलए**—अचेलक, **पसत्थे भवइ**—प्रशंसनीय होता है, **तं जहा**—जैसे कि, **अप्पा पडिलेहा**—उसकी प्रतिलेखना अल्प है, **लाघविए पसत्थे**—लघुता प्रशस्त है, **रूवे वेसासिए**—रूप विश्वसनीय है, **तवे अणुन्नाए**—

तप जिनाज्ञा-स्वीकृत है, **विउले इंदियनिग्गहे**—इन्द्रिय-निग्रह महान् है।

मूलार्थ—पाच कारणों से अचेलक मुनि प्रशंसनीय होता है, जैसे—उसकी प्रतिलेखना अल्प होती है, लघुता प्रशस्त होती है, रूप-वेषभूषा विश्वसनीय होता है, जिनाज्ञा-सम्मत तप होता है और इन्द्रियों का निग्रह भी महान्-उत्कृष्ट होता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे वनीपक का वर्णन किया गया है, वनीपक शब्द उसी भिक्षु के लिए प्रयुक्त होता है जो द्रव्यापेक्षा से भिक्षु बना हुआ है, इसलिए द्रव्यभिक्षु का वर्णन करने के अनन्तर अब शास्त्रकार भाव-भिक्षु का वर्णन करते है। भिक्षु अचेलक होता है। अचेलक शब्द मे नञ् समास स्वल्प एव कुत्सित अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। जो मुनि स्वल्प वस्त्र रखता है और अल्पमूल्य वाले जीर्ण एवं विभूषा-रहित वस्त्रो को धारण करता है उसे अचेलक कहा जाता है। जिनकल्पी मुनि रजोहरण और मुखवस्त्रिका-**मुखपत्ती** इन दो उपकरणों को छोडकर शेष वस्त्रों का त्याग करते है। कहा भी है "**रजोहरणमुखवस्त्रिका-रूपद्विविधोपकरणधारकः।**"

नञ् समास देशनिषेधक और सर्व-निषेधक इस तरह दो प्रकार का होता है। स्थविर-कल्पी साधु परिमाण और मूल्य मे स्वल्प वस्त्रों का उपयोग करता है वह भी अचेलक है और जो जिनकल्पी होता है, वह मुखपत्ती और रजोहरण के अतिरिक्त अन्य कोई वस्त्र ग्रहण नही करता वह भी अचेलक कहलाता है। अचेलक साधु कोई भी है उसकी पांच बाते प्रशंसनीय कही गई हैं—

१ **अल्पप्रतिलेखना**—प्रतिलेखना करने योग्य उपधि अर्थात् वस्त्र, रजोहरण आदि जिसके अत्यल्प होते है, उनके प्रतिलेखन करने मे अधिक कालक्षेप नही होता, उनका समय अधिकतर स्वाध्याय-ध्यान आदि करने में ही व्यतीत होता है।

२ **लाघविक प्रशस्त**—अचेलक मुनि द्रव्य और भाव-उपधि से हल्का होता है। जो बाहर के उपकरणो से हल्का होता है वह कर्मों से भी हल्का होता जाता है। भीतर और बाहर दोनो से हल्का रहना रूप कार्य भी प्रशसनीय है।

३. **रूपवैश्वसिक**—निर्लोभता की सूचक होने से अचेलकता प्राणी मात्र के लिए विश्वासजनक है। उसका साधु वेष ही सिद्ध करता है कि यह साधु सतोषी एव निस्पृह है, अत: साधु का रूप वैश्वसिक होने पर ही साधुता प्रशंसनीय होती है।

४ **तप-अनुज्ञात**—अत्यल्प उपकरण रखने से या बिल्कुल न रखने से मनोवृत्तियां तपस्या मे विशेष लीन होती हैं, तभी वह तप तीर्थकर आदि के द्वारा अनुमोदित हो सकता है। उपकरण कम रखना द्रव्य ऊनोदरी तप है और उसका सर्वथा त्याग करना व्युत्सर्गतप है। साधु का धन तप ही है अत: यह तप भी प्रशंसनीय है।

५ **विपुलइन्द्रियनिग्रह**—वस्त्र न रखने से या कम रखने से इन्द्रियो का निग्रह विपुल-मात्रा में होता है, क्योंकि शीत, वात, आतप, दंश, मशक आदि परीषह सहन करने से

इन्द्रियों का निग्रह स्वतः हो जाता है।

सूत्रकार ने पांच पदो के साथ पांच विशेषण दिये है, जैसे कि प्रतिलेखन के साथ अल्प, लाघव के साथ प्रशस्त, रूप वेष के साथ वैश्वसिक, तप के साथ अनुज्ञात और इन्द्रिय-निग्रह के साथ विपुल। ये पांच विशेषण साधु की कर्त्तव्यनिष्ठा एवं त्याग की अनिवार्यता व्यंजित कर रहे हैं। अल्प संग्रह होने पर ही अल्प प्रतिलेखना होती है, अतः अल्प प्रतिलेखना के लिए अल्प संग्रह अनिवार्य है। शास्त्रकार ने लाघव विशेषण से उसकी नम्रता एव निरहकारिता आदि को प्रशस्त बता कर साधु-जीवन मे इन गुणों की अपेक्षा की है। उसकी वेशभूषा द्वारा उसके चारित्रिक गुणों की प्रशस्तता का भी संकेत किया है। साधु-जीवन में तप का भी महत्त्व है, परन्तु वह तप शास्त्रानुमोदित हो तभी प्रशस्त माना जा सकता है, अन्यथा नही। उसका इन्द्रियनिग्रहरूप अनुष्ठान अधिकाधिक होना चाहिए तभी वह प्रशसनीय हो सकता है, अतः साधु को अपने इन प्रशसनीय गुणों की रक्षा सदैव करनी चाहिए।

पंचविध-उत्कल

मूल—पंच उक्कला पण्णत्ता, तं जहा—दंडुक्कले, रज्जुक्कले, तेणुक्कले, देसुक्कले, सव्वुक्कले॥७१॥

छाया—पञ्चोत्कलाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—दण्डोत्कलः, राज्योत्कलः, स्तेनोत्कलः, देशोत्कलः, सर्वोत्कलः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पांच उत्कल अथवा उत्कट कथन किये गए है, जैसे—दण्ड से उत्कट अर्थात् महान अथवा दण्ड से वृद्धि पाने वाला, राज्य से उत्कट अथवा राज्य से वृद्धि पाने वाला, देश से उत्कट अथवा देश से वृद्धि पाने वाला, चोरो से उत्कट अथवा चोरो से वृद्धि पाने वाला, उपर्युक्त सभी से उत्कट अथवा सब से वृद्धि पाने वाला।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे पाच प्रशसनीय कार्य बतलाए गए हैं जिनमे अन्तिम प्रशसनीय कार्य है इन्द्रिय-निग्रह। इन्द्रिय-निग्रह करने वाला उत्कट अर्थात् महान् बन जाता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में पचविध उत्कटों का वर्णन किया गया है।

सूत्रकार ने उक्कल शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द के दो संस्कृत रूप बनते हैं—उत्कट और उत्कल। उत्कट शब्द का अर्थ है कठिनतम व्यवहार और उत्कल शब्द का अर्थ है महान्। सूत्रकार को 'उक्कल' शब्द के दोनो रूप एवं दोनों अर्थ अभीष्ट हैं, अतः दोनों अर्थों को लक्ष्य मे रखकर 'उक्कल' के 'दडुक्कले' आदि पांच रूप प्रस्तुत किए गए हैं, जैसे कि—

१. दंडुक्कल—'दण्ड' शब्द का अर्थ है आज्ञा। गुरुजनो की कठोर से कठोर आज्ञा का पालन करने वाला साधक 'दण्डोत्कट' कहलाता है। दण्ड शब्द का अर्थ अनुशासनात्मक कार्यवाही भी हो सकता है, इस अर्थ को लक्ष्य मे रखकर उस साधक को 'दण्डोत्कट' कहा जाएगा जो गुरुजनों द्वारा किसी भी प्रकार का प्रायश्चित्त आदि देने पर उसे सहर्ष स्वीकार करता है, विहित दण्ड का सविधि पालन करता है और इस प्रकार कठोर साधना करता हुआ महान् बनने का प्रयास करता है।

आत्म-प्रेरणा से महत्ता के मार्ग पर न बढकर जो गुरुजनो के कठोर अनुशासन के कारण महान् बनने का प्रयास करता है उसे भी 'दण्डोत्कट' ही कहा जाएगा।

व्यावहारिक पक्ष मे कठोर अनुशासन मे रह कर कार्य करने वाले सैनिको, आरक्षकों (पुलिस के व्यक्तियो) आदि को भी दण्डोत्कट कहा जाता है।

२ रज्जुक्कल—जो व्यक्ति राजकीय प्रभुता के बल पर कठिन कार्य करता है, अथवा राज्य सम्मान एव राजकीय प्रतिष्ठा के कारण समाज मे जो महान् माना जाता है उसे 'राज्योत्कल' कहा जाता है।

३. तेणुक्कल—जो व्यक्ति चोरो एवं डाकुओ के साथ के कारण कठिन से कठिन कार्य करता है, महान् साहसिक कार्यों के लिए उद्यत रहता है अथवा जो व्यक्ति चोरो, डाकुओ का सरदार है और उसी में अपनी महत्ता समझता है ऐसा व्यक्ति ''स्तेनोत्कल'' कहलाता है।

४. देसुक्कल—जो व्यक्ति किसी देश विशेष के या स्थान-विशेष के प्रभाव से कठिन श्रम करने वाला है जैसे कि पजाब के लोग विशेष परिश्रमशील माने जाते है, राजस्थान के ठाकुरों की युद्ध-वीरता सर्वमान्य है, ऐसे ही लोग देशोत्कल कहलाते है। स्थान-विशेष के प्रभाव से ही महत्ता प्राप्त करने वाले भी देशोत्कल कहलाते हैं, क्योंकि ''स्थान प्रधानं न बलप्रधान'' स्थान ही प्रधान होता है बल नही, की उक्ति प्रसिद्ध है।

५. सव्वुक्कल—जो व्यक्ति सभी प्रकार से श्रमशील है एव सभी रूपो से महान् है उसे 'सर्वोत्कल' कहा जाता है।

इस सूत्र द्वारा सूत्रकार देश-काल एव सगति आदि के प्रभाव को स्पष्ट करना चाहते है, अत· साधना-पथ पर चलने वाले व्यक्ति को इन समस्त दृष्टिकोणों पर विचार करके ही आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिए।

पांच समितियां

मूल—पंच समिईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—ईरियासमिई, भासा-समिई, जाव पारिठावणियासमिई ॥ ७२॥

छाया—पञ्च समितयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ईर्यासमितिः, भाषासमितिः यावत् पारिष्ठापनिका समितिः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पांच समितियां कथन की गई हैं, जैसे—ईर्या-समिति, भाषा-समिति, यावत् परिष्ठापनिका समिति।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में उत्कल अर्थात् महान का वर्णन किया गया है, महान् बनने के लिए समितियों का पालन आवश्यक होता है, अतः इस सूत्र में पांच समितियो का वर्णन किया गया है। समिति शब्द दो पदों से बना हुआ है जैसे कि सम् + इति जिसका अर्थ है सम्यक् प्रकार से एकाग्रता के साथ प्रवृत्ति करना अथवा एकाग्रता के साथ प्रशस्त परिणामों से की जाने वाली शास्त्रोक्त प्रवृत्ति ही समिति है[१], अर्थात् वह जीवन-विधि ही समिति है जो मनुष्य के लिए पुण्य-पथ को प्रशस्त करती है। यह पांच प्रकार की होती है प्रत्येक समिति का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. **ईर्यासमिति**—यतनापूर्वक अर्थात् पद-पद पर सावधान होकर गमन करना, चार हाथ आगे की भूमि को देखते हुए चलना, जब तक गमन क्रिया हो रही है तब तक इन्द्रियो को विषयो की ओर न लगाना और पाच प्रकार का स्वाध्याय न करते हुए प्राणियों की तथा अपनी रक्षा करते हुए गमन में प्रवृत्ति करना, दिन में देख कर और रात को प्रतिलेखना करते हुए चलना—इस प्रकार की विशुद्ध गमन-क्रिया को ईर्या-समिति कहा जाता है। ईर्या-समिति से अहिंसा-व्रत की रक्षा एवं इन्द्रिय-निग्रह दोनों साधनाएं सम्पन्न होती हैं।

२. **भाषा-समिति**—सत्य और व्यवहारानुकूल भाषा बोलना, हितकारी एवं थोड़े शब्दो में असंदिग्ध, प्रिय, मधुर भाषा बोलना ही भाषा समिति है। इस समिति का पालन तभी हो सकता है जबकि चारों कषायों को वश मे कर लिया जाए। सोच-विचार कर बोलना, विकथाओ मे मन न लगाना, किसी का उपहास करने वाले वचन न कहना और इस प्रकार के वचनो का प्रयोग न करना जिससे दूसरे के हृदय मे भय एव त्रास जागृत हो, इस प्रकार का वाणी-निग्रह ही भाषा-समिति है। यह समिति दूसरे महाव्रत की रक्षा करती है।

३. **एषणा-समिति**—बयालीस दोषों को टालकर आहार पानी एवं वस्त्र-पात्र आदि ग्रहण करना एषणा-समिति कहलाती है। कुछ ऐसी वस्तुए होती हैं जिनका प्रयोग करने के बाद उन्हे उनके गृहस्थ स्वामी को लौटा दिया जाता है, ऐसी वस्तुओं को "औधिक-उपधि" कहा जाता है, जैसे कि वस्त्र-पात्र आदि। जिन वस्तुओं को काम मे लाने के बाद दाता को वापिस कर दिया जाए उन्हें "औपग्रहिक उपधि" कहा जाता है, जैसे कि मकान, पट्टा, चौकी आदि। भोजन-पानी आदि औधिक और मकान, पट्टा आदि औपग्रहिक उपधियो

१. सम्-एकीभावेन इति प्रवृत्ति. समिति. शोभनैकाग्रपरिणामस्य चेष्टेत्यर्थ । —इतिवृत्तिकारः

को ग्रहण करते समय साधु जीवन की मर्यादाओ का पालन करना जिससे कि अपरिग्रह महाव्रत की पूर्ण रक्षा हो सके, एषणा-समिति का प्रधानतम रूप है।

४. आदान-भण्ड-मत्तनिक्षेपणा-समिति—वस्त्र या पात्र कोई भी वस्तु हो उसे यत्न-पूर्वक मर्यादा का पालन करते हुए ग्रहण करना, उठाना, रखना यह चौथी समिति है। आसन, फूस, चौकी, पट्टा, पात्र, दंड, पुस्तक इत्यादि पदार्थो को यतना से लेना, उपयोगपूर्वक पडिलेहना-प्रमार्जना करके भूमि पर रखना इत्यादि सर्व क्रियाए उक्त समिति के ही अन्तर्गत मानी जाती हैं।

५. परिष्ठापना-समिति—किसी एकान्त स्थान मे जहां पर जनता का आवागमन न होता हो, किसी की दृष्टि भी न पड़ती हो वहा पर निर्दोष भूमि देखकर अहिसा महाव्रत का ध्यान रखते हुए मल-मूत्र, केश, नाखून आदि शरीर मल का 'वोसिरामि' कहकर यतना-पूर्वक त्याग करना ही परिष्ठापना-समिति कहलाती है।

ये पाच समितिया आत्मविकास एव सयम की विशुद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक होने से पालनीय है। इनके द्वारा सभी महाव्रत सुरक्षित रहते हैं और आत्मशुद्धि भी शीघ्र हो जाती है।

संसार-समापन्नक जीव

मूल—पंचविहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—एगिंदिया, जाव पंचिंदिया।

एगिंदिया पंचगइया पंचागइया पण्णत्ता, तं जहा—एगिंदिए एगिंदिएसु उववज्जमाणे एगिंदिएहिंतो जाव पंचिंदिएहिंतो वा उववज्जेज्जा, से चेव णं से एगिंदिए एगिंदियत्तं विप्पजहमाणे एगिंदित्ताए वा जाव पंचिंदियत्ताए वा गच्छेज्जा।

बेंदिया पंचगइया पंचागइया एवं चेव।

एवं जाव पंचिंदिया पंचगइया पंचागइया पण्णत्ता, तं जहा—पंचिंदिया जाव गच्छेज्जा।

पंचविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—कोहकसाई जाव लोभकसाई, अकसाई।

अहवा पंचविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—णेरइया जाव देवा, सिद्धा ॥७३॥

छाया—पञ्चविधाः संसारसमापन्नकाः जीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकेन्द्रिया यावत्

पञ्चेन्द्रियाः। एकेन्द्रियाः पञ्चगतिकाः पञ्चागतिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकेन्द्रिय एकेन्द्रियेषूपपद्यमान एकेन्द्रियेभ्यो यावत् पञ्चेंद्रियेभ्यो वा उपपद्येत, सः चैव स एकेन्द्रिय एकेन्द्रियत्वं विप्रजहन् एकेन्द्रियतायां वा यावत् पञ्चेन्द्रियतायां गच्छेत्।

द्वीन्द्रियाः पञ्चगतिकाः पञ्चागतिका एवञ्चैव।

एवं यावत् पञ्चेन्द्रियाः पञ्चगतिकाः पञ्चागतिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पञ्चेन्द्रिया यावत् गच्छेयुः।

पञ्चविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्रोधकषायी यावत् लोभकषायी, अकषायी। अथवा पञ्चविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैरयिका यावत् देवाः, सिद्धा।

शब्दार्थ—पंचविहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—पाच प्रकार के ससारी जीव कथन किये गए हैं, जैसे, **एगिंदिया, जाव पंचिदिया**—एकेन्द्रिय यावत् पञ्चेन्द्रिय।

एगिंदिया—एकेन्द्रिय, **पंचगइया**—पाच गति वाले तथा, **पंचागइया**—पांच आगति वाले, **पण्णत्ता, तं जहा**—कथन किये गए है, जैसे, **एगिंदिए**—एकेन्द्रिय, **एगिंदिएसु**—एकेन्द्रियों मे, **उववज्जमाणे**—उत्पन्न होता हुआ, **एगिंदिएहिंतो वा जाव**—एकेन्द्रियों से यावत्, **पंचिंदिएहिंतो वा उववज्जेज्जा**—पञ्चेन्द्रियो तक उत्पन्न होता है, **से चेव णं से**—और वह, **एगिदिए**— एकेन्द्रिय, **एगिदियत्तं**—एकेन्द्रियत्व को, **विप्पजहमाणे**—छोडता हुआ, **एगिंदियत्ताए वा जाव**—एकेन्द्रियरूप मे यावत्, **पंचिंदियत्ताए**—पचेन्द्रिय रूप मे, **गच्छेज्जा**—जाता है।

बेंदिया—द्वीन्द्रिय आदि भी, **पंचगइया**—पाच गति और, **पंचागइया**—पाच आगति वाले, **एवं चेव**—इसी प्रकार कहे गए है।

एवं जाव—इसी प्रकार यावत्, **पंचिंदिया पंचगइया**—पञ्चेन्द्रिय जीव पाच गति और, **पचागइया पण्णत्ता, तं जहा**—पांच आगति वाले कथन किए गए है, जैसे, **पंचिंदिया जाव गच्छेज्जा**—पञ्चेन्द्रिय यावत् जाता है।

पंचविहा सव्वजीवा—पाच प्रकार के सभी जीव, **पण्णत्ता, तं जहा**—कथन किए गए हैं, जैसे, **कोहकसाई जाव लोभकसाई**—क्रोध-कषायी से लेकर लोभ-कषायी तक और, **अकसाई**—अकषायी।

अहवा—अथवा **पंचविहा**—पाच प्रकार के, **सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा**—सर्वजीव कथन किये गए है, जैसे, **णेरइया**—नारक, **जाव**—यावत्, **देवा**—देव और, **सिद्धा**—सिद्ध।

मूलार्थ—पांच प्रकार के संसारी जीव कथन किए गए हैं, जैसे—एकेन्द्रिय यावत् पञ्चेन्द्रिय।

एकेन्द्रिय जीव पाच गति वाले एवं पांच आगति वाले कथन किए गए हैं, जैसे—एकेन्द्रिय जीव एकेन्द्रिय जाति में भी उत्पन्न होता है और वह एकेन्द्रिय जीव द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रियों तक सभी जातियों में आकर उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एकेन्द्रिय जीव जब एकेन्द्रियत्व को छोड़ता है तो वह अगले जन्म में एकेन्द्रियरूप से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जातियो में जाकर उत्पन्न हो सकता है।

द्वीन्द्रिय जीव भी पांच गति वाले एव पाच आगति वाले होते हैं, शेष वर्णन पूर्व की भांति जान लेना चाहिए। पञ्चेन्द्रिय जीव भी पांच गति वाले एव पाच आगति वाले वर्णन किए गए हैं, जैसे—पञ्चेन्द्रिय जीव एकेन्द्रियो से लेकर पञ्चेन्द्रिय जाति में भी आकर उत्पन्न होते हैं।

पांच प्रकार के सर्व जीव कथन किए गए हैं, जैसे—क्रोध-कषाय वाले से लेकर लोभ-कषाय वाले तक, तथा सर्वथा कषायो से रहित जीव। अथवा पांच प्रकार के सर्वजीव कथन किये गए है, जैसे—नारक, तिर्यच, मनुष्य, देव और सिद्ध।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे पांच समितियो का वर्णन किया गया है, पाच समितियों के द्वारा सयम को परिशुद्ध बनाते हुए निर्ग्रन्थ मुनिराज जिन जीवों की रक्षा करते है अब सूत्रकार उन जीवों की गति अर्थात् मर कर अन्य जातियो में उत्पन्न होना और आगति अर्थात् अन्य जातियो से लौटकर पुन. उसी पूर्व जाति मे आना इस प्राकृतिक व्यवस्था का वर्णन करते हैं। नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव इन चार गतियों में आवागमन करना ही ससार है, इस ससार में रहने वाले जीव पाच जातियो मे विभक्त है। पाच स्थावरो मे सभी जीव एकेन्द्रिय जाति वाले होते है, इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जाति वाले जीव भी स्वजाति और परजाति मे आवागमन करते रहते हैं।

सूत्र के द्वितीय अंश में बतलाया गया है कि एकेन्द्रिय रूप मे उत्पन्न होने वाले जीव पूर्व भव में एकेन्द्रिय भी हो सकते है और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि भी, क्योंकि कर्म के अनुरूप ही जीव एकेन्द्रिय आदि जातियो में जन्म लेते हैं। उनकी गति भी पाचों जातियों मे होती है और आगति भी पाच जातियों में से होती है अर्थात् एकेन्द्रिय जाति से निकलकर जीव एकेन्द्रिय जाति में भी चला जाता है और पचेन्द्रिय तक अन्य जातियो में भी। किसी भी जाति मे रहे हुए जीव मरकर पाचों जातियों मे जन्म ले सकते है। एकेन्द्रिय जाति को छोड़कर जीव सीधा पचेन्द्रिय जाति मे भी जन्म ले सकता है।

ससारी और मुक्त सभी जीव पांच प्रकार के होते है, कोई क्रोधी, कोई मानी, कोई मायावी, कोई लोभी और कोई अकषायी होता है। कोई नारकी, कोई तिर्यंच, कोई मनुष्य, कोई देव और सिद्ध होते हैं। सिद्धत्व जीवन का चरम शिखर है, वहां पहुंच कर गति और

आगति का अन्त हो जाता है, सारे चक्र समाप्त हो जाते हैं, जो प्राप्तव्य है, वह प्राप्त हो जाता है, न कुछ पाना शेष रह जाता है और न कुछ छोडना शेष रह जाता है। गति और आगति का आकर्षण-निकर्षण तो नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव-गति तक ही विद्यमान रहता है।'

सूत्र के चतुर्थ अश में क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार कषायों से घिरे जीवो का उल्लेख किया गया है, इन चारों से मुक्त होते ही जीव अकषायी बन जाता है, यह अकषायित्व ही सिद्धत्व की ओर गमन का पहला पडाव है। यहीं से सिद्धत्व की ओर यात्रा आरम्भ होती है।

सूत्रकार बतलाना चाहते हैं कि "**पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्**" की उक्ति के अनुसार कषाय-प्रेरित जीव वृक्षादि एकेन्द्रिय जाति से लेकर पशु आदि पंचेन्द्रिय जाति तक आता-जाता रहता है और कर्म-फल भोगता रहता है। अशुभ कर्मो के उदय से वह नरक मे जाता है, कभी तिर्यच मे और कभी मनुष्य बनता है और कभी-कभी पुण्य-प्रेरणा से देवलोको के सुख भी भोगता है, परन्तु उसका आवागमन रूप कष्ट निवृत्त नही होता है। इस कष्ट से निवृत्ति पाने के लिए अकषायित्व की साधना करना अनिवार्य है तभी सिद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है।

द्विदल धान्यों की बीजत्व स्थिति

मूल—अह भंते! कल-मसूर-तिल-मुग्ग-मास-णिप्फाव-कुलत्थ-आलिसंदग-सतीण-पलिमंथगाणं एतेसिं णं धन्नाणं कुट्ठाउत्ताणं जहा सालीणं जाव केवइयं कालं जोणी संचिट्ठइ?

गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्त उक्कोसेणं पंच संवच्छराइं, तेणं परं जोणी पमिलायइ जाव तेणं परं जोणी-वोच्छेए पण्णत्ते ॥७४॥

छाया—अथ भदन्त! कल-मसूर-तिल-मुद्ग-माष-निष्पाव-कुलत्थ-आलिसंदक-सतीण-पलिमन्थकानामेतेषां धान्यानां कोष्ठायुक्तानां यथा शालीनां यावत् कियत्कालं योनिः सन्तिष्ठते? गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षेण पञ्च संवत्सराणि, ततः परं योनिः प्रम्लायति, ततः परं योनिव्यवच्छेदः प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—अह भंते—भगवन्!, **कल-मसूर-तिल-मुग्ग-मास-णिप्फाव-कुलत्थ-आलिसंदग-सतीण-पलिमंथगाण**—मटर या गोल चना, मसूर, तिल, मूंग, माष, निष्पाव, कुलत्थ, आलिसंदक, सतीण, पलिमथक, **एतेसिं**—इन, **धन्नाणं**—धान्यों की, **कुट्ठाउत्ताणं**—कोष्ठागार मे रखे हुओं की, **जहा सालीणं**—जैसे शाली का प्रश्न है, **जाव**—यावत्, **केवइयं कालं**—कितने काल, **जोणी**—योनि, **संचिट्ठइ**—रहती है?

---

१ विशेष वर्णन के लिए देखिए "जीवाभिगम" नामक शास्त्र।

गोयमा—गौतम, **जहण्णेणं**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट, **पंच संवच्छराइं**—पांच संवत्सर, **तेणं परं**—इसके बाद, **जोणी**—ऊगने की शक्ति, **पमिलायइ**—म्लान हो जाती है, **जाव तेणं परं**—यावत् इसके बाद, **जोणी वोच्छेए पण्णत्ते**—योनि का विच्छेद कथन किया गया है।

मूलार्थ—भगवन्! कल, मसूर, तिल, मूंग, उडद, निष्पाव, कुलथी, आलिसंदक, सतीण, पलिमन्थक—उक्त धान्य यदि सुरक्षित रूप से कोष्ठागार में रखे गए हों तो उनकी शालि वर्णन के समान योनि अर्थात् प्रजनन-शक्ति, कितने काल तक रहती है ?

गौतम! कम से कम अन्तर्मुहूर्त तक एवं अधिक से अधिक पांच वर्ष तक उन में अकुरण की शक्ति रहती है। इसके बाद योनि म्लान हो जाती है यावत् प्रजननशक्ति का व्यवच्छेद अर्थात् नाश हो जाता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे स्वजाति एव परजाति मे गति-आगति करने वाले जीवों का वर्णन किया गया है। उनमे सर्वप्रथम हैं एकेन्द्रिय जीव। एकेन्द्रिय वनस्पति जीवो की उत्पत्ति बीजो से होती है, अत: यहां सूत्रकार कुछ द्विदल धान्य विशेषो के बीजो की प्रजनन-शक्ति के काल का वर्णन करते है—जिन वनस्पति बीजों को अच्छी तरह सुरक्षित रखने पर भी उनमें अधिक से अधिक पाच वर्ष तक उगने की शक्ति रहती है यहां उन्ही धान्यों का नामोल्लेख किया गया है। गौतम स्वामी ने भगवान से पूछा है—भगवन्! कल अर्थात् काबली चणा, मसूर, तिल, मूंग, उडद, कुलथी, पहाडी अनाज, वल्ला, आलिसदग तुवरी, काला चणा आदि इन धान्यो को कोठं में सब तरह से सुरक्षित रखने पर उनकी प्रजनन-शक्ति कब तक बनी रहती है ? तीसरे स्थान में भी शाली ब्रीही आदि धान्यो के विषय मे इसी प्रकार का प्रश्न किया गया था। इस पचम स्थान मे उन द्विदल धान्यो के विषय मे प्रश्न किया गया है जिन धान्यो में अंकुरित होने की शक्ति कम से कम अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पांच वर्ष पर्यन्त रह सकती है। उसके बाद वह शक्ति समाप्त हो जाती है, बीजत्व का व्यवच्छेद हो जाता है, अर्थात् बीज निकम्मा हो जाता है।

यद्यपि आगम शास्त्र अध्यात्म-प्रधान है और उनका विषय भी आत्म-अधिष्ठित है, अत: कल आदि धान्यों के सम्बन्ध में किए गए प्रश्न प्रकरण-बाह्य से प्रतीत होते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि ये प्रश्न भी अध्यात्म विषयक ही हैं, क्योंकि जैन-दर्शन वनस्पति काय में भी आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते है, वनस्पति काय का जन्म भी कर्म-फल की ही तो देन है। अत: वनस्पतियों के बीजो मे समाविष्ट आत्मतत्त्व की जानकारी ही प्रस्तुत प्रश्न का विषय है। इसलिए इस प्रकरण को भी अध्यात्मज्ञान की सीमा से बाहर नही माना जा सकता।

फिर प्रभु महावीर सर्वज्ञ-सर्वद्रष्टा हैं, उनके ज्ञान नेत्रों से कुछ भी अदृश्य न था, अत: धान्य-विशेषों की प्रजनन-शक्ति अर्थात् अकुरित होने के काल के सम्बन्ध में उनका उत्तर दे देना उनकी सर्वज्ञता का ही एक अग है।

वस्तुत: मिट्टी के ढेले से लेकर सूर्य तक इस संसार में जो कुछ भी है उस सब के विश्लेषण का लक्ष्य आत्मतत्त्व का परिज्ञान ही है। आत्मतत्त्व को जानने के अनन्तर सब कुछ ज्ञेय हो जाता है, कुछ भी अज्ञेय नही रह जाता। अतएव कहा गया है—'**ज्ञस्या-वरणविच्छेदे, ज्ञेयं किमवशिष्यते**''? आत्मा के आवरण कट जाने पर कुछ भी ज्ञेय शेष नहीं रह जाता। मुण्डकोपनिषद् मे भी कहा गया है—''**आत्मनि विज्ञाते, सर्वमिदं विज्ञातं भवति**''—आत्मा को जान लेने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है। इस सत्य का प्रत्यक्ष निदर्शन प्रस्तुत सूत्र है। आत्मविज्ञान के प्रत्यक्ष द्रष्टा भगवान महावीर ने अंकुरण शक्ति के काल तक को स्पष्ट कर दिया है।

पंचविध संवत्सर

मूल—पंच संवच्छरा पण्णत्ता, तं जहा—णक्खत्तसंवच्छरे, जुगसंवच्छरे, पमाणसंवच्छरे, लक्खणसंवच्छरे, सणिंचरसंवच्छरे।

जुगसंवच्छरे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—चंदे, चंदे, अभिवड्डिए, चंदे, अभिवड्डिए चेव।

पमाणसंवच्छरे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—नक्खत्ते, चंदे, उऊ, आदिच्चे, अभिवड्डिए।

लक्खणसंवच्छरे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—

समगं नक्खत्ता जोगं जोयंति, समगं उऊ परिणमंति।
णच्चुण्हं णाइसीओ, बहूदओ होइ नक्खत्ते ॥ १॥
विसमं पवालिणो परिणमंति, अणुदूसु देंति पुप्फफलं।
वासं ण सम्मं वासइ, तमाहु संवच्छरं कम्मं ॥ २॥
ससि सगलपुण्णमासी, जोएई विसमचारिणक्खत्ते।
कडुओ बहूदओ (या), तमाहु संवच्छरं चंदं ॥ ३॥
पुढविदगाणं तु रसं, पुप्फफलाणं तु देइ आदिच्चो।
अप्पेणवि वासेण, सम्मं निप्फज्जए सस्सं ॥ ४॥
आदिच्चतेयतविया, खणलवदिवसा उऊ परिणमंति।
पूरिंति रेणुथलयाइं, तमाहु, अभिवड्डियं जाण ॥ ५॥ ७५॥

छाया—पञ्च संवत्सराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नक्षत्रसंवत्सरः, युगसंवत्सरः, प्रमाण-संवत्सरः, लक्षणसंवत्सरः, शनैश्चरसंवत्सरः।

युगसवत्सरः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—चन्द्रः, चन्द्रः, अभिवर्द्धितः, चन्द्रः, अभिवर्द्धितश्चैव।

प्रमाणसंवत्सरः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—नक्षत्रं, चन्द्रः, ऋतुः, आदित्यः, अभिवर्द्धितः।

लक्षणसंवत्सरः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—

समकं नक्षत्राणि योगं योजयन्ति, समकमृतवः परिणमन्ति।
नात्युष्णो नातिशीतः, बहूदको भवति नक्षत्रः ॥१॥
विषमं प्रवालिनः परिणमन्त्यनृतुषु ददाति पुष्पफलम्।
वर्ष न सम्यग् वर्षति, तमाहुः संवत्सरं कर्म ॥२॥
शशी सकलपौर्णमासीं, योजयति विषमचारि नक्षत्रः।
कटुको बहूदकश्च, तमाहु संवत्सरं चन्द्रम् ॥३॥
पृथिव्युदकयोस्तु रसं, पुष्पफलाना तु ददात्यादित्यः।
अल्पेनापिवर्षेण, सम्यक् निष्पद्यते शस्यम् ॥४॥
आदित्यतेजस्तप्ताः, क्षणलवदिवसाः ऋतु परिणमन्ति।
पूरयति रेणुभिः स्थलानि, तमाहुरभिवर्द्धितं जानीहि ॥५॥

शब्दार्थ—पंच संवच्छरा पण्णत्ता, तं जहा—पाच सवत्सर कथन किए गए है, जैसे, **णक्खत्तसंवच्छरे**—नक्षत्र-सम्वत्सर, **जुगसवच्छरे**—युग सवत्सर, **पमाण-सवच्छरे**—प्रमाण-सम्वत्सर, **लक्खण-संवच्छरे**—लक्षण-संवत्सर, **सणिंचरसंवच्छरे**—शनैश्चर सवत्सर।

जुगसंवच्छरे—युग सवत्सर, **पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा**—पांच प्रकार का कथन किया गया है, जैसे, **चंदे**—चन्द्र, **चंदे**—चन्द्र, **अभिवड्ढिए**—अभिवर्द्धित, **चंदे**—चन्द्र और, **अभिवड्ढिए चेव**—अभिवर्द्धित।

पमाण-संवच्छरे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—प्रमाण सवत्सर पांच प्रकार का है, जैसे **नक्खत्ते**—नक्षत्रः, **चंदे**—चन्द्र, **उऊ**—ऋतु, **आइच्चे**—आदित्य, **अभिवड्ढिए**—अभिवर्द्धित। **लक्खणसंवच्छरे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा**—लक्षण सवत्सर पांच प्रकार का है, जैसे, **नक्खत्ता**—नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ, **सम्मं**—सम्यक्, **जोगं जोयंति**—योग करते है, **उऊ**—ऋतु, **सम्मं**—सम्यक् रूप से, **परिणमंति**—परिणत होती है, **णच्चुण्हं**—न अधिक गर्मी होती है, **णाइसीओ**—न अधिक शीत होता है, **बहूदओ**—जल बहुत होता है, **नक्खत्ते भवइ**—वह नक्षत्र संवत्सर होता है। **पवालिणो**—वृक्ष, **विसमं**—विषम रूप मे, **परिणमंति**—परिणत होते हैं, **अणुदूसु**—ऋतु के बिना, **पुप्फ फलं देंति**—पुष्प-फल

देते हैं, **वासं**—वर्षा, **सम्मं**—सम्यक्, **ण वासइ**—नहीं बरसती है, **तं**—उसको, **कम्मं संवच्छरं**—कर्म ऋतु सवत्सर, **आहु**—कहते हैं।

जिस संवत्सर में, **ससि**—चन्द्रमा, **सगलपुण्णमासी**—समस्त पूर्णिमाओं के साथ, **जोएइ**—योग करता है, **विसमचारिणक्खत्ते**—नक्षत्रों का चार विषम होता है, **कडुओ**—जो अतीव शीत एवं उष्णता के कारण कटुक होता है, **बहूदओ**—जिसमें जल बहुत होता है, **तं**—उसको, **चंदं संवच्छरं आहु**—चन्द्र संवत्सर कहते है। **आदिच्चो**—आदित्य सवत्सर, **पुढविदगाणं**—पृथ्वी और जल, **पुप्फफलाणं**—फूल और फलो के, **देइ**—रस को उत्पन्न करता है, **अप्पेणवि**—थोडी सी भी, **वासेण**—वर्षा से, **सम्मं**—सम्यक् रूप से, **सस्सं**—शस्य, **निप्फज्जए**—निष्पन्न होता है। **आदिच्चतेयतविया**—सूर्य के तेज से तपे हुए, **खणलवदिवसा**—क्षण, लव और दिवस, **उऊ**—ऋतु, **परिणमंति**—परिणत होते हैं, **रेणुथलयाइं**—धूल से स्थल, **पूरिंति**—पूरित हो जाते है, **तं**—उसको, **अभिवड्ढियं**—अभिवर्द्धित, **आहु**—कहते हैं, **जाण**—(हे शिष्य।) इस प्रकार जान।

मूलार्थ—पांच सम्वत्सर वर्णन किए गए हैं, जैसे—नक्षत्र सवत्सर, युगसंवत्सर, प्रमाण संवत्सर, लक्षण सवत्सर, शनैश्चरसंवत्सर।

युग संवत्सर पांच प्रकार का है, जैसे—चन्द्र, चन्द्र, अभिवर्द्धित, चन्द्र, अभिवर्धित।

प्रमाण संवत्सर पांच प्रकार का है, जैसे—नक्षत्र, चन्द्र, ऋतु, आदित्य, अभिवर्द्धित।

लक्षण सवत्सर पांच प्रकार का है, जैसे—

१. जिस वर्ष मे नक्षत्र चन्द्रमा के साथ समरूप से योग करते है, ऋतुए भी समरूप से परिणत होती हैं, न अधिक उष्णता होती है, न अधिक शीत होता है, जल बहुत होता है, वह नक्षत्र-सवत्सर कहलाता है।

२. वृक्ष विषम रूप से परिणत होते हैं, बिना ऋतु के पुष्प और फल देते हैं, वर्षा भी सम्यक्तया नहीं बरसती है, वह ऋतु सवत्सर कहलाता है।

३. जिस वर्ष मे चन्द्रमा समस्त पूर्णिमाओ के साथ योग करता है, नक्षत्रों का चार अर्थात् गति भी विषम होती है, अत्यन्त शीत एवं उष्णता के कारण जल कटुक एवं बहुत होता है, वह चन्द्र-सवत्सर कहलाता है।

४. जिस वर्ष मे पृथ्वी, जल, पुष्प और फलों मे रस अधिक उत्पन्न होता है, अल्प वर्षा से भी शस्य सम्यक् रूप से निष्पन्न होता है, वह आदित्य सवत्सर कहलाता है।

५. जिस वर्ष में आदित्य अर्थात् सूर्य के प्रखर तेज से तप्त हुए क्षण, लव, दिवस एवं ऋतुए परिणाम को प्राप्त होते हैं, धूल से स्थल पूरित हो जाते हैं, वह

अभिवर्द्धित संवत्सर समझना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पांच सम्वत्सरो तक अकुरित होने की शक्ति रखने वाले धान्यों का वर्णन किया गया है, उसे पढकर स्वभावत: सम्वत्सर के सम्बन्ध में जानने की जिज्ञासा जागृत होती है, अत: प्रस्तुत सूत्र में पाच प्रकार के सम्वत्सरो का विवरण प्रस्तुत किया गया है। संवत्सर का अर्थ है वर्ष। वर्ष पाच प्रकार के होते हैं, नक्षत्र-संवत्सर, युग-संवत्सर, प्रमाण-सवत्सर, लक्षण सवत्सर और शनैश्चर संवत्सर। इन संवत्सरों का परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है—चन्द्रमा का २८ नक्षत्रो के साथ रहने का कालमान नक्षत्र-मास होता है, बारह नक्षत्र मासों का एक नक्षत्र-सवत्सर होता है।

युग-सवत्सर पांच प्रकार का होता है, जैसे कि चन्द्र, चन्द्र, अभिवर्द्धित, चन्द्र और अभिवर्द्धित। पांच संवत्सरो का एक युग होता है। युग के पाचवें भाग को संवत्सर कहते है।[१]

जब दिनों के परिमाण की मुख्यता से नक्षत्र आदि से सम्बद्ध सवत्सरों का वर्णन किया जाता है तो वे ही प्रमाण-संवत्सर कहलाते हैं। प्रमाण सवत्सर पांच प्रकार का होता है। नक्षत्र, चन्द्र, ऋतु, आदित्य और अभिवर्धित। इनमे से नक्षत्र मास २७$^{२१}/_{६७}$ दिन का होता है, ऐसे बारह मास ३२७$^{५१}/_{६७}$ दिनों का एक नक्षत्र-प्रमाण-सवत्सर होता है।

कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से लेकर पूर्णमासी तक समाप्त होने वाला २९$^{३२}/_{६२}$ दिनो का मास चन्द्रमास कहलाता है। बारह चन्द्रमासों अर्थात् ३५४$^{१२}/_{६२}$ दिनो का एक चन्द्र-प्रमाण सवत्सर होता है।

ऋतु-प्रमाण-सम्वत्सर—तीस दिनों का एक ऋतु-मास होता है, साठ दिनों का एक ऋतु और ३६० दिनो का ऋतु-प्रमाण-सवत्सर माना जाता है।

आदित्य-प्रमाण-सम्वत्सर—सूर्य एक सौ त्रियासी दिन उत्तरायण और एक सौ त्रियासी दिन दक्षिणायन रहता है। इस प्रकार ३६६ दिनो का आदित्य-संवत्सर होता है। तारीख और प्रविष्टा के अनुसार जो महीने प्रचलित हैं, वे सब आदित्य-सवत्सर के अन्तर्गत हैं। जब सूर्य २८ नक्षत्र और बारह राशियो को पूर्णतया भोग लेता है उस काल-मान को सूर्य-संवत्सर कहते है। आदित्य-मास की औसत ३०$^{१}/_{२}$ दिनों की होती है।

अभिवर्धित (लोंद) संवत्सर—यह सवत्सर तेरह महीने का होता है। चंद्र-संवत्सर में अधिक मास पड़ने से वह चन्द्र संवत्सर ही अभिवर्धित कहलाता है। ३१$^{१२१}/_{१२४}$ दिनों का अभिवर्धित मास होता है। इस प्रकार बारह अभिवर्धित मासो का एक अभिवर्धित-संवत्सर होता है।

---

१. पाच वर्ष मे दो बार अधिक मास पडता है, जिस वर्ष मे अधिक मास नही पडता वह चन्द्र सवत्सर और जिस में अधिक मास पडता है वह अभिवर्द्धित सवत्सर कहलाता है। यही कारण है कि सूत्र मे तीन बार चन्द्र और दो बार अभिवर्द्धित शब्द प्रयुक्त हुआ है।

लक्षण-संवत्सर—जो ऊपर पाच संवत्सर कथन किए गए हैं, वे ही लक्षण-प्रधान होने पर लक्षण-संवत्सर कहलाते हैं। कुछ नक्षत्र निश्चित तिथियों में हुआ करते हैं, जैसे कि चैत्री पूर्णमासी को चित्रा, वैसाखी, पूर्णमासी को विशाखा, श्रावणी पूर्णमासी को श्रवण इत्यादि। जब ये नक्षत्र ठीक अपनी तिथियों मे हो, मौसम भी यथासमय प्रारम्भ हो, न अति शीत और न अति गर्मी हो, जल भी मात्रा मे हो, इन लक्षणों वाले संवत्सर को नक्षत्र-संवत्सर माना जाता है।

जिससे सारी रात चन्द्र से प्रकाशमान हो, ऐसी पूर्णमासी हो, नक्षत्र विषमचारी हो, अर्थात् पूर्णमासी को जो नक्षत्र होना चाहिए उसके अतिरिक्त अन्य ही कोई नक्षत्र हो, जिसमें शीत, उष्ण और पानी की अधिकता भी हो, इन लक्षणों वाला सवत्सर 'चन्द्र-संवत्सर' कहलाता है।

जिस सवत्सर में बिना समय के बीज अंकुरित हो, वृक्ष मे कोंपले आएं एवं फूल और फल आएं, वर्षा समय पर न हो, इन लक्षणो से युक्त संवत्सर ऋतु-संवत्सर' कहलाता है।

जिस वर्ष सूर्य फूलो और फलों को, पृथ्वी-पानी को मधुर एव स्निग्ध आदि शुभ गुण सपन्न रस देता हो, वर्षा कम होने पर भी भूमि ऊर्वरा शस्यश्यामला हो, धान्य अधिक उत्पन्न हों इन लक्षणों से युक्त सवत्सर को 'आदित्य-संवत्सर' कहा जाता है।

जिस वर्ष में क्षण, लव, मुहूर्त, दिवस और ऋतुएं सूर्य के तेज से तप्त होकर व्यतीत होती हों, आंधी-तूफान अधिक आएं, वायु से उड़ी हुई धूलि से गड्ढे भर जाए, वही 'अभिवर्धित-सवत्सर माना जाता है।

जितने काल मे शनिश्चर एक नक्षत्र को भोगता है वह शनिश्चर-संवत्सर कहलाता है। नक्षत्र अट्ठाईस हैं, इस कारण शनिश्चर सम्वत्सर भी नक्षत्रों के नाम से अट्ठाईस प्रकार का है। २८ नक्षत्रों को शनिश्चर तीस वर्षो मे पूरा करता है।[१]

जीव के निर्याण-मार्ग

मूल—पंचविहे जीवस्स णिज्जाणमग्गे पण्णत्ते, तं जहा—पाएहिं, ऊरूहिं, उरेण, सिरेण, सव्वंगेहिं।

पाएहिं णिज्जाणमाणे णिरयंगामी भवइ, ऊरूहिं णिज्जाणमाणे तिरियगामी भवइ, उरेण णिज्जाणमाणे मणुयगामी भवइ, सिरेण णिज्जाणमाणे देवगामी भवइ, सव्वेहिं णिज्जाणमाणे सिद्धिगइपज्जवसाणे पण्णत्ते ॥ ७६ ॥

---

१ इस विषय का विशेष विवरण सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जबूद्वीप-प्रज्ञप्ति, आदि आगमों द्वारा जानना चाहिए।

छाया—पञ्चविधो जीवस्य निर्याणमार्गः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पादाभ्याम्, उरूभ्याम्, उरसा, शिरसा, सर्वांगैः।

पादाभ्यां निर्यान् निरयगामी भवति, उरूभ्यां निर्यान् तिर्यग्गामी भवति, उरसा निर्यान् मनुजगामी भवति, शिरसा निर्यान् देवगामी भवति, सर्वैर्निर्यान् सिद्धगति-पर्यवसानः प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—जीवस्य—जीव का, **पंचविहे**—पाच प्रकार का, **णिज्जाणमग्गे पण्णत्ते, तं जहा**—निर्याणमार्ग कथन किया गया है, जैसे कि **पाएहिं**—पैरों से, **ऊरूहिं**—जंघाओ से, **उरेण**—वक्षस्थल से, **सिरेण**—शिर से, **सव्वंगेहिं**—समस्त अंगो से।

पाएहिं णिज्जाणमाणे—पैरो से निकलता हुआ, **णिरयंगामी भवइ**—नरकगामी होता है, **ऊरूहिं णिज्जाणमाणे**—जंघाओं से निकलता हुआ, **तिरियगामी भवइ**—तिर्यचगामी होता है, **उरेणं णिज्जाणमाणे**—छाती से निकलता हुआ, **मणुयगामी भवइ**—मनुष्यगामी होता है, **सिरेण णिज्जाणमाणे**—शिर से निकलता हुआ, **देवगामी भवइ**—देवगामी होता है, **सव्वेहिं णिज्जाणमाणे**—सब अंगों से निकलता हुआ, **सिद्धिगइपज्जवसाणे**—मोक्ष में जाने वाला, **पण्णत्ते**—कथन किया गया है।

मूलार्थ—जीवात्मा का शरीर से निकलना पांच प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—पैरों से, जंघाओं से, वक्षस्थल से, शिर से, संपूर्ण अंगों से।

पैरों से निकलने वाला जीव नरकगामी होता है, जघाओ से निकलने वाला तिर्यचगामी होता है, छाती से निकलने वाला मनुष्यगामी होता है, शिर से निकलने वाला देवगामी होता है और सम्पूर्ण अगों से निकलने वाला जीव मोक्षगामी होता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सवत्सर और युग आदि का वर्णन किया गया है और शरीर का बन्ध-काल ही आयुष्य है। आयुष्य की पूर्णता होने पर यह बन्ध टूट जाता है और जीवात्मा शरीर का त्याग करके चला जाता है। स्वभावत: जिज्ञासा जागृत होती है कि जीवात्मा आयुष्य की पूर्णता होने पर किस शरीरावयव से बाहर निकलता है और निकल कर कहा जाता है? प्रस्तुत सूत्र मे इसी प्रश्न का समाधान किया गया है।

मरण के समय जीव के शरीर से निकलने का मार्ग ही 'निर्याण' कहलाता है। वृत्तिकार भी लिखते है—

'निर्याणं मरणकाले शरीरिणः शरीरान्निर्गमस्तस्य मार्गो निर्याणमार्गः।'' यदि जीव पैरो के मार्ग से निकलता है तो वह नरकगामी होता है। पाद शब्द से पाओ के सर्व अवयव जानने चाहिएं, घुटने से नीचे के सभी भाग यहां पांव के ही बोधक हैं। जानु से ऊपर और कटि-भाग से नीचे के सभी अवयव ऊरु शब्द में समाविष्ट हो जाते है। उन अवयवों से निकलकर यदि जीव प्रयाण करता है तो वह तिर्यच गति मे गमन करता है। कटिभाग से ऊपर और गले से नीचे के सभी अवयवों का अन्तर्भाव 'उर'—अर्थात् छाती मे हो जाता

है। उर:स्थल से निकला हुआ जीव मनुष्य गति को प्राप्त करता है। मस्तक के सभी अवयवों को सिर कहते हैं, सिर के किसी भी अवयव से निकला हुआ जीव देवगति में जाया करता है। शरीर के सर्वांगों द्वारा समान रूप से निकलने वाली आत्मा सिद्धगति को प्राप्त करती है।

जब शरीर के किसी एक भाग से जीव निकलता है तब मरण-काल में महावेदना होती है, किन्तु सर्वांगों से जब आत्मा निकलती है तब किसी भी प्रकार की वेदना नहीं होती। इसी कारण उस निर्याण को 'निर्वाण' कहा जाता है।

जैन दर्शन ने जीवन-विज्ञान के साथ-साथ मृत्यु-विज्ञान की जिन गहराइयों का स्पर्श किया है उसका एक निदर्शन प्रस्तुत सूत्र में देखा जा सकता है।

छेदन, आनन्तर्य और अनन्त

मूल—पंचविहे छेयणे पण्णत्ते, तं जहा—उप्पायछेयणे, वियछेयणे, बंधछेयणे, पएसछेयणे, दोधारछेयणे, पंचविहे आणंतरिए पण्णत्ते, तं जहा—उप्पायणंतरिए, वियणंतरिए, पएसाणंतरिए, समयाणंतरिए, सामण्णाणंतरिए।

पंचविहे अणंते पण्णत्ते, तं जहा—णामाणंतए, ठवणाणंतए, दव्वाणंतए, गणणाणंतए, पएसाणंतए।

अहवा पंचविहे अणंतए पण्णत्ते, तं जहा—एगओऽणंतए, दुहओऽणंतए, देसवित्थाराणंतए, सव्ववित्थाराणंतए, सासयाणंतए ॥७७॥

छाया—पञ्चविधं छेदनं प्रज्ञप्तं तद्यथा—उत्पाद-छेदनं, व्यय-छेदनं, बन्ध-छेदनं, प्रदेश-छेदनं, द्विधाकार-छेदनम्।

पञ्चविधमानन्तर्यं प्रज्ञप्तं तद्यथा—उत्पादानन्तर्य, व्ययानन्तर्य, प्रदेशानन्तर्य, समयानन्तर्यं, सामान्यानन्तर्यम्।

पञ्चविधमनन्तं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—नामानन्तकं, स्थापनानन्तकं, द्रव्यानन्तकं, गणनानन्तकं, प्रदेशानन्तकम्।

अथवा पञ्चविधमनन्तं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—एकतोऽनन्तकं, द्विधाऽनन्तकं, देशविस्तारानन्तकं, सर्वविस्तारानन्तकं, शाश्वतानन्तकम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पांच प्रकार का छेदन (विभाग) कथन किया गया है, जैसे—उत्पाद का छेदन, व्यय का छेदन, बन्धन का छेदन, प्रदेश का छेदन, दो टुकडे करने के रूप में छेदन।

पांच प्रकार का आनन्तर्य (सातत्य) कथन किया गया है, जैसे—उत्पाद का आनन्तर्य, व्यय का आनन्तर्य, बन्धन का आनन्तर्य, प्रदेश का आनन्तर्य, समय का आनन्तर्य, श्रामण्य का अथवा सामान्य रूप आनन्तर्य।

पांच प्रकार का अनन्त कथन किया गया है, जैसे—नाम-अनन्त, स्थापना-अनन्त, द्रव्य-अनन्त, गणना-अनन्त, प्रदेश-अनन्त।

अथवा पांच प्रकार का अनन्त कथन किया गया है, जैसे—एक आकाश प्रदेश की श्रेणी का अनन्त, दो श्रेणियो का अनन्त, आकाश के प्रदेशो के विस्तार का अनन्त, सर्व-विस्तार-अनन्त, जीवादि शाश्वत पदार्थ अनादि अनन्त हैं उन्ही का अनन्त शाश्वतानन्तक है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जीव के द्वारा शरीर-त्याग के पाच रूपो का वर्णन किया गया है। आयु का व्यवच्छेद होने पर ही जीव शरीर से निकलता है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे प्रकरण-प्राप्त पांच प्रकार के छेदनों का वर्णन किया गया है। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील होता है, उसकी पूर्वपर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद होता ही रहता है। किसी भी गति में जन्म लेना यह जीव की "उत्पाद-द्रव्य-पर्याय" है, उस गति या भव की अवधि पूरी होने पर 'व्यय-पर्याय' होती है।

१. उत्पाद-छेदन—उत्पाद का अर्थ है जन्म, उच्च परिणामो से उसका छेदन कर देना उत्पाद-छेदन कहलाता है। जिस किसी तरणहार जीव ने पुन: कभी भी उस गति मे जन्म नही लेना, या दुर्गति मे लौटकर नही आना, वह उत्पाद-छेदन कहलाता है, अथवा मनुष्य-जन्म के अतिरिक्त अन्य किसी भव में पुन: कभी भी जन्म न लेने को उत्पाद-छेदन माना जाता है। अथवा उत्पाद-छेदन का अर्थ विरहकाल भी होता है। नरक-गति मे उत्पन्न होने वाले जीवो का यदि जन्म न हो तो अधिक से अधिक १२ मुहूर्त का विरहकाल हो सकता है। एकेन्द्रियों को छोड़कर शेष त्रस-तिर्यंचों का उत्पाद-विरहकाल उत्कृष्टतम १२ मुहूर्त का ही होता है। इसी प्रकार मनुष्य एवं देवगति का विरह-काल भी १२ मुहूर्त का ही हुआ करता है। एकेन्द्रिय जाति में उत्पाद-विरहकाल नहीं होता, क्योंकि उसमें समय-समय पर जीव उत्पन्न होते ही रहते हैं, वहा विरहकाल का सर्वदा अभाव है।

२. व्यय-छेदन—उद्वर्तन-च्यवन या मरण का छेदन होना ही व्यय-छेदन है। वर्तमान मे जिस भव में जीव रह रहा है, उसको छोड़कर भविष्य में उस गति या भव मे कभी भी मरण न पाना तथा उसके विरहकाल को भी व्यय-छेदन कहते है। यदि कोई जीव नरक से न निकले तो अधिक से अधिक बारह मुहूर्त का विरहकाल हो सकता है। इसी प्रकार त्रस-तिर्यंच, मनुष्य और देवगति का भी उत्कृष्ट १२ मुहूर्त का विरह-काल है, इसी को व्यय-छेदन कहते है, किन्तु एकेन्द्रियो का उद्वर्तन, मरण समय-समय पर होता ही रहता है, अत: उनका व्यय-छेदन नहीं होता।

३. बन्ध-छेदन—जिस गुणस्थान में जिन प्रकृतियो का बध नहीं होता है, वह बन्ध-छेदन कहलाता है। जैसे कि चौथे गुणस्थान मे मिथ्यात्व आदि प्रकृतियो का बन्ध नही होता अथवा अपुनर्बंधक हो जाना, क्षपक श्रेणी मे आरोहण करते हुए जीव अपुनर्बंधक होता है, किसी भी बंध का छेदन कर देना बन्ध-छेदन है।

४. प्रदेश-छेदन—बुद्धि द्वारा निर्विभाग अवयव का छेदन करना, जैसे स्कन्ध से या देश से कल्पना द्वारा प्रदेश विभाग करना। वस्तुत: प्रदेश न स्कन्ध से अलग है और न उसे अलग किया जा सकता है। अथवा प्रदेश-विरह को भी प्रदेश-छेदन कहते हैं, जैसे कि मिथ्यात्व की सत्ता होते हुए भी अनन्तानुबंधी आदि कर्म प्रदेशों का विरह होना। यह प्रक्रिया विसयोजना करने पर ही होती है।

५. दो धार-छेदन—दुधारी तलवार से छेदन करना दोधार-छेदन है। उस्तरे से, छैनी से, तलवार से या चक्र से किसी भी वस्तु के दो भाग करना भी दुधार-छेदन माना जाता है। सयम और तप से कर्मो का छेदन करना या कर्मो का स्थिति-घात एवं रस-घात करना भी दोधार-छेदन कहलाता है।

पांच प्रकार का आनन्तर्य—

आनन्तर्य का अर्थ होता है निरन्तर होना। छेदन का अभाव होना, विरह-काल का ऐसा अभाव होना, जिसमे कोई अन्तर नही पड सकता। इसके भी पाच रूप कहे गए हैं, जैसे कि—

१. उत्पादानन्तर्य—नरक आदि गतियो मे यदि जीव लगातार जन्म ले तो असख्यात समय तक निरतर नरक मे जन्म लेते ही रहते है, इसको उत्पाद-आनन्तर्य कहते है। इसी तरह शेष गतियों के विषय में भी जानना चाहिए।

२. व्यय-आनन्तर्य—यदि नरक आदि गति मे से उद्वर्तन, मरण समय-समय मे होते रहे तो असंख्यात समय तक होते ही रहते है इसी को व्यय-आनन्तर्य कहते हैं। इसी प्रकार शेष गतियो के विषय मे भी व्यय-आनन्तर्य जानना चाहिए।

३. प्रदेश-आनन्तर्य—जितने भी अरूपी एवं अमूर्त सप्रदेशी द्रव्य है उनके प्रदेश एक दूसरे से मिले रहते है। प्रत्येक सप्रदेशी द्रव्य के प्रदेश सर्वथा भिन्न नही होते और सर्वथा अभिन्न भी नही हुआ करते। यदि सर्वथा भिन्न हो तो द्रव्य सप्रदेशी नही कहला सकता और यदि सर्वथा अभिन्न माने तो प्रदेशो की कल्पना नही की जा सकती है। किसी भी अरूपी द्रव्य मे प्रदेशों का सातत्य होता है, अत: वे एक-दूसरे के मिले हुए होते हैं। आत्मा के भी असख्यात प्रदेश हैं, यह भी सातत्य की अपेक्षा से जानने चाहिएं। इसी को प्रदेश- आनन्तर्य कहते हैं।

किसी-किसी प्रति मे प्रदेश-छेदन के स्थान पर ''**पंथच्छेयणे**''—''पथिच्छेदन—मार्गातिक्रम:'' यह पाठ प्राप्त होता है। जितना मार्ग तय कर लिया, उसे पंथच्छेदन कहते है।

४. समय-आनन्तर्य—प्रत्येक संसारी जीव समय-समय मे प्राय: कर्म प्रदेशों का सचय कर रहा है, अथवा समय गतिशील है, समय का कभी भी विरह नहीं होता, यही समय आनन्तर्य माना जाता है।

५. श्रामण्य-आनन्तर्य—क्षपक श्रेणि या उपशमश्रेणि में आरोहण करते हुए चारित्र का विरह या अन्तर नही पड़ता, अथवा बहुत जीवो के आश्रय से चारित्र में कभी भी अन्तर नहीं पड़ता, जैसे कि वृत्तिकार लिखते हैं—"**श्रामण्यस्य वा आकर्षणविरहेणानंतर्यं श्रामण्यानन्तर्यबहुजीवापेक्षया वा श्रामण्यप्रतिपत्त्यानन्तर्यम्।**" साधुता की प्रतिपत्ति उत्कृष्ट आठ समय मात्र कही गई है, इसे श्रामण्य-आनन्तर्य कहते है।

पांच प्रकार के अनन्त—

१. नाम-अनन्तक—जिस वस्तु का नाम-अनन्त है, उसे नाम-अनन्त कहते है, जैसे अनन्तनाथ, अनन्तराम, अनन्तचौदश इत्यादि।

२. स्थापना-अनन्तक—जिस सचित्त या अचित्त वस्तु का चित्र, मूर्ति, नक्शा या प्रतिरूप हो उसे स्थापना-अनन्तक कहते हैं।

३. द्रव्यानन्तक—जीव, पुद्गल और काल ये तीन द्रव्य अनन्त है, अत: इन्हे द्रव्य-अनन्तक कहते है।

४. गणनानन्तक—जिस पदार्थ की गणना करते-करते वह अनन्तता को प्राप्त हो जाए वह गणनानन्तक है।

५. प्रदेश-अनन्तक—आकाश के प्रदेशों की अनन्तता ही प्रदेशानन्तक है। पुद्गलद्रव्य भी अनन्त प्रदेशों वाला होने से प्रदेशानन्तक है। अनत शब्द से नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन निक्षेप ग्रहण किए गए हैं, किन्तु भाव-निक्षेप के स्थान पर गणना और प्रदेश ग्रहण किए जाते है।

प्रकारान्तर से पांच अनन्तक

१. एकत: अनन्तक—लम्बाई की अपेक्षा से आकाश-प्रदेश की एक श्रेणि में अनन्त प्रदेश हैं, अत: इसे एकत:-अनन्तक कहते है।

२. द्विधा-अनन्तक—लम्बाई और चौड़ाई दोनों की अपेक्षा से जो अनन्त हो उसे द्विधा-अनन्तक कहते है, जैसे कि प्रतर-क्षेत्र।

३. देश विस्तारानन्तक—दिशाएं रुचक प्रदेशो से प्रारम्भ होती हैं, पूर्व आदि चार दिशाओं मे से किसी एक दिशारूप क्षेत्र विशेष को एक देश कहते हैं। उस एक देश का जो विस्तार है उसमें रहे हुए आकाश प्रदेशो की अनन्तता ही देश-विस्तार अनन्तक कहलाती है।

४. सर्वविस्तारानन्तक—सर्व आकाश प्रदेशों की जो अनन्तता है वह सर्व विस्तार अनन्तक है।

५. **शाश्वत अनन्तक**—आदि और अंत रहित स्थिति वाले जीव आदि पदार्थ सदाकाल भावी होने से शाश्वतानन्तक कहलाते हैं।

यह सूत्र ज्ञानाचार और दर्शनाचार से सम्बन्ध रखता है, अत: अनुभवनीय है।

पंचविध ज्ञान

मूल—पंचविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा—आभिणिबोहियणाणे, सुयनाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे, केवलणाणे ॥७८॥

छाया—पञ्चविधं ज्ञानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानम्, श्रुतज्ञानम्, अवधिज्ञानम्, मनःपर्यवज्ञानम्, केवलज्ञानम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पाच प्रकार का ज्ञान प्रतिपादन किया गया है, जैसे—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान, केवलज्ञान।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे ज्ञानाचार एव दर्शनाचार से सम्बन्धित उत्पाद-छेदन आदि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार के छेदन का प्रधानतम साधन ज्ञान ही है, अत· प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने ज्ञान के पांचों रूपो का वर्णन किया है।

जानना ही ज्ञान है "**ज्ञातिज्ञानमिति भावसाधनः संविदित्यर्थः।**" अनुभूति के साधन अर्थात् जिस के द्वारा जाना जाए उसे भी ज्ञान कहते हैं—**ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्**। आवरणों के क्षय और क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को आधार मान कर यह भी कहा जाता है कि जिसमे जाना जाता है वह ज्ञान है, ज्ञान आत्मा मे होता है अथवा जो अपने विषय को ग्रहण करता है या जो जानता है, वह ज्ञान है।[१]

ज्ञान पाच प्रकार का है, जैसे कि आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधि-ज्ञान, मन:पर्यव-ज्ञान और केवल ज्ञान। इनमे से किसी एक ज्ञान के द्वारा आत्मा पदार्थो को जानता है। इन मे से आदि में दो ज्ञान परोक्ष है और अंतिम तीन ज्ञान अप्रत्यक्ष हैं। पहले चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, जबकि केवलज्ञान क्षायिक है। आवरणो के सर्वथा क्षय होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह क्षायिक ज्ञान कहलाता है, वही केवलज्ञान है। ज्ञान के पाच रूपो का संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है—

१. **आभिनिबोधिक ज्ञान**—किसी भी स्थान पर विद्यमान वस्तु को इन्द्रिय और मन की सहायता से जानने वाला ज्ञान आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है, क्योंकि 'अभि' का अर्थ होता है 'ज्ञेय के अभिमुख', 'नि' का अर्थ है 'नियत रूप से', 'बोध' का अर्थ है ज्ञान,

१ "ज्ञायते वास्मिन्निति ज्ञानम्- आत्मा तदावरणक्षयक्षयोपशमपरिणामयुक्तो, जानातीति वा ज्ञान, तदेव स्वविषय-ग्रहण रूपत्वादिति।"

अर्थात् जो ज्ञेय के अभिमुख होकर नियत रूप से अनुभूति को जागृत करता है, वह आभि-निबोधिक ज्ञान कहलाता है, इसी को दूसरे शब्दो में मतिज्ञान भी कहते है।

२. **श्रुत-ज्ञान**—सुनकर प्राप्त होने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला तथा जिसमें शब्द एवं अर्थ की पर्यालोचना होती है, वह श्रुतज्ञान है। यद्यपि इस ज्ञान में भी मतिज्ञान की तरह पाचों इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित है, फिर भी इसमें मुख्यतया श्रोत्रेन्द्रिय की प्रधानता रहती है और उससे भी बढकर मन की मुख्यता है। कहा भी है "**श्रुतमनिन्द्रियस्य**"[१] मन का विषय श्रुत है। यही ज्ञान मनुष्य को मुखरित करता है, अक्षर रूप में भी यही ज्ञान परिणत होता है। शब्द और अर्थ की पर्यालोचना के अनन्तर होने वाले त्रैकालिक सामान्य एव विशेष ज्ञान को मुख्यता देने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। यद्यपि श्रुतज्ञान का अर्थ सुनकर प्राप्त हुआ ज्ञान ही ध्वनित होता है, तथापि पठित ज्ञान को भी श्रुतज्ञान ही कहा जाता है, क्योंकि श्रुत अर्थात् शास्त्र के स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञान भी श्रुतज्ञान ही होता है।

३. **अवधि-ज्ञान**—अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से होने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। इस मे इन्द्रियो और मन की सहायता अपेक्षित नही होती। वह मूर्त एव रूपी पदार्थो का प्रत्यक्ष अपने क्षयोपशम प्रमाण से कर सकता है, अमूर्तो का नहीं। यह ज्ञान सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों को होता है, असंज्ञी को नही। इस ज्ञान की प्राप्ति चारा गतियों के जीवो को हो सकती है।

४. **मन:पर्यव-ज्ञान**—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, ढाई द्वीप की मर्यादा को लिए हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को दूर रहते हुए भी जान लेना मन:पर्यव ज्ञान है। यह ज्ञान लब्धिधारी-अप्रमत्त संयत मे उत्पन्न होता है। इसका उद्भव सातवें गुणस्थान में हो सकता है उससे पूर्व नही। अन्य जीवो को यह ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता। ढाई द्वीप मे रहे हुए संज्ञी जीवो के मनोगत भावों का स्पष्ट ज्ञान कराना इस ज्ञान का विषय है।

५. **केवलज्ञान**—सपूर्ण, निरावरण लोक-अलोक-प्रकाशी बिना किसी रुकावट के दूर-समीप, सूक्ष्म-स्थूल, रूपी-अरूपी सभी पदार्थो को हस्तामलक की तरह जानने के लिए समर्थ ज्ञान को केवलज्ञान कहते है। यह ज्ञान सादि अनन्त है, इस ज्ञान को पाकर ही जीव परमपद को प्राप्त कर सकता है। यह ज्ञान भी अप्रमत्त संयत को ही होता है। क्षीण-मोहनीय-गुणस्थान मे चार घाति कर्मों को सर्वथा क्षय करके तेरहवें गुणस्थान के पहले समय में ही जीव केवलज्ञान से प्रकाशित हो उठता है।[२]

---

१ तत्त्वा २, सू २२।

२ इन पाच ज्ञानो की व्याख्या नदी सूत्र मे की गई है।

ज्ञानावरणीय कर्म

मूल—पंचविहे णाणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—आभिणि-बोहियणाणावरणिज्जे जाव केवलणाणावरणिज्जे ॥ ७९ ॥

छाया—पञ्चविधं ज्ञानावरणीयं कर्म प्रज्ञप्त, तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानावरणीयं यावत् केवलज्ञानावरणीयम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पांच प्रकार का ज्ञानावरणीय कर्म कथन किया गया है, जैसे—आभि-निबोधिकज्ञानावरणीय से लेकर केवलज्ञानावरणीय तक।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में ज्ञान की पंचविधता बताई गई है, ज्ञान का अक्षय भण्डार आत्मा है, परन्तु उसे ज्ञानावरणीय कर्म की पाच प्रकृतियों ने आवृत किया हुआ है। जब ज्ञानावरणीय कर्म-प्रकृति ज्ञान को आच्छादित कर लेती है तब आत्मा सब कुछ जानने की शक्ति होते हुए भी यत्किंचित् ही जान पाता है।

क्योंकि ज्ञान के पांच रूप हैं, अत: उन्हें आच्छादित करने वाली कर्म-प्रकृतियां भी पांच ही हैं। आभिनिबोधिक ज्ञान को आच्छादित करने वाली कर्म-प्रकृति को आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय कहा जाता है, इसी प्रकार श्रुतज्ञान को आवृत करने वाली कर्म-प्रकृति को 'श्रुतज्ञानावरणीय' और अवधिज्ञान को आवृत करने वाली प्रकृति को 'अवधिज्ञानावरणीय' मन.पर्यवज्ञान की उत्पत्ति मे बाधक कर्म-प्रकृति 'मन:पर्यवज्ञानावरणीय' और केवलज्ञान की उत्पत्ति मे बाधक कर्म-प्रकृति को 'केवलज्ञानावरणीय' कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि जो कर्म-प्रकृति जिस ज्ञान को आवृत करती है वह उसी ज्ञान के नाम से सम्बद्ध 'ज्ञानावरणीय' कर्म-प्रकृति कहलाने लगती है।

जब पुण्य-पथ पर बढता हुआ साधक संयमशील बनकर कर्म-प्रकृतियो का क्षयोपशम करने लगता है, तब मेघो के आवरण से मुक्त सूर्य के समान आत्मा चमक उठता है, उसका ज्ञानालोक फैलने लगता है और इस प्रकार सयमशीलता की वृद्धि के साथ-साथ वह क्रमश: मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनपर्यवज्ञानी बनता जाता है और अन्त मे उन आवरणो के सर्वथा क्षय हो जाने पर केवलज्ञान से सम्पन्न होकर परमात्मा बन जाता है।

स्वाध्याय और उसके भेद

मूल—पंचविहे सज्झाए पण्णते, तं जहा—वायणा, पुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा ॥ ८० ॥

छाया—पञ्चविध: स्वाध्याय· प्रज्ञप्तस्तद्यथा—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्म कथा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—स्वाध्याय पांच प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा।

विवेचनिका—ज्ञानावरण-कर्म का क्षय करने के लिए मुख्य साधन स्वाध्याय है। स्वाध्याय का अर्थ होता है, अपने आपको पढ़ना, अर्थात् आत्मनिरीक्षण अथवा जिस पठन-विधि से आत्मा विकारों से निवृत्त होकर अपने स्वरूप को जानता है वह स्वाध्याय है। आत्म-निरीक्षण ही जीवन को उच्चता की ओर ले जाने वाला प्रमुखतम साधन है। केवल पुस्तकों के शब्दो को रटना स्वाध्याय नहीं, स्वाध्याय तभी स्वाध्याय है जब वह विराट् विश्व में "मैं क्या हू" इसका बोध करा दे।

आज की पठन-पाठन विधि मे अन्तर्मुखता का—आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव हो गया है, यही कारण है कि आज के विद्यार्थी आत्म-विमुख होकर आत्म-प्रवञ्चना में लीन है। प्राचीन युग में स्वाध्याय अनुमानित पत्रो पर निर्भर न होकर स्वात्मानुभूति से युक्त होता था, अतः उसकी विशेष विधि निर्धारित की गई थी। जैसे कि—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना—पुनरावृत्ति, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। इनका विवरण निम्नलिखित है—

१. **वाचना**—पढ़ना-पढाना, शिष्यों को सूत्ररूप मे या अर्थरूप मे नया पाठ लेना और देना वाचना है। जिस पद्धति से शिष्य की प्रवृत्ति एव अभिरुचि श्रुतज्ञान की ओर बढ़े वह पठन-पाठन पद्धति ही वाचना है।

२. **पृच्छना**—मूल पाठ के विषय मे, उच्चारण के विषय में तथा अर्थ के विषय मे सदेह होने पर गुरुजनो से श्रद्धा-पूर्वक उस विषय मे प्रश्न करना ही पृच्छना है।

३ **परिवर्तना**—अध्ययन किए हुए सूत्र या अर्थ को दोहराना, उसकी पुनरावृत्ति करते रहना, जिससे कि मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओ पर उसकी अमिट छाप लगती जाए उसे ही परिवर्तना कहा जाता है।

४. **अनुप्रेक्षा**—अनुसंधान करना, भूले हुए पाठ या अर्थ को स्मृति-पथ मे लाने के लिए, उसमें पुनः-पुनः उपयोग लगाना, उसका चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करना ही अनुप्रेक्षा है।

५. **धर्मकथा**—उपर्युक्त चार प्रकार के स्वाध्याय करते हुए शास्त्र का अभ्यास करना, शास्त्रीय ज्ञान को सम्यक् रूप से प्राप्त करके भव्य जीवों को धर्मोपदेश करना धर्मकथा है, शास्त्रीय व्याख्यान करना, श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म का जनता में प्रचार करना ही धर्म-कथा है। स्वाध्याय करते हुए गुरु वाणी और जिनवाणी के प्रति श्रद्धा-भक्ति, विनय और सेवा का होना आवश्यकीय है।

वस्तुतः स्वाध्याय को धर्मकथा का रूप ही प्राप्त होना चाहिए। पाठ्यक्रम मे धर्म-

कथाओं और धर्म-शिक्षा को प्राथमिकता देनी चाहिए। आज स्वाध्याय को धर्म के परिवेश से मुक्त करने का दुष्प्रयास किया जा रहा है, यही कारण है कि आज का छात्र स्वाध्यायशील नहीं रहा, उसे अपने धर्म, अपनी संस्कृति, अपने पूर्वजों के पुण्य इतिहास के ज्ञान से वंचित होना पड़ रहा है, अत: छात्रों को पठन-पाठन की ओर नहीं ''स्वाध्याय'' की ओर प्रवृत्त करना चाहिए।

''स्वाध्यायान्मा प्रमद:''—स्वाध्याय करने मे प्रमाद मत करो, यही मन्त्र शिष्यों के जीवन में उतारना चाहिए।

प्रत्याख्यान-विशुद्धि

मूल—पंचविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा—सद्दहणसुद्धे, विणयसुद्धे, अणुभासणासुद्धे, अणुपालणासुद्धे, भावसुद्धे ॥८१॥

छाया—पञ्चविधं प्रत्याख्यानं प्रज्ञप्त, तद्यथा—श्रद्धानशुद्धं, विनयशुद्धं अनुभाषणाशुद्धं, अनुपालनशुद्धं, भावशुद्धं।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पांच प्रकार का प्रत्याख्यान कथन किया गया है, जैसे—श्रद्धान-शुद्ध, विनय-शुद्ध, अनुभाषणा-शुद्ध, अनुपालना-शुद्ध और भाव-शुद्ध।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में स्वाध्याय का वर्णन किया गया है। स्वाध्याय से ही हेय, ज्ञेय और उपादेय का सम्यक्तया बोध होता है। बोध हो जाने पर हेय पदार्थों के त्यागने की उत्कट भावना उत्पन्न हो जाती है और उपादेय को ग्रहण करने के लिए मन समुत्सुक हो उठता है। हेय के त्याग को ही पच्चक्खाण कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र मे पच्चक्खाण-विशुद्धि के विषय मे कहा गया है कि उसकी विशुद्धि पांच कारणो से होती है जैसे कि श्रद्धा, विनय, अनुभाषण, अनुपालन और भाव। इनकी विशुद्धि से ही प्रत्याख्यान की विशुद्धि होती है, जैसे कि—

१. श्रद्धान-शुद्ध—जिस प्रत्याख्यान से मूलगुणो का भरण-पोषण एवं वृद्धि हो उसे मूलगुण पच्चक्खाण कहते हैं और जिससे उत्तरगुणो की वृद्धि हो वह उत्तरगुण-पच्चक्खाण है। मूलगुण-पच्चक्खाण हो या उत्तर-गुण-पच्चक्खाण उसके साथ श्रद्धा का होना आवश्यक है। श्रद्धान्वित पच्चक्खाण करने से ही इच्छाओ का निरोध हो सकता है। प्रत्याख्यान के बिना जीव का कल्याण नहीं हो सकता, क्योकि प्रत्याख्यान के अभाव मे ममत्व का बन्धन बना रहता है। ममता से मुक्त होने के लिए किए जाने वाले प्रत्याख्यान के प्रति श्रद्धा का होना अनिवार्य है। तभी वह प्रत्याख्यान श्रद्धान-शुद्ध-प्रत्याख्यान कहलाता है।

२. विनय-शुद्ध—प्रत्याख्यान करते समय गुरुजनों की मन, वचन और काय से

विनय करते हुए प्रत्याख्यान व्रत को ग्रहण करना विनय-शुद्ध-प्रत्याख्यान-कहलाता है। विनयपूर्वक किया हुआ प्रत्याख्यान ही आत्म-विकास का साधक माना गया है। विनय ही धर्म का, गुणो का तथा सपत्ति का मूल कारण है, अत. सद्‌गुणो को व्यक्त होने का सुअवसर विनीत को ही प्राप्त होता है।

३. **अनुभाषण-शुद्ध**—गुरुजनों से प्रत्याख्यान कराते समय उन्हें वन्दना करके, उनके सामने खड़े हो हाथ जोडकर प्रत्याख्यान कराते हुए जब गुरुदेव ''वोसिरे'' कहे तब शिष्य ''वोसिरामि'' कहता हुआ प्रत्याख्यान को स्वीकार करे। गुरु के वचनो को धीमे शब्दों मे अक्षर, पद, व्यजन की अपेक्षा शुद्ध उच्चारण करते हुए दोहराना अनुभाषण-शुद्ध-प्रत्याख्यान माना जाता है।

४ **अनुपालना-शुद्ध**—जो प्रत्याख्यान किसी महावन मे, दुर्भिक्ष मे, रोग आदि की अवस्था मे या किसी अन्य महाकष्ट के आने पर भी भग न किया जाए, शरीर-विनाशक उपसर्ग आने पर भी दृढ़ता के साथ उसका पालन किया जाए, ऐसा प्रत्याख्यान ही अनुपालना-शुद्ध कहलाता है। इस प्रकार का प्रत्याख्यान-साधक 'आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति' जैसे वचनो की उपेक्षा करता हुआ प्रत्याख्यान-पालन में दृढ़ रहता है।

५. **भाव-शुद्ध**—राग-द्वेष, मोह आदि से अथवा सांसारिक प्रशसा या आशंसा—आशा आदि से प्रत्याख्यान को दूषित न करना तथा भौतिक सुखों की लालसा से निदान अर्थात् तपस्या के फल के रूप में सासारिक पदार्थो की कामना न करना भावशुद्ध प्रत्याख्यान है।

कुछ प्रतियों में 'भावशुद्ध' के स्थान पर 'ज्ञानशुद्ध' पाठ देखने में आता है। इस पाठ को मानने वाले कुछ विद्वान् छ: प्रकार की प्रत्याख्यान-शुद्धि मानते है, क्योंकि व्यक्ति जिस काल मे ज्ञानपूर्वक मूलगुणों या उत्तरगुणो मे करणीय कार्यो की प्रतिज्ञा करता है उसे ज्ञान-शुद्ध-प्रत्याख्यान कहा जाता है, किन्तु गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर ज्ञानशुद्ध-प्रत्याख्यान श्रद्धान-शुद्ध के अतर्भूत हो जाता है क्योकि सम्यग्‌दर्शन पूर्वक ही ज्ञान होता है, अत: प्रस्तुत पाठ के अनुसार वर्णित प्रत्याख्यान-शुद्धि के पाच रूप ही युक्ति-सगत प्रतीत होते है।

''प्रति'' उपसर्ग का अर्थ है 'निषेध' ''आ'' उपसर्ग का अर्थ है 'मर्यादा' और ''ख्या धातु का अर्थ है प्रकथन। अत: प्रत्याख्यान शब्द का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ है—मर्यादापूर्वक त्यागने योग्य पदार्थों का कथन करना। कहा भी है, **प्रति—प्रतिषेधते आख्यान मर्यादया कथनं प्रतिज्ञानं प्रत्याख्यानम्।**

प्रतिक्रमण और उसके भेद

मूल—पंचविहे पडिक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा—आसवदार-पडिक्कमणे,

मिच्छत्तपडिक्कमणे, कसाय-पडिक्कमणे, जोग-पडिक्कमणे, भाव-पडिक्कमणे ॥८२॥

छाया—पञ्चविधं प्रतिक्रमणं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आश्रवद्वार-प्रतिक्रमणं, मिथ्यात्व-प्रतिक्रमणं, कषायप्रतिक्रमणं, योगप्रतिक्रमणं, भाव-प्रतिक्रमणं।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—प्रतिक्रमण के पांच रूप बताए गए हैं, जैसे कि आश्रव-प्रतिक्रमण, मिथ्यात्व-प्रतिक्रमण, कषाय-प्रतिक्रमण, योग-प्रतिक्रमण और भाव-प्रतिक्रमण।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे प्रत्याख्यान का वर्णन किया गया है। प्रत्याख्यान मे यदि कभी अतिक्रम आदि दोष लग जाए अर्थात् प्रत्याख्यान मे यदि किसी भी प्रकार की कोई त्रुटि रह जाए तो उस त्रुटि को दूर करने के लिए प्रतिक्रमण करना आवश्यक होता है। प्रतिक्रमण का अर्थ है, आत्मा यदि शुभयोग से अशुभयोग में, अप्रमाद से प्रमाद में भटक जाए तो उसे फिर शुभ योग मे तथा अप्रमाद मे लौटा लाने की साधना करना। अकर्त्तव्य से निवृत्त होकर धर्म-ध्यान मे अवस्थित होना, अतएव प्रतिक्रमण की परिभाषा करते हुए शास्त्रकार कहते हैं :—

**''स्वस्थानाद्यत्परस्थानं, प्रमादस्यवशाद् गतम्।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते।''**

अर्थात् प्रमादवश जब आत्मा निज गुणों को छोडकर पर-गुणो मे भटक जाता है, उसका पुन: आत्मगुणो में लौट आना ही प्रतिक्रमण कहलाता है। कुमार्ग से हटकर सन्मार्ग में आना द्रव्य-प्रतिक्रमण है और मिथ्यात्व आदि से निवृत्त होना भाव-प्रतिक्रमण है। प्रस्तुत सूत्र में भाव-प्रतिक्रमण की ही व्याख्या की गई है।

१ आश्रवद्वार-प्रतिक्रमण—आश्रव द्वार पाच हैं, जैसे कि प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह। इनसे सर्वथा निवृत्त होना अर्थात् मन से भी यदि इनकी ओर प्रवृत्ति हो गई हो तो उससे निवृत्ति पाना ही आश्रव द्वार-प्रतिक्रमण कहलाता है।

२. मिथ्यात्व-प्रतिक्रमण—जानकर या अनजाने में यदि अकस्मात् मिथ्यात्व में प्रवृत्ति हो जाए एव मानसिक शका-काक्षादि कारणो से मिथ्यादर्शन-शल्य में प्रवृत्ति हो जाए तो उस दुष्प्रवृत्ति से निवृत्ति पाना ही मिथ्यात्व प्रतिक्रमण है।

साधनाशील व्यक्ति का मन पहले तो दोषों से सर्वथा बचकर ही चलता है, फिर भी प्रमाद वश यदि वह किसी मिथ्यात्व-प्रवृत्ति मे फंस जाता है तो उसे तुरन्त लौटा लाने का पुण्य प्रयास ही मिथ्यात्व-प्रतिक्रमण है।

३. कषाय-प्रतिक्रमण—क्रोध, मान, माया, लोभ और राग-द्वेष रूप कषायो में आत्मा की प्रवृत्ति हो जाए तो उनसे निवृत्ति पाना ही कषाय-प्रतिक्रमण है, क्योंकि संयम-साधना

में क्रोधादि विकार अत्यन्त घातक हैं, स्वल्प मात्रा में यदि कषायों मे प्रवृत्ति हो जाए तो उस प्रवृत्ति से निवृत्त होना ही कषाय-प्रतिक्रमण का उद्देश्य है।

४. **योग-प्रतिक्रमण**—मन, वचन और काया की यदि अशुभ योगो में प्रवृत्ति हो जाए तो उन अशुभ योगों से निवृत्त होना ही योग-प्रतिक्रमण है।

५. **भाव-प्रतिक्रमण**—अपने द्वारा किए गए अशुभ कृत्यों की आलोचना, निन्दना एवं गर्हणा करना और प्रमाद का सेवन पुनः न करना ही भाव-प्रतिक्रमण है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और अशुभयोग ये सब प्रमाद हैं। सयम-साधना में प्रमाद सब से बड़ा दोष है, अतः प्रमाद को त्याग कर आत्म-स्वरूप मे लौटना ही भाव-प्रतिक्रमण का लक्ष्य है। अप्रमत्त संयत के लिए सूक्ष्म दोष भी नेत्र मे पडे हुए सूक्ष्म रजकण की तरह असह्य है, अतः सब प्रकार के दोषों से सर्वथा निवृत्त होना ही साधक का परम कर्त्तव्य है।

सूत्र-वाचना से लाभ

मूल—पंचहिं ठाणेहिं सुत्तं वाएज्जा, तं जहा—संगहट्ठयाए, उवग्गहणट्ठयाए, णिज्जरणट्ठयाए, सुत्ते वा मे पज्जवयाए भविस्सइ, सुत्तस्स वा अवोच्छित्तिणयट्ठयाए।

पंचहिं ठाणेहिं सुत्तं सिक्खिज्जा, तं जहा—णाणट्ठयाए, दंसणट्ठयाए, चरित्तट्ठयाए, वुग्गहविमोयणट्ठयाए, अहत्थे वा भावे जाणिस्सामीतिकट्टु ॥८३॥

छाया—पञ्चभिः स्थानैः सूत्रं वाचयेत्, तद्यथा—संग्रहार्थतया, उपग्रहणार्थतया, निर्जरणार्थतया, श्रुतं वा मे पर्यवजातं भविष्यति, श्रुतस्य वा अव्यवच्छित्तिनयार्थतया।

पञ्चभिः स्थानैः श्रुतं शिक्षेत्, तद्यथा—ज्ञानार्थतया, दर्शनार्थतया, चारित्रार्थतया, व्युद्ग्रहविमोचनार्थतया, यथास्थान् वा भावान् ज्ञास्यामीति कृत्वा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पांच कारणों से शिष्यों को सूत्र की वाचना देनी चाहिए, जैसे कि शिष्यों के भली-भांति संग्रह के लिए, उपग्रह अर्थात् शिष्य-वर्ग पर अनुग्रह पूर्वक उपकार करने के लिए, निर्जरा के लिए, सूत्रों को भली-भान्ति स्पष्ट करने के लिए, और सूत्रो की परम्परा का उच्छेद न होने देने के लिए।

पांच कारणो से सूत्रों का अध्ययन करे, जैसे कि ज्ञान के लिए, दर्शन के लिए, चारित्र के लिए, जन-मानस को मिथ्यात्व के अभिनिवेश से मुक्त करने के लिए और शास्त्र के यथार्थ तथ्यों को जानने के लिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में भाव-प्रतिक्रमण का वर्णन किया गया है, वह भाव-प्रतिक्रमण श्रुत-पूर्वक ही होता है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे श्रुत-ज्ञान रूप सूत्र एवं अर्थ की वाचना देने और शिक्षा ग्रहण करने के कारण निर्दिष्ट किए गए हैं। शिष्यो को पढ़ाते हुए गुरु के हृदय में पांच उद्देश्यो मे से कोई एक उद्देश्य तो अवश्य होता ही है, क्योंकि बिना उद्देश्य के कोई भी मनुष्य किसी भी क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता, अत: गुरुजन भी किसी विशेष उद्देश्य से शिष्य को वाचना देते है। वाचना देने के क्या-क्या उद्देश्य हो सकते है, प्रस्तुत सूत्र मे उन्हीं उद्देश्यों को स्पष्ट किया गया है। वे उद्देश्य मुख्यत: पांच ही है। उनका विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते है—

१. **संगहट्ठयाए**—शिष्यों के संग्रह के लिए अर्थात् शिष्यो के श्रुत-संग्रह के लिए। गुरु का यह भी एक उद्देश्य होता है कि मेरे शिष्यो मे श्रुत-सग्रह हो जाएगा और ये शिष्य विद्वान् बन जाएंगे। अथवा मैने इन शिष्यों को सगृहीत किया है, अत: मेरा कर्त्तव्य है कि मै इन्हें शास्त्राध्ययन कराऊं। अपने इस कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए गुरुजन शिष्यों को पढाया करते हैं। शिष्य-सग्रह का यह भाव भी हो सकता है कि गुरुजन अपने मन मे यह सोचकर भी शिष्यो को शास्त्रों का स्वाध्याय कराया करते हैं कि मेरी स्वाध्याय करवाने की प्रवृत्ति एवं प्रकृति को देखकर अनेक शास्त्राभ्यासी शिष्य मेरे पास इकट्ठे हो जाएंगे, इस प्रकार शास्त्र-ज्ञान -प्रदान रूप कर्त्तव्य को मै पूर्ण कर सकूगा।

२. **उवग्गहणट्ठयाए**—सूत्र की वाचना देने से मेरे शिष्य तप और सयम की आराधना करने मे समर्थ हो जाएगे, दूसरों पर उपदेशादि के रूप मे उपकार करने में समर्थ हो जाएंगे, वे शास्त्रज्ञान से धर्म-बोध देने के योग्य बन जाएगे, वे गण की मान-मर्यादा को सुरक्षित रख सकेंगे। इस प्रकार मैं शिष्यो का तथा गण का उपकार कर सकूंगा, इस प्रयोजन के लिए गुरुजन शिष्यों को वाचना दिया करते है।

३. **णिज्जरणट्ठयाए**—कुछ गुरु जन कर्म-निर्जरा के उद्देश्य से भी वाचना दिया करते है, क्योंकि श्रुत-साहित्य के पढ़ने से कर्मो की निर्जरा शास्त्र-सम्मत है। तप के १२ भेदों मे दसवां भेद स्वाध्याय है, वाचना भी स्वाध्याय का ही एक रूप है, अत: वाचना को भी निर्जरा का कारण बतलाया गया है। स्वाध्याय आभ्यन्तर तप है और तप से कर्म-निर्जरा होती ही है।

४. **सुत्ते वा मे पज्जवयाए भविस्सइ**—कुछ गुरुजन इस प्रयोजन से शिष्यो को पढाते है कि इससे मेरा सूत्र-विषयक ज्ञान बढेगा, पढने की अपेक्षा पढ़ाने से ज्ञान अधिक सुस्पष्ट एवं विस्तृत होता है, यह सभी शिक्षा-शास्त्री स्वीकार करते हैं।

५. **सुत्तस्स वा अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए**—कुछ गुरुजन इस उद्देश्य से भी शिष्यों को पढ़ाते हैं कि सूत्रों के पढ़ने-पढ़ाने की परिपाटी नष्ट न हो जाए, पाठन-पठन शैली की परम्परा न टूट जाए, तथा चिरकाल तक ज्ञान की पावनी धारा प्रवाहित होती रहे, क्योंकि

अध्ययन-अध्यापन-व्यवस्था के ठीक चलते रहने पर ही श्रुत-ज्ञान की परम्परा चिर स्थायी रह सकती है।

उपर्युक्त पाच कारणो में साधु या गृहस्थ का नाम निर्देश न होने से यह ध्वनित होता है कि जिसमें पढाने की अच्छी योग्यता हो वही दूसरे को पढा सकता है। जिस प्रकार विद्वान् साधु गच्छ के लिए आधार-भूत होता है, उसी प्रकार विद्वान् श्रमणोपासक भी श्रीसंघ के लिए आधाररूप बन जाता है। उक्त पांच कारणो मे से चाहे जिस प्रयोजन से भी गुरु श्रुत-साहित्य का अध्यापन करता है, उसके पीछे सघ-कल्याण की कामना ही काम कर रही होती है। स्व-पर-कल्याण के अतिरिक्त इस मे श्रुत-भक्ति भी है। श्रुत-भक्ति भी भगवान की महाभक्ति है।

सूत्र के प्रथम भाग मे वाचना देने के पांच उद्देश्यो पर प्रकाश डाला गया है, अब सूत्र के दूसरे भाग मे शिष्यो के द्वारा आगमो के अध्ययन के कारणों पर प्रकाश डाला जा रहा है। एक ही कार्य जब अनेक व्यक्ति करते हैं तो उसमें भी सबका उद्देश्य समान नही होता। यदि एक शिष्य किसी प्रयोजन का अवलम्बन लेकर अध्ययन करता है तो दूसरा अन्य किसी प्रयोजन का आश्रय लेकर अध्ययन करता है। परन्तु सूत्रकार ने शिष्यों के सभी प्रयोजनों का संकलन पांच उद्देश्यो मे ही कर दिया है, जैसे कि—

१. **णाणट्ठयाए**—कुछ शिष्य श्रुत-अध्ययन ज्ञान प्राप्ति के लिए ही करते हैं, क्योकि श्रुत-अध्ययन से तत्त्वों का भली प्रकार निश्चय हो सकता है, जिस आगम का अध्ययन अभी तक गुरुमुख से नहीं किया गया उसके शास्त्रीय रहस्यों का परिज्ञान पढने एवं सीखने से ही हो सकता है।

२. **दंसणट्ठयाए**—कुछ शिष्य सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए स्वाध्याय किया करते है, तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप को जानकर सम्यग्दर्शन दृढ हो सकता है। जब तक तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, तब तक सम्यग्दर्शन भी दृढ नहीं हो सकता है। अथवा श्रद्धा-भक्ति से ओत-प्रोत होकर यह भगवान की वाणी है भले ही मेरी समझ मे आए या न आए किन्तु इसके पाठ मात्र से भी मेरा कल्याण हो जाएगा ऐसी भावना से भी सूत्र-स्वाध्याय करने वाले शिष्य देखे जाते हैं।

३. **चरित्तट्ठयाए**—प्रत्येक आगम के अक्षर, पद, चरण एव गाथा ये सब चारित्र की शिक्षा देते है। आगमो मे चारित्र का क्या स्वरूप बताया गया है, चारित्र के सभी अंग-उपागो का वर्णन आगमो में किस रूप मे प्राप्त होता है , चारित्र-विशुद्धि के क्या-क्या साधन बताए गए है , किन-किन तत्त्वों से चारित्र उत्तरोत्तर विशुद्ध होता है , और किन बाधक तत्त्वो से चारित्र मलिन एवं दूषित होता है , इत्यादि विषयों के परिज्ञान के लिए भी कुछ साधक स्वाध्याय किया करते हैं। स्वाध्याय करने से पदार्थ-विज्ञान, आत्म-शान्ति और कर्म-निर्जरा ये तीनों एक साथ होते है।

४. वुग्गहविमोयणट्ठयाए—जो व्यक्ति मिथ्या हठ या विवाद पर अड़े हुए हैं उनको उस द्वन्द्व से छुड़ाने के लिए श्रुताध्ययन करना, उन्हें मिथ्यात्व से हटाकर सम्यग्दर्शन में नियोजित करना, यह भी श्रुताध्ययन का एक मुख्योद्देश्य है। श्रुत-अध्ययन भी साधक का बहुत बड़ा उपकारक है, क्योंकि जो जीव अज्ञानता से संसार-चक्र मे परिभ्रमण कर रहे हैं उन्हे उस चक्र से मुक्त करने, सन्मार्ग में स्थापित करने और मोक्ष-पथ पर चलने के योग्य बनाने से बढ़कर और क्या उपकार हो सकता है ? श्रुत-साहित्य सीखकर व्याख्या करने की सामग्री जुटाना अथवा शास्त्रार्थ करने की सामग्री जुटाना इन दो विधियो से दूसरे का मिथ्याभिनिवेश हटाया जा सकता है।

५. अहत्थे वा भावे जाणिस्सामीति कट्टु—कुछ शिष्य शास्त्रो का स्वाध्याय इसलिए भी करते हैं कि मै पदार्थों के स्वरूप को भली-भांति जान सकूं, द्रव्यों के गुणों और पर्यायों से सम्यक्तया परिचित हो सकू।

इस प्रसंग पर शका हो सकती है कि जब पदार्थों का ज्ञान पहले चारो भेदों से भी हो जाता है तो क्या पांचवां भेद निरर्थक ही सिद्ध नहीं होता ?

इस शका के समाधान में कहा जा सकता है कि भगवती सूत्र के तीसरे शतक के पाचवे उद्देशक मे ज्ञान और विज्ञान ये दो पद आए है। ज्ञान शब्द संग्रह-नय से सम्बंध रखता है और विज्ञान व्यवहार-नय से। जो पदार्थो का बोध सामान्य रूप से कराता है वह ज्ञान और जो पदार्थो के विविध भेदों का प्रदर्शक है वह विज्ञान है। सूत्र-वर्णित पहले चार रूप ज्ञान से सम्बन्धित है और पाचवां रूप है विज्ञान से सम्बधित। स्वाध्याय की सफलता आत्मविकास और परोपकार मे ही है। प्रस्तुत सूत्र स्वाध्याय के द्वारा आत्म-विकास और परोपकार का मार्ग-दर्शन करा रहा है।

कल्पविमानों की ज्ञातव्य बातें

मूल—सोहम्मीसाणेसु णं कप्पेसु विमाणा पंच वण्णा पण्णत्ता, तं जहा—किण्हा जाव सुक्किला।

सोहम्मीसाणेसु णं कप्पेसु विमाणा पंचजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।

बंभलोगलंतएसु णं कप्पेसु देवाणं भवधारणिज्जसरीरगा उक्कोसेणं पंचरयणी उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।

नेरइया णं पंचवण्णे, पंचरसे, पोग्गले बंधिंसु वा, बंधंति वा, बंधिस्संति वा, तं जहा—किण्हे जाव सुक्किले, तित्ते जाव महुरे। एवं जाव वेमाणिया ॥८४॥

छाया—सौधर्मेशानयोः कल्पयोर्विमानाः पञ्चवर्णाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णाः यावत् शुक्लाः।

सौधर्मेशानयोः कल्पयोः विमानाः पञ्चयोजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ताः।

ब्रह्मलोकलान्तकयोः कल्पयोर्देवानां भवधारणीयशरीराण्युत्कर्षेण पञ्चरत्नय ऊर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ताः।

नैरयिकाः पञ्च वर्णान् पञ्च रसान् पुद्गलानबध्नन् वा, बध्नन्ति वा, बन्धिष्यन्ति वा, तद्यथा—कृष्णान् यावत् शुक्लान्, तिक्तान् यावत् मधुरान्। एवं यावत् वैमानिकाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सौधर्म और ईशान कल्पों के विमान पांच वर्णो वाले कथन किए गए हैं, जैसे—कृष्ण से लेकर शुक्ल तक।

सौधर्म और ईशान कल्पों के विमान पांच सौ योजन ऊंचे कथन किए गए हैं।

ब्रह्मलोक और लान्तक कल्पों मे देवों का भवधारणीय शरीर उत्कृष्ट पांच रत्नि (मुष्टिबन्ध हस्त) ऊंचे कथन किए गए है।

नारकी जीव पाच वर्ण वाले और पांच रस वाले पुद्गलों को भूतकाल मे बांधते रहे, वर्तमान काल में बांध रहे हैं और भविष्य में बांधेंगे, जैसे—कृष्ण से लेकर शुक्ल तक, तिक्त से लेकर मधुर तक। इसी प्रकार वैमानिक देवों तक समझना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वाचना देने और लेने के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है। वाचना-प्रभाव से महान् आत्माए देवलोको के विमानों में भी पहुचती हैं और वाचना-वंचित आत्माए पतनोन्मुख होती हुई अन्त मे नरकावासो की ओर भी उन्मुख होती हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र मे देवलोको के विमानो आदि के वर्णो का तथा नारकियों द्वारा बाधे जाने वाले पुद्गलो आदि का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

पहले और दूसरे देवलोक मे विमानों के रग पाच प्रकार के होते हैं, कुछ विमान काले वर्ण के, कुछ नीले वर्ण के, कुछ पीले वर्ण के, कुछ लाल वर्ण के और कुछ सफेद वर्ण के हुआ करते है और वे विमान पांच सौ योजन ऊचे हैं। ब्रह्मलोक और लांतक अर्थात् पांचवे और छठे देवलोक में रहने वाले देवों के भवधारणीय शरीर की ऊचाई पांच हाथ की होती है।

नारकी जीवों ने अतीत काल मे पाच वर्ण वाले पुद्गलो को तथा पांच रस वाले पुद्गलों को कर्म रूप मे बंध किया, वर्तमान मे बध कर रहे हैं और भविष्य मे बंध करेंगे। चौबीस दंडको में इसी प्रकार की स्थिति जान लेनी चाहिए। यद्यपि पचम स्थान के अनुरोध से गंध और स्पर्श का ग्रहण नहीं किया, तदपि उपलक्षण से उनका ग्रहण भी कर लेना चाहिए।

पांच-पांच महानदियों का संगम

मूल—जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं गंगा महाणइं पंच महाणईओ समप्पेंति, तं जहा—जउणा, सरऊ, आदी, कोसी, मही।

जंबूमंदरस्स दाहिणेणं सिंधुमहाणइं पंच महाणईओ समप्पेंति, तं जहा—सतद्दू, विभासा, वितत्था, एरावई, चंदभागा।

जंबूमंदरस्स उत्तरेण रत्ता महाणइं पंच महाणईओ समप्पेंति, तं जहा—किण्हा, महाकिण्हा, नीला, महानीला, महातीरा।

जंबूमंदरस्स उत्तरेणं रत्तावइं महाणइं पंच महाणईओ समप्पेंति, तं जहा—इंदा, इंदसेणा, सुसेणा, वारिसेणा, महाभोया॥८५॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणेन गङ्गा महानदीं पञ्च महानद्यः समाप्नुवन्ति, तद्यथा—यमुना, सरयू, आदी, कोशी, मही।

जम्बूमंदरस्य दक्षिणेन सिंधुमहानदीं पञ्चमहानद्यः समाप्नुवन्ति, तद्यथा—शतद्रु, विभाषा, वितस्ता, इरावती, चन्द्रभागा।

जम्बूमन्दरस्योत्तरेण रक्तां महानदीं पञ्चमहानद्यः समाप्नुवन्ति, तद्यथा—कृष्णा, महाकृष्णा, नीला, महानीला, महातीरा।

जम्बूमन्दरस्योत्तरेण रक्तावतीं महानदीं पञ्चमहानद्यः समाप्नुवन्ति, तद्यथा—इन्द्रा, इन्द्रसेना, सुषेणा, वारिषेणा, महाभोगा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत के दक्षिण की ओर भरतक्षेत्र मे गंगा महानदी में पांच महानदियां मिलती हैं, जैसे—यमुना, सरयू, आदी, कोसी, मही।

जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत के दक्षिण की ओर सिन्धु महानदी मे पांच महानदियां मिलती हैं, जैसे—शतद्रु, विभाषा, वितस्ता, इरावती, चन्द्रभागा।

जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत के उत्तर की ओर रक्ता महानदी में पांच महानदिया मिलती हैं, जैसे—कृष्णा, महाकृष्णा, नीला, महानीला महातीरा।

जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के उत्तर की ओर रक्तावती नदी मे पांच महानदियां मिलती हैं, जैसे—इन्द्रा, इन्द्रसेना, सुषेणा, वारिषेणा, महाभोगा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में साधक के प्राप्तव्य विमानो और साधना के अभाव में प्राप्त होने वाले नरकों का साकेतिक वर्णन किया गया है। नदियां मनुष्य लोक में ही होती हैं। प्रस्तुत सूत्र में जिस-जिस महानदी में पांच-पाच महानदियां समाविष्ट होती हैं उनका

कुछ परिचय प्रस्तुत सूत्र मे किया जा रहा है।

मध्यलोक के ठीक मध्यभाग मे जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरत और ऐरावत क्षेत्र में क्रमशः गंगा और सिधु तथा रक्ता और रक्तावती ये चार महानदियां है। प्रत्येक महानदी मे पांच-पांच महानदियां सम्मिलित होती हैं, जैसे कि—

जम्बूद्वीप के अन्तर्गत मन्दर पर्वत से दक्षिण की ओर भारतवर्ष के उत्तरप्रदेश में गंगा महानदी बहती है, उसमें यमुना, सरयू, आदी, कोशी और मही ये पांच महानदियां मिलती है।

इसी प्रकार उत्तरी भारत की सिधु महानदी में शतद्रु अर्थात् सतलुज, विभासा अर्थात् व्यास, वितस्ता अर्थात् जेहलम, इरावती अर्थात् रात्रि और चन्द्रभागा अर्थात् चनाब ये पाच नदिया मिलती हैं। पहली पाच महानदियां पूर्व दिशा मे बहती है तथा पांच महानद पजाब देश में हैं जो कि सिधु महानदी में मिलते है।

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में गगा महानदी और सिधु महानदी का मूल स्रोत चुल्लहिमवान् पर्वत पर पद्म महाह्रद बतलाया गया है। हो सकता है पामीर पठार से लेकर बद्रीनारायण से उत्तर की ओर विद्यमान नारायण पर्वत तक का प्रदेश ही चुल्लहिमवान् हो, क्योंकि सिन्धु का उद्‌गम स्थल पामीर है और गगा का उद्‌गम स्रोत नारायण पर्वत आधुनिक भूगोल-सम्मत है। सूत्र में वर्णित नदी-संगम की शेष बातो का आधुनिक स्थिति से मेल यह मानने के लिए प्रेरित करता है।

जंबूद्वीप के मन्दर पर्वत से उत्तर की ओर ऐरावत क्षेत्र है, उसमें रक्ता और रक्तवती ये दो महानदियां बहती है। कृष्णा, महाकृष्णा, नीला, महानीला और महानीरा ये पाच महानदिया रक्ता महानदी मे मिलती हैं और इन्द्रा, इन्द्रसेना, सुसेना, वारिसेना और महाभोगा ये महानदियां रक्तावती महानदी मे मिलती है।

कुमार-वास में प्रव्रजित तीर्थंकर

मूल—पंच तित्थगरा कुमारवासमज्झे वसित्ता मुंडा जाव पव्वइया, तं जहा—वासुपुज्जे, मल्ली, अरिट्ठनेमी, पासे, वीरे ॥८६॥

छाया—पञ्च तीर्थङ्करा कुमारवासमध्ये उषित्वा मुण्डा यावत् प्रव्रजिताः, तद्यथा—वासुपूज्यः, मल्लिः, अरिष्टनेमिः, पार्श्वः, वीरः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पाच तीर्थंकर कुमारवास में रहकर मुण्डित एवं प्रव्रजित हुए जैसे—वासुपूज्य, मल्लिनाथ, अरिष्टनेमी, पार्श्वनाथ, वर्धमान-महावीर।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वर्णित भरत क्षेत्र में १९ तीर्थंकर राज्य शासन के कर्त्तव्यों

का पालन करके दीक्षित हुए हैं, जबकि बारहवें वासुपूज्य जी, उन्नीसवें मल्लिनाथ जी, बाईसवे अरिष्टनेमि जी, तेईसवें पार्श्वनाथ जी और चौबीसवे वर्धमान महावीर कुमारवास में ही अर्थात् राज्यभार स्वीकार किए बिना ही गृहवास को छोडकर दीक्षित हुए हैं।

कुमार शब्द का प्रयोग उसके लिए किया जाता है जिसने राजगद्दी को अलंकृत न किया हो जैसे कि युवराज, युवराज भले ही विवाहित भी हो फिर भी वह राजकुमार ही कहलाता है, राजा नहीं। अत: इस स्थान पर भी कुमार शब्द राजपद के अभाव का ही द्योतक है।[१]

सभी तीर्थकरों ने राजकुलों मे ही जन्म लिया, राज्यभोग करते हुए ही संसार की वास्तविकता को पहचाना और उसका त्याग किया, परन्तु श्री वासुपूज्य, श्री मल्लिनाथ, श्री अरिष्टनेमि, श्री पार्श्वनाथ और श्री वर्धमान महावीर की यह महती साधना है कि वे राज्य-सत्ता के जाल-जंजाल में फंसने से पूर्व ही प्रव्रजित हो गए।

इन्द्र की पांच सभाएं

मूल—चमरचंचाए रायहाणीए पंच सभा पण्णत्ता, तं जहा—सभा-सुहम्मा, उववायसभा, अभिसेयसभा, अलंकारियसभा, ववसायसभा। एगमेगेणं इंदट्ठाणे पंच सभाओ पण्णत्ताओ तं जहा—सभा सुहम्मा जाव ववसायसभा ॥८७॥

छाया—चमरचञ्चायां राजधान्यां पञ्च सभाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सभासुधर्मा, उपपातसभा, अभिषेकसभा, अलंकारिकसभा, व्यवसायसभा। एकैकस्मिन् इन्द्रस्थाने पञ्च सभाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सभा सुधर्मा यावत् व्यवसायसभा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चमरचञ्चा की राजधानी में पांच सभाएं हैं, जैसे—सुधर्मा-सभा, उपपात-सभा, अभिषेक-सभा, अलंकारिक-सभा, व्यवसाय-सभा। प्रत्येक इन्द्रस्थान में पांच सभाएं हैं, जैसे—सुधर्मा सभा से लेकर व्यवसाय सभा तक।

विवेचनिका—कुमारवास प्रव्रजित भगवान महावीर ने सभी इन्द्र स्थानों में पंच सभाओ का निर्देश किया है—चमरेन्द्र की चमरचचा राजधानी मे पाच सभाएं है, जैसे कि—

१. सुधर्मा-सभा—जहां पर इंद्र का दरबार लगता है, राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी निर्णय दिया जाता है, जहां समिया, चंडा, जाया आदि तीन प्रकार की परिषदे लगती हैं वही सुधर्मा-सभा कहलाती है।

---

१ 'कुमाराणामराजभावेन वास. कुमारवास·, त ''अज्झावसित्त त्ति अध्युष्येति''। इतिवृत्तिकार·।

२. **उपपात-सभा**—जिसमे इन्द्र, देव और देविया ये सब उत्पन्न होते हैं।

३. **अभिषेक-सभा**—जहां इन्द्र का राज्याभिषेक होता है।

४. **अलंकारिक-सभा**—जहां इन्द्र या देव अलकारों से अलंकृत होते है।

५. **व्यवसाय-सभा**—जिसमें राजनीति एवं धर्मनीति की पुस्तकें पढ़कर अर्थ का निश्चय किया जाता है।

जिस स्थान, भवन, नगर एवं विभाग में इंद्र रहता है उसे इन्द्रस्थान कहते हैं। सभी इन्द्र स्थानो में पांच प्रकार की सभाए होती हैं। जिनके नाम पूर्वोलिखित है।[1]

पांच तारक युक्त नक्षत्र

मूल—पंच णक्खत्ता पंचतारा पण्णत्ता, तं जहा—धणिट्ठा, रोहिणी, पुणव्वसू, हत्थो, विसाहा ॥८८॥

छाया—पञ्च नक्षत्राणि पञ्चतारकानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—धनिष्ठा, रोहिणी, पुनर्वसु·, हस्तः, विशाखा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पाच नक्षत्र पाच तारों वाले वर्णन किए गए है, जैसे—धनिष्ठा, रोहिणी, पुनर्वसु, हस्त, विशाखा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे देवसभाओ का वर्णन किया गया है। नक्षत्र और तारे भी देवाधिष्ठित हुआ करते है अत: प्रस्तुत सूत्र मे पचम स्थान के अनुरोध से उन नक्षत्रो का उल्लेख किया गया है जिन का पाच-पाच तारो का परिवार है। नक्षत्र भी आत्मा के उत्थान में निमित्त कारण होते है जैसे कि पार्श्वनाथ जी के पाचों कल्याणक विशाखा नक्षत्र में हुए वैसे ही अन्य-अन्य नक्षत्रों के संदर्भ मे भी जान लेना चाहिए। साधना के उच्चतम शिखरों पर आसीन ज्ञानियो की ऊर्ध्वदृष्टि जब देवलोको के मार्ग का निरीक्षण करती है तो मार्ग मे अवस्थित खगोल-स्थिति अनायास ही प्रत्यक्ष हो उठती है। ज्योतिर्विद तो गणितानुमान से ही खगोल का वर्णन करते हैं, जबकि केवलज्ञानी प्रत्यक्ष प्रमाण से वर्णन किया करते हैं। अत: यह वर्णन ज्योतिष-शास्त्र को समर्थन ही नही यत्किंचित् प्रामाणिकता भी प्रदान करता है।

धनिष्ठा आदि नक्षत्रो का अपना-अपना आकाशीय प्रदेश है, उसी प्रदेश तक उनके विकर्षण की सीमाए होती है। उस सीमा में कुछ अन्य छोटे-छोटे तारे भी विद्यमान है। अत· प्रस्तुत सूत्र मे उन नक्षत्रो का नामोल्लेख किया गया है जिनकी आकर्षण-विकर्षण और प्रभाव सीमा में पाच-पांच तारक विद्यमान है।

---

१ इनका विशेष-वर्णन राजप्रश्नीय सूत्र व विजयदेव के अधिकार मे जीवाभिगम मूत्र से जानना चाहिए।

पाप-कर्म-संचित पुद्गल

मूल—जीवाणं पंचट्ठाणणिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा, तं जहा—एगिंदियनिव्वत्तिए जाव पंचिंदियनिव्वत्तिए। एवं चिण, उवचिण, बंध, उदीर, वेद तह णिज्जरा चेव।

पंच पएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता, पंच पएसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता जाव पंचगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता॥८९॥

छाया—जीवाः पञ्चस्थाननिवर्तितान् पुद्गलान् पापकर्मतया—अचिन्वन् वा, चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—एकेन्द्रियनिर्वर्तितान् यावत् पञ्चेन्द्रियनिर्वर्तितान्। एवं चिणं-उपचिणं, बन्धः, उदीरः, वेदः, तथा निर्जरा चैवः। पञ्चप्रादेशिकाः स्कन्धाः अनन्ताः प्रज्ञप्ताः, पञ्चप्रदेशोगाढ़ाः पुद्गला अनन्तः प्रज्ञप्ता।

यावत् पञ्चगुणरूक्षाः पुद्गला अनन्ताः प्रज्ञप्तः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—संसारी जीव पाच कारणों से निष्पादित पुद्गलों को पाप कर्म के रूप मे भूत काल में एकत्रित करते रहे, वर्तमान मे कर रहे हैं और भविष्य मे करते रहेंगे, जैसे—एकेन्द्रियनिष्पादित यावत् पञ्चेन्द्रिय निष्पादित। इसी प्रकार संचय करना, बार-बार संचय करना, बन्ध, उदीरणा, वेदन और निर्जरा के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए।

पांच प्रदेशों वाले स्कन्ध कथन किए गए है। आकाश के पांच प्रदेशो को अवगाहन करके रहने वाले पुद्गल भी अनन्त हैं, यावत् पांच गुण रूक्ष स्पर्श वाले पुद्गल भी अनन्त कथन किए गए है।

विवेचनिका—देव भी पापकर्मो के रूप में पुद्गलो का सचय करते है। अतः प्रस्तुत सूत्र मे जो जीव भूत, भविष्यत् और वर्तमान मे पाप-कर्म के रूप में पुद्गलो का सचय करते है उनका उल्लेख किया गया है।

ससार मे जितने भी विकसित और अविकसित प्राणी है उन सबका विभाजन पांच जातियो मे किया गया है, जैसे कि एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रिय-जाति और पचेन्द्रिय जाति। जीवों ने इन जातियो में उत्पन्न होकर पूर्वकाल में कर्म-पुद्गलों का सचय किया, वर्तमान में कर रहे है और भविष्य मे भी करते रहेगे। किसी एक जाति मे रहे हुए एक ही जीव ने ही नही, अपितु पृथक्-पृथक् जीवों ने पांच जाति के रूप मे पाप कर्मो का संग्रह किया, कर रहे है और करेगे। इसलिए सूत्रकार ने बहुवचन पद दिया है। इसी प्रकार कर्मों का चय, उपचय, बंध, उदीरणा, वेदना तथा निर्जरा भी उपर्युक्त पाचों जातियों

के जीवों ने किया है, कर रहे हैं और करते रहेगे।

पांच परमाणुओं के समुदाय को पच प्रदेशी स्कंध कहते हैं। पांच प्रदेशी स्कंध लोक मे अनंत हैं। आकाश के पांच प्रदेशों पर अवस्थित पुद्गल भी अनंत हैं। पांच समय की स्थिति वाले पुद्गल भी अनन्त हैं। पांच गुण-रूक्ष पुद्गल भी अनंत हैं। इस पद में सभी वर्ण, सभी गंध, सभी रस और सभी स्पर्शो का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में पदार्थों के स्वरूप का द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव को लक्ष्य में रखकर सूत्रकर्त्ता ने सुन्दर वर्णन किया है।

॥ इति पञ्चमं स्थानम् ॥
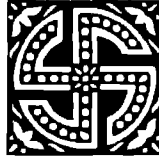
॥ णमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

श्री स्थानाङ्ग सूत्रम्

एक उद्देशक

इस उद्देशक में—

प्रस्तुत षष्ठ स्थान मे गणाधिपति-गुण, निर्ग्रन्थी स्पर्श, छद्मस्थ अज्ञेय, केवली-ज्ञेय, ऋद्धि, अप्राप्तिकरण, जीव-निकाय, षट्तारक-ग्रह, जीव की गति-आगति, जीव भेद, तृण वनस्पतिकाय, सुलभ-दुर्लभ-स्थान, इन्द्रिय-विषय, सवर, आस्रव, सुख-दुख, प्रायश्चित्त, मनुष्यभेद, ऋद्धिमान् मनुष्य, अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल, भरत-ऐरावत क्षेत्रो मे मनुष्य की ऊचाई, संहनन, सस्थान, उन्माद, जाति-आर्य, लोक, दिशा, आहार और अनाहार के कारण, प्रमाद, प्रमाद प्रतिलेखना, ईशानेन्द्र परिषद्-स्थिति, दिक्कुमारिया, धरणेन्द्र-अग्रमहिषिया, सामानिक देव, अवग्रहमति, क्षुद्रप्राणी, गोचरी, घृणित नरक, ब्रह्मलोक विमान-प्रस्तर, चन्द्र नक्षत्रों की योगस्थिति, अभिचन्द्र-कुलकर, भरत-राज्य-काल, श्री पार्श्वनाथ की वादी सम्पदा, सयम, असंयम, अकर्मभूमि, ऋतु, तिथिक्षय, तिथि-वृद्धि, आभिनिबोधिक ज्ञान का अर्थावग्रह, अवधिज्ञान के भेद, अकथनीय वचन, कल्प-प्रस्तार, कल्प-पलिमन्थु, कल्पस्थिति, महावीर के तीन षष्ठभक्त, तप के भेद, कल्प-विमान, भोजन-परिणाम, विषपरिणाम, उत्कृष्ट विरहकाल, प्रश्न, आयुबन्ध, आधुबंधकाल, भाव, कृत्तिका नक्षत्र-तारक, जीव के पुद्गल-ग्रहण-स्थान आदि की षट्विधता का विस्तृत वर्णन किया गया है।

षष्ठ स्थान

सामान्य-परिचय

स्थानांग-सूत्र के छट्ठे स्थान में एक ही उद्देशक है और इसमें विविध दृष्टियों से उन पदार्थों एवं तथ्यो का वर्णन किया गया है जिनकी संख्या न तो छः से अधिक है और न ही कम।

गणी के गुण

मूल—छहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ गणं धारित्तए तं जहा—सड्ढी पुरिसजाए, सच्चे पुरिसजाए, मेहावी पुरिसजाए, बहुस्सुए पुरिसजाए, सत्तिमं अप्पाहिगरणे ॥१॥

छाया—षड्भिः स्थानैरनगारोऽर्हति गणं धारयितुम्, तद्यथा—श्रद्धावत्पुरुषजातं, सत्यपुरुषजातं, मेधाविपुरुषजातं, बहुश्रुतपुरुषजातं, शक्तिमान्, अल्पाधिकरणः।

शब्दार्थ—छहि ठाणेहिं—छह स्थानों से, **संपन्ने**—सम्पन्न, **अणगारे**—अनगार साधु, **गणं धारित्तए**—गच्छ को धारण करने के लिए, **अरिहइ**—योग्य होता है, **तं जहा**—जैसे कि, **सड्ढी पुरिसजाए**—श्रद्धालु पुरुष, **सच्चे पुरिसजाए**—सत्य का आचरण करने वाला पुरुष, **मेहावी पुरिसजाए**—मेधावी पुरुष, **बहुस्सुए पुरिसजाए**—बहुश्रुत पुरुष, **सत्तिमं**—शक्ति वाला, **अप्पाहिगरणे**—कलह रहित।

मूलार्थ—छह गुणों से युक्त अनगार गण को धारण करने में समर्थ होता है, जैसे कि वह श्रद्धालु हो, सत्य आचरण करने वाला हो, मेधावी हो, बहुश्रुत हो, शक्तिमान और कलह से रहित हो।

विवेचनिका—पंचम स्थान मे जड, चेतनादि अनेक पदार्थो की पंच विधता बताई गई है, अब संख्या के क्रम से छठा स्थान प्राप्त हुआ। छट्ठे स्थान मे जीव और अजीव का वर्णन तथा उनके गुणों का उल्लेख छः-छः संख्या के अनुसार वर्णित है।

इस सूत्र में निर्देश किया गया है कि छः गुणो से सम्पन्न अनगार गण अर्थात् गच्छ को

धारण करने में समर्थ हो सकता है। गच्छ को मर्यादा में रखना, उसकी सार-संभाल करना, मिथ्यादृष्टि एव आततायियो से उसकी रक्षा करना, सब तरह से गण को समुन्नत बनाना श्रेष्ठ एवं वरिष्ठ मुनिवरों का ही कार्य है। आचार्य, उपाध्याय, गणी, प्रवर्त्तक आदि मुनिवर गण के अधिकारी माने जाते है। एक वे मुनि होते है जो अपना कल्याण स्वय कर सकते है किन्तु अपने जैसे अन्य साधकों की देखभाल नहीं कर सकते, और दूसरे वे हैं जो अपना कल्याण भी कर सकते है और अन्य साधकों का भी। इनमे से दूसरे प्रकार के मुनिवर ही गण के अधिकारी हो सकते है। उनमें भी जो मुनीश्वर छ: गुणो से सम्पन्न हैं, वे ही वास्तव मे गण के अधिपति हो सकते है, वे छ: गुण निम्नलिखित हैं—

१ **श्रद्धावान्**—जिसकी देव, गुरु, धर्म, जिनवाणी, श्रुतधर्म, चारित्र-धर्म तथा नवतत्त्वो पर दृढनिष्ठा है, वही श्रद्धावान कहलाता है। जब अधिकारी जन श्रद्धावान होंगे, तभी अनुयायीवर्ग श्रद्धावान हो सकता है। जो श्रद्धावान नही है न वह स्वय मर्यादा में रह सकता है और न दूसरो को मर्यादा में रख सकता है। कारण कि श्रद्धा ही जीवन को स्खलित होने से बचाती है, श्रद्धा ही आपत्काल से विमुक्त कराती है और धर्मश्रद्धा सासारिक सुखो की आसक्ति से मुक्त कर वैराग्य को सुदृढ करती है। अत: सम्यग्दर्शन सपन्न पुरुष ही गण को धारण एव पालन मे समर्थ होता है।

२. **सत्यपुरुषजात**—गण को धारण—पालन करने वालो में दूसरा गुण सत्यवादिता है जो जीवो के हित के लिए हो वह सत्य कहलाता है। बोलने और लिखने के समय जो सदैव सत्य का ही ध्यान रखता है वही गण की व्यवस्था बनाए रख सकता है। प्रतिज्ञा शूर व्यक्ति को ही सत्यपुरुषजात कहा जाता है। सत्य-पुरुषजात आपत्तिकाल में भी सत्य से विमुख नहीं होता, वह अपने कर्त्तव्य के प्रति सदैव सजग रहता है, प्रबुद्ध रहता है। सत्य की रक्षा के लिए सबसे पहले क्रोध, लोभ, भय-परिहास आदि विकारो का बलिदान करना जरूरी हो जाता है। सत्य की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगाना भी जिसके लिए कठिन नही है वही सत्य पुरुष गण को सुव्यवस्थित रख सकता है।

३. **मेधावी पुरुषजात**—जो अनगार बुद्धिमान है, जिसकी धारणा शक्ति तीव्र है, स्मरण-शक्ति प्रबल है वही मेधावी है अथवा सम्यग्दर्शन और सयम की मर्यादा को लिए हुए जिसकी बुद्धि ज्ञेय की ओर दौड़ लगाती है उसे मेधावी कहते है। मेधावी व्यक्ति ही श्रुतग्रहण करने मे समर्थ होता है। वही शिष्यो को आगमो का अध्ययन कराने में समर्थ होता है। अत: जो मेधावी है वही गच्छ मे रहे हुए साधकों को उन्नति के शिखर पर पहुचाने मे समर्थ हो सकता है।

४. **बहुश्रुत**—स्वमत तथा परमत के शास्त्रो का जो पारगत है, उसे बहुश्रुत कहते है। जिसका जीवन ही शास्त्रमय हो गया है, जिसका प्रत्येक वाक्य शास्त्र अनुरंजित होता है, वही दूसरे का भी कल्याण कर सकता है। जो दीपक की तरह स्वयं प्रकाशमान है, वही दूसरे को प्रकाशित कर सकता है। बहुश्रुत ही जानते है कि इस साधक की श्रद्धा, भावना, बुद्धि,

शक्ति, प्रवृत्ति किस प्रकार की है? उसके अनुसार वे आज्ञा व धारणा के द्वारा सयम में प्रवृत्त कराते हैं। जो श्रुतसाहित्य का प्रकाड विद्वान है वही वस्तुत: गण का अधिकारी हो सकता है। क्योंकि जो ज्ञान से रहित है, वह संसार का उच्छेद करने वाली ज्ञान आदि संपत्ति का अधिक से अधिक संचय कैसे कर सकता है ? जो अगीतार्थ है वह गण में रहे हुए बाल-वृद्ध मुनियों की रक्षा कैसे कर सकता है ? अत: गण के अग्रमान्य अधिकारी बहुश्रुत अनगार ही हो सकते हैं।

५. **शक्तिमान**—शक्ति अनेक प्रकार की होती है, जैसे कि प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति, उत्साहशक्ति, दिव्यशक्ति, तत्रशक्ति, यंत्रशक्ति, परिवारशक्ति और विद्याशक्ति इत्यादि। इन शक्तियों से जो यथासंभव सशक्त है वही गण का प्रमुख हो सकता है, क्योकि शक्ति से ही संघ और धर्म की रक्षा हो सकती है। जो शक्तिमान है, वही आई हुई आपत्ति से गच्छ को और अपने को बचा सकता है।

६ **अल्पाधिकरण**—इस पद में अल्प शब्द अभाव का द्योतक है और अधिकरण शब्द कलह का बोधक है। जो अनगार कलह से रहित है वही गण की रक्षा कर सकता है। क्योकि कलह गच्छ की हानि करने वाला है, अत: कलह प्रिय व्यक्ति न स्वय शान्ति मे रहता है और न दूसरों को शान्ति मे रहने देता है। इस कारण उसे वृद्धि के स्थान पर केवल हानि ही उठानी पडती है। ग्रथान्तर में गण-स्वामी के अन्य गुण भी वर्णित किए गए है—

''सुत्तत्थे निम्माओ पियदढधम्मोऽणुवत्तणाकुसलो।
जाइ कुल संपन्नो गभीरो लद्धिमंतो य॥
संगहुवग्गहनिरओ कयकरणो पवयणाणुरागी य।
एव विहो उ भणिओ गणसामी जिणवरिंदेहिं॥''

अर्थात्—जो सूत्र और अर्थ मे कुशल है, प्रियधर्मी और दृढ़धर्मी है, अनुवर्तना में निपुण है, जाति और कुल से सपन्न है, गंभीर एवं लब्धि-सपन्न है, सग्रह और उपकार करने में कुशल है, कृत करण में चतुर है, प्रवचनानुरागी है, इस प्रकार के गुणों से संपन्न अनगार ही गण का स्वामी हो सकता है। ऐसा तीर्थंकरो का कथन है।

ये सब गुण उक्त छ: गुणों मे ही अंतर्भूत हो जाते है। जो गण स्वामी छ: गुणों से सपन्न है वही स्वयं तथा अन्य भव्य प्राणियों को ससार सागर से पार करने मे तथा शासनोन्नति में सफल हो सकता है।

निर्ग्रन्थ द्वारा निर्ग्रन्थी का अदोष स्पर्श

मूल—छहिं ठाणेहिं निग्गंथे निग्गंथि गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ, तं जहा—खित्तचित्तं, दित्तचित्तं, जक्खाइट्ठं, उम्मायपत्तं, उवस्सग्गपत्तं, साहिगरणं ॥२॥

छाया—षड्भिः स्थानैर्निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं गृह्णन् वा, अवलम्बमानो वा नातिक्रामति, तद्यथा—क्षिप्तचित्तां, दृप्तचित्तां, यक्षाविष्टाम्, उन्मादप्राप्तां, उपसर्गप्राप्तां, साधि-करणाम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छः कारणो से निर्ग्रन्थ मुनि साध्वी का स्पर्श करता हुआ एवं हाथ से उसे सहारा देता हुआ भगवदाज्ञा का उल्लघन नही करता है, जैसे—यदि साध्वी क्षिप्तचित्त अर्थात् शोक से पागल-सी हो रही हो, दृप्तचित्त-हर्षादि से पागल हो गई हो, भूत आदि के आवेश से युक्त हो, उन्माद से ग्रस्त हो, उपसर्गो से घिरी हो और कलह के कारण उद्विग्न हो।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे गण-धारक अर्थात् गणी आचार्य आदि वरिष्ठ मुनिवर के गुण बतलाए गए हैं। आचार्य की आज्ञा के अनुसार कभी भी किसी मुनि को साध्वी-स्पर्श का अधिकार नहीं है, फिर भी सूत्र निर्दिष्ट परिस्थितियों में यदि साधु-साध्वी का स्पर्श कर लेता है तो वह आचार्य की एव जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का उल्लघन नहीं करता। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

साधु किसी भी स्त्री का स्पर्श नही कर सकता, भले ही वह राज-माता ही क्यो न हो, किन्तु प्रस्तुत सूत्र मे निर्दिष्ट छः कारणों के उपस्थित हो जाने पर करुणा बुद्धि से या साध्वी के संयम की रक्षा के लिए यदि साधु किसी साध्वी को हाथ आदि का सहारा देते हुए उसका स्पर्श कर भी लेता है तो वह आचार्य की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

जो साध्वी शोक से क्षिप्तचित्त वाली हो, हर्ष से दृप्तचित्त वाली हो, देवाधिष्ठित हो, वात आदि के कारण मस्तिष्क का सतुलन खो बैठी हो, किन्ही भयकर विघ्न-बाधाओं से घिरी हुई हो, कलह के कारण कही जाने के लिए उद्यत हो रही हो तो उसकी तथा उसके सयम की रक्षा के लिए उसका स्पर्श करके और उसे धर्म-शिक्षा देकर संयम मे स्थिर करने का प्रयास करता हुआ साधु साधुत्व के मार्ग से भ्रष्ट नही माना जा सकता।

प्रस्तुत सूत्र के "**क्षिप्त-चित्ता**" और "**दृप्तचित्ता**" शब्दो का अन्तर ध्यान में रखने योग्य है। क्षिप्तता कष्टो से उत्पन्न होती है, और दृप्तता अहकार से। कष्ट और अहंकार दोनों ही मनुष्य को पागल बना देते हैं। अत· दोनो से बचने का प्रयास साधक के लिए आवश्यक है।

कालगत स्वधर्मी के लिए निर्दोष साधु-क्रियाएं

मूल—छहिं ठाणेहिं निग्गंथा निग्गंथीओ य साहम्मियं कालगयं समायरमाणा णाइक्कमंति, तं जहा—अंतोहिंतो वा बाहिं णीणेमाणा, बाहिंतो

वा निब्बाहिं णीणेमाणा, उवेहमाणा वा, उवासमाणा वा, अणुन्नवेमाणा वा, तुसिणीए वा संपव्वयमाणा ॥ ३॥

छाया—षड्भिः स्थानैर्निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च स्वधार्मिकं कालगतं समाद्रियमाणा नातिक्रामन्ति, तं जहा—अन्तस्तो वा बहिर्नयन्तः, बहिस्तात् वा निर्बहिर्नयन्तः, उपेक्षमाणाः उपासमाना वा, अनुज्ञापयन्तो वा, तूष्णीं वा, संप्रव्रजन्तः।

शब्दार्थ—छहिं ठाणेहिं—छः कारणों से, **निग्गंथा निग्गंथीओ य**—साधु और साध्वियां, **कालगयं साहम्मियं**—कालगत अर्थात् मृत साधर्मिक को, **समायरमाणा**—आदर देते हुए, **णाइक्कमंति**—आज्ञा का उल्लंघन नही करते हैं, **तं जहा**—जैसे, **अंतोहिंतो वा बाहिं**—अन्दर से बाहर, **णीणेमाणा**—ले जाते हुए, **बाहिंतो**—बाहर से, **निब्बाहिं**—और बाहर, **णीणेमाणा**—ले जाते हुए, **उवेहमाणा**—मृतक के संस्कार आदि के सम्बन्ध में उपेक्षा करते हुए, **उवासमाणा वा**—रात्रि-जागरण के द्वारा उपासना करते हुए, **अणुन्नवेमाणा वा**—श्रावक आदि को परिष्ठापना के लिए अनुज्ञा देते हुए, **तुसिणीए वा**—मौन रूप से, **संपव्वयमाणा वा**—परिष्ठापन के लिए मृतक को ले जाते हुए।

मूलार्थ—छः कारणों से साधु और साध्वियां कालधर्म को प्राप्त मृतसाधर्मिक का आदर करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते है, जैसे कि—भवन के अन्दर से बाहर चौंक आदि में ले जाते हुए, बाहर चौंक से और अधिक दूर ले जाते हुए, कफन मे लपेटना आदि मृत-सस्कारो की उपेक्षा करते हुए, रात्रि जागरण रूप उपासना करते हुए, अन्त्येष्टि संस्कार के लिए गृहस्थवर्ग को आज्ञा प्रदान करते हुए, स्वयं मृतक को किसी निर्जन स्थान में रखने के लिए सम्मानपूर्वक ले जाते हुए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे साधु के लिए साध्वी-स्पर्श के आपवादिक कारणो पर प्रकाश डाला गया है, उसी आपवादिक स्थिति का अन्य रूप से प्रस्तुत सूत्र मे वर्णन किया गया है। साधु या साध्वियां ये दोनों छः कारणो से समानधर्म वाले साधु को कालगत जानकर अथवा समान धर्म वाली किसी साध्वी को कालगत जानकर उसकी उत्थापना आदि विशेष क्रिया करते हुए जिनेन्द्र आज्ञा के विराधक नहीं होते। वे छः कारण निम्नलिखित हैं, जैसे कि—

१. साधु या साध्वी के परलोक सिधारने पर मृतक क्रिया के लिए उपयुक्त सामग्री के अभाव मे मृतक को भीतर से बाहर ले जाते हुए मर्यादा का उल्लंघन होना नहीं माना जाता। अभिप्राय यह है कि यदि समान-धर्म वाला साधु दिवंगत हो जाता है और शेष मुनि उसे उपाश्रय से बाहर ले जाते है तो उस स्थिति मे वे जिन-आज्ञा के विराधक नही होते।

२. जब उस दिवंगत साधु को उपाश्रय के बाह्य प्रदेश से भी बहुत दूर तक ले जाने की आवश्यकता पडे यदि वे उसे दूर ले जाते हैं तो भी वे जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करते।

३. किसी सहधर्मी के दिवंगत होने पर मृतक को लक्ष्य में रखकर वे यदि विलाप आदि नहीं करते है उसकी उपेक्षा करते है एव उदासीन भाव से रहते हुए निहरण आदि क्रिया करते हैं तो वे साधु जिनेन्द्र-आज्ञा का उल्लघन नहीं करते।

४. समानधर्मी का शरीर शान्त हो जाने पर उसकी रक्षा के लिए रात्रि जागरण रूप उपासना करते हुए, यदि साधु देव-अधिष्ठित हो रहे हों तो उनका विद्या या मत्र के द्वारा उपचार करते हुए जिनेन्द्र-आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं।

पाठान्तर में **उवसामेमाणा** जब कोई साध्वी किसी क्षुद्र व्यन्तर देव से अधिष्ठित हो जाए तो उसका उपशमन करते हुए भी आज्ञा का उल्लघन नहीं होता।

५ यदि किसी सहधर्मी का शरीर शान्त हो गया हो तो उसे परिष्ठापन करने के लिए, उसके स्वजन वर्ग को भाषा समिति पूर्वक आज्ञा देते हुए साधु-साध्वी प्रभु-आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते।

६. जिस स्वधर्मी का निधन हो गया है उसके मृतक शरीर को किसी निर्जन स्थान मे रख देने के लिए मौन वृत्ति से शव-शय्या को ले जाते हुए या साथ-साथ जाते हुए साधु या साध्वी जिनेन्द्र आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते।

सूत्र गत विशेष पारिभाषिक शब्दो का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए—

उवेहमाणा—उपेक्षा दो तरह की होती है व्यापारोपेक्षा और अव्यापारोपेक्षा। मृतक साधु या साध्वी के शरीर का बडे समारोह से सम्मान किया जा रहा हो तब भी उपेक्षा भाव से उदासीन रहे और यदि जनता के द्वारा विशेष समारोह से नही अपितु सादगी से शव-यात्रा आदि कार्य किए जा रहे हो तो भी उदासीन रहे।

उवासमाणा—सूर्यास्त के समय यदि किसी साधु या साध्वी का शरीर शान्त हो गया हो तो रात को उपासना करते हुए। कुछ प्रतियों मे "**भयमाणा**" भी पाठ मिलता है उसका अर्थ है रात्रि को जागरण करते हुए। **अणुन्नवेमाणा**—भाषा समिति के साथ अनुज्ञा देते हुए। उपर्युक्त छ: कारणों से अंतिम क्रिया करते हुए साधु या साध्वी आज्ञा का अतिक्रमण नही करते।

छद्मस्थ ज्ञानी और केवल ज्ञानी का विषय

मूल—छ ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं ण जाणइ, ण पासइ, तं जहा—धम्मत्थिकायं, अधम्मत्थिकायं, आगासं, जीवमसरीरपडिबद्धं, परमाणु पोग्गलं, सद्दं।

एयाणि चेव उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे जाव सव्वभावेणं जाणइ, पासइ, तं जहा—धम्मत्थिकायं जाव सद्दं॥४॥

छाया—षट् स्थानानि छद्मस्थः सर्वभावेन न जानाति, न पश्यति, तद्यथा—धर्म्मास्तिकायम्, अधर्म्मास्तिकायम्, आकाशं, जीवमशरीरप्रतिबद्धं, परमाणुपुद्गलं, शब्दम्।

एतानि चैव उत्पन्नज्ञानदर्शनधरोऽर्हन् जिनो यावत् सर्वभावेन जानाति, पश्यति, तद्यथा—धर्मास्तिकायं यावत् शब्दम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छद्मस्थ अर्थात् सामान्य साधक छह स्थानों को पूर्ण भाव से न जानता है, न देखता है, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, अशरीरी जीव, परमाणुपुद्गल और शब्द।

उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धर्ता अर्हन्, जिन इन्ही छह स्थानों को पूर्णरूप से जानते हैं, देखते हैं, जैसे—धर्मास्तिकाय से लेकर शब्द तक छः पदार्थो को।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे जिस अपवाद मार्ग का वर्णन किया गया है उस अपवाद का सेवन छद्मस्थ ही करते है, अतः प्रस्तुत सूत्र में क्रम-प्राप्त छद्मस्थ की ज्ञान-सीमा का वर्णन किया गया है, छः बातो को छद्मस्थ सर्व भाव से नही जानता जैसे कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, शरीर बन्धनो से मुक्त जीव, परमाणु पुद्गल और शब्द, इनके सभी पर्यायो का साक्षात्कार छद्मस्थ नही कर सकता, क्योंकि छद्मस्थ का ज्ञान क्षायोपशमिक होता है, क्षायोपशमिक ज्ञान का विषय सब पर्याय नहीं है। अतः छद्मस्थ व्यक्ति सर्वभाव से न तो इनका प्रत्यक्ष कर सकता है और न इनका सर्व भाव से ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है। इसलिए सूत्रकर्त्ता ने "**सव्वभावेण, ण जाणइ ण पासइ**" पद दिए है।

इन पदार्थो को सभी अवस्थाओ में और सभी रूपो मे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अरिहत जिन केवली ही जान सकते है क्योकि उनकी ज्ञान-शक्ति अनंत होती है। आवरणो के सर्वथा क्षय हो जाने पर ही ज्ञान की अनत शक्तियों का उदय हुआ करता है।

अपरिवर्तनीय सिद्धांत

मूल—छहिं ठाणेहिं सव्वजीवाणं णत्थि इड्ढीति वा, जुत्तीति वा, [जसेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार] जाव परक्कमेइ वा, तं जहा—जीवं वा अजीवं करणयाए, अजीवं वा जीवं करणयाए, एगसमएणं वा दो भासाओ भासित्तए, सयं कडं वा कम्मं वेएमि वा, मा वा वेएमि, परमाणुपोग्गलं वा छिंदित्तए वा, भिंदित्तए वा, अगणिकाएण वा समोदहित्तए, बहिया वा लोगंता गमणयाए ॥५॥

छाया—षड्भिः स्थानैः सर्वजीवानां नास्ति ऋद्धिरिति वा, द्युतिरिति वा, यावत् पराक्रम इति वा, तद्यथा—जीवस्य वा अजीवस्य करणतायाम्, अजीवस्य वा जीवस्य करणतायाम्, एकसमयेन वा द्वे भाषे भाषितुं, स्वयं कृतं वा कर्म वेदयामि वा, मा वा वेदयामि, परमाणुपुद्गलं वा छेत्तुं वा, अग्निकायेन समवदग्धुं वा, बहिस्ताद् वा लोकान्ताद् गमनतायाम्।

शब्दार्थ—छहिं ठाणेहि—छह स्थानो मे, **सव्वजीवाणं**—सब जीवो की, **णत्थि इड्ढीति वा**—ऋद्धि नहीं है, **जुत्तीति वा**—द्युति, **जाव परक्कमेइ वा**—पराक्रम नही, **तं जहा**—जैसे, **जीवं वा अजीवं करणयाए**—जीव को अजीव करने मे, **अजीवं वा जीव करणयाए**—अजीव को जीव बनाने मे, **एगसमएणं वा**—एक समय मे, **दो भासाओ भासित्तए**—दो भाषा बोलने मे, **सयं कडं वा**—स्वय कृत, **कम्म**—कर्म को, **वेएमि वा**—भोगूं अथवा, **मा वा**—न, **वेएमि**—भोगूं, **परमाणुपोग्गल वा**—परमाणु पुद्गल को, **छिंदित्तए वा**—छेदन करने मे, **भिंदित्तए वा**—भेदन करने में, **अगणिकाएण वा**—अग्निकाय से, **समोदहित्तए**—जलाने मे, **बहिया वा लोगंता**—लोकान्त से बाहर, **गमणयाए**—जाने मे।

मूलार्थ—ससार के समस्त जीव छह स्थानों मे ऋद्धि, द्युति और पराक्रम आदि करने का सामर्थ्य नहीं रखते, जैसे कि—जीव को अजीव बनाने की, अजीव को जीव बनाने की, एक समय में दो भाषाये बोलने की, स्वयं किए हुए कर्म को इच्छानुसार भोगने या न भोगने की, परमाणु पुद्गल को छेदन करने, भेदन करने या अग्नि से जलाने की और लोकान्त से बाहर जाने की समर्थता नहीं है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे छद्मस्थ एव केवली भगवान की ज्ञान-सीमा का वर्णन किया गया है, प्रस्तुत सूत्र मे उनके सामर्थ्य से भी क्या कुछ बाहर है इस विषय का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—जिस विषय को छद्मस्थ मे जानने की शक्ति नहीं है, केवली भगवान उस वस्तु के सार्वकालिक सभी रूपो को जानते है, किन्तु कुछ ऐसी बातें भी है जिन्हे करने के लिए छद्मस्थ तो क्या केवली भी असमर्थ हैं। क्योंकि अनादि-सिद्ध सिद्धान्त को अन्यथा करने की शक्ति किसी मे नही हो सकती। भव्य प्राणियो की जानकारी के लिए सूत्रकार ने वे छ. बाते निर्दिष्ट की है, जो छद्मस्थ से लेकर केवली भगवान तक के लिए अपरिवर्तनीय है, जैसे कि—

१ जीव को अजीव बनाने की शक्ति किसी मे भी नही है। आत्मा भी अजीव की तरह एक स्वतन्त्र द्रव्य है, वह चेतन स्वरूप है, उसे अपनी शक्ति द्वारा नष्ट-भ्रष्ट करके अजीव बनाने की शक्ति किसी भी इंद्र, तीर्थकर आदि सशक्त जीव में नही है।

२ अजीव को जीव बनाना भी उनके लिए असंभव है। अजीव भी जीव की तरह एक स्वतन्त्र द्रव्य है, उसमे चेतना नहीं है, चेतना के अभाव के कारण ही वह अजीव कहलाता है। अत: अजीव को जीव बनाने की शक्ति किसी भी आत्मा में नहीं है।

३. एक समय मे दो भाषाएं नही बोली जा सकतीं। एक समय एक ही भाषा बोली या लिखी जा सकती है, किन्तु यदि कोई सशक्त जीव एक समय में दो भाषाए एक साथ बोलने का प्रयत्न करता है तो उसे सफलता मिलनी असंभव ही है।

४ अपनी इच्छा के अनुसार कर्मों का फल भोगना या न भोगना इस विषय में भी सभी जीव असमर्थ हैं। कर्म करने मे जीव अपेक्षाकृत स्वतन्त्र है, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह नवीन कर्मो का बंध करे या न करे, किन्तु फल-भोगने में वह स्वतंत्र नहीं है, अपनी इच्छा के अनुरूप भी कर्म-फल नहीं भोगा जा सकता है। कर्मों का उदय जिस तरह का होगा, जीव को उसी तरह का फल भोगना पड़ता है, भले ही वह शुभ रूप हो या अशुभ रूप। इच्छा के अनुसार कर्मो की उदयावली को आगे-पीछे नही किया जा सकता। केवली भगवान भवोपग्रही सज्ञक शेष रहे हुए कर्मो के काल-मान को जानते हैं और उसका प्रत्यक्ष भी करते है, किन्तु जो कर्म कालान्तर मे उदय होने वाले है उन्हें अभी भोग लूं और जो अभी उदय में प्रविष्ट हैं उन्हे कालान्तर में भोग लूगा ऐसा करने में वे भी असमर्थ हैं।

५. कोई भी सशक्त जीव परमाणुपुद्गल को खड्ग आदि से छेदन करने में, सूई आदि से उसका भेदन करने मे और अग्नि आदि द्वारा उसे जलाने में समर्थ नही है, वह अच्छेद्य, अभेद्य एव अदाह्य है। द्रव्य से वह परमाणु शाश्वत है और पर्याय से अशाश्वत।

६. लोक से बाहर अलोक मे जाने का सामर्थ्य भी किसी जीव में नहीं है, यदि ऐसा हो जाए तो अलोक भी लोक बन जाएगा। जो पहले कभी नही हुआ, वह अनन्त-अनन्त काल तक आगे होने वाला भी नही है। प्रकृति-सिद्ध अनादि मर्यादा का उल्लंघन करने का सामर्थ्य न किसी को पहले प्राप्त हुआ और न आगे किसी को प्राप्त होगा, जिसका आदि-अत नही है उसका मध्य भाग कहा से हो सकता है? वैसे ही जिसका सद्भाव अतीत और अनागत मे नही हो सका, उसका वर्तमान में कैसे सभव हो सकता है ?

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने **इड्ढीति जुत्तीति (जसेति बलेति वीरिएति पुरिसक्कार) परक्कमेति** पद दिए है, ये पद बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि इन पदो के अर्थ शब्दार्थ और मूलार्थ में दिये जा चुके है, तदपि यहां इन पदो का संक्षिप्त विश्लेषण करना भी जरूरी है।

ऋद्धि दो तरह की होती है—लौकिक और लोकोत्तरिक। अट्ठाईस लब्धियों का अंतर्भाव उक्त दोनों ऋद्धियो मे हो जाता है। वैभव और लब्धि ये ऋद्धि के पर्यायवाची नाम हैं।

काति एव माहात्म्य को द्युति कहते है, क्योंकि अद्भुत शक्ति होने पर ही विश्व में व्यक्ति का माहात्म्य बढ़ता है। किसी अद्भुत कार्य के करने पर ही यश बढ़ता है, जिसे कोई दूसरा न कर सके, उसे करने पर इन्सान को अवश्य यश प्राप्त हो जाता है। जिसके बल से सभी भयभीत होते हों, ऐसा शारीरिक, वाचिक एव मानसिक बल जिस मे है उसी बल को बल कहा जाता है। आत्म-शक्ति को आगम की भाषा में वीर्य कहते हैं, पौरुष को

ही पुरुषकार कहते हैं, दूसरे शब्दों में इसे उत्साह-शक्ति भी कह सकते हैं। **अदम्य-विक्रम** को पराक्रम कहते है। जिस शक्ति के प्राप्त होने पर कभी भी पराजय न हो सकता हो, वही वास्तव मे पराक्रम है।

ऐसा न कोई हुआ, न है और न होगा जिसे उपर्युक्त छः बातें करने की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य, पुरुषकार एव पराक्रम प्राप्त हुआ हो और न किसी को प्राप्त होगा। इन छः बातों के अतिरिक्त शेष सब कुछ करने की शक्ति जीव मे है। इसी कारण जैन दर्शन किसी को सर्वशक्तिमान नही मानता, हा अनत शक्तिमान तो आत्मा को अवश्य मानता है, अतः सिद्ध हुआ जीव अनत शक्ति सम्पन्न तो होता है, किन्तु सर्वशक्तिमान कोई भी जीव नही है, भले ही कोई सर्वतो महान परमेश्वर ही क्यों न हो।

षट् जीव-निकाय

मूल—छज्जीवनिकाया पण्णत्ता तं जहा—पुढविकाइया जाव तस-काइया ॥ ६ ॥

छाया—षड् जीवनिकायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिका यावत् त्रसकायिकाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छह जीव निकाय प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—पृथ्वीकायिक से लेकर त्रसकायिक तक।

विवेचनिका—भवस्थ सब जीवो का समावेश छः निकायों मे हो जाता है। निकाय शब्द का अर्थ है राशि, जीवो की राशि को जीवनिकाय कहते है। जिन जीवो का शरीर पृथ्वी रूप है, वे पृथ्वीकायिक है, जिनका शरीर जलरूप है वे अप्कायिक कहलाते है, जिन जीवो का शरीर तेजरूप है वे तेजस्कायिक है, जिन जीवों का शरीर वायु रूप है, वे वायुकायिक हैं, वनस्पति रूप शरीर को धारण करने वाले जीव वनस्पति कयिक है, इन्हे स्थावर भी कहते हैं। इन जीवो के केवल स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है। इन जीवो को एकेन्द्रिय शरीर स्थावर नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है। त्रसनाम कर्म के उदय से चलने-फिरने योग्य शरीर को धारण करने वाले द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव सभी त्रसकायिक कहलाते हैं। इस प्रकार समस्त जीव वर्ग को उपर्युक्त छः रूपो मे वर्गीकृत किया गया है।

तारकाकार ग्रह

मूल—छ तारग्गहा पण्णत्ता, तं जहा—सुक्के, बुहे, बहस्सइ, अंगारए, सनिच्चरे, केऊ ॥ ७ ॥

छाया—षट् तारग्रहाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शुक्रः, बुधः, बृहस्पतिः, अङ्गारकः, शनैश्चरः, केतुः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तारों के आकार वाले ग्रह छः कथन किए गए है, जैसे कि शुक्र, बुध, बृहस्पति, मंगल, शनैश्चर और केतु।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में षड्विध जीव-निकाय का वर्णन किया गया है, इन जीवों का अस्तित्व ग्रहो में भी पाया जाता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में क्रम-प्राप्त उन ग्रहो का वर्णन किया गया है जो तारकाकार है, वे छ: है, जैसे कि शुक्र, बुध, बृहस्पति, मंगल, शनि और केतु। इस वर्णन से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि सूर्य, चन्द्र और राहु इन ग्रहों का आकार तारो जैसा नहीं है। आगमो मे अट्ठासी महाग्रहों का स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है। उनमे से केवल नौ ग्रह ही लोक व्यवहार में काम आते है। जिन मे छ: ग्रहो का आकार तारकाकार है। सूर्य, चन्द्र और राहु ये तीन ग्रह बडे आकार के दृष्टिगोचर होते हैं। अत: इन का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र मे नही किया। सभी ग्रह देवाधिष्ठित है।

प्रस्तुत सूत्र मे ज्योतिष-विद्या सम्बन्धी एव खगोल-विद्या सम्बन्धी साकेतिक विवरण प्रस्तुत किया गया है। जैनागमों के विभिन्न प्रकरणो मे इस विषय का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

संसारी जीवों की गति-आगति

मूल—छव्विहा संसार समावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—पुढवि-काइया जाव तसकाइया।

पुढविकाइया छगइया, छ आगइया पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइए पुढविकाइएसु उववज्जमाणे पुढविकाइएहिंतो वा जाव तसकाइएहिंतो वा, उववज्जेज्जा। सो चेव णं से पुढविकाइए, पुढविकाइयत्तं विप्पजहमाणे पुढविकाइयत्ताए वा जाव तसकाइयत्ताए वा गच्छेज्जा।

आउकाइयावि छःगइया, छआगइया एवं चेव जाव तसकाइया ॥८॥

छाया—षड्विधः संसारसमापन्नका जीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिका यावत् त्रसकायिकाः।

पृथिवीकायिकाः षड्गतिकाः षडागतिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिकः, पृथिवीकायिकेषूपपद्यमानः, पृथिवीकायिकेभ्यो वा यावत् त्रसकायिकेभ्यो वा उपपद्येत। स चैव सः पृथिवीकायिकः पृथिवीकायिकत्व विप्रजहन् पृथिवीकायिकतायां वा यावत् त्रसकायिकतायां वा गच्छेत्।

अप्कायिका अपि षड्गतिकाः षडागतिका एवञ्चैव यावत् त्रसकायिकाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छह प्रकार के संसारी जीव कथन किये गए हैं, जैसे—पृथ्वीकायिक वाले जीवों से लेकर त्रसकाय जीवो तक। पृथ्वीकायिक जीव छ: गति और छ: आगति वाले कथन किए गए हैं, जैसे कि—पृथ्वीकायिक जीव पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है तो पृथ्वीकायिको से लेकर त्रसकायिको तक आकर उत्पन्न हुआ करता है, फिर वही पृथ्वीकायिक जीव पृथ्वीकायिकत्व को परित्याग करता हुआ पृथ्वीकायिको में यावत् त्रसकायिको मे उत्पन्न होने के लिए जाता है। अप्कायिक जीव भी छ: प्रकार की गति वाले एवं छ: प्रकार की आगति वाले हैं। इसी प्रकार त्रसकाय पर्यन्त जान लेना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे तारकाकार ग्रहो का वर्णन किया गया है, सभी विमान और पृथ्वियां जीवाधिष्ठित हैं, अत: स्वभावत: यह जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जीवों के गमन-आगमन का क्रम क्या है। प्रस्तुत सूत्र में षड्विध जीवों की गमनागमन व्यवस्था का वर्णन किया गया है।

ससार भर मे जितने भी जीव हैं, वे सब छ: कायो मे विभक्त है, सभी संसारी जीवो का समावेश छ: कायों मे हो जाता है। सभी जीव छ· कायों मे गति करते है और छ· कायो में से उनकी आगति होती है। जिस काय मे जितने भी जीव विद्यमान है वे जब वहा का आयुष्य पूर्ण करके परलोक के लिए गमन करते हैं, तब कोई उसी काय मे पुन: जन्म लेते है जिसमें वे पहले थे। कुछ जीव अप्काय से लेकर त्रसकाय तक सभी कायो मे जन्म लेते है, जैसे कि कोई पृथ्वीकाय से निकल कर पुन: पृथ्वीकाय मे भी उत्पन्न होते है, कुछ अप्काय मे उत्पन्न होते है, कुछ तेजस्काय में। इसी प्रकार कुछ वायुकाय मे कुछ वनस्पतिकाय मे एव कुछ त्रसकाय मे भी उत्पन्न हुआ करते हैं।

आगति का अर्थ है आना। जिस काय में जीव विद्यमान है उसे छोडकर पुन· उसी जीव निकाय मे प्रवेश करना आगति है। आगति की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि पृथ्वीकाय मे जितने भी जीव विद्यमान है वे उसी काय मे भी उत्पन्न होते है और अन्य कायो में से भी आकर पृथ्वी काय मे उत्पन्न होते है। जीवो का कर्मानुसार परस्पर योनि-सक्रमण होता रहता है।[१]

संसारी और मुक्त जीव

मूल—छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—आभिणिबोहियणाणी जाव केवलणाणी, अण्णाणी।

---

१ इस विषय की स्पष्टता के लिए प्रज्ञापना सूत्र का उत्पाद पद और लघुदडक का गति और आगति द्वार विशेष मननीय है।

अहवा छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—एगिंदिया जाव पंचिंदिया, अणिंदिया।

अहवा छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—ओरालियसरीरी, वेउव्वियसरीरी, आहारगसरीरी, तेअगसरीरी, कम्मगसरीरी, असरीरी ॥ १॥

छाया—षड्विधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानी यावत् केवलज्ञानी।

अथवा षड्विधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकेन्द्रिया यावत् पञ्चेन्द्रियाः, अनिन्द्रियाः।

अथवा षड्विधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—औदारिकशरीरी, वैक्रियशरीरी, आहारक-शरीरी, तैजस-शरीरी, कार्मण-शरीरी, अशरीरी।

मूलार्थ—छह प्रकार के सब जीव कथन किए गए हैं, जैसे—अभिनिबोधिकज्ञानी, यावत् केवलज्ञानी, अज्ञानी।

अथवा छः प्रकार के सब जीव कथन किए गए है, जैसे—एकेन्द्रिय यावत् पञ्चेन्द्रिय, अनिन्द्रिय।

अथवा छह प्रकार के सब जीव कथन किए गए है, जैसे—औदारिक-शरीरी, वैक्रिय- शरीरी, आहारक-शरीरी, तैजस-शरीरी, कार्मण-शरीरी और अशरीरी अर्थात् सिद्ध।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जीवों की गति और आगति का वर्णन किया गया है। गति एव आगति करने वाले जीवो के वर्गीकरण की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए शास्त्रकार उसी के वर्गीकरण को प्रस्तुत करते हुए कहते है—

सर्व जीव छः प्रकार के होते है, जैसे कि अभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन·पर्यवज्ञानी, केवलज्ञानी और अज्ञानी। पाच ज्ञान सम्यग्दृष्टि में पाए जाते हैं, अज्ञान मिथ्यादृष्टियों और मिश्रदृष्टियों मे पाया जाता है। अज्ञान तीन तरह का होता है देशाज्ञान, सर्वाज्ञान और भावाज्ञान। य तीन अज्ञान पहले और तीसरे गुण-स्थान मे पाए जाते हैं।

सूत्र के द्वितीय अश मे इन्द्रियो की दृष्टि से जीवों का पुनः वर्गीकरण किया गया है कि जीव छः प्रकार के होते हैं, एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक ससारी जीवो के भेदो मे उदय और क्षयोपशम भाव की अपेक्षा से वे सेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं, किन्तु लब्धि अपर्याप्तकाल मे सभी ससारी जीव अनीन्द्रिय ही होते है। उपयोग की अपेक्षा अनिन्द्रिय पद से केवली और सिद्ध भगवान ग्रहण किए गए हैं। वे इन्द्रियों का उपयोग नहीं करते, क्योंकि इन्द्रिय-उपयोग क्षयोपशम भाव मे ही होता है। केवली और सिद्ध भगवान केवलज्ञान और केवल दर्शन से सम्पन्न होने के कारण मन और इन्द्रियो से प्रत्यक्ष न करके केवलज्ञान के

द्वारा ही प्रत्यक्ष किया करते हैं, इसलिए उन्हे अनिन्द्रिय कहा गया है। अत: इन्द्रिय और अनिन्द्रिय जीवों की अपेक्षा से सर्वजीवो को छ: प्रकार का कहा गया है।

शरीर-सूत्र में औदारिक-शरीरी, वैक्रिय-शरीरी, आहारक-शरीरी, तैजस-शरीरी, कार्मण-शरीरी और अशरीरी, इन छ: रूपो मे जीवों का वर्गीकरण किया गया है। सिद्ध भगवान अशरीरी होते हैं, सभी ससारस्थ जीव सशरीरी हुआ करते हैं। यद्यपि तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर परस्पर एक साथ ही रहते हैं, तद्यपि द्रव्य, गुण, पर्याय की अपेक्षा से इनको पृथक्-पृथक् कहा गया है। यदि जीव के स्वरूप को द्रव्य, गुण, पर्याय से जान लिया जाए तो आत्मा को सर्व प्रकार से चिरशान्ति प्राप्त होती है।

तृण वनस्पतिकाय

मूल—छव्विहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता, तं जहा—अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया, बीयरुहा, संमुच्छिमा॥ १०॥

छाया—षड्विधास्तृणवनस्पतिकायिका. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अग्रबीजा:, मूलबीजा:, पर्वबीजा:, स्कन्धबीजा:, बीजरुहा:, सम्मूर्च्छिमा:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तृणवनस्पतिकायिक जीवो के छ: भेद कथन किए गए है, जैसे—जिनके अग्रभाग में बीज हो वह अग्रबीज, जिनके मूल में बीज हो वह मूलबीज, जिनके पर्व में बीज हो वह पर्वबीज, जिनका स्कन्ध ही बीज हो, वह स्कंध-बीज, जो बीज से उत्पन्न होते है वे बीजरूह और जो बिना बीज के उत्पन्न होते हैं उन्हे सम्मूर्छिम वनस्पति कहा जाता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में एकेन्द्रिय आदि जीवों का वर्णन किया गया है। एकेन्द्रिय जीवों मे तृण-वनस्पतियो का प्रमुख स्थान है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे तृण-वनस्पतिकायिक जीवो के भेद प्रस्तुत किए गए है।

तृण-वनस्पतिकायिक जीव छ: प्रकार के होते है, जैसे कि अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज, स्कधबीज, बीजरूह और सम्मूर्छिम। अग्रबीज बाजरा, गेहूं आदि है, मूलबीज आलू आदि माने गए हैं, पर्वबीज गन्ना, बास आदि है, स्कन्धबीज गुलाब आदि है, जिनकी कलम लगाई जाती है, जिसकी उत्पत्ति बीज से ही हो वह बीजरुह है और दग्धभूमि मे बीज न होने पर भी बिना बीज के जो तृण आदि वनस्पतियां उत्पन्न हो जाती हैं उन्हे सम्मूर्छिम वनस्पति कहते है।

सब जीवों के लिए दुर्लभ

मूल—छट्ठाणाइं सव्वजीवाणं णो सुलभाइं भवंति, तं जहा—माणुस्सए

भवे, आयरिए खित्ते जम्मं, सुकुले पच्चायाई, केवलिपन्नत्तस्स धम्मस्स सवणया, सुयस्स वा सद्दहणया, सद्दहितस्स वा पत्तियस्स वा रोइइयस्स वा सम्मं काएणं फासणया ॥११॥

छाया—षट् स्थानानि सर्वजीवानां नो सुलभानि भवन्ति, तद्यथा—मानुष्यको भवः, आर्ये क्षेत्रे जन्म, सुकुले प्रत्यायातिः, केवलिप्रज्ञप्तस्य धर्मस्य श्रवणता, श्रुतस्य वा श्रद्धानता, श्रद्धितस्य वा प्रतीतस्य वा रोचितस्य वा सम्यक् कायेन स्पर्शनता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छह स्थान सब जीवो को प्राप्त होने सुलभ नहीं हैं, जैसे कि—मनुष्य-भव आर्य-क्षेत्र मे जन्म, सुकुल में जन्म, केवली-प्ररूपित धर्म का श्रवण, श्रुत-धर्म के प्रति श्रद्धा, श्रद्धान किए हुए, प्रतीति किए हुए एव रुचि किए हुए धर्म का सम्यक् रूप से काय के द्वारा स्पर्श करना।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में बीजो के भेदोपभेदो पर प्रकाश डाला गया है, उसी परम्परा मे जीव मात्र के लिए छः दुर्लभ बाते उपस्थित करते हुए सूत्रकार कहते है—ससार मे जितने भी प्राणी है, उन सब को छः पदार्थ सुलभता से प्राप्त नही हो सकते। जो बाते अनंत काल तक संसार चक्र में परिभ्रमण करने के बाद भी अति कठिनता से प्राप्त करके जीव ससार-चक्र को काटने का प्रयास कर सके उन पदार्थो को दुर्लभ कहा जाता है। वे छः पदार्थ इस प्रकार हैं—

१. मनुष्यत्व की प्राप्ति—जिस तरह से गहरे समुद्र मे गिरे रत्न का पुनः प्राप्त करना दुर्लभ है इसी तरह मनुष्य जन्म के नष्ट हो जाने पर, पुनः उसका मिलना दुर्लभ है क्योकि मानव-जीवन मे ही जीव आत्मोन्नति कर सकता है, अन्य मे नहीं। अतः दुर्लभ होते हुए भी मानवता प्राप्तव्य है।

२. आर्यक्षेत्र मे जन्म—जीव आर्य-क्षेत्र मे रहकर ही धर्माचरण कर सकता है। आर्य-क्षेत्र में ३२ हजार प्रदेश हैं, उनमे भी साढे पच्चीस प्रदेश ही आर्य-क्षेत्र हैं। शेष प्रदेशो में अनार्यो का निवास है। जीवों को आर्य देश में धर्म-प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। जीव जितना आर्य देश में सुखपूर्वक धर्माचरण कर सकता है उतना अनार्य देश में नही कर सकता। धर्माचरण के लिए आर्य-देश का प्राप्त होना भी आवश्यक है। अतः आर्य क्षेत्र मे जन्म लेना प्रत्येक प्राणी के लिए दुर्लभतर है।

३. सुकुल में जन्म—जीव मात्र के लिए सुकुल में जन्म लेना भी सुलभ नहीं है। क्योंकि आर्य-क्षेत्र में जन्म लेने पर भी सुकुल में जन्म का होना सुलभ नहीं है। सुकुल शब्द से शास्त्रकार का आशय धार्मिक कुलों से है। जिनमें उत्पन्न होते ही जीव धर्मनिष्ठ एव सदाचार-सम्पन्न हो। अतः जीव आर्य-देश में उत्पन्न होने पर भी हिंसक कुलों में यदि उत्पन्न हो जाए तो उसे धर्म की प्राप्ति का होना कठिन है। इस कारण आर्य-क्षेत्र में जन्म

लेकर भी सुकुल मे जन्म लेना अति दुर्लभ है।

४. केवली-प्ररूपित धर्म श्रवणता—सुकुल मे जन्म हो जाने पर भी केवली-भाषित धर्म का श्रवण करना और भी सुदुर्लभ है। इस धरातल पर देवलोक की लक्ष्मी का मिलना, अपार धन-राशि का मिलना, सुहृद और सुभार्या का मिलना दुर्लभ नही है, ये सम्पत्तिया एक बार हाथ से निकल जाने पर पुनः मिल भी सकती है, किन्तु आत्मिक सुख देने वाली तथा मोक्ष सुख देने वाली जिन-वाणी का सुनना जीव के लिए सुलभ नही है।

५. जिन वाणी पर श्रद्धा—जिनेन्द्र भगवान की वाणी सुनकर भी उस के प्रति श्रद्धा का होना भी जीव के लिए सुलभ नही है, क्योंकि जीव न्यायमार्ग से यदि कभी भ्रष्ट होता है, तो वह श्रद्धा के अभाव से ही हुआ करता है। जिन वाणी नव तत्त्वों पर आधारित है, जैसे कि जीवतत्त्व, अजीवतत्त्व, पुण्यतत्त्व, पापतत्त्व, आश्रवतत्त्व, सवरतत्त्व, निर्जरातत्त्व, बधतत्त्व और मोक्षतत्त्व इन तत्त्वो पर श्रद्धान रखना ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का प्राप्त करना प्रत्येक जीव के लिए सुदुर्लभ है। कहा भी है **"सद्धा परम दुल्लहा"** वैसे तो सभी जीव किसी न किसी पर श्रद्धा रखते ही है, किन्तु यहा उस श्रद्धा से तात्पर्य है जिस से आत्मा की अनुभूति हो, आत्मा पर या मोक्ष मार्ग पर दृढ एव सम्यक् निश्चय हो। इस प्रकार की श्रद्धा ही सूत्रकार को अभीष्ट है। जिन-वाणी सुनकर भी उस पर श्रद्धा का होना दुर्लभ ही नही, अतिदुर्लभ है।

६ श्रद्धानुरूप चारित्र—श्रद्धा, प्रतीति और रुचि के अनुसार चारित्र का सम्यक् प्रकार काय से स्पर्श करना अति दुर्लभ है। श्रद्धावान भी सभी चारित्र के आराधक नही होते, श्रद्धा होने पर भी जो लोग भोगासक्त रहते हैं वे चारित्र का पालन कैसे कर सकते है ? जो इन्द्रियों के विषयो मे अनासक्त है, वही चारित्र का आराधक हो सकता है।

जो जीव प्रमाद मे पड़े हुए है, भोगो मे आसक्त हो रहे है। उनके उत्थान के लिए उक्त छः दुर्लभ बातों का वर्णन किया गया है, अप्रमत्त साधकों के लिए नही। उन के लिए ये सभी बाते सुलभ है। जो प्राणी प्रमाद आदि दोषो का सेवन करने वाले है, उनके लिए सभी बातें दुर्लभ है। ऐसे जीव ही प्रायः एकेन्द्रिय आदि योनियों मे जन्म लेते है, जहा उन जीवो की काय स्थिति बहुत लम्बी होती है। ऐसी योनियों में उन्हे जन्म-मरण करते हुए अनन्त काल बीत जाता है।

यदि मनुष्य सावधान रहे कि मुझे साधना द्वारा इन दुर्लभ पदार्थो को सुलभ बनाना है तब ही वह अप्रमत्त रहकर इन पदार्थो को सुलभ कर सकता है।

इन्द्रिय और नो इन्द्रिय विषय

मूल—छ इंदियत्था पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदियत्थे जाव फासिंदियत्थे, नोइंदियत्थे ॥१२॥

छाया—षडिन्द्रियार्थाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियार्थो यावत् स्पर्शनेन्द्रियार्थः, नो इन्द्रियार्थः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छह प्रकार के इन्द्रियार्थ प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—श्रोत्रेन्द्रियार्थ से लेकर स्पर्शनेन्द्रियार्थ तक पांच, और छठा नो इन्द्रियार्थ।

विवेचनिका—जिस साधक की इन्द्रिया और मन वश में हैं उसके लिए कोई भी वस्तु दुर्लभ नही है और जिस ने इन्द्रियो को वश मे नही किया, उसके लिए उक्त कोई भी वस्तु सुलभ नहीं। अब सूत्रकार क्रम प्राप्त इन्द्रियार्थो का वर्णन करते हैं।

इन्द्रियो के छः अर्थ अर्थात् विषय प्रतिपादित किए गए है, जैसे कि श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है, चक्षु-इन्द्रिय का विषय रूप है, घ्राणेन्द्रिय का विषय गंध है, रसनेन्द्रिय का विषय रस है, स्पर्शनेन्द्रिय का विषय स्पर्श है और मन का विषय विचार है।

इन्द्रियों को करण भी कहते हैं, करण के दो रूप है बाह्यकरण और अन्तःकरण। बाह्यकरण मे पांच इन्द्रिया समाविष्ट है और अन्तःकरण मे मन। करण की समानता से मन के विषय को भी इन्द्रियां-अर्थ ही कहा गया है, क्योकि नो-इन्द्रिय पद में नो शब्द देश निषेध और सादृश्य निषेधपरक है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरो में ही इन्द्रिया पाई जाती हैं, शेष दो शरीरो में नही। जो औदारिक रूप और अर्थ परिच्छेदक रूप इन दो धर्मो से युक्त है वह इन्द्रिय है। इसी प्रकार वैक्रिय और आहारक शरीर मे रही हुई इन्द्रियो के विषय मे भी जानना चाहिए। इन दो धर्मो मे मन में औदारिक आदि रूप धर्म नही है, इसलिए औदारिकत्व रूप एक देश के निषेध से मन को नोइन्द्रिय कहा गया है। जब नो शब्द का अर्थ सादृश्य अर्थपरक ग्रहण किया जाता है तब जो अर्थपरिच्छेदकता को लेकर इन्द्रिय नही, परन्तु इन्द्रिय के समान है वह नोइन्द्रिय है। इस दृष्टि से अर्थ परिच्छेदकता मन मे है, अतः मन "**नो इन्द्रिय**" है। इन्द्रियो का सहचारी मन है, क्योंकि इन्द्रियो द्वारा जो भी विषय ग्रहण किया जाता है वह मन का भी विषय होता है, किन्तु उसका स्वतत्र विषय विचार एव श्रुतज्ञान है।

संवर और आस्रव

मूल—छव्विहे संवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियसंवरे जाव फासिंदिय संवरे, नो इंदियसंवरे।

छव्विहे असंवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदिय-असंवरे जाव फासिंदिय-असंवरे, णोइंदिय असंवरे ॥१३॥

छाया—षड्विधः संवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियसंवरो यावत् स्पर्शनेन्द्रिय संवरः, नो इन्द्रियसंवरः।

षड्विधोऽसंवर· प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियासंवरो यावत् स्पर्शनेन्द्रियासंवरः, नोइन्द्रियासंवरः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छ. तरह का सवर वर्णन किया गया है, जैसे कि—श्रोत्रेन्द्रिय संवर से लेकर स्पर्शनेन्द्रिय संवर तक पाच संवर और नोइन्द्रिय अर्थात् मन का संवर।

छ: प्रकार का उसवर वर्णन किया गया है, जैसे कि श्रोत्रेन्द्रिय असंवर से लेकर स्पर्शनेन्द्रिय-असवर तक पांच प्रकार का असंवर और नो छट्ठा इन्द्रियअसंवर।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे इन्द्रियो के विषयों का उल्लेख किया गया है, उनसे निवृत्ति करना सवर है और इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्ति करना असवर अर्थात् आस्रव है। प्रस्तुत सूत्र मे संवर के विधेयात्मक और निषेधात्मक सवर एव असवर इन दो भेदों का वर्णन किया गया है। इष्ट विषय पर राग का होना और अनिष्ट विषय पर द्वेष का होना सहज है, किन्तु इष्ट-अनिष्ट शब्दो को सुनकर, रूप को देखकर, गध को सूंघकर, रस को चखकर, स्पर्शनीय को छूकर तथा मानसिक कल्पनाओ को पाकर राग-द्वेष से मुक्त रहना ही इन्द्रिय और नो इन्द्रिय संवर है।

इन्द्रियों और मन के बहाव मे बह जाना असंवर अर्थात् आस्रव है।

संवर भी आत्मविकास का अमोघ साधन है। मन की एकाग्रता को जन्म देने वाला है, तथा साथ ही धर्म-ध्यान की रुचि को जागृत कर मानव का उत्थान करने वाला है, अत: सयम साधना और आत्मा के विकास के लिए सवर की ओर प्रवृत्ति आवश्यक है।

असवर जीव को वासनाओ मे लीन करता है, मन के लिए उलझाव प्रस्तुत करता है, अत: असवर से निवृत्ति भी आवश्यक है।

षड्विध सुख-दुःख

मूल—छव्विहे साए पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियसाए जाव नोइंदियसाए।

छव्विहे असाए पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियअसाए जाव नो इंदिय-असाए ॥१४॥

छाया—षड्विधं सातं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियसातं यावन्नोइन्द्रियसातम्।

षड्विधमसातं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियासातं यावन्नोइन्द्रियासातम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छ: प्रकार का भौतिक सुख बताया गया है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय सुख से लेकर नोइन्द्रिय अर्थात् मन के सुख तक का सुख।

छ: प्रकार का भौतिक दु:ख वर्णन किया गया है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय के दु:ख से लेकर नोइन्द्रिय तक का दु:ख।

विवेचनिका—इन्द्रियों और मन के अर्थ द्वारा जीव सुखो और दु:खो का अनुभव करता है। सात शब्द भौतिक सुख के लिए और असात शब्द भौतिक दु·ख के लिए रूढ़ है। अभीष्ट शब्द को सुनकर जीव सुख की अनुभूति करता है, इसी प्रकार अभीष्ट रूप को देखकर, सुगध को सूघकर, मनोज्ञ रस को चखकर, अनुकूल स्पर्श को पाकर तथा इष्ट पदार्थ के चितन करने से जीव को सुख की अनुभूति होती है।

जिस शब्द का सुनना श्रोत्रो को पसन्द नही, जिस रूप को देखना नेत्रों को इष्ट नही, जिस गंध को सूंघना भी घ्राण नही चाहता, जिस रस को चखना जिह्वा को रुचिकर नहीं, जो स्पर्श त्वचा को अनुकूल नही, जिसका चिन्तन मनन करना भी मन को पसन्द नही, उन शब्द, रूप, गन्ध आदि विषयों के मिल जाने पर जीव दु.ख का अनुभव करता है।

जो सुख या दु:ख धर्म मे बाधक नही है, वह सुख भी उपादेय है और वह दु:ख भी वरदान रूप ही है।

वस्तुत· सुख और दु·ख हमारी मानसिक प्रवृत्तियो पर निर्भर हैं, इनकी कोई स्वतन्त्र परिभाषा या अनुभूति नहीं, क्योंकि एक व्यक्ति के लिए जो वस्तु सुखकारी है, वही दूसरे के लिए दु:खकारी होती है। मीठी वस्तुओ की रुचि वाले के लिए मिठाइया सुखकारी होती है, परन्तु चरपरा भोजन पसन्द करन वालों के लिए मिठाई दुखदायी हो जाती है, अत: भौतिक सुख-दु:ख दानो से निवृत्ति ही मनुष्य को आत्मोन्मुख करने वाली होती है। ज्ञान के बिना त्याग असम्भव है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे सुख-दु:ख का प्रदर्शन मात्र कर दिया गया है।

षड्विध प्रायश्चित्त

मूल—छव्विहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा—आलोयणारिहे, पडिक्कमणारिहे, तदुभयारिहे, विवेगारिहे, विउस्सग्गारिहे, तवारिहे ॥ १५॥

छाया—षड्विधं प्रायश्चित्तं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आलोचनार्हम्, प्रतिक्रमणार्हम् तदुभयार्हम् विवेकार्हम्, व्युत्सर्गार्हम्, तपोऽर्हम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छ: प्रकार का प्रायश्चित्त वर्णन किया गया है, जैसे कि—आलोचना के योग्य, प्रतिक्रमण के योग्य, आलोचना एवं प्रतिक्रमण के योग्य, आधाकर्म

आहारादि परिष्ठापन के योग्य, व्युत्सर्ग के योग्य और तपश्चरण के योग्य।

विवेचनिका—इन्द्रियार्थ के वशीभूत होकर साधक धर्म साधना को दूषित कर देता है, उसकी निवृत्ति प्रायश्चित्त से ही होती है। अत: प्रस्तुत सूत्र में छ: प्रकार के प्रायश्चित्त का वर्णन किया गया है।

प्रायश्चित्त का अर्थ है—वह शास्त्रीय कृत्य जिसके करने से करने वाले का पाप छूट जाता है अथवा प्रमादवश अकरणीय कार्य के हो जाने पर मन में पश्चात्ताप का होना और उस पश्चात्ताप की अवस्था में पुन: उस प्रकार का अकार्य न करने की प्रतिज्ञा करना, क्योंकि प्रतिदिन पापकर्म करके प्रतिदिन प्रायश्चित्त कर लेने पर 'प्रायश्चित्त' का ध्येय समाप्त हो जाता है। यह प्रायश्चित्त दोष के अनुसार छ: रूपो मे किया जाता है, जैसे कि—

१. **आलोचनार्ह**—कोई प्रायश्चित्त इतना ही होता है कि जब कभी अकृत्य सेवन हो गया, तब गुरु के पास सरल चित्त से निवेदन करना कि "मुझसे अमुक पाप कर्म हो गया है," उसे आलोचनार्ह प्रायश्चित्त कहा जाता है। सामान्य पापों की शुद्धि आलोचना करने मात्र से हो जाती है।

२ **प्रतिक्रमणार्ह**—जिस दोष की शुद्धि केवल प्रतिक्रमण से हो सकती है, जैसे कि "तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ं" मन और वाणी से यह कहते हुए उस आत्मा का शुद्ध अवस्था में लौट आना ही प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त है। आलोचनार्ह प्रायश्चित्त सामान्य पाप का किया जाता है और विशेष पापकर्म की निवृत्ति के लिए प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त की आवश्यकता होती है।

३. **तदुभयार्ह**—जो दोष आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो के योग्य हो उसे तदुभयार्ह कहते हैं।

४. **विवेकार्ह**—अकल्पनीय आहार आदि सेवन के लिए नही, परठने के लिए आज्ञा देना अथवा किसी-किसी दोष की शुद्धि विवेक से हो जाती है। आगे के लिए ऐसे दोष का सेवन न करने की गुरु के समक्ष प्रतिज्ञा करना अथवा जहा तक हो सके ऐसा "कुकृत्य भविष्य में नहीं करूगा" इस तरह की दृढ भावना बना लेना ही विवेकार्ह प्रायश्चित्त है।

५. **व्युत्सर्गार्ह**—किसी-किसी दोष की विशुद्धि शारीरिक क्रियाओ का विवक्षित समय के लिए निरोध करने से भी होती है, कायोत्सर्ग करना भी एक प्रायश्चित्त है, जैसे कि इरियावही का या अतिचारों की निवृत्ति के लिए ध्यान करना।

६ **तपोऽर्ह**—जिस दोष की विशुद्धि बेला, तेला, चौला, नवकारसी, पोरसी, इत्यादि तपो के द्वारा हो सकती है वह प्रायश्चित्त तप के योग्य माना जाता है।

मानसिक शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करना आवश्यक है, क्योंकि जीवन की भूलों को स्वीकार करके उनसे निवृत्ति करने वाला यदि कोई तप है तो वह प्रायश्चित्त है। वस्तुत: दोष मुक्त जीवन ही सयम पथ पर बढने के योग्य हुआ करता है।

छः प्रकार के मनुष्य

मूल—छव्विहा मणुस्सगा पण्णत्ता, तं जहा—जंबूदीवगा, धायइसंड-दीवपुरच्छिमद्धगा, धायइसंडदीवपच्चत्थिमद्धगा, पुक्खरवरदीवड्ढपुरत्थि-मद्धगा, पुक्खरवरदीवड्ढपच्चत्थिमद्धगा, अंतरदीवगा।

अहवा छव्विहा मणुस्सा पण्णत्ता, तं जहा—संमुच्छिममणुस्सा—कम्म-भूमिगा, अकम्मभूमिगा, अंतरदीवगा। गब्भवक्कंतिअ मणुस्सा-कम्मभूमिगा, अकम्म-भूमिगा, अंतरदीवगा ॥ १६ ॥

छाया—षड्विधा मनुष्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जम्बूद्वीपकाः, धातकीषण्डद्वीपपौर-स्त्यार्धकाः, धातकीषण्डद्वीपपश्चिमार्धकाः, पुष्करवरद्वीपार्धपौरस्त्यार्धकाः, पुष्करवरद्वीपार्धपश्चिमार्धकाः, अन्तरद्वीपकाः।

अथवा षड्विधा मनुष्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सम्मूर्छिममनुष्याः—कर्मभूमिकाः, अकर्मभूमिकाः, अन्तरद्वीपकाः। गर्भव्युत्क्रान्तिका मनुष्याः—कर्मभूमिकाः, अकर्म-भूमिकाः, अंतरद्वीपकाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छः प्रकार के मनुष्य कथन किए गए है, जैसे—जम्बूद्वीप के, धातकी-षण्डद्वीप के, पूर्वीय अर्द्धभाग के, धातकीषण्डद्वीप के पश्चिमीय अर्द्धभाग के, पुष्करवरद्वीप के पूर्वीय अर्द्धभाग के, पुष्करवरद्वीप के पश्चिमीय अर्द्धभाग के, और अन्तरद्वीप के मनुष्य।

अथवा छः प्रकार के मनुष्य वर्णन किए गए है, जैसे—तीन प्रकार के सम्मूर्च्छिम मनुष्य—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तरद्वीपक। तीन प्रकार के गर्भज मनुष्य—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तरद्वीपक।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में दोषनिवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त का वर्णन किया गया है, प्रायश्चित्त प्रायः मनुष्य ही करते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र मे छः प्रकार के मनुष्यों का वर्णन किया गया है। जंबूद्वीप मे उत्पन्न हुए मनुष्य जबूद्वीपज, धातकी खंड द्वीप के पूर्वार्द्ध में उत्पन्न हुए मनुष्य, उस द्वीप के पश्चिमार्द्ध में उत्पन्न हुए मनुष्य, इसी तरह पुष्करवरद्वीप के पूर्वार्द्ध में उत्पन्न हुए मनुष्य और उसके पश्चिम भाग में उत्पन्न हुए मनुष्य तथा ५६ अतरद्वीपों मे उत्पन्न हुए मनुष्य। मनुष्य जाति के ये छः भेद द्वीपो की अपेक्षा से किए गए हैं।

सूत्र के उत्तर भाग में संमूर्छिम और गर्भज की अपेक्षा से मनुष्यों के छः भेद किए गए हैं, जैसे कि सम्मूर्छिम मनुष्य तीन तरह के होते हैं—कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और अन्तर-

द्वीपज। इसी तरह गर्भज मनुष्य भी तीन तरह के होते हैं—कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और अंतर-द्वीपज। गर्भज मनुष्यो की जहा नियमा है, वहां समूर्छिम का होना भी नियमा है। जहा गर्भज मनुष्यो का अभाव होता है वहां सम्मूर्छिम मनुष्यों का भी अभाव ही होता है।[१]

ऋद्धिमान एवं ऋद्धि-रहित मनुष्य

मूल—छव्विहा इड्ढीमंता मणुस्सा पण्णत्ता, तं जहा—अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेवा चारणा, विज्जाहरा। छव्विहा अणिड्ढीमंता मणुस्सा पण्णत्ता, तं जहा—हेमवंतगा, हेरन्नवंतगा, हरिवंसगा, रम्मगवंसगा, कुरुवासिणो, अंतरदीवगा ॥१७॥

छाया—षड्विधा ऋद्धिमन्तो मनुष्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अर्हन्तः, चक्रवर्त्तिनः, बलदेवाः, वासुदेवाः, चारणाः, विद्याधराः। षड्विधा अनृद्धिमन्तो मनुष्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हैमवतकाः, हैरण्यवतकाः, हरिवर्षकाः रम्यकवर्षकाः, कुरुवासिनः, अन्तरद्वीपकाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—ऋद्धिमान् मनुष्य छः प्रकार के हैं, जैसे कि—अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चारण और विद्याधर। छः प्रकार के ऋद्धि-रहित मनुष्य वर्णन किए गए हैं, जैसे हैमवतक्षेत्र के निवासी, हैरण्यवत क्षेत्र के निवासी, हरिवर्ष क्षेत्र के निवासी, रम्यकवर्ष क्षेत्र के निवासी, देव एवं उत्तर कुरु के निवासी, अन्तरद्वीप के निवासी।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे मनुष्य के छ. भेदो का वर्णन किया गया है, जो मनुष्य अन्य मनुष्यो की अपेक्षा विलक्षणता रखते है वे ही ऋद्धिमान कहलाते है। विलक्षणता लौकिक ऋद्धियो से भी होती है और लोकोत्तरिक ऋद्धियो से भी। तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, जघाचारण और विद्याचारण ये छ. प्रकार के मनुष्य द्रव्य और भाव शक्ति से संपन्न होने के कारण ऋद्धिमान कहे जाते है। तीर्थकर अलौकिक आध्यात्मिक ऋद्धियो से सम्पन्न होते हैं। चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव शारीरिक शक्ति और वैभवरूप ऋद्धियो वाले होते है और जघाचारण तथा विद्याचारण लब्धि सम्पन्न मुनि शक्तिमान और वैभवशाली भी होते है।

जो व्यक्ति द्रव्य-ऋद्धि एव भाव-ऋद्धि से रहित है वे ऋद्धि-रहित होते हैं, जैसे कि हैमवत क्षेत्र मे रहने वाले मनुष्य, हैरण्यवत क्षेत्र मे रहने वाले मनुष्य, हरिवर्ष एव रम्यगवर्ष मे रहने वाले मनुष्य, देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रो मे निवास करने वाले कुरुवासी मनुष्य और

---

१ इस विषय का विशष वर्णन जीवाभिगम आदि सूत्रो म दखना चाहिए।

५६ अंतरद्वीपों में रहने वाले अतरद्वीपज मनुष्य। वहा के मनुष्य यौगलिक होते हैं, वहां न राजनीति है और न धर्मनीति, न कोई ऊच है और न कोई नीच, न स्वामी है और न किंकर, न राजा है और न प्रजा, न धनवान है और न निर्धन, न शिल्प है न कला, न वाणिज्य है न कृषि, न मकान है और न दुकान है, न उपद्रव है, न लड़ाई और न झगड़ा। वहां के मनुष्य निर्द्वन्द्व हैं, वे ऋद्धियों की आवश्यकता से ही रहित हैं, उनके पास ऋद्धियां होती ही नहीं है, अत: वे ऋद्धि-रहित है।

अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल

मूल—छव्विहा ओसप्पिणी पण्णत्ता, तं जहा—सुसमसुसमा जाव दुसमदुसमा।

छव्विहा उस्सप्पिणी पण्णत्ता, तं जहा—दुस्समदुस्समा जाव सुसमसुसमा ॥ १८॥

छाया—षड्विधा अवसर्पिण्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सुषमसुषमा यावत् दुषमदुषमाः।

षड्विधा उत्सर्पिण्य· प्रज्ञप्तास्तद्यथा—दु:षमदुषमा यावत् सुषमसुषमाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—अवसर्पिणी काल छ: प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे कि सुषमसुषमा यावत् दु:षमदुषमा।

उत्सर्पिणी काल छ: प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे कि दुषमदुषमा यावत् सुषमसुषमा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे ऋद्धिमन्तों एवं ऋद्धि-रहित मनुष्यों का वर्णन किया गया है। ऋद्धिमन्त एव ऋद्धिरहित की जन्म-मरण-परम्परा समय-चक्र पर निर्भर है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे कालचक्र के छ: ऊर्ध्वगामी और छ: अधोगामी काल विशेषो का परिचय दिया गया है।

काल-चक्र मुख्य रूप से दो भागों मे विभक्त है अवसर्पिणी-काल और उत्सर्पिणी-काल। जिस काल मे जीवो की शक्ति, आयु और अवगाहना अर्थात् शारीरिक ऊचाई और वस्तुओं की उत्तमता घटती जाती है, वह काल अवसर्पिणी काल कहलाता है और जिस काल में जीवो की शक्ति, आयु और शारीरिक ऊंचाई आदि क्रमश: बढ़ती जाती है, उसे उत्सर्पिणी काल कहा जाता है। अवसर्पिणी काल के पूर्ण होने पर उत्सर्पिणी काल आता है और उत्सर्पिणी काल के समाप्त होने पर अवसर्पिणी काल का आरम्भ हो जाता है। समय का चक्र अनादि काल से इसी प्रकार घूम रहा है।

अवसर्पिणी-काल और उत्सर्पिणी-काल का आवागमन केवल भरत और ऐरावत

क्षेत्रो मे ही होता है, शेष क्षेत्र उक्त काल-प्रभाव से मुक्त हैं, किन्तु मरणकाल से मुक्त नही, अत: वहा की स्थिति एव वातावरण सदैव एक-सा ही रहता है।

अवसर्पिणी काल छ: भागों मे विभक्त है, जैसे कि—

१. सुषम-सुषमा—उस काल में मनुष्यों की आयु तीन पल्योपम[१] की होती है, और शरीर-मान तीन उत्सेध कोस की अपेक्षा से तीन कोस का होता है।

२. सुषमा—इसमे मनुष्य की आयु दो पल्योपम, शरीर-मान दो कोस रह जाता है। प्रथम आरे की अपेक्षा वर्ण, रस, गन्ध आदि की उत्तमता घट जाती है।

३. सुषम-दुषमा—इसमें क्रमश: सुख बहुत और दुख कम होता है। देहमान एक कोस, आयु एक पल्योपम रह जाती है। वर्ण, रस और गन्ध आदि की उत्तमता और भी हीन हो जाती है।

४. दुषम-सुषमा—इसमें दुख की मात्रा अधिक और सुख की मात्रा कम हो जाती है। देहमान ५०० धनुष और आयु एक करोड़ पूर्व[२] रह जाती है। वर्ण, गन्ध और रस आदि की उत्तमता और भी कम हो जाती है।

५ दुषमा—इस आरक का कालमान २१००० वर्ष का है। इसमें उत्पन्न हुए मनुष्यो का आयुमान १२५ वर्ष रह जाता है और शरीरमान अधिक से अधिक सात हाथ रह जाता है। इसमे केवल ज्ञान, मन:पर्यवज्ञान, परमावधिज्ञान, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात चारित्र, पुलाक-लब्धि, आहारक शरीर, क्षायिक सम्यक्त्व और जिनकल्पी मुनित्व इनका अभाव हो जाता है।

६ दुषमा-दुषमा—यह काल भी दुषमा काल की तरह २१००० वर्ष ही रहता है। इसमे आयुमान २० वर्ष और शरीर-मान केवल एक हाथ ही रह जाता है। आहारेच्छा अपरिमित हो जाती है और बहुत खाने पर भी तृप्ति नहीं होती है।

---

१ एक बार आख के झपकने मे जितना समय लगता है उतने मे असख्य 'समय' बीत जाते है। असख्य समयो को एक आवलिका। १६५३७२१६ आवलिका = मुहूर्त। तीस मुहूर्त = अहोरात्र (रात-दिन)। १५ अहोरात्र = पक्ष। दो पक्ष = एक मास। दो मास = ऋतु। तीन ऋतु = अयन। दो अयन = एक वर्ष। पाच वर्ष = युग। एक योजन (चार कोस) लम्बे, एक योजन चौड और एक योजन गहरे गड्ढे को यदि सात दिन तक की आयु वाले बालक के बालो के सूक्ष्म खण्डो से ठूस-ठूस कर भर दिया जाए, फिर उस गड्ढे मे से सौ-सौ वर्ष बाद एक-एक टुकडा निकाला जाए, तब उस गड्ढे के खाली होने मे जितना समय लगता है उसे एक 'पल्योपम' कहते है। दस कोड़ा-कोडी (करोड की सख्या को करोड से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है उसे -कोडाकोडी कहते है) पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

२ ७०५६००० वर्ष को एक करोड से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है अर्थात् ७०५६०००००००००० वर्ष का एक पूर्व होता है। अथवा ४८ लाख वर्षो का एक पूर्वांग, ८४ लाख पूर्वांगो का एक पूर्व होता है।

उत्सर्पिणी काल—

अवसर्पिणी काल की अपेक्षा उत्सर्पिणी काल की स्थिति विकासोन्मुख हो जाती है। इसमें अवसर्पिणी काल का ह्रास अब विकास में परिवर्तित होने लगता है। इस काल के भी छ: भाग हैं, जैसे कि—

१. **दुषमा-दुषमा**—इसका आरम्भ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को ही होता है। इसकी स्थिति अवसर्पिणी काल के छठे आरे के ही समान होती है, परन्तु निरन्तर विकास होता रहता है

२. **दुषमा**—इसका आरम्भ भी श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से होता है। धर्मनीति, राजनीति आदि व्यवस्थाएं स्थापित होने लगती हैं। आयुमान १२५ वर्ष और शरीरमान सात हाथ हो जाता है।

३. **दुषमा-सुषमा**—इसका कालमान ४२००० वर्ष कम एक कोड़ाकोडी सागरोपम का है। इसकी स्थिति अवसर्पिणी काल के चौथे आरे के समान होती है, परन्तु वह निरन्तर विकासोन्मुख रहती है।

४. **सुषमा-दुषमा**—इसमें अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे जैसी स्थिति हो जाती है। प्रत्येक दृष्टि से सभी उत्तमताए विकासोन्मुख होती हैं।

५. **सुषमा**—इस आरे की स्थिति अवसर्पिणीकाल के दूसरे आरे के समान होती है, परन्तु वहा प्रकृति ह्रासोन्मुखी होती है और यहां विकासोन्मुखी होती है।

६. **सुषम-सुषमा**—इसकी स्थिति अवसर्पिणी काल के प्रथम आरे के समान होती है और प्रकृति विकास की ओर निरन्तर बढ़ती रहती है।

इस प्रकार १० कोडाकोड़ी सागरोपम का अवसर्पिणी काल और १० कोडाकोड़ी सागरोपम का उत्सर्पिणी काल होता है और ये दोनों ६-६ भागो मे विभक्त होकर अनादि काल से ह्रास और विकास के क्रम से प्रवृत्त हो रहे हैं।

मनुष्यों का देहमान और परमायु

मूल—जम्बुद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु तीताए उस्सप्पिणीए सुसम-सुसमाए समाए मणुया छच्च धणुसहस्साइं उड्ढमुच्चत्तेणं हुत्था। छच्च अद्धपलिओवमाइं परमाउं पालयित्था।

जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु इमीसे ओसप्पिणीए सुसमसुसमाए समाए एवं चेव।

जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवए आगमेस्साए उस्सप्पिणीए सुसमसुसमाए एवं चेव जाव छच्च अद्धपलिओवमाइं परमाउं पालइस्संति।

जंबुद्दीवे दीवे देवकुरु-उत्तरकुरासु मणुया छ धणुसहस्साइं उड्ढं उच्चतेणं पण्णत्ता, छच्च अद्धपलिओवमाइं परमाउं पालेंति।

एवं धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धे चत्तारि आलावगा जाव पुक्खरवरदीव-ड्ढपच्चच्छिमद्धे चत्तारि आलावगा॥ १९॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरवतयोर्वर्षयोरतीतायामुत्सर्पिण्यां सुषमसुषमायां समायां मनुजाः षड् धनुः सहस्राण्यूर्ध्वमुच्चत्वेनाभूवन्, षट् चार्धपल्योपमानि परमायुरपालयन्।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरवतयोर्वर्षयोरस्यामवसर्पिण्यां सुषमसुषमायां समायामेवञ्चैव।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरवतयोरागमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यामेवञ्चैव, यावत् षडर्धपल्यो-पमानि परमायुः पालयिष्यन्ति।

जम्बूद्वीपे द्वीपे देवकुरूत्तरकुरवोर्मनुजाः षड् धनुः सहस्राण्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ता, षडर्धपल्योपमानि, परमायुः पालयन्ति।

एवं धातकीषण्डद्वीपपौरस्त्यार्धे चत्वार आलापका यावत् पुष्करवरद्वीपार्धपश्चिमार्धे चत्वार आलापकाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में भरत तथा ऐरवत क्षेत्रो मे अतीत उत्सर्पिणी के सुषमसुषमा काल में मनुष्य छः हजार धनुष ऊंचाई वाले होते थे तथा छः अर्ध-पल्योपम अर्थात् तीन पल्योपम की परमायु वाले हुआ करते थे।

जम्बूद्वीप के भरत तथा ऐरवत क्षेत्रों में अवसर्पिणी काल के सुषमसुषमा काल मे भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

जम्बूद्वीप के भरत तथा ऐरवत क्षेत्रों मे आगामी उत्सर्पिणी के सुषम-दुषमा काल में भी इसी प्रकार की ऊचाई समझना, और उस काल के लोग छः अर्द्धपल्योपम की परमायु का पालन करेंगे।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप में देवकुरु और उत्तरकुरु में मनुष्य छः हजार धनुष शारीरिक ऊंचाई वाले कथन किए गए है और वे तीन पल्योपम की परमायु भोगने वाले हैं।

इसी प्रकार धातकीखण्डद्वीप के पूर्वार्द्ध में चार आलापक यावत् पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पश्चिम में भी चार आलापक जानने चाहिएं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के बारह आरों का वर्णन किया गया है। उन आरों मे जिस क्षेत्र के जिस काल मे छः की सख्या से सम्बद्ध ऊचाई और आयुष्यकर्म आदि है अब सूत्रकार उनका विवरण प्रस्तुत करते है।

दिन के बाद जैसे रात और रात के बाद दिन, उत्तरायण के बाद दक्षिणायन और दक्षिणायन के बाद उत्तरायण का क्रम चलता है, वैसे ही उत्सर्पिणीकाल के बाद अवसर्पिणी-काल और अवसर्पिणी काल के बाद उत्सर्पिणीकाल का क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है और अनन्त काल तक चलता ही रहेगा, किन्तु इस प्रकार काल-चक्र का प्रवर्तन केवल पांच भरत और पांच ऐरवत क्षेत्रों में ही होता है। एक भरत और एक ऐरवत क्षेत्र जम्बूद्वीप में हैं। दो भरत और दो ऐरवत क्षेत्र धातकी खण्ड में हैं। इसी प्रकार दो भरत और दो ऐरवत क्षेत्र अर्धपुष्करवरद्वीप में हैं। इस तरह भरत और ऐरवत क्षेत्रों की संख्या पांच-पांच है। अवसर्पिणीकाल के पहले आरे में और उत्सर्पिणीकाल के छठे आरे मे मनुष्यों की अवगाहना उत्सेध अंगुल के प्रमाण से छ: हजार धनुष की होती है। उस आरे मे मनुष्यों की आयु छ: अर्द्धपल्योपम की होती है अर्थात् तीन पल्योपम की हुआ करती है।

पाच देवकुरु और पाच उत्तरकुरु इन दस क्षेत्रों में सदा-सर्वदा सुषम-सुषमा काल जैसा ही वातावरण एवं प्रभाव रहता है। उन क्षेत्रों में रहने वाले मनुष्यों की अवगाहना छ: हजार धनुष की और उनकी वायु छ: अर्द्धपल्योपम की होती है।[१]

षड्विध संहनन

मूल—छव्विहे संघयणे पण्णत्ते, तं जहा—वइरोसभणारायसंघयणे, उसभणारायसंघयणे, नारायसंघयणे, अद्धनारायसंघयणे, खीलियासंघयणे, छेवट्ठसंघयणे॥ २०॥

छाया—षड्विधं संहननं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—वज्र-ऋषभ-नाराच-संहननम्, ऋषभ-नाराच-संहननम्, नाराच-संहननम्, अर्द्धनाराच-संहननम्, कीलिका-संहननम्, सेवार्त-संहननम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—संहनन छ: प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे—वज्रऋषभनाराच-सहनन, ऋषभनाराच-संहनन, नाराच-संहनन, अर्द्धनाराच-संहनन, कीलिका-संहनन, और सेवार्त-सहनन।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे शरीरो की ऊचाई आदि का वर्णन किया गया है। औदारिक शरीरो में सहनन अर्थात् अवयवों के गठन की दृष्टि से भिन्नता होती है, प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार उस गठन की भिन्नता एवं दृढ़ता का वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं। सुषम-सुषमा आरक में तथा ऋद्धिमान छ: प्रकार के मनुष्यों मे वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन होता है। संहनन का अर्थ है गठन, जिन जीवों का शरीर औदारिक है, उनमे ही संहनन नियमत: पाया

---

१ विस्तृत विवेचन के लिए देखिए जीवाभिगम सूत्र।

जाता है। जिस शरीर में मास, रक्त, शिरा, स्नायु, त्वचा, हड्डियों आदि का सुगठित अस्तित्व पाया जाता है वे शरीर ही औदारिक कहलाते हैं। औदारिक शरीर अत्यन्त सशक्त भी होता है और अत्यन्त निर्बल भी। इस सशक्तता और निर्बलता का होना हड्डियो की रचना एवं गठन पर निर्भर है, वही हड्डियों का गठन अर्थात् सहनन छ· प्रकार का होता है, जैसे कि—

१. वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन—वज्र उस कीलिका को कहते है जो शरीर की प्रत्येक सन्धि को जोड़ती है, ऋषभ का अर्थ है परिवेष्टन-पट्ट और नाराच का अर्थ है दोनों ओर का मर्कट-बन्ध। जिस सहनन में दोनों ओर मर्कट-बध द्वारा जुडी हुई दो हड्डियो पर तीसरी पट्टाकार वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो और जिसमे इन तीनों हड्डियों को बीधने वाली वज्र के समान हड्डी की कील हो ऐसी गठीली एव मजबूत हड्डियो वाले शारीरिक गठन को "वज्रऋषभनाराच सहनन" कहा जाता है।[१] जिसकी हड्डी जितनी मजबूत होती है, वह मनुष्य उतना ही प्रबल एवं सशक्त होता है। सशक्त साधक ही कर्मो को तोडने मे समर्थ हो सकता है। तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चरमशरीरी, सर्वोच्च देवगति को प्राप्त करने वाला मनुष्य एवं युगलिये ये सब निश्चय ही "वज्रऋषभ-नाराच-सहनन' वाले होते है।

२. ऋषभ-नाराच-संहनन—जिस सहनन मे दोनो ओर से मर्कट-बंध द्वारा जुडी हुई हड्डियो पर तीसरी पट्टाकार हड्डी का चारों ओर परिवेष्टन हो, किन्तु तीनो हड्डियो को भेदन करने वाली वज्र समान कील मध्य मे न हो, उसे "ऋषभ-नाराच-संहनन" कहते है। इस सहनन वाला मनुष्य अधिक से अधिक कठिन तपस्याओ द्वारा इतना पुण्यार्जन कर सकता है जिससे वह ग्रैवेयक देवलोक को प्राप्त कर सके।

३. नाराच-संहनन—जिस संहनन मे दोनों ओर से मर्कट-बंध के द्वारा जुड़ी हुई हड्डियां हो, किन्तु परिवेष्टन-पट्ट और वज्र नामक कीलक न हो, उसे "नाराच-सहनन" कहते है। इस संहनन वाला मनुष्य यदि सर्वोच्च धर्मानुष्ठान करे तो अधिक से अधिक १२वे देवलोक को प्राप्त कर सकता है।

४. अर्द्धनाराच-संहनन—जिस संहनन मे एक ओर मर्कट-बध हो और दूसरी ओर कील हो उसे "अर्धनाराच-सहनन" कहते हैं। इस सहनन वाला मनुष्य यदि सर्वोच्च शुभानुष्ठान करे तो वह आठवें देवलोक मे उत्पन्न हो सकता है।

५. कीलिका-संहनन—जिस सहनन मे हड्डिया केवल कील से जुडी हुई हों, उसे "कीलिका-सहनन" कहते है। इस संहनन का स्वामी अधिक से अधिक इतना पुण्यार्जन कर सकता है जिससे वह छठे देवलोक के देवत्व को प्राप्त कर सके।

---

१ रिसहो य होइ पट्टो वज्ज पुण खीलिय वियाणहि।
उभओ मक्कडबध नाराय त वियाणाहि॥

६. **सेवार्त्तक-संहनन**—जिस सहनन में हड्डियां अपने छोरों पर दूसरी हड्डी को स्पर्श करती हुई रहती हैं तथा सदा तेल आदि चिकने पदार्थों की मालिश की अपेक्षा रखती है, वह "सेवार्त्तक-संहनन" कहलाता है। इस सहनन का स्वामी यदि उत्कृष्ट करणी करे तो चौथे देवलोक में उत्पन्न हो सकता है, अर्थात् छठे सहनन वाले जीव चौथे देवलोक पर्यन्त जा सकते हैं, पांचवें और छठे देवलोक में पहले पांच सहनन वाले पहुंच सकते हैं, सातवे और आठवें देवलोक मे पहले चार सहनन वाले ही जा सकते हैं, नौवे से लेकर बारहवे देवलोक तक के देवत्व को पहले तीन संहनन वाले प्राप्त कर सकते है। तेरहवें से लेकर इक्कीसवें देवलोक तक पहले दो सहनन वाले जा सकते है, किन्तु पाच अनुत्तर विमानों मे प्रथम संहनन वाले जीव ही प्रवेश पा सकते हैं।

संहनन वाले जीव यदि अशुभ कर्मो मे संलग्न रहते है तो पहले और दूसरे नरक तक तो छहों संहननो वाले जा सकते है, तीसरे नरक में पहले पाच सहननों वाले जीव जा सकते हैं, चौथे मे चार, पाचवे मे तीन, छठे मे दो, किन्तु सातवें नरक में पहले संहनन वाले जीव ही जा सकते है।[१]

षड्विध संस्थान

मूल—छव्विहे संठाणे पण्णत्ते, तं जहा—सम-चउरंसे, णग्गोहपरिमंडले, साई, खुज्जे, वामणे, हुंडे॥२१॥

छाया—षड्विधं संस्थानं प्रज्ञप्तं तद्यथा—समचतुरस्त्रं, न्यग्रोधपरिमण्डलं, सादि, कुब्ज, वामनं, हुण्डम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छ· प्रकार का संस्थान कथन किया गया है, जैसे कि—समचतुरस्त्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, कुब्ज, वामन और हुण्ड।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे शारीरिक गठन की भीतरी व्यवस्था को प्रदर्शित किया गया है। अब सूत्रकार जीवो के बाहरी गठन पर प्रकाश डालते हैं। शरीर के आकार को संस्थान कहते है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक चार गतियो मे रहने वाले जीवो ने जैसा भी शरीर धारण किया हुआ है उनके शरीर की बाह्याकृति ही सस्थान है। यद्यपि सबके शरीर की आकृतियां समान नही होती है, हजारों तरह की आकृतियां देखने मे आती हैं, तथापि उन सबका समावेश सूत्रकार द्वारा प्रदर्शित छः संस्थानों मे हो जाता है। उन षड्विध सस्थानो का परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है—

१. **समचतुरस्त्र-संस्थान**—सम का अर्थ है समान, चतु: का अर्थ है चारों ओर, अस्त्र

---

१ इस विषय के विस्तृत वर्णन के लिए पढिये भगवती सूत्र २४वा शतक।

शब्द का अर्थ है कोण। जिस शरीर के संपूर्ण अवयव प्रमाणोपेत हों, शरीर की ऊंचाई, चौड़ाई, मोटाई, वजन ये सब ठीक प्रमाण वाले हों, कोई अवयव न्यून-अधिक न हो, ऐसे संस्थान को "सम-चतुरस्र" कहते है।

२. **न्यग्रोधपरिमंडल-संस्थान**—जिस सस्थान मे नाभि से ऊपर का भाग सामुद्रिक शास्त्र में बताए हुए शरीर-परिमाण के अनुकूल हो और नीचे का भाग हीन अवयवों वाला हो उसे "न्यग्रोध-परिमण्डल-सस्थान" कहते हैं

३. **सादि संस्थान**—जिस संस्थान मे नाभि से नीचे का भाग परिपूर्ण हो और ऊपर का भाग परिमाण से न्यून या अधिक हो, वह सादि सस्थान माना जाता है।

४ **कुब्ज-संस्थान**—जिस संस्थान में हाथ, पैर, गर्दन और सिर आदि अवयव तो ठीक हो, किन्तु पीठ, पेट, छाती आदि अवयव टेढे-मेढ़े हो उसे कुब्ज संस्थान कहते हैं।

५. **वामन-संस्थान**—जिस आकार में छाती, पीठ, पेट आदि अवयव तो ठीक हों, किन्तु ऊंचाई अत्यन्त कम हो, उस बौनी आकृति को वामन-सस्थान कहते है।

६ **हुण्ड-संस्थान**—जिसका शरीर सब तरह से बेढब एवं बेडौल हो, शरीर के सभी अवयव न्यून-अधिक हों, उसे हुण्ड-सस्थान कहते है।

वज्रऋषभनाराच-संहनन में भी छहों सस्थान पाए जाते है। कोई भी संस्थान परमपद को प्राप्त करने के लिए न तो साधक है और न बाधक ही, किन्तु उत्तम संहनन का होना अनिवार्य है, क्योंकि उत्तम एव सुदृढ संहनन के बिना सयम एव तप की कठिन प्रक्रियाए पूर्ण नहीं हो सकतीं और परीषह एवं उपसर्गों को सहन करने की क्षमता भी प्राप्त नही होती।

अवनति और उन्नति के कारण

मूल—छट्ठाणा अणत्तवओ अहियाए, असुभाए, अखमाए, अनीसेसाए, अणाणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—परियाए, परियाले, सुए, तवे, लाभे, पूयासक्कारे।

छट्ठाणा अत्तवओ हियाए जाव आणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—परियाए, परियाले जाव पूयासक्कारे॥२२॥

छाया—षट् स्थानानि अनात्मवतोऽहिताय, अशुभाय, अक्षमाय, अनिश्रेयसाय, अननुगामिकत्वाय भवन्ति, तद्यथा—पर्यायः, परिवारः, श्रुतम्, तपः, लाभः, पूजासत्कार।

षट् स्थानानि आत्मवतो हिताय यावत् अनुगामिकत्वाय भवन्ति, तद्यथा—पर्यायः, परिवारो यावत् पूजासत्कारः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—अनात्मवान् अर्थात् कषाय-युक्त आत्मा के लिए छ: कारण अहितकर, अशुभकर, असंगत, अकल्याणकारी और अशुभानुबन्ध के लिए होते हैं, जैसे कि पर्याय, परिवार, श्रुत, तप, लाभ और पूजा-सत्कार।

आत्मवान् अर्थात् कषाय-मुक्त आत्मा के लिए छ: कारण हितकारी, शुभकारी, संगतिविधायक, कल्याणकारी और शुभानुबन्ध के विधायक होते हैं, जैसे कि पर्याय, परिवार, श्रुत, तप, लाभ और पूजा-सत्कार।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रों में शारीरिक रचना की सुदृढ़ता एवं आकृतियों पर प्रकाश डाला गया है, अब शास्त्रकार शरीरस्थ कषाययुक्त और कषाय-मुक्त आत्मा के लिए क्रमशः छ: कारण अनिष्टकारी एव छ: कारण कल्याणकारी तत्त्वो पर प्रकाश डालते हैं।

सूत्र के प्रथम भाग में अनात्मवान् के लक्षण बतलाए गए है। जो आत्मा क्रोध, मान, माया, और लोभ के वशीभूत होकर अपने स्वरूप को भूला हुआ है या ठीक समय पर अपने स्वरूप को भूल जाता है, वह अनात्मवान् है। ऐसे व्यक्ति के लिए छ: बाते अहितकर, अशुभ, दु:खप्रद, अशान्तिकर, अकल्याणकर तथा अशुभबध का कारण होती है। कषाय-मूलक होने के कारण जो बाते साधक को भ्रष्ट कर देती हैं वे छ: बातें इस प्रकार हैं—

१. **पर्याय**—पर्याय का अर्थ है स्थिति-परिवर्तन। इसका प्रयोग तीन कालों मे होता है—जन्मकाल, सत्ताकाल और प्रव्रज्या-काल। 'मैं अन्य लोगों की अपेक्षा आयु मे सबसे बडा हू' यह भावना अभिमान का पोषण करती है। 'जितने समय के लिए मैंने सत्ता को संभाला है, उतने समय तक अन्य किसी ने नही संभाला' यह अधिकार-वृत्ति भी अहंकार को अभिव्यक्त करती है और 'मैं अन्य मुनियों से ज्येष्ठ हूं, मैं दीक्षा ग्रहणकाल की दृष्टि से सबसे बडा हू' यह भावना भी अहंकार की पुष्टि करती है। इस तरह जन्मकाल, सत्ताकाल और प्रव्रज्याकाल ये सब कषायशील आत्मा के लिए तब हितकर नहीं हैं, जब कि वह इनका दुरुपयोग करता है।

२. **परिवार**—गृहस्थो का पुत्रादि परिवार और साधुओ का शिष्यादि परिवार अधिक होने से अहकार आदि दुर्गुणों का ही पोषक होता है, क्योकि सकषायी आत्मा समृद्ध परिवार को पाकर अपने लिए और दूसरो के लिए उपद्रव करने एवं अशान्ति फैलाने का ही कारण बन जाता है।

३ **श्रुत**—सकषायी आत्मा की विद्वत्ता, पाण्डित्य, बहुश्रुतता लाभप्रद नहीं हैं, क्योकि वह इनसे सिद्धान्त, गुरु, धर्म एवं श्रद्धा से विहीन होकर प्रत्यनीक बन जाता है। वह अपने को ही सबसे बड़ा मानने लगता है। अहंकार, श्रद्धाविहीनता और प्रत्यनीकता ये ऐसे दुर्गुण है जो प्राप्तज्ञान को भी दूषित कर देते हैं, अत: श्रुत भी उसके लिए हितकर नही है।

४. **तप**—तप मंगलकारी है, किन्तु सकषायी आत्मा के द्वारा किया हुआ तप भी

हितकर नही होता, क्योकि उसका किया हुआ तप भी दूसरों को तपाने के लिए होता है या प्रदर्शन के द्वारा अहंभाव की वृद्धि के लिए ही होता है।

५. **लाभ**—कषाय-युक्त आत्मा के लिए ससार पक्ष में धन-धान्य का लाभ तथा साधु-पक्ष में उत्तम वस्तुओ एवं लब्धियों का लाभ भी हितकर नही होता, क्योंकि वह उनका दुरुपयोग करता है। धन-मद में चूर होकर व्यक्ति लोगो का तिरस्कार करता है और साधारण से अपराध पर अपनी लब्धियों द्वारा साधु लोगो के विनाश के लिए प्रस्तुत हो जाता है, अत· सकषायी आत्मा के लिए उत्तम लाभ भी हानिकर हो जाता है।

६. **पूजा-सत्कार**—कषायशील व्यक्ति की अधिक प्रशंसा तथा वस्त्र आदि उत्तम वस्तुओं से सम्मान, पुरस्कार एव प्रतिष्ठा आदि भी उसके पतन का कारण बन जाता है। जैसे दुर्बल व्यक्ति के लिए पौष्टिक पदार्थ हानिकारक होते है, वैसे ही कषाय-युक्त व्यक्ति के लिए दीक्षा-पर्याय, परिवार, सूत्रज्ञान, तप, लाभ और पूजा-सत्कार ये सब मंगलकारी होने पर भी अनिष्टकारी बन जाते हैं। जैसे दूध अमृततुल्य होते हुए भी सर्प उसे विष के रूप में परिणत कर देता है, वैसे ही कषाययुक्त व्यक्ति भी इन सद्गुणों को दुर्गुण बना देता है।

यही छ. बाते कषाय-युक्त आत्मार्थी के लिए शुभ है। वह इनको धर्मसाधना या धर्म का प्रभाव समझकर इनके सदुपयोग के लिए कृत-संकल्प रहता है। उसकी दीक्षा-पर्याय सयम की वृद्धि के लिए, सुशिष्य परिवार प्रवचन-प्रभावना एव शासनोन्नति के लिए, विद्वत्ता ज्ञान-सवर्धन के लिए, तप कर्म-निर्जरा के लिए, लाभ चतुर्विध सघ के लिए और पूजा-सत्कार केवल धर्म-महिमा बढ़ाने के लिए होते है। जो व्यक्ति कषाय-मुक्त होकर निजस्वरूप में अवस्थित है, वे ही वास्तव में आत्मवान् कहे जाते है।

ये छः पदार्थ शुभकर्मोदय का तथा आवरण एव अंतराय के क्षयोपशम के फल के रूप में प्राप्त होते हैं, जैसे कि पर्याय आयुष्कर्म का फल है, परिवार साता-वेदनीय आदि कर्मो का फल है, श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का सुपरिणाम विद्वत्ता है, तप, लाभ, पूजा-सत्कार ये उच्च गोत्र के उदय से और अतराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होते है। अतः इनके मिलने पर अहकार करना व्यर्थ ही है। यह समझते हुए आत्मवान् पुरुष इनके सदुपयोग के लिए यत्नशील रहते है।

आर्यजाति और आर्यकुल

मूल—छव्विहा जाइआरिआ मणुस्सा पण्णत्ता, तं जहा—

अंबट्ठा य कलंदा य, वेदेहा वेदिगाइया।
हरिया चुंचुणा चेव, छप्पेया इब्भजाइओ॥१॥

छव्विहा कुलारिया मणुस्सा पण्णत्ता, तं जहा—उग्गा, भोगा, राइन्ना, इक्खागा, णाया, कोरव्वा॥२३॥

छाया—षड्विधा जात्यार्या मनुष्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

अम्बष्ठाश्च कलन्दाश्च, वैदेहा वैदिकादिकाः।
हरिताश्चुञ्चुनाश्चैव, षडेते इभ्यजातिकाः॥१॥

षड्विधाः कुलार्या मनुष्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उग्राः, भोगाः, राजन्याः, इक्ष्वाकाः, ज्ञाताः, कौरव्याः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छः प्रकार के जात्यार्य वर्णन किए गए हैं, जैसे—अम्बष्ठ, कालन्द, वैदेह, वैदिकादिक, हरित और चुञ्चुन। ये छहों इभ्य जातियां है।

छः प्रकार के कुलार्य मनुष्य कथन किए गए हैं, जैसे—उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाक, ज्ञात और कौरव्य।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र के द्वितीय अंश में उन कषाय-मुक्त व्यक्तियो का वर्णन किया गया है जिनके लिए पर्याय, श्रुत एव परिवार आदि शुभानुबन्धी बन जाते है। शुभानुबन्धी आत्माएं ही वैभव-सम्पन्न एव कुलीन होती है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार भारतवर्ष की उन छ: जातियों का उल्लेख करते हैं जो वैभव की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध मानी जाती थी और उन छ: भारतीय कुलों का उल्लेख करते हैं जिन्हें आर्य-वर्ग में कुलीन माना जाता था।

अम्बष्ठ, कालन्द, वैदेह, वैदिक, हारित और चुंचुन ये छ: जातिया इभ्य अर्थात् समृद्ध कहलाती है। इभ्य शब्द का अर्थ वृत्तिकार लिखते है—''**इभमर्हन्तीति इभ्याः—यद्द्रव्यस्तूपान्तरित उच्छितकदलिकादण्डो हस्ती न दृश्यते, ते इभ्या इति श्रुतिः**'' जिसके घर में इतनी धनराशि हो जिसकी ओट मे खडा हुआ हाथी भी न दीख सके वह इभ्य कहलाता है। जाति शब्द मातृपक्ष से सम्बन्ध रखता है, अत: आर्य जाति का अर्थ है—निर्दोष विशुद्ध मातृपक्ष वाली आर्य-जाति। इस कथन से यह भी संकेत प्राप्त होता है कि प्राचीन भारत मे ये छ: जातिया अत्यन्त समृद्ध थीं।

आर्य-कुल उसे कहते हैं, जिसका पैतृक-पक्ष विशुद्ध एव निर्दोष तथा निष्कलंक हो। प्राचीन भारत मे आर्यकुल भी छ: थे, जैसे कि—उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, इक्ष्वाक-कुल, ज्ञात-कुल और कौरव्य-कुल। ये कुल अन्य कुलों से विशेष श्रेष्ठ माने जाते थे। ऋषभदेव जी ने आरक्षण का दायित्व सम्भालने वाले जो कुल स्थापित किए थे वे उग्रकुल कहलाए, जो गुरुत्व-भाव से स्थापित किए थे वे भोगकुल कहलाए, जो मित्र-भाव से स्थापित किए गए या स्वीकृत किए गए वे राजन्य-कुल माने गए, जिस वंश मे ऋषभदेव जी उत्पन्न हुए थे उस वंश में जो उत्पन्न हुए वे इक्ष्वाककुल कहलाए। भगवान महावीर के

पूर्वज जिस कुल मे उत्पन्न हुए, वे ज्ञात और शान्तिनाथ जी का कुल कौरव्य कहलाता है।

भारतीय ऐतिहासिक परम्परा मे इभ्य जातिया अब अपना अस्तित्व किस रूप में एवं किस नाम से बचाए हुए है, यह ऐतिहासिक शोध का विषय है। यद्यपि भारत के प्राय: सभी लोग समृद्ध थे, आर्यकुलो मे भी समृद्धियो की कमी न थी, फिर भी सूत्रकार ने 'इभ्य' आर्य-जातियों को पृथक् रखा है। इसका कोई विशेष कारण अवश्य रहा होगा।

मातृपक्ष की विशुद्धता एवं प्रधानता सतति मे विनीतता एव लज्जालुता सिद्ध करती है और पितृ-पक्ष की विशुद्धता एवं प्रधानता वीरता-धीरता प्रदर्शित करती है। क्योंकि भारतीय सामाजिक व्यवस्था प्राय: पितृ-पक्ष प्रधान ही रही है।

यह भी सभव है कि आर्य-जाति उन्हे कहा गया हो जिनका जन्म ऐसी कुल-परम्पराओ मे हुआ हो जिन्होने विशुद्ध एवं सात्विक आचरण वाली विदेशी महिलाओ से विवाह कर लिया हो और साथ ही वे कन्या-पक्ष की अतुल विदेशी सम्पत्ति भारत मे भी ले आए हो और ऐसे लोगों के धीरे-धीरे आर्य-कुलो के अलग वर्ग स्थापित हो गए हों। पालित श्रावक का विवाह विदेशी वणिक पुत्री से हुआ था। (उत्तरा० २१वा अध्ययन) चन्द्रगुप्त का यूनानी सैल्यूकस की लड़की से विवाह भी प्रसिद्ध है, उसके साथ अतुल सम्पत्ति का आना भी इतिहास-सम्मत है।

हो सकता है कि अपनी सुदीर्घ विकास-परम्परा में ये आर्य जाति धीरे-धीरे आर्य-कुलो मे विलीन हो गई हों। ये सब मेरी सम्भावनाए है जो वास्तविकता के लिए ऐतिहासिक विश्लेषण की अपेक्षा रखती हैं।

लोक-स्थिति

मूल—छव्विहा लोगट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा—आगासपइट्ठिए वाए, वायपइट्ठिए उदही, उदही पइट्ठिया पुढवी, पुढवी-पइट्ठिया तसा थावरा पाणा, अजीवा-जीवपइट्ठिया, जीवा कम्मपइट्ठिया॥२४॥

छाया—षड्विधा लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता तद्यथा—आकाशप्रतिष्ठितो वातः, वातप्रतिष्ठितः उदधिः, उदधिप्रतिष्ठिता पृथ्वी, पृथिवी प्रतिष्ठिताः त्रसाः, स्थावराः प्राणिनः, अजीवा जीवप्रतिष्ठिताः, जीवाः कर्मप्रतिष्ठिताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छः प्रकार की लोक-स्थिति बतलाई गई है, जैसे कि आकाश-प्रतिष्ठित वायु है, वायु-प्रतिष्ठित उदधि है, उदधि-प्रतिष्ठित पृथ्वी है, पृथ्वी-प्रतिष्ठित त्रस-स्थावर प्राणी हैं, अजीव जीव-प्रतिष्ठित हैं और जीव कर्म-प्रतिष्ठित है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जाति-आर्यो और कुल-आर्यों का वर्णन किया गया है। उन

आर्य मनुष्यों की स्थिति लोक मे ही है, अत: अब सूत्रकार लोक-स्थिति के विषय का साकेतिक वर्णन प्रस्तुत करते है—

लोकस्थिति छ: प्रकार की है—आकाश के आधार पर वात, [तनुवात और घनवात इन दोनों का समावेश वात में ही हो जाता है] वात के आधार पर घनोदधि, घनोदधि के आधार पर पृथ्वी, पृथ्वी के आधार पर त्रस और स्थावर प्राणी रहते है। अजीव जीव के आधार पर आधारित हैं और जीव स्वकृत कर्मो पर प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार लोकस्थ पदार्थो का आधार और आधेयभाव सूत्रकार ने वर्णित किया है।

यद्यपि उपर्युक्त विषय भूगोल-शास्त्र का है, परन्तु सर्वज्ञ-दृष्टि अध्यात्म-साधक को उस आधार से परिचित करा देना चाहती है जहा पर अवस्थित होकर वह 'साधना' के लिए प्रयत्नशील रहता है।

इस प्रसंग में शका हो सकती है कि—वायु के आधार पर घनोदधि और उसके आधार पर पृथ्वी, ये दोनों वायु पर कैसे ठहर सकते है ? इस शका का समाधान यह है—यदि कोई मनुष्य चमडे की मशक को फूंकनी से भरकर वायु भर दे, उसके मुंह को चमड़े की डोरी से बाध दे। उसी मशक के ठीक मध्य भाग को भी बाध दे, ऐसा करने से उस मशक के दो भाग हो जाएगे जिस से वह मशक डमरू के सदृश लगने लग जाएगी। तब मशक का मुह खोलकर ऊपर के भाग में से वायु को निकाल दिया जाए और उसकी जगह पानी भर कर उस मशक का मुह बंद कर दें और बीच का बंधन बिल्कुल खोल दे। तत्पश्चात् ऐसा देखने में आएगा कि पानी मशक के ऊपर के भाग में ही रहेगा नीचे नहीं जा सकेगा क्योकि ऊपर के भाग मे जो पानी है उसका आधार मशक के नीचे के भाग का वायु है। जैसे मशक मे घनवायु के आधार पर पानी ऊपर रहता है, वैसे ही पृथ्वी आदि भी घनवायु के आधार पर टिके हुए है। (भगवती सूत्र १, उ ६)

घनवायु मे वजन उठाने का कितना बल है? इसे स्पष्ट करने के लिए अब दूसरा उदाहरण लीजिए—पहियों मे भरी हुई घनवायु के आधार पर सैकडो मनो एव टनो का भार ट्राली, बस, ट्रक आदि आधुनिक वाहन एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते है, यह सब घनवायु का ही प्रभाव है। अत: सिद्ध हुआ कि घनोदधि और पृथ्वी दोनो का आधार घनवायु है। त्रस एवं स्थावर प्राणियो का आधार पृथ्वी हैं।

इस प्रकार सूत्रकार का कथन सत्य है कि—आकाश के आधार पर वायु है, वायु के आधार पर घनोदधि है और घनोदधि के आधार पर पृथ्वी।

जीव के आधार पर अजीव अवस्थित है अर्थात् सचेतन दृश्यमान स्थूल शरीर का आधार जीव है। इतना ही नहीं अपने ऊपर उठाए हुए वस्त्र-आभूषण तथा अन्य जड पदार्थो का आधार भी जीव है। अजीव का विकास भी जीव ही करता है। अत: उसकी कार्य-रूपता जीवाश्रित है।

जीव अपने कर्मों पर अधिष्ठित है अर्थात् जीव की लोक स्थिति तभी तक है जब तक वह कर्मबध से युक्त है, कर्म-बध से मुक्त होते ही वह लोक के ऊर्ध्व भाग में पहुंच कर अवस्थित हो जाता है। जीव की स्थिति न केवल कर्मो पर ही निर्भर है, प्रत्युत कर्म-मुक्त जीवों की सत्ता भी तो शास्त्र-मान्य है। शास्त्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे केवल आधार-आधेय की सामान्य स्थिति को ही स्पष्ट किया है।

छः दिशाएं और उनसे होने वाली क्रियाएं

मूल—छद्दिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पाईणा, पडीणा, दाहिणा, उईणा, उड्ढा, अहा।

छहिं दिसाहिं जीवाणं गई पवत्तइ, तं जहा—पाईणाए जाव अहाए। एवमागई, वक्कंती, आहारे, वुड्ढी, निवुड्ढी, विगुव्वणा, गइपरियाए, समुग्घाए, कालसंजोगे, दंसणाभिगमे, णाणाभिगमे, जीवाभिगमे।

एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण वि, मणुस्साण वि॥२५॥

छाया—षड् दिशाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्राचीना, प्रतिचीना, दक्षिणा, उदीचीना, ऊर्ध्वमधः।

षड्भिर्दिशाभिर्जीवानां गतिः प्रवर्तते, तद्यथा—प्राचीनातो यावद् अधस्तः। एवमागतिः, व्युत्क्रान्तिः, आहारः, वृद्धिः, निवृद्धिः, विकुर्वणा, गतिपर्यायः, समुद्घात., कालसंयोगः, दर्शनाभिगमः, ज्ञानाभिगमः, जीवाभिगमः, अजीवाभिगमः।

एवं पञ्चेन्द्रियतिर्यग् योनिजानामपि, मनुष्याणामपि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छः दिशाएं वर्णित की गई है, जैसे कि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व और अधः।

जीवों की गति छः दिशाओं मे प्रवृत्त होती है, जैसे कि पूर्व दिशा में यावत् अधोदिशा मे। इसी प्रकार आगति, उत्पत्ति स्थान, आहार, वृद्धि, हानि, विकुर्वणा, गति-पर्याय, समुद्घात, कालसयोग, दर्शनाभिगम, ज्ञानाभिगम, जीवाभिगम और अजीवाभिगम भी समझना चाहिए।

इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों के तथा मनुष्यो के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे लोकस्थिति का वर्णन किया गया है। लोकस्थित प्राणियो की सभी क्रियाए दिशाओं के आधार पर ही होती हैं, अतः अब सूत्रकार छः दिशाओ के

नामोल्लेख करके उनमें होने वाली गति आदि चौदह क्रियाओ का वर्णन प्रस्तुत करते है।

प्राची, अवाची, प्रतीची, और उदीची ये नाम क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं के हैं, ऊर्ध्व दिशा और नीची दिशा ये सब छः दिशाएं होती हैं। इनमें जीवों की स्व-स्व कर्मानुसार गति होती है। गति आदि चौदह क्रियाओं का विवरण इस प्रकार है, जैसे कि—

१. **गति**—छः दिशाओ में जीव उत्पत्तिस्थान के प्रति गमन करते हैं।

२. **आगति**—जीव छः दिशाओं से विवक्षित भव मे आते है।

३. **व्युत्क्रान्ति**—जीवों का जन्म छः दिशाओं में हो रहा है।

४. **आहार**—जीव छः दिशाओ मे रहे हुए पुद्गलो का आहार करते हैं।

५. **वृद्धि**—जीव छः दिशाओं में वृद्धि पाते हैं।

६. **निवृद्धि**—जीवो के शरीर आदि की हानि भी इन्ही छः दिशाओं में होती है।

७ **विक्रिया**—जीव वैक्रिय शरीर के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपो में शरीर परिवर्तित करते हैं।

८. **गतिपर्याय**—जीवों का इधर-उधर गमन छः दिशाओं मे होता है।

९. **समुद्घात**—मूल शरीर को न छोड़कर आत्मा के कुछ प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना इस रूप मे समुद्घात भी छः दिशाओं मे होता है।

१० **काल-संयोग**—छः दिशाओं मे रहे हुए जीवों पर काल वर्त रहा है।

११. **दर्शनाभिगम**—सामान्यग्राही बोध भी जीवों को छः दिशाओ में होता है।

१२. **ज्ञानाभिगम**—जीवों को विशेषग्राही बोध भी छः दिशाओ मे होता है।

१३. **जीवाभिगम**—छः दिशाओ मे जीवों से सम्बन्धित बातो को ज्ञानी-जन जानते है।

१४. **अजीवाभिगम**—छः दिशाओं में अजीवों से सम्बन्धित बातों को भी ज्ञानी-जन जानते हैं।

इसी तरह पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिक जीव और मनुष्य इनकी गति, आगति आदि छः दिशाओं मे देखी जाती है। शेष २२ दण्डकों में ऐसा नही होता तथा दर्शन, ज्ञान, जीवाभिगम और अजीवाभिगम नरक आदि दण्डको में सम्भव नहीं होते, क्योंकि नारकी और देवों में भव-प्रत्यय अवधिज्ञान होता है। नारकी और ज्योतिष्क देवो में अवधिज्ञान विशेषतया तिर्यक् विषयक होता है तथा भवनपति और व्यन्तर देवों का अवधि-ज्ञान ऊर्ध्वविषयक होता है। वैमानिको का अवधिज्ञान अधिकतर नीची दिशा में होता है। इस प्रकार भव-प्रत्यय अवधिज्ञान का स्वरूप बतलाया गया है। जिनको गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान होता है वह ज्ञान छः दिशाओं में प्रवृत्त होता है।

यहां छठे स्थान के अनुरोध से विदिशाओं का ग्रहण नहीं किया गया। क्योंकि चार विदिशाओं सहित दिशाओ की कुल संख्या दस हो जाती है।

यद्यपि दिशा-ज्ञान प्रायः सामान्य जन को भी होता है, परन्तु उन दिशाओं मे तथा लौकिक वातावरण मे अनायास ही जीव की कौन-कौन सी क्रियाए होती रहती है, इसके परिज्ञान के लिए प्रस्तुत सूत्र का विषय प्रस्तुत किया गया है।

निर्दोष आहार-ग्रहण के कारण

मूल—छहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे आहारमाहारमाणे णाइक्कमइ, तं जहा—

वेयणा-वेयावच्चे, ईरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥

छहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे आहारं वोच्छिंदमाणे णाइक्कमइ, तं जहा—

आयंके, उवसग्गे, तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु।
पाणिदया-तवहेउं, सरीरवुच्छेयणट्ठाए ॥२६॥

छाया—षड्भिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थ आहारमाहरन् नातिक्रामति, तद्यथा—

वेदनाय वैयावृत्याय, ईर्यार्थाय च संयमार्थाय।
तथा प्राणवृत्तिकायै, षष्ठं पुनर्धर्मचिन्तायै॥

षड्भिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थ आहारं व्यवच्छिन्दन् नातिक्रामति तद्यथा—

आतङ्के उपसर्गे, तितिक्षयाब्रह्मचर्यगुप्तिषु।
प्राणिदया-तपोहेतोः, शरीरव्यवच्छेदनार्थाय॥

शब्दार्थ—छहिं ठाणेहिं—छः कारणो से, **समणे निग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ, **आहारमाहारमाणे**—आहार करता हुआ, **णाइक्कमइ**—जिन आज्ञा का उल्लघन नही करता है, **त जहा**—जैसे, **वेयणा**—भूख को शान्त करने के लिए, **वेयावच्चे**—वैयावृत्य अर्थात् गुरुजनों की सेवा के लिए, **ईरियट्ठाए**—ईर्या के लिए, **य**—और, **संजमट्ठाए**—संयम के लिए, **तह**—तथा, **पाणवत्तियाए**—प्राणो की रक्षा के लिए, **पुण**—फिर, **छट्ठं**—छठा कारण है, **धम्मचिंताए**—धर्म चिन्ता के लिए है।

छहिं ठाणेहिं—छः कारणों से, **समणे निग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ, **आहारं**—आहार का, **वोच्छिंदमाणे**—त्याग करता हुआ, **णाइक्कमइ**—जिनाज्ञा का उल्लघन नहीं करता है, **तं जहा**—जैसे, **आयंके**—भयकर रोग उत्पन्न होने पर, **उवसग्गे**—उपसर्ग होने पर, **बंभचेर-**

गुत्तिसु—ब्रह्मचर्य गुप्ति की, **तितिक्खया**—रक्षा के लिए, **पाणिदयातवहेउं**—प्राणिदया और तप के लिए, **सरीरवुच्छेयणट्ठाए**—शरीर के परित्याग के लिए।

मूलार्थ—छः कारणों से श्रमण-निर्ग्रन्थ आहार करता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है, जैसे कि—क्षुधा-जनित वेदना की शान्ति के लिए, वैयावृत्य अर्थात् गुरुजनों की सेवा के लिए, ईर्या समिति पालन के लिए, संयम वृद्धि के लिए, अपने प्राणों की रक्षा के लिए और धर्म-चिन्ता के लिए।

श्रमण निर्ग्रन्थ छः कारणों से आहार का परित्याग करता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है, जैसे कि—व्याधि के होने पर, उपसर्ग के आ जाने पर, ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, प्राणिदया और तप के लिए, तथा संथारे के द्वारा शरीर के त्याग के लिए।

विवेचनिका—जीव-विज्ञान और अजीव-विज्ञान मनुष्य को होता है, मनुष्य-जीवन आहार पर निर्भर है और साधना की पूर्णता के लिए उसे आहार का त्याग भी करना होता है, अब सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र मे सयत मनुष्यों के लिए आहार ग्रहण करने और आहार ग्रहण न करने के उत्सर्ग और अपवाद-मार्ग का प्रदर्शन करते है।

आहार-ग्रहण—छः कारणो से आहार करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ भगवान की आज्ञा का उल्लघन नहीं करता, जैसे कि—

१. **वेदना**—जिस साधक से भूख की वेदना सहन न हो पा रही हो वह उस वेदना की निवृत्ति के लिए निर्दोष आहार कर सकता है, क्योकि क्षुधा के समान अन्य कोई वेदना नही है और वेदना ग्रस्त के लिए संयम-साधना कठिन हो जाती है। साधु का लक्ष्य संयम की सुरक्षा है, अतः संयम सुरक्षा के लिए उसे उपयुक्त आहार ग्रहण करके क्षुधा-वेदना की निवृत्ति करनी चाहिए।

२. **वैयावृत्य**—जिस साधु की नियुक्ति वैयावृत्य के लिए की गई हो, वह भी आहार कर सकता है, क्योंकि आहार किए बिना शरीर निशक्त हो जाता है और निशक्त शरीर से पूर्णतया सेवा नही हो सकती। पदवीधर, ग्लान, नवदीक्षित, स्थविर और तपस्वी ये सेवा के योग्य है और सेव्य महापुरुषों की सेवा करके ही साधक अपने साधना-मार्ग को प्रशस्त कर सकता है।

३. **ईर्यार्थ**—न खाने से यदि पैर लड़खड़ाते हों या नेत्रो की दृष्टि कम होती जा रही हो तो साधु को आहार कर लेना चाहिए। जब ईर्या-समिति शोधने के लिए गमन आदि क्रिया मे प्रवृत्ति सम्यक् न होती हो, तब ईर्यासमिति का पूर्णतया पालन करने के हेतु आहार कर सकता है।

४. **संयमार्थ**—संयम पालन करने के लिए साधु आहार करता है, आहार के लिए ही

वह संयम का पालन नही करता है प्रत्युत वह आहार इसलिए करता है ताकि सयम-पालन के लिए सशक्त एव स्वस्थ बन सके, क्योंकि सत्रह प्रकार के संयम की आराधना स्वस्थ शरीर वाला ही कर सकता है। भूख लगने पर मानसिक उथल-पुथल मच जाती है और उस उथल-पुथल में आर्त्त एव रौद्र ध्यान उत्पन्न हो सकता है उससे सयम नहीं रह सकता है, अत: सयम की रक्षा के लिए आहार करता हुआ साधु प्रभु की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

५. **प्राणवृत्यर्थ**—संयममय प्राणो की रक्षा के लिए साधु आहार कर सकता है। प्राणो का आधार आहार ही है। कहा भी है "**प्राणाः—उच्छवासादयो बलं वा प्राणास्तेषा तस्य वा वृत्तिः—पालनं तदर्थ प्राणसंधारणार्थमित्यर्थः।**" साधु जीने के लिए आहार करे, किन्तु खाने के लिए न जीए।

६. **धर्मचिन्तार्थ**—आहार न करने से यदि धर्म-चिन्ता स्वाध्याय, ध्यान आदि में प्रवृत्ति न हो पा रही हो तो आहार करता हुआ साधक-साधु मर्यादा का अतिक्रमण नही करता।

आहार त्याग—

छ: कारणों से साधु आहार का त्याग करता हुआ भी जिनेन्द्र देव की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता, जैसे कि—

१. **आतक**—ज्वर आदि भयकर रोग उत्पन्न होने पर या शरीर-विनाशक वेदना उत्पन्न होने पर आहार का त्याग करना ही उसके लिए श्रेयस्कर है।

२. **उपसर्ग**—किसी देवता-सबंधी, मनुष्य-सबन्धी, तिर्यञ्च-संबंधी उपसर्ग होने पर उसके लिए आहार का त्याग करना श्रेयस्कर है।

३ **ब्रह्मचर्य-गुप्ति**—ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त आहार का अनिश्चित समय के लिए त्याग करता हुआ साधक प्रभु-आज्ञा का उल्लंघन नही करता, क्योंकि आहार-त्यागी का ही प्राय: ब्रह्मचर्य सुरक्षित रह सकता है।

४ **प्राणी-दयार्थ**—प्राणियो की रक्षा के लिए यदि आहार नही करता तो भी वह जिनेन्द्र आज्ञा से बाहर नही है। वर्षा हो रही हो, कोहरा छाया हुआ हो, भूमि पर जन्तु अधिक भ्रमण कर रहे हों या आकाश में टिड्डिया आदि जीव अधिक उड रहे हो, तब साधु भिक्षा के लिए जाता ही नही है। जब वह भिक्षा के लिए जाएगा ही नहीं, तब आहार करने का प्रश्न ही नही उठता। प्राणियो की रक्षा करना उसका पहला कर्त्तव्य है, अत: उस कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए उसका आहार-त्याग सर्वथा निर्दोष है।

५. **तप-हेतु**—तप करने के उद्देश्य से भी आहार का परित्याग किया जाता है। व्रत, बेला, तेला, चौला इत्यादि तप करने की जब हृदय मे उमग उठे तब कर्म-निर्जरा को लक्ष्य

में रखकर आहार का परित्याग करना विहित है। प्रायश्चित्त करने के लिए तथा आत्मशुद्धि एवं व्रतों की शुद्धि के लिए भी आहार-त्याग रूप तप किया जाता है।

६. **शरीर-व्यवच्छेदार्थ**—किसी निमित्त से अपनी आयु का ज्ञान हो जाए और समय की स्वल्पता जानकर सलेखना द्वारा देह के परित्याग करने के लिए उद्यत होने पर आहार को छोडने से वह अर्हन्त भगवान की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता। अत: उक्त छ: कारणों के उपस्थित होने पर आहार न करता हुआ भी साधु आराधक ही है।

भगवान का धर्म अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त होता है। इसी कारण प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त छ: कारणों से आहार करता हुआ और दूसरे छ: कारणो से आहार न करता हुआ साधु आज्ञा का विराधक नहीं माना जाता। किन्तु बिना कारण के आहार करना और बिना ही कारण के आहार का त्याग करना साधु के लिए उचित नहीं है।

साधु भी आखिर मनुष्य ही है और मनुष्य वही है जिसमें गुण-अवगुण दोनों हैं। यद्यपि साधु का जीवन अवगुण विजयी होना अनिवार्य है, तथापि कभी-कभी मानवीय दुर्बलता के कारण वह किसी साथी साधक से लड भी पड़ता है, लड़ता नहीं, तो भी क्रोधावेश में आकर आहार का परित्याग कर देता है तो वह आहार-त्याग उसके लिए दोष-युक्त है।

इसी प्रकार यदि साधु जिह्वा की लोलुपता एव खाद्य पदार्थों की स्वादिष्टता के वशीभूत होकर केवल खाने के उद्देश्य से ही खाता है तो वह साधुत्व के मार्ग से पतित हो जाता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में साधु आहार किस-किस कारण से करे और किस-किस कारण से आहार न करे—उसे इन दोनो विषयों का परिज्ञान कराया गया है।

उन्माद के कारण

मूल—छहिं ठाणेहिं आया उम्मायं पाउणेज्जा, तं जहा—अरहंताणमवण्णं वदमाणे, अरहंपन्नत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वदमाणे, आयरियउवज्झायाण-मवण्णं वदमाणे, चाउव्वन्नस्स संघस्स अवण्णं वदमाणे, जक्खावेसेण चेव, मोहणिज्जस्स चेव कम्मस्स उदएणं ॥२७॥

छाया—षड्भिः स्थानैरात्मा उन्मादं प्राप्नुयात्, तद्यथा—अर्हतामवर्णं वदन्, अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्यावर्णं वदन्, आचार्योपाध्याययोरवर्णं वदन् चातुर्वर्णस्य संघस्यावर्णं वदन्, यक्षावेशेन चैव, मोहनीयस्य चैव कर्मण उदयेन।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आत्मा छ: कारणों से उन्माद को प्राप्त होता है, जैसे कि—अरिहन्तों की निन्दा करने से, अर्हत्प्ररूपित धर्म की निन्दा करने से, आचार्य और उपाध्याय

की निन्दा करने से, चतुर्विध संघ की निन्दा करने से, यक्ष का शरीर में प्रवेश होने से, मोहनीय कर्म के उदय होने से।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे जिनेन्द्र-आज्ञा-बद्ध आहार-सेवी और आहार-त्यागी मुनियो का वर्णन किया गया है। जिनेन्द्र आज्ञा का उल्लंघन करने पर मुनि उन्मादी बन जाता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में उन्माद का वर्णन किया गया है।

उन्माद का अर्थ है हित और अहित के विवेक को भूल जाना, पागल हो जाना तथा मिथ्यात्व के उदय से श्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम के प्रति अनर्गल प्रलाप करना। साधक के लिए उन्माद अतीव हानिकारक है। उन्माद से व्यावहारिक जीवन और साधना-पथ की प्रगति, दोनों सर्वथा अवरुद्ध हो जाते हैं।

उन्माद दो तरह का होता है—एक द्रव्य-उन्माद और दूसरा भाव-उन्माद। प्रस्तुत सूत्र मे दोनो का उल्लेख किया गया है। अरिहन्त भगवान की निन्दा करने से, उनके द्वारा कथित धर्म की निन्दा करने से, आचार्य-उपाध्याय की और चतुर्विध श्रीसंघ की अवज्ञा-अवहेलना करने से भाव-उन्माद होता है, भाव उन्माद ही मिथ्यत्व है। यक्षावेश से तथा मोह-कर्म के उदय से होने वाले उन्माद को द्रव्य-उन्माद कहा जाता है। इस विषय मे वृत्तिकार लिखते हैं—"**तीर्थङ्कराद्यवर्ण-वदन् कुपित-प्रवचन-देवतातो**" तीर्थकर आदि के अवर्णवाद करने वाले जीव के प्रति प्रवचन-रक्षक देवता कुपित होकर उस जीव को उन्माद दशा मे प्राप्त कर देते हैं, जिस से वह पागल बन जाता है।

किसी-किसी प्रति मे '**उम्मायं**' के स्थान पर "**उम्मायपमायं**" ऐसा पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ है अहित मे प्रवृत्ति करना उन्माद-प्रमाद है।

निन्दा तो सबकी बुरी होती है, विशेषकर महापुरुषो की, तथा धर्म की एवं उनके प्रवचनों की निन्दा तो निकृष्टतम पाप है इस पाप के कारण मनुष्य की बुद्धि मे विकार उत्पन्न हो जाता है, अत: साधक को इस निन्दाजन्य उन्माद से बचने का प्रयास करते रहना चाहिए।

षड्विध प्रमाद

मूल—छव्विहे पमाए पण्णत्ते, तं जहा—मज्जपमाए, णिद्दपमाए, विसयपमाए, कसायपमाए, जूयपमाए, पडिलेहणापमाए ॥२८॥

छाया—षड्विध: प्रमाद: प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मद्य-प्रमाद:, निद्रा-प्रमाद:, विषय-प्रमाद:, कषाय-प्रमाद:, द्यूत-प्रमाद:, प्रतिलेखना-प्रमाद:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छ: प्रकार का प्रमाद कथन किया गया है, जैसे—मद्य-प्रमाद, निद्रा-प्रमाद, विषय-प्रमाद, कषाय-प्रमाद, द्यूत-प्रमाद, प्रतिलेखना-प्रमाद।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में उन्माद का वर्णन किया गया है, उन्माद का सहचारी प्रमाद है, जहां उन्माद होता है वहां प्रमाद रहता ही है और जहा प्रमाद होता है वहा उन्माद भी अवश्य पाया जाता है। स्वकर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा और प्राप्त साधनों का दुरुपयोग तथा सदुपयोग का ज्ञानाभाव ही प्रमाद है। प्रस्तुत सूत्र में प्रमाद के छ: रूप बताए गए हैं—मद्य-प्रमाद, निद्रा-प्रमाद, विषय-प्रमाद, कषाय-प्रमाद, द्यूत-प्रमाद और प्रतिलेखना-प्रमाद। इनका विवरणात्मक परिचय इस प्रकार है, जैसे कि—

१. मद्य-प्रमाद—जो व्यक्ति मदिरापान करने वाले है, वे नशे के कारण विवेकहीन हो जाते हैं। यद्यपि सभी नशीली वस्तुओ का उपयोग हानिकारक है, तथापि मद्य का सेवन तो सर्वथा निषिद्ध है, क्योंकि मदिरा अनेक दुष्प्रवृत्तियो को जन्म देने वाली है और प्रमाद की वृद्धि करती है, जैसे कि कहा भी है—

"चित्तभ्रान्तिर्जायते मद्यपानाच्चित्ते भ्रान्ते पापचर्यामुपैति।
पाप कृत्वा दुर्गतिं यान्तिमूढास्तस्मान्मद्यं नैव देयं न पेयम्॥"

मद्यपान करने से चित्त मे भ्रान्ति अर्थात् नाना प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो जाते है, चित्त के भ्रान्त हो जाने से पापवृत्ति जाग उठती है, पाप से जीव दुर्गति हो प्राप्त होता है, इसलिए न किसी को मद्य देना चाहिए और न स्वय पीना चाहिए।

२ निद्रा-प्रमाद—निद्रा-प्रमाद नहीं, अनावश्यक निद्रा प्रमाद है। निद्रा जन्य प्रमाद से किस-किस गुण की हानि होती है इसका दिग्दर्शन एक नीतिकार ने इस प्रकार किया है, जैसे कि—

"निद्राशीलो न श्रुतं नापि वित्तं, लब्धुं शक्तो हीयते चैष ताभ्याम्।
ज्ञानद्रव्याभावतो दुःखभागी, लोक द्वैते स्यादतो निद्रयालम्॥"

निद्राशील पुरुष न विद्या अध्ययन कर सकता है, न व्यापार मे धनवृद्धि ही कर सकता है, ज्ञान और द्रव्य दोनो का अभाव होने पर व्यक्ति दोनो लोकों मे दु:ख का भागी बनता है, अत: मनुष्य को निद्रा-प्रिय नही होना चाहिए।

३. विषय-प्रमाद—शब्द आदि इन्द्रियों के पांच विषयों मे आसक्त रहना विषय-प्रमाद है। जिसका चित्त विषयों मे ही लीन रहता है, उसे विषय प्रमादी कहा जाता है। नीतिविज्ञो का कथन है, कि

"विषयव्याकुलचित्तो हितमहित वा न वेत्ति जन्तुरयम्।
तस्मादनुचितचारी, चरति चिरं दुःखकान्तारे॥"

जब यह प्राणी विषय-लालसा से व्याकुल हो जाता है तब वह हित और अहित की पहचान नही कर सकता, इस तरह अनुचित कार्य करता हुआ दु:खरूपी महावनो में भटकता रहता है।

४. कषाय-प्रमाद—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों में से किसी भी कषाय मे संलग्न रहना कषायप्रमाद है। इसके विषय मे भी मननशीलो का कथन है, कि—

''चित्तरत्नमसंक्लिष्टमान्तरं धनमुच्यते।
यस्य तन्मुषितं दोषैस्तस्य शिष्टा विपत्तय:॥''

शान्तचित्त ही आन्तरिक रत्न है, जिसका वह रत्न चुराया गया है उसके पास दुनिया भर की विपत्तिया आती ही रहती हैं। वह किसी भी गति मे विपत्तियो से बच नहीं सकता।

५. द्यूत-प्रमाद—जूआ खेलना भी प्रमाद है। व्यापार और जूए मे केवल इतना भेद है कि व्यापार मे क्रेता और विक्रेता दोनों को लाभ होता है, किन्तु जिसमें एक को लाभ और दूसरे की हानि हो जाना अवश्यंभावी है, वह जूआ ही है, जैसे कि आज कल सट्टे की प्रथा चली हुई है। जिसकी जीत-हार, हानि और लाभ, दाव पर निर्भर है, उसी को जूआ कहते हैं। अथवा जो व्यापार या क्रीड़ा राजनीति से विरुद्ध है वही जूआ कहलाता है। इसके विषय मे भी कहा है, जैसे कि—

''द्यूतासक्तस्य सचित्तं धन कामा सुचेष्टितम्।
नश्यन्त्येव परं शीर्ष नामापि च विनश्यति॥''

जो प्राणी जूए में आसक्त है, चित्त के साथ ही उसका धन, काम, शुभ चेष्टाए और सिर ये सब कुचले जाते है और तो क्या उसका ससार से नाम ही मिट जाता है। ऐसी कौन-सी विपत्ति है जो जूएबाज को नहीं भोगनी पडती, अत: इस प्रमाद से भी सदैव मानव को बचना ही चाहिए।

६ प्रतिलेखना-प्रमाद—यह प्रमाद चार प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे कि—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों की और चार प्रकार के आहार की चक्षु आदि के द्वारा प्रतिलेखना न करना द्रव्य-प्रतिलेखना प्रमाद है। जिस भूमि पर कायोत्सर्ग करना हो, शयन-आसन करना हो, मल-मूत्र का त्याग करना हो, उसकी प्रतिलेखना न करना क्षेत्रप्रतिलेखना-प्रमाद है। उचित अनुष्ठान के लिए काल-विशेष का पर्यालोचन न करना, निश्चित समय के अनुसार क्रिया न करना काल-प्रतिलेखना-प्रमाद है। ''मैने क्या-क्या शुभानुष्ठान किए हैं? मुझे क्या करना शेष रहता है? मेरे करने योग्य कौन सा शुभानुष्ठान है? जिसका मैं आचरण नही कर रहा हूं'' इस तरह के विचार करते हुए मध्यरात्रि के समय धर्म-जागरण न करना भाव-प्रतिलेखना प्रमाद है। भगवान ने प्रमाद-त्याग का सन्देश सबके लिए समान रूप से दिया है, 'मा पमाए' उनका यह उद्‌बोधन मन्त्र है, इसके जप के लिए नही, आचरण मे लीन रहने के लिए हमे सदा समुद्यत रहना चाहिए।

प्रमत्त और अप्रमत्त-प्रतिलेखना

मूल—छव्विहा पमायपडिलेहणा पण्णत्ता, तं जहा—

आरभडा संमद्दा, वज्जेयव्वा य मोसली तइया।
पप्फोडणा चउत्थी, वक्खित्ता वेइया छट्ठी॥

छव्विहा अप्पमायपडिलेहणा पण्णत्ता, तं जहा—

अणच्चावियं अवलियं, अणाणुबंधिं अमोसलिं चेव।
छप्पुरिमा नव खोडा, पाणी पाणविसोहणी॥२९॥

छाया—षड्विधा प्रमाद-प्रतिलेखना प्रज्ञप्ता, तद्यथा—

आरभटा संमर्दा, वर्जयितव्या च मोशली तृतीया।
प्रस्फोटना चतुर्थी, विक्षिप्ता वेदिका षष्ठी।

षड्विधाऽप्रमादप्रतिलेखना प्रज्ञप्ता, तद्यथा—

अनर्तितमवलितम्, अननुबन्ध्यमोशली चैव।
षट् पूर्वा नवखोटका, पाणि-प्राणि-विशोधिनी॥

शब्दार्थ—**छव्विहा**—छ: प्रकार की, **पमायपडिलेहणा पण्णत्ता, तं जहा**—प्रमाद-प्रतिलेखना कही गई है, जैसे, **आरभडा**—विपरीत प्रतिलेखना करना, **संमद्दा**—वस्त्रो का संमर्दन करना, **य**—और, **वज्जेयव्वा**—छोड़नी चाहिए, **तइया**—तीसरी, **मोसली**—वस्त्रो को नीचे-ऊपर स्पर्श करना, **चउत्थी**—चौथी, **पप्फोडणा**—प्रस्फोटना है, तथा (पाचवी), **विक्खित्ता**—विक्षिप्ता, **छट्ठी**—छट्ठी, **वेइया**—वेदिका है।

छव्विहा अप्पमायपडिलेहणा पण्णत्ता तं जहा—छ: प्रकार की अप्रमाद प्रतिलेखना कथन की गई है, जैसे, **अणच्चाविय**—वस्त्र तथा शरीर को न नचाना, **अवलियं**—वस्त्रों को न मरोड़ना, **अणाणुबंधिं**—नैरन्तर्य उपयोग युक्त, **य**—और फिर, **अमोसलिं**—नीचे-ऊपर वस्त्रो को स्पर्श न होने देना, **छप्पुरिमा**—षट्पूर्वावस्त्र का विभाग, **नव खोडा**—नव खोटक अर्थात् प्रस्फोटन, **पाणी**—हाथ में, **पाणि-विसोहणी**—प्राणियों का विशोधन करना।

मूलार्थ—प्रमाद-प्रतिलेखना छ: प्रकार की कही गई है, जैसे कि आरभटा, सम्मर्दा, मोशली, प्रस्फोटना, विक्षिप्ता, वेदिका। ये छ: प्रकार की प्रतिलेखनाएं सर्वथा त्याज्य हैं।

अप्रमाद प्रतिलेखना भी छ: प्रकार की कथन की गई है, जैसे-वस्त्रो को नचाना नहीं, मरोडना नही, भीत आदि से लगाना नही, किन्तु निरन्तर उपयुक्त विधि से प्रतिलेखना करना, तथा षट् पूर्व और नव खोटक हाथो में लेकर प्राणियों का विशोधन करना।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में 'प्रमाद' का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार प्रमाद से सम्बन्धित प्रमाद-प्रतिलेखना और अप्रमाद-प्रतिलेखना का स्वरूप बतलाते है। प्रतिलेखना

करना भी सयमी जीवन का एक अग है। इसके बिना अहिंसा का पालन सही अर्थो में नही हो सकता। जो प्रमाद का सेवन करता है, वह पहले महाव्रत-अहिंसा की सम्यक्तया आराधना नही कर सकता।

प्रमाद प्रतिलेखना के छ: भेद हैं, जैसे कि—

१. **आरभटा**—सूत्रविधि से विपरीत प्रतिलेखना करना या शीघ्रता से करना, एक वस्त्र की प्रतिलेखना अधूरी छोड़कर दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना प्रारम्भ कर देना या वस्त्रों को जल्दी मे इधर उधर देखकर बिन प्रमार्जना की हुई भूमि पर उन्हें रख देना आरभटा प्रतिलेखना है।

२. **संमर्दा**—वस्त्र को एक कोने से पकडकर उसके दूसरे कोने से मसलना या जिस प्रतिलेखना में वस्त्र के कोने मुडे ही रहें, सलवटे न निकाली जाए अथवा जिन वस्त्रों की प्रतिलेखना करनी शेष रहती है उनका प्रयोग कर लेना संमर्दा प्रतिलेखना है।

३. **मोसली**—धान्य आदि कूटते समय जैसे मूसल ऊपर-नीचे तथा तिरछे लगता है, वैसे ही प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को भूमि या आसपास की दीवार से टकराने देना, ऊपर-नीचे और तिरछे लगने देना मोसली प्रतिलेखना है।

४ **प्रस्फोटना**—धूल से भरे हुए वस्त्र को जैसे जोर से झाड़ा जाता है, वैसे ही प्रतिलेखना करते हुए बिना यतना के वस्त्र आदि को झाड़ना प्रस्फोटना प्रतिलेखना कहलाती है।

५ **विक्षिप्ता**—प्रतिलेखना किए हुए और प्रतिलेखना-रहित वस्त्रों को एकत्रित करके रख देना अथवा प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र के पल्ले को ऊपर की ओर फैंक देना 'विक्षिप्ता प्रतिलेखना' है।

६. **वेदिका**—प्रतिलेखना करते समय बैठने के गलत ढंग को वेदिका कहते है। वेदिका के पाच भेद है—ऊर्ध्ववेदिका, अधोवेदिका, तिरछीवेदिका, उभयवेदिका और एक वेदिका। दोनो घुटनो के ऊपर कोहनी रख कर प्रतिलेखना करना 'ऊर्ध्ववेदिका' है। दोनो घुटनो के नीचे कोहनी रखकर प्रतिलेखना करना 'अधोवेदिका' है। दोनो घुटनों के पसवाडे मे कोहनी रखकर प्रतिलेखना करना 'तिर्यग्वेदिका' है। दोनो घुटनो को दोनों भुजाओ के मध्य मे करके प्रतिलेखना करना द्विधावेदिका है, एक घुटने को दोनो भुजाओं के बीच मे करके प्रतिलेखना करना 'एक वेदिका' है। प्रतिलेखना करते समय घुटनो के ऊपर-नीचे और पसवाड़े मे हाथ रखना अथवा दोनों घुटनों या एक घुटने को भुजाओ के बीच रखना ''वेदिका-प्रतिलेखना'' है। इस प्रकार छ: तरह की प्रमाद-प्रतिलेखना कहलाती है। प्रत्येक साधु के लिए छ: प्रकार की प्रमाद-प्रतिलेखनाएं वर्ज्य हैं।

अप्रमाद-प्रतिलेखना—

प्रमाद का त्याग कर उपयोगपूर्वक शास्त्रोक्त विधि-सहित प्रतिलेखना करना अप्रमाद प्रतिलेखना है। इसके भी छ: भेद है। एक कोहनी तो दोनो जानुओं के मध्य में हो और दूसरी

कोहनी दोनो जानुओ से बाहर हो, इस प्रकार से बैठकर यत्नपूर्वक प्रमाद-रहित होकर की गई प्रतिलेखना शुद्ध एव निर्दोष वेदिका मानी जाती है। उक्त छ: प्रकार की प्रतिलेखना संबंधी दोषों को त्याग कर निम्नलिखित विधि से प्रतिलेखना सूत्रविहित है, जैसे कि—

१. **अनर्तित**—प्रतिलेखना करते समय शरीर को तथा वस्त्र को न नचाना।

२. **अवलित**—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र के सभी हिस्सों को अच्छी प्रकार से देखना।

३. **अननुबंधी**—निरतर दत्तचित्त होकर प्रतिलेखना करना और यतना पूर्वक वस्त्र को झाडना।

४ **अमोसली**—भित्ति या फर्श का स्पर्श न हो पाए, इस प्रकार वस्त्र को प्रतिलेखना के समय ऊपर-नीचे या तिरछे करके झाडना।

५. **छ: पुरिमा नव खोडक**—प्रतिलेखना मे छ: पूर्व और नव खोड करने चाहिएं। वस्त्र के दोनो भागों को तीन बार खंखेरना छ: पुरिम है तथा वस्त्र को तीन-तीन बार पूंजना एवं शोधना नव खोड कहा जाता है। प्रतिलेखना करते समय पहले वस्त्र के तीन भाग कर लेने चाहिएं। क्रमश: पहले भाग को, दूसरे भाग को, फिर तीसरे भाग को देख लेने पर इसी तरह उलट कर पुन: तीन भागो को देख लेना चाहिए। उन छ: भागों की पूर्वा सज्ञा है। फिर उन तीन भागों मे से प्रत्येक भाग की तीन-तीन बार प्रस्फोटना की जाती है। इस प्रकार नवखोटक हो जाते हैं। इसी तरह दूसरी ओर भी नव खोटक किए जाते हैं। उन्हे नव प्रखोटक कहा जाता है। इन की स्थापना निम्नलिखित है—

षट्पूर्वा— ▯▯▯ नव खोटक— ▯▯▯ + ▯ ▯ ▯

इस प्रकार दोनों ओर करने से छ: हो जाते हैं। □□□ □□□ □□□

इस प्रकार दोनों ओर तीन-तीन बार करने से प्रखोटक होते हैं।

षट्पूर्वा, नवखोटक, नवप्रखोटक और उपयोगपूर्वक दृष्टि इस तरह पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना करनी चाहिए, इससे न्यून अधिक नही।

६. **प्राणीप्राण-विशोधन**—वस्त्र आदि पर चलता हुआ यदि कोई प्राणी नजर आ जाए तो उसे अपने हाथ पर यतना से उतार कर सुरक्षित स्थान मे रखे ताकि उस क्षुद्र जीव की हिंसा न हो जाए।

प्रतिलेखना करते हुए यदि साधु परस्पर वार्तालाप या जनपद आदि की कथा करता है, दूसरे को पच्चक्खाण देता है, वाचना देता है, या लेता है तथा प्रमाद से प्रतिलेखना करता है तो वह छ: कायजीवों का विराधक माना जाता है, किन्तु दत्तचित्त, मौन और विवेक से यदि कोई प्रतिलेखना करता है, तो वह छ: काय का रक्षक कहलाता है।

छः लेश्याएं

मूल—छल्लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—कण्हलेसा जाव सुक्कलेसा।

पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं छः लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—कण्हलेसा जाव सुक्कलेसा। एवं मणुस्सदेवाणवि ॥३०॥

छाया—षड् लेश्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या।

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां षड् लेश्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या। एवं मनुष्यदेवानामपि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—लेश्याएं छः वर्णन की गई हैं, जैसे—कृष्णलेश्या से लेकर शुक्ल लेश्या तक छः लेश्याएं होती है।

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों में छः लेश्याए कथन की गई है, जैसे—कृष्णलेश्या से लेकर शुक्ललेश्या तक छः लेश्याएं, मनुष्य और देवों में भी इसी प्रकार छः लेश्याएं जान लेनी चाहिए।

विवेचनिका—प्रमादयुक्त और अप्रमादयुक्त प्रतिलेखना लेश्याओ के कारण होती है, अत· प्रस्तुत सूत्र मे छः लेश्याओं का वर्णन किया गया है। जिस अदृश्य शक्ति से कर्मो का सम्बन्ध आत्मा के साथ जुडता है वह अदृश्य शक्ति, लेश्या कहलाती है। लेश्याएं छः होती हैं, जैसे कि कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या। चार गतियां मे उत्पन्न हुए जीवों के हृदय में शुभ और अशुभ जो भी मनोवृत्तिया उत्पन्न होती है, वे सब किसी न किसी लेश्या से प्रेरित होती है। इनमें से पहली तीन लेश्याए अप्रशस्त अर्थात् अशुभ वृत्तियों को जागृत करने वाली है, शेष तीन लेश्याए प्रशस्त वृत्तियों को। अप्रशस्त लेश्याए पाप का कारण होने से अधर्म लेश्याए है, इनसे जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है। प्रशस्त लेश्याए धर्म का कारण होने से धर्म-लेश्याएं हैं, इनसे जीव सुगति को प्राप्त करते है। जिस लेश्या को लिए हुए जीव मृत्यु को प्राप्त होता है, उसी लेश्या को लेकर वह परलोक मे जन्म धारण करता है। लेश्या के पहले और अन्तिम समय में जीव परभव मे उत्पन्न नहीं होता, किन्तु अंतर्मुहूर्त बीतने पर और अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर ही परभव के लिए प्रस्थान करता है। मरते समय जिस लेश्या का कालमान अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, परभव में जीव उसी लेश्या से युक्त होकर उत्पन्न होता है।

आत्मा के अगणित गुणो में से एक वैभाविक गुण क्रिया भी है, उस गुण की विकारी अवस्था को लेश्या कहते हैं। जहा योग तथा कषाय-भाव की उपस्थिति है वहा लेश्या निश्चित है। जहा तक योग को कषाय का सहयोग है, वहां तक छहों लेश्याएं पाई जाती है।

किन्तु जहा कषाय के अभाव मे योग हो वहां मात्र शुक्ल लेश्या पाई जाती है। लेश्या का अस्तित्व १३वें गुणस्थान पर्यन्त रहता है।

जब तक योग रहता है, तब तक लेश्या रहती है। योग के अभाव में लेश्या भी नहीं रहती। जैसे १४वें गुणस्थान मे महासाधक अयोगी हो जाता है, वहा लेश्या भी नहीं रहती।

लेश्या योग-परिणाम रूप है, मन, वचन और काय के अन्तर्गत शुभाशुभ परिणाम के कारणीभूत कृष्ण आदि वर्ण वाले पुद्गल ही द्रव्य लेश्या है। आत्मा मे विद्यमान कषायों को लेश्याएं बढाती हैं, योगान्तर्गत पुद्गल कषायो को बढ़ाने का सामर्थ्य रखता है। पित्त के प्रकोप से जैसे क्रोध की वृद्धि होती है, वैसे ही लेश्याओं से शुभाशुभ भावों की वृद्धि होती है। मनुष्य और तिर्यचो में द्रव्य लेश्या और भावलेश्या दोनो एक साथ कार्य करती हैं, किन्तु नारकी और देवों मे द्रव्यलेश्या आयु पर्यन्त रहती है और भावलेश्या बदलती रहती है।

अप्रशस्त द्रव्यलेश्या के साथ प्रशस्त भावलेश्या भी हो सकती है, जैसे कि सम्यक्त्व उत्पन्न होते हुए प्रशस्त भावलेश्या होती है। तेजोलेश्या मे भी शक्रेन्द्र ने क्रोधावेश में आकर चमरेन्द्र को भगाया था, हो सकता है उस समय भावलेश्या कृष्णलेश्या हो, जैसे वैडूर्यमणि मे लाल धागा पिरोने पर भी वह अपने नीलवर्ण को रखते हुए धागे की लालिमा को धारण करती है।

मनुष्य और तिर्यच में लेश्या का कालमान अंतर्मुहूर्त है। इनके भावो में उतार-चढाव होता ही रहता है, उसके कारण लेश्या बदलती रहती है। आयु-बन्ध के समय जो लेश्या होती है, उसी लेश्या में मरण होता है, उसी लेश्या मे दूसरे भव मे जीव पहुंचता है। अपर्याप्त काल मे भी वही लेश्या रहती है, किन्तु नारकी और देवो मे जो लेश्या अपर्याप्त काल मे होती है, वही द्रव्य लेश्या आयु भर रहती है। उनकी अपेक्षा से लेश्या का कालमान निम्नलिखित है—कापोतलेश्या की स्थिति कम से कम दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तीन सागर, पल्योपम का असंख्यातवा भाग अधिक होती है।

नील लेश्या की स्थिति कम से कम पल्योपम का असख्यातवा भाग अधिक तीन सागर, और उसकी अधिक से अधिक पल्योपम का असख्यातवा भाग अधिक की दस सागर स्थिति होती है।

कृष्ण लेश्या की कम से कम स्थिति पल्योपम का असख्यातवा भाग अधिक दस सागर और अधिक से अधिक दस सागरोपम से लेकर के तीस सागरोपम तक की स्थिति होती है।

तेजोलेश्या की स्थिति कम से कम दस हजार वर्ष और अधिक से अधिक दो सागरोपम से कुछ अधिक होती है।

पद्मलेश्या की स्थिति कम से कम दो सागर से कुछ अधिक और अधिक से अधिक दस सागरोपम की होती है।

शुक्ल लेश्या की स्थिति कम से कम दस सागर से कुछ अधिक की और अधिक से अधिक तेंतीस सागर की होती है। स्मरण रहे यह स्थिति द्रव्य-लेश्या की है भाव लेश्या की नहीं।

जिज्ञासुओ को छ: लेश्याओं का सविस्तर वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के १७वें पद मे तथा उत्तराध्ययन सूत्र के ३४वें अध्ययन में द्रव्य-लेश्या और भाव-लेश्या का वर्णन देखना चाहिए।

सोम और यम की अग्रमहिषियां

मूल—सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो छ अग्ग-महिस्सीओ पण्णत्ताओ।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो जमस्स महारण्णो छ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ॥ ३१ ॥

छाया—शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य षडग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य यमस्य यमराजस्य षडग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—देवेन्द्र देवराज शक्रेन्द्र के आधीन सोम नामक लोकपाल महाराज की छ: अग्रमहिषिया कथन की गई हैं।

देवेन्द्र देवराज शक्रेन्द्र के आधीन यम नामक लोकपाल महाराज की छ: अग्रमहिषियां कथन की गई हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे लेश्याओं का वर्णन किया गया है। शुभ लेश्याओ वाले जीव देवलोकों मे जन्म लेकर महान सुखों का उपभोग करते है। सुखोपभोग के महासाधनों मे सब से महत्त्वपूर्ण स्थान महारानियो का होता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने उन दो प्रमुख देवो का वर्णन किया है, जिनकी छ:-छ: अग्रमहिषियां अर्थात् पट्टरानिया हैं। जैसे कि शक्रेन्द्र देवराजा के सोम और यम नामक दो लोकपालो की छ:-छ: अग्रमहिषिया है, वस्तुत: ये प्रधान देवियां है। इनका सदस्य परिवार, इनकी राजधानियां, इनकी ऋद्धिया, इनकी द्युति और प्रभाव तथा स्थिति का वर्णन आगमो मे बड़े विस्तार से वर्णित किया गया है।

ईशानेन्द्र की मध्यम पारिषदों की स्थिति

मूल—ईसाणस्स णं देविंदस्स मज्झिमपरिसाए देवाणं छ: पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ॥ ३२ ॥

छाया—ईशानस्य देवेन्द्रस्य मध्यमपरिषदो देवानां षट् पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—ईशान देवेन्द्र की मध्यम परिषद् के सदस्य देवो की छः पल्योपम की स्थिति बताई गई है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में देवसमृद्धि के रूप में दो लोकपाल देवो की अग्रमहिषियो का वर्णन किया गया है। देवसमृद्धि के द्वितीय अंग के रूप मे मध्यम-परिषद् के देवों की स्थिति का वर्णन प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं—प्रत्येक इन्द्र की तीन-तीन परिषदे होती हैं। जैसे कि आभ्यंतर परिषद्, मध्यम परिषद् और बाह्य-परिषद्। प्रत्येक परिषद में देव और देविया दोनो प्रकार के सदस्य होते है। देव-लोकों मे जैसे देवो को सम्मति देने का अधिकार है, वैसे ही देवियो को भी सम्मति देने का पूर्ण अधिकार दिया गया है। आभ्यतर परिषद् के देव और देविया राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी जो विचार-विमर्श एव प्रस्ताव पारित करके निर्णय करते है, उस निर्णय को मध्यम परिषद् वाले देव और देवियो को क्रियान्वित करने के लिए कहा जाता है। तब मध्यम परिषद् के देव-देविया बाहिर की परिषद् के देव और देवियो को निर्णीत कार्य को प्रयोग में लाने के लिए आज्ञा देते है। ईशानेन्द्र की मध्यम परिषद् के देवो की स्थिति छः पल्योपम की है। इस विषय का सविस्तर वर्णन जीवाभिगम सूत्र मे मिलता है।

दिक्-कुमारियां

मूल—छ द्दिसिकुमारिमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—रूया, रूयंसा, सुरूवा, रूयवई, रूयकंता, रूयप्पभा।

छव्विज्जुकुमारिमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आला, सक्का, सतेरा, सोयामणी, इंदा, घणविज्जुया॥३३॥

छाया—षड् दिक्कुमारिमहत्तरिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रूपा, रूपांशा, सुरूपा, रूपवती, रूपकान्ता, रूपप्रभा।

षड् विद्युत्कुमारिमहत्तरिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आला, शक्रा, शतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा, घनविद्युत्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छः महत्तरिका दिक्कुमारी देवियों का कथन किया गया है, जैसे—रूपा, रूपांशा, सुरूपा, रूपवती, रूपकान्ता, रूपप्रभा।

छः महत्तरिका विद्युत्कुमारी देविया कथन की गई है, जैसे—अला, शक्रा, शतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा, घनविद्युत्।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे मध्यम परिषद् के देवो की स्थिति का निर्देश किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में देवलोक से सम्बन्धित उन महत्तरिका दिशाकुमारी देवियों का वर्णन किया गया है, जिनकी सख्या छ: है। महत्तरिका का अर्थ होता है प्रधान अर्थात् जो दिक्-कुमारियो मे प्रधान हों, वे दिक्-कुमारी महत्तरिका कहलाती है।

प्रस्तुत सूत्र मे छ: महत्तरिका दिशाकुमारियो के नामोल्लेख किए गए है, जैसे कि रूपा, रूपांशा, सुरूपा, रूपवती, रूपकान्ता और रूपप्रभा।

इसी प्रकार विद्युत्कुमार जाति में जो प्रधान देवियां हैं उन्हें विद्युत्कुमारी महत्तरिका कहते है, जिनके नाम निर्देश नीचे लिखे अनुसार है, जैसे कि आला, शक्रा, सतेरा, सौदामिनी, इंद्रा और घनविद्युत्।

दिक्कुमारी महत्तरिकाएं दिक्कुमार भवनपति जाति की देविया है और विद्युत्कुमारी महत्तरिकाएं विद्युत्कुमार भवनपति जाति की देविया है।

भवनपति इन्द्रों की अग्रमहिषी देवियां

मूल—धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो छ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आला, सक्का, सतेरा, सोयामणी, इंदा, घणविज्जुया।

भूयाणंदस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो छ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—रूवा, रूवंसा, सुरूवा, रूववई, रूवकंता, रूवप्पभा।

जहा धरणस्स तहा सव्वेसिं दाहिणिल्लाणं जाव घोसस्स। जहा भूयाणंदस्स तहा सव्वेसिं उत्तरिल्लाणं जाव महाघोसस्स॥ ३४ ॥

छाया—धरणस्स नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य षडग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ता-स्तद्यथा—अला, शक्रा, शतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा, घनविद्युत्।

भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य षडग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रूपा, रूपांशा, सुरूपा, रूपवती, रूपकान्ता, रूपप्रभा।

यथा धरणस्य तथा सर्वेषां दाक्षिणात्याना यावत् घोषस्य।

यथा भूतानन्दस्य तथा सर्वेषामुत्तरीयाणां यावत् महाघोषस्य।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नागकुमारों के इन्द्र एवं नागकुमारों के राजा धरणेन्द्र की छ: अग्रमहिषियां कथन की गई हैं, जैसे—आला, शक्रा, शतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा, घनविद्युत्।

नागकुमारों के इन्द्र एवं नागकुमारो के राजा भूतानन्द की छ: अग्रमहिषियां कथन की गई है, जैसे—रूपा, रूपांशा, सुरूपा, रूपवती, रूपकान्ता, रूपप्रभा।

धरणेन्द्र के समान अन्य सब दक्षिण दिशा निवासी इन्द्रों के विषय में यावत् घोष तक इसी प्रकार जानना चाहिए।

भूतानन्द के समान ही अन्य सब उत्तरदिशा निवासी इन्द्रों के विषय में यावत् महाघोष तक इसी प्रकार जानना चाहिए।

विवेचनिका—विगत सूत्रो की परम्परा में अब सूत्रकार उन इन्द्रों की महारानियों का वर्णन करते हैं जिनकी संख्या छः है। दस भवनपति देव दो भागो में विभक्त हैं, कुछ दक्षिण की ओर, कुछ उत्तर की ओर। नागकुमारों के दो इंद्र है, धरणेन्द्र और भूतानन्द। धरणेन्द्र का शासन दक्षिण नागकुमारों पर है और उत्तर की ओर जो नागकुमार हैं उन पर भूतानन्द का शासन है। धरणेन्द्र की छः अग्रमहिषियां हैं जिनके नाम हैं—आला, शक्रा, शतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा और घनविद्युत्। भूतानन्द नागकुमारेन्द्र की भी छः अग्रमहिषिया है जैसे कि रूपा, रूपाशा, सुरूपा, रूपवती, रूपकान्ता और रूपप्रभा।

असुरकुमार को छोडकर शेष आठ इन्द्रों की पट्टदेवियो के नाम धरणेन्द्र की अग्र-महिषियों के ही समान है।

उत्तरीय आठ इंद्रों की पट्टदेवियों के नाम भूतानन्द इन्द्र की अग्रमहिषियो के समान जानने चाहिए। घोष और महाघोष इन्द्रो तक सबकी अग्रमहिषियो की नामावली भी उपर्युक्त नामावली के ही समान है।

धरणेन्द्र के सामानिक देवों की संख्या

मूल—धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो छस्सामाणिय-साहस्सीओ पण्णत्ताओ। एवं भूयाणंदस्सवि जाव महाघोसस्स ॥ ३५ ॥

छाया—धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य षट् सामानिकसहस्राणि प्रज्ञप्तानि एवं भूतानन्दस्यापि यावत् महाघोषस्य।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नागकुमारो के इन्द्र नागकुमारो के राजा के छः हजार सामानिक देव कथन किए गए हैं। इसी प्रकार भूतानन्द से लेकर शेष महाघोष तक भवनपति समस्त इन्द्रों के सामानिक देवो की संख्या छः-छः हजार ही जाननी चाहिए।

विवेचनिका—देवलोकों के देवों की षट् संख्या से सम्बद्ध देव-समृद्धि के वर्णन की परम्परा में प्रस्तुत सूत्र सामानिक देवो की सख्या का परिचय दे रहा है। नागकुमार महाराजा धरणेन्द्र के छः हजार सामानिक देव हैं। इसी प्रकार भूतानन्द नागकुमारेन्द्र के भी छः हजार सामानिक देव हैं। असुर कुमारो के अतिरिक्त शेष आठ भवनपतियो के सोलह इन्द्रों के सामानिक देवों की भी संख्या छः-छः हजार जाननी चाहिए।

पूर्वोक्त सूत्रों मे देव और देवियों का जो वर्णन किया जा रहा है उस वर्णन के दो कारण प्रतीत होते हैं—एक तो इन्द्र और उनके देव और देवियो का परिवार व उनकी ऋद्धि का यथावत् ज्ञान हो जाए और दूसरे सघ-रक्षा एव शासन-प्रभावना के लिए यदि कभी इनका आह्वान करना पड़े तो मुनिराज इनका आह्वान भी कर सके। बिना परिचय के आह्वान किसका किया जाए? आगमो मे "**विज्जाप्पहाणा मंतप्पहाणा**" ये दो विशेषण स्थविर मुनियों के दिए गए हैं। जो स्थविर मुनि देवियों के आह्वान में समर्थ हैं उनका विशेषण "**विज्जाप्पहाणा**" है और जो मुनि देवों का आह्वान करने में समर्थ हैं उनका विशेषण '**मंतप्पहाणा**' है। इनके आह्वान की विधि गुरु-आम्नाय द्वारा ही जानी जा सकती है।

मतिज्ञान का क्रमिक विकास

मूल—छव्विहा उग्गहमई, पण्णत्ता, तं जहा—खिप्पमोगिण्हइ, बहुमोगिण्हइ, बहुविधमोगिण्हइ, धुवमोगिण्हइ, अणिस्सियमोगिण्हइ, असंदिद्धमोगिण्हइ।

छव्विहा ईहामई पण्णत्ता, तं जहा—खिप्पमीहइ, बहुमीहइ जाव असंदिद्धमीहइ।

छव्विहा अवायमई पण्णत्ता, तं जहा—खिप्पमवेइ जाव असंदिद्धमवेइ।

छव्विहा धारणा पण्णत्ता, तं जहा—बहुं धारेइ, बहुविहं धारेइ, पोराणं धारेइ, दुद्धरं धारेइ, अणिस्सियं धारेइ, असंदिद्धं धारेइ ॥ ३६ ॥

छाया—षड्विधा अवग्रहमतिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—क्षिप्रमवगृह्णाति, बहुमवगृह्णाति, बहुविधमवगृह्णाति, ध्रुवमवगृह्णाति, अनिश्रितमवगृह्णाति, असंदिग्धमवगृह्णाति।

षड्विधेहामतिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—क्षिप्रमीहति, बहुमीहति, यावदसंदिग्धमीहति।

षड्विधा अवायमतिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—क्षिप्रमवेति यावदसंदिग्धमवेति।

षड्विधा धारणा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—बहुं धारयति, बहुविधं धारयति, पुराणं धारयति, दुर्द्धरं धारयति, अनिश्रितं धारयति, असंदिग्धं धारयति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—अवग्रह-मतिज्ञान छः प्रकार का कथन किया गया है, जैसे-क्षिप्र, बहु, बहुविध, ध्रुव, अनिश्चित, असंदिग्ध।

ईहा-मतिज्ञान छः प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—क्षिप्र, बहु यावत् असंदिग्ध।

अवाय-मतिज्ञान छः प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—क्षिप्र यावत् असदिग्ध।

धारणा मतिज्ञान छ: प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—बहु, बहुविध, पुराण, दुर्द्धर, अनिश्रित और असंदिग्ध।

विवेचनिका—स्वभाव से ही देव विशिष्ट मति वाले होते हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र में मतिज्ञान के भेदों का दिग्दर्शन कराया गया है। मतिज्ञान आभिनिबोधिक ज्ञान का ही पर्यायवाची शब्द है। यह मतिज्ञान चार प्रकार का है, जैसे कि—अवग्रह-मति, ईहा-मति, अवाय-मति और धारणा-मति।

अर्थ और व्यंजन के भेद से अवग्रह दो तरह का होता है—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। इसमें अर्थावग्रह भी दो प्रकार का है, नैश्चयिक-अर्थावग्रह और व्यावहारिक अर्थावग्रह। एक समय में होने वाला अवग्रह नैश्चयिक अर्थावग्रह कहलाता है और असख्यात समयों मे होने वाले अर्थावग्रह को व्यावहारिक अर्थावग्रह माना जाता है। इस प्रकरण में अर्थ का अभिप्राय है वस्तु। अर्थ सामान्य तथा विशेष दो तरह का होता है।

व्यंजनावग्रह का कालमान कम से कम आवलिका का असंख्यातवां भाग तथा अधिक से अधिक पृथक्त्व अर्थात् दो से लेकर नौ श्वासोच्छ्वास प्रमाण होता है।

ईहा—अवग्रह के द्वारा किए गए सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चय करने के लिए जो विचारणा होती है, वह ईहा है। इसका कालमान अन्तर्मुहूर्त है।

अवाय—ईहा के द्वारा ग्रहण किए हुए विशेष अर्थ का एकाग्रता से निश्चय करना अवाय है। इसका कालमान भी अन्तर्मुहूर्त है। अवाय की प्रक्रिया कुछ काल तक स्थिर रहती है, पुन: ध्यान विषयान्तर मे चले जाने से किया हुआ निश्चय लुप्त तो हो जाता है, किन्तु वह अपने पीछे ऐसे सस्कार छोड जाता है जिससे समयान्तर में किसी योग्य निमित्त के मिलने पर उस निश्चित किए हुए विषय का पुन: स्मरण हो आता है।

धारणा—निश्चय की अजस्र धारा, तज्जन्य सस्कार और सस्कार-जन्य स्मरण, इस मतिव्यापार को धारणा कहते हैं। इसका कालमान संख्यात काल भी है और असंख्यात काल भी।

जो अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा शीघ्रता से वस्तु-तत्त्व को जानते हैं, उन्हें "**क्षिप्रग्राही**" कहा जाता है। यदि वे एक साथ बहुत से पदार्थो को ग्रहण करते हैं, तब उन्हे बहुग्राही कहते है। जब वे एक ही वस्तु को विविध दृष्टियों से ग्रहण करते है, तब उन्हें "**बहुविधग्राही**" कहा जाता है। जब वे सामग्री होने पर विषय को अवश्यभावी जानने वाले हो, तब अवग्रह आदि "**ध्रुवग्राही**" कहलाते हैं। जब अवग्रह आदि बिना किसी हेतु के ही ज्ञान करते हैं, तब उन्हे "**अनिश्चितग्राही**" कहते हैं। जब वे सन्देह रहित ज्ञान करते हैं, तब उन्हें "**असंदिग्धग्राही**" कहा जाता है।

धारणा सूत्र में क्षिप्र और ध्रुव, इन दो पदों के स्थान पर "पोराण" और "दुर्द्धर" ये दो पद ग्रहण किए गए हैं। पोराण का अर्थ है—बहुत प्राचीन बातों की स्मृति रखना और

दुर्द्धर का अर्थ है—गहन एव विचित्र विषयों की स्मृति रखना। मतिज्ञान के अठाईस भेदों को बारह से गुणा करने से श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के ३३६ भेद बन जाते हैं तथा चार भेद अश्रुतनिश्रित के। ये कुल मिलाकर मतिज्ञान के ३४० भेद होते है।

बाह्य और आभ्यन्तर तप

मूल—छव्विहे बाहिरए तवे पण्णत्ते, तं जहा—अणसणं, ओमोयरिया भिक्खायरिया, रसपरिच्चाए, कायकिलेसो, पडिसंलीनया।

छव्विहे अब्भंतरिए तवे पण्णत्ते, तं जहा—पायच्छित्तं, विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ, झाणं, विउस्सग्गो ॥३७॥

छाया—षड्विधं बाह्यं तपः प्रज्ञप्तं तद्यथा—अनशनम्, अवमोदरिका, भिक्षाचर्या, रसपरित्यागः, कायक्लेशः, प्रतिसंलीनता।

षड्विधं आभ्यन्तरं तपः प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रायश्चित्तं, विनयः, वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः, ध्यानं, व्युत्सर्गः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छः प्रकार का बाह्य तप वर्णन किया गया है, जैसे—अनशन, अवमोदरिका, भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, काय-क्लेश, प्रतिसंलीनता।

छः प्रकार का आभ्यन्तर तप वर्णन किया गया है, जैसे—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में मतिज्ञान का वर्णन किया गया है, मतिसम्पन्न व्यक्ति ही तप करते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र मे बाह्य और आभ्यन्तर तप के छः-छः भेदो के नामो का उल्लेख किया गया है। वासनाओ को क्षीण करने के लिए, सचित कर्मो का क्षय करने के लिए तथा आध्यात्मिक बल बढ़ाने के लिए जिन-जिन उपायो से शरीर, इन्द्रिय, कषाय, और मन को तापित किया जाता है, वे सभी उपाय तप कहलाते हैं, अथवा जो शरीर और कर्म को कृश करता है, वह तप है। बाह्य-साधना और अन्तः-साधना के भेद से तप भी दो प्रकार का माना गया है—बाह्यतप और आन्तरिक तप।

बाह्यतप—

१. अनशन—अनशन का अर्थ है—आहार का त्याग। आहार त्याग के भी दो रूप है, थोडे काल के लिए त्याग और जीवन भर के लिए त्याग। एक उपवास से लेकर छः मास पर्यन्त जो आहार का त्याग किया जाता है उसे "**इत्वरिक-अनशन**" कहते हैं और जो आयु भर के लिए आहार का सर्वथा त्याग किया जाता है उसे "**यावत्कथिक-अनशन**" कहते हैं।

यावत्कथिक अनशन के तीन मौलिक भेद हैं, जैसे कि—**पादपोपगमन, इंगित-मरण और भक्तप्रत्याख्यान।** इन की व्याख्या पहले की जा चुकी है।

२. **अवमोदरिका**—आवश्यकता से न्यून आहार करना, वस्त्र आदि उपकरण भी आवश्यकता से न्यून ही रखना, कषायो के वेग को रोकना, इस प्रकार तप की बाह्य प्रक्रियाओ को ''अवमोदरिका तप'' कहा जाता है।

३. **भिक्षाचरी**—निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना तथा विचित्र अभिग्रहपूर्वक भिक्षाटन के लिए जाना भिक्षाचरी तप है, इसे **वृत्ति-संक्षेप** भी कहते हैं। विविध-वस्तुओं के लालच को कम करना ही **'वृत्ति-संक्षेप'** है। अभिग्रह चार प्रकार का होता है, जैसे कि द्रव्य-अभिग्रह, क्षेत्र-अभिग्रह, काल-अभिग्रह और भाव-अभिग्रह। ''मैं ऐसी वस्तु का सेवन करूंगा जिससे हाथ या पात्र में लेप भी न लगे,'' इस अभिग्रह को द्रव्य-अभिग्रह कहते है। ''मर्यादित क्षेत्र से ही आहार ग्रहण करूगा'' यह 'क्षेत्र-अभिग्रह' है। ''दिन के अमुक प्रहर में ही आहार ग्रहण करूगा'' इसे काल-अभिग्रह कहा जाता है। ''जब आहार बहराने वाला भक्ति-भाव से सम्पन्न होगा, तभी आहार ग्रहण करूगा'' इस अभिग्रह को भावाभिग्रह कहा गया है।

४. **रसपरित्याग**—विकार जनक दूध-घी, दही आदि विगयो का त्याग तथा शरीर-पुष्टि के लिए बनाए गए पौष्टिक आहार का त्याग करना रस-परित्याग कहलाता है।

५. **काय-क्लेश**—आगम-सम्मत रीति से ऐसी क्रियाएं करना, जिनसे शरीर कष्टो का अनुभव करे, जैसे कि केशलोच करना, शरीर की शुश्रूषा न करना, शरीर को न खुजलाना, वीरासन पद्मासन आदि आसन लगा कर बैठना, ये सब कायक्लेश तप के ही अनेक रूप है। कायक्लेश तप का उद्देश्य शरीर को कष्ट देना नहीं है, अपितु इसका उद्देश्य है—शरीरासक्ति को दूर करना।

६. **प्रतिसलीनता**—विषयो मे प्रवेश करती हुई इन्द्रियों को रोकना, उदय मे आए कषायो को निष्फल करना, योगों को रोकना, विविक्त शयनासन करना इत्यादि साधक की तप-प्रक्रियाए प्रतिसंलीनता तप कहलाती हैं।

ये छ: तरह के तप मुक्ति प्राप्ति के बाह्य अंग हैं। जिनसे अधिकतर शरीर पर प्रभाव पडे, या जिस तप से जनता प्रभावित हो जाए, लोक में तपस्वी की प्रसिद्धि हो जाए, ये सब बाह्य तप हैं। इनका प्रयोग मिथ्यादृष्टि भी करते हैं। लोग प्राय: बाह्य तप करने वालो को ही तपस्वी कहते हैं। परन्तु प्रदर्शनमात्र के लिए किया गया तप प्रशस्त तप नहीं कहलाता है।

आभ्यन्तर तप—जो तप मुक्ति प्राप्ति मे अंतरंग कारण हो, जो लोगों द्वारा न जाना जाए, न प्रसिद्धि में सहायक हो तथा जो मोक्ष का साधक हो, उसे आभ्यतर तप कहते हैं। इसका सीधा संबध आत्मा के भावों से होता है। इस के भी छ: भेद हैं, उनका विवरण निम्नलिखित है—

१. **प्रायश्चित्त**—लगे हुए दोषो की निवृत्ति के लिए आलोचना, निंदना, गर्हणा करना, गुरु के समक्ष बिना छिपाव के उपस्थित होकर अपने अवगुणो को प्रकट कर देना और पुन: उस भूल को न दोहराने का सकल्प लेना ही प्रायश्चित्त तप है।

२. **विनय**—जिसके द्वारा आठ प्रकार के कर्मो का, आठ प्रकार के मद-स्थानों का उन्मूलन हो और चतुर्गतिरूप ससार का व्यवच्छेद हो उसे विनय कहते हैं। गुरुजनो का सम्मान करना, उनके आने पर खडे हो जाना, उन्हें हाथ जोड़ना, उन्हें आसन देना आदि सम्मान सूचक व्यवहार करना और गुरुजनो के समक्ष अपने अहंभाव को सर्वथा विगलित कर उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करना ही विनय तप है।

३. **वैयावृत्य**—धर्म-साधना के लिए तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित, स्थविर और अधिनायक मुनिवरों की सेवा करना, उन्हे आहार लाकर देना, उनके संयम एवं तप में सहायता करना, वैयावृत्य तप है।

४. **स्वाध्याय**—अनध्याय का समय छोड कर मर्यादा-पूर्वक अध्ययन-अध्यापन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय के पांच भेद हैं, जैसे कि वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा। इनका विस्तृत विवेचन पूर्व प्रकरणो मे हो चुका है। यह स्वाध्याय भी चौथा आन्तरिक तप है।

५. **ध्यान**—आर्त्त और रौद्र इन दो ध्यानो को छोड़कर धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान ध्याना 'ध्यान-तप' है। यह तप संवर और निर्जरा का कारण है। आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान दुर्गति के कारण होने से सुखाभिलाषी आत्माओं के लिए त्याज्य माने गए है।

६ **व्युत्सर्ग**—व्युत्सर्ग तप के दो भेद हैं, द्रव्य-व्युत्सर्ग तप और भाव व्युत्सर्ग तप। शरीर, उपधि और आहार आदि का त्याग करना द्रव्य-व्युत्सर्ग है और काम क्रोध आदि बुराइयों का त्याग करना भाव-व्युत्सर्ग है।[१] आन्तरिक तप से आत्मा महानिर्जरा करता है और कर्मो का महापर्यवसान भी।

षड्विध विवाद

मूल—छव्विहेविवाए पण्णत्ते, तं जहा—ओसक्कइत्ता, उस्सक्कइत्ता, अणुलोमइत्ता, पडिलोमइत्ता, भइत्ता, भेलइत्ता ॥३८॥

छाया—षड्विधो विवादः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अवष्वष्क्यः, उत्ष्वष्क्यः, अनुलोम्यः, प्रतिलोम्यः, भक्त्वा, भेलयित्वा।

शब्दार्थ—छव्विहेविवाए पण्णत्ते, तं जहा—छः प्रकार का विवाद कथन किया

---

१ विशेष विवरण के लिए देखिए औपपातिक सूत्र 'तप-अधिकार' और भगवती सूत्र के पच्चीसवे शतक का सातवाँ उद्देशक।

गया है, जैसे, **ओसक्कइत्ता**—प्रस्तुत विवाद को स्थगितकर पुन: तैयारी करके विवाद करना, **उस्सक्कइत्ता**—उचित अवसर पर विवाद के लिए उत्सुक रहना, **अणुलोमइत्ता**—विवादाध्यक्ष को साम नीति से अपने अनुकूल करना, **पडिलोमइत्ता**—दृढ सामर्थ्य होने पर विवादाध्यक्ष अथवा वादी को प्रतिकूल बना कर विवाद करना, **भइत्ता**—अध्यक्षों की सेवा करके विवाद करना, **भेलइत्ता**—अपने पक्षपातियों को निर्णायक मण्डल में मिलाकर किया जाने वाला विवाद।

मूलार्थ—छ: प्रकार का विवाद वर्णन किया गया है, जैसे—उचित अवसर न जान कर विवाद को स्थगित कर देना, उचित अवसर जानकर विवाद के लिए शीघ्र ही उत्सुक होना, विवादाध्यक्ष आदि को अनुकूल बना कर किया जाने वाला विवाद, विवादाध्यक्ष को यथावसर प्रतिकूल बना कर किया जाने वाला विवाद, विवादाध्यक्ष आदि की सेवा-पूर्वक किया जाने वाला विवाद और अपने पक्षपातियों को निर्णायक मण्डल में सम्मिलित करवाकर किया जाने वाला विवाद।

विवेचनिका—आत्मा की विजय और कर्मों की पराजय तप से होती है। दो व्यक्तियों मे एक की जय और दूसरे की पराजय विवाद से ही होती है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे विवाद का उल्लेख किया गया है।

वादी और प्रतिवादी जब जय-पराजय की भावना को लेकर किसी समस्या पर शास्त्रार्थ करते है तो उसे विवाद कहते हैं। तत्त्व-निर्णय की इच्छा से केशीकुमार और गौतम स्वामी के मध्य जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उस रीति को विवाद नही सवाद कहते है। विवाद के छ: भेद होते हैं, जैसे कि—

ओसक्कइत्ता—स्वर्णावसर की प्रतीक्षा करते हुए विलम्ब करके विवाद करना। कहीं-कहीं "**ओसक्कावइत्ता**" पाठ भी प्राप्त होता है, उसका अर्थ है किसी बहाने से प्रतिपक्षी को हटा कर फिर अवसर पाकर शास्त्रार्थ करना।

उसक्कइत्ता—सुअवसर पाकर महती उत्सुकता के साथ विवाद करने के लिए प्रवृत्त होना। प्रतिवादी की मान्यता को ही अपनी मान्यता मानकर उसी का पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते हुए विवाद करना।

अणुलोमइत्ता—प्रतिपक्षी को या मध्यस्थ एव सभ्यों को साम, दाम आदि नीति से अनुकूल करके पहले प्रतिपक्षी का पक्ष ग्रहण करके फिर विवाद में प्रवृत्त होना।

पडिलोमइत्ता—अपने विद्या आदि बल के सामर्थ्य से प्रतिवादी को चुनौती देते हुए अध्यक्ष एवं प्रतिपक्षी को प्रतिकूल बनाकर फिर विवाद करना।

भइत्ता—निर्णायकों की स्तुति एवं सेवा आदि के द्वारा अपने पक्ष का समर्थन प्राप्त कर अपनी विजय सिद्धि के लिए विवाद करना।

भेलइत्ता—किसी भी उपाय से निर्णायकों को प्रतिपक्षी का विरोधी बनाकर विवाद करना।

वस्तुत: विवाद त्याज्य है, क्योंकि इसमें विजय की भावना रहती है। विजय तभी होती है जब दूसरे को पराजित किया जाए। पराजय से दूसरों का मन दुखता है, अत: विजय की भावना के पीछे दूसरे की पराजय का भाव होने से इसमें हिंसा है और हिंसा-विरमण साधु का प्रथम कर्त्तव्य है। वाद-विवाद मे छल-कपट का भी आश्रय लिया जाता है। छल-कपट 'माया' है। माया कषाय है, शल्य है। कषाय-विजयी ही साधुत्व के ऊचे शिखरों पर आसीन हो कर आत्म-कल्याण कर सकता है, अत: विवाद से बचने मे ही श्रेय है। विवाद से बचने के लिए ही 'अनेकान्तवाद' का आविर्भाव जैन संस्कृति की महती देन है। विवाद में 'ही' की प्रधानता रहती है और अनेकान्त का उपासक 'भी' का आश्रय लेता है। जहां 'भी' है वहां विवाद हो ही नहीं सकता। अत: विवाद का उलझाव जैन सस्कृति को मान्य नहीं है। जो यहां उसको उपस्थित किया गया है वह केवल परिज्ञान के लिए है, आश्रय लेने के लिए नहीं।

क्षुद्र प्राणी

मूल—छव्विहा खुड्डा पाणा पण्णत्ता, तं जहा—बेंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, संमुच्छिमपंचिंदिय-तिरिक्खजोणिया, तेउकाइया, वाउकाइया ॥३९॥

छाया—षड्विधा: क्षुद्रा: प्राणा: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—द्वीन्द्रिया:, त्रीन्द्रिया:, चतुरिन्द्रिया:, सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका:, तेजस्कायिका:, वायुकायिका:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—क्षुद्र प्राणी छ: प्रकार के कथन किए गए हैं, जैसे—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सम्मूर्च्छिम-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च, तेजस्कायिक और वायुकायिक।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में विवाद का वर्णन किया गया है। विवाद करने वाले प्राय: मायावी होते है और मायावी जीव प्राय: तिर्यञ्चगति में ही उत्पन्न होते हैं। उनमें भी वे क्षुद्र प्राणी के रूप में उत्पन्न होते हैं। क्षुद्र प्राणी छ: प्रकार के होते है—द्वीन्द्रिय जीव, त्रीन्द्रिय जीव, चतुरिन्द्रिय जीव, सम्मूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च, तेजस्कायिक जीव और वायुकायिक जीव। इन्हें क्षुद्र प्राणी इसलिए कहा जाता है कि इनमे कोई भी देव जन्म नहीं लेता और न इनसे निकल कर कोई जीव चरम-शरीरी ही बन सकता है। पृथ्वी, अप्, वनस्पति और गर्भज इनमे जीव देवगति से लौटकर जन्म ले सकता है और इनसे निकला हुआ जीव मनुष्य-जन्म पाकर सिद्धत्व को भी प्राप्त कर सकता है।

संयमी पुरुषो को इनकी रक्षा के लिए यत्नशील होना चाहिए, इसलिए इनका यहा परिचय दिया गया है।

षड्विधा गोचरचर्या

मूल—छव्विहा गोयरचरिया पण्णत्ता, तं जहा—पेडा, अद्धपेडा, गोमुत्तिया, पतंगविहिया, संबुक्कवट्टा, गंतुंपच्चागया ॥४०॥

छाया—षड्विधा गोचरचर्या प्रज्ञप्ता तद्यथा—पेटा, अर्धपेटा, गोमूत्रिका, पतंगवीथिका, शंबूकावर्त्ता, गत्वा-प्रत्यागता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छ: प्रकार की गोचरचर्या प्ररूपित की गई है, जैसे कि—पेटा, अर्धपेटा, गोमूत्रिका, पतंगवीथिका, शंबूकावर्त्ता, गत्वा-प्रत्यागता।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में क्षुद्र प्राणियों का परिचय दिया गया है। क्षुद्र-प्राणिता से बचने के लिए सयम की आवश्यकता है। सयमी वही हो सकता है जो क्षुद्र प्राणियो की भी रक्षा करता हुआ गोचरी करता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में गोचरी के भेदों को उपस्थित किया गया है।

जिस तरह गौ बिना किसी भेद भाव के ऊचे-नीच तृणों को चरती है, उन्हें जड़मूल से नही उखाडती, उसी तरह साधु भी धर्म के साधनभूत शरीर की रक्षा के लिए ऊच, नीच और मध्यम कुलो में भिक्षा के लिए प्रवेश करता है, अत: मुनियो की इस प्रकार की भिक्षावृत्ति ही गोचरी कहलाती है। अभिग्रह विशेष से इसके छ: भेद होते हैं—

१ **पेटा**—जैसे पेटी चार कोनों वाली होती है, वैसे ही साधु ग्राम या घर आदि को पेटी की तरह चार कोणो में विभक्त करके मध्य के घरो को छोड़ता हुआ सम श्रेणी से जब चारों दिशाओ में गोचरी के लिए विचरता है, तब वह 'पेटा-गोचरी' कहलाती है।

२. **अर्द्धपेटा**—पेटी की तरह चार भागों वाला जो क्षेत्र या घर है उसके आधे में जो साधु भिक्षा के निमित्त भ्रमण करता हुआ गोचरी करता है वह 'अर्द्धपेटा गोचरी' कहलाती है।

३. **गोमूत्रिका**—जिस भिक्षाचर्या में कभी दाएं से बाए और कभी बाएं से दाए के घरों में साधु भिक्षार्थ भ्रमण करता है वह 'गोमूत्रिका-गोचरी' कहलाती है।

४. **पतंगवीथिका**—जैसे पतंग अर्थात् शलभ उडता है उसकी तरह पहले एक घर से आहार लेना फिर पाच-छ: घरों को छोडकर सातवें या आठवें घर से आहार लेना 'पतंगवीथिका गोचरी' कहलाती है।

५. **शंखावर्त्ता**—शंख में जैसे गोल आवर्त होता है वैसे ही जो साधु एक घर गली के

अंदर और दूसरा घर गली से बाहर इस क्रम से भिक्षा ग्रहण करता है वह "शखावर्ता गोचरी" कही जाती है।

६. **गत-प्रत्यागता**—जिस भिक्षाचरी मे साधु गली की एक पंक्ति के घरों में गोचरी करता हुआ अत तक चलता जाता है और वापसी मे दूसरी पंक्ति के घरों से गोचरी लेता है, वह गोचरी 'गत-प्रत्यागता' कहलाती है।

इस तरह अभिग्रह विशेष के आश्रित होकर गोचरी के छ: भेद प्रदर्शित किए गए हैं।

अपक्रान्त महानरक

मूल—जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणे णमिमीसे रयणप्पभाए पुढवीए छ अवकंतमहानिरया पण्णत्ता, तं जहा—लोले, लोलुए, उदड्ढे, निदड्ढे, जरए, पज्जरए।

चउत्थीए णं पंकप्पभाए पुढवीए छ अवक्कंता महानिरया पण्णत्ता, तं जहा—आरे, वारे, मारे, रोरे, रोरुए, खाडखडे ॥४१॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणे अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां षडपक्रान्तमहानिरयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—लोलः, लोलुकः, उद्दग्धः, निर्दग्धः, जरकः, प्रजरकः।

चतुर्थ्यां पङ्कप्रभायां पृथिव्यां षडपक्रान्तमहानिरयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आरः, वारः, मारः, रोरः, रोरुकः, खाडखडः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में मन्दर पर्वत की दक्षिण दिशा की ओर रत्नप्रभा पृथ्वी में छ: अपक्रान्त अर्थात् जघन्य महानरक विद्यमान हैं, जैसे—लोल, लोलुक, उद्दग्ध, निर्दग्ध, जरक और प्रजरक।

चौथी पंकप्रभा पृथ्वी मे छ: जघन्य अर्थात् घृणित महानरक हैं, जैसे—आर, वार, मार, रोर, रोरुक खाडखड।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे सयमशील साधु की गोचरचर्या का वर्णन किया गया है। सब प्रकार के भौतिक सुखों का परित्याग करने वाले साधु का एक मात्र लक्ष्य परम-पद की ओर प्रस्थान करना ही होता है। नरक आदि दुर्गतियों की यातनाओ से मुक्त होने के लिए नरकों का ज्ञान होना आवश्यक है, अत: प्रस्तुत सूत्र में उन अपक्रान्त महानरकों का नामोल्लेख किया गया है जिनकी सख्या छ: है।

जो जीव धर्म से सर्वथा विमुख हैं तथा धर्म-भ्रष्ट हैं, वे अपक्रान्त नैरयिक बनते हैं। जो महानरक समस्त शुभ भावों से रहित हैं, अन्य नरकों से अतिनिकृष्ट तथा एकान्त अप्रिय

स्थान हैं, उन्ही को अपक्रान्त नरक कहा गया है। यद्यपि सभी नरको में जीव पाप-कर्म का फल भोगते हैं तथापि उनमे भी अपक्रान्त नरक अत्यन्त निकृष्ट होते हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी में छ: अपक्रान्त महानरक हैं। उनके नाम है—लोल, लोलुक, उदग्ध, निर्दग्ध, जरक और प्रजरक। वास्तव में देखा जाए तो ये छ: अपक्रान्त महानरक दक्षिण दिशा की ओर हैं। चौथी पंकप्रभा पृथ्वी मे भी दक्षिण दिशा की ओर छ: अपक्रान्त महानरक हैं, उनके नाम हैं— आर, वार, मार, रोर, रोरुक, और खाडखड। सात नरको मे ४९ प्रस्तट (पाथडे) हैं, जैसे कि तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पाच, तीन और एक। रत्नप्रभा से लेकर सातवी तमतमा पृथ्वी पर्यन्त क्रमश: उक्त संख्या जाननी चाहिए। कहा भी है—

''तेरसिक्कारस नव सत पंच तिन्नेव होंति एक्को य।
पत्थडसंखा एसा सत्तसु वि कमेण पुढवीसु॥''

नरकों में दो तरह के नरकावास हैं—आवलिका-प्रविष्ट और पुष्पावकीर्ण। उनमें जो आवलिका-प्रविष्ट हैं वे तीन प्रकार के हैं, जैसे कि—गोलाकार, त्रिकोण और चौकोण। जो पुष्पावकीर्ण नरकावास है उनके आकार विविध हैं। पहले नरक में तीस लाख नारकावास है, उनमे ४४३३ नारकावास आवलिका-प्रविष्ट हैं। शेष सब पुष्पावकीर्ण हैं। पहले प्रस्तट मे ३८९ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास हैं, उनका क्रम इस प्रकार है। पूर्व आदि चार दिशाओ मे ४९-४९ आवलिका-प्रविष्ट-नरकावास है और आग्नेय आदि चार कोणो मे ४८-४८ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है। उनके ठीक मध्यभाग मे सीमन्तक नरकेन्द्रक है। उसके आस-पास सब पुष्पावकीर्ण नारकावास हैं। दूसरे प्रस्तट मे आठ की संख्या घटा देनी चाहिए, इस क्रम से आठ-आठ की संख्या घटाते-घटाते तेरहवे प्रस्तट मे आवलिका-प्रविष्ट नारकावासों की कुल संख्या २९३ है। इस तरह तेरह प्रस्तटो मे आवलिका-प्रविष्ट नारकावासों की कुल सख्या ४४३३ तथा पुष्पावकीर्ण नारकावासो की संख्या २९९५५६७ है। दोनों को मिलाकर कुल ३०००००० नारकावास हैं।

शर्कराप्रभा पृथ्वी में ११ प्रस्तट है। पच्चीस लाख नारकावास है। उनमे भी कुछ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास हैं और कुछ पृष्पावकीर्ण। पहले प्रस्तट में चार दिशाओं में ३६-३६ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास हैं और चार कोणों मे ३५-३५ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है। उनके मध्य में एक नरकेन्द्रक है, इस रीति से २८५ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है। क्रमश: आठ-आठ की संख्या घटाते-घटाते ग्यारहवे प्रस्तट में २२१ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है। आवलिका प्रविष्ट नारकावासो की कुल संख्या २६९५ है और पुष्पावकीर्ण नारकावासों की कुल सख्या २४९७३०५ है। उक्त दोनों नारकावासों को मिलाकर यहां के नारकावासो की सख्या २५०००० होती है।

बालुका-प्रभा पृथ्वी में नौ प्रस्तट है, प्रत्येक दिशा में आवलिका-प्रविष्ट नारकावास

२५-२५ हैं और प्रत्येक विदिशा में २४-२४ नारकावास है, उनके मध्य में एक नरकेन्द्रक है। इस प्रस्तट मे १९७ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास हैं। क्रमशः आठ-आठ की संख्या घटाते-घटाते नौवें प्रस्तट में १३३ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है। इनमें आवलिक-प्रविष्ट सभी नारकावासों की संख्या १४८५ है और पुष्पावकीर्ण नारकावासों की कुल संख्या १४९८५१५ है, दोनों का जोड १५०००० होता है।

पंकप्रभा पृथ्वी में सात प्रस्तट हैं। पहले प्रस्तट में १२५ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है। प्रत्येक दिशा में १६-१६ और विदिशाओ में १५-१५ है, आवलिका-प्रविष्ट नारकावासों के ठीक मध्य मे एक नरकेन्द्रक नारकावास है। आठ-आठ की सख्या घटाते हुए सातवें प्रस्तट में ७७ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है। सात प्रस्तटों मे आवलिका-प्रविष्ट नारकावासों की कुल सख्या ७०७ है और पुष्पावकीर्ण नारकावासों की कुल सख्या ९९९२९३ है, कुल मिलाकर १०००००० नारकावास हैं।

धूमप्रभा पृथ्वी में पाच प्रस्तट है। तीन लाख नारकावास हैं। पहले प्रस्तट मे प्रत्येक दिशा मे नौ-नौ और विदिशाओ में आठ-आठ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है। उनके ठीक मध्य भाग में नरकेन्द्रक है। पहले प्रस्तट मे आवलिका-प्रविष्ट नारकावासो की संख्या ६९ है। आठ-आठ घटाते हुए पांचवे प्रस्तट मे कुल ३७ नारकावास है। पांच प्रस्तटो मे कुल आवलिका-प्रविष्ट नारकावास २६५ है और पुष्पावकीर्ण नारकावास २९९७३५ है, कुल मिलाकर ३००००० नारकावास हैं।

तमप्रभा पृथ्वी मे तीन प्रस्तट है। उनमे आवलिका-प्रविष्ट ६३ नारकावास है। पहले प्रस्तट में २९ है। प्रत्येक दिशा मे चार-चार है और विदिशा मे तीन-तीन आवलिका-प्रविष्ट नारकावास हैं और एक मध्य में नरकेन्द्रक है। आठ-आठ घटाते हुए तीसरे प्रस्तट में आवलिका-प्रविष्ट नारकावासों की सख्या १३ है। तीनों प्रस्तटो मे पुष्पावकीर्ण नारकावासो की सख्या ९९९३२ है। आवलिका प्रविष्ट नारकावासों की सख्या ६३+९९९३२ को मिलाकर कुल सख्या नारकावासो की ९९९९५ होती है।

तमतमा पृथ्वी मे एक ही प्रस्तट है। चार दिशाओ मे त्रिकोण संठाण वाले चार नारकावास हैं, उन के ठीक मध्यभाग में गोलाकार जंबूद्वीप प्रमाण अप्रतिष्ठान नारकावास है, जिसमें प्रतिपूर्ण ३३ सागरोपम की स्थिति है।

प्रस्तुत सूत्र में भी जिस-जिस नरक के छः-छः अपक्रान्त महानारकावास हैं, उन्हीं का उल्लेख किया गया है। अपक्रान्त महानारकावास सभी आवलिका-प्रविष्ट हैं और अन्य नारकावासों की अपेक्षा ये अधिक अनिष्टकारी माने जाते हैं। इन अपक्रान्त नरकों में एकान्त अधर्मी जीव ही उत्पन्न होते है। अन्य नरकों मे भी अपक्रान्त नरक हैं, किन्तु उनकी संख्या अधिक होने से इसमें उनका उल्लेख नहीं किया गया है।

ब्रह्मलोक के विमान-प्रस्तट

मूल-बंभलोगे णं कप्पे छ विमाणपत्थडा पण्णत्ता, तं जहा—अरए, विरए, णीरये, निम्मले, वितिमिरे, विसुद्धे ॥४२॥

छाया—ब्रह्मलोके कल्पे षड् विमान-प्रस्तटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अरजः, विरजः, नीरजः, निर्मलः, वितिमिरः, विशुद्धः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—ब्रह्मलोक नामक कल्प में विमानों के छः प्रस्तट वर्णन किए गए है, जैसे—अरज, विरज, नीरज, निर्मल, वितिमिर और विशुद्ध।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अधोलोकस्थित नरकों का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार ऊर्ध्वदृष्टि होकर ब्रह्मलोक के विमान-प्रस्तटों का वर्णन करते हैं। पांचवे देवलोक ब्रह्म-कल्प मे छः विमान-प्रस्तट है। भवन के मध्य में जितने अंतराल भाग होते हैं, वे सब प्रस्तट कहलाते हैं। विशुद्ध वैमानिक देवों के कुल ६२ प्रस्तट है। पहले और दूसरे देवलोक मे १३ विमान-प्रस्तट है। तीसरे और चौथे देवलोक में १२ विमान-प्रस्तट हैं। पांचवें देवलोक में छ. विमान-प्रस्तट है। छट्ठे में पाच विमान-प्रस्तट हैं, सातवे देवलोक मे चार और आठवें देवलोक मे भी चार ही विमान-प्रस्तट है। नौवे और दसवें देवलोकों में चार-चार विमान-प्रस्तट है। इसी प्रकार चार विमान प्रस्तट ग्यारहवें और बारहवें देवलोक में हैं। नौ ग्रैवेयक देवलोक के अधोभाग मे तीन, मध्यभाग मे तीन और ऊर्ध्वभाग मे भी तीन, इस प्रकार से ९ विमान-प्रस्तट है और पाच अनुत्तर विमानो में एक ही विमान-प्रस्तट है। इस प्रकार १३+१२+६+५+४+४+४+४+९+१=कुल ६२ विमान प्रस्तट है।

विमान-प्रस्तटो का प्रभाव देवों की अवगाहना लेश्या, और स्थिति पर एव सुख और समृद्धि पर पड़ता है। नीचे के प्रस्तटो में अवगाहना, लेश्या, ऋद्धि, स्थिति और सुख कम और ऊपर के प्रस्तटों में अवगाहना छोटी, लेश्या विशुद्ध और स्थिति एव सुख अधिक होता है, जैसे कि पहले और दूसरे देवलोक के पहले प्रस्तट में स्थिति एक पल्योपम या पल्योपम से कुछ अधिक और तेरहवें विमान-प्रस्तट में दो सागरोपम से कुछ अधिक की स्थिति है। प्रस्तुत सूत्र मे पाचवें देवलोक के छः विमान-प्रस्तटों के नामोल्लेख किए गए हैं, अरज, विरज, नीरज, निर्मल, वितिमिर और विशुद्ध। ये प्रस्तटों के नाम है। छट्ठे स्थान के अनुरोध से अन्य प्रस्तटो के नाम यहां नहीं दिए गए।[1]

चन्द्र के छः नक्षत्रों की योगस्थिति

मूल—चंदस्स णं जोइसिंदस्स जोइसरन्नो छ णक्खत्ता पुव्वंभागा

---

१ समवायाग सूत्र के ६२ वें समवाय मे सभी विमानों के ६२ प्रस्तटो का वर्णन किया गया है।

समखेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता, तं जहा—पुव्वाभद्दवया, कत्तिया, महा, पुव्वाफग्गुणी, मूलो, पुव्वासाढा।

चंदस्स णं जोइसिंदस्स जोइसरण्णो छ णक्खत्ता णत्तंभागा अवड्ढ-क्खेत्ता पन्नरसमुहुत्ता पण्णत्ता, तं जहा—सयभिसया, भरणी, अद्दा, अस्सेसा, साई, जेट्ठा।

चंदस्स णं जोइसिंदस्स जोइसरन्नो छ नक्खत्ता उभयं भागा दिवड्ढखेत्ता पणयालीसमुहुत्ता पण्णत्ता, तं जहा—रोहिणी, पुणव्वसू, उत्तराफग्गुणी, विसाहा, उत्तरासाढा, उत्तराभद्दवया॥४३॥

छाया—चन्द्रस्य ज्योतिरिन्द्रस्य ज्योतीराजस्य षड् नक्षत्राणि पूर्वभागानि समक्षेत्राणि त्रिंशन्मुहूर्त्तानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पूर्वाभाद्रपदा, कृत्तिका, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, मूलं, पूर्वाषाढा।

चन्द्रस्य ज्योतिरिन्द्रस्य ज्योतीराजस्य षड्नक्षत्राणि नक्तं भागानि अपार्द्धक्षेत्राणि पञ्चदशमुहूर्त्तानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—शतभिषज्, भरणी, आर्द्रा, अश्लेषा, स्वाति, ज्येष्ठा।

चन्द्रस्य ज्योतिरिन्द्रस्य ज्योतीराजस्य षड्नक्षत्राणि उभयभागानि द्व्यपार्द्धक्षेत्राणि पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—रोहिणी, पुनर्वसुः, उत्तराफाल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपदा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—ज्योतिषियो के इन्द्र तथा ज्योतिष-राज चन्द्रमा के छ: नक्षत्र पूर्व भाग में रहने वाले, समक्षेत्र वाले एवं तीस मुहूर्त्त वाले वर्णन किए गए है, जैसे—पूर्वाभाद्रपदा, कृत्तिका, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, मूल, पूर्वाषाढा।

ज्योतिरिन्द्र एव ज्योतीराजा चन्द्रमा के छ: नक्षत्र रात्रि-भाग मे अवस्थित, अर्धक्षेत्री, पन्द्रह-पन्द्रह मुहूर्त्त वाले कथन किए गए है, जैसे—शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, अश्लेषा, स्वाति, ज्येष्ठा।

ज्योतिषियों के इन्द्र, ज्योतिषियों के राजा चन्द्र के छ: नक्षत्र दोनों भाग वाले डेढ़ क्षेत्र वाले एवं पैंतालीस मुहूर्त्त वाले कथन किए गए हैं, जैसे—रोहिणी, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपदा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे ऊर्ध्वदृष्टि सूत्रकार ने ब्रह्मलोक के छ: प्रस्तटों का ही वर्णन किया है। अब तिर्यग् लोकस्थित चन्द्र और नक्षत्रो के योग का निर्देश किया जा रहा है। पूर्वाभाद्रपदा, कृत्तिका, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, मूला और पूर्वाषाढा इन छ: नक्षत्रों का तीस

मुहूर्तपर्यन्त चन्द्र के साथ योग रहता है। शतभिषज्, भरणी, आर्द्रा, अश्लेषा, स्वाती और ज्येष्ठा इन नक्षत्रों का योग चद्र के साथ पद्रह मुहूर्त तक रहता है। रोहिणी, पुनर्वसु, उत्तरा-फाल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढा और उत्तराभाद्रपदा इन छ: नक्षत्रों का योग चद्र के साथ ४५ मूहूर्त रहता है।

सूत्रकर्त्ता ने जो "**पुव्वंभागा, समखेत्ता**" ये दो पद दिए है इनका भाव यह है कि जो नक्षत्र चन्द्रमा के आगे से अर्थात् पूर्वभाग से योग जोडते हैं, वे तीस मुहूर्त तक चद्र के साथ ही रहते है। २४ घंटे तक जितने आकाश को चन्द्र स्पर्श करता है उसे समक्षेत्र कहते हैं, अत: जो नक्षत्र चन्द्रमा के आगे से योग जोड़ते है वे ३० मुहूर्त तक चन्द्र के साथ ही रहते है।

"**नत्तंभागा, अवड्ढखेत्ता**" इन दो पदो का भाव यह है कि "**नक्तं भागानि चन्द्रस्य समयोगिनीत्यर्थः**" जिन नक्षत्रो का चन्द्र के साथ योग रात को होता है वे १५ मुहूर्त पर्यन्त रहते हैं। बारह घंटे तक ही उनके योग का कालमान है। अत: अहोरात्र के आधे क्षेत्र को चंद्र जितना स्पर्श करता है उतने काल तक वे छ: नक्षत्र चद्र के साथ रहते है।

"**उभयंभागा**"—जो नक्षत्र चद्र के साथ पूर्व और पश्चात् दोनो भागो मे योग करते है वे डेढ अहोरात्र तक चन्द्र के साथ रहते है। शेष दस नक्षत्रों का योग पश्चिम से होता है। जिस क्रम से नक्षत्रो का योग होना बतलाया गया है वह क्रम सुभिक्षकृत है, उससे यदि विपरीत हो तो दुर्भिक्षकृत होता है।

अभिचन्द्र कुलकर की अवगाहना

मूल—अभिचंदे णं कुलगरे छ धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं हुत्था ॥४४॥

छाया—अभिचन्द्रः कुलकरः षड्धनुः शतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेनाभवत्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—अभिचन्द्र कुलकर की ऊंचाई छ: सौ धनुष की थी।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र मे किंचित् शब्द-साम्य तथा वर्ण-साम्य से अभिचन्द्र नामक कुलकर का परिचय दिया गया है। राजनीति के प्रारम्भिक सभी व्यवस्थापक कुलकर कहे जाते है। इस अवसर्पिणीकाल मे १५ कुलकरो में से दसवे कुलकर अभिचन्द्र हुए है। उनकी अवगाहना ६०० धनुष की थी। पहले पाच कुलकरों के युग मे "हकार-नीति" का प्रयोग होता था अर्थात् जब कोई मनुष्य अनुचित कर्म करता था तो उसे तत्कालीन कुलकर 'हा' कह कर खेद प्रकट कर देता था, यही उसके लिए दण्ड माना जाता था और वह लज्जित होकर पुन: अपराध न करता था। छट्ठे से लेकर दसवे कुलकर तक 'मकार-नीति' प्रचलित थी, अर्थात् अपराधी को 'मा' अर्थात् तुम्हे ऐसा नही करना चाहिए, यह कहकर उसकी अपराधवृत्ति को नियन्त्रित कर दिया जाता था। शेष पाच कुलकरो के समय मे 'धिक्-नीति' चलती थी अर्थात् अपराध करने पर अपराधी को धिक्कारा जाता था और धीरे-धीरे अन्य

कठोर दण्डो का भी आविर्भाव होता गया। पन्द्रहवें कुलकर से ही प्रथम तीर्थङ्कर का जन्म होता है। वैदिक परम्परा मे कुलकरो को मनु कहा जाता है और उनकी संख्या चौदह बताई गई है।

भरत चक्रवर्ती का राज्य-काल

मूल—भरहे णं राया चाउरंतचक्कवट्टी छ पुव्वसयसहस्साइं महाराया हुत्था ॥ ४५ ॥

छाया—भरतः राजा चातुरन्तचक्रवर्त्ती षट् पूर्वशतसहस्राणि महाराजोऽभवत्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चतुरन्त पृथ्वी के स्वामी चक्रवर्ती महाराज भरत छः लाख पूर्व तक सम्राट् बने रहे।

विवेचनिका—श्री नाभि कुलकर की अर्द्धांगिनी मरुदेवी की कुक्षि से भगवान ऋषभदेव जी का जन्म हुआ। उनके ज्येष्ठ सुपुत्र सुमगला के आत्मज महाराजा भरत चक्रवर्ती हुए। उनकी आयु उस युग के अनुसार चौरासी लाख पूर्व की थी। अन्य मनुष्यो की अपेक्षा महापुरुषो की आयु अपने युगानुसार मध्यमायु होती है। भरत चक्रवर्ती की कुछ आयु कुमारावस्था मे बीती और कुछ आयु महाराजा के रूप में बीती, किन्तु चक्रवर्ती पद का उपभोग उन्होने छ: लाख पूर्व तक किया। उनकी आज्ञा तीन ओर समुद्र और चौथी दिशा की ओर हिमवान् पर्वत पर्यन्त अखण्ड चलती रही। भरत राजा का "**चाउरन्त चक्कवट्टी**" विशेषण दिया गया है। इसका भाव यह है "**चाउरंत त्ति—चत्वारोऽन्ताः समुद्रत्रयहिमवल्लक्षणा यस्यां सा चातुरंता पृथ्वी, तस्या मयं स्वामीति चातुरन्ततः, स चासौ चक्रवर्ती चेति चातुरन्त चक्रवर्ती।**" उन्होने एक लाख पूर्व तक केवलज्ञान की पर्याय मे इस धरातल पर विचरण कर निर्वाणपद प्राप्त किया। ऋषभ देव जी और भरत चक्रवर्ती इन दोनो का विशेष सम्मान वैदिक परम्परा ने भी किया है। भागवत पुराण के पाचवे स्कन्ध के छट्ठे अध्याय से लेकर ऋषभदेव जी और भरत चक्रवर्ती का ही वर्णन प्राप्त होता है। भरत चक्रवर्ती का इतिहास जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष के आदि पर्व मे विस्तृत रूप से प्राप्त होता है।

तीन तीर्थंकरों का ऐतिहासिक विषय

मूल—पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणियस्स छ सया वाईणं सदेवमणुयासुराए परिसाए अपराजियाणं संपया होत्था।

वासुपुज्जे णं अरहा छहिं पुरिससएहिं सद्धिं मुंडे जाव पव्वइए।

चंदप्पभे णं अरहा छम्मासे छउमत्थे होत्था ॥ ४६ ॥

छाया—पार्श्वस्य अर्हत: पुरुषादानीयस्य षट् शतानि वादिनां सदैवमनुजासुरायां परिषद्यामपराजितानां संपदाऽभवत्।

वासुपूज्योऽर्हन् षड्भिः पुरुषशतैः सार्द्धं मुण्डो यावत् प्रव्रजितः।

चन्द्रप्रभोऽर्हन् षणमासान् छद्मस्थोऽभवत्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आदरणीय पुरुष भगवान् पार्श्वनाथ के छः सौ वादी थे, जो देव, मनुष्य और असुरों की परिषदा में भी सर्वथा अपराजित रहते थे। वासुपूज्य अर्हन् छह सौ पुरुषों के साथ दीक्षित एवं प्रव्रजित हुए। चन्द्रप्रभ अर्हन् साधना के क्षेत्र में छह मास तक छद्मस्थ अवस्था में रहे।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे चक्रवर्ती महाराज भरत के चक्रवर्तित्व काल का वर्णन किया गया है। अब उसी ऐतिहासिक परम्परा मे सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र मे तीन तीर्थंकरो का उल्लेख करते है—

तेईसवें तीर्थकर भागवान् पार्श्वनाथ जी की शिष्य-मण्डली मे ६०० ऐसे वाद-प्रवीण मुनिराज थे जिन्हे देव, मनुष्य और असुरों की परिषदा मे कोई भी पराजित नहीं कर सकता था। उन्हे पराजित करने की किसी मे भी सामर्थ्य न थी।

बारहवे तीर्थकर वासुपूज्य भगवान ने जब प्रव्रज्या ग्रहण की थी, तब उनके साथ ६०० मुमुक्षुओ ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की तथा द्रव्य और भाव से मुंडित होकर प्रव्रजित हुए थे।

आठवे तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ भगवान छद्मस्थ पर्याय में कुल छः मास रहे। आवश्यक आदि ग्रन्थो में पद्मप्रभ भगवान की छ: मास छद्मस्थपर्याय का ही उल्लेख मिलता है और चन्द्रप्रभ जी की तीन महीने की छद्मस्थ अवस्था बताई गई है। यह मतान्तर भेद है। वास्तव में आगम-प्रमाण ही सर्वोपरि है।

त्रीन्द्रिय जीव विषयक संयम-असंयम

मूल—तेइंदियाणं जीवाणं असमारभमाणस्स छव्विहे संजमे कज्जइ, तं जहा—घाणामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, घाणमएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ, जिब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ। एवं चेव फासामयाओऽवि।

तेइंदियाणं जीवाणं समारभमाणस्स छव्विहे असंजमे कज्जइ, तं जहा—घाणामयाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवइ, घाणामएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवइ, जाव फासमएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवइ॥४७॥

छाया—त्रीन्द्रियान् जीवानसमारभमाणेन षड्विधः संयमः क्रियते, तद्यथा— घ्राणमयात्सौख्याद् अव्यपरोपयिता भवति, घ्राणमयेन दुःखेन असंयोजयिता भवति जिह्वामयात् सौख्यादव्यपरोपयिता भवति, एवञ्चैव स्पर्शमयादपि। त्रीन्द्रियान् जीवान् समारभमाणेन षड्विधोऽसंयमः क्रियते, तद्यथा—घ्राणमयात् सौख्याद् व्यपरोपयिता भवति, घ्राणमयेन दुःखेन संयोजयिता भवति, यावत् स्पर्शमयेन दुःखेन संयोजयिता भवति।

शब्दार्थ—तेइंदियाणं जीवाणं—त्रीन्द्रिय जीवो का, **असमारभमाणस्स**—समारम्भ न करने वाला, **छव्विहे संजमे कज्जइ**—छः प्रकार का सयम करता है, **तं जहा**—जैसे, **घाणामयाओ सोक्खाओ**—घ्राण सम्बन्धी सुख का, **अववरोवेत्ता भवइ**—नाश करने वाला नहीं होता है, **घाणामएण दुक्खेण**—घ्राण-सम्बन्धी दुःख से, **असंजोएत्ता भवइ**—सयोग करने वाला नही होता है, **जिब्भामयाओ सोक्खाओ**—जिह्वामय सुख का, **अववरोवेत्ता भवइ**—नाश करने वाला नही होता है। **एवं चेव**—इसी प्रकार, **फासामयाओऽवि**—स्पर्श सम्बन्धी सुख आदि के सम्बन्ध मे जानना चाहिए।

तेइंदियाण जीवाणं—त्रीन्द्रिय जीवो का, **समारभमाणस्स**—समारम्भ अर्थात् हिंसा करने वाला, **छव्विहे असंजमे कज्जइ**—छह प्रकार का असंयम करता है, **त जहा**—जैसे, **घाणामयाओ सोक्खाओ**—घ्राण सम्बन्धी सुख का, **ववरोवेत्ता भवइ**—नाश करने वाला होता है, **घाणामएणं दुक्खेणं**—घ्राण-सम्बन्धी दुःख से, **संजोगेत्ता भवइ**—संयोग करने वाला होता है, **जाव**—यावत्, **फासमएणं दुक्खेणं**—स्पर्श-सम्बन्धी दु·ख से, **संजोगेत्ता भवइ**—सयोग करने वाला होता है।

मूलार्थ—त्रीन्द्रिय जीवों की हिंसा न करने वाला साधक व्यक्ति छः प्रकार का संयम करता है, जैसे—घ्राण-सम्बन्धी सुख का नाश नहीं करता है, घ्राण सम्बन्धी दु.ख उत्पन्न नहीं करता है, जिह्वामय सुख का नाश नहीं करता है। इसी प्रकार स्पर्श तक जानना चाहिए।

त्रीन्द्रिय जीवो की हिंसा करने वाला पुरुष छः प्रकार का असंयम करता है, जैसे—घ्राण-सम्बन्धी सुख का नाश करने वाला होता है, घ्राण सम्बन्धी दुःख उत्पन्न करने वाला होता है, यावत् स्पर्श-सम्बन्धी दुःख उत्पन्न करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे तीन तीर्थकरों से सम्बद्ध घटनाओं का वर्णन किया गया है। तीर्थकरत्व की ओर अग्रसर होने के लिए असयम से निवृत्ति तथा सयम मे प्रवृत्ति आवश्यक है, अत· अब सूत्रकार इसी विषय का आशिक विश्लेषण प्रस्तुत करते है।

यहां केवल तीन इन्द्रियों वाले जीवो की ही अपेक्षा से सयम और असयम का वर्णन किया गया है। जिन जीवो के शरीर में स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय ये तीन ही इन्द्रिया होती है, उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं। उन जीवो की हिंसा, परितापना आदि पाप-

क्रियाएं जब किसी जीव से नही होती, तब उसका संयम अहिंसा-जन्य माना जाता है, जैसे कि—

१. नासिका-सम्बन्धी सुख से त्रीन्द्रिय जीवों को वियुक्त न करना सयम है।

२. नासिका-सम्बन्धी दु:ख से त्रीन्द्रिय जीवों को संयुक्त न करना संयम है।

३ त्रीन्द्रिय जीवों को जिह्वामय सुख से वियुक्त न करना सयम है।

४ त्रीन्द्रिय जीवों को जिह्वामय दु:ख से सयुक्त न करना संयम है।

५. त्रीन्द्रिय जीवों को स्पर्शमय सुख से वियुक्त न करना संयम है।

६. त्रीन्द्रिय जीवों को स्पर्शमय दु:ख से संयुक्त न करना संयम है।

इस प्रकार के सयमी जीव इन षड्विध पाप-क्रियाओं से निवृत्त रह कर छ: प्रकार के सयमो की अनायास ही साधना कर लेते हैं। जो त्रीन्द्रिय जीवो की हिंसा करने वाले हैं, वे छ: प्रकार की असयममयी क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, जैसे कि—

१. त्रीन्द्रिय जीवों को घ्राणमय सुख से वंचित करना असयम है।

२ त्रीन्द्रिय जीवो को घ्राणमय दु:ख से संयोजित करना असंयम है।

३. त्रीन्द्रिय जीवो को जिह्वामय सुख से वंचित करना असंयम है।

४ त्रीन्द्रिय जीवों को जिह्वामय दु:ख से सयोजित करना असंयम है।

५. त्रीन्द्रिय जीवो को स्पर्शमय सुख से वंचित करना असंयम है।

६. त्रीन्द्रिय जीवो के लिए स्पर्शमय दु:ख का संयोजक बनना असंयम है।

वस्तुत: गुण और गुणी के अभेद को लक्ष्य मे रख कर प्रस्तुत वर्णन किया गया है। षड्विध सयम-प्राप्ति का अर्थ है त्रीन्द्रिय जीवों से सम्बद्ध संयम का पालन। इस दृष्टि से सयमी छ: प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार असंयम षड्विध होने से असयमी भी छ: प्रकार के ही होते हैं।

द्वीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय आदि जीवों की रक्षा आदि को लक्ष्य मे रखकर भेद-संख्या कम और अधिक बनती है, अत. षट् स्थान के अनुरोध से यहां केवल त्रीन्द्रिय जीवों की अहिंसा और हिंसा को लक्ष्य में रख कर सयम और असंयम के छ:-छ: भेद उपस्थित किए गए है।

मनुष्य क्षेत्र में जिन की समानता है

मूल—जंबुद्दीवे दीवे छ अकम्मभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—हेमवए हेरण्णवए, हरिवासे, रम्मगवासे, देवकुरा, उत्तरकुरा।

जंबुद्दीवे दीवे छ वासा पण्णत्ता, तं जहा—भरहे, एरवए, हेमवए, हेरन्नवए, हरिवासे, रम्मगवासे।

जंबुद्दीवे दीवे छ वासहरपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—चुल्लहिमवंते, महाहिमवंते, निसढे, नीलवंतै, रुप्पि, सिहरी।

जंबूमंदरदाहिणे णं छ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—चुल्लहिमवंतकूडे वेसमणकूडे, महाहिमवंतकूडे, वेरुलियकूडे निसढकूडे, रूयगकूडे।

जंबूमंदरउत्तरे णं छ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—नीलवंतकूडे, उवदंसणकूडे, रुप्पिकूडे, मणिकंचणकूडे, सिहरिकूडे, तिगिच्छकूडे।

जंबुद्दीवे दीवे छ महद्दहा पण्णत्ता, तं जहा—पउमद्दहे, महापउमद्दहे, तिगिच्छद्दहे, केसरिद्दहे, महापोंडरीयद्दहे, पुंडरीयद्दहे।

तत्थ णं छ देवयाओ महड्ढियाओ जाव पलिओवमट्ठिइयाओ परिवसंति, तं जहा—सिरि, हिरि, धिइ, कित्ति, बुद्धि, लच्छी।

जंबूमंदरदाहिणे णं छ महानईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—गंगा, सिंधु, रोहिया, रोहियंसा, हरी, हरिकंता।

जंबूमंदरउत्तरे णं छ महानईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—नरकंता, नारिकंता, सुवन्नकूला, रुप्पकूला, रत्ता, रत्तवई।

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उभयकूले छ अंतरनईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—गाहावइ, दहावई, पंकवई, तत्तजला, मत्तजला, उम्मत्तजला।

जंबूमंदरपच्चत्थिमे णं सीओयाए महानईए उभयकूले छ अंतरनईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—खीरोया, सीहसोया, अंतोवाहिणी, उम्मिमालिणी, फेणमालिणी, गंभीरमालिणी।

धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धे णं छ अकम्मभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—हेमवए, एवं जहा जंबुद्दीवे दीवे तहा नई जाव अंतरणईओ, जाव पुक्खरवरदीवद्धपच्चत्थिमद्धे भाणियव्वं ॥ ४८ ॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे षडकर्मभूमयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हैमवतं, हैरण्यवतं, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, देवकुरा, उत्तरकुरा।

जम्बूद्वीपे द्वीपे षड् वर्षाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भरतः ऐरवतं, हैमवतं, हैरण्यवतं, हरिवर्ष, रम्यकवर्षम्।

जम्बूद्वीपे द्वीपे षड् वर्षधरपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चुल्लहिमवान्, महाहिमवान्, निषधः, नीलवान्, रुक्मी, शिखरी।

जम्बूमंदरदक्षिणे षट् कूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चुल्लहिमवान् कूटः, वैश्रमणकूटः, महाहिमवान् कूटः, वैडूर्यकूटः, निषधकूटः, रुचककूटः।

जम्बूमन्दरोत्तरे षट् कूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नीलवान् कूटः, उपदर्शनकूटः, रुक्मिकूटः, मणिकाञ्चनकूटः, शिखरीकूटः, तिगिच्छकूटः।

जम्बूद्वीपे द्वीपे षण्महाद्रहाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पद्मह्रदः, महापद्मह्रद., तिगिच्छह्रदः, केशरीह्रदः, महापुण्डरीकह्रदः, पुण्डरीकह्रदः।

तत्र षड् देवताः महर्द्धिका यावत् पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—श्रीः, ह्रीः, घृतिः, कीर्तिः, बुद्धिः, लक्ष्मीः।

जम्बूमन्दरदक्षिणे षण्महानद्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—गङ्गा, सिन्धू, रोहिता, रोहितांशा, हरी, हरिकान्ता।

जम्बूमन्दरदक्षिणेन षण्महानद्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नरकान्ता, नारिकान्ता, सुवर्णकूला, रौप्यकूला, रक्ता, रक्तवती।

जम्बूमन्दरोत्तरे सीताया महानद्या उभयकूले षडन्तरनद्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ग्रहवती, द्रहवती, पङ्कवती, तप्तजला, मत्तजला, उन्मत्तजला।

जम्बूमन्दरपश्चिमे सीतोदाया महानद्या उभयकूले षडन्तरनद्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षीरोदा, सिंहस्त्रोता, अन्तर्वाहिनी, ऊर्मिमालिनी, फेनमालिनी, गम्भीरमालिनी।

धातकीषण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धे षडकर्मभूमयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हैमवतः, एवं यथा जम्बूद्वीपे द्वीपे तथा नदी यावत् अन्तरनद्यः, यावत् पुष्करवरद्वीपार्द्धपश्चिमार्द्धे भणितव्यम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में छः अकर्मभूमिया कथन की गई हैं, जैसे—हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, देवकुरा, उत्तरकुरा।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप में छः वर्ष-क्षेत्र वर्णन किए गए हैं, जैसे—भरत, ऐरवत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप में छ वर्षधर पर्वत कथन किए गए हैं, जैसे कि चुल्लहिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नीलवान्, रुक्मी और शिखरी।

जम्बूद्वीप मे मेरु से दक्षिण की ओर छः कूट कथन किए गए हैं, जैसे—चुल्लहिमवान् कूट, वैश्रमणकूट, महाहिमवान् कूट, वैडूर्यकूट, निषधकूट, रुचककूट।

जम्बूद्वीप मे मेरुपर्वत से उत्तर की ओर छः कूट कथन किए गए है, जैसे—नीलवान कूट, उपदर्शन कूट, रुक्मी कूट, मणिकांचन कूट, शिखरी कूट, तिगिच्छकूट।

जम्बूद्वीप में छः महा-ह्रद कथन किए गए है, जैसे—पद्म-ह्रद, महापद्म-ह्रद, तिगिच्छ-ह्रद, केशरी-ह्रद, महापुण्डरीक-ह्रद, पुण्डरीक-ह्रद।

उपर्युक्त छः ह्रदों में छः देविया परम ऋद्धिशालिनी यावत् पल्योपम-स्थिति वाली निवास करती हैं, जैसे कि—श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी।

जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत से दक्षिण की ओर छः महानदियां कथन की गई है, जैसे—गंगा, सिन्धु, रोहिता, रोहितांशा, हरी, हरिकान्ता।

जम्बूद्वीप मे मेरुपर्वत से उत्तर की ओर छः महानदियां कथन की गई है, जैसे—नरकान्ता, नारिकान्ता, सुवर्णकूला, रौप्यकूला, रक्ता, रक्तवती।

जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत से पूर्व की ओर सीता महानदी के दोनो तटों पर छः अन्तर नदिया कथन की गई है, जैसे—ग्राहवती, द्रहवती, पंकवली, तप्तजला, मत्तजला, उन्मत्तजला।

जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत से पश्चिम की ओर सीतोदा महानदी के दोनों कूलो पर छः अन्तर नदिया कथन की गई हैं, जैसे—क्षीरोदा, सिंहस्रोता, अन्तर्वाहिनी, उर्मिमालिनी, फेनमालिनी, गम्भीरमालिनी।

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वार्द्ध मे छः अकर्मभूमियां कथन की गई हैं, जैसे—हैमवत आदि। जिस भांति जम्बूद्वीप में नदियो से लेकर अन्तर नदी आदि तक का वर्णन किया गया है, उसी भांति यहां पर भी जानना चाहिए। पुष्करवरद्वीपार्द्ध तक, पश्चिमार्द्ध मे भी यही वर्णन समझना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे अहिसा और हिंसा के रूप मे सयम और असंयम का निर्देश किया गया है। सयम और असयम की प्ररूपणा मनुष्य-क्षेत्र मे ही होती है। मनुष्य क्षेत्र के अंतर्गत भूमि, वर्ष, वर्षधरपर्वत, कूट, ह्रद (बहुत बड़ी झील) देवियां, महानदिया, अतर्नदिया छः-छः की सख्या जितनी भी पाई जाती है, उन सबका उल्लेख प्रस्तुत सूत्र मे किया गया है। नाम-निर्देश मूलार्थ में हो चुका है और इनका विस्तृत वर्णन दूसरे स्थान मे किया जा चुका है। यह विषय न धर्म की तरह ग्राह्य है और न पाप की तरह त्याज्य है, केवल ज्ञेयमात्र ही है।

छः ऋतुएं

मूल—छ उऊ पण्णत्ता, तं जहा—पाउसे, वरिसारत्ते, सरए, हेमंते, वसंते, गिम्हे ॥४९॥

छाया—षड् ऋतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रावृट्, वर्षारात्रं, शरद्, हेमन्तः, बसन्तः, ग्रीष्मः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छः ऋतुएं वर्णन की गई हैं, जैसे—प्रावृट्, बरसात, शरद्, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में मनुष्य-क्षेत्र से संबंधित ज्ञातव्य बातों का वर्णन किया गया है। मनुष्य-क्षेत्र में सभी व्यवस्थाएं काल पर आधारित हैं, छः की संख्या में वर्ष का विभाजन ऋतुओं के ही रूप में होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में छः ऋतुओं का वर्णन किया गया है।

एक वर्ष में छः ऋतुओ का आवागमन होता है। आषाढ और श्रावण में प्रावृट् ऋतु, भाद्रपद और आश्विन में वर्षा-ऋतु, कार्त्तिक और मार्गशीर्ष मास मे शरद् ऋतु, पौष और माघ मे हेमन्त ऋतु, फाल्गुन और चैत्र महीने मे वसंत ऋतु, वैशाख और ज्येष्ठ में ग्रीष्म ऋतु होती है।

वृत्तिकार ने इस गणना को लोकोत्तरपक्ष माना है, लौकिक पक्ष में चैत्र और वैशाख को वसत, जेठ और आषाढ़ को ग्रीष्म, श्रावण और भाद्रपद को वर्षा, आश्विन और कार्तिक को शरद्, मार्गशीर्ष और पौष को शीत, माघ और फाल्गुन को हेमन्त के रूप में माना जाता है।

तिथिक्षय और तिथिवृद्धि

मूल—छ ओमरत्ता पण्णत्ता, तं जहा—तइए पव्वे, सत्तमे पव्वे, एक्कारसमे पव्वे, पन्नरसमे पव्वे, एगूणवीसइमे पव्वे, तेवीसमे पव्वे।

छ अइरत्ता पण्णत्ता, तं जहा—चउत्थे पव्वे, अट्ठमे पव्वे, दुवालसमे पव्वे, सोलसमे पव्वे, वीसइमे पव्वे, चउवीसइमे पव्वे ॥५०॥

छाया—षड् अवमरात्राः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—तृतीये पर्वणि, सप्तमे पर्वणि, एकादशमे पर्वणि, पञ्चदशमे पर्वणि, एकोनविंशतितमे पर्वणि, त्रयोविंशतितमे पर्वणि।

षड् अतिरात्राः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चतुर्थे पर्वणि, अष्टमे पर्वणि, द्वादशमे पर्वणि, षोडशे पर्वणि, विंशतितमे पर्वणि, चतुर्विंशतितमे पर्वणि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छः अवमरात्रि अर्थात् तिथिक्षय कथन की गई है, जैसे—तीसरे पक्ष मे, सातवें पक्ष में, ग्यारहवें पक्ष में, पन्द्रहवें पक्ष में, उन्नीसवें पक्ष में और तेईसवें पक्ष में।

छः अतिरात्रि अर्थात् तिथिवृद्धि कथन की गई हैं, जैसे—चौथे पक्ष में, आठवें पक्ष में, बारहवें पक्ष में, सोलहवें पक्ष में, बीसवें पक्ष में, चौबीसवें पक्ष में।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में छः ऋतुओ का वर्णन किया गया है। प्राकृतिक काल-व्यवस्था ऋतु है, इस काल-व्यवस्था में कभी-कभी तिथि-संवर्धन एवं तिथिक्षय से कुछ अन्तर आ

जाया करता है। प्रस्तुत सूत्र में इसी विषय का उल्लेख किया गया है। अमावस्या और पूर्णमासी को पर्व कहते हैं और इन से युक्त पक्ष भी पर्व कहलाता है। चंद्रमास की अपेक्षा आषाढ़, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख इन छ: महीनों के कृष्ण पक्ष मे एक-एक तिथि घटती है अर्थात् इन छ: महीनो का वही पक्ष चौदह अहोरात्र का होता है। इस सूत्र से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि तिथि शुक्लपक्ष में नहीं, कृष्ण-पक्ष मे घटानी चाहिए, जिसका निर्देश सूत्रकार ने किया है।

पाच वर्ष का एक युग होता है और एक युग में तीस तिथिया घटती है। कौन-कौन सी तिथि घटती हैं और कौन-कौन सी नही इसका उल्लेख आगमकार ने नहीं किया है।

जिस तरह एक वर्ष में छ: तिथिया घटती हैं वैसे ही शुक्ल पक्ष में छ: तिथियां बढ़ा भी करती हैं। जिस-जिस महीने के कृष्ण पक्ष मे तिथि घटती है, उस-उस महीने के शुक्ल पक्ष मे तिथिया बढ़ा भी करती हैं। इन छ: महीनों के अतिरिक्त शेष छ: महीनो में न तिथियां घटती हैं और न बढती हैं। वास्तव मे देखा जाए जो काल धर्म-साधना और अभ्युदय की दृष्टि से किसी के लिए शुभ है, वही काल दुष्कृत एवं पतन की दृष्टि से किसी के लिए अशुभ भी है। अत: काल भी जीवन का एक अंग है।

षड्विध अर्थावग्रह

मूल—आभिणिबोहियणाणस्स णं छव्विहे अत्थोग्गहे पण्णत्ते, तं जहा— सोइंदियत्थोग्गहे, जाव नोइंदियत्थोग्गहे ॥५१॥

छाया—आभिनिबोधिकज्ञानस्य षड्विधोऽर्थावग्रह: प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रिया-र्थावग्रहो यावत् नो इन्द्रियार्थावग्रह:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आभिनिबोधिक ज्ञान का अर्थावग्रह छ: प्रकार का होता है, जैसे— श्रोत्रेन्द्रिय-अर्थावग्रह यावत् नोइन्द्रिय-अर्थावग्रह।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे तिथिक्षय एवं तिथि-वृद्धि रूप समय का वर्णन किया गया है। इस समय का ज्ञान मतिज्ञान से भी किया जाता है, अत. प्रस्तुत सूत्र मे मतिज्ञान के षड्विध अर्थावग्रह का निर्देश किया गया है। इन्द्रियों और मन के द्वारा जो विषय का सामान्य ज्ञान होता है उसे ही अर्थावग्रह कहा जाता है, अथवा पदार्थ को देखते ही पहली बार जो अर्थ की सूक्ष्म एव धूमिल सी झलक दिखाई देती है, या अनुभूति होती है, वही अर्थावग्रह है। जैसे विहित प्रयत्न के द्वारा छोटी सी चिंगारी से अग्नि के विशाल रूप को प्रकट किया जा सकता है, वैसे ही विषय का सामान्य बोध होने पर विचार-विमर्श के द्वारा उसे विराट् रूप दिया जा सकता है। जब अवग्रह नही होता तो ईहा आदि में प्रवेश भी नही हो सकता। मतिज्ञान की अव्यक्त झलक सब से पहले इन्द्रिय और मन से ही होती है।

इन्द्रियां और मन मतिज्ञान के बाह्य साधन हैं और मतिज्ञानावरणीय का क्षयोपशम आभ्यन्तर साधन है, इसके बिना मतिज्ञान नही हो सकता।[1]

यह अर्थावग्रह पांच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा और छठे मन के द्वारा जिसे सूत्रकार ने 'नो-इन्द्रिय' कहा है होता है, इस प्रकार अर्थावग्रह के छ: भेद होते हैं, जैसे कि—श्रोत्रेन्द्रिय-अर्थावग्रह, चक्षुरिन्द्रिय-अर्थावग्रह, घ्राणेन्द्रिय-अर्थावग्रह, स्पर्शनेन्द्रिय-अर्थावग्रह, रसनेन्द्रिय-अर्थावग्रह और नो-इन्द्रिय-अर्थावग्रह।

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान

मूल—छव्विहे ओहिणाणे पण्णत्ते, तं जहा—आणुगामिए, अणाणुगामिए, वड्ढमाणए, हीयमाणए, पडिवाई, अपडिवाई ॥५२॥

छाया—षड्विधमवधिज्ञानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आनुगामिकम्, अनानुगामिकम्, वर्द्धमानम्, हीयमानम्, प्रतिपाति, अप्रतिपाति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छ: प्रकार का अवधिज्ञान बताया गया है, जैसे—आनुगामिक, अनानुगामिक, वर्द्धमान, हीयमान, प्रतिपाति और अप्रतिपाति।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे अर्थावग्रह रूप आभिनिबोधिक परोक्ष ज्ञान का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार प्रत्यक्षज्ञान के रूप मे अवधि-ज्ञान का वर्णन करते है। इन्द्रियो और मन की सहायता के बिना अवधिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से रूपी द्रव्यो को स्पष्ट रूप से जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। जब आत्मा अवधिज्ञान के बल से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा के अनुसार रूपी पदार्थो को साक्षात् जानता है तब उसे इन्द्रिय और मन की सहायता की आवश्यकता नही रह जाती है। इस अवधिज्ञान के छ: भेद निम्नलिखित हैं, जैसे कि—

१. **आनुगामिक**—जो अवधि-ज्ञान इस जन्म में और जन्मान्तर में साथ जाने वाला हो, जैसे कि नेत्र-ज्योति प्रत्येक अवस्था मे साथ-साथ रहती है वही आनुगामिक अवधिज्ञान कहलाता है।

२. **अनानुगामिक**—जिस स्थान पर या जिस जन्म मे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ हो, स्थानान्तर मे जाने से या जन्मान्तर में जाने से वह ज्ञान यदि लुप्त हो जाए तो उसे अनानुगामिक अवधिज्ञान कहते है। शृखला से प्रतिबद्ध दीपक जैसे सीमित स्थान में ही प्रकाश देता है, वह कर्त्ता का अनुगमन नही करता, ठीक वैसे ही अनानुगामिक अवधिज्ञान भी ज्ञानी का अनुगमन नहीं करता। कहा भी है—

---

१ विशेष ज्ञान के लिए देखिए नन्दी सूत्र।

"अणुगामिओऽणुगच्छइ गच्छंतं लोयणं जहा पुरिसं,
इयरो व नाणुगच्छइ ठिअं पईवो व्व गच्छंतं॥"

जिस स्थान में अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है वह वहीं पर रूपी पदार्थो को प्रकाशित करता है, अन्यत्र नही।

३. वर्द्धमान—जो अवधिज्ञान सर्वप्रथम अगुल के असंख्यातवें भाग में रहे हुए द्रव्य को प्रकाशित करता है, परन्तु शुभ लेश्या और शुभपरिणामो से शुक्ल पक्ष की चंद्रकलाओ की तरह बढ़ता-बढता इतना बढ जाता है जिससे ज्ञानी अलोक का भी प्रत्पक्ष करने मे समर्थ हो जाता है, वह वर्द्धमान अवधिज्ञान कहलाता है।

४. हीयमान—जैसे कृष्ण पक्ष मे चद्रकलाएं दिन-प्रतिदिन घटती ही जाती है, वैसे ही जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के अनन्तर निरन्तर घटता ही जाए और घटते-घटते जघन्य स्तर पर पहुच जाए, वह हीयमान अवधिज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान सक्लिष्ट परिणामों से प्रतिदिन, प्रतिसमय हीन से हीनतर मंद-प्रकाशी होता जाता है।

५. प्रतिपाति—जिस तरह हवा के झोंके से दीपक एक दम बुझ जाता है, वैसे ही जो अवधि ज्ञान उत्कृष्ट लोक-पर्यन्त प्रत्यक्ष करके एक दम लुप्त हो जाता है, वह प्रतिपाति अवधिज्ञान कहलाता है।

६. अप्रतिपाती—जो केवल ज्ञान होने से पहले नष्ट नही होता, वह अप्रतिपाति अवधिज्ञान कहलाता है। जिसने अवधि-ज्ञान द्वारा अलोकाकाश के एक आकाश-प्रदेश को भी प्रत्यक्ष कर लिया है उस आत्मा का अवधिज्ञान नियमेन अप्रतिपाति ही होता है। यद्यपि छद्मस्थ आत्मा अरूपी पदार्थ को नहीं देख सकता है, तथापि अप्रतिपाति अवधिज्ञानी अलोकाकाश को भी जानने की शक्ति रखता है। यह इस ज्ञान का सामर्थ्य बताया गया है। इस मे क्षयोपशम की विशिष्टता अधिक होती है।[1]

साधु-साध्वी के लिए अकथनीय वचन

मूल—नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा इमाइं छ अवयणाइं वइत्तए, तं जहा—अलिय-वयणे, हीलिअ-वयणे, खिंसिय-वयणे, फरुस-वयणे, गारत्थियवयणे, विउसवियं वा पुणो उदीरित्तए॥५३॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा इमानि षड् अवचनानि वक्तुं, तद्यथा—अलीक-वचनं, हीलित-वचनं, खिंसित-वचनं, परुष-वचनम्, अगारस्थित-वचनं, व्यवशमितं वा पुनरुदीरयितुम्।

शब्दार्थ—णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा—साधु और साध्वियों को, **इमाइं**—ये, **छ**—छः, **अवयणाइं**—कुवचन, **वइत्तए**—बोलने, **नो कप्पइ**—उचित नहीं हैं, **तं जहा**—

१ इस ज्ञान की विशेष जानकारी के लिए देखिए नन्दी सूत्र और प्रज्ञापना सूत्र का ३३-वां पद।

जैसे, **अलिय-वयणे**—असत्य वचन, **हीलिअ-वयणे**—तिरस्कार सूचक वचन, **खिंसिय-वयणे**—मर्म-भेदी वचन, **फरुस-वयणे**—कठोर वचन, **गारत्थियवयणे**—गृहस्थोचित वचन, **विउसवियं वा पुणो उदीरित्तए**—जो कलह शान्त हो गया हो उसे उत्तेजना देने वाले वचन।

मूलार्थ—साधु और साध्वियों को छ: प्रकार के कुवचन बोलने उचित नहीं कहे गए है। जैसे—असत्य वचन, तिरस्कार सूचक वचन, मर्मभेदक वचन, कठोर वचन, गृहस्थ के योग्य वचन, शान्त कलह के उत्तेजक वचन।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अवधिज्ञान की विचित्रता का वर्णन किया गया है। अवधिज्ञानी के लिए भी वाणी का सयम आवश्यक है, अत: अब सूत्रकार साधु-साध्वी के लिए वचन-संयम की सुरक्षार्थ अवचनीय वचनों का परिज्ञान कराते है। अयोग्य वचन ज्ञानी जन नही बोलते, क्योंकि साधु और साध्वी का जीवन-स्तर एवं व्यवहार गृहस्थों से ऊंचा होता है। उन्हे निम्नलिखित छ: प्रकार के सयम-विघातक वचन भूलकर भी नही बोलने चाहिए, जैसे कि—

१. **अलीक-वचन**—अलीक का अर्थ है असत्य। साधु एव साध्वी को किसी भी स्थिति में असत्य का आश्रय नही लेना चाहिए। इससे उसकी प्रामाणिता समाप्त हो जाती है और साथ ही उसका दूसरा महाव्रत भी भग हो जाता है, अत: उसे अलीक-वचनो का कभी भी प्रयोग नही करना चाहिए।

२. **हीलित-वचन**—जिस वचन से दूसरो का अनादर हो, तिरस्कार हो, दूसरे का अपमान हो, वैसे वचन बोलना साधु-साध्वी के लिए उचित नही है।

३. **खिंसित-वचन**—जिस वचन से दूसरा तिलमिला उठे, ऐसे वचन बोलना भी साधु-साध्वी के लिए निषिद्ध है। किसी के जन्म-संबंधी तथा कर्म-सबधी रहस्य का उद्घाटन करके पूज्य जनो को अपमानित करना भी इसी में निहित है।

४. **परुष-वचन**—कठोर वचन बोलना, जैसे कि मुख की आकृति बिगाड कर किसी से ऐसा कहना कि "तू परे हट, मै तेरे आचरण को जानता हू," और "दुष्ट। मूर्ख! पशु! गधे!" ऐसे कठोर वचन बोलने का सूत्रकार ने निषेध किया है।

५. **अगार-स्थित-वचन**—गृहस्थ से संबधित वचन बोलना, "पुत्र! पिता! माता। मामा! मासड़! मामी! भौजाई।" इत्यादि गृहस्थ के संबंधों को लक्ष्य मे रखकर दूसरो को संबोधित करना सर्वविरतियो के लिए सर्वथा निषिद्ध है।

६. **उदीरक-वचन**—जिसकी खिमत-खिमावना हो चुकी है ऐसे शान्त हुए कलह को पुन: भडकाने वाले वचन बोलने की साधु-साध्वी को जिनेन्द्र देव ने आज्ञा नहीं दी है। अत: साधक को उपर्युक्त छ: तरह के वचन नहीं बोलने चाहिएं।

यद्यपि प्रस्तुत सूत्र मे निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी शब्द के द्वारा साधु-साध्वी के लिए ही

अलीक वचन आदि निषिद्ध किए गए हैं, परन्तु साधु-साध्वी जैसी पवित्र साधना एव आचार पालन की कामना रखने वाले श्रावक-श्राविकाओं को भी इस प्रकार के वचनो का प्रयोग नही करना चाहिए।

वस्तुतः इस प्रकार के वचन न बोलने का आदेश मानव-मात्र के लिए दिया गया है।

कल्प-प्रस्तार

मूल—छ कप्पस्स पत्थारा पण्णत्ता, तं जहा—पाणाइवायस्स वायं वयमाणे, मुसावायस्स वायं वयमाणे, अदिन्नादाणस्स वायं वयमाणे, अविरइवायं वयमाणे, अपुरिस-वायं वयमाणे, दासवायं वयमाणे, इच्चेए छ कप्पस्स पत्थारे पत्थरेत्ता सम्ममपरिपूरेमाणे तट्ठाणपत्ते॥५४॥

छाया—षट् कल्पस्य प्रस्तारा: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्राणातिपातस्य वादं वदन्, मृषावादस्य वादं वदन्, अदत्तादानस्य वादं वदन्, अविरतिवादं वदन्, अपुरुषवादं वदन्, दासवादं वदन्। इत्येतान् षट् कल्पस्य प्रस्तारान् प्रस्तीर्य सम्यक् अपरिपूरयन् तत्स्थानं प्राप्तः।

शब्दार्थ—छ कप्पस्स—छ: कल्प के, **पत्थारा**—प्रायश्चित्त विशेष, **पण्णत्ता**—कथन किए गए है, **त जहा**—जैसे, **पाणाइवायस्स**—प्राणातिपात का, **वाय वयमाणे**—कथन करता हुआ, **मुसावायस्स वायं वयमाणे**—मृषावाद का कथन करता हुआ, **अदिन्नादाणस्स वायं वयमाणे**—अदत्तादान का कथन करता हुआ, **अविरइवायं वयमाणे**—अब्रह्मचर्य सम्बन्धी बाते कहता हुआ, **अपुरिसवायं वयमाणे**—"यह नपुसक है" यह कथन करता हुआ, **दासवायं वयमाणे**—"यह दास है" ऐसा कथन करता हुआ, **इच्चेए**—इस प्रकार इन, **छ कप्पस्स पत्थारा**—कल्प के छ: प्रस्तारो को, **पत्थरेत्ता**—करके, **सम्ममपरिपूरेमाणे**—सम्यग्रूप से उसे पूर्णतया सिद्ध न करने पर, **तट्ठाणपत्ते**—आरोप लगाने वाला उसी दोष को प्राप्त होता है।

मूलार्थ—कल्प अर्थात् चारित्र के छ: प्रस्तार अर्थात् प्रायश्चित्त विशेष कथन किए गए हैं, जैसे—प्राणातिपात का वचन बोलने से, मृषावाद का वचन बोलने से, अदत्तादान का वचन बोलने से, अविरति अर्थात् अब्रह्मचर्य अथवा स्त्री के सम्बन्ध में वचन बोलने से, किसी को नपुंसक कहने से और किसी को दास कहने से। ये छ: कल्प के प्रस्तार स्वीकार करके यदि साधक उन्हे भली-भांति पूर्ण न करे तो उसी दोष को प्राप्त होता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सूत्रकार ने साधु-साध्वी के लिए अकथनीय वचन बताए हैं, अब अकथनीय वचन बोलने पर उसे कैसे-कैसे प्रायश्चित्त करने चाहिए, सूत्रकार इस

विषय का विवेचन करते है—

कल्प का अर्थ होता है साधु-आचार, और उसकी विशुद्धि के लिए विधि-विधान के अनुसार प्रायश्चित्त का विस्तार ही कल्प-प्रस्तार कहलाता है।

न बोलने योग्य वचन के बोलने से साधक प्रायश्चित्त का भागी बनता है। जो साधु किसी साधु पर झूठा आरोप लगाता है, दूसरे को नीचा दिखाने की भावना से उसे कलंकित करता है, द्वेष से या प्रतिक्रिया से निर्दोषी को दोषी सिद्ध करने वाली मिथ्या एवं मन-घड़न्त बातें करके उसे दोषी प्रमाणित करने का प्रयास करता है, निर्दोष प्रमाणित होने पर वही साधक प्रायश्चित्त का भागी बन जाता है। यह प्रायश्चित्त छ: प्रकार का होता है, जैसे कि—

जिस कथा, उपदेश या बातो से दूसरा हिंसा मे प्रवृत्त हो जाए, उसे झूठ बोलने की प्रेरणा मिले, चोरी करने का साहस उत्पन्न हो जाए या दुराचार में प्रवृत्ति हो जाए ऐसा करने से साधक का आचार अर्थात् संयम दूषित हो जाता है। अथवा उक्त पापों से किसी एक पाप में प्रवृत्त होने पर दोष लगाना, गुरुजनो के पूछने पर झूठ बोलना, उसे कपट के द्वारा छिपाना, ऐसा करने से भी प्रायश्चित्त की अनिवार्यता बढ़ जाती हैं। हिसा का प्रायश्चित्त अलग है झूठ बोलने का प्रायश्चित्त अलग है और कपट करने का प्रार्यश्चित्त अलग है। इस तरह भी कल्प का प्रस्तार हो जाता है।

अथवा किसी को नीचा दिखाने के लिए या बदला चुकाने के लिए द्वेषवश किसी साधु ने किसी अन्य पर अभ्याख्यान अर्थात् कलक चढ़ाने के अभिप्राय से गुरु के पास जाकर कहा कि "अमुक साधु ने अमुक प्रकार की हिंसा की है, झूठ बोला है या अमुक की चोरी की है, अमुक समय सदाचार भंग किया है, मैंने स्वय देखा है।" इस प्रकार कह कर झूठे गवाहो और झूठे पत्रो द्वारा दोष सिद्ध करके दिखाना। ये सब बाते छानबीन होने पर यदि असत्य सिद्ध हो जाए तो आरोप लगाने का, झूठ बोलने का, अन्य-अन्य गलत प्रभावो से सिद्ध करने का उसके द्वारा जितना प्रयास किया गया है, उस सबका प्रायश्चित्त अलग-अलग है। आरोप लगाने वाले को उतरोत्तर अधिक से अधिक प्रायश्चित्त करना पड़ता है, क्योंकि गलत व्यक्ति सदैव गलत ही सोचता है, गलत ही बोलता है और उस की कायिक चेष्टाएं भी गलत ही होती हैं। अत: उसे दंडित करना जरूरी हो जाता है। अन्यथा इससे सघ की व्यवस्था बिगडती है और उसका अधिक पतन होता है। अत: सत्य एवं दृढ प्रमाण के बिना न शिकायत करनी चाहिए और न उस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

नपुंसक को दीक्षा देना आगम में निषिद्ध है। कोई साधु गुरु के पास आकर कहता है कि "अमुक साधु नपुंसक है, क्योंकि उसके लक्षणों से मुझे नपुंसकता प्रतीत होती है।" उसकी बात अप्रामाणित सिद्ध होने पर कलंक चढ़ाने का प्रायश्चित्त आता है। अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए जितने गलत प्रमाण उपस्थित किए जाते हैं उतना ही वह उत्तरोत्तर अधिक प्रायश्चित्त का भागी बनता जाता है।

इसी प्रकार दासी के पुत्र दास को दीक्षा देनी नही कल्पती है। किसी साधु ने कहा कि "वह साधु दास है, उसके लक्षणो से ऐसा ही प्रतीत होता है कि वह दासी का पुत्र दास है।"

आचार्य को चाहिए कि आरोप लगाने वाले साधु के कथन का प्रमाणों और साक्षियो से निर्णय करे। यदि आरोप लगाने वाला साधु अपने कथन को पुष्ट न कर सके तो उसी मुनि को प्रायश्चित्त देना चाहिए जिसने उसे कलंकित करने का प्रयास किया है। यही भाव उक्त सूत्र से स्पष्ट होता है।

कल्प-पलिमंथु

मूल—छ कप्पस्स पलिमंथू पण्णत्ते, तं जहा—कोकुइए संजमस्स पलिमंथू, मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू, चक्खुलोलुए ईरियावहियाए पलिमंथू, तिंतिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू, इच्छालोभिए मोत्तिमगस्स पलिमंथू, भिज्जाणियाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमंथू। सव्वत्थ भगवया अणियाणया पसत्था ॥५५॥

छाया—षट् कल्पस्य परिमन्थवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कौकुचिक· संयमस्य परिमन्थुः, मौखरिकः सत्यवचनस्य परिमन्थुः, चक्षुर्लोलुप ईर्यापथिक्याः परिमन्थुः, तिंतिणिक एषणागोचरस्य परिमन्थुः, इच्छालोभिको मुक्तिमार्गस्य परिमन्थुः, अभिध्यानिदानकरणं मोक्षमार्गस्य परिमन्थुः। सर्वत्र भगवता अनिदानता प्रशस्ता।

शब्दार्थ—कप्पस्स—चारित्र के, **छ पलिमंथू पण्णत्ते, तं जहा**—छः घातक तत्त्व कथन किए गए है, जैसे, **कोकुइए**—भाण्ड के समान विकृत शारीरिक कुचेष्टाएं करने वाला, **संजमस्स पलिमंथू**—सयम का घातक है, **मोहरिए**—अधिक बोलने वाला बकवादी, **सच्चवयणस्स पलिमंथू**—सत्य वचन का घातक है, **चक्खुलोलुए**—चंचल नेत्रो वाला, **ईरियावहियाए पलिमंथू**—ईर्यापथिकी क्रिया का घातक है, **तिंतिणिए**—आहारादि की प्राप्ति न होने पर मनचाहा बोलने वाला तुनक मिजाज, **एसणागोयरस्स पलिमंथू**—एषणासमितिपूर्वक गोचरी का घातक है, **इच्छालोभिए**—महालोभी, **मोत्तिमगस्स**—मुक्ति-मार्ग का घातक है, **भिज्जाणियाणकरणे**—लोभ से निदान करने वाला, **मोक्खमग्गस्स पलिमंथू**—मोक्षमार्ग का घातक है। **भगवया**—भगवान ने, **सव्वत्थ**—सर्वत्र, **अणियाणया**—अनिदानता की, **पसत्था**—प्रशसा की है।

मूलार्थ—छः कल्प के घातक तत्त्व वर्णन किए गए हैं, जैसे—भाण्ड के समान विकृत शारीरिक काम चेष्टाए करना सयम का विघातक है, बहुभाषी सत्यवचन का विघातक है, चञ्चल नेत्रों वाला ईर्यापथिक क्रिया का घातक है, आहार आदि

की अप्राप्ति पर बड़बड़ाने वाला एषणा-समिति-मूलक गोचरचर्या का घातक है, अत्यन्त लोभी मुक्तिमार्ग का घातक है और आसक्ति के कारण निदान करने वाला मोक्ष-मार्ग का घातक है। भगवान् ने सर्वत्र अनिदानता की ही प्रशंसा की है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे कल्प-प्रस्तारों का वर्णन किया गया है, उसी परम्परा मे प्रस्तुत सूत्र भी कल्पविषयक विवेचना प्रस्तुत करता है। साधु की आचार-मर्यादा के जो-जो घातक एवं बाधक तत्त्व हैं वे सब कल्प के परिमथु कहलाते हैं। वे परिमंथु छः प्रकार के है जिनका आचरण करना साधक के लिए अत्यन्त घातक है। जैसे कि—

१. **कौकुचिक**—कुत्सित शारीरिक चेष्टाओ को कौकुचिक कहा जाता है। वह तीन प्रकार का होता है, जैसे कि स्थान, शरीर और भाषा। नट की तरह विषम-स्थान में खड़े होना, बैठना, लेटना, चलना, घूमना, जहां-तहा ठहरना इत्यादि सभी क्रियाएं स्थान-कौकुचिक कहलाती हैं। निष्प्रयोजन हाथ, पैर, मुख आदि अंगों को हिलाना-चलाना भांडों की तरह चेष्टाए करना शरीर-कौकुचिक कहलाता है। हास्य-उत्पादक वचन बोलना, पशु-पक्षियो की नकल करना, लोगों को हंसाने के लिए अनार्यदेश की भाषा बोलना, विभिन्न देशवासी स्त्री-पुरुषों के वाणी-विलास की नकल करना भाषा कौकुचिक है। उक्त सभी प्रकार की कुचेष्टाएं साधु के लिए निषिद्ध हैं। इन कुचेष्टाओ से संयम का घात होता है, अत: सयम-प्रियों को सभी तरह की कुचेष्टाए वर्जनीय है।

२. **मौखरिक**—वाचालता बिना सोचे-विचारे बोलना, प्रमाण से अधिक बोलना या जिससे सुनने वाला शत्रु बन जाए इस प्रकार की वाणी बोलना इन सबका समावेश मौखरिक-शब्द मे हो जाता है। मौखरिक साधु से असत्य-भाषण की सभावना बनी रहती है। अत: मौखरिकता सत्य की घातक है। इसलिए सत्यवक्ता को मौखरिक नहीं बनना चाहिए।

३. **चक्षुलोलुप**—जो साधु चक्षुलोलुपी होता है, वह ईर्या-पथिकी क्रिया का संशोधन नहीं कर सकता, अर्थात् ईर्या-समिति का पालन नही कर सकता। जो साधु चलते हुए इधर-उधर देखने में आसक्त है। आसक्ति पूर्वक लुभावने दृश्यो को या स्त्री-पुरुषों को देखता हुआ गमानागमन क्रिया कर रहा है, वह निश्चय ही ईर्यासमिति का भली-भाति पालन नही कर सकता, अत: साधु को चक्षुलोलुपी नही बनना चाहिए।

४. **तिंतिणिक**—साधु को तीन वस्तुओ की आवश्यकता होती है—आहार, उपधि और शय्या। इनके न मिलने पर खेद के वशीभूत होकर जैसे-तैसे बोलने वाले तुनकमिजाज साधु एषणासमिति का घातक होता है, क्योंकि ऐसी प्रकृति वाला साधु दु:खी होकर अनेषणीय आहार, उपधि और शय्या भी ग्रहण कर सकता है। अत: निर्दोष-आहार आदि वस्तु को ग्रहण करने वाले साधु को चाहिए कि तनुकमिजाज न बने।

५. **इच्छा-लोभिक**—इच्छा और लोभ की मात्रा बढ़ाने से सतोष का घात होता है।

इससे निर्लोभता एवं निष्परिग्रहतारूप सिद्धि-पथ का घात होता है। **'इच्छालोभिए'** यह पद इसलिए दिया गया है कि जो महा-लोभी होते है वे ही महाइच्छा वाले होते हैं। महाइच्छा या महालोभ मुक्ति-मार्ग का घातक है।

६. निदान—ऋद्धि, पद, वैषयिक-सुख इत्यादि की प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित होकर अपने सयम-फल को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला साधु रत्नत्रय का घातक होता है, क्योकि सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र को ही मोक्ष-मार्ग कहा गया है। मोक्ष-प्राप्ति और केवली बनने की इच्छा को निदान नही कहा जा सकता। निदान ऋद्धि, रस और साता के लिए किया जाता है जो कि अश्रेयस्कर है। **''सव्वत्थ भगवया अणियाणया पसत्था''** भगवान ने सभी शुभ क्रियाओ मे अनिदानता को ही प्रशस्त कहा है।

चारित्राचार व्यवस्था

मूल—छव्विहा कप्पठिई पण्णत्ता, तं जहा—सामाइय-कप्पठिई, छेदोवट्ठावणिय-कप्पठिई, निव्विसमाण-कप्पठिई, णिव्विट्ठ-कप्पठिई, जिण-कप्पठिई, थेर-कप्पठिई ॥५६॥

छाया—षड्विधा कल्पस्थितिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—सामायिक-कल्पस्थितिः, छेदोपस्थापनिक-कल्पस्थितिः, निर्विशमान-कल्पस्थितिः, निर्विष्ट-कल्पस्थितिः, जिन-कल्पस्थितिः, स्थविर-कल्पस्थितिः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—कल्प-स्थिति छः प्रकार की कथन की गई है, जैसे—सामायिक कल्पस्थिति, छेदोपस्थापनिक कल्प-स्थिति, परिहार विशुद्धि ग्रहण करते हुए की कल्पस्थिति, परिहार-विशुद्धि से निवृत्त हुए की कल्पस्थिति, जिन-कल्पस्थिति और स्थविर-कल्पस्थिति।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रो में कहा गया है कि साधु-आचार के अनुसार छः प्रकार के अवचनीय वचन बोलने पर साधु को दोष लगता है, छ· प्रकार के कल्प-प्रस्तार भी उसके चारित्र को दूषित करते है और छः प्रकार के कल्प के परिमन्थु अर्थात् घात करने वाले कहे गए हैं, अब प्रस्तुत सूत्र में कल्प की मर्यादा का वर्णन किया जा रहा है। वह मर्यादा छः प्रकार की होती है, जैसे कि—

१. सामायिक-कल्पस्थिति—चारित्र के दो भेद है, इत्वरिक और यावत्कथिक। जिस स्थिति में पापमय जीवन-व्यवहारों का निरोध हो और साधु को रत्नत्रय का लाभ हो उसे सामायिक कहते है। चारित्र की जो भी मर्यादाए है उनका यथातथ्य रूप में पालन करना ही सामायिक का अभिप्राय है। इस कल्प का पालन सभी तीर्थकरों के युग मे किया जाता है।

इसी कारण इसको अवस्थित-कल्प भी कहते हैं। महाविदेह और मध्य के तीर्थंकरों के तीर्थ में इसका पालन यावज्जीव रहता है। भरत और ऐरवत क्षेत्रों के अन्तर्वर्ती आदि और चरम तीर्थंकरों के युग में इस कल्प की अवधि कम से कम सात अहोरात्र, मध्यम चार मास और उत्कृष्ट छ: मास की होती है, तत्पश्चात् छेदोपस्थापनीय चारित्र की मुख्यता रहती है, इसी दृष्टि से इसको इत्वरिक सामायिक कहते हैं। शय्यातर-पिण्ड, चातुर्याम अर्थात् चार महाव्रत, पुरुष-ज्येष्ठ, दीक्षा-ज्येष्ठ को वंदन ये चार कल्प अवस्थित हैं। पुरुष-धर्म-प्रधान होने से वृद्ध आर्या भी नव-दीक्षित साधु को वन्दना करती है। ये चार कल्प सभी तीर्थङ्करों के शासन में होते है। इनका पालन करना अवश्यभावी होने के कारण इन्हे अवस्थित-कल्प कहा जाता है।

२. **छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति**—जिसमें सातिचार और निरतिचार के रूप मे पूर्व पर्याय का छेद हो उसे छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति कहते हैं। इसमे उन दस कल्पों का पूर्णतया पालन करना होता है जिनमे चार कल्प पहले के और छ: कल्प और बढ जाते हैं जैसे कि आचेलक्य, औद्देशिक, प्रतिक्रमण, राज-पिण्ड, मास-कल्प और पर्युषणा-कल्प। इनका पालन साधु के लिए आवश्यक हो जाता है। इनमे अचेलक के दो भेद है। वस्त्र न रखना भी अचेलकता है और संख्या मे कम से कम अल्पमूल्य वाले सफेद रंग के वस्त्र रखने पर भी अचेलकत्व माना जाता है। औद्देशिक और राजपिण्ड इनका ग्रहण न करना, दोनों समय प्रतिक्रमण करना, साधु का नौ कल्पी विहार और साध्वी का पांच कल्पी विहार तथा पर्युषणा-कल्प इसका तथा स्थविर कल्पियो के बनाए हुए नियमो का पालन करना ही छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति है।

३. **निर्विशमान-कल्पस्थिति**—यह परिहार-विशुद्धि चारित्र का पहला अंग है। जिन्होने नौवे पूर्व की तीसरी आचार वस्तु का अध्ययन कर लिया है वे ही इस चारित्र की आराधना-पालना के अधिकारी हो सकते है। इसकी विधि इस प्रकार है—

नौ साधु आचार्य की अनुमति पाकर गच्छ से अलग होकर १८ महीनों में जो महान् अनुष्ठान करते है, उसे परिहार-विशुद्धिक कहते हैं। उनमें पहले चार साधु छ: मास पर्यन्त तप करते हैं, चार साधु उनकी सेवा करते हैं और एक गुरु-स्थानीय होने से उन्हे वाचना देता है।

दूसरे छ: महीने में सेवा करने वाले तप करते है और तप करने वाले चार साधु सेवा में संलग्न हो जाते हैं। एक वाचना देता है।

तीसरे छ: महीने मे वाचना देने वाला साधु तप करता है, शेष आठ में से एक गुरुस्थानीय बन कर वाचना देता है, सात साधु उस एक तपस्वी की सेवा में जुट जाते हैं जो उस समय तपस्या कर रहा होता है। इस स्थिति को 'निर्विशमान-कल्पस्थिति' कहते हैं। उनकी तपस्या का क्रम निम्नलिखित है—यदि ग्रीष्मकाल बीत रहा है तो उस समय वे जघन्य एक

उपवास, मध्यम बेला और उत्कृष्ट तेला करते हैं। शीतकाल में जघन्य बेला, मध्यम तेला और उत्कृष्ट चौला तथा वर्षावास में जघन्य तेला, मध्यम चौला और उत्कृष्ट पंचौला करते हैं। इस क्रम से उनकी तपस्या होती है। वे पारणा आयंबिल से ही करते हैं। इतनी कठोर तपस्या करने वाले ही 'परिहार विशुद्ध चारित्री' कहलाते हैं।

४. **निर्विष्टकायिक कल्पस्थिति**—यह परिहार-विशुद्ध चारित्र का दूसरा अंग है। जिनकी छः महीने की तपस्या पूर्ण हो गई है, वे प्रतिदिन आयंबिल तपस्या और अभिग्रह के साथ भिक्षा ग्रहण करते हैं। नौ में से जो चार साधु तप करते हैं, वे पारिहारिक कहलाते हैं, उन्ही को दूसरे शब्दों में निर्विशमान-कल्प-स्थित भी कहते हैं, किन्तु जो चार साधु तपश्चर्या का काल-मान पूरा करके सेवा में संलग्न हो जाते हैं, उन्हे 'निर्विष्टकायिक कल्पस्थित' या अनुपहारिक भी कहते है। अठारह मास पूर्ण होने पर वे गण मे पुन: भी आ जाते हैं, ये नौ साधु ज्ञानवान्, दर्शनवान् एव चारित्रवान् होते है।

५. **जिनकल्पस्थिति**—जिन तो नही, परन्तु जिनसदृश क्रिया करने वाले साधक इस कोटि के माने जाते हैं। वे वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन के स्वामी, जघन्य नौवे पूर्व की तीसरी आचार वस्तु के अध्येता और उत्कृष्ट कुछ न्यून दस पूर्वों के अध्येता होते हैं। वस्त्र आदि उपकरणों से रहित केवल साधुता के बाह्य और आभ्यन्तर लक्षणों से सपन्न होते हैं। वे सभी प्रकार के उपसर्गो को सहने में समर्थ होते हैं। रोग आदि वेदनाओ को समता के साथ सहन करते है, वे उस कल्प मे रहते हुए कभी भी दोषो का सेवन नहीं करते। तीसरी पौरुषी मे गोचरी करते है। वे नगर मे नही, जगलों में ही रहते हैं। उनका जीवन साधना में ही बीतता है, जिन-कल्पी की जो भी मर्यादाएं होती है, उनका उल्लघन वे कभी भी नहीं करते।

६. **स्थविर-कल्प-स्थिति**—जो साधु समाज मे रहकर अपना जीवन उन्नत करते है और साथ ही समाज का भी कल्याण करते हैं वे स्थविर-कल्पी कहलाते हैं। वे सब तरह से स्थविरों की मर्यादाओं का पालन करते है, उनकी मर्यादाएं है—दीक्षार्थियो को दीक्षा देना, पढना-पढाना, संयम में रहने की शिक्षा देना, अनियतवास अर्थात् गुरु की आज्ञा से ग्रामानुग्राम विचरना, एकाकी न विचरना, समाज में रहकर प्रवचन-प्रभावना, साधना-पथ से विचलित होते हुए को स्थिर-करना, नवदीक्षित, ग्लान और तपस्वी की सेवा करना, जिनशासन की उन्नति करना, इन सब का पालन सयम में रहकर स्थविर-कल्पी ही करते हैं। उनकी ऐसी मर्यादा को ही ''स्थविर-कल्प स्थिति'' कहते है।

साधक जिस कल्प मे स्थित है उसकी मर्यादा का पालन सतर्कता के साथ करना ही उसका परम कर्त्तव्य है। वह जंघाबल क्षीण होने पर ही किसी क्षेत्र मे स्थिरवास कर सकता है। स्थविरो की मर्यादा में रहना ही 'स्थविर-कल्पस्थिति' है।

श्रमण महावीर के महत्त्वपूर्ण बेले

मूल—समणे भगवं महावीरे छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं मुंडे जाव पव्वइए।

समणस्स भगवओ महावीरस्स छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं अणंते अणुत्तरे जाव समुप्पन्ने।

समणे भगवं महावीरे छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं सिद्धे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ॥५७॥

छाया—श्रमणो भगवान् महावीरः षष्ठेन भक्तेनापानकेन मुण्डो यावत् प्रव्रजितः।

श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य षष्ठेन भक्तेनापानकेन अनन्तमनुत्तरं यावत् समुत्पन्नम्।

श्रमणो भगवान् महावीरः षष्ठेन भक्तेनापानकेन सिद्धो यावत् सर्वदुःखप्रहीणः।

शब्दार्थ—समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर, **छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएण**—जल-रहित षष्ठ भक्त से, **मुंडे जाव पव्वइए**—मुण्डित यावत् प्रव्रजित हुए। **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान महावीर को, **छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं**—जल रहित षष्ठ भक्त से, **अणंते अणुत्तरे**—अनन्त, अनुत्तर केवल ज्ञान, **जाव**—यावत्, **समुप्पन्ने**—उत्पन्न हुआ।

समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर, **छट्ठेण भत्तेणं अपाणएणं**—जल-रहित बेला तप से, **सिद्धे**—सिद्ध हुए, **जाव**—यावत्, **सव्वदुक्खप्पहीणे**—सब दुःखों से मुक्त हुए।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर निर्जल पष्ठभक्त तप करते हुए मुण्डित यावत् प्रव्रजित हुए।

श्रमण भगवान महावीर को निर्जल षष्ठभक्त से अनन्त, अनुत्तर यावत् केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ।

श्रमण भगवान महावीर निर्जल षष्ठभक्त तप से सिद्ध यावत् सब दुःखों से मुक्त हुए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वर्णित कल्पस्थिति का वर्णन श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने किया है, अतः इस सूत्र के द्वारा उन्ही के तपोमय जीवन का वर्णन किया गया है। भगवान महावीर ने निर्जल बेले तप के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की थी। जिस दिन उन्होंने घनघाति कर्मो पर विजय पाकर केवलज्ञान प्राप्त किया था, उस दिन भी वे निर्जल-बेला तप कर रहे थे और निर्वाण-प्राप्ति भी उन्हें निर्जल-बेले के साथ हुई। भगवान महावीर की

विस्तृत जीवन-चर्या आचारांग-सूत्र के नौवे अध्ययन के दूसरे स्कध के भावना अध्ययन में एवं कल्प-सूत्र मे उपलब्ध है।

षष्ठभक्त का तात्पर्य है—बेला-तप। जिस समय एक साथ दो दिन उपवास करने हों, तब पहले दिन एकाशना तप करना होता है, दूसरे और तीसरे दिन दो-दो भक्त का त्याग होता है और चौथे दिन फिर एकाशना तप करना होता है। इस तरह कुल छः भक्तो का अर्थात् छ: कालो के भोजन का त्याग करना होता है। बेले मे पानी पिया जा सकता है, किन्तु भगवान् महावीर ने "**अपाणएण**" बिना ही पानी के षष्ठभक्त तप किया हुआ था। सब दु:खों का अत संयम-साधना और तप से ही हो सकता है, तीर्थङ्कर भी इसके अपवाद नहीं हो सके।

सनत्कुमार और महेन्द्र-कल्प के विमानों की ऊंचाई

मूल—सणंकुमारमाहिंदेसु णं कप्पेसु विमाणा छ जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।

सणंकुमारमाहिंदेसु णं कप्पेसु देवाणं भवधारणिज्जगा सरीरगा उक्कोसेणं छ रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता ॥५८॥

छाया—सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः कल्पयोः विमाना. षड् योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ताः।

सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः कल्पयोर्देवानां भवधारणीयानि शरीरकाण्युत्कर्षेण षड् रत्नयः ऊर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पो के विमान छ: सौ योजन ऊंचे कथन किए गए हैं।

सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पो मे देवताओं का जन्मजात शरीर उत्कृष्ट छः रत्नि अर्थात् छ: मुष्टिबद्ध हस्त परिमाण वाला कथन किया गया है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे भगवान् महावीर की षष्ठ-भक्त तपस्या का वर्णन किया गया है। भगवान् महावीर तो षष्ठ-भक्त की साधना के साथ अन्य महती साधनाओ द्वारा सिद्धत्व की प्राप्ति मे सफल हो गए। यदि कोई सामान्य साधक निर्जल षष्ठ-भक्त की तपस्या करता है तो वह सनत्कुमारादि देवलोको मे से किसी भी एक में उत्पन्न होता है, अत: इस सूत्र मे सूत्रकार इसी विषय की क्रम-प्राप्त विवेचना करते है।

तीसरे और चौथे देवलोक मे जितने विमान है उनकी ऊचाई छ: सौ योजन है। उन देवलोकों मे देवो की अवगाहना अर्थात् शरीर की ऊचाई का प्रमाण उत्सेध अगुल के

हिसाब से छः हाथ होती है। यह कथन भवधारणीय शरीर की अपेक्षा से जानना चाहिए, किन्तु उत्तर-वैक्रिय शरीर की ऊंचाई अधिक से अधिक लाख योजन की हो सकती है। यह योजन भी उत्सेध की अपेक्षा से ही जानना चाहिए।

भोजन-परिणाम और विष-परिणाम

मूल—छव्विहे भोयण-परिणामे पण्णत्ते तं जहा—मणुन्ने, रसिए, पीणणिज्जे, विंहणिज्जे, दीवणिज्जे, (मयणिज्जे) दप्पणिज्जे।

छव्विहे विसपरिणामे पण्णत्ते—डक्के, भुत्ते, निवइए, मंसाणुसारी, सोणियाणुसारी, अट्ठिमिंजाणुसारी॥५९॥

छाया—षड्विधो भोजनपरिणामः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मनोज्ञः, रसिकः, प्रीणनीयः, बृंहणीयः, दीपनीयः, (मदनीयः) दर्पणीयः।

षड्विधो विषपरिणामः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—दष्टं, भुक्तं, निपतितं, मांसानुसारि, शोणितानुसारि, अस्थिमज्जानुसारि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छः प्रकार का भोजन-परिणाम कथन किया गया है, जैसे—मनोज्ञ, रस-युक्त, धातुओं को सम रखने वाला, धातुओ को बढ़ाने वाला, बल तथा तेज की वृद्धि करने वाला और उत्साह मे अभिवृद्धि करने वाला।

छः प्रकार का विष-परिणाम कथन किया गया है, जैसे—सर्प आदि के दंश से होने वाला, अफीम आदि के खाने से होने वाला, त्वचा पर पड़ते ही असर करने वाला, मास पर असर करने वाला, रक्त पर प्रभाव डालने वाला और अस्थि एवं मज्जा पर प्रभाव डालने वाला।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में भोजन-परित्याग रूप औपवासिक तपस्याओ के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले देव-विमानों और देव-शरीरों का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार परिणाम के आधार पर ग्रहणीय एवं त्याज्य भोजन का विवेचन करते है। परिणाम का अर्थ है स्वभाव या परिपाक। भोजन का रस भले ही कुछ भी हो, किन्तु जिसका परिणाम अच्छा हो वही भोजन ग्रहणीय माना जाता है। यह भोजन-परिणाम छ. प्रकार का होता है, जैसे कि—

१. **मनोज्ञ**—मन के अनुकूल परिणमित होने वाला अर्थात् मन-चाहा भोजन। जिसके खाने से भोजन की इच्छा और भी बढ़ती जाए, वही भोजन मनोज्ञ-परिणाम है।

२. **रसिक**—रसीला भोजन, यह माधुर्यादि गुणो से युक्त होता है।

३. **प्रीणनीय**—रस-भाग को सम करने वाला, रक्त, मास, मज्जा आदि धातुओं की विषमता को सम करने वाला भोजन-परिणाम प्रीणनीय कहलाता है।

४. **बृंहणीय**—रक्त, मांस आदि धातुओं और उपधातुओं को बढ़ाने वाला एव शारीरिक शक्ति की वृद्धि करने वाला भोजन बृंहणीय-परिणाम कहलाता है।

५ **दीपनीय**—पाचन-शक्ति को बढ़ाने वाला भोजन-परिणाम दीपनीय कहलाता है। यह मद हुई जठराग्नि को प्रचंड कर देता है। पाठान्तर में **'मयणिज्जे'** यह पाठ देखने में आता है, इसका संस्कृत रूप है मदनीय अर्थात् कामदेव को जगाने वाला, अर्थात् जो भोजन कामोद्दीपक हो वह मदनीय-परिणाम कहलाता है।

६. **दर्पणीय**—बल-उत्साह एवं स्फूर्ति बढ़ाने वाला भोजन-परिणाम दर्पणीय है।

विषपरिणामः—विष मुख्यतया दो प्रकार का होता है—स्थावर-विष संखिया आदि और जगम-विष सर्पादि का विष। इन से भिन्न अन्य कोई विष नही है। प्रस्तुत सूत्र में विष परिणाम छः प्रकार के कथन किए गए है। उनमें से पहले तीन विष-परिणाम स्वरूप की अपेक्षा से और अतिम तीन परिणाम कार्य की अपेक्षा से जानने चाहिएं।

१ **दष्ट-विष**—पागल कुत्ते आदि के द्वारा काट खाने से, सर्प आदि के द्वारा डक मारने से जो जहर चढ़ता है, उसे दष्ट-विष कहते हैं।

२. **भुक्त-विष**—जो विष खाने पर असर करता है—जैसे कि संखिया। उपलक्षण से जो विष पीने पर असर करता है उसे भी भुक्त-विष ही कहा जाता है।

३. **निपतित-विष**—जो विष शरीर पर गिरने मात्र से चढ़ जाता है वह निपतित-विष है, त्वग्-विष और दृष्टि-विष। कार्बन गैस, विषैला धूम्र आदि का अन्तर्भाव भी निपतित-विष में हो जाता है।

४. **मांसानुसारी-विष**—मासपर्यन्त फैल जाने वाला विष।

५. **शोणितानुसारी-विष**—रक्त में फैलने वाला विष।

६ **अस्थिमिजानुसारी-विष**—हड्डी एव मज्जा आदि धातुओं पर विषैला प्रभाव डानले वाला विष।

विष अधिक मात्रा में हो तो मारक, कुछ कम मात्रा में हो तो पीड़ा-कारक होता है। उत्तम वस्तु का अधिक मात्रा में खाना-पीना भी विष। इसका समावेश भुक्त-विष मे ही हो जाता है।

षड्विध प्रश्न

मूल—छव्विहे पट्ठे पण्णत्ते, तं जहा—संसयपट्ठे, वुग्गहपट्ठे, अणुजोगी, अणुलोमे, तहणाणे, अतहणाणे ॥६०॥

छाया—षड्विधं पृष्टं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—संशय-पृष्टः, व्युद्ग्रह-पृष्टः, अनुयोगी, अनुलोम, तथा-ज्ञानम्, अतथाज्ञानम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छ: प्रकार के प्रश्न कथन किए गए हैं, जैसे कि—संशय होने पर किया जाने वाला प्रश्न, मिथ्याभिनिवेश के कारण दूसरे को पराजित करने के लिए किया जाने वाला प्रश्न, व्याख्या के लिए किया जाने वाला प्रश्न, किसी को अपने अनुकूल बनाने के लिए किया जाने वाला प्रश्न, प्रश्न के सम्बन्ध में स्वयं जानते हुए भी किया जाने वाला प्रश्न और स्वयं न जानते हुए किया जाने वाला प्रश्न।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे भोजन-परिणाम और विष-परिणाम का वर्णन किया गया है। विष-परिणाम ज्ञान-चेतना का विघातक है और भोजन-परिणाम ज्ञान-चेतना का उद्‌बोधक होता है। जिस समय ज्ञान-चेतना व्यक्ति मे जिज्ञासा जागृत करती है तब जिज्ञासु नानाविध प्रश्नों का समाधान चाहता है, अब सूत्रकार प्रश्न की अनेकरूपता का विवेचन करते हैं। प्रश्न करने के लौकिक एवं लोकोत्तरिक अनेक कारण हो सकते हैं, कभी अपनी शंका दूर करने के लिए प्रश्न पूछा जाता है और कभी दूसरे का समाधान करने के लिए भी, कभी जिज्ञासा बुद्धि से पूछा जाता है और कभी ज्ञानी की परीक्षा के लिए भी, कभी दूसरे को नीचा दिखाने के लिए प्रश्न पूछा जाता है और कभी अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करने के लिए भी। इत्यादि अनेक कारणो से प्रश्न किए जा सकते है। प्रस्तुत सूत्र मे प्रश्न करने के छ: कारण बतलाए गए हैं, उनमें सभी प्रकार के प्रश्नों का समावेश हो जाता है, जैसे कि—

१. **संशय-प्रश्न**—किसी शब्द या अर्थ-विशेष में सशय होने पर प्रश्न पूछा जाता है, वह सशय-प्रश्न कहलाता है, जैसे कि—शिष्य ने गुरुदेव से प्रश्न किया है, "भगवन्! जब सयम का फल अनाश्रव है और तप का फल व्यवदान है क्या बद्ध-कर्मो को क्षय करना ही व्यवदान है? तब प्रभु महावीर के मत मे जीव देव-गति को कैसे प्राप्त कर सकता है?" इसके उत्तर मे गुरुदेव ने कहा—"सराग-सयम और सराग-तप ये दोनों देवगति के कारण हैं। वीतराग संयम और वीतराग तप ये दोनो सिद्ध-गति के कारण हैं।"

२. **व्युद्ग्रह-प्रश्न**—व्युद्ग्रह का अर्थ होता है दुराग्रह। वादी के पक्ष को दूषित करने के लिए जो प्रश्न पूछा जाता है, वह व्युद्ग्रह-प्रश्न कहलाता है। जैसे कि "सामान्य से विशेष भिन्न है या अभिन्न? यदि कहोगे भिन्न है, तो वह गगनारविंद की तरह असत् है, यदि अभिन्न कहोगे तो वह सामान्य ही है।"

३. **अनुयोगी-प्रश्न**—किसी विषय को स्पष्ट करने के लिए किया जाने वाला प्रश्न अनुयोगी प्रश्न कहलाता है। ग्रंथकार या व्याख्याकार स्वयं पहले प्रश्न करता है फिर उसका उत्तर भी व्याख्या के रूप मे स्वय ही देता है। इस पद्धति के सभी प्रश्न अनुयोगी-प्रश्न कहलाते हैं।

४. **अनुलोम-प्रश्न**—सामने आने वाले को अनुकूल करने के लिए उससे पूछना कि

''आप कुशल पूर्वक तो हैं न! यदि आप को किसी वस्तु की इच्छा हो तो अवश्य कृपा करे'' इत्यादि प्रश्न अनुलोम-प्रश्न कहलाते है।

५. **तथाज्ञान-प्रश्न**—जानते हुए भी ज्ञानवृद्धि के लिए प्रश्न करना यथाज्ञान प्रश्न कहलाता है जैसे प्रश्न-कर्त्ता को ज्ञान है वैसे ही उत्तर-दाता को भी ज्ञान है। केशीकुमार श्रमण और गौतम स्वामी के प्रश्नोत्तर इसी कोटि के माने जाते हैं।

६. **अतथाज्ञान-प्रश्न**—न प्रश्नकार को ज्ञान है और न उत्तर-दाता को ज्ञान है, ऐसी परिस्थिति में पूछना अतथाज्ञान-प्रश्न कहलाता है। जैसे अनभिज्ञ लोगो के अप्रासगिक प्रश्न।

इन छः प्रकार के प्रश्नों से प्रश्नकार के भावों का दिग्दर्शन कराया गया है। किसी-किसी प्रति मे **पट्ठे** के स्थान पर **'अट्ठे'** ऐसा पाठ देखा जाता है। इसका आशय है सशय आदि अर्थ के निर्णय के लिए प्रश्न करना। ''**वुग्गहपट्ठे**'' इस प्रश्न से सिद्ध होता है केवल परपक्ष को दूषित करने के लिए ही वादी-प्रश्न किया करते है, जैसे कि विवाद में, किन्तु अनुयोगी, अनुलोम और तथाज्ञान ये प्रश्न आत्म-विकास तथा कलहशान्ति के लिए होते हैं। जो प्रश्न अर्थों के निर्णय और आत्मसमाधि के लिए किए जाते है, ऐसे प्रश्न यथावस्थित पदार्थो के जानने के लिए जिज्ञासुओ को अवश्य करने चाहिए। श्रद्धान्वित होकर किया गया प्रश्न ही ज्ञान-साधना मे सहायक होता है।

चार स्थानों का विरहकाल

मूल—चमरचञ्चा णं रायहाणी उक्कोसेणं छम्मासा विरहिए उववाएणं।
एगमेगे णं इंदट्ठाणे उक्कोसेणं छम्मासा विरहिए उववाएणं।
अहेसत्तमा णं पुढवी उक्कोसेणं छम्मासा विरहिया उववाएणं।
सिद्धिगई णं उक्कोसेणं छम्मासा विरहिया उववाएणं ॥ ६१॥

छाया—चमरचञ्चा राजधानी उत्कर्षेण षण्मासान् विरहिता उपपातेन।
एकैकमिन्द्रस्थानमुत्कर्षेण षण्मासान् विरहितमुपपातेन।
अधः सप्तमी पृथिवी उत्कर्षेण षण्मासान् विरहिता उपपातेन।
सिद्धिगतिरुत्कर्षेण षण्मासान् विरहिता उपपातेन।

शब्दार्थ—चमरचञ्चा णं रायहाणी—चमरचंचा नामक राजधानी, इन्द्र के अभाव में, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट, **छम्मासा विरहिए उववाएणं**—छः मास तक उपपात से रहित होती है।

एगमेगे ण इंदट्ठाणे—एक-एक इन्द्र स्थान, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट, **छम्मासा विरहिए उववाएणं**—छः मास तक उपपात से रहित होता है।

अहेसत्तमा णं पुढवी—सातवीं नरक, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट, **छम्मासा विरहिया उववाएणं**—छ: मास तक उपपात से रहित होती है।

सिद्धिगई णं—सिद्धि गति, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट, **छम्मासा**—छ: मास तक, **उववाएणं विरहिया**—सिद्धत्व की प्राप्ति से रहित हो सकती है।

मूलार्थ—चमरचञ्चा राजधानी छ: मास तक असुरेन्द्र के उपपात अर्थात् उत्पत्ति से रहित हो सकती है।

एक-एक इन्द्र का आसन उत्कृष्ट छ: मास तक उपपात से रहित हो सकता है।

सातवी नरक उत्कृष्ट छ: मास तक उपपात से रहित हो सकती है। सिद्धगति भी उत्कृष्ट छ: मास तक उपपात अर्थात् गमन से रहित हो सकती है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे कल्पस्थिति का वर्णन किया गया है। स्थिति विद्यमानता है और विद्यमानता का विपरीत शब्द विरह है, अत: स्थिति के साथ विरह-ज्ञान की भी अपेक्षा रहती है, इसी अपेक्षा से अब सूत्रकार चमर-चंचा की राजधानी आदि का विरह-काल उपस्थित करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे जिन-जिन का अधिक से अधिक छ: महीने का विरह-काल है उनका नामोल्लेख किया गया है। दक्षिण दिशा के असुरकुमारो का अधिनायक चमर इद्र है। उसकी राजधानी चचा है, इसी कारण उसे चमरचचा कहते हैं। जम्बूद्वीप के मदरगिरि से दक्षिण की ओर तिरछे असख्यात द्वीप समुद्रो को पार कर एक अरुणवर नामक द्वीप है। उस द्वीप की बाहर की वेदिका से अरुणोद समुद्र मे ४२००० योजना भीतर की ओर जाकर असुर महाराज चमरेन्द्र का तिगिच्छिकूट नामक उत्पात पर्वत है। वह सत्रह सौ इक्कीस योजन ऊंचा है। उस पर्वत से दक्षिण की ओर छ: सौ करोड़ योजन से कुछ अधिक आगे जाकर अरुणोदसमुद्र है। उस के नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी में चालीस हजार योजन नीचे पहुंचकर जम्बूद्वीप प्रमाण चमरचचा नामक चमरेन्द्र की राजधानी है। उसमे जीव असुरकुमार के रूप मे उत्पन्न न हों तो अधिक से अधिक छ: महीने का विरह-काल रह सकता है, अर्थात् छ: मास तक उत्पत्ति—क्रम रुक सकता है, अधिक नहीं।

जितने भी इद्रस्थान है उनमें अधिक से अधिक छ: महीने का विरह-काल है, अर्थात् कोई भी इंद्रस्थान अधिक से अधिक छ· महीने तक खाली रह सकता है।

सातवे नरक के नारकियो का भी विरह-काल अधिक से अधिक छ: मास का है। अन्य नरकों का विरह-काल निम्नलिखित गाथा से जानना चाहिए, जैसे कि—

"चउवीसइं मुहुत्ता सत्तअहोरत्त तह य पन्नरस।
मासो य दो य चउरो छम्मासा विरहकालो उ॥"

अर्थात् पहली पृथ्वी में नारकियों के जन्म का विरह-काल उत्कृष्ट २४ मुहूर्त्त का है, दूसरी पृथ्वी मे सात अहोरात्र का, तीसरी पृथ्वी में १५ दिन का, चौथी पृथ्वी में एक मास का, पांचवी पृथ्वी में दो मास का, छट्ठी पृथ्वी मे ४ मास का और सातवी पृथ्वी मे छः मास का अधिक से अधिक विरह-काल है।

सिद्ध-गति में उपपात की दृष्टि से विरह-काल छ. मास का है। यहा उपपात शब्द का अर्थ गमन है जन्म नहीं, क्योंकि सिद्ध-गति में जन्म के कारणो का अभाव हो जाता है। सिद्ध-गति मे पहुंचने का कम से कम अंतर एक समय का होता है और अधिक से अधिक विरह-काल छः महीने का हुआ करता है।

षड्विध आयुबन्ध

मूल—छव्विहे आउयबंधे पण्णत्ते, तं जहा—जाइणामणिधत्ताउए, गइणामणिधत्ताउए, ठिइनामणिधत्ताउए, ओगाहणाणामणिधत्ताउए, पएस-णामणिधत्ताउए, अणुभावणामणिधत्ताउए। नेरइयाणं छव्विहे आउयबंधे पण्णत्ते, तं जहा—जाइणामणिधत्ताउए जाव अणुभावणामनिधत्ताउए। एवं जाव वेमाणियाणं।

नेरइया णियमं छम्मासावसेसाउया परभवियाउयं पगरेंति। एवामेव असुरकुमाराvि जाव थणियकुमारा।

असंखेज्जवासाउया सन्नि-पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिया णियमं छम्मासा-वसेसाउया परभवियाउयं पगरेंति।

असंखेज्जवासाउया सन्निमणुस्सा नियमं जाव पगरिंति। वाणमंतरा, जोइसवासिया, विमाणिया, जहा णेरइया ॥६२॥

छाया—षड्विध आयुर्बन्धः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—जातिनामनिधत्तायुः, गतिनाम-निधत्तायुः स्थितिनामनिधत्तायुः अवगाहनानामनिधत्तायुः, प्रदेशनामनिधत्तायु, अनुभावनामनिधत्तायुः। नेरयिकानां षड्विध आयुर्बन्धः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—जातिना-मनिधत्तायुर्यावत् अनुभावनामनिधत्तायुः। एवं यावद् वैमानिकानाम्।

नैरयिकाः नियमात् षणमासावशेषायुष्काः परभवीयायुः प्रकुर्वन्ति। एवमेव असुरकुमारा अपि यावत् स्तनितकुमाराः।

असंख्येयवर्षायुष्काः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः नियमात् षणमासावशेषायुष्काः परभवीयायुः प्रकुर्वन्ति। असंख्येय-वर्षायुष्काः संज्ञिमनष्याः नियमात् यावत् प्रकुर्वन्ति। वानव्यन्तराः, ज्योतिर्वासिकाः, वैमानिकाः यथा नैरयिकाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आयु का बन्ध छ: प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—जातिनाम के साथ निबद्ध आयु, गतिनाम-निबद्ध-आयु, स्थितिनाम-निबद्ध-आयु, अवगाहना-नाम-निबद्ध आयु, प्रदेशनाम-निबद्ध आयु, अनुभाव-नाम-निबद्ध आयु।

नैरयिक जीवो का आयुर्बन्ध छ: प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—जातिनाम के साथ निबद्ध आयु यावत् अनुभाव नाम के साथ निबद्ध आयु, इसी प्रकार वैमानिक पर्यन्त जानना।

नैरयिक जीव नियम से छ: मास की आयु शेष रहने पर पर-भव की आयु का बन्ध करते हैं। इसी प्रकार असुरकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों तक के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

असख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च भी नियम से छह मास की आयु के शेष रहने पर पर-भव की आयु बांधते है।

असख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य भी नियम से छ: मास की आयु शेष रहने पर परलोक की आयु का बन्ध करते है। वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक भी नैरयिक जीवो के समान ही छ: मास की आयु शेष रहने पर पर-भव की आयु बाधते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे जन्म-सम्बन्धी चर्चा की गई है, भावी जन्म आयु के बंध होने पर ही होता है, अब सूत्रकार जन्म के कारणीभूत आयुबन्ध का वर्णन करते हैं। जीव आयुष्यकर्म को बांधते समय जाति, गति, स्थिति, अवगाहना, प्रदेश और अनुभाव इन सबका बध करता है। जाति आदि नाम कर्म के विशेष उल्लेख से आयु के भेद बताने का यही आशय है कि आयु कर्म-प्रधान है। यही कारण है कि नरक आदि की आयु का उदय होने पर ही जाति आदि नामकर्म का भी उदय हो जाता है। यहा भेद तो आयु के दिए गए है, पर आगमकार ने आयु-बध के छ: भेद लिखे हैं। इससे सूत्रकार यह बताना चाहते है कि—ये छ: बातें आयु-बध से अभिन्न है। या यू कहिए कि बध-प्राप्त आयु ही आयु शब्द का वाच्य है। निधत्त शब्द का अर्थ है निषेक। फल भोगने के लिए होने वाली कर्म पुद्गलों की रचना विशेष को ही निषेक या निधत्त कहा जाता है।

१. जातिनाम-निधत्तायु—एकेन्द्रिय आदि पाच प्रकार की जातियां हैं। जिस कर्म से प्रेरित जीव ने पाच जातियों मे से जिस जाति में कर्म-फल भोगने के लिए जन्म लेना है, उस कर्म को जाति-नाम कर्म कहते हैं। जीव उस जाति नाम कर्म योग्य जिस आयुष्य-कर्म का बन्ध करता है उसे 'जाति-नाम-निधत्तायु' कहते है।

२. **गति-नाम-निधत्तायु**—नरक आदि चार गतियों में से जिस गति मे जीव ने जाना होता है उस गति के अनुरूप उसके कर्म-पुद्गलों की रचना स्वत: ही होने लगती है और साथ ही उस गति एवं कर्मपुद्गलो के साथ तदनुकूल आयु का बन्ध भी हो जाता है। इस आयुबन्ध को 'गति-नाम-निधत्तायु' कहते हैं।

३. **स्थिति-नाम-निधत्तायु**—जीव ने अपने कर्मो के अनुकूल प्राप्त जिस गति या योनि में जाकर रहना होता है, उसका वहा निवास ही उसकी स्थिति है। इस स्थिति की पूर्णता के लिए जीव जिस आयु को बाधता है उसे 'स्थिति-नाम-निधत्तायु' कहते है।

४. **अवगाहना-नाम-निधत्तायु**—अवगाहना का सम्बन्ध शरीर से है। शारीरिक अवगाहना भी कर्मानुरूप ही प्राप्त होती है, औदारिक आदि शरीरो की ऊंचाई के साथ नाम-कर्म-रूप अवगाहना के लिए कर्म-पुद्गलो की रचना विशेष से युक्त जिस आयु का बन्ध होता है, उस आयु को 'अवगाहना-नाम-निधत्तायु' कहते है।

५. **प्रदेश-नाम-निधत्तायु**—जन्म के अनन्तर जो कर्मो का प्रदेशोदय होता है, उसे 'प्रदेशनाम निधत्तायु' कहा जाता है। प्रदेशनाम के साथ होने वाली कर्मपुद्गलो की रचना से युक्त आयु को 'प्रदेश-नाम निधत्तायु' कहते हैं। जिस भव में विरोधी कर्म-प्रकृतियो का विपाकोदय न होकर केवल प्रदेशोदय से कर्म-दलिकों का निषेक होता है वही आयु 'प्रदेश-नाम निधत्तायु' से अभिप्रेत है।

६. **अनुभाव-नाम-निधत्तायु**—जिन कर्म-प्रकृतियो का विपाकोदय होना निश्चित है अथवा आयु दलिकों का विपाक रूप परिणाम अनुभाव नाम कर्म के साथ निषेक को प्राप्त होने पर ही जो आयु बाधी जाती है वही 'अनुभाव-नाम-निधत्तायु' कहलाती।

यहां शका उत्पन्न हो सकती है कि सूत्रकार ने नामपद किस लिए दिया है? इसके उत्तर मे वृत्तिकार कहते हैं कि—"**स्थिति प्रदेशानुभावनामग्रहणात् तु तासामेवस्थित्यादय उक्ता, ते च जात्यादिनाम सम्बन्धित्वान्नामकर्मरूपा एवेति। नाम शब्द: सर्वत्र कर्मार्थो घटत इति स्थितिरूपं नामकर्म स्थितिनाम तेन सह निधत्त यदायुस्तत् स्थितिनाम-निधत्तायुरिति**" अर्थात् जाति, गति आदि नाम कर्म के साथ संबध होने से स्थिति-प्रदेश आदि भी नाम कर्म ही है। नाम शब्द सब जगह कर्म अर्थ का द्योतक है। जब आयु-कर्म का बंध होता है, तब जाति आदि का नियमेन बध हो जाता है और जब आयु कर्म का उदय होता है, तब उक्त छ: प्रकृतियो का उदय होना भी निश्चित ही होता है, अत. आयु कर्म के साथ उनका साहचर्य सबध है। इसी कारण सबके साथ आयु का सम्बन्ध सूत्रकार ने जोडा है। जिस जीव ने जिस गति की आयु बांध ली है, उसे उसी गति का अतिथि बनना ही पडता है। अतएव आगमकार कहते है—**'नेरइए णं भंते! नेरइएसु उववज्जइ? अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ? गोयमा! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ"**?[१]

---

१ भगवती सूत्र, श ६।

अर्थात् नारकी ही नरक में उत्पन्न होता है न कि अनारकी। सूत्रकार के मत में जिस मनुष्य या तिर्यञ्च ने नरक के योग्य आयु का बन्ध कर लिया है वही नरक में जाता है अन्य नहीं। आयु-कर्म की प्रधानता दिखाने के लिए जाति, गति, स्थिति, अवगाहना, प्रदेश और अनुभाव शब्दों के साथ आयु-कर्म का सम्बन्ध जोडा गया है। नारकियों से लेकर वैमानिक देवो तक सभी जीव जाति आदि के साथ ही आयुष्यकर्म का बन्ध करते हैं। कौन-कौन जीव कितनी आयु शेष रहने पर परभव की आयु का बन्ध करता है इसका विवरण निम्नलिखित दो गाथाओं से जानना चाहिए। जैसे कि—

"निरइ सुरअसंखाऊ तिरिमणुआ सेसए उ छम्मासे।
इगविगला निरुवक्कमं तिरि मणुया आउय तिभागे॥
अवसेसा सोवक्कम तिभाग नवभाग सत्तवीसइमे।
बंधंति परभवाउं निययभवे सव्वजीवा उ॥"

अर्थात् नैरयिक, देव तथा असख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यच और मनुष्य जब इनकी आयु छ· महीने की शेष रह जाती है तब वे परभव की आयु का बन्ध करते हैं। निरुपक्रम आयु वाले तिर्यच और मनुष्य अपनी आयु के तीसरे भाग में परलोक की आयु का बध कर लेते है। शेष सोपक्रम आयु वाले जीव अपनी आयु के तीसरे, नौवें तथा सत्ताईसवें भाग में आयु का बन्ध करते है।[१]

षड्विध भाव

मूल—छव्विहे भावे पण्णत्ते, तं जहा—ओदइए, उवसमिए, खइए, खओवसमिए, परिणामिए, सन्निवाइए ॥६३॥

छाया—षड्विधो भावः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—औदयिकः, औपशमिकः, क्षायिकः, क्षायोपशमिकः, पारिणामिकः, सान्निपातिकः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—भाव छः प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे—ओदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक।

विवेचनिका—आयु-कर्म का बध औदयिक भाव मे होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे छः भावो का नामोल्लेख किया गया है। भाव का अर्थ है शुद्ध और अशुद्ध पर्याय। आत्मा के सभी पर्याय एक ही अवस्था मे नही पाए जाते है, सभी पर्यायो के लिए भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होती है। पर्यायों की वे भिन्न-भिन्न अवस्थाए ही भाव कहलाती है। आत्मा के पर्याय अधिक से अधिक पांच भाव वाले हो सकते हैं। छः भाव है—औदयिक, औपशमिक,

१ विस्तृत विवेचन के लिए देखिए प्रज्ञापना-सूत्र का व्युत्क्रान्ति नामक छट्ठा पद।

क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक। जिनका सामान्य परिचय इस प्रकार है—

१. औदयिकभाव—वह है जो उदय से पैदा होता है। उदय एक प्रकार का आत्मिक मालिन्य है। यथायोग्य समय पर उदय प्राप्त आठ कर्मो का अपने-अपने स्वरूप से फल भोगना उदय है। उदय से होने वाला भाव औदयिक भाव कहलाता है। चार गतियां, चार कषाय, तीन वेद, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असयम, असिद्धभाव और छः लेश्याए ये २१ पर्याय उदय-भाव से निष्पन्न होते हैं।

२ औपशमिकभाव—जो भाव उपशम से उत्पन्न होता है, वह औपशमिक है। इसमे प्रदेश और अनुभाग दोनों प्रकार से कर्मो का उदय रुक जाता है। यह भाव केवल मोह-कर्म मे ही पाया जाता है, अन्य कर्मो में नही। जैसे मल नीचे बैठ जाने पर जल मे स्वच्छता आ जाती है वैसे ही मोह के सर्वथा उपशम से परिणाम विशुद्ध हो जाते है। औपशमिक भाव के दो भेद हैं—सम्यक्त्व और चारित्र, ये दो गुण उपशम-निष्पन्न है। औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र, दोनो अतीव विशुद्ध होते हैं और दोनों की **स्थिति** अन्तर्मुहूर्त ही हुआ करती है।

३. क्षायिकभाव—कर्मो के सर्वथा क्षय होने पर जो जीव में विशुद्ध एव सादि अनन्त भाव प्रकट होता, वह क्षायिक भाव है। सर्वघाति कर्मो के क्षय होने से जीव मे क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, केवल ज्ञान, केवल दर्शन, क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य-लब्धि ये नव गुण उत्पन्न हो जाते है।

४. क्षायोपशमिकभाव—यह भाव क्षय और उपशम से पैदा होता है। क्षायोपशमिक भाव भी एक प्रकार की आत्मशुद्धि है। जब कर्म के एक अश का उदय सर्वथा रुक जाए और दूसरे अश का प्रदेशोदय द्वारा क्षय होते रहने पर जो विशुद्धि प्रकट होती है, उसे क्षायोपशमिक भाव कहते है। यह भाव चार घाति कर्मो मे पाया जाता है। इसमे प्रदेश की अपेक्षा कर्म का उदय रहता है। इसके १८ भेद है, जैसे कि ४ ज्ञान, ३ अज्ञान, ३ दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, सर्वविरति, देशविरति, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य की पांच लब्धिया, ये सब भाव क्षयोपशमजन्य है।

५. पारिणामिकभाव—यह द्रव्य का वह परिणाम है जो केवल द्रव्य के अस्तित्व से आप ही आप हुआ करता है। यह भाव किसी कर्म का फल नहीं है। किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक स्वरूप परिणमन ही पारिणामिक भाव है। पूर्व अवस्था का त्याग किए बिना उत्तरावस्था मे वस्तु का परिणत हो जाना पारिणामिक भाव है। इसके ३ भेद हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। सभी द्रव्यो मे पारिणामिक भाव विद्यमान हैं।

६. सान्निपातिकभाव—औदयिक आदि पांच भावों मे से दो संयोगी, तीन संयोगी, चार संयोगी और पांच सयोगी भंग बनाना ही सान्निपातिक है। द्विक सयोगी दस, त्रिक

संयोगी दस, चतु:संयोगी पाच संयोगी एक, इस प्रकार समस्त २६ भग बनते है। जिसमें जो-जो भंग पाया जाता है उस-उस मे वही भंग घटाना चाहिए, जो किसी में न घट सके, वह शून्य है।[१]

षड्विध प्रतिक्रमण

मूल—छव्विहे पडिक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा—उच्चारपडिक्कमणे, पासवणपडिक्कमणे, इत्तरिए, आवकहिए, जंकिंचिमिच्छा, सोमणंतिए ॥६४॥

छाया—षड्विधं प्रतिक्रमणं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—उच्चारप्रतिक्रमणं, प्रस्रवण-प्रतिक्रमणम्, इत्वरिकं, यावत्कथिकं, यत्किंचिन्मिथ्या, स्वप्नान्तिकम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छ: प्रकार का प्रतिक्रमण कथन किया गया है, जैसे—उच्चार का प्रतिक्रमण, प्रस्रवण का प्रतिक्रमण, इत्वरिक—अल्पकाल का दैवसिक, रात्रिक, प्रतिक्रमण, यावत्कथिक—जीवन भर के लिए संथारे आदि के समय किया जाने वाला प्रतिक्रमण, यत्किंचिन्मिथ्या—मात्र 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना और सोने के बाद स्पप्न काल का प्रतिक्रमण।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे षड्विध भावो का वर्णन किया गया है। भावो की विशुद्धि के लिए और दोष-निवृत्ति के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है, अत· अब सूत्रकार प्रतिक्रमण के छ: भेद उपस्थित करते है। व्रत या पच्चक्खाण मे लगे हुए दोषो से निवृत्त होना या प्रमाद-वश लगे हुए दोषो को अकरणीय समझ कर भविष्य में उनसे सावधान रहना प्रतिक्रमण है। दस प्रकार के प्रायश्चित्त भेदो मे प्रतिक्रमण दूसरा और आवश्यक के छ: भेदों में प्रतिक्रमण चौथा है। इस प्रतिक्रमण के छ: भेद है, जैसे कि—

१ यतनापूर्वक मलोत्सर्ग करने पर ईरियावहिया का ध्यान करना 'उच्चार-प्रतिक्रमण' है।

२ यतनापूर्वक लघुनीत परठ कर ईर्यावहिया का ध्यान करना 'पासवण-प्रतिक्रमण है'। जहां पर भी कभी उच्चार-पासवण आदि परठना हो वहा पहले उस स्थान को देखना चाहिए कि वह स्थान सर्वथा निर्दोष है या सदोष। निर्दोष सिद्ध होने पर यतना से परठना, परठ कर '**वोसिरामि**' कहना। उपाश्रय मे आकर ईरिया-वहिया का ध्यान करना, यही 'प्रस्रवण-प्रतिक्रमण' है।

३ इत्वरिक जो दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि स्वल्पकालिक प्रतिक्रमण किया

१ इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए अनुयोगद्वारसूत्र का छटा नाम प्रकरण।

जाता है और जिसमे दिन या रात्रि मे लगे हुए अतिचारों की आलोचना की जाती है उसे 'इत्वरिक-प्रतिक्रमण' कहा जाता है।

४ यावज्जीव अर्थात् जीवन भर के लिए पापो से निवृत्त हो, भक्त-परिज्ञा आदि अनशन करना तथा पुन: पाच महाव्रतो का धारण करना यह 'यावत्कथिक-प्रतिक्रमण' है।

५ बिना यतना के बिना विधि से जानते हुए या अनजाने मे यदि असत्य, अदत्तादानादि किसी भी दोष का यत्किंचित् सेवन हो गया हो तो उसकी निवृत्ति के लिए "**मिच्छा मि दुक्कडं**" ग्रहण करना 'यत्किंचित्-मिथ्या-प्रतिक्रमण' कहलाता है। सारांश यह है कि यदि सयम-साधना मे कोई विपरीत क्रिया हो गई हो तो उसकी शुद्धि के लिए तुरन्त "**मिच्छा मि दुक्कड**" स्वीकार करना चाहिए। जब कभी बिना विधि से पदार्थो का परिष्ठापन करना, या बिना प्रतिलेखन किए एव बिना प्रमार्जन किए परिष्ठापन एव गमन किया गया हो तो उस क्रिया की विशुद्धि के लिए अपनी भूल स्वीकार करना 'यत्किञ्चित्-मिथ्या प्रतिक्रमण' है।

६ निद्रा दशा मे सदोष-स्वप्न आदि का देखना या शयन करते हुए अयतना हो गई हो, अधिक प्रमाद का सेवन हो गया हो उसका प्रतिक्रमण करना 'स्वप्नान्तिक-प्रतिक्रमण' कहलाता है। जब सो कर उठे तब सबसे पहले "**इच्छामि पडिक्कमिउं पगाम सिज्जाए**" इस सूत्र पाठ का ध्यान करके आत्मशुद्धि करना 'स्वप्नान्तिक-प्रतिक्रमण' कहा गया है।

गमनागमन मे, विहार मे, शयन मे, स्वप्न-दर्शन मे, बोलने में 'रखने-उठाने में' नौका द्वारा नदी पार करने में यदि अयतना एव अविधि से प्रवृत्ति हो गई हो तो "**इच्छाकारेण**" तथा "**इच्छामि पडिक्कमिउ०**" के पाठ से प्रतिक्रमण किया जाता है तथा पाच आश्रवों का सेवन किया गया हो तब "**इच्छाकारेण**" एव "**तस्सोत्तरी**" इन सूत्रो को पढ़कर फिर "**लोगस्स उज्जोयगरे**" का ध्यान करना चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक क्रिया के अनन्तर प्रतिक्रमण की अत्यन्त आवश्यकता है।

छ: तारों वाले नक्षत्र

मूल—कत्तियाणक्खत्ते छत्तारे पण्णत्ते। असिलेसाणक्खत्ते छत्तारे पण्णत्ते ॥ ६५ ॥

छाया—कृत्तिकानक्षत्रं षट् तारकं प्रज्ञप्तम्। अश्लेषानक्षत्रं षट् तारकं प्रज्ञप्तम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—कृत्तिका नक्षत्र के छ: तारे प्रतिपादन किए गए है। अश्लेषा नक्षत्र के भी छ: तारे कथन किए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे प्रतिक्रमण-भेदों का वर्णन किया गया है। प्रतिक्रमण काल-ज्ञान पर निर्भर है और काल-ज्ञान नक्षत्र ज्ञान पर, अत: प्रस्तुत सूत्र में ऐसे नक्षत्रो का वर्णन

किया गया है, जिनके साथ छः-छः तारों का समूह विद्यमान रहता है। वे नक्षत्र हैं कृत्तिका और अश्लेषा।

पाप कर्म के रूप में पुद्गल-ग्रहण

मूल—जीवाणं छट्ठाणनिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा, तं जहा—पुढविकाइय-णिव्वत्तिए जाव तसकायणिव्वत्तिए। एवं चिण, उवचिण, बंध उदीर, वेय, तह निज्जरा चेव।

छप्पएसिया णं खंधा अणंता पण्णत्ता, छप्पएसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता, छसमयट्ठिइया पोग्गला अणंता, छगुणकालगा पोग्गला जाव छगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता॥६६॥

छाया—जीवाः षट् स्थाननिर्वर्तितान् पुद्गलान् पापकर्मतया अचिन्वन् वा, चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—पृथिवीकायनिर्वर्तितान् यावत् त्रसकायनिर्वर्तितान्। एवम् चिन्वन्, उपचिन्वन् अबध्नन्, उदैरयन्, अवेदयन् तथा निर्जीर्यन् चैव।

षट् प्रादेशिकाः स्कन्धा अनन्ता. प्रज्ञप्ताः, षट् समयस्थितिकाः पुद्गला अनन्ताः। षड्गुणकालकाः पुद्गला यावत् षड्गुणरूक्षाः पुद्गला अनन्ताः प्रज्ञप्ताः।

शब्दार्थ—**जीवा**—जीव, **छट्ठाणनिव्वत्तिए**—छः स्थान निष्पन्न, **पोग्गले**—पुद्गलो को, **पावकम्मत्ताए**—पाप कर्म रूप से, **चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा**—एकत्रित करते रहे है, करते हैं, करेंगे, **तं जहा**—जैसे, **पुढविकायनिवत्तिए**—पृथ्वी-काय के रूप मे, **जाव**—यावत्, **तसकायणिव्वत्तिए**—त्रसकाय के रूप मे। **एवं**—इसी प्रकार, **चिण**—पाप कर्मो का एकत्र करना, **उवचिण**—बार-बार उन्हे एकत्र करना, **बंध**—बाधना, **उदीर**—उनकी उदीरणा करना, **वेयणा**—वेदन करना, **तह**—तथा, **निज्जरा चेव**—निर्जरा करना।

छप्पएसिया णं खंधा--छः प्रदेश वाले स्कन्ध, **अणंता पण्णत्ता**—अनन्त कथन किए गए है, **छप्पएसोगाढा**—छ· आकाश-प्रदेशो को अवगाहन करके रहने वाले, **पोग्गला अणंता पण्णत्ता**—पुद्गल अनन्त कथन किए गए है। **छसमयट्ठिइया पोग्गला अणंता**—छः समय की स्थिति वाले पुद्गल अनन्त हैं, **छगुणकालगा पोग्गला**—छः गुण कृष्ण रंग वाले पुद्गल, **जाव**—यावत्, **छगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता**—छः गुण रूक्ष पुद्गल अनन्त कहे गए हैं।

मूलार्थ—जीव छः पापों के रूप में पुद्गलों का पाप-कर्म रूप मे संग्रह करते रहे हैं, करते है और करते रहेंगे, जैसे पृथ्वीकाय मे निर्वर्तित, यावत् त्रसकाय मे

निर्वर्तित। इसी प्रकार पाप कर्मों का इकट्ठा करना, बार-बार इकट्ठा करना, बांधना, उदीरणा करना, वेदन करना और निर्जरा करना भी जान लेना चाहिए।

छ: प्रदेशी स्कन्ध अनन्त कथन किए गए हैं। आकाश के छ: प्रदेशों को अवगाहन करके स्थित रहने वाले पुद्गल अनन्त वर्णन किए गए हैं। छ: समय की स्थिति वाले पुद्गल अनन्त हैं। छ: गुण कृष्ण वर्णन वाले पुद्गल अनन्त हैं, यावत् छ: गुण रूक्ष स्पर्श वाले पुद्गल अनन्त वर्णन किए गए हैं।

विवेचनिका—विश्व भर में जितने भी जीव हैं उन सभी जीवों ने छ: कायपने मे अतीत काल में पाप कर्मों का सचय किया, वर्तमान में कर रहे हैं और भविष्य में भी करेंगे। इसी प्रकार उपचय, बंध, उदीरणा, वेदना और निर्जरा के विषय मे जान लेना चाहिए। कोई भी ऐसी काय नही है जिसमें रहकर प्रत्येक जीव ने उक्त छ: क्रियाएं न की हों। छ: काय मे सभी संसारी जीवो का अतर्भाव हो जाता है।

छ: प्रदेशी स्कन्ध अनन्त है। आकाश के छ: प्रदेशो पर अवगाहन किए हुए पुद्गल भी अनन्त है। छ: समय की स्थिति वाले पुद्गल भी अनन्त हैं। पाच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श ये पुद्गल के गुण है। छ: गुणा काले पुद्गल अनन्त हैं, यावत् छ: गुण रूक्ष पुद्गल भी अनन्त हैं।

(छठा स्थान समाप्त)
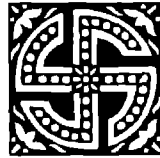
श्री स्थानाङ्ग-सूत्रम्

एक उद्देशक

इस उद्देशक में–

प्रस्तुत स्थान में एक ही उद्देशक है जिसमे गण-अपक्रमण, विभंगज्ञान, योनि-सग्रह, गण मे सग्रहणीय, पिंडैषणा, पानैषणा, प्रतिमाए, सप्तैकक, महा-अध्ययन, सप्त-सप्तमिका भिक्षु-प्रतिमा, पृथ्विया, घनोदधि, घनवात, तनुवात, अवकाशान्तर, पृथ्वीगोत्र, बादर वायुकाय, संस्थान, भय-स्थान, छद्मस्थ और केवली के लक्षण, मूलगोत्र, मूलनय, स्वर-मण्डल, काय-क्लेश, जम्बूद्वीप के वर्षक्षेत्र, वर्षधर-पर्वत आदि, काल-विशेषों के कुलकर, कुलकर-भार्याए, कल्प-वृक्ष, दण्ड-नीति, चक्र-वर्तियो के एकेन्द्रिय-रत्न और पचेन्द्रिय रत्न, दुषमकाल और संयम काल के लक्षण, ससार-समापन्नक जीव, आयु-भेद, जीव-भेद, चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त की ऊचाई-आयु, श्री मल्लिनाथ जी के साथ प्रव्रजित राजा, दर्शन, छद्मस्थ वीतराग का प्रकृति-वेदन, छद्मस्थ के लिए अज्ञेय, महावीर-अवगाहना, विकथाए, आचार्य और उपाध्याय के अति-शेष, संयम, असयम, आरम्भ, अलसी आदि की अकुरण-शक्ति, अप्काय, नैरयिक-स्थिति, वरुण सोम एव यम की अग्रमहिषिया, पार्षद देव और देवियों का स्थितिकाल, सारस्वत आदि देव और उनका सौर-परिवार, देवो की कल्पस्थिति, ब्रह्मलोक आदि के विमानो की ऊचाई, देवो के भवधारणीय शरीरो की अवगाहना, नन्दीश्वर के द्वीप और समुद्र, श्रेणियां, इन्द्रो के अनीक और अनीकाधिपति, अनीकाधिपतियो की कक्षाओं के देव, वचन-भेद, विनय-भेद, समुद्घात, महावीर-तीर्थ मे निन्हव उनके आचार्य और उत्पत्ति-स्थान, साता वेदनीय एव असाता वेदनीय कर्म का विपाक, नक्षत्र-द्वार, वक्षस्कार पर्वतो के कूट, द्वीन्द्रिय जीवो की कुलकोटिया, पुद्गलग्रहण और पुद्गल-अनन्तता आदि विषयो का वर्णन किया गया है।

सप्तम स्थान

सामान्य-परिचय

पूर्व स्थान में जीव-अजीव आदि पदार्थो का षड्विधता की दृष्टि से वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत सातवें स्थान में सूत्रकार उन पदार्थों की विवेचना करेंगे जिनकी सख्या 'सात' के रूप मे ही पाई जाती है।

गण-अपक्रमण

मूल—सत्तविहे गणावक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा—सव्वधम्मा रोएमि, एगइया रोएमि एगइया णो रोएमि, सव्वधम्मा वितिगिच्छामि, एगइया वितिगिच्छामि एगइया नो वितिगिच्छामि, सव्वधम्मा जुहुणामि, एगइया जुहुणामि एगइया णो जुहुणामि, इच्छामि णं भंते! एकल्ल विहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए॥ १॥

छाया—सप्तविधं गणापक्रमणं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—सर्वधर्मान् रोचयामि, एककान् रोचयामि, एककान् नो रोचयामि, सर्वधर्मान् विचिकित्सामि, एककान् विचिकित्सामि, एककान् नो विचिकित्सामि, सर्वधर्मान् जुहोमि, एककान् जुहोमि, एककान् नो जुहोमि, इच्छामि भदन्त! एकाकिविहारप्रतिमामुपसंपद्य विहर्त्तुम्।

शब्दार्थ—**सत्तविहे**—सात कारणों से, **गणावक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा**—गच्छ से अलग होना कथन किया गया है, जैसे, **सव्वधम्मा**—श्रुत और चारित्र रूप सब धर्मो को, **रोएमि**—ग्रहण करना चाहता हूं, **एगइया**—कुछ धर्मों को, **रोएमि**—ग्रहण करना चाहता हू, **एगइया णो रोएमि**—कुछ धर्मो को नहीं ग्रहण करना चाहता हू, **सव्वधम्मा**—सर्व धर्मो में, **वितिगिच्छामि**—सन्देह करता हूं, **एगइया वितिगिच्छामि**—कुछ धर्मो में सन्देह करता हूं, **एगइया**—कुछ धर्मो में, **नो वितिगिच्छामि**—सन्देह नहीं करता हू, **सव्वधम्मा**—सब धर्मो

का उपदेश, **जुहुणामि**—दूसरो को देना चाहता हू, **एगइया जुहुणामि**—कुछ धर्मो का उपदेश देना चाहता हूं, **एगइया णो जुहुणामि**—कुछ धर्मों का उपदेश नहीं देना चाहता हू, **भंते**—भगवन्, **एकल्लविहारपडिम**—एकलविहार प्रतिमा को, **उवसंपज्जित्ता णं**—स्वीकार करके, **विहरित्तए**—विचरना, **इच्छामि णं**—चाहता हूं।

मूलार्थ—सात कारणों से साधु के लिए अपने गच्छ से अलग होकर दूसरे गच्छ में जाने का विधान कथन किया गया है, जैसे—श्रुत और चारित्र धर्मो को (अपने गच्छ मे बहुश्रुतादि विद्वानों का अभाव हो और दूसरे गच्छ में वे विद्यमान हों तो) ग्रहण करना चाहता हू, कुछ धर्मो को ग्रहण करना चाहता हूं और कुछ को नही, अर्थात् कुछ धर्मो की अपने गच्छ के विद्वानों से ही प्राप्ति हो चुकी है और कुछ की नही, अत: अप्राप्त की प्राप्ति के लिए दूसरे गच्छ में जाना चाहता हू। सब धर्मो में सन्देह करता हू, अत: सन्देह निवारण के लिए जाना चाहता हू, कुछ धर्मो में सन्देह करता हूं और कुछ में सन्देह नहीं करता, सब धर्मों का उपदेश देना चाहता हूं, किन्तु अपने गच्छ में योग्य पात्र नहीं हैं, दूसरे मे हैं, इसलिए वहा जाने की इच्छा करता हू, कुछ धर्मो का उपदेश देना चाहता हू और कुछ का नही, भन्ते! मैं एकाकी विचरने की प्रतिमा को स्वीकार करके विचरण करना चाहता हू।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र मे गण-अपक्रमण के कारणो का निर्देश किया गया है। गण का अर्थ है गच्छ। स्थविरकल्पी मुनि के लिए उसी गण मे रहना अधिक उपयोगी होता है, जिसमे कि उसने प्रव्रज्या ग्रहण की है, शिक्षा प्राप्त की है। विशिष्ट कारण उपस्थित होने पर उस गण से अलग होना ही गणापक्रमण कहलाता है। अपनी कमजोरियों के कारण तथा आचार्य एव उपाध्याय की बिना आज्ञा के गण से अलग होना गणापक्रमण नही है, किन्तु वह तो स्वेच्छाचारिता है। विनीत होकर आज्ञा का पालन करते हुए आचार्य आदि की अनुमति से ली जाने वाली विदाई ही गणापक्रमण है। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की वृद्धि के लिए किया गया गणापक्रमण ही प्रशस्त माना गया है। अत: प्रस्तुत सूत्र मे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक या अपने से किसी बडे साधु की आज्ञा लेकर ही दूसरे गण मे जाने के औचित्य की ओर संकेत किया गया है। इस तरह एक गण को छोडकर दूसरे गण मे जाने की आज्ञा मागने के लिए अरिहंत भगवान ने सात कारण बताए है। जैसे कि—

१ श्रुतधर्म निर्जरा का हेतु है, अत: उसके प्रति मेरे हृदय मे अगाध श्रद्धा है। सूत्र और अर्थरूप श्रुत का मै अभी और ज्ञान प्राप्त करना चाहता हू, अपूर्व श्रुत ग्रहण करने के लिए मेरे मन में अभिरुचि है, मैं विस्मृत हुए श्रुत को याद करना चाहता हू और अध्ययन किए हुए की आवृत्ति करना चाहता हू तथा मैं चारित्र के वैयावृत्य तप आदि सभी भेदो का पालन करना चाहता हूं, उनकी इस गण में मेरी अभिलाषा के अनुकूल व्यवस्था नहीं है। अत:

शिष्य प्रार्थना करता है कि भंते! मैं दूसरे गण में जाना चाहता हू, इसलिए आप मेरी श्रुत-लब्धि की आशा को पूर्ण करने के लिए आज्ञा दीजिए।

२. श्रुत और चारित्र रूप धर्म के समस्त भेदों का पालन मैं कर रहा हूं और कुछ का नहीं कर रहा। जिनका पालन मैं नहीं कर पा रहा, उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस गण में व्यवस्था नही है, अत: मैं इस गण को छोडकर अमुक गण मे जाना चाहता हूं। इस कारण एक गण को छोडकर दूसरे गण में चले जाना दूसरा गण-अपक्रमण है।

३ मुझे श्रुत और चारित्र रूप धर्म के सभी भेदों मे सशय है, उन संशयों का निराकरण करने वाला हमारे में कोई भी ऐसा उच्चकोटि का विद्वान साधु या आर्या नहीं है जो उन सशयों का निराकरण कर सके, अत: मै सशयो का निराकरण करने के लिए स्वगण को छोडकर किसी अन्य गण मे जाना चाहता हू। यह तीसरा गणापक्रमण है।

४. धर्म के कुछ भेदों मे मुझे सशय है और कुछ में नही। जिनमें सशय है उन्हे दूर करने के लिए मै अपने गण को छोड़ने की आप से आज्ञा चाहता हूं और अमुक गण में जाकर अपने संशयों की निवृत्ति करना चाहता हू। यह चौथा गणापक्रमण कहलाता है।

५ मै सर्वधर्मो का ज्ञान दूसरे को देना चाहता हू अथवा मेरे पास जो विद्या है, मैं अपने गण में ऐसे सुपात्र साधु नही देख रहा, जिन्हें वह विद्या दे सकू, अत: मैं किसी सुपात्र साधु को विद्या देने के लिए अपने गच्छ को छोडना चाहता हू। इस इच्छा से किया गया यह पांचवा गणापक्रमण है।

६. मैं कुछ साधकों को विद्या देना चाहता हूं और कुछ को नहीं, जो विद्या देना चाहता हू उसका पात्र इस गण मे कोई नही है, परन्तु अमुक गण मे है। इस **दृष्टि** से मैं अन्य गण मे जाने की आज्ञा चाहता हू। इस इच्छा से आज्ञा-पूर्वक किया गया छठा गणापक्रमण है।

७ मै एकल-विहार-अभिग्रह को स्वीकार करके जिनकल्पी के समान विहार करना चाहता हू। इसलिए में आप से आज्ञा लेकर इस गण से अलग होने की इच्छा करता हूं। इस प्रक़ार की इच्छा से प्रेरित होकर आज्ञा-पूर्वक किया गया गणापक्रमण सातवा गणापक्रमण है।

पहले दो कारण सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के उद्देश्य को लिए हुए हैं, तीसरा और चौथा कारण सम्यग्ज्ञान के उद्देश्य से पूर्ण है, पाचवा और छठा कारण सम्यक्-चारित्र की विशुद्धि और विकास की इच्छा पर अवस्थित है और गणापक्रमण का सातवा कारण रत्नत्रय की पूर्णता के लिए कहा गया है। वैयावृत्य तथा अध्ययन के लिए भी गणापक्रमण किया जाता है, परन्तु आचार्य, उपाध्याय एवं प्रवर्तक की आज्ञा से ही किया गया गणापक्रमण दोष-मुक्त है।

''**रोएमि**'' यह क्रिया श्रद्धा को व्यक्त करती है, ''**वितिगिच्छामि**'' क्रिया संदेह को बताती है, ''**जुहोमि**'' यह क्रिया देने के तथा आसेवन के अर्थ में प्रयुक्त हुई है।

विभङ्ग ज्ञान

मूल—सत्तविहे विभंगणाणे पण्णत्ते, तं जहा—एगदिसिलोगाभिगमे, पंचदिसिलोगाभिगमे, किरियावरणेजीवे, मुदग्गे जीवे, अमुदग्गे जीवे, रूवी जीवे, सव्वमिणं जीवा।

तत्थ खलु इमे पढमे विभंगणाणे—जया णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा विभंगणाणे समुप्पज्जइ। से णं तेणं विभंगणाणेण समुप्पन्नेणं पासइ—पाईणं वा, पडिणं वा, दाहिणं वा, उदीणं वा, उड्ढं वा जाव सोहम्मे कप्पे। तस्स णमेवं भवइ—अत्थि णं मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने, एगदिसिं लोगाभिगमे। संतेगइया समणा वा, माहणा वा पंचदिसिं लोगाभिगमे, जे ते एवमाहंसु—मिच्छं ते एव माहंसु। पढमे विभंगणाणे। अहावरे दोच्चे विभंगणाणे—जया णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा विभंगणाणे समुप्पज्जइ। से णं तेणं विभंगणाणेणं समुप्पन्नेणं पासइ-पाईणं वा, पडिणं वा, दाहिणं वा, उदीणं वा, उड्ढं वा जाव सोहम्मे कप्पे। तस्स णमेवं भवइ—अत्थि णं मम अइसेसे णाण-दंसणे समुप्पन्ने, पंचदिसिं लोगाभिगमे। संतेगइया समणा वा, माहणा वा एवमाहंसु-एगदिसिं लोगाभिगमे, जे ते एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु। दोच्चे विभंगणाणे।

अहावरे तच्चे विभंगणाणे—जया णं तहारूवस्स समणस्स वा, माहणस्स वा विभंगणाणे समुप्पज्जइ। से णं तेणं विभंगणाणेणं पासइ पाणे अइवाएमाणे, मुसंवएमाणे, अदिन्नमादियमाणे, मेहुणं पडिसेवमाणे, परिग्गहं परिगिण्हमाणे, राइभोयणं भुंजमाणे वा, पावं च णं कम्मं कीरमाणं णो पासइ। तस्स णमेवं भवइ-अत्थि णं मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने, किरियावरणे जीवे। संतेगइया समणा वा, माहणा वा एवमाहंसु—नो किरियावरणे जीवे, जे ते एवमाहंसु-मिच्छं ते एवमाहंसु। तच्चे विभंगणाणे।

अहावरे चउत्थे विभंगणाणे—जया णं तहारूवस्स समणस्स वा, माहणस्स वा जाव समुप्पज्जइ। से णं तेणं विभंगनाणेणं समुप्पन्नेणं देवामेव पासइ बाहिरब्भंतरए पोग्गले परियाइत्ता पुढोगत्तं णाणत्तं फुसिया, फुरेत्ता, फुट्टित्ता। विकुव्वित्ताणं विकुव्वित्ताणं चिट्ठित्तए। तस्स णमेवं भवइ—अत्थि णं मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने, मुदग्गे जीवे, संतेगइया समणा

वा, माहणा वा एवमाहंसु—अमुदग्गे जीवे, जे ते एवमाहंसु—मिच्छं ते एवमाहंसु। चउत्थे विभंगणाणे।

अहावरे पंचमे विभंगणाणे—जया णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा जाव समुप्पज्जइ। से णं तेणं विभंगणाणेणं समुप्पन्नेणं देवामेव पासइ-बाहिरब्भंतरए पोग्गलए अपरियाइत्ता पुढेगत्तं णाणत्तं जाव विउव्वित्ता णं चिट्ठित्तए। तस्स णमेवं भवइ—अत्थि जाव समुप्पन्ने अमुदग्गे जीवे, संतेगइया समणा वा, माहणा वा एवमाहंसु—मिच्छं ते एवमाहंसु। पंचमे विभंगणाणे।

अहावरे छट्ठे विभंगणाणे—जया णं तहारूवस्स समणस्स वा, माहणस्स वा जाव समुप्पज्जइ। से णं तेणं विभंगणाणेणं समुप्पन्नेणं देवामेव पासइ-बाहिरब्भंतरए पोग्गले परियाइत्ता वा अपरियाइत्ता वा पुढेगत्तं णाणत्तं फुसेत्ता जाव विकुव्वित्ता चिट्ठित्तए। तस्स णमेवं भवइ—अत्थि णं मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने रूवी जीवे, संतेगइया समणा वा, माहणा वा, एवमाहंसु—अरूवी जीवे, जे ते एवमाहंसु—मिच्छं ते एवमाहंसु। छट्ठे विभंगणाणे।

अहावरे सत्तमे विभंगणाणे—जया णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा विभंगणाणे समुप्पज्जइ। से णं तेणं विभंगणाणेणं समुप्पन्नेणं पासइ-सुहुमेणं वायुकाएणं फुडं पोग्गलकायं, एयंतं, चलंतं, खुब्भंतं, फंदंतं, घट्टंतं उदीरेंतं, तं तं भावं परिणमंतं। तस्स णमेवं भवइ-अत्थि णं मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने, सव्वमिणं जीवा, संतेगइया समणा वा, माहणा वा एवमाहंसु—जीवा चेव, अजीवा चेव, जे ते एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु। तस्स णमिमे चत्तारि जीवनिकाया णो सम्ममुवगया भवंति, तं जहा—पुढविकाइया, आऊ, तेऊ, वाउकाइया। इच्चेएहिं जीवनिकाएहिं मिच्छादंडं पवत्तेइ, सत्तमे विभंगणाणे॥ २॥

छाया—सप्तविधं विभंगज्ञानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—एकदिशि लोकाभिगमः, पञ्चदिक्षु लोकाभिगमः, क्रियावरणो जीवः, मुदग्गो जीवः, अमुदग्गो जीवः, रूपी जीवः, सर्वमिदं जीवाः। तत्र खलु इदं प्रथमं विभंगज्ञानम्—यदा तथारूपस्य श्रमणस्य वा, ब्राह्मणस्य वा विभंगज्ञानं समुत्पद्यते, स तेन विभंगज्ञानेन समुत्पन्नेन पश्यति—प्राचीनां वा, दक्षिणां वा, उदीचीनां वा, ऊर्ध्वा वा यावत् सौधर्मः कल्पः। तस्यैवं भवति—अस्ति मम अतिशेषं

ज्ञानदर्शनं समुत्पन्नम्, एकस्यां दिशि लोकाभिगमः। सन्त्येकके श्रमणा वा, ब्राह्मणा वा एवमाहुः—पञ्चदिशि लोकाभिगमः ये ते एवमाहुः मिथ्या ते एवमाहुः। प्रथमं विभंगज्ञानम्।

अथापरं द्वितीयं विभंगज्ञानम्—यदा तथारूपस्य श्रमणस्य वा, ब्राह्मणस्य वा विभंगज्ञानं समुत्पद्यते, स तेन विभंगज्ञानेन समुत्पन्नेन पश्यति—प्राचीनां वा, प्रतीचीनां वा, दक्षिणां वा, उदीचीनां वा, ऊर्ध्वां वा यावत् सौधर्मः कल्पः। तस्यैवं भवति—अस्ति मम अतिशेषं ज्ञानदर्शनं समुत्पन्नं पञ्चदिक्षु लोकाभिगमः। सन्त्येकके श्रमणा वा, ब्राह्मणा वा एवमाहुः—एकदिशि लोकाभिगमः, ये ते एवमाहुः, मिथ्या ते एवमाहुः। द्वितीयं विभंगज्ञानम्।

अथापरं तृतीयं विभंगज्ञानम्—यदा तथारूपस्य श्रमणस्य वा, ब्राह्मणस्य वा विभंगज्ञानं समुत्पद्यते, स तेन विभंगज्ञानेन समुत्पन्नेन पश्यति—प्राणानतिपातयमानान्, मृषा वदतः, अदत्तमाददानान्, मैथुनं प्रतिसेवमानान् परिग्रहं परिगृह्णतः, रात्रिभोजनं भुञ्जानान् वा, पापञ्च कर्म क्रियमाणान् नो पश्यति। तस्यैंव भवति—अस्ति मम अति शेषं ज्ञानदर्शनं समुत्पन्नं, क्रियावरणो जीवः। सन्त्येकके श्रमणा वा, ब्राह्मणा वा एवमाहुः—नो क्रियावरणो जीव·, ये ते एवमाहुः—मिथ्या ते एवमाहुः। तृतीयं विभंगज्ञानम्।

अथापरं चतुर्थ विभंगज्ञानम्—यदा तथारूपस्य श्रमणस्य वा, ब्राह्मणस्य वा यावत् समुत्पद्यते। स तेन विभंगज्ञानेन समुत्पन्नेन देवानेव पश्यति—बाह्याभ्यन्तरान् पुद्गलान् पर्यादाय पृथगेकत्वं नानात्वं स्पृष्टवा, स्फुरित्वा-स्फुरित्वा, विकुर्व्य-विकुर्व्य स्थातुम्। तस्यैवं भवति—अस्ति मम अतिशेषं ज्ञानदर्शन समुत्पन्नं—मुदग्गो जीवः, सन्त्येकके श्रमणा वा, ब्राह्मणा वा एवमाहुः—अमुदग्गो जीवः, ये ते एवमाहुः मिथ्या ते एवमाहुः। चतुर्थ विभंगज्ञानम्।

अथापरं पंचमं विभंगज्ञानम्—यदा तथारूपस्य श्रमणस्य वा, ब्राह्मणस्य वा यावत् समुत्पद्यते। स तेन विभंगज्ञानेन समुत्पन्नेन देवानेव पश्यति बाह्याभ्यन्तरान् पुद्गलान-पर्यादाय पृथगेक्त्वं नानात्वं यावत् विकुर्व्य स्थातुम्, तस्यैवं भवति—अस्ति यावत् समुत्पन्नममुदग्गो जीवः, सन्त्येकके श्रमणा वा, ब्राह्मणा वा एवमाहुः—मुदग्गो जीवः, ये ते एवमाहुः मिथ्या ते एवमाहुः। पञ्चमं विभंगज्ञानम्।

अथापरं षष्ठं विभंगज्ञानम्—यदा तथारूपस्य श्रमणस्य वा, ब्राह्मणस्य वा यावत् समुत्पद्यते। स तेन विभंगज्ञानेन देवानेव पश्यति बाह्याभ्यन्तरान् पुद्गलान् पर्यादाय वा, अपर्यादाय वा पृथगेकत्वं नानात्व स्पृष्ट्वा। यावत् विकुर्व्य स्थातुम्। तस्यैवं भवति—अस्ति मम अतिशेषं ज्ञानदर्शनं समुत्पन्नम्, रूपी जीवः सन्त्येकके श्रमणा वा, ब्राह्मणा वा एवमाहुः—अरूपी जीवः, ये ते एवमाहुः मिथ्या ते एवमाहु। षष्ठं विभंगज्ञानम्।

अथापरं सप्तमं विभंगज्ञानम्—यदा तथारूपस्य श्रमणस्य वा ब्राह्मणस्य वा विभंगज्ञानं समुत्पद्यते। स तेन विभंगज्ञानेन समुत्पन्नेन पश्यति-सूक्ष्मेन वायुकायेन स्पृष्टं पुद्गलकायमेजमानं, व्येजमानं, चलन्तं, क्षुभ्यन्तं, स्पन्दन्तं, घट्टयन्तम्, उदीरयन्तं तं तं भावं परिणमन्तम्। तस्यैवं भवति—अस्ति मम अतिशेषं ज्ञानदर्शनं समुत्पन्नम्, सर्वमिदं जीवाः सन्त्येकके श्रमणा वा, ब्राह्मणा वा एवमाहुः—जीवाश्चैवाजीवाश्चैव, ये ते एवमाहुः, मिथ्या ते एवमाहुः। तस्येमे चत्वारो जीवनिकाया नो सम्यगुपगता भवन्ति, तद्यथा— पृथिवीकायिकाः, अप्-तेजोवायुकायिकाः। इत्येतेषु चतुर्षु जीवनिकायेषु मिथ्यादण्डं प्रवर्तयति। सप्तमं विभंगज्ञानम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात प्रकार का विभंग-ज्ञान वर्णन किया गया है, जैसे—एक दिशा में लोक का ज्ञान, पांच दिशाओ में लोक का ज्ञान, जीव क्रियावरण है, कर्मावरण नही, बाह्याभ्यन्तर पुद्गलो से निष्पन्न शरीर ही जीव है, बाह्याभ्यन्तर पुद्गलों से अनिष्पन्न शरीर वाला जीव है, जीव रूपी है, ये सब गतिशील पदार्थ जीव हैं।

१ प्रथम विभग ज्ञान वह है कि जब तथारूप मिथ्यादृष्टि श्रमण अथवा ब्राह्मण को विभग ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब वह उत्पन्न विभंगज्ञान से पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर की ओर सौधर्मकल्प तक देखता है। उस समय उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे विशिष्ट ज्ञानदर्शन उत्पन्न हो गया है, जिसके फलस्वरूप मैं एक ही दिशा में सम्पूर्ण लोक को जान रहा हूं। अन्य बहुत से श्रमण-ब्राह्मण जो यह कहते हैं कि पांचो दिशाओं में लोक है, वे असत्य कहते है। यही भ्रान्त ज्ञान प्रथम प्रकार का विभगज्ञान है।

२. दूसरा विभग ज्ञान वह है कि जब किसी तथारूप श्रमण या ब्राह्मण को विभंग ज्ञान पैदा हो जाता है, तब वह अपने में उत्पन्न विभग ज्ञान से पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर दिशा मे और ऊपर की ओर सौधर्म कल्प तक देखता है। उस समय उसे ऐसा प्रतीत होता है कि—मुझे विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो चुका है, जिसके फलस्वरूप मैं जान चुका हूं कि पांचों ही दिशाओं में लोक है, छठी दिशा में नहीं। जो अन्य बहुत से श्रमण-ब्राह्मण एक दिशा में लोक का अस्तित्व स्वीकार करते है, वे असत्य कहते है। यही मिथ्यात्व-युक्त ज्ञान दूसरे प्रकार का विभंगज्ञान है।

३. तीसरा विभंग-ज्ञान यह है कि जब तथारूप श्रमण तथा ब्राह्मण को विभग-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब वह उस उत्पन्न विभग ज्ञान के द्वारा जीव-हिंसा करने वालों, झूठ बोलने वालों, चोरी करने वालो, मैथुन सेवन करने वालो, परिग्रह ग्रहण

करने वालों और रात्रि-भोजन करने वालों को देखता है, किन्तु उनके द्वारा क्रियमाण पाप-कर्म को नही देखता है, उस समय उसको यह प्रतीत होता है कि मुझे विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो चुका है, जिसके फलस्वरूप मैं जानता हूं कि—जीव क्रियावरण है, कर्मावरण नहीं। जो कि अन्य बहुत से श्रमण-ब्राह्मण यह कहते हैं कि—जीव क्रियावरण नहीं कर्मावरण है, वे मिथ्या कहते हैं। यही तीसरे प्रकार का विभंगज्ञान है।

४. चतुर्थ विभग-ज्ञान वह है कि—जब तथारूप श्रमण-ब्राह्मण को विभंग ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होता है, तब यह उस उत्पन्न विभंग-ज्ञान के द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर पुद्‌गलो को ग्रहण करके अपने से विभिन्न एक रूप अथवा नाना रूपो को स्पर्श करके, उत्साह दिखा करके, पुद्‌गलो को प्रकट करके विकुर्वणा करते हुए देवताओं को देखता है, उस समय उसके हृदय में यह विचार पैदा होता है कि—मुझे विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो चुका है, फलत: मैं जानता हू कि जीव बाह्य एवं आभ्यन्तर पुद्‌गलों से निष्पन्न है। अन्य श्रमण-ब्राह्मण जो ऐसा कहते हैं कि—'जीव बाह्य एवं आभ्यन्तर पुद्‌गलों से निष्पन्न नही है' वे मिथ्या कहते हैं। यही चतुर्थ प्रकार का विभग-ज्ञान है।

५ पञ्चम विभग-ज्ञान वह है कि—जब तथारूप श्रमण-ब्राह्मण को विभग-ज्ञान उत्पन्न होता है, तब वह जिस समय उत्पन्न विभग ज्ञान के द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर पुद्‌गलों को बिना ग्रहण किए ही अपने से भिन्न एक अथवा अनेक रूपो की विकुर्वणा करते हुए देवों को देखता है, उस समय उसके हृदय में यह निश्चय होता है कि—मुझे विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो चुका है, अत: मै जानता हू कि जीव बाह्य और आभ्यन्तर पुद्‌गलों से निष्पन्न है, जो बहुत से अन्य श्रमण तथा ब्राह्मण ऐसा कहते हैं कि जीव बाह्य और आभ्यन्तर पुद्‌गलो से निष्पन्न शरीर वाला है, वे मिथ्या कहते हैं। यही पञ्चम विभंग-ज्ञान है।

६. छठा विभंग ज्ञान यह है कि—जब तथारूप श्रमण-ब्राह्मण को विभंग-ज्ञान पैदा हो जाता है, तब वह उस उत्पन्न हुए विभंग-ज्ञान से बाह्य एवं आभ्यन्तर पुद्‌गलों को ग्रहण करके अथवा बिना ग्रहण किए ही अपने से भिन्न एक अथवा अनेक रूपो को स्पर्श करके विकुर्वणा आदि करते हुए देवो को देखता है, उस समय उसके हृदय में यह विचार उत्पन्न होता है कि मुझे विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो चुका है। अत: मैं जानता हूं कि जीव रूपी है। जो बहुत से अन्य

श्रमण-ब्राह्मण यह कहते हैं कि जीव अरूपी है, वे मिथ्या कहते हैं। यही छठा विभंग-ज्ञान है।

७. सातवां विभंग ज्ञान यह है कि—जब किसी तथाकथित श्रमण एवं ब्राह्मण को विभंग ज्ञान पैदा हो जाता है, तब वह उत्पन्न हुए विभंग ज्ञान से सूक्ष्म वायुकाय के द्वारा कांपते हुए, विशेष रूप से कापते हुए, एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित होते हुए, क्षुब्ध होते हुए, स्पन्दन करते हुए, दूसरे पदार्थो को छूते हुए, दूसरे पदार्थो को प्रेरित करते हुए और अनेक अवस्थाओं में परिणत होते हुए पुद्गलों को देखता है उस समय उसके हृदय में यह विचार उत्पन्न होता है कि—मुझे विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो गया है, फलत: मै जानता हूं कि ये सब जीव ही जीव है। जो बहुत से श्रमण और ब्राह्मण यह कहते है कि—'जीव भी हैं, अजीव भी हैं, वे मिथ्या कहते हैं। उस विभंग-ज्ञानी को ये चार जीव-निकाय सम्यक् रूप से नहीं ज्ञात होते है—पृथ्वी-काय, अप्-काय, तेजस्काय, वायु-काय। इन चार जीव-निकायों पर वह मिथ्यादण्ड का प्रयोग करता है। यही सातवां विभग-ज्ञान है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में गण-अपक्रमण की चर्चा की गई है, प्रस्तुत सूत्र मे जो मिथ्यादृष्टि श्रमण-ब्राह्मण है वे जब अपने अज्ञान एव बाल-तप आदि द्वारा अवधि-ज्ञान तो नही कुअवधिज्ञान प्राप्त कर लेते है, उन्हे अपने अयथार्थ ज्ञान के द्वारा जो कुछ भ्रान्तिया उत्पन्न हो जाती है, उसको विभंग-ज्ञान कहा जाता है। अब सूत्रकार उसी विभंग-ज्ञान के सात रूपों का परिचय देते हुए कहते है—

मिथ्यात्वयुक्त अवधि-ज्ञान अर्थात् भ्रान्ति-युक्त ज्ञान को विभंग-ज्ञान कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि को अवधि-ज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्यादृष्टि को विभग-ज्ञान। अवधि-ज्ञान से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का जितना भी प्रत्यक्ष होता है, वह यथार्थ ही होता है और विभङ्गज्ञान से जितना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का प्रत्यक्ष होता है, वह यथार्थ नहीं होता—भ्रान्ति-युक्त ही होता है। इसी कारण उसे विभंग ज्ञान कहा जाता है, किसी बाल-तपस्वी श्रमण-माहन को अज्ञान तप के द्वारा जब विभग ज्ञान उत्पन्न होता है, तब वह दूर-दूर तक के पदार्थों का प्रत्यक्ष करने लगता है। उससे वह अपने को विशिष्ट ज्ञानी समझने लग जाता है। परिणाम-स्वरूप वह सर्वज्ञ भगवान के वचनों पर श्रद्धा न रखता हुआ मिथ्या प्ररूपणा करने लगता है। वह बाल-तपस्वी अधिक से अधिक मध्यलोक में सात द्वीप समुद्र पर्यन्त जान व देख सकता है। ऊपर की ओर वह पहले देवलोक पर्यन्त ही देख पाता है, परन्तु अधोलोक का वह बिल्कुल प्रत्यक्ष नही कर सकता। किसी भी ओर का भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान होने पर वैसी ही वस्तु स्थिति जानकर वह दुराग्रह-वश अपने को ही सर्वज्ञ मानने लग जाता है। यही विभङ्ग-ज्ञान है और इस विभंग-ज्ञान के सात रूप हैं, जैसे कि—

१. एगदिसि लोगाभिगमे—जब कोई बाल-तपस्वी विभंगज्ञानी अधोदिशा को छोड़कर पाच दिशाओं मे से किसी एक दिशा मे स्थित पदार्थो को देखकर यह कहने लगता है कि मैंने अपने अतिशययुक्त-ज्ञान में समस्त लोक को एक दिशा में ही देख लिया है अत: जो श्रमण-माहन यह कहते है कि पांच दिशाओं में लोक है, वे सब मिथ्यावादी हैं। वह केवल अपना देखा हुआ ही सत्य मानता है और दूसरों के द्वारा यथार्थ रूप से प्रत्यक्ष किए हुए ज्ञान को मिथ्या ठहराता है।

२. पंचदिसि लोगाभिगमे—जिस किसी बाल-तपस्वी को ऐसा विभङ्ग-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जिसके द्वारा वह पांच दिशाओ मे विद्यमान पदार्थो को प्रत्यक्ष करने लग जाता है, तब वह मिथ्याग्रह के कारण यह कहने लगता है कि पांच दिशाओ में ही लोक है, जो श्रमण-ब्राह्मण यह कहते हैं कि एक दिशा मे ही लोक है उनका कहना मिथ्या है।

वास्तव में लोक एक दिशा में भी है और पाच दिशाओ मे भी और छ: दिशाओं मे भी, अत: एक दिशा मे लोक-स्थिति का निषेध करना उसका मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व से अनुरंजित-ज्ञान ही अज्ञान होता है।

यहां सूत्रकार ने अधोदिशा का वर्णन नहीं किया, उसका विशेष कारण यह है कि अधोदिशा का ज्ञान अवधिज्ञान वाले के लिए भी दुरधिगम हाता है, अत: विभङ्ग-ज्ञानी को अधोलोक का ज्ञान हो ही नही सकता है। इस विषय का विस्तृत वर्णन पीछे तीसरे स्थान मे किया जा चुका है।

३. किरियावरणे जीवे—तीसरे विभग-ज्ञान वाला तथाकथित श्रमण या माहन जब किसी जीव को हिंसा करते हुए, झूठ बोलते हुए, चोरी करते हुए, मैथुन करते हुए, परिग्रह का सचय करते हुए तथा अन्य पाप-कर्म करते हुए देखता है, तब उसके मन मे यह सकल्प उत्पन्न होता है कि मुझे यह अतिशयपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया है कि जीव क्रिया करने वाला तो है, किन्तु पाप-कर्म का बंध करने वाला नहीं। जो श्रमण या माहन जीव को 'नो-क्रिया-आवरण'' मानते हैं अर्थात् जो जीव को कर्मो से आवृत हुआ मानते है वे मिथ्यावादी है। मै कहीं भी कर्मो का प्रत्यक्ष नहीं कर रहा हू, अत· मैने विशेष ज्ञान से देखा है कि क्रिया ही कर्म है और वही जीव का आवरण है, पौद्गलिक कर्म-बंध कोई वस्तु नही है। क्रिया को कर्म-रूप न मानना ही मिथ्यात्व है।

इस कर्म-सत्ता की वास्तविक स्थिति के ज्ञान से रहित मिथ्याज्ञानी का इस प्रकार का ज्ञान तीसरा विभङ्ग-ज्ञान है।

४. मुदग्गे-जीवे—चौथे प्रकार का विभङ्ग-ज्ञान जिस बाल-तपस्वी को हो जाता है, वह उस ज्ञान के द्वारा जब देवो को बाह्य और आभ्यंतर शरीर के पुद्गलों से उत्तर-वैक्रिय शक्ति के द्वारा तरह-तरह की क्रियाए करते हुए देखता है तब वह कहता है कि जीव-पुद्गल-रूप ही है। जो लोग जीव को पुद्गल-रूप नही मानते उनका कहना सर्वथा मिथ्या है। इस

शरीर के भीतर भी पुद्गल हैं और बाहर भी पुद्गल है, अत: बाह्य और आभ्यतर पुद्गलों से रचित यह शरीर ही जीव है। जब देव उत्तर-वैक्रिय शक्ति के द्वारा तरह-तरह के रूप बनाते हैं तो उन्हे देखकर विभंग-ज्ञानी को यह प्रतीत होने लगता है कि जीव अरूपी एव स्वतंत्र-द्रव्य नहीं है, वह जीव को पुद्गल रूप मानने लग जाता है।

वास्तव में आत्म-द्रव्य अमूर्त, अरूपी तथा पुद्गल से भिन्न है, उसे न समझ कर विपरीत ज्ञान होना ही अज्ञान है और इसी अज्ञान को विभंग-ज्ञान कहा जाता है।

५ **अमुदग्गे जीवे**—जब पाचवे प्रकार का विभंग-ज्ञान किसी बाल-तपस्वी को हो जाता है, तब वह सर्व-प्रथम बिना पुद्गलो की सहायता के ही देवो को विविध क्रियाएं करते हुए देख कर यह निश्चय करता है कि मुझे अतिशय-युक्त ज्ञान दर्शन उत्पन्न हो गया है, जीव पुद्गलरूप नही है जो लोग उसे पुद्गलरूप समझते हैं या कहते हैं, वे मिथ्यावादी हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व-युक्त कुअवधिज्ञान ही पाचवे प्रकार का विभग-ज्ञान है।

वास्तव में देखा जाए तो संसारी सभी जीव पुद्गल रूप भी है और अपुद्गल रूप भी। उन्हें एकान्त पुद्गल-रूप मानना या एकान्त अपुद्गल रूप मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि ससारी आत्मा सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर से युक्त होने से पोग्गली भी है और स्वरूप से वह अमूर्त है, अत: अपोग्गली भी। केवल सिद्ध भगवान् अपोग्गली है, क्योंकि वे कार्मण और स्थूल शरीर से सर्वथा रहित हैं।

६ **रूवी जीवे**—जब किसी बाल-तपस्वी को यह छटे प्रकार का विभङ्ग-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब वह जिस समय देवो को नाना प्रकार के पुद्गलो से विविध विकुर्वणाएं करते देखता है, तब वह कहता है कि जीव रूपी ही है, जो लोग जीवो को अरूपी मानते हैं वे सब मिथ्यावादी है। यदि जीव अरूपी होते तो मैं देवो को कैसे देख सकता? इस प्रकार का मिथ्या-ज्ञान विभंग-ज्ञान है।

जैन दर्शन ससारी जीव को कथंचित् रूपी और कथंचित् अरूपी मानता है क्योकि जीव स्वरूप से अरूपी है और पुद्गलों के संयोग से वह रूपी भी है।

७. **सव्वमिणं जीवा**—यह सातवे प्रकार का विभगज्ञान जिस बाल-तपस्वी को उत्पन्न हो जाता है, तब वह दूर-दूर रहे हुए छोटे-छोटे पुद्गल-स्कन्धो को मद-मद पवन के द्वारा परस्पर स्पर्श करते हुए, कांपते हुए, चलते-फिरते या स्थिर होते हुए, स्पंदन करते हुए, सघट्टना करते हुए और अनेक भावों में परिणमते हुए देखता है, तो वह उन्हें देखकर यह कहता है कि ये सभी जीव हैं। पुद्गलजाति को चलता हुआ देखकर वह क्रियान्वित पुद्गल को ही जीव मान लेता है, क्योंकि स्पंदन लक्षण जीव का है। इससे उसकी धारणा दृढ हो जाती है कि सब कुछ जीव ही जीव है। तब वह कहने लगता है कि—जो श्रमण या माहन यह कहते हैं कि संसार मे जीव भी हैं और अजीव भी वे सब मिथ्यावादी है।

वस्तुत: उसको चार जीव-निकाय का सम्यक् रूप तत्त्व अवगत नही हुआ, जैसे कि

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय, अत: वह इन चार निकायों में मिथ्या धारणा का प्रयोग करता है, क्योकि वह केवल त्रस और वनस्पति काय के कंपन आदि को देखकर केवल त्रस-काय को ही जीव मान लेता है। वह स्थावर जीवो का ज्ञान न होने के कारण वायु द्वारा कंपित एव गतिशील पुद्गल को ही जीव मानता है स्थावरों को नहीं, यही उसका अज्ञान है और यही अज्ञान सातवां विभंगज्ञान है।

जीव को अजीव मानना और अजीव को जीव मानना मिथ्यात्व है। स्थावरों को जीव न मानकर उनकी हिंसा में प्रवृत्ति करना अज्ञान एव अविरति है।

यहां यह स्मरणीय है कि विभंग-ज्ञान आहारक जीव को ही होता है, अनाहारक को नहीं। अवधिज्ञान की अपेक्षा विभगज्ञानी असख्यात गुणा अधिक हैं, यह विभग-ज्ञान चार गतियो मे संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवो को ही होता है।

''**तहारूवस्स**''—इस पद का आशय है जो अपने-अपने आम्नाय एवं वेष के अनुरूप तप आदि शुभानुष्ठान करने वाले है, उन्हे तथारूप श्रमण-ब्राह्मण कहते है।

उड्ढ—वा जाव सोहम्मे कप्पे—इस पद से सिद्ध होता है कि बाल-तपस्वी सौधर्म देवलोक से आगे के देवलोको को नहीं देख सकता है।

''**पासइ**'' क्रिया से ''**जाणइ**'' क्रिया का ग्रहण भी कर लेना चाहिए। यदि '**जाणइ**' पद ग्रहण न किया जाए तो विभड्ग-ज्ञान का ही अभाव हो जाएगा, क्योंकि '**जाणइ**' पद ज्ञान का वाचक है।

''**अइसेसे**'' पद का अभिप्राय यह है कि विभग-ज्ञानी यह समझता है कि ज्ञानी कहलाने-वालो की अपेक्षा मुझे अतिशययुक्त ज्ञान-दर्शन उपलब्ध हो रहा है।

जिस श्रमण-माहन को विभग-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है वह अपने जाने हुए, देखे हुए पदार्थो को ही सत्य मानता है, औरो के ज्ञान को मिथ्या बताता हुआ अपने ज्ञान की ही प्रशसा करता है, अत: उसे सम्यग्-ज्ञान न होने से उसके ज्ञान को विभग-ज्ञान कहा जाता है।

योनि-संग्रह

मूल—सत्तविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते, तं जहा—अंडजा, पोतजा, जराउजा, रसजा, संसत्तगा, संमुच्छिमा, उब्भिगा। अंडगा सत्तगइया, सत्तागइया पण्णत्ता, तं जहा—अंडगे अंडगेसु उववज्जमाणे अंडएहिंतो वा, पोतजेहिंतो वा जाव उब्भिए हिंतो वा उववज्जेज्जा, से चेव णं से अंडए अंडगत्तं विप्पजहमाणे अंडगत्ताए वा, पोतगयाए वा जाव उब्भियत्ताए वा गच्छेज्जा। पोत्तगा सत्तगइया सत्तागइया। एवं चेव सत्तण्हवि गइरागई भाणियव्वा, जाव उब्भियत्ति॥३॥

छाया—सप्तविधो योनि-संग्रहः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अण्डजाः, पोतजाः, जरायुजाः, रसजाः, सस्वेदजाः, सम्मूर्च्छिमाः, उद्भिज्जाः।

अण्डजाः सप्तगतिकाः सप्तागतिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अण्डजोऽण्डजेषूपपद्यमानोऽण्डजेभ्यो वा पोतजेभ्यो वा यावद् उद्भिज्जेभ्यो वोपपद्येत्। स चैव स अण्डजोऽण्डजत्वं विप्रजहन् अण्डजतायां वा पोतजतायां यावत् उद्भिज्जतायां वा गच्छेत्। पोतजाः सप्तगतिकाः सप्तागतिकाः। एवञ्चैव सप्तानामपि गतिरागतिर्भणितव्या यावत् उद्भिज्जा इति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—योनि-संग्रह सात प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम और उद्भिज्ज।

अण्डजों की सात गति हैं और सात ही आगति कथन की गई हैं, जैसे—अण्डज जब अण्डजो मे उत्पन्न होता है, तब वह अण्डजों से, पोतजों से यावत् उद्भिज्जो से आकर उत्पन्न होता है और वही अण्डज, अण्डज योनि को छोडकर अण्डज योनि मे, पोतज योनि में यावत् उद्भिज्ज योनि मे जाता है। पोतजों की भी इसी प्रकार सात प्रकार की गति और सात प्रकार की आगति कथन की गई है। इसी भाति सब की सात की गति और सात की आगति कहनी चाहिए, उद्भिज्ज पर्यन्त यही क्रम जानना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में विभगज्ञान का वर्णन किया गया है। विभगज्ञान एक प्रकार का मिथ्याज्ञान है और मिथ्यात्वी जीव ही अण्डज आदि योनियो में उत्पन्न होते है, अतः अब सूत्रकार इन्हीं सप्तविध योनियो का वर्णन करते है।

जीवो की उत्पत्ति-स्थान-विशेष को योनि कहते हैं, उसका संग्रह ही योनि-सग्रह कहलाता है। वह सात प्रकार का होता है, जैसे कि—

१. अण्डज—पक्षी आदि माता के गर्भ से जिस श्वेताकार गोल स्थिति मे उत्पत्ति से पूर्व रहते हैं, उसे अण्ड कहते है। उस अण्डे से जिन जीवो का जन्म हो उन्हें अण्डज कहा जाता है। मत्स्य, पक्षी और सर्प आदि जीव अण्डज योनिक होते है।

२. पोतज—उत्पत्ति के समय जिनका जन्म जेर से नही होता, जन्म होते ही जो हलन-चलन आदि क्रियाएं करने लग जाते है, वे सब जीव पोतज कहलाते हैं। जैसे कि हाथी, खरगोश, नेवला, चूहा, चमगादड, वल्गुली आदि।

३. जरायुज—गर्भावस्था में शरीर को आवेष्टित करने वाली पतली मास की झिल्ली को जरायु कहते हैं, उसी जरायु अर्थात् जेर से उत्पन्न होने वाले मनुष्य तथा दो खुर वाले सभी पशु जरायुज कहलाते हैं।

४ रसज—रसचलित तरल पदार्थ मे उत्पन्न होने वाले कीट-विशेष जो अचार, मुरब्बा, दूध, दही, मिठाई आदि का रस बिगड जाने पर उनमे उत्पन्न हो जाते है, वे सब रसज-योनिक कहलाते है।

५. संस्वेदिम—पसीने से उत्पन्न होने वाले जीव जैसे, जू, लीख, खटमल आदि, ये सब संस्वेदिम योनिक माने जाते है।

६ सम्मूर्च्छिम—स्त्री-पुरुष के संयोग के बिना ही जिन की उत्पत्ति होती है, वे सब संमूर्छिम जीव कहलाते है, जैसे कि कीडी, मकौडा, मक्खी, मच्छर आदि जन्तु संमूर्च्छिम ही होते हैं।

७. उद्भिज—शलभ, खद्योत, टिड्डी आदि सब उद्भिज कहलाते है, क्योकि ये भूमि को भेदन करके बाहर निकलते है। यद्यपि वृक्ष आदि वनस्पतिया भी भूमि से अकुरित होकर बाहर निकलती है, परन्तु यहां उनकी गणना नही, क्योंकि यहा केवल त्रसकायिक योनियो का उल्लेख किया गया है।

इस से आगे सूत्रकार ने प्रतिपादन किया है कि अडज आदि जीवो की भी सात की गति है और इन्ही जीवो की आगति भी सात की है, जैसे कि अण्डज मरकर पुन: अण्डज मे उत्पन्न हो सकते हैं तथा अन्य छ: भेदो मे भी उत्पन्न हो सकते हैं। इसी तरह पोतज आदि के विषय मे भी सात की गति समझ लेनी चाहिए।

इन सात योनियों मे से जिस जीव ने जिस योनि में जन्म लिया हुआ है वह यदि मरकर पुन: उसी योनि मे उत्पन्न होता है तो उसे आगति कहते है और उसके अतिरिक्त अन्य छ: मे से किसी एक योनि में जन्म लेने के लिए जीव यदि गमन करता है तो उसे गति कहते है। इन सात योनियो मे मनुष्य और तिर्यच समाविष्ट होते है देव और नारकी नही।

साराश यह है कि सात प्रकार के उक्त जीव परस्पर गति-आगति कर्मानुसार करते रहते है। इसी कारण सूत्रकार ने सात प्रकार की योनियों के सामूहिक रूप को योनि-संग्रह कहा है।[१]

गण में संग्रहणीय

मूल—आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि सत्त संगहट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा, धारणं वा सम्मं पउंजित्ता भवइ। एवं जहा पंचमट्ठाणे जाव आयरियउवज्झाए गणंसि आपुच्छियचारि यावि भवइ, नो अणापुच्छियचारि यावि भवइ। आयरियउवज्झाए गणंसि अणुप्पन्नाइं उवगरणाइं सम्मं उप्पाइत्ता भवइ। आयरियउवज्झाए गणंसि

१ विशेष विवरण के लिए देखिए जीवाभिगम सूत्र।

पुव्वुप्पन्नाइं उवगरणाइं सम्मं सारक्खेत्ता, संगोवित्ता भवइ, णो असम्मं सारक्खेत्ता, संगोवित्ता भवइ।

आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि सत्त असंगहट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा, धारणं वा नो सम्मं पउंजित्ता भवइ। एवं जाव उवगरणाणं नो सम्मं सारक्खेत्ता संगोवेत्ता भवइ ॥४॥

छाया—आचार्योपाध्याययोः गणे सप्त संग्रहस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आचार्योपाध्यायौ गणे आज्ञां वा धारणां वा सम्यक् प्रयोक्तारौ भवतः। एवं यथा पञ्चमस्थाने यावत् आचार्योपाध्यायौ गणे आपृच्छ्यचारिणौ चापि भवतः, नो अनापृच्छ्यचारिणौ चापि भवतः। आचार्योपाध्यायौ गणेऽनुत्पन्नानि उपकरणानि सम्यगुत्पादयितारौ भवतः। आचार्योपाध्यायौ गणे पूर्वोत्पन्नान्युपकरणानि सम्यक् संरक्षितारौ संगोपितारौ भवतः, नो असम्यक् संरक्षितारौ, संगोपितारौ भवतः।

आचार्योपाध्याययोः गणे सप्त असंग्रहस्थानानि प्रज्ञप्तानि—आचार्योपाध्यायौ गणे आज्ञां वा, धारणां वा नो सम्यक् प्रयोक्तारौ भवतः। एवं यावत् उपकरणानां नो सम्यक् संरक्षितारौ, संगोपितारौ भवतः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आचार्य और उपाध्याय के गच्छ में सात प्रकार का संग्रह-स्थान वर्णन किया गया है, जैसे—आचार्य और उपाध्याय गच्छ में यदि आज्ञा एव धारणा का सम्यक्तया प्रयोग करते हैं, शेष पञ्चम स्थान में किए गए वर्णन के अनुसार समझ लेना चाहिए यावत् आचार्य और उपाध्याय गच्छ में पूछ कर ही विहारचर्या करते हैं, बिना पूछे विहारचर्या नही करते है। आचार्य और उपाध्याय गच्छ में पूर्व-प्राप्त उपकरणों की सम्यक् रूप से संरक्षण एवं संगोपन करने वाले होते हैं, असम्यक् रूप से सरक्षण एवं सगोपन करने वाले नही होते।

आचार्य और उपाध्याय के गच्छ में सात प्रकार का असग्रह-स्थान वर्णन किया गया है, जैसे—आचार्य उपाध्याय गच्छ मे आज्ञा और धारणा का सम्यक्रूप से प्रयोग नही करते। इसी प्रकार यावत् उपकरणों के सम्यक् रूप से संरक्षण एव संगोपन करने वाले भी नहीं होते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में योनि-सग्रह का विवेचन किया गया है। सप्तविध योनि-संग्रह से त्राण पाने के लिए विरक्त साधक गण के नेश्राय मे आते है। ऐसे विरक्त साधको के लिए गण के अधिपति आचार्य एव उपाध्याय के क्या-क्या कर्त्तव्य हैं, अब सूत्रकार इसी विषय का विवेचन करते हैं।

देश की सुव्यवस्था एव समृद्धि राजनीति की सुव्यवस्था पर निर्भर हुआ करती है। यदि राज-कर्मचारी हित और प्रेम से जनता का रक्षण, शिक्षण एव पोषण करते रहें, तो देश सब तरह से समृद्ध हो सकता है, वैसे ही गण की व्यवस्था धर्मनीति पर निर्भर है। गण अर्थात् गच्छ मे जो प्रमुख अधिकारी मुनि हैं, वे यदि सघ की रक्षा, विनय, शिक्षण, पोषण आदि क्रियाएं अपनी स्वार्थवृत्ति को छोडकर परमार्थ को लक्ष्य मे रखकर धर्मनीति के द्वारा सुव्यवस्थित रूप से करते है, धर्म-मर्यादाओं का उल्लंघन न स्वयं करते हैं और न किसी को करने देते हैं, अपितु साधक-वर्ग को प्रोत्साहन देते हैं, प्रत्येक साधक मे ऐसी भावना भरते हैं जिससे कि गण की व्यवस्था ठीक रूप से चलती रहे, तभी गण आध्यात्मिक प्रगति कर सकता है। गण को सुव्यवस्थित रखने के लिए सात सग्रह-स्थानो की ओर आचार्य-उपाध्याय का ध्यान निरन्तर बना रहना चाहिए, जैसे कि—

१ विधिरूप आदेश को आज्ञा और निषेध रूप आदेश को धारणा कहते है। जिस आचार्य और उपाध्याय के गच्छ मे आज्ञा वा धारणा सम्यक्तया प्रयुक्त होती है, वह गण निरन्तर संवृद्ध होता रहता है और जनता को भी धर्म-संगठन से प्रभावित कर सकता है। आज्ञा वा धारणा का सही रूप में चलना ही शान्ति का राजमार्ग है।

२. जिस आचार्य एवं उपाध्याय के गण मे परस्पर वन्दना-व्यवहार यथायोग्य व यथाक्रम होता है, उस गण की निरन्तर शोभा बढती है और गण की वृद्धि होती है। इससे पर्याय-ज्येष्ठ का सम्मान सुरक्षित रहता है और अपने से छोटो को विनीत होने की शिक्षा मिलती है।

३ जिस आचार्य एव उपाध्याय के गण मे श्रुत-स्थविर विद्वान् मुनिवर यथासयम सूत्रो का वाचन कराते हैं, अध्ययन-अध्यापन की पद्धति को बनाए रखते है, उस गण में सदा-सर्वदा वातावरण शान्त रहता है और आगम की परम्परा सुस्थिर रहती है।

४. जिस आचार्य एवं उपाध्याय के गण मे नवदीक्षित, स्थविर तथा रोगी की यथायोग्य सेवा होती है, उस गण में अहिंसा और दया की वृद्धि से पूर्ण शान्ति रहती है, क्योंकि ये तीन तरह के साधक अनुकम्पा के पात्र होते है।

५. जिस आचार्य एवं उपाध्याय के गण मे सभी कार्य बडो को पूछकर ही किए जाते हैं, वह गण निरन्तर समुन्नत होता है, क्योंकि बड़ो से पृछकर कार्य करने पर बडो का आशीर्वाद मिलता है और अपनी सफलता के प्रति साधक के हृदय में किसी तरह की आशंका और भय नहीं रह जाता है। आशंकाओं और भय से मुक्त साधक ही लक्ष्य की ओर बढ सकता है।

६ जिस आचार्य एवं उपाध्याय के गण मे ज्ञान, दर्शन एवं चारित्रोपयोगी अप्राप्त साधनों की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न किया जाता हो, उस गण के साधक निश्चिन्त हो कर चारित्र की आराधना करते हुए गण की कीर्ति का विस्तार करते है।

७ जिस आचार्य एवं उपाध्याय के गण में प्राप्त साधना-उपकरणो की पूर्णतया सार-संभाल होती रहती है, उस गण में सदैव शान्ति बनी रहती है। यह समस्त वर्णन स्थविर-कल्पी सर्वविरतियो को लक्ष्य में रखकर किया गया है, क्योकि उपकरणों का सपादन, सरक्षण स्थविर-कल्पी ही करते हैं तथा इससे श्रुतधर्म और चारित्र-धर्म की वृद्धि होती है, वरिष्ठ मुनियों की विनीतता और कुशलता सिद्ध होती है।

जो सात बातें संग्रह स्थान मे कही गई है, उनसे विपरीत सभी बातें असग्रह-स्थान मे जान लेनी चाहिए। असंग्रह-स्थान से गण में भेद उत्पन्न होता है, भेद से संक्लेश और संक्लेश से गण का बिखर जाना स्वाभाविक ही है, इसलिए कहा गया है कि—

''जहिं नत्थि सारणा पडिचोयणा य गच्छम्मि।
सो उ अगच्छो गच्छो, मोत्तव्वो संजमत्थीहिं॥''

स्मारणा अर्थात् भूले हुए कर्त्तव्य को याद दिलाने वाली प्रणाली, वारणा—किसी अकर्त्तव्य में प्रवृत्त हुए को समझा-बुझाकर कर्त्तव्य में प्रवृत्ति कराना, प्रतिचोदना अर्थात् पुन: गलतिया करने पर कटु वाक्यों से ताडना न देकर अनुकूल वचनो से समझाना, इत्यादि क्रियाएं जिस गच्छ मे होती हैं, वही गच्छ है, इनके अभाव मे गच्छ अगच्छ बन जाता है और अगच्छभूत गच्छ साधको के लिए त्याज्य हो जाता है।

तपश्चर्या की प्रक्रियाएं

मूल—सत्तपिंडेसणाओ पण्णत्ताओ। सत्त पाणेसणाओ पण्णत्ताओ। सत्त उग्गहपडिमाओ पण्णत्ताओ। सत्त सत्तक्किया पण्णत्ता। सत्त महज्झयणा पण्णत्ता। सत्त सत्तमियाणं भिक्खुपडिमा एगूणपण्णत्ताए राइंदिएहिमेगेण य छण्णउएणं भिक्खासएणं अहासुत्तं (अहा अत्थं) जाव आराहियावि भवइ॥५॥

छाया—सप्त पिण्डैषणा: प्रज्ञप्ता·। सप्त पानैषणा: प्रज्ञप्ता:। सप्तावग्रहप्रतिमा: प्रज्ञप्ता:। सप्त सप्तिकका: प्रज्ञप्ता.। सप्त महाध्ययनानि प्रज्ञप्तानि। सप्त सप्तमिका: भिक्षुप्रतिमा एकोनपञ्चाशतारात्रिन्दिवैरेकेन च षण्णवत्या भिक्षाशतेन यथासूत्रं यावत् आराधिका भवन्ति।

शब्दार्थ—सत्त—सात, **पिंडेसणाओ पण्णत्ताओ**—पिण्डैषणाएं प्ररूपति की गई है। **सत्त पाणेसणाओ पण्णत्ताओ**—सात पानैषणाएं कथन की गई है। **सत्त उग्गह-पडिमाओ पण्णत्ताओ**—सात अवग्रह प्रतिमाए होती हैं। **सत्तसत्तक्किया पण्णत्ता**—सात सप्तैकक कथन किए गए हैं। **सत्त महज्झयणा पण्णत्ता**—सात महा-अध्ययन कथन किए गए हैं, **सत्त सत्तमियाणं**—सात सप्तमिका, **भिक्खुपडिमा**—भिक्षु की प्रतिमायें, **एगूणपण्णत्ताए**—उनचास, **राइंदिएहिं**—रात्रि दिनो मे, **एगेण य छण्णउएण्णं**, **भिक्खासएणं**—एक सौ

छियानवे भिक्षाओं द्वारा, **अहासुत्तं**—सूत्र मे किए गए वर्णन के अनुरूप, **जाव**—यावत्, **आराहियावि**—आराधित, **भवइ**—होती है।

मूलार्थ—सात पिण्डैषणाए हैं। सात पानैषणाएं हैं। सात अवग्रह-उपाश्रय सम्बन्धी प्रतिमाएं हैं। सात सप्तैकक हैं। सात महा अध्ययन हैं। सात सप्तमिका भिक्षु-प्रतिमायें हैं—जो उनचास रात्रि दिनो एवं एक सौ छियानवे भिक्षाओं के द्वारा आराधित होती हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में गण-संग्रह को लक्ष्य में रखकर आचार्य एवं उपाध्याय आदि की आज्ञा एव धारणा आदि का उल्लेख किया गया है। आज्ञा एव धारणा के द्वारा भिक्षु-वर्ग पिण्डैषणा आदि का उपयोग एवं आचरण करता है, अत: इस सूत्र में सूत्रकार पिण्डैषणा आदि का वर्णन करते हैं।

आगमों की भाषा में भोजन को पिंड कहा जाता है। निर्दोष आहार ग्रहण करने की जो भी विधिया हैं, वे पिंडैषणा कहलाती हैं। वह पिण्डैषणा सात प्रकार की होती है, जैसे कि—असंसृष्टा, ससृष्टा, उद्धृता, अल्पलेपिका, अवगृहीता, प्रगृहीता, और उज्झितधर्मा। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है, जैसे कि—

१ **असंसृष्टा**—दातार का हाथ या भिक्षा देने का बर्तन यदि अन्न आदि के ससर्ग से रहित हो तो निर्दोष आहार लेना।

२. **संसृष्टा**—दातार का हाथ और बर्तन अन्न आदि के ससर्ग वाला हो, तभी साधुवृत्ति के योग्य निर्दोष आहार लेना।

३. **उद्धृता**—यदि पतीली आदि बर्तनो से बाहर निकाला हुआ भोजन हो, तभी कल्पनीय आहार लेना।

४. **अल्पलेपिका**—भुने हुए चने आदि के रूप मे चिकनाहट से रहित आहार लेना।

५. **अवगृहीता**—जो गृहस्थ ने अपने खाने के लिए भोजन-पात्र मे भोजन रखा हुआ है उसमें से यदि वह देना चाहेगा तो लूंगा, अन्यथा नहीं।

६. **प्रगृहीता**—जो भोजन गृहस्थ ने अपने खाने या दूसरों को देने के लिए थाली मे रखा हुआ हो, उसमे से यदि कोई देगा तो लूगा, अन्यथा नही।

७. **उज्झितधर्मा**—जो आहार अधिक होने से गृहस्थ के घर मे बचा हुआ हो, वह लेना अथवा जिस भोजन को कोई भी लेना पसद नही करता, अत: जो फैंक देने के योग्य हो, वैसा आहार यदि मिले तो लूंगा, अन्यथा नही।

गच्छ मे विशिष्ट तपश्चर्या करने वाले साधु भी सात पिण्डैषणाओं का ग्रहण कर सकते हैं। जिनकल्पी, परिहार-विशुद्धि चारित्र वाले तथा भिक्षु प्रतिमाधारी साधु पहले की दो पिंडैषणाओ को छोड़कर शेष पांच का ग्रहण करते है। ये सात पिंडैषणाए अभिग्रह विशेष

हैं। इन सबका अन्तर्भाव वृत्ति-संक्षेप या भिक्षाचर्या तप मे होता है।

पिंडैषणा की तरह पानैषणा के भी सात ही प्रकार हैं, किन्तु चौथी पानैषणा मे इतनी विशेषता है, जो तिलोदक आदि विविध प्रकार का अचित्त पानी है वह पश्चात्-कर्म से रहित होना चाहिए।

अवग्रहप्रतिमा—यह प्रतिमा स्थान-विशेष से संबंध रखती है, क्योंकि अवग्रह प्रतिमा की यह व्युत्पत्ति है—**"अवगृह्यत इत्यवग्रहो वसतिस्तत्प्रतिमा:—अभिग्रहा अवग्रहप्रतिमा:"** साधुजन ठहरने के लिए जिस मकान, उपाश्रय या स्थान विशेष का उपयोग करते है, उससे सम्बन्धित सात अभिग्रह होते हैं, उन में से किसी एक का आश्रय लेकर निर्दोष स्थान में ठहरना अवग्रह-प्रतिमा है। इसके सात भेद निम्नलिखित हैं—

१ ग्राम, नगर आदि के अतर्गत जैसे स्थान विशेष में ठहरने का अभिग्रह धारण किया है, उससे अन्य प्रकार के स्थान मे न ठरहना। यह पहला अभिग्रह है।

२ मैं दूसरे साधुओं के लिए शुद्ध निर्दोष उपाश्रय की याचना करूगा, किन्तु मै स्वयं अन्य भिक्षुओ के द्वारा याचना किए हुए अवग्रह मे ही ठहरूगा। यह कथन साभोगिक, असांभोगिक तथा उद्युक्त-विहारी साधुओं की अपेक्षा से जानना चाहिए।

३. मै दूसरे मुनियों के ठहरने के लिए अवग्रह की याचना तो कर लूंगा, किन्तु स्वयं मै दूसरे भिक्षुओ के द्वारा ग्रहण किए हुए अवग्रह-स्थान मे नहीं रहूगा। यथालदिक साधु दो तरह के होते है—गच्छप्रतिबद्ध और अगच्छप्रतिबद्ध। आगम-ज्ञान प्राप्त करने के लिए जब कुछ साधु एक साथ मिलकर रहते है, उन्हे "गच्छ-प्रतिबद्ध" कहा जाता है। वे जिस आचार्य से आगमो का अध्ययन करते हैं उसके लिए तो अवग्रह ले लेते है, पर वे स्वयं दूसरे का लिया हुआ अवग्रह ग्रहण नही करते।

तप विशेष को "लन्द" कहते है। वस्त्र से पोंछने पर भी गीला हाथ जितने काल में सूखता है उतने काल से लेकर पाच अहोरात्र के समय को लन्द कहा जाता है। यह आगमो का पारिभाषिक शब्द है। तीसरी अवग्रह-प्रतिमा गच्छ-प्रतिबद्ध यथालदक की अपेक्षा से कथन की गई है।

४. चौथी प्रतिमा—मै अन्य भिक्षुओं के लिए अवग्रह की याचना तो नहीं करूंगा, किन्तु अन्य भिक्षुओं द्वारा याचित अवग्रह में ठहर जाऊंगा। जो साधु जिन कल्प की तैयारी में होते हैं एव उग्र तपस्वी तथा विशुद्ध-चारित्री होते हैं, वे ही ऐसी प्रतिमा धारण करते हैं। साधना में तल्लीन रहने से वे अपने लिए भी अवग्रह नहीं मांगते।

५. पाचवीं प्रतिमा—मै अपने लिए तो अवग्रह की याचना करूंगा, किन्तु दूसरे साधुओं के लिए नहीं। यह कथन उनके लिए है जो साधु आचार्य की आज्ञा लेकर जिन-कल्प ग्रहण करके अकेले ही विहार करते हैं।

६. छठी प्रतिमा—मै जिस गृहस्थ से अवग्रह ग्रहण करूंगा, उसी से शुष्क फूस,

ादिक भी ग्रहण करूगा अन्यथा मैं उत्कुटुक एव वीरासन आदि के द्वारा बैठा हुआ ही रात्रि व्यतीत कर दूगा। यह कथन प्रतिमा-प्रतिपन्न तथा जिनकल्पी आदि साधुओं के लिए है।

७. सातवीं प्रतिमा भी छठी के समान ही है। इसमें विशेषता इतनी ही है कि बिछा हुआ काष्ट-पट्टक, फूस आदि जैसा मिल जाएगा वैसा ही ग्रहण करूगा, दूसरा नहीं। यह प्रतिमा भी जिनकल्पी आदि साधुओ के लिए है।[1]

आचारांग सूत्र की दूसरी चूलिका मे सात अध्ययन हैं, उनमे उद्देशक न होने से वे एक समान है। प्रत्येक अध्ययन का नाम सप्त-एकक है, उस चूलिका के पहले अध्ययन में स्थान के विषय में कथन किया गया है, दूसरे अध्ययन मे नैषेधिकी का वर्णन है, तीसरे में उच्चार-प्रस्रवण का विषय वर्णित है, चौथे मे शब्द के विषय मे कहा गया है, पांचवे मे रूप का वर्णन है, छठे में परक्रिया का वर्णन है और सातवे मे अन्योऽन्य क्रिया का परिचय देकर उनका साधनामय जीवन मे निषेध किया गया है।

सूयगडांग सूत्र के दूसरे स्कध मे सात महाध्ययन है, जैसे कि पुडरीक अध्ययन, क्रियास्थान, आहार-परिज्ञा, प्रत्याख्यान-क्रिया, अनाचारश्रुत, आर्द्रकुमारीय, और नालदीय। इनकी पूर्ण व्याख्या उक्त सूत्र से जान लेनी चाहिए। आत्मार्थी मुनियों को दूसरी चूलिका के लिए सात महाध्ययन अवश्यमेव पठनीय है।

सप्त-सप्तमिका यह साधना भिक्षु-प्रतिमा के अतर्गत है। यह सात सप्ताह मे पूरी होती है, पहले सप्ताह में प्रतिदिन एक दत्ति भोजन की और एक दत्ति पानी ग्रहण की जाती है। दूसरे सप्ताह मे दो-दो दत्तियां प्रतिदिन ली जाती है। इसी क्रम से सातवे सप्ताह मे प्रतिदिन सात-सात दत्तियां एक सप्ताह पर्यन्त ली जाती हैं।

सब दत्तियों का कुल जोड १९६ होता है। यद्यपि सूत्रकार ने प्राय. अन्न की दत्तिया ही ग्रहण की हैं, किन्तु पानक-दत्ति भी भिक्षा शब्द से ग्रहण-करनी चाहिए, इसीलिए सूत्रकर्ता ने "**छण्णउएणं भिक्खासएण**" यह पद दिया है, १९६ भिक्षा-दत्तिएं है, जिसमे अन्न और पानी दोनों ग्रहण किए जाते है। एक धारा से जब खाद्य पदार्थ पात्र मे गिरता है, तब उसे एक दत्ति कहते है। जिस घर मे भोजन करने वाले एक या दो सदस्य हो, ऐसे निर्धन एवं साधारण कुलो मे भिक्षा के लिए जाना वह भी तब, जब कि वे खा चुके हो, जिनको देना है, उन्हे दे चुके हों, फिर बची हुई देय वस्तु निर्दोष हो, तो ग्रहण करना है। ऐसे समय मे दत्ति का हिसाब ठीक बैठ जाता है। एक दत्ति मे अधिक आहार की संभावना नही रहती है।

इस विषय में कुछ पद विशेष पठनीय है। जैसे कि **अहासुत्तं**—जैसे भी सूत्र मे विधि-विधान वर्णित है। **अहाकप्पं**—जैसे उस अनुष्ठान का कल्प अर्थात् मर्यादा है।

---

१. इन सात प्रतिमाओ का विस्तृत वर्णन आचाराग सूत्र के दूसरे स्कध के १६वे अध्ययन मे है।

अहामग्गं—जैसे भी मोक्षमार्ग है। **अहातच्चं**—तत्त्व के अनुसार अथवा याथातथ्य—सत्य के अनुसार। **अहासम्मं**—समता के अनुसार। **काएण फासिया**—प्रतिमाओं का पालन मनोरथ मात्र से नहीं, बल्कि काय से स्पर्श किया है। **पालिया**—उचित काल में ग्रहण किए हुए का उपयोग पूर्वक पालन किया है। **सोहिया**—पारणे के दिन गुरु आदि द्वारा प्रदत्त अवशिष्ट आहार से पारणा किया अथवा अतिचार रूप कीचड़ से प्रक्षालन से शुद्धि की है। **तीरिया**—जितनी अवधि उस के पारणे की है उसे पूरा किया है। **किट्टिया**—कीर्तित, पारणे के दिन अभिग्रह विशेष के फलित होने पर ही पारणा किया है। **आराहिया**—सम्यक् प्रकार से आराधन किया है। **आणाए अणुपालिया**—भगवान की आज्ञानुसार निरन्तर पालन किया है। इन विशेषणों सहित उत्तरगुणो की आराधना करके ही साधक आराधक बनता है। आराधक जीव ही अनन्त सुख का पात्र बन सकता है।

पृथिवी घनोदधि और घनवात आदि

मूल—अहेलोए णं सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, सत्त घणोदहीओ पण्णत्ताओ। सत्त घणवाया पण्णत्ता। सत्त तणुवाया पण्णत्ता। सत्त उवासंतरा पण्णत्ता। एतेसु णं सत्तसु उवासंतरेसु सत्त तणुवाया पइट्ठिया। एएसु णं सत्तसु तणुवाएसु सत्तघणवाया पइट्ठिया। एएसु णं सत्तसु घणवाएसु सत्तघणोदही पइट्ठिया। एएसु णं सत्तसु घणोदहीसु पिंडलगपिहुणसंट्ठाण संठिआओ सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, तं जहा पढमा जाव सत्तमा। एएसि णं सत्तण्हं पुढवीणं सत्त णामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—घम्मा, वंसा, सेला, अंजणा, रिट्ठा, मघा, माघवई। एयासिं णं सत्तण्हं पुढवीणं सत्त गोत्ता पण्णत्ता, तं जहा—रयणप्पभा, सक्करप्पभा, बालुयप्पभा, पंकप्पभा, धूमप्पभा, तमप्पभा, तमतमाप्पभा॥६॥

छाया—अधोलोके सप्त पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः। सप्त घनोदधयः प्रज्ञप्ताः। सप्त घनवाताः प्रज्ञप्ता। सप्त तनुवाताः प्रज्ञप्ता.। सप्तावकाशान्तराणि प्रज्ञप्तानि। एतेषु सप्तस्व-वकाशान्तरेषु सप्त तनुवाताः प्रतिष्ठिताः। एतेषु सप्तसु तनुवातेषु सप्त घनवाताः प्रतिष्ठिताः। एतेषु सप्तसु घनवातेषु सप्त घनोदधयः प्रतिष्ठिताः। एतेषु सप्तसु घनोदधिषु पटलकपृथुलसंस्थानसंस्थिताः सप्त पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—प्रथमा यावत् सप्तमा। एतासां सप्तानां पृथिवीनां सप्त नामध्येयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—धर्मा, वंशा, शैला, अञ्जना, रिष्टा, मघा, माघवती। एतासां सप्तानां पृथिवीनां सप्तगोत्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा, तमतमा-प्रभा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—अधोलोक में सात पृथ्वियां हैं। सात घनोदधि हैं। सात घनवात है। सात तनुवात हैं। सात अवकाशान्तर हैं। इन सात अवकाशान्तरों मे सात तनुवात प्रतिष्ठित है। इन सात तनुवातों पर सात घनवात प्रतिष्ठित हैं। इन पर सात घनोदधि प्रतिष्ठित हैं। इन सात घनोदधियों पर फूलों की चंगेर के समान पृथुल संस्थान से संस्थित सात पृथिवियां कथन की गई है, जैसे—पहली से लेकर सातवीं तक। इन सात पृथ्वियों के सात नाम हैं, जैसे—घम्मा, वशा, शैला, अञ्जना, रिष्ठा, मघा, माघवती। इन सात पृथिवियो के सात गोत्र वर्णन किए गए हैं, जैसे—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूम्रप्रभा, तमा-प्रभा, तमतमा-प्रभा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे तपश्चर्या आदि का वर्णन किया गया है। पिण्डैषणा आदि से युक्त आचार का पालन किसी न किसी भूमि पर ही हो सकता है, प्रस्तटो एवं विमानों मे नहीं, अतः अब सूत्रकार पृथ्वी आदि का परिचय देते है।

नीचे लोक में सात पृथ्वियां हैं। सात घनोदधि है, सात घनवात है, सात ही तनुवात है और सात ही उवासान्तर हैं। पृथ्वी घनोदधि पर आधारित है, घनोदधि घनवात पर, घनवात तनुवात पर और तनुवात आकाश पर आधारित है। शेष छः पृथिवियो का भी उपर्युक्त क्रम है। इनका विशेष परिचय निम्नतालिका से प्राप्त हो सकता है।

जैसे कि—

पृथ्वी	नाम	गोत्र	मोटाई (योजन-प्रमाण)
१	घम्मा	रत्न प्रभा	१८००००
२	वशा	शर्करा-प्रभा	१३२०००
३	शैला	बालुका-प्रभा	१२८०००
४	अजना	पकप्रभा	१२००००
५	रिष्टा	धूमप्रभा	११८०००
६	मघा	तमप्रभा	११६०००
७	माघवती	तमतमाप्रभा	१०८०००

इन पृथ्वियो का सस्थान अर्थात् आकार फुलों की चगेरी की तरह है। इनका व्यास क्रमशः एक राजू, दो राजू, तीन राजू, चार राजू, पाच राजू, छः राजू और सातवी पृथिवी सात राजू लम्बी-चौड़ी है और सब का परस्पर अतर एक-एक राजू है। सभी घनोदधियों की मोटाई बीस-बीस हजार योजन की है। इनके घनवात, तनुवात तथा आकाशान्तर सभी असख्यात-असंख्यात योजन प्रमाण है।

नीचे लोक मे सात पृथ्विया है। इस कथन से सिद्ध होता है कि पृथिवी ऊर्ध्वलोक में भी है, जिसे ईषत्प्राग्भार कहते हैं। यद्यपि पहली पृथिवी के ऊपर ९०० योजन पर्यन्त तिर्यग्लोक है तथापि देशोन होने से सूत्रकार ने उसका ग्रहण नही किया और न ही इस मे कोई दोष ही है। नाम और गोत्र मे यह अतर है, गोत्र अन्वर्थ होता है और नाम अन्वर्थ नही होता। इनका विस्तृत विवरण जीवाभिगम सूत्र से जानना चाहिए।

बादर वायुकाय

मूल—सत्तविहा बायरवाउकाइया पण्णत्ता, तं जहा—पाईणवाए, पडीणवाए, दाहिणवाए, उदीणवाए, उड्ढवाए, अहोवाए, विदिसिवाए ॥७॥

छाया—सप्तविधा बादरवायुकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्राचीनवातः, प्रतीचीनवातः, दक्षिणवातः, उदीचीनवातः, ऊर्ध्ववातः, अधोवातः, विदिग्वातः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात प्रकार का बादर अर्थात् स्थूल वायुकाय कथन किया गया है, जैसे—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और विदिशाओं का वायु।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे सात पृथिवियों और सात घनवात आदि का परिचय दिया गया है। बादर वायु पृथिवी पर चला करती है, क्योंकि बादर वायु भी जीवन का एक अंग है। वायु का प्रभाव किसी न किसी ओर रहता ही है, वह कभी स्थिर एव अचल नहीं रहती, क्योकि उसका नाम ही सदागति है, अत. प्रस्तुत सूत्र में बादर वायु की गति और आगति पर प्रकाश डाला गया है।

पूर्व से चलने वाली वायु प्राचीनवात, पश्चिम से चलने वाली वायु प्रतीचीनवात, दक्षिण से आने वाली वायु दक्षिणवात, उत्तर से आने वाली वायु उदीचीनवात, ऊपर से नीचे की ओर आने वाली वायु ऊर्ध्ववात, नीचे से ऊपर को उठने वाली वायु अधोवात और वायव्य-ईशान आदि कोणों से आने वाली वायु विदिग्वात कहलाती है। सभी दिशाओ में स्थूलवात चलता ही रहता है, अतः उसी के भेद उपस्थित किए गए हैं। सूक्ष्म वायु सर्वलोक मे व्याप्त है, इसलिए उसके भेदों का कथन नही किया गया है।

सप्तविध संस्थान

मूल—सत्त संट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—दीहे, रहस्से, वट्टे, तंसे, चउरंसे, पिहुले, परिमंडले ॥८॥

छाया—सप्त संस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दीर्घ, ह्रस्वं, वृत्तं, त्र्यस्रं, चतुरस्रं, पृथुलं, परिमण्डलम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात संस्थान अर्थात् आकार कथन किए गए हैं, जैसे—दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, अर्थात् गोल, त्र्यस्र अर्थात् तिकोना, चतुरस्र अर्थात् चौकोर, पृथुल अर्थात् विस्तीर्ण, परिमण्डल अर्थात् कंकणाकार गोल।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वायुकाय का वर्णन किया गया है। वायुकाय यद्यपि अदृश्य है, तथापि वह किसी न किसी संस्थान से युक्त है, अत: प्रस्तुत सूत्र में पुद्गल के सात संस्थानों के नामों का निर्देश किया गया है। जो वस्तु धागे, फीते एवं यष्टि आदि की तरह दीर्घ आकार वाली होती है उसके संस्थान को आयत संस्थान कहते है। यह आयत संस्थान जब बहुत लम्बाई वाला होता है, तभी उसे दीर्घ-आयत संस्थान कहा जाता है और जब वह थोडी लम्बाई वाला होता है तो उसे ह्रस्व-आयत-संस्थान कहा जाता है। कुछ वस्तुए गेद की तरह गोलाकार होती हैं, उनका संस्थान वृत्त-सस्थान कहलाता है। कुछ वस्तुए तिकोण होती हैं, उनका संस्थान त्र्यस्र कहलाता है, कुछ वस्तुए चौकी की तरह चौकोर होती है, उनका सस्थान चतुरस्र कहलाता है। कुछ वस्तुएं चूड़ी एवं कुडल के आकर वाली होती हैं, उनका संस्थान परि-मंडल कहलाता है।

वस्तुत: संस्थान पांच ही होते हैं। ह्रस्व और पृथुत्व इन दो संस्थानों को अलग दिए जाने का आशय यह है कि उक्त पाच संस्थान कुछ छोटे आकार के होते है और कुछ बडे विस्तार वाले एवं कुछ मोटाई वाले होते हैं। इस दृष्टि से सस्थान सात प्रकार के कहे गए है। ये सातो सस्थान पुद्गलास्तिकाय में ही पाए जाते है, अन्यत्र नही।

भय-स्थान

मूल—सत्त भयट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—इहलोगभए, परलोगभए, आदाणभए, अकम्हाभए, वेयणभए, मरणभए, असिलोगभए ॥९॥

छाया—सप्तभय स्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—इहलोकभयम्, परलोकभयम्, आदानभयम्, अकस्माद्भयं, वेदनाभयं, मरणभयं, अश्लोकभयम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात भयस्थान वर्णन किए गए हैं, जैसे कि—मनुष्य के द्वारा मनुष्य को होने वाला भय इहलोकभय है, विजातीय पशु आदि के द्वारा मनुष्य को होने वाला भय परलोक भय है, चौर आदि के द्वारा होने वाला भय आदान भय है, रात्रि आदि में अचानक होने वाला भय अकस्मात् भय है, वेदना अर्थात् पीड़ा का भय, मृत्यु का भय और अपयश का भय।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सप्तविध सस्थानो का वर्णन किया गया है। कुछ सस्थान भ्रान्ति वश भय-जनक भी हुआ करते हैं, अत: अब सूत्रकार सप्तविध भय का परिचय देते

हैं। मोहनीय कर्म-प्रकृति के उदित होने पर एक प्रकार का मनोविकार जो आपत्ति या अनिष्ट की आशंका से मन मे उत्पन्न होता है उसे भय कहा जाता है। यह त्रस प्राणियो में स्वाभाविक रूप से पाया जाता है। यद्यपि भय पैदा होने के अगणित कारण हैं, परन्तु उन सबका अन्तर्भाव भय के सात भेदों में ही हो जाता है। वास्तविक घटना घटने से पहले ही भय की संभावना का आभास होने लग जाया करता है। वे सात भयस्थान निम्नलिखित हैं, जैसे कि—

१. **इहलोकभय**—अपनी ही जाति के प्राणी से उत्पन्न भय, जैसे मनुष्य-मनुष्य से, देव-देव से, तिर्यञ्च-तिर्यञ्च से और नारकी-नारकी से डरते हैं, इसी को इहलोक भय कहा गया है। यहां 'इहलोक' से अभिप्राय यह संसार नही है।

२ **परलोकभय**—दूसरी जाति के प्राणी से उत्पन्न भय, जैसे मनुष्य तिर्यञ्च से डरते हैं, तिर्यञ्च मनुष्य से डरते हैं। मनुष्य देव से डरते है, और देव मनुष्य से डरा करते हैं। इस तरह विजातीयों से उत्पन्न भय को परलोक-भय कहते है।

३. **आदान-भय**—धनादि वस्तुओं की रक्षा के उद्देश्य से, चोर आदि से होने वाला भय आदान-भय कहलाता है।

४. **अकस्माद्-भय**—बाहर के निमित्तो की अपेक्षा न रखते हुए अचानक होने वाले किसी भयानक शब्द को सुनकर किसी भयजनक घटना आदि को देखकर उत्पन्न होने वाला भय अकस्माद्-भय कहलाता है।

५. **वेदनाभय**—रोग या पीड़ा की संभावना से उत्पन्न होने वाला भय वेदनाभय होता है।

६. **मरणभय**—मरण के सभी कारणों से डरना मरण-भय है।

७ **अश्लोक-भय**—अपयश होने का भय। जब जीव श्रेष्ठ क्रियाओं मे प्रवृत्ति नही करता और अशुभ क्रिया किए बिना उससे रहा नहीं जाता तब इस भय का उदय होता है। धर्मात्मा के लिए सभी प्रकार के भय त्याज्य हैं। प्रश्नव्याकरण सूत्र के दूसरे संवर-द्वार की भावना मे लिखा है "**भीतो भूतेहिं घिप्पइ**" भयभीत भूतो से पकडा जाता है।

उपर्युक्त भय-भेदों से यह ध्वनित होता है कि 'भय' आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह लोक-परिस्थिति-जन्य एक प्रकार का भाव है जो स्व-पर के भेद की भावना से उत्पन्न होता है। आज तक कभी किसी को अपने आप से डरते नही देखा गया, फिर भी सब डरते हैं पर दूसरों से। डर का मुख्य कारण है आत्म-निर्बलता। सबल आत्मा में भय की वृत्ति कभी उत्पन्न नहीं हो सकती है, अत: भय पर विजय पाने के लिए स्व-पर के भेद का त्याग एव आत्मबल की जागृति आवश्यक है। साधक को इन्हीं दो गुणों को प्राप्त कर भय मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए।

छद्मस्थ एवं केवली लक्षण

मूल—सत्तहिं ठाणेहिं छउमत्थं जाणेज्जा, तं जहा—पाणे अइवाएत्ता भवइ, मुसं वइत्ता भवइ, अदिन्नमादित्ता भवइ, सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे आसाएत्ता भवइ, पूयासक्कारमणुबूहेत्ता भवइ, इम सावज्जंति पण्णवेत्ता, पडिसेवेत्ता भवइ, णो जहावाई तहाकारी यावि भवइ।

सत्तहिं ठाणेहिं केवली जाणेज्जा, तं जहा—णो पाणे अइवाइत्ता भवइ, जाव जहावाई तहाकारी यावि भवइ ॥१०॥

छाया—सप्तभिः स्थानैः छद्मस्थं जानीयात्, तद्यथा—प्राणान् अतिपातयिता भवति, मृषा वदिता भवति, अदत्तमादाता भवति, शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धान् आस्वादयिता भवति, पूजासत्कारमनुबृंहयिता भवति, इदं सावद्यं—इति प्रज्ञाप्य प्रतिषेविता भवति, नो यथावादी तथाकारी चापि भवति।

सप्तभिः स्थानैः केवलिनं जानीयात् तद्यथा—नो प्राणान् अतिपातयिता भवति, यावत् यथावादी तथाकारी चापि भवति।

शब्दार्थ—सत्तहिं ठाणेहिं—सात लक्षणो से, **छउमत्थं**—छद्मस्थ को, **जाणेज्जा**—जाना जा सकता है, **पाणे अइवाएत्ता भवइ**—वह प्राणियो की हिंसा करने वाला होता है, **मुसं वइत्ता भवइ**—मृषा अर्थात् झूठ बोलने वाला होता है, **अदिन्नमादित्ता भवइ**—चोरी करने वाला होता है, **सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे**—शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धो को, **आसाएत्ता भवइ**—आस्वादन करने वाला होता है, **पूयासक्कारमणुबूहेत्ता भवइ**—पूजा सत्कार को पाकर हर्ष मानने वाला होता है, **इमं सावज्जं**—ये समस्त कार्य सावद्य है, **इति पण्णवेत्ता पडिसेवेत्ता भवइ**—ऐसा कहकर फिर भी उन्हीं का सेवन करने वाला होता है, **णो जहावाई तहाकारी यावि भवइ**—वह जैसा बोलता है, वैसा करने वाला नही होता है।

सत्तहिं ठाणेहिं—सात लक्षणों से, **केवली जाणेज्जा**—केवली भगवान को जाना जा सकता है, **तं जहा**—जैसे, **णो पाणे अइवाइत्ता भवइ**—प्राणियो की हिंसा करने वाला नहीं होता है, **जाव**—यावत्, **जहावाई तहाकारी यावि भवइ**—जैसा बोलता है, वैसा ही करने वाला होता है।

मूलार्थ—सात लक्षणो से छद्मस्थ जाना जाता है, जैसे कि वह प्राणियो की हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, शब्द-स्पर्श-रस-रूप और गन्ध का आस्वादन करता है, पूजा सत्कार पा कर प्रसन्न होता है, किसी कार्य को पाप बता कर पुनः उसी का आचरण करता है और जैसा कथन करता है, वैसा आचरण नहीं करता।

सात लक्षणों से केवली पहचाने जाते है, जैसे कि वे प्राणियो की हिंसा नहीं करते हैं, यावत् जो कहते है, उसी के अनुरूप आचरण करते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सात प्रकार के भयो का वर्णन किया गया है। भयभीत वही होता है जो छद्मस्थ है अर्थात् जो रागद्वेषादि से मुक्त नही हुआ है, अत: प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने पहले तो भयभीत होने वाले छद्मस्थ के लक्षण बताए है और फिर केवली भगवान के लक्षणों का भी निर्देश किया है जो भयमुक्त हैं। सात लक्षण ऐसे है जिन से छद्मस्थ को पहचाना जा सकता है, जैसे कि—

१. चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से छद्मस्थ साधक प्रमत्तयोग से प्राणातिपात करने वाला होता है। उससे जाने या अनजाने मे कभी न कभी जीव-हिंसा हो ही जाती है। हिंसा छद्मस्थ का लक्षण है।

२ चारित्र मोहनीय के उदय से कभी न कभी छद्मस्थ साधक प्रमत्तयोग से असत्य भी बोल जाता है, असत्य बोलने से यह ज्ञात हो जाता है कि यह साधक अभी छद्मस्थ है।

३ छद्मस्थ से कभी न कभी अदत्तादान—बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण भी हो जाता है और वह उसका सेवन भी कर लेता है। यह छद्मस्थ का तीसरा लक्षण है।

४. शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गध ये पाच इन्द्रियों के पांच विषय हैं। छद्मस्थ इनका आस्वादन करता रहता है। जब तक इन पाच इन्द्रिय-विषयो का आस्वादन होता रहेगा, तब तक साधक की छद्मस्थ स्थिति बनी रहेगी।

५. छद्मस्थ साधक अपने आदर-सत्कार, पूजा-प्रतिष्ठा, मान-बडाई की कामना करता है और पूजा-सत्कार होने पर प्रसन्न भी होता है।

६ छद्मस्थ साधक यह जानता है कि यह वस्तु आधा-कर्म आदि दोषो से दूषित है, ऐसा जानते हुए फिर भी वह उसका सेवन कर लेता है। यह सावद्यकर्म है—अकृत्य कार्य है, ऐसा जानते हुए या कहते हुए भी जब वह उसका सेवन कर लेता है तो उसकी छद्मस्थता की पहचान हो जाती है।

७. छद्मस्थ व्यक्ति जैसा कहता है, वैसा करता नही है।

यह सूत्र सामान्य व्यक्ति से लेकर जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नही हो जाती, तब तक चार ज्ञान के धारण करने वाले तथा चौदह पूर्वधर मुनिवरो पर्यन्त सभी से संबंध रखता है। उत्तम मुनिवर अतिचारो से बचने का पूरा प्रयास करते है। उक्त सात लक्षणों से अल्पज्ञ आत्मा की पहचान होती है। जब तक साधक निरतिचार सयम का पालन नहीं कर सकता तथा वीतराग दशा को प्राप्त नही कर लेता तब तक उसे छद्मस्थ ही कहा जाता है।

जो हिंसा के दोष से सर्वथा मुक्त है, एकान्त सत्य के आलोक मे पहुंच चुका है, अदत्तादान के दोष से अछूता है, पांच काम-गुणो के आस्वादन की इच्छा से रहित है, अपनी

पूजा-प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार का समर्थन नही करता है। जिस वस्तु को आधा-कर्म आदि होने से सदोष समझता है उसका सेवन वह कभी नहीं करता है, वह जैसा कहता है, वैसा ही करता है। इन लक्षणों से केवली की पहचान होती है। केवली भगवान का चारित्र-मोहनीय कर्म सर्वथा क्षय हो जाता है, शेष तीन घाति कर्म भी क्षय हो जाते हैं, अत: उनका चारित्र अतिक्रम आदि दोषो से सर्वथा रहित एवं विशुद्ध होता है। इस कारण वे उक्त सात बातों का सेवन नहीं करते है।

सप्त मूलगोत्र

मूल—सत्त मूलगोत्ता पण्णत्ता, तं जहा—कासवा, गोयमा, वच्छा, कोच्छा, कोसिया, मंडवा, वासिट्ठा।

जे कासवा, ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा—ते कासवा, ते संडेल्ला, ते गोल्ला, ते बाला, ते मुंजतिणो, ते पव्वपेच्छतिणो, ते वरिसकण्हा।

जे गोयमा, ते सत्तविहा पण्णत्ता तं जहा—ते गोयमा, ते गग्गा ते भारद्दा, ते अंगिरसा, ते सक्कराभा, ते भक्खराभा, ते उदगत्ताभा।

जे वच्छा, ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा—ते वच्छा, ते अग्गेया, ते मित्तिया, ते सामिलिणो, ते सेलतया, ते अट्ठिसेणा, ते वीयकम्हा।

जे कोच्छा, ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा—ते कोच्छा, ते मोग्गलायणा, ते पिंगलायणा, ते कोडीणा, ते मंडलिणो, ते हारित्ता, ते सोमया।

जे कोसिया, ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा—ते कोसिया, ते कच्चायणा, ते सालंकायणा, ते गोलिकायणा, ते पक्खिकायणा, ते अग्गिच्चा, ते लोहिया।

जे मंडवा, ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा—ते मंडवा, ते अरिट्ठा, ते समुया, ते तेला, ते एलावच्चा, ते कंडिल्ला, ते खारायणा।

जे वासिट्ठा, ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा—ते वासिट्ठा, ते उंजायणा, ते जारेकण्हा, ते वग्घावच्चा, ते कोडिन्ना, ते सण्णी, ते पारासरा ॥११॥

छाया—सप्त मूलगोत्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—काश्यपा:, गौतमा:, वत्सा:, कुत्सा:, कौशिका:, मण्डवा:, वासिष्ठा:।

ये काश्यपास्ते सप्तविधा: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ते काश्यपा:, ते शाण्डिल्या:, ते गौल्या:, ते बाला:, ते मौञ्जिकिन:, ते पर्वप्रशिकिन:, ते वर्षकृष्णा:।

ये गौतमास्ते सप्तविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ते गौतमाः, ते गार्गाः, ते भारद्वाजाः, ते अङ्गिरसाः, ते शर्कराभाः, ते भास्कराभाः, ते उदात्ताभाः।

ये वत्सास्ते सप्तविधाः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ते वत्साः, ते अग्निजाः, ते मैत्रेयाः, ते स्वामिलिनः, ते शैलकजाः, ते अस्थिषेणाः, ते वातकृष्णाः।

ये कुत्सास्ते सप्तविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ते कुत्साः, ते मौद्गलायनाः, ते पिंगलायनाः, ते कोडीनाः, ते मण्डलिनः, ते हारीता·, ते सौमकाः।

ये कौशिकास्ते सप्तविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ते कौशिकाः, ते कात्यायनाः, ते शालङ्कायनाः, ते गोलिकायनाः ते पाक्षिकायनाः, ते आग्नेया, ते लौहित्याः।

ये मण्डवास्ते सप्तविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ते मण्डवाः, ते अरिष्टाः, ते संमुक्ताः, ते तैलाः, ते एलापत्याः, ते काण्डिल्याः, ते क्षारायाणाः।

ये वासिष्ठास्ते सप्तविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ते वासिष्ठाः, ते उञ्जायनाः, ते जारुकृष्णाः, ते व्याघ्रापत्याः, ते कौण्डिन्याः, ते संज्ञिनः, ते पाराशराः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात मूल गोत्र है, जैसे—काश्यप, गौतम, वत्स, कुत्स, कौशिक, मण्डव, वासिष्ठ।

काश्यप सात प्रकार के है, जैसे—काश्यप, शाण्डिल्य, गौल्य, बाल, मुञ्जकी, पर्व-प्रेक्षिकी, वर्षकृष्ण।

गौतम सात प्रकार के होते है, जैसे—गौतम, गर्ग, भारद्वाज, आङ्गिरस, शर्कराभ, भास्कराभ, उदात्ताभ।

वत्स सात प्रकार के है, जैसे—वत्स, अग्निज, मैत्रेय, स्वामिली, शैलकज, अस्थिषेण, वातकृष्ण।

कुत्स सात प्रकार के हैं, जैसे—कुत्स, मौद्गलायन, पिङ्गलायन, कोडीन, मण्डली, हारीत, सोमक।

कौशिक सात प्रकार के है, जैसे—कौशिक, कात्यायन, शालङ्कायन, गोलिकायन, पाक्षिकायन, आग्नेय, लौहित्य।

मण्डव सात प्रकार के हैं, जैसे—मण्डव, अरिष्ठ, संमुक्त, तैल, ऐलापत्य, काण्डिल्य, क्षारायण।

वासिष्ठ सात प्रकार के हैं, जैसे—वासिष्ठ, उञ्जायन, जारुकृष्ण, व्याघ्रापत्य, कौण्डिन्य, संज्ञी, पाराशर।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में छद्मस्थ साधकों के लक्षण बताए गए हैं। छद्मस्थता मे

साधक मोक्ष तो प्राप्त नहीं कर सकते, परन्तु वे देवलोकों मे आयु पर्यन्त निवास करके पुनः जब पृथ्वी पर अवतरण करते हैं, तब वे उच्च गोत्रों में जन्म लिया करते हैं, अब सूत्रकार उन उच्च गोत्रों के नामों का उल्लेख करते हैं। गोत्र का अर्थ है वंश या कुल, जो उसके किसी मूलपुरुष के अनुसार होता है। मूल गोत्र सात हैं। प्रत्येक गोत्र के सात-सात भेद होने से गोत्रो के कुल भेद ४९ होते हैं।

२०वे, २२वे और २३वे तीर्थंकर को छोड़कर शेष सभी तीर्थंकर काश्यपगोत्री हुए है। १२ चक्रवर्ती, ७वे गणधर और जम्बूस्वामी ये सब काश्यप गोत्री हुए है।

२०वे, २२वें और २३वे तीर्थकर, सभी वासुदेव, पहले और तीन आठवें गणधर तथा दसपूर्वधर वयर स्वामी, ये सब गौतम गोत्री थे। दशवैकालिक सूत्र के प्रणेता शय्यंभव स्वामी वत्स गोत्री हुए हैं। शिवभूति का जन्म कुत्सगोत्र में हुआ है। षडुलूक आदि कौशिक गोत्री हुए है।

मंडु की सतान परम्परा से चलने वाला माडवगोत्र है। वसिष्ठ की सतान परम्परा वासिष्ठ गोत्री कहलाते हैं। छठे गणधर का गोत्र वासिष्ठ था। काश्यप गोत्र क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्य इन तीनो वर्णो मे पाया जाता है। गौतम गोत्र क्षत्रिय और ब्राह्मण इन दो वर्णो में ही पाया गया है। गर्ग गोत्र ब्राह्मण और वैश्यवर्ण मे पाया जाता है, शेष गोत्रों के नाम निर्देश भावार्थ मे दिए गए हैं।

मूलनय-विश्लेषण

मूल—सत्त मूलनया पण्णत्ता, तं जहा—नेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूते ॥ १२ ॥

छाया—सप्त मूलनयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैगमः, संग्रहः, व्यवहारः, ऋजुसूत्रं, शब्दः, समभिरूढः, एवम्भूतः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात मूलनय वर्णन किए गए है, जैसे—नैगम-नय, संग्रह-नय, व्यवहार-नय, ऋजुसूत्र-नय, शब्द-नय, समभिरूढ-नय और एवभूत-नय।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे गोत्रो का वर्णन किया गया है, गोत्र-विभाग नय-विशेष से होता है, अत. प्रस्तुत सूत्र में मूल शब्द की अनुवृत्ति से सात मूल-नयो के नामोल्लेख किए गए हैं। मूल का प्रयोग वही हो सकता है, जहां उसके उत्तरभेद भी बने हो। प्रत्येक नय के १००-१०० भेद होने से उत्तरनय ७०० बनते है। आचार्य सिद्धसेन ने नैगमनय का समावेश संग्रह और व्यवहार-नय मे किया है। नैगमनय क्योंकि सामान्य और विशेष दोनो को मानता है, अतः जो सामान्यांश है, वह सग्रह में और विशेषाश को व्यवहार नय में गर्भित करते हैं। इस दृष्टि से मूलनय ६ ही रह गए है, अतः उनके उत्तरभेद ६०० होते हैं।

कुछ आचार्यों के मत से मूलनय पांच ही है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्दनय। समभिरूढ और एवंभूत इन दो नयो का अंतर्भाव शब्दनय मे करके मूलनय पाच और उनके उत्तरभेद ५०० माने है।

जिस दृष्टिकोण के द्वारा श्रुत प्रमाण से ग्रहण किए गए पदार्थ के एक ही अंश का चिन्तन किया जाए तथा वक्ता के अभिप्राय विशेष को भी नय कहते है। नयो के निरूपण का अर्थ है विचारो का वर्गीकरण—विचारों की मीमासा। नयवाद की सक्षिप्त परिभाषा है—परस्पर विरुद्ध दीखने वाले विचारो के मूल कारणो की खोजपूर्वक उन सब मे समन्वय करने वाला सिद्धान्त। उदाहरण के रूप मे आत्मा के विषय मे परस्पर विरोधी मन्तव्य मिलते हैं—किसी का कहना है कि आत्मा एक है और किसी का कहना है आत्माएं अनेक हैं, एकत्व और अनेकत्व परस्पर विरोधी हैं, ऐसी दशा मे किसका मन्तव्य सत्य है और किसका असत्य ? उनके विचारो की सगति कैसे हो सकती है ? इस बात की खोज नयवाद ने की है। वह कहता है—व्यक्ति की दृष्टि से आत्माए अनेक है और उपयोग की दृष्टि से एक भी है, क्योकि ऐसा कोई जीव नही है जो उपयोग से शून्य हो। चैतन्य की दृष्टि से आत्मा एक है। इस प्रकार समन्वय करके परस्पर विरोधी मालूम पडने वाले वाक्यों मे एक-वाक्यता सिद्ध कर देने वाला सिद्धान्त ही नयवाद है। इसी तरह आत्मा के विषय में नित्यत्व-अनित्यत्व, कर्तृत्व-अकर्तृत्व आदि विरोधी तत्त्वो को नयवाद के द्वारा ही समाहित किया जा सकता है।

जो दृष्टिकोण किसी एक ही नय का आश्रय लेकर अन्य नयो का निषेध करता है, वह दुर्नय या मिथ्या एकान्तवाद है। किसी भी एक तत्त्व को यदि सात दृष्टिकोणों से देखा जाए, तभी वह नयवाद कहलाता है। जो विचार एक ही नय को मानकर चलता है, अन्य नयो के दृष्टिकोण को सहन नही करता, वह नय सत्य पर कसने से शुद्ध प्रमाणित नहीं होता, उसे ही दुर्नय कहा जाता है, तथा जितने तरह के वचन हैं, उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसिद्धान्त हैं। कहा भी है:—

''जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया।
जावइया नयवाया तावइया चेव परसमया॥''

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं, पहली यह कि नय के अगणित भेद हैं, दूसरी यह कि नय का वचन के साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि वचन के साथ नय का सम्बन्ध है, तो उपचार से नय को वचनात्मक भी कहा जा सकता है। प्रत्येक नय वचनो के द्वारा प्रकट किया जा सकता है, अत: अभिप्रायपूर्वक कहे गए वचन को भी नय कह सकते है। प्रस्तुत सूत्र में जिन सात नयो का उल्लेख किया गया है, उनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

१. नैगम-नय—जो नय एक गम अर्थात् एक विकल्प रूप ही न हो, किन्तु अनेक विकल्पो द्वारा अनेक मान-अनुमान और प्रमाणों द्वारा वस्तुस्वरूप का निरूपण करता हो,

पदार्थ को सामान्य-विशेष तथा उभयात्मक मानता हो, तीन काल की बात स्वीकार करता हो, चार निक्षेपों को अगीकार करता हो, किसी भी वस्तु में अंशमात्र गुण होने पर भी उसे पूर्णवस्तु मानता हो, वह ज्ञान नैगम-नय कहलाता है। कहा भी है—

"णेगाइं माणाइ सामन्नोभयविसेस नाणाइं।
तं तेहिं मिणइ तो णेगमो णओ णेगमाणोत्ति॥
लोगत्थनिबोहा वा निगमा तेसु कुसलो भवोवाऽयं।
अहवा जे णेगगमो णेगपहा णेगमो तेणं॥"

अर्थात् जो सामान्य और विशेष रूप से पदार्थ का स्वरूप समझता है, लौकिक अर्थ-बोध में कुशल है, जिसके अनेक मार्ग है, वास्तव मे वही नैगमनय है। जो दृष्टिकोण वस्तु में सामान्य-विशेष रूप धर्म अपेक्षा से अभिन्न मानता है वह नय सम्यक् है, किन्तु जो सामान्य और विशेष इन दो पदार्थो को अत्यन्त भिन्न मानता है वह मिथ्यानय है, उसे दूसरे शब्दो में नैगमनयाभास भी कहा जा सकता है।

२ **संग्रह-नय**—वस्तु की सत्ता को ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण ही संग्रह-नय है। यह नय भिन्न-भिन्न वस्तुओं या व्यक्तियों में रहे हुए किसी एक सामान्य तत्त्व के आधार पर सब मे एकता सिद्ध करता है। इसका कहना है कि पदार्थ की सत्ता ग्रहण करने मात्र से ही गुण और पर्यायो का ग्रहण हो जाता है। इस की दृष्टि महासामान्य की ओर रहती है, विशेष की ओर उदासीन होती है। इस नय का कहना है कि जब सामान्य से ही पूर्णतया अर्थ-बोध हो जाता है तो फिर विशेष मानने की क्या आवश्कता है? कहा भी है—

"सदिंति भणियम्मि जम्हा सव्वत्थाणुप्पवत्तए बुद्धी।
तो सव्वं तम्मत्तं नत्थि तदत्थंतरं किंचि॥
कुंभो भावाऽणन्नो जइ तो भावो अहऽन्नहाऽभावो।
एवं पडादओऽवि हु भावाऽनन्नत्ति तम्मत्ते॥"

अर्थात् सत्-वस्तु मानने से ही सभी पदार्थ ग्रहण किए जाते हैं, क्योंकि सत्ता मात्र ही सर्ववस्तुओ का मूल कारण है, अत: सत्ता को मानना समीचीन है। यह नय भी तीन कालो और चार निक्षेपो को स्वीकार करता है।

३. **व्यवहार-नय**—लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाले नय को व्यवहार-नय कहते हैं। यह नय भेद या विशेष को मानता है और प्रत्यक्षरूप से वस्तु का जैसा स्वरूप दिखलाई पडे, उसके अनुसार प्रवृत्ति करता है। इस नय की दृष्टि में बाह्य आचार और क्रिया ही महत्त्व रखती है। अन्त:करण के परिणामों की ओर यह ध्यान नहीं देता तथा सामान्य की ओर से भी उदासीन रहता है। इसकी विचार-धारा विशेषोन्मुखी होती है। कहा भी है—

"ववहरणं ववहरए से तेण ववहीरए व सामन्नं।
ववहारपरो य जओ विसेसओ तेण ववहारो॥"

इस नय का यह कथन है कि सभी व्यवहार विशेष पक्ष को लेकर चलते हैं, जैसे स्त्री-शब्द सामान्यवाची है पर माता, भगिनी, भार्या, मासी, दादी इत्यादि सम्बंध विशेष को लेकर ही चल सकते हैं। सग्रह-नय केवल सत् को ही ग्रहण करता है, जब कि व्यवहार-नय संग्रह के कुछ अशों को ही जानता है। यह नय भी पहले दो नयो की तरह तीन काल और चार निक्षेपों को मानता है। चार्वाक दर्शन की मान्यताएं व्यवहार-नयाभास के अन्तर्गत आती है।

४ ऋजुसूत्र-नय—जो विचार भूत और भविष्यत् काल की उपेक्षा करके केवल वर्तमान कालिक पर्याय को ही ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय है, क्योंकि अतीत काल के भाव विनष्ट हो चुके हैं और अनागत काल के भाव उत्पन्न नही हुए, अर्थक्रियाकारित्व केवल वर्तमान कालिक भाव ही है, अत: यह नय केवल वर्तमान रूप पर्याय को ही वस्तु मानता है और उसी के अनुरूप विश्लेषण करता है। कहा भी है—

''उज्जुं रिउं सुयं नाणमुज्जुसुयमस्स सोऽयमुज्जुसुओ।
सुत्तयइ वा जमुज्जुं वत्थुं तेणुज्जुसुत्तो त्ति॥''

वर्तमान काल के लिंग, वचन, नाम आदि भिन्न होने पर भी यह नय वस्तु मात्र को ग्रहण करता है, क्योंकि लिंग आदि भिन्न होने पर भी वस्तु अपने स्वरूप को नही छोडती, जैसे तटी, तट:, तटम्। यहां तट शब्द के वचन भिन्न होने पर भी अर्थ एक है, इसी प्रकार आपो जलम् इत्यादि मे भी समझना चाहिए। यह नय, नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से विभिन्न पदार्थो के वर्तमान कालिक पर्याय को ही स्वीकार करता है। कहा भी है—

''तम्हा निजगं संपयकालीयं लिंगवयण भिन्नंपि।
नामादि भेयविहियं पडिवज्जइ वत्थुमुज्जुसुयं त्ति॥''

वस्तु की वर्तमान कालिक पर्याय को ही वस्तु मानता है। भूत और भविष्यत् पर्याय को वस्तु नहीं मानता। यह चार निक्षेपो मे से केवल भाव निक्षेप को मानता है। इस नय से निश्चयनय का आरम्भ हो जाता है। बौद्धो का क्षणिकवाद ऋजुसूत्र नयाभास है।

५. शब्द-नय—यह नय काल, कारक, लिग, सख्या, पुरुष और उपसर्ग आदि भेद से शब्दों मे अर्थभेद का प्रतिपादन करता है, जैसे शक्र, पुरदर, शचीपति और देवेन्द्र इन सबको एक रूप ही मानता है, ये समस्त शब्द पुलिंगी होने से इन्द्र के पर्यायवाची नाम है। यह नय केवल भाव निक्षेप के आधार पर पर्यायवाची शब्दो को एक ही अर्थ वाला मानता हैं। नीचे लिखी गाथा मे शब्दनय की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है, जैसे कि—

''सवणं सवइ स तेण व सप्पए वत्थु जं तओ सद्दो।
तस्सऽत्थपरिग्गहओ तओ वि सद्दो त्ति हेतुव्व॥''

जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान हो वह शब्द है। उस शब्द के अर्थपरिग्रह से नय भी शब्द है। जैसे हेतु साध्य का परिचायक होता है, वैसे ही शब्द भी अर्थ का ज्ञापक होता है। जो विचार-सरणि काल-कारक आदि भेद से अर्थ में भेद मानती है, उसे शब्द-नय कहते है।

ऋजुसूत्र-नय वर्तमान कालिक पर्याय को मानता है, किन्तु यह नय उससे विशेष रूप को स्वीकार करता है, क्योंकि उस ने लिंग-वचन आदि का भेद स्वीकार नहीं किया, किन्तु यह नय उनमे भेद स्वीकार करता है।

६. **समभिरूढ़नय**—जितने भी संज्ञा वाले शब्द है, व्युत्पत्ति के अनुसार वे सब अपने-अपने अर्थों को लिए हुए हैं जैसे कि चेष्टा करने वाले को घट कहते हैं। कौटिल्य के योग से कुट, पानी भरते समय गद्गद् शब्द करने वाले को कुम्भ। इसी प्रकार शक्र, पुरन्दर, शचिपति, देवेन्द्र इत्यादि शब्दों के विभिन्न अर्थ है। कहा भी है–

"जं जं संन्नं भासइ तं तं चिय समभिरोहए जम्हा।
सन्नंतरत्थ विमुहो नओ समभिरूढो त्ति॥"

जहां शब्द भेद है वहा अर्थ भेद सुनिश्चित ही है। शब्दनय तो अर्थभेद वही मानता है जहां काल-कारक आदि का भेद हो, किन्तु इस नय के अभिमत से प्रत्येक शब्द का अर्थ अलग-अलग है। समभिरूढ़नय शब्दो के प्रचलित अर्थो को नही, किन्तु उनके मूल अर्थों को पकडता है। यह नय शब्द की व्युत्पत्ति के आधार से अर्थ मानता है! जितने भी शब्द हैं उन की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न है, व्युत्पत्ति भिन्न होने से अर्थ भी भिन्न है। इसी विचार-सरणि को लेकर इस नय की प्रवृत्ति होती है।

७. **एवंभूतनय**—जो शब्द को अर्थ से और अर्थ को शब्द से विशेषित करता है, वह एवभूत है, जैसे घट शब्द घट चेष्टायां धातु से बना हुआ है, इसका अर्थ है—जो स्त्री के मस्तक पर आरूढ होकर जल धारणादि क्रिया करता हो, घट-घट चेष्टा करता हो, तभी उसे घट कह सकते है। जिस व्युत्पत्ति से शब्द बना है, उसी मे जब वह प्रवृत्ति करता हो, तब उसे यह नय सार्थक मानता है। कहा भी है—

"एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं, सदा तत्रोपपद्यते।
क्रिया भेदेन भिन्नत्वादेवं भूतोऽभिमन्यते॥"

जिस समय कोई भी पदार्थ अपने नामानुसार क्रिया और गुणो से सयुक्त हो, वह पदार्थ गुणों के अनुसार ही जब अर्थक्रिया मे सलग्न हो, इस के अतिरिक्त उस पदार्थ सम्बन्धी गुण पर्याय, धर्म आदि सभी व्यक्तरूप मे दृष्टिगोचर होते हो, तभी उस पदार्थ को उसी रूप में कहना, ऐसा एवभूतनय का मंतव्य है। यदि एक अशमात्र भी कोई गुण कम हुआ, तो वह उस पदार्थ को उस रूप में मानने से अपनी अस्वीकृति प्रकट करता है।

सात नयों का उदाहरण सहित विस्तृत वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र में वर्णित है। तथा नयचक्र, नयवाद आदि ग्रन्थो मे भी इसकी विशिष्ट व्याख्याएं देखी जा सकती हैं।

स्वर-मण्डल

मूल—सत्त सरा पण्णत्ता, तं जहा—

सज्जे रिसभे गंधारे, मज्झिमे पंचमे सरे।
धेवते चेव णिसाए, सरा सत्त वियाहिया ॥१॥

एएसि णं सत्तण्हं सराणं सत्त सरट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—

सज्जं तु अग्गजिब्भाए, उरेण रिसभं सरं।
कंठुग्गएण गंधारं, मज्झजिब्भाए मज्झिमं ॥२॥
णासाए पंचमं बूया, दंतोट्ठेण य धेवयं।
मुद्धाणेण य णेसायं, सरट्ठाणा वियाहिया ॥३॥

सत्त सरा जीवनिस्सिया पण्णत्ता, तं जहा—

सज्जं रवइ मयूरो, कुक्कुडो रिसहं सरं।
हंसो णदइ गंधारं, मज्झिमं तु गवेलगा ॥४॥
अह कुसुमसंभवे काले, कोइला पंचमं सरं।
छट्ठं च सारसाकोंचा, णिसायं सत्तमं गया॥५॥

सत्तसरा अजीव निस्सिया पण्णत्ता, तं जहा—

सज्जं रवइ मुइंगो, गोमुही रिसभं सरं।
संखो णदइ गंधारं, मज्झिमं पुण झल्लरी ॥६॥
चउचलणपइट्ठाणा, गोहिया पंचमं सरं।
आडंबरो रेवइयं, महाभेरी, य सत्तमं ॥७॥

एएसि णं सत्त सराणं सत्त सरलक्खणा पण्णत्ता, तं जहा—

सज्जेण लहेइ वित्तिं, कयं च ण विणस्सइ।
गावो मित्ता य पुत्ता य, णारीणं चेव बल्लहो ॥८॥
रिसभेण उ एसज्जं, सेणावच्चं धणाणि य।
वत्थगंधमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य ॥९॥
गंधारे गीयजुत्तिणा, वज्जवित्ती कलाहिया।
भवंति कइणो पन्ना, जे अन्ने सत्थपारगा ॥१०॥
मज्झिमसरसंपन्ना, भवंति सुहजीविणो।
खायई पीयई देई, मज्झिमं सरमस्सिओ ॥११॥
पंचमसरसंपन्ना, भवंति पुढवीपई।
सूरा संगहकत्तारो, अणेगगणणायगा ॥१२॥

रेवयसरसंपन्ना भवंति कलहप्पिया।
साउणिया वागुरिया, सोयरिया मच्छबंधा य ॥१३॥
चंडाला मुट्ठिया सेया, जे अन्ने पावकम्मिणो।
गोघायगा य जे चोरा, णिसायं सरमस्सिया ॥१४॥

एएसिं सत्तण्हं सराणं तओ गामा पण्णत्ता, तं जहा—सज्जगामे, मज्झिमगामे, गंधारगामे। सज्जगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

मंगी, कोरव्वीया, हरी य रययणी य सारकंता य।
छट्ठी य सारसी णाम, सुद्धसज्जा य सत्तमा ॥१५॥

मज्झिमगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

उत्तरमंदा, रयणी, उत्तरा, उत्तरासमा।
आसोकंता य सोवीरा, अभीरू हवइ सत्तमा ॥१६॥

गंधारगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

णंदी य खुद्दिमा पूरिमा य, चउत्थी य सुद्धगंधारा।
उत्तरगंधाराvि य, पंचमिया हवइ मुच्छा उ ॥१७॥
सुट्ठुतरमाया, छट्ठी णियमसो उ णायव्वा।
अह उत्तरायया, कोडीमा य सा सत्तमी मुच्छा ॥१८॥
सत्त सराओ कओ संभवंति, गेयस्स का भवति जोणी?।
कइ समया उस्सासा, कइ वा गेयस्स आगारा? ॥१९॥
सत्त सरा णाभीओ भवंति, गीयं च रुयजोणीयं।
पादसमा उस्सासा, तिन्नि य गीयस्स आगारा ॥२०॥
आइमिउ आरभंता, समुव्वहंता य मज्झगारंमि।
अवसाणे तज्जविंतो, तिन्नि य गेयस्स आगारा ॥२१॥
छद्दोसे अट्ठगुणे, तिन्नि य वित्ताइं दो य भणिईओ।
जाणाहि सो गाहिइ, सुसिक्खिओ रंगमज्झम्मि ॥२२॥
भीयं दुतं रहस्सं, गायंतो मा य गाहिं उत्तालं।
काकस्सरमणुनासं च, होंति गेयस्स छद्दोसा ॥२३॥

पुन्नं रत्तं य अलंकियं य वत्तं तहा अविघुट्टं।
महुरं सम-सुकुमारं, अट्ठ गुणा होंति गेयस्स॥२४॥
उर-कंठ-सिरपसत्थं च, गेज्जंते मउरिभिअ पदबद्धं।
समताल पडुक्खेवं, सत्त सर सीहरं गीयं॥२५॥
णिद्दोसं सारवंतं च, हेउजुत्तमलंकियं।
उवणीय सोवयारं च, मियं महुरमेव य॥२६॥
सममद्धसमं चेव, सव्वत्थ विसमं·च जं।
तिन्नि वित्तप्पयाराइं, चउत्थं नोवलब्भइ॥२७॥
सक्कया पागया चेव, दुहा भणिईओ आहिया।
सरमंडलम्मि गिज्जंते पसत्था इसिभासिया॥२८॥
केसी गायइ य महुरं, केसी गायइ खरं च रुक्खं च।
केसी गायइ चउरं, केसी विलंबं दुतं केसी॥२९॥
विस्सरं पुण केरिसी?।
सामा गायइ महुरं, काली गायइ खरं च रुक्खं च।
गोरी गायइ चउरं, काणा विलंबं दुतं अंधा॥३०॥
विस्सरं पुण पिंगला।
तंतिसमं तालसमं, पासमं लयममं गहसमं च।
नीससिऊससियसमं, संचारसमा सरा सत्त॥३१॥
सत्त सरा य तओगामा, मुच्छणा एकवीसई।
ताणा एगूणपण्णासा, समत्तं सरमंडलं॥३२॥१३॥

छाया—सप्त स्वराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

षड्ज ऋषभो गान्धारः, मध्यमः पञ्चमः स्वरः।
धैवतश्चैव निषादः, स्वराः सप्त व्याख्याताः॥१॥

एतेषां सप्तानां स्वराणां सप्त स्वरस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

षड्जं त्वग्रजिह्वया, उरसा ऋषभं स्वरम्।
कण्ठाग्रकेन गान्धारं, मध्यजिह्वया मध्यमम्॥२॥
नासया पञ्चमं ब्रूयात्, दन्तोष्ठेन च धैवतम्।
मूर्ध्ना च निषादं, स्वरस्थानानि व्याख्यातानि॥३॥

सप्त स्वराः जीवनिश्रिताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

षड्जं रौति मयूरः, कुक्कुटः ऋषभं स्वरं।
हंसो नदति गान्धारं मध्यमं तु गवेलकाः॥४॥
अथ कुसुमसंभवे काले, कोकिला पञ्चमं स्वरम्।
षष्ठञ्च सारसाः क्रौञ्चाः, निषादं सप्तमं गताः॥५॥

सप्त स्वरा अजीवनिश्रिता. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

षड्जं रौति मृदङ्गः, गोमुखी ऋषभं स्वरम्।
शङ्खो नदति गान्धारं, मध्यमं पुन झल्लरी॥६॥
चतुश्चरणप्रतिष्ठानां:, गोधिका पञ्चमं स्वरम्।
आडम्बरो रैवतकं, महाभेरी च सप्तमम्॥७॥

एतेषां स्वराणां सप्तस्वरलक्षणानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

षड्जेन लभते वृत्तिं, कृतञ्च न विनश्यति।
गावो मित्राणि च पुत्राश्च, नारीणां चैव वल्लभः॥८॥
ऋषभेन त्वैश्वर्यं, सेनापत्यं धनानि च।
वस्त्रगन्धालङ्कारं, स्त्रिय. शयनानि च॥९॥
गान्धारे गीतियुक्तिज्ञाः, वर्यवृत्तयः कलाधिकाः।
भवन्ति कवयः प्राज्ञाः, येऽन्ये शास्त्रपारगाः॥१०॥
मध्यमस्वरसम्पन्नाः, भवन्ति सुखजीविनः।
खादति पिवति ददाति, मध्यमं स्वरमाश्रिताः॥११॥
पञ्चमस्वरसम्पन्नाः, भवन्ति पृथिवीपतयः।
सूराः संग्रहकर्त्तारः, अनेकगणनायकाः॥१२॥
रैवत-स्वर-सम्पन्नाः, भवन्ति कलहप्रियाः।
शाकुनिका वागुरिका·, शौकरिका मत्स्यबन्धाश्च॥१३॥
चाण्डाला मौष्टिका मेदाः येऽन्ये पापकर्माणः।
गोघातकाश्च ये चौराः, निषादं स्वरमाश्रिताः॥१४॥

एतेषां सप्तानां स्वराणां त्रयो ग्रामा. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—षड्जग्रामः, मध्यमग्रामः, गान्धारग्रामः।

षड्जग्रामस्य सप्त मूर्च्छनाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

मङ्गी कौरवीया हरिता, रजनी च सारकान्ता च।
षष्ठी च सारसीनाम, शुद्धषड्जा च सप्तमी॥१५॥

मध्यग्रामस्य सप्तमूर्च्छना: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

उत्तरमन्दा रजनी, उत्तरा उत्तरसमा।
अश्वकान्ता च, सौवीराऽभिरूपवती सप्तमी॥ १६॥

गान्धारग्रामस्य सप्तमूर्च्छना: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

नन्दिता क्षुद्रिमा पुरिमा च, चतुर्थी च शुद्धगान्धारा।
उत्तरगान्धाराऽपि च, पञ्चमी भवति मूर्च्छा॥ १७॥
सुष्ठुतरायामा सा षष्ठी, नियमशस्तु ज्ञातव्या।
अथोत्तरकोटिमा च, सा सप्तमी मूर्च्छा:॥ १८॥
सप्त स्वरा: कुत: सम्भवन्ति? गेयस्य का भवति योनि:।
कति समया उच्छ्वासा:? कति गेयस्याकारा:?॥ १९॥
सप्त स्वरा नाभितो भवन्ति, गीतञ्च रुदितयोनिकम्।
पादसमा: उच्छ्वासा:, त्रयश्च गीतस्याकारा:॥ २०॥
आदौ आरभमाणा, समुद्वहमानाश्च मध्याकारे।
अवसाने क्षपयन्, त्रयस्य गेयस्याकारा:॥ २१॥
षड् दोषानष्टगुणान्, त्रीणि वृत्तानि द्वे भणितो।
यो ज्ञास्यति स गास्यति, सुशिक्षितो रङ्गमध्ये॥ २२॥
भीतं द्रुत ह्रस्वं गायन्, मा च गासी: उत्तालम्।
काकस्वरमनुनासं च, भवति गेयस्य षड्दोषा:॥ २३॥
पूर्ण रक्तं चालङ्कृतञ्च, व्यक्तं तथाऽविघुष्टम्।
मधुरं समसुकुमारम्, अष्ट गुणा भवन्ति गेयस्य॥ २४॥
उर: कण्ठशिर: प्रशस्तञ्च, गीयते मृदुरिभितपदबद्धम्।
समताल प्रत्युत्क्षेपं, सप्त स्वर-सीहरं गीतम्॥ २५॥
निर्दोषं सारवच्च, हेतुयुक्तमलङ्कृतम्।
उपनीतं सोपचारञ्च, मितं मधुरमेव च:॥ २६॥
सममर्द्धसमञ्चैव, सर्वत्र विषमञ्च यत्।
त्रयो वृत्तप्राकारा:, चतुर्थो नोपलभ्यते॥ २७॥
संस्कृतं प्राकृतञ्चैव, द्विधा भणिती आख्याते।
स्वरमण्डले गीयते, प्रशस्ते ऋषिभाषिते॥ २८॥

कीदृशी गायति मधुरं, कीदृशी गायति? खरञ्च रूक्षञ्च।
कीदृशी गायति चतुरं, कीदृशी विलम्ब द्रुतं कीदृशी?॥ २९॥
विस्वरं पुन: कीदृशी ?।

श्यामा गायति मधुरं, काली गायति खरञ्च रूक्षञ्च।
गौरी गायति चतुरं, काणा विलम्बं द्रुतमन्धी॥ ३०॥
विस्वरं पुनः पिङ्गला।
तन्त्रीसमं तालसमं, पादसमं लयसमं गाथासमञ्च।
निःश्वसित उच्छवसितसमं, सञ्चारसमं स्वराः सप्त॥ ३१॥
सप्त स्वराश्च त्रयो ग्रामाः, मूर्च्छना एकविंशतिः।
ताना एकोनपञ्चाशत्, समाप्तं स्वरमण्डलम् ॥ ३२॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात स्वर कथन किए गए हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद।

उक्त सात स्वरों के उत्पत्ति-स्थान सात हैं—अग्रजिह्वा से षड्ज, हृदय से ऋषभ, कण्ठ के अग्रभाग से गान्धार, जिह्वा के मध्यभाग से मध्यम, नासिका से पञ्चम, दांत और होठों से धैवत तथा कपाल से निषाद स्वर का उच्चारण किया जाता है।

सात स्वर जीव-निश्रित हैं—मयूर का षड्ज स्वर, मुर्गे का ऋषभ स्वर, हंस का गान्धार स्वर, गाय और भेड का मध्यम स्वर, वसन्त काल में कूकती कोकिल का पञ्चम स्वर, सारस का धैवत और क्रौंच का निषाद स्वर हुआ करता है।

सात स्वर अजीवनिश्रित है—मृदंग का षड्ज, गोमुख का ऋषभ, शख का गान्धार, झल्लरी का मध्यम, चार चरणों पर प्रतिष्ठित रहने वाली गोधिका का पञ्चम, ढोल का धैवत तथा महाभेरी का निषाद स्वर होता है।

उक्त सात स्वरों के सात फल कथन किए गए हैं—

जिस व्यक्ति का षड्ज स्वर होता है उसे लक्ष्मी प्राप्त होती है, उसका किया हुआ कार्य निष्फल नहीं होता, उसे गाय, मित्र और पुत्र आदि भी प्राप्त होते है। वह स्त्रियो को प्रिय होता है।

ऋषभ स्वर वाले व्यक्ति को ऐश्वर्य, सेनापतित्व, धन, वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्रिया, उत्तम शयनासन और वैभव प्राप्त होता है।

गान्धार स्वरवाला संगीत-विशेषज्ञ, गायक, श्रेष्ठ वृत्ति वाला, कलावान्, कवि, बुद्धिमान् और अन्य शास्त्रों में भी पारगत होता है।

मध्यम स्वर-सम्पन्न व्यक्ति सुखपूर्वक आजीविका प्राप्त करता है, अच्छा खाता है, अच्छा पीता है और दूसरों को अच्छा दान देता है, परन्तु वह सचय नहीं कर सकता।

पंचम स्वर वाला व्यक्ति राजा, शूरवीर, संग्रह-कर्त्ता और अनेक गणों का नायक होता है।

धैवत स्वर वाला व्यक्ति कलहप्रिय, शाकुनिक, वागुरिक, कसाई और मत्स्य-जीवी होता है।

निषाद स्वर वाला व्यक्ति चाण्डाल, मुष्टियुद्ध करने वाला, मेद अर्थात् म्लेच्छ जाति विशेष का अत्याचारी, गोघातक और चोर होता है।

सात स्वरो के तीन ग्राम कथन किये गए है—षड्ज-ग्राम, मध्यमग्राम और गान्धार-ग्राम।

षड्ज ग्राम की सात मूर्च्छनायें कथन की गई हैं—मंगी, कौरवी, हरिता, रजनी, सारकान्ता, सारसी, शुद्धषड्जा।

मध्यमग्राम की सात मूर्च्छनाएं हैं—उत्तरमन्दा, रजनी, उत्तरा, उत्तरसमा, अश्व-कान्ता, सौवीरा, अभिरूपवती।

गान्धारग्राम की सात मूर्च्छनाएं है—नन्दिता, क्षुद्रिका, पूरिमा, शुद्ध-गान्धारा, उत्तरगान्धारा, सुष्ठुतरायामा, उत्तरकोटिमा।

सात स्वर कहां से उत्पन्न होते हैं? गान की कौन-सी योनि है? श्वासोच्छ्वास का कितना काल है? गीत के कितने आकार हैं?

सातो ही स्वर नाभि से उत्पन्न होते हैं, गीत की योनि शब्द करना है।

श्लोक के एक पाद का उच्चारण-काल उच्छ्वास होता है। गीत के आकार तीन है—आदि मे मृदु, मध्य मे उत्थान, अन्त में क्षीण। गान-विद्या के छह दोषों को, आठ गुणो को, तीन वृत्तो को और दो भाषाओं को जो भली-भांति जानता है, वही सुशिक्षित रंग-मण्डप मे गा सकता है।

डरते हुए गाना, शीघ्रता से गाना, लघुता से गाना, जोर से गाते हुए लय से च्युत होकर गाना, काक-स्वर से गाना एवं नासिका से गाना ये गीत के छः दोष हैं।

अपेक्षित पूर्ण काल में गाना, राग मे अनुरक्त होकर गाना, अलंकार से गाना, स्पष्टता से गाना, सस्वर होकर गाना, मधुर स्वर से गाना, सम एव सुकुमार गाना, गीत के ये आठ गुण हैं।

हृदय, कण्ठ एवं मस्तक से प्रशस्त गान, मधुर वाणी से युक्त गान, पदबद्ध गान, ताल के साथ पद का उच्चारण करना और अक्षरादि से सम होकर गाना, प्रशस्त गीत होता है।

दोष-रहित, अर्थयुक्त, हेतुयुक्त, अलंकृत, उपसंहारयुक्त, उपचारसहित, मित और मधुर गीत प्रशस्त होता है।

छन्द के सम, अर्द्धसम और विषम ये तीन प्रकार हैं। चौथा प्रकार उपलब्ध नहीं होता।

स्वर-मण्डल के गान में ऋषियो द्वारा भाषित प्रशस्त दो भाषायें कथन की गई हैं—संस्कृत और प्राकृत।

कौन स्त्री मधुर गाती है? कौन कठोर गाती है? कौन रूक्ष गाती है?

कौन चतुर गाती है? कौन विलम्ब एवं द्रुत गाती है? विस्वर कौन गाती है? श्यामा मधुर गाती है, कृष्णा कठोर और रूक्ष गाती है, गोरी चतुरता से गाती है।

कानी स्त्री विलम्ब से गाती है, अन्धी स्त्री शीघ्र गाती है और पिंगला विस्वर गाती है।

वीणा-सम, ताल-सम, पाद-सम, लय-सम, गाथा-सम नि:श्वास-उच्छ्वाससम एवं संचार-सम संगीत का प्रत्येक स्वर अक्षर आदि सातों से मिलाकर सात प्रकार का होता है।

सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छनायें और उनचास तान प्रत्येक स्वर सात तानों से गाया जाता है अत: सातो स्वरों के उनचास भेद हो जाते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे नयो का वर्णन किया गया है, जैसे वक्ता के अभिप्राय के अनुरूप उन सैकड़ों नयो का अतर्भाव सात मूलनयों में हो जाता है, वैसे ही अनगिनत प्रकार के स्वरो का समावेश सात स्वरों मे हो जाता है। यद्यपि स्वर शब्द अनेक अर्थो का द्योतक है तथापि प्रसंगानुसार उसका ग्राह्य अर्थ सगीत से सम्बन्धित स्वर ही है। कोमलता, तीव्रता और आरोह-अवरोह आदि से युक्त वह शब्द जो प्राणियो के गले या एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आघात पड़ने से निकलता है, उसे स्वर कहा जाता है। सगीत में इस प्रकार की वे सात निश्चित ध्वनियां हैं जिनका स्वरूप तीव्रता, मंदता आदि निश्चित है। ध्वनि के मूल भेद सात ही हैं जैसे कि षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पचम, धैवत, रैवत और निषाद।

सात स्वरों के सात उत्पत्ति स्थान

जो स्वर छ: स्थानों से उत्पन्न हो वह षडज् स्वर कहलाता है। यद्यपि वह स्वर नासिका, कंठ, उर, तालु, जिह्वा और दत इन ६ स्थानो से उत्पन्न होता है तथापि इसका मुख्य उच्चारण-स्थान जिह्वाग्र-भाग ही है।

जब वायु नाभि से उठकर कण्ठ और मूर्धा से टकराता हुआ वृषभ की तरह शब्द करता है, तब उस स्वर को वृषभ—ऋषभ स्वर कहते हैं, फिर भी मुख्यतया यह स्वर वक्ष:स्थल

से निकलता या उत्पन्न होता है।

जब वायु नाभि से उठकर हृदय और कंठ से टकराता हुआ निकलता है, तब उसे गांधार स्वर कहते हैं, गध से भरा होने के कारण इसे गाधार कहा जाता है। इसका मुख्य उच्चारण-स्थान कंठ है।

जो ध्वनि नाभि से उठकर हृदय से टकराती हुई, पुन: नाभि में पहुच जाती है और भीतर ही भीतर गूंजती रहती है उसे मध्यम स्वर कहते हैं। इसकी उत्पत्ति का मुख्य स्थान जिह्वा का मध्य भाग है। जिह्वा के मध्य भाग से निकलने के कारण ही यह मध्यम स्वर कहलाता है।

नाभि, हृदय, छाती, कण्ठ और सिर इन पाच स्थानों से उत्पन्न होने वाले स्वर का नाम पंचम स्वर है तथा षड्ज आदि स्वरो की गिनती में यह स्वर पचम होने से पचम कहलाता है, इसके उत्पन्न होने का मुख्य स्थान नासिका है। नासिका से निकलने वाला स्वर पचम होता है।

धैवत मे सभी स्वरो का सम्मिश्रण होता है, इसी को रैवत स्वर भी कहते हैं। इसमे दान्त और ओष्ठ की मुख्यता रहती है। इन दो स्थानों से निकली हुई ध्वनि को धैवत नाम दिया गया है।

जो सभी स्वरों पर छा जाए वह निषाद स्वर कहलाता है। यह तेज होने के कारण दूसरे सभी स्वरो को दबा देता है, इसकी उत्पत्ति मूर्धा से होती है। यह भौए चढ़ाकर तेजी से बोला जाता है। यद्यपि प्रत्येक स्वर कण्ठ ताल्वादि कई स्थानो की सहायता से उत्पन्न होते हैं तथापि जिस स्वर को जिस स्थान की अधिक अपेक्षा रहती है, वास्तव में वही उसका स्थान है और उसी का वर्णन सूत्रकार ने किया है।

जीव-निश्रित सात स्वर

मोर का केकारव षड्ज स्वर होता है, मुर्गा ऋषभ स्वर मे ध्वनि निकालता है, हंस की ध्वनि गांधार स्वर मे होती है, गाय, भेड, बकरी का स्वर मध्यम होता है। वसत ऋतु मे कूकती कोयल की मधुर ध्वनि का स्वर पंचम होता है, सारस और क्रौच पक्षी धैवत स्वर में शब्द करते हैं, हाथी निषाद स्वर में चिंग्घाड़ता है।

प्रश्न हो सकता है कि द्वीन्द्रिय जीवो से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक असंख्यात जीव रसनेन्द्रिय के द्वारा ही शब्दो का उच्चारण करते है, इस अपेक्षा से असंख्यात स्वर होने चाहिएं, फिर सात ही क्यों ?

इसके समाधान में कहा जा सकता है कि जितने भी शब्द करने वाले संज्ञी जीव हैं, उन्हीं का प्रस्तुत सूत्र में ग्रहण किया गया है अन्य का नहीं। वे सात स्वरों में से किसी एक स्वर में अवश्य शब्द करते है, अतएव स्वर सात ही है, न्यूनाधिक नहीं।

अजीव-निश्रित सात स्वर

वाद्य-यन्त्र रूप अचेतन पदार्थों से भी सगीत के सात स्वर निकलते है। मृदग से षड्ज स्वर निकलता है, गोमुख नामक वाद्य बजाने से ऋषभ स्वर निकल आता है, शख को पूरने से गांधार स्वर निकलता है, झल्लरी (छैनों) से मध्यम स्वर, गोधिका भी एक वाद्य विशेष होता है उसके चार पाए होते हैं, उसे भूमि पर रखकर बजाया जाता है, उससे पंचम स्वर निकलता है। आडम्बर ढोल या नगारे को कहते है उसके बजाने से धैवत स्वर निकलता है। महाभेरी के बजाने से निषाद स्वर निकलता है। विश्व भर मे शेष जितने भी वाद्य हैं उनसे कोई न कोई स्वर तो नियमेन निकलता ही है, परन्तु उन सबका अतर्भाव उपर्युक्त सात स्वरो मे ही हो जाता है।

सात स्वरों के सात लक्षण

यावन्मात्र मनुष्य हैं वे भले ही स्त्री हों या पुरुष उनके स्वरों में उपर्युक्त सात स्वरों में से एक स्वर मुख्य रूप मे होता है, शेष स्वर बनावटी होते है। जिस व्यक्ति का जो स्वर अगी बनकर रहता है, उसकी पहचान लक्षणों द्वारा होती है। वे लक्षण क्रमशः निम्नलिखित हैं—

जिस व्यक्ति का षड्ज स्वर होता है, उसकी आजीविका निर्विघ्नता से चलती है, उसके द्वारा किए हुए सभी कार्य पूर्ण होते है, उसके घर मे सर्वदा, गाय और भैस आदि दुधारु पशु रहते हैं, उसके अनेक मित्र और सुपुत्र भी होते है और वह स्त्रियो का वल्लभ होता है।

जिस व्यक्ति का ऋषभ स्वर होता है, उसके प्रभाव से वह महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, उसे निरतर धन का लाभ होता है, वह सेनापति का पद प्राप्त करता है, वह बहुमूल्य वस्त्रों, आभूषणो, सुगन्धित पदार्थो तथा सुखप्रद शयन-आसन आदि का उपभोक्ता बनता है और कल्याणी स्त्रियों का वल्लभ भी होता है।

जिस व्यक्ति का गाधार स्वर होता है, वह उस स्वर के प्रभाव से गायन-कला मे निपुण, श्रेष्ठ आजीविका वाला, कलाओ में कुशल, काव्य-प्रणेता, बुद्धिमान्, शास्त्रो का पारगामी, कर्त्तव्य-शील इत्यादि गुणो से तथा पुण्य ये समृद्ध होता है।

जिस व्यक्ति का मध्यम स्वर होता है वह अपना जीवन सुख-पूर्वक व्यतीत करता है, उत्तम खाद्य-पेय पदार्थो का उपभोग स्वयं करता है और दूसरों को भी उत्तम पदार्थ देता है। इस प्रकार का उदारचेता गायक मध्यम स्वर का स्वामी माना जाता है, परन्तु उसकी सपत्ति स्थिर नहीं रहती, वह प्रयत्न करने पर भी सम्पत्ति का सग्रह नही कर पाता। उसकी आय भी अधिक और व्यय भी अधिक रहता है।

जिस गायक का पचम स्वर होता है, वह पृथिवीपति बनता है, शूरवीर होता है, अनेक पदार्थों का सग्रह करता है। इतना ही नहीं, वह अनेक गणो का नायक भी बनता है। इत्यादि लक्षणों से ही जाना जाता है कि वह व्यक्ति पंचमस्वर वाला है।

धैवत स्वर से सम्पन्न व्यक्ति कलह-प्रिय होता है, वह आकाश में उड़ने वाले पक्षियो का, स्थल पर चलने वाले मृगों, शूकरों आदि का तथा जल में तैरने वाले जलचर जीवों का शिकार करने वाला तथा निर्दयी, हिंसक और क्रूर होता है।

चांडाल, मौष्टिक, अधम जाति वाले, पाप कर्मकारी, कसाई, चोर, डाकू इत्यादि अधम क्रिया करने वाले सभी निषाद स्वर वाले हुआ करते हैं।

व्यक्ति के जीवन में स्वर के अनुरूप इन लक्षणों का उदय होता है और इन्ही गुणों से गायक के स्वर की पहचान भी की जा सकती है।

सात स्वरों के तीन ग्राम और २१ मूर्च्छनाएं

स्वरों के षड्जग्राम, मध्यमग्राम और गाधारग्राम की सात-सात मूर्च्छनाएं होती हैं। मूर्च्छनाओं के समूह को ग्राम कहते है। जिसके द्वारा श्रोता या वक्ता मूर्च्छित अर्थात् मंत्रमुग्ध हो जाए, उसे मूर्च्छना कहते है, अथवा राग के भेद को भी मूर्च्छना कहते हैं।

मूर्च्छनाओं का नामोल्लेख शब्दार्थ और मूलार्थ में किया जा चुका है। उनका पूर्ण स्वरूप दृष्टिवाद के अंतर्गत स्वर-प्राभृत मे वर्णित है। सगीत शास्त्र में भी उपलब्ध है। इस सूत्र मे केवल सूचना मात्र ही है, अत: इनका केवल नामोल्लेख ही किया गया है। वृत्तिकार भी इन नामो की व्याख्या करने में मौन है।

इसके आगे सूत्रकार ने शिष्य की ओर से चार प्रश्न उपस्थित किए हैं, जैसे कि—

१. ये सात स्वर कहा से उत्पन्न होते है ?

२. गीत की योनि क्या है ?

३. गीत का उच्छ्वास-परिमाण कितना है ?

४ गीत के कितने आकार हैं ?

सूत्रकार ने इन प्रश्नो के उत्तर निम्न प्रकार से दिए हैं, जैसे कि—पहले प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि सात स्वर नाभि से उत्पन्न होते हैं। दूसरे प्रश्न के उत्तर में कहा है कि गीत की उत्पत्ति शब्द से होती है, क्योंकि 'रुत' शब्द को कहते हैं और योनि उत्पत्ति-स्थान को अर्थात् गीत का जन्म शब्द से होता है। तीसरे प्रश्न के उत्तर में गुरु ने कहा—प्रत्येक छंद मे उच्छ्वासों की संख्या निर्धारित है, उसकी पाद-पूर्ति के अंत मे उच्छ्वास होता है। चौथे प्रश्न के उत्तर में गुरु ने कहा कि गीत के तीन आकार हैं, जैसे कि गीत के आरम्भ में मृदु स्वर होना चाहिए, मध्य में ऊंचा स्वर, अवसान के समय पुन: मंद ध्वनि होनी चाहिए। यही तीन गीत के आकार हैं।

गीत गाने के छ: दोष

कोई भी सदोष वस्तु या कार्य मन को लुभाने में, हर्षान्वित करने में सफल नहीं हो सकता है। उसकी कला को कोई भी विशेषज्ञ पसन्द नहीं करता और न उसे कोई पारितोषिक

ही मिलता है, गायक में यदि छः दोषों में से एक दोष भी है, वह वस्तुतः गायक ही नहीं है। वे दोष ये है, जैसे कि—**भीत**—डरते-डरते गाना। **द्रुत**—जल्दी-जल्दी गाना। **ह्रस्व**—शब्दों को छोटे बनाकर गाना या अस्थान में श्वास लेना या जो छंद जिस लय से गाया जाता है उसमे न गाकर अन्य लय से गाना दोष है। **उत्ताल**—ताल से विपरीत गाना। **काकस्वर**—कर्णकटु अव्यवस्थित एवं अस्पष्ट गीत गाना। **अनुनास**—नाक से गाना। ये ६ गायक के दोष माने गए हैं।

प्रभाव की दृष्टि से संगीत के आठ गुण

गुण और कला ये दोनों श्रोता और दर्शक को आकृष्ट एवं आश्चर्य-चकित कर ही देते हैं। गायन भी एक कला है, अत. गायन भी श्रोता को मुग्ध कर देता है, परन्तु वही गायन मोहक होता है जो आठ गुणो से सम्पन्न हो। उन आठ गुणो का विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

पूर्ण—संगीत कला में प्रवीणता। **रक्त**—जिस गीत से गायक और श्रोता मस्ती में झूम उठें। **अलंकृत**—वह गीत जो शब्दालंकारों और अर्थालकारों से अलंकृत हो। **व्यक्त**—अक्षर और स्वरों की स्पष्टता के कारण स्फुट हो। **अविघुष्ट**—चिल्लाने जैसी आवाज के कारण विस्वर न हो। **मधुर**—मतवाली कोयल की तरह मधुर स्वर हो। **सम**—तालादि वादित्र के सम हो। **सुकुमार**—जिसकी लय अति मधुर हो, इन आठ गुणो से सम्पन्न गीत ही वास्तव में गीत है।

उच्चारण की दृष्टि से संगीत के सात गुण—

छाती का साफ होना **उरःप्रशस्त**, कण्ठ का विशुद्ध होना **कंठ-प्रशस्त**, मूर्धा को प्राप्त होकर भी जो स्वर नासिका से मिश्रित न हो वह **शिर-प्रशस्त**, जो कोमल स्वर में गाया जाता है वह **मृदुक**, जिस गीत मे स्वर का घोलन हो वह **रिभित**, जिसमें निपुणता के साथ अक्षरों का संचार होता हो वह **पदबद्ध**, नर्त्तक के पादनिक्षेप ताल एवं साज-बाज आदि के साथ समगति से चलने वाला हो वह **समताल प्रत्युपक्षेप** गीत कहलाता है। इस प्रकार गुण-विशुद्धि के साथ जब गायन होता है तब उस गीत को सप्तस्वर-विशुद्ध कहते हैं।

सप्त स्वर-सीभर—

जहा सात स्वरों का अक्षर आदि से यथाविधि मिलान होता है, उसे सीभर कहते हैं। जब ह्रस्व के स्थान पर ह्रस्व, दीर्घ के स्थान पर दीर्घ, प्लुत के स्थान पर प्लुत, सानुनासिक के स्थान पर सानुनासिक स्वर बोला जाए और निरनुनासिक के स्थान पर निरनुनासिक स्वर बोला जाए वह **अक्षरासम** कहलाता है। जिस में पद-विन्यास राग के अनुकूल हो, उसे **पदसम** कहते हैं। जिसमें हाथ-पैर आदि का अभिनय ताल के अनुकूल हो वह **तालसम** कहलाता है। साज-बाज की लय के अनुसार जिस स्वर को गाया जाए, वह **लयसम** कहलाता है। सितार या बांसुरी की लय सुनकर उसी स्वर से जो गीत गाया जाए, उसे **ग्रहसम**

कहते है। जहां सास का लेना और छोडना यति पर ही हो, वह **श्वासोच्छ्वास सम** कहा जाता है। वंश, तंत्री, हार्मोनियम आदि के ऊपर अगुली फेरने के साथ-साथ जो गाना गाया जाता है वह **संचार-सम** कहलाता है। संगीत का प्रत्येक स्वर अक्षर आदि सातों से मिलकर सात प्रकार का हो जाता है।

संगीत के आठ गुण—

गाने के लिए निर्मित की जाने वाली रचना में आठ गुण होने चाहिएं, जैसे कि संगीत ३२ प्रकार के दोषों से रहित होना चाहिए। पद्य सारगर्भित होने से **सारवान** हो। जो गीत किसी विशेष उद्देश्य से बनाया गया हो वह **हेतुयुक्त**। जो उपमादि अलंकारों से संयुक्त है उसे **अलंकृत** कहते है। जिस गीत मे हेतु और साध्य का उपसंहार किया गया हो उसे **उपनीत** कहा जाता है। जिस गीत में शब्द और अर्थ क्लिष्ट, विरुद्ध, लज्जास्पद आदि दोषो से रहित एवं अनुप्रास युक्त हो उस गीत को **सोपचार** कहते हैं। जो गीत परिमित वर्णो से युक्त हो वह **मित**, जो गीत माधुर्य एव प्रसाद गुण से युक्त हो उसे मधुर कहते है। इन आठ गुणों से युक्त गीत ही गीत माना जाता है।

वृत्त-प्रकार—

वृत्त छन्द को कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है, जिसके चारों चरणो मे वर्ण-सख्या समान हो उसे समछन्द कहते है, जैसे वसन्ततिलका, शिखरिणी आदि। जिस वृत्त का पहला और तीसरा चरण तथा दूसरा और चौथा चरण सम हो उस वृत्त को अर्द्धसम-वृत्त कहते है, जैसे उपजातिछद। जिम वृत्त के चारो चरणो मे वर्ण-सख्या या मात्रा-सख्या विषम हो, उसे विषम छन्द कहते है। जैसे आर्या छन्द। इस प्रकार वृत्त अर्थात् छन्द के तीन भेद बतलाए गए है।

दो प्रकार की भणिति—

तीर्थंकरो ने सस्कृत और प्राकृत ये दो भाषाएं प्रतिपादन की है। "भणिति" शब्द का अर्थ भाषा है। उक्त दोनो भाषाओ मे स्वर-मंडल का गायन होता है और ये दोनो भाषाए आर्य एवं सुन्दर है और ऋषि-भाषित है। यहां पर ऋषि शब्द का सम्बन्ध तीर्थकर भगवान से है।

गायिका के विषय में प्रश्नोत्तर—

प्रश्न—कौन-सी स्त्री मधुर गाती है? **उत्तर**—गौरवर्ण वाली स्त्री मधुर गाती है।

प्रश्न—कौन-सी स्त्री कर्कश एवं रूक्ष गाती है? **उत्तर**—काले वर्ण वाली स्त्री रूक्ष गाती है।

प्रश्न—कौन-सी स्त्री चतुराई से गाती है? **उत्तर**—श्यामा स्त्री।

प्रश्न—कौन-सी स्त्री विलंब से गाती है? **उत्तर**—एक आंख से रहित स्त्री।

प्रश्न—कौन-सी स्त्री शीघ्रता से गाती है? **उत्तर**—नेत्र-विहीन स्त्री।

प्रश्न—कौन-सी स्त्री विस्वर गाती है? **उत्तर**—पिगला-कपिला स्त्री विस्वर गाती है।

स्वरमंडल का उपसंहार—

स्वरमण्डल में सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छनाएं और उनचास तानें हैं। जैसे कि एक वीणा में सात छिद्र हैं, उन में एक-एक स्वर सात-सात बार बजाया और गाया जाता है, इस तरह ७ × ७ = ४९ हुए। ताने भी स्वर-मडल के बीच मे हैं। पुरुषों की ७२ कलाओ में तथा स्त्रियों की ६४ कलाओं मे स्वर-मडल को विशेष स्थान प्राप्त है। राजप्रश्नीय सूत्र के अन्तर्गत यह विषय विस्तार से वर्णित है। सूर्याभदेव ने भगवान महावीर की भक्ति प्रदर्शित करते हुए गौतम आदि मुनिवरो को इसी विद्या द्वारा अपनी ऋद्धि का प्रदर्शन कराया है। यह विद्या चित्त आह्लादक और मनोमोहक है। इसका वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र के सातवें नामपद में भी प्राप्त होता है।

काय-क्लेश

मूल—सत्तविहे कायकिलेसे पण्णत्ते, तं जहा—ठाणाइए, उक्कुडुयासणिए, पडिमट्ठाइ, वीरासणिए, णेसज्जिए, दंडाइए, लगंडसाई ॥१४॥

छाया— सप्तविधः कायक्लेशः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—स्थानातिगः, उत्कुटुकासनिकः, प्रतिमास्थायी, वीरासनिक, नैषद्यिकः, दण्डायतिकः, लगण्डशायी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात प्रकार का कायक्लेश तप वर्णन किया गया है, जैसे—कायोत्सर्ग करना, उकडू आसन से बैठना, प्रतिमा में स्थित रहना, वीरासन से बैठना, निषद्या करना, दण्डासन करना, वक्रकाष्ठ के समान लेटना।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे स्वर-मण्डल का वर्णन किया गया है। स्वर-साधक गायक विविध मुद्राओ में बैठकर गाते है, विविध मुद्राओ मे बैठने पर जो शरीर को कष्ट होता है, वह लौकिक काय-क्लेश कहलाता है। प्रस्तुत सूत्र मे उसी के प्रतिपक्षी लोकोत्तर काय-क्लेश तप का वर्णन किया गया है। जिस तप से शरीर को कुछ कष्ट की अनुभूति हो, वह तप कायक्लेश कहलाता है। बाह्य तप के भेदों मे पाचवां भेद 'काय-क्लेश' तप है। यद्यपि केश लोच करना, धूप की आतापना लेना, बिना वस्त्र के सर्दी सहना, खुजली आदि न करना; थूकने की बुरी आदत न डालना आदि काय-क्लेश के ही अनेक रूप हैं तथापि यहां सप्त स्थान के अनुरोध से सात प्रकार के आसनो का ही उल्लेख किया गया है।

१. **ठाणाइए**—इस पद का अर्थ है कायोत्सर्ग मुद्रा में अवस्थित रहना। यद्यपि यहां काय-क्लेश तप का निर्देश है तथापि काय-क्लेश तप करने वाले का जो निर्देश किया गया है, वह धर्म और धर्मी के अभेद को रखकर ही किया गया है।

२. **उक्कुडुयासणिए**—जिस आसन में दोनों एड़िया जमीन के साथ न लगती हो, वह उत्कुटुक आसन है, इस आसन मे बैठने वाला मुनि उत्कुटुकासनिक कहलाता है।

३. पडिमट्ठाई—भिक्षु प्रतिमाओं में कहे हुए आसनों द्वारा समाधि लगाने वाला भिक्षु प्रतिम-स्थायी कहलाता है।

४. वीरासणिए—वीरासन लगाने वाला भिक्षु वीरासनिक कहलाता है।

५. णेसज्जिए—पैरों के भार से बैठने वाला भिक्षु नैषद्यिक कहलाता है।

६. दंडाइए—शरीर को दंड की तरह पृथ्वी पर फैला कर ध्यान लगाने वाला भिक्षु।

७. लगंडसाई—जिसके सिर और पैर भूमि पर लगे हुए हों और पीठ भूमि से ऊची हो, इस तरह के आसन द्वारा समाधि लगाने वाला भिक्षु लगंडशायी कहलाता है। समाधिस्थ होने की अभिलाषा रखने वाले मुनि को इस प्रकार के आसनो में आसीन होना आवश्यक होता है, क्योकि मानसिक एकाग्रता के लिए "**स्थिरमासनमात्मनः**" आसन की स्थिरता को आवश्यक माना गया है।

ढाई द्वीप के वर्ष, वर्षधरपर्वत और महानदियां

मूल—जंबुद्दीवे दीवे सत्त वासा पण्णत्ता, तं जहा—भरहे, एरवए, हेमवए, हेरन्नवए, हरिवासे, रम्मगवासे, महाविदेहे।

जंबुद्दीवे दीवे सत्त वासहरपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—चुल्लहिमवंते, महाहिमवंते, निसहे, नीलवंते, रुप्पी, सिहरी, मंदरे।

जंबुद्दीवे दीवे सत्त महानईओ पुरत्थाभिमुहीओ लवणसमुद्दं समप्पेंति, तं जहा—गंगा, रोहिया, हिरी, सीया, णरकंता, सुवण्णकूला, रत्ता।

जंबुद्दीवे सत्त महाणईओ पच्चत्थाभिमुहीओ लवणसमुद्दं समप्पेंति, तं जहा—सिंधु, रोहियंसा, हरिकंता, सीओया, णारीकंता, रुप्पकूला, रत्तवई।

धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धे णं सत्त वासा पण्णत्ता, तं जहा—भरहे जाव महाविदेहे।

धायइसंडदीवपुरच्छिमे णं सत्त वासहरपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—चुल्लहिमवंते जाव मंदरे।

धायइसंडदीवपुरच्छिमे णं सत्त महनईओ पुरच्छाभिमुहीओ कालोयसमुद्दं समप्पेंति, तं जहा—गंगा जाव रत्ता।

धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धेणं सत्तमहानईओ पच्चत्थाभिमुहीओ लवण-समुद्दं समप्पेंति, तं जहा—सिंधु जाव रत्तवई।

धायइसंडदीवे, पच्चत्थिमद्धे णं सत्त वासा एवं चेव, णवरं पुरत्था-भिमुहीओ लवणसमुद्दं समप्पेंति, पच्चत्थाभिमुहीओ कालोदं, सेसं तं चेव।

पुक्खरवरदीवड्डपुरच्छिमद्धे णं सत्त वासा तहेव, णवरं पुरत्थाभिमुहीओ पुक्खरोदं समुद्दं समप्पेंति, पच्चत्थाभिमुहीओ कालोदं समुद्दं समप्पेंति, सेसं तं चेव। एवं पच्चत्थिमद्धेवि, णवरं पुरत्थाभिमुहीओ कालोदं समुद्दं समप्पेंति, पच्चत्थाभिमुहीओ पुक्खरोदं समप्पेंति, सव्वत्थ वासा, वासहरपव्वया, णईओ य भाणियव्वाणि॥१५॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे सप्त वर्षाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भरतम्, ऐरवतं, हैमवतं, हिरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, महाविदेहः।

जम्बूद्वीपे द्वीपे सप्त वर्षधरपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षुद्रहिमवान्, महाहिमवान्, निषधः, नीलवान्, रुक्मी, शिखरी, मन्दरः।

जम्बूद्वीपे द्वीपे सप्त महानद्यः पूर्वाभिमुख्यो लवणसमुद्र समाप्नुवन्ति, तद्यथा—गङ्गा, ह्री, शीता, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रक्ता।

जम्बूद्वीपे द्वीपे सप्त महानद्यः पश्चिमाभिमुख्यो लवणसमुद्रं समाप्नुवन्ति, तद्यथा—सिन्धुः, रोहितांशा, हरिकान्ता, शीतोदा, नारिकान्ता, रुप्यकूला, रक्तवती।

धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धे सप्त वर्षाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भरतं यावत् महाविदेह·। धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्ये सप्त वर्षधरपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षुद्रहिमवान् यावन्मन्दर.।

धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्ये सप्त महानद्यः पूर्वाभिमुख्यः कालोदं समुद्रं समाप्नुवन्ति, तद्यथा—गङ्गा यावत् रक्ता।

धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धे सप्त महानद्यः पश्चिमाभिमुख्यो लवणसमुद्रं समाप्नुवन्ति, तद्यथा—सिन्धुर्यावत् रक्तावती।

धातकीखण्डद्वीपे पाश्चात्यार्द्धे सप्त वर्षाण्येवञ्चैव, नवरं पूर्वाभिमुख्यो लवणसमुद्रं समाप्नुवन्ति, पश्चिमाभिमुख्यः कालोदं समुद्रं, शेषं तथैव।

पुष्करवरद्वीपार्द्धपौरस्त्यार्द्धे सप्त वर्षाणि तथैव, नवरं पूर्वाभिमुख्यः पुष्करोदं समाप्नुवन्ति, पश्चिमाभिमुख्यः कालोदं समुद्रं समाप्नुवन्ति, शेष तदेव। एवं पाश्चात्यार्द्धेऽपि, नवरं पूर्वाभिमुख्यः कालोदं समुद्रं समाप्नुवन्ति, पश्चिमाभिमुख्यः पुष्करोदं समाप्नुवन्ति, सर्वत्र वर्षाणि, वर्षधरपर्वताः नद्यश्च भणितव्याः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में सात वर्ष-क्षेत्र हैं, जैसे—भरत, ऐरवत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, महाविदेह।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप में सात वर्षधर पर्वत कथन किए गए हैं, जैसे—क्षुद्रहिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नीलवान्, रुक्मी, शिखरी और मन्दर।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप में सात महानदिया है, जो कि पूर्वाभिमुखी होती हुई लवण समुद्र मे जा मिलती हैं, जैसे—गंगा, रोहिता, ह्री, शीता, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रक्ता।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप की सात महानदिया पश्चिमाभिमुखी होती हुई लवण-समुद्र मे जा मिलती हैं, वे हैं—सिन्धु, रोहिताशा, हरिकान्ता, शीतोदा, नारीकान्ता, रुप्यकूला और रक्तावती।

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वार्द्ध मे सात वर्ष-क्षेत्र है, जैसे—भरत से लेकर महाविदेह तक।

धातकीखण्ड नामक द्वीप के पूर्वार्द्ध मे सात वर्षधर पर्वत हैं, जैसे—क्षुद्र-हिमवान् से लेकर मन्दर तक।

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वार्द्ध मे सात महानदिया पूर्वाभिमुखी होकर कालोद समुद्र में जा मिलती हैं, जैसे—गंगा से लेकर रक्ता तक।

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वार्द्ध मे सात महानदियां पश्चिमाभिमुखी होकर लवण समुद्र मे जा मिलती है, जैसे—सिन्धु से लेकर रक्तावती तक।

धातकीखण्ड द्वीप के पश्चिमार्द्ध मे सात वर्ष इसी प्रकार जानना, किन्तु विशेषता इतनी है कि सात महानदिया पूर्वाभिमुखी लवण समुद्र में और पश्चिमाभिमुखी महानदिया कालोद समुद्र मे मिलती हैं। शेष सब वर्णन पूर्ववत् ही जान लेना चाहिए।

पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्व की ओर उसी प्रकार सात वर्ष-क्षेत्र हैं, केवल इतना विशेष है कि महानदिया पूर्वाभिमुखी होकर पुष्करोद समुद्र में जा मिलती है और पश्चिमाभिमुखी महानदिया समुद्र में मिलती हैं। शेष वर्णन पहले की भांति जानना चाहिए। इसी तरह पश्चिमार्द्ध मे भी जानना चाहिए, किन्तु इतना विशेष है कि पूर्वाभिमुखी महानदियां कालोद समुद्र में और पश्चिमाभिमुखी महानदियां पुष्करोद समुद्र में जा मिलती हैं। सब जगह वर्ष, वर्षधरपर्वत और नदिया पूर्ववत् ही कहनी चाहिएं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में कायक्लेश-नामक बाह्य तप का वर्णन किया गया है। तप

प्राय: मनुष्य लोक में ही किया जाता है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे मनुष्यलोक के कुछ ऐसे आवश्यक एव शाश्वत पदार्थों का वर्णन किया गया है, जो कि गणना के अनुसार सात-सात हैं। इस जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हैं और सात ही वर्षधर पर्वत है तथा सात महानदियां पूर्वदिशा-भिमुखी होकर लवण-समुद्र में प्रवेश करती हैं और सात ही महानदिया पश्चिम दिशाभिमुखी होकर लवण-समुद्र में प्रविष्ट होती हैं।

इसी तरह सात क्षेत्र, सात वर्षधर पर्वत अन्य सात महानदियां पश्चिमार्द्ध धातकीखण्ड में है और सात क्षेत्र और सात वर्षधर पर्वत एवं सात महानदियां उसके पूर्वार्द्ध मे है। चौदह महानदियां लवणसमुद्र में प्रविष्ट होती है और चौदह कालोद समुद्र मे। इस तरह कुल २८ महानदियों का वर्णन जैसे धातकीखंड मे किया जाता है, वैसे ही पुष्करार्द्ध के विषय में भी जानना चाहिए।

इस सूत्र मे केवल शाश्वत क्षेत्र, पर्वत और महानदिया ही वर्णित हैं। पूर्वाभिमुखी महानदियां पुष्करोद समुद्र मे गिरती है और पश्चिमाभिमुखी महानदिया कालोद समुद्र में जा मिलती है।[1]

कुलकर और कल्पवृक्ष

मूल—जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे तीयाए उस्सप्पिणीए सत्त कुलगरा हुत्था, तं जहा—

मित्तदामे सुदामे य सुपासे य सयंपभे।
विमलघोसे सुघोसे य महाघोसे य सत्तमे ॥१॥

जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए सत्तकुलगरा हुत्था, तं जहा—

पढमित्थ विमलवाहणे, चक्खुमं जसमं चउत्थमभिचंदे।
तत्तो य पसेणइ, पुण मरुदेवे चेव नाभी य॥२॥

एएसि णं सत्तण्हं कुलगराणं सत्त भारियाओ हुत्था, तं जहा—

चंदजसा चंदकांता, सुरूव पडिरूव चक्खुकंता य।
सिरिकंता मरुदेवी, कुलगर इत्थीण नामाइं॥३॥

---

१ पुष्करार्द्धद्वीप की पूर्वाभिमुखी महानदिया पूर्व की ओर और पश्चिमाभिमुखी महानदिया पश्चिम की ओर पुष्करोद समुद्र मे जा मिलती है। यह बात हृदयगम नही होती, क्योकि ढाई द्वीप से बाहर कोई नदी नही बहती। इसका विशेष वर्णन जीवाभिगम सूत्र मे है जो कि पठनीय है।

जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए सत्त कुलगरा भविस्संति—

मित्तवाहणे सुभोमे य, सुप्पभे य सयंपभे।
दत्ते सुहुमे (सुहे सुरूवे य) सुबंधू य, आगमेस्सिण होक्खइ॥४॥

विमलवाहणे णं कुलगरे सत्तविहा रुक्खा उवभोगत्ताए हव्वमागच्छिंसु, तं जहा—

मत्तंगया य भिंगा, चित्तंगा चेव होंति चित्तरसा।
मणियंगा य अणियणा, सत्तमगा कप्परुक्खा य ॥५॥१६॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां सप्त कुलकरा अभवन्, तद्यथा—

मित्रदामा सुदामा च, सुपार्श्वश्च स्वयंप्रभः।
विमलघोषः सुघोषश्च, महाघोषश्च सप्तमः॥१॥

जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां सप्त कुलकरा अभवन्, तद्यथा—

प्रथमोऽत्र विमलवाहनश्चक्षुमान्, यशस्वान् चतुर्थोऽभिचन्द्रः।
ततश्च प्रसेनजित् पुनर्मरुदेवश्चैव नाभिश्च॥२॥

एतेषां सप्तानां कुलकराणां सप्त भार्या अभवन् तद्यथा—

चन्द्रयशा चन्द्रकान्ता, सुरूपा प्रतिरूपा चक्षुकान्ता च।
श्रीकान्ता मरुदेवी, कुलकरस्त्रीणां नामानि॥३॥

जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्या सप्त कुलकरा भविष्यन्ति, तद्यथा—

मित्रवाहनः सुभोमश्च, सुप्रभश्च स्वयंप्रभः।
दत्तः सूक्ष्मः (शुभः सुरूपश्च) सुबन्धुश्च, आगमिष्यति भविष्यन्ति॥४॥

विमलवाहने कुलकरे सप्तविधा वृक्षा उपभोग्यतया हव्वमागच्छन्, तद्यथा—

मत्ताङ्गकाश्च भृङ्गाश्च, चित्राङ्गाश्चैव भवन्ति चित्तरसाः।
मण्यङ्गाश्चानग्नाः सप्तमकाः कल्पवृक्षाः॥५॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरतक्षेत्र में भूतकाल की उत्सर्पिणी में सात कुलकर उत्पन्न हुए, जैसे—मित्रदामा, सुदामा, सुपार्श्व, स्वयप्रभ, विमलघोष, सुघोष और महाघोष।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरतक्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल में सात कुलकर

हो चुके हैं, जैसे—विमलवाहन, चक्षुमान्, यशस्वान्, अभिचन्द्र, प्रसेनजित्, मरुदेव और नाभि।

इन कुलकरों की सात भार्यायें थीं, जैसे—चन्द्रयशा, चन्द्रकान्ता, सुरूपा, प्रतिरूपा, चक्षुकान्ता, श्रीकान्ता, मरुदेवी।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरतक्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी काल मे सात कुलकर होंगे, जैसे—मित्रवान, सुभौम, सुप्रभ, स्वयंप्रभ, दत्त, सूक्ष्म तथा शुभ (सुरूप और सुबन्धु) ये सात कुलकर भविष्यत् काल में होगे।

विमलवाहन कुलकर के समय में सात प्रकार के वृक्ष तत्कालीन मनुष्यों के उपभोग के लिए होते थे, जैसे—मदजनक स्वाद वाले फलों के देने वाले मत्तांग, नाना प्रकार के पात्र देने वाले भृंग वृक्ष, पुष्पों की मालाए देने वाले, विविध रसो के देने वाले, विविध आभूषणो को देने वाले, विविध वस्त्र प्रदान करने वाले, इनके अतिरिक्त चिन्तित वस्तुओं के देने वाले। ये सब उक्त प्रकार के फल ही हैं, इन्हें देने वाले वृक्षों को ही कल्पवृक्ष कहा गया है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे जम्बूद्वीप के क्षेत्र, वर्षधर पर्वत और महानदियों आदि का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार कुलकर आदि का परिचय देते है। अपने-अपने समय में मनुष्यो के लिए जो मर्यादाए बाधते हैं उन्हें कुलकर कहते हैं। भरतक्षेत्र मे अतीत काल की उत्सर्पिणी मे सात कुलकर हुए हैं—मित्रदाम, सुदाम, सुपार्श्व, स्वयप्रभ, विमलघोष, सुघोष और महाघोष। २४वे तीर्थकर के शासनकाल के अवसान में मित्रदाम नामक कुलकर हुआ है और अन्त मे महाघोष कुलकर, उसके बाद यौगलिक युग प्रारंभ हुआ।

इस अवसर्पिणीकाल के भरत क्षेत्र में सात कुलकर हुए हैं जैसे कि—विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वान, अभिचन्द्र, प्रसेनजित, मरुदेव और नाभि। इन सात कुलकरों की क्रमश: सात भार्याएं हुई है उनके नाम चन्द्रयशा, चन्द्रकान्ता, सुरूपा, प्रतिरूपा, चक्षुकान्ता, श्रीकान्ता और मरुदेवी थे।

जम्बूद्वीप के अतर्गत भरतक्षेत्र में आने वाली उत्सर्पिणीकाल में सात कुलकर होंगे, मित्रवाहन, सुभौम, सुप्रभ, स्वयंप्रभ, दत्त, सूक्ष्म और सुबंधु।

विमलवाहन कुलकर के युग मे दस प्रकार के कल्पवृक्षों में से सात प्रकार के कल्पवृक्ष रह गए थे जो उस काल में मनुष्य की आवश्यकताएं पूरी करते थे। अकर्मभूमि में होने वाले युगलियों की आवश्यकताओं को पूरी करने वाले वृक्ष कल्पवृक्ष कहलाते हैं। उनके दस भेद हैं—

१. शरीर के लिए पौष्टिक रस देने वाले "मतग कल्पवृक्ष" कहलाते है।

२. पात्र आदि देने वाले "भृताग कल्पवृक्ष" होते हैं।

३. विविध प्रकार के वादित्र अर्थात् बाजे देने वाले "त्रुटिताग कल्पवृक्ष" होते है।

४ दीपक का काम देने वाले कल्पवृक्ष "दीपाग कल्पवृक्ष" कहलाते है।

५ सूर्य के समान प्रकाश देने वाले वृक्ष "ज्योति-रंग कल्पवृक्ष" होते हैं।

६. विविध प्रकार के फूल देने वाले वृक्ष "चित्राग कल्पवृक्ष" कहलाते हैं।

७. विविध प्रकार के भोजन देने वाले वृक्ष "चित्ररस कल्पवृक्ष" कहलाते है।

८. विविध प्रकार के आभूषण देने वाले "मणि अंगा कल्पवृक्ष" होते हैं।

९ मकान की तरह आश्रय देने वाले कल्पवृक्ष "गेहाकार कल्पवृक्ष" कहलाते हैं।

१०. वस्त्र आदि देने वाले कल्पवृक्ष "अणियण कल्पवृक्ष" कहलाते है।

इन दस प्रकार के कल्पवृक्षो से युगलियो की इच्छाएं एव आवश्यकताएं पूरी होती हैं। तीसरे, चौथे और पाचवे प्रकार के कल्पवृक्षो का विमलवाहन के युग मे व्यवच्छेद हो चुका था।

दण्ड-नीति

मूल—सत्तविहा दंडनीई पण्णत्ता, तं जहा—हक्कारे, मक्कारे, धिक्कारे, परिभासे, मंडलबंधे, चारए, छविच्छेए॥१७॥

छाया—सप्तविधा नीतिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—हक्कारो, मक्कारो, धिक्कारः, परिभाषा, मण्डलबन्ध., चारकः, छविश्च्छेदः।

शब्दार्थ—सत्तविहा दंडनीई पण्णत्ता, **तं जहा**—सात प्रकार की दण्डनीति कथन की गई है, जैसे, **हक्कारे**—हा! ऐसा मत करो, **मक्कारे**—मा। ऐसा मत करो, **धिक्कारे**—धिक्।, **परिभासे**—कोपातुर होकर उपालम्भ देना, **मडलबधे**—इस स्थान से बाहर मत जाओ, **चारए**—चारकशाला और, **छविच्छेए**—हस्तादि अवयवों का छेदन कर देना।

मूलार्थ—सात प्रकार की दण्डनीति वर्णन की गई है, जैसे—प्रथम और द्वितीय कुलकर के समय में हक्कार और तृतीय एव चतुर्थ कुलकर के समय में मक्कार तथा पञ्चम, छट्ठे और सातवें कुलकर के समय में धिक्कार नामक-नीति का प्रचलन था। भगवान ऋषभदेव के समय में परिभाषण अर्थात् अपराधी को कोपयुक्त होकर उपालम्भ देना और मण्डलबन्ध अर्थात् अमुक क्षेत्र से बाहर न जाना रूप दण्ड-नीति थी। भरत चक्रवर्ती के समय मे चारकशाला और छविच्छेद नामक अर्थात् अंगोपांगों को काट डालने की नीति प्रचलित थी।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में कुलकरो का वर्णन किया गया है, कुलकरों से ही दंडनीति का आरम्भ और परिसमाप्ति होती है। अपराधी को दुबारा अपराध करने से रोकने के लिए कुछ कहना या ताड़ित करना दंड-नीति है। अपराधी को शिक्षा देने के लिए और लोगों की

रक्षा के लिए दंडनीति का आविर्भाव हुआ करता है। प्रस्तुत सूत्र में यह दडनीति सात प्रकार की बताई गई है, जैसे कि—

१. **हक्कारे**—'हा! तुमने यह क्या किया?' इस प्रकार कहना। हक्कार मात्र कहने से ही अपराधी यह मानता था कि मेरा सर्वस्व छिन गया है, भविष्य में पुन: किसी भी अपराध कार्य मे प्रवृत्ति नहीं करता था। इस नीति का प्रचलन पहले और दूसरे कुलकर के युग में था।

२ **मक्कारे**—'ऐसा काम फिर मत करना।' इस तरह निषेध करना, यह मक्कार नीति है। तीसरे और चौथे कुलकर के युग मे जब कोई व्यक्ति बडा अपराध करता था तब मक्कार नीति से काम लिया जाता था। 'मा' शब्द सुनते ही वह अपराधी अपने आपको जैसे कोई सर्वस्व खो बैठा हो ऐसे मानने लग जाता था, किन्तु साधारण अपराध के लिए 'हा' शब्द का ही प्रयोग किया जाता था।

३. **धिक्कारे**—पाचवे, छट्ठे और सातवे कुलकर के समय मे धिक्कारने अर्थात् फटकारने की नीति प्रवृत्त हुई। जघन्य अपराध मे हक्कार नीति, मध्यम अपराध में मक्कार नीति, सब से बडे अपराध में धिक्कार नीति का प्रयोग होता था। कुलकरों के युग मे तो पूर्वोक्त तीन दड नीतिया होती थी।

४. **परिभासे**—अपराधी को क्रोध के साथ उपालम्भ देना और उसे कठोर एव कर्कश शब्दों से झिड़कना, उसे अपमानित करना परिभाष-दण्ड नीति मानी गई है।

५. **मंडलबंधे**—अपराधी को नियमित क्षेत्र से बाहर जाने से रोक देना अर्थात् उसे नजरबद कर देना या देश निकाला दे देना मण्डल-बन्ध दण्डनीति कहलाती है। वृत्तिकार लिखते हैं "**मडलं-इङ्गितं क्षेत्रं तत्र बन्धो—नास्मात् प्रदेशाद् गन्तव्यमित्येवं वचनलक्षणं पुरुषमण्डल परिवारणलक्षणो वा।**'

६. **चारए**—सबसे बड़े अपराधी को जेलखाने में बद करना। जेल को ही कारागृह और गुप्तिगृह भी कहा जाता था। महीनों की या वर्षो की कैद की सजा देना चारक नीति कहलाता है।

७. **छविच्छेए**—हाथ, पांव, नाक, कान आदि अवयवो का छेदन करना छविच्छेद दण्ड-नीति मानी गई है। जब कोई उक्त छ: नीतियो का उल्लंघन कर जाता था तब सातवी नीति का आविष्कार हुआ।

इनमें से अन्तिम चार नीतियां भरत चक्रवर्ती के युग मे प्रचलित थी। कुछ आचार्यो का अभिमत है कि परिभाषण और मण्डलबंध ये दो दंडनीतिया ऋषभदेव भगवान के शासन में प्रचलित हुई और अन्तिम दो दड नीतिया भरत चक्रवर्ती के शासन में प्रवृत्त हुईं। नीतियों का प्रचलन चाहे कभी भी हुआ हो, परन्तु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उस युग मे प्राणदंड नहीं दिया जाता था। जुर्माना और प्राणदंड की नीति पीछे से प्रवृत्त

हुई है। इसी के आधार पर नीति के अनेक ग्रथों का निर्माण हुआ। जैसे-जैसे अपराधों की वृद्धि होने लगी, वैसे-वैसे अपराधी के सुधार के लिए तथा जनता की रक्षा के लिए दंडनीति का विकास होता चला गया। अपराध के अनुसार अपराधी को दण्ड देना न्याय है और न्याय ही राजा का कर्त्तव्य है। न्याय भी अहिसा का ही दूसरा रूप है।

चक्रवर्ती के एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय रत्न

मूल—एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंत चक्कवट्टिस्स णं सत्त एगिंदियरयणा पण्णत्ता, तं जहा—चक्करयणे, छत्तरयणे, चम्मरयणे, दंडरयणे, असिरयणे, मणिरयणे, काकणिरयणे।

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स सत्त पंचिंदियरयणा पण्णत्ता, तं जहा—सेणावइरयणे, गाहावइरयणे, वड्ढइरयणे, पुरोहियरयणे, इत्थिरयणे, आसरयणे, हत्थिरयणे ॥१८॥

छाया—एकैकस्य राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्तिनः सप्तैकेन्द्रियरत्नानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—चक्ररत्नं, छत्ररत्नं, चर्मरत्नं, दण्डरत्नं, असिरत्नं, मणिरत्नं, काकिणीरत्नम्।

एकैकस्य राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्तिनः सप्त पञ्चेन्द्रियरत्नानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—सेनापतिरत्नं, गाथापति-रत्नं, वर्द्धकि-रत्नं, पुरोहित-रत्नं, स्त्री-रत्नम्, अश्व-रत्नं, हस्तिरत्नम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—एक-एक चातुरन्त चक्रवर्ती राजा के पास रहने वाले सात एकेन्द्रिय-रत्न वर्णन किए गए हैं, जैसे—चक्र-रत्न, छत्र-रत्न, चर्म-रत्न, दण्ड-रत्न, असि रत्न, मणि-रत्न और काकणी-रत्न।

एक-एक चातुरन्त चक्रवर्ती राजा के अधिकार मे रहने वाले सात पञ्चेन्द्रिय रत्न कहे गए है—सेनापति-रत्न, गाथापति-रत्न, वार्धकि-रत्न, पुरोहित-रत्न, स्त्री-रत्न, अश्व-रत्न, हस्ति-रत्न।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में दण्डनीति का वर्णन किया गया है। सामनीति, दामनीति, भेदनीति और दण्डनीति के प्रवर्तक चक्रवर्ती ही होते है, नीति की प्रवृत्ति रत्नसमृद्धि से होती है, अतः प्रस्तुत सूत्र में उनकी रत्न-समृद्धि का वर्णन किया गया है। प्रत्येक चक्रवर्ती राजा के पास सात एकेन्द्रिय-रत्न होते है। अपनी जाति में जो सर्वोत्कृष्ट अद्वितीय एवं सर्वश्रेष्ठ पदार्थ हो उसे रत्न कहा जाता है। चक्ररत्न, छत्र-रत्न और दंड-रत्न इन तीन रत्नों का व्यास चार हाथ प्रमाण होता है। चर्म-रत्न दो हाथ प्रमाण का हुआ करता है। खड्ग-रत्न ३२ अंगुल प्रमाण होता है। मणि-रत्न चार अगुल प्रमाण लम्बा और दो अंगुल प्रमाण चौड़ा

होता है। काकणी-रत्न भी चार अंगुल प्रमाण ही होता है। ये सब पृथिवी-परिणाम रूप हैं।

प्रत्येक चक्रवर्ती राजा के अधीन सात पंचेन्द्रिय रत्न होते हैं, जैसे कि सेनापति, गृहपति अर्थात् कोष्ठागार का अधिकारी, वर्द्धकी अर्थात् सूत्रधार अथवा बढ़ई, पुरोहित अर्थात् शान्तिकर्मकारी, स्त्री-रत्न, अश्व-रत्न और हस्तीरत्न।

इन १४ रत्नों के एक-एक हजार देव रक्षक होते है। सोलह हजार देव और बत्तीस हजार मुकुटधर राजा ये सब महाराजा चक्रवर्ती के आधीन रहकर उनकी सेवा किया करते है। इन १४ रत्नों की उपयोगिता का वर्णन जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र मे विस्तृत रूप से प्राप्त होता है।

दुषमकाल और सुषमकाल के लक्षण

मूल—सत्तहिं ठाणेहिं ओगाढं दुस्समं जाणेज्जा, तं जहा—अकाले वरिसइ, काले ण वरिसइ, असाहू पुज्जंति, साहू ण पुज्जंति, गुरूहिं जणो मिच्छं पडिवन्नो, मणोदुहया, वइदुहया।

सत्तहिं ठाणेहिं ओगाढं सुसमं जाणेज्जा, तं जहा—अकाले ण वरिसइ, काले वरिसइ, असाहू ण पुज्जंति, साहूपुज्जंति, गुरूहिं जणो सम्मं पडिवन्नो, मणोसुहया, वइसुहया॥१९॥

छाया—सप्तभि· स्थानैरवगाढां दु:षमां जानीयात्, तद्यथा—अकाले वर्षति, काले न वर्षति, असाधव: पूज्यन्ते, साधवो न पूज्यन्ते, गुरुषु जनो मिथ्याप्रतिपन्न:, मनोदु:खिता:, वाग्दु·खिता:।

सप्तभि: स्थानैरवगाढां सुषमां जानीयात्, तद्यथा—अकाले न वर्षति, काले वर्षति, असाधवो न पूज्यन्ते, साधव: पूज्यन्ते, गुरुषु जन: सम्यक् प्रतिपन्न:, मन·सुखता, वाक्सुखता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात कारणो से दुषमकाल जाना जाता है, जैसे कि—अकाल में वर्षा होती है, समय पर वर्षा नहीं होती, असाधुओं की प्रतिष्ठा होती है, साधुओं की नही, गुरुजनों पर मिथ्या भाव होता है, प्राणी मन से दु:खी रहते हैं और वचन से दु:खी रहते हैं।

सात कारणों से सुषमकाल जाना जाता है, जैसे—वर्षा समय पर होती है, असमय मे वर्षा नहीं होती, साधुजन प्रतिष्ठा पाते हैं, असाधु जनों की प्रतिष्ठा नहीं होती, गुरुजनों पर सम्यग्भाव होता है, मन सुखी होता है और वचन सुख रूप होते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में चक्रवर्ती की रत्न-समृद्धि का वर्णन किया गया है। जब

किसी पुरुष-रत्न का अभाव होता है उस समय दुषम-काल का प्रवर्तन होता है। सात लक्षणों से दुषमा काल का प्रवर्तन हो चुका है, यह समझ लिया जाता है, जैसे कि—

१. जिस समय देश मे वर्षा की आवश्यकता न हो, उस समय वर्षा का होना।

२. जिस समय देश मे वर्षा की आवश्यकता हो उस समय वर्षा न होना।

३. जब असंयत विश्वासघाती, हिंसक, असत्यवादी एव व्यभिचारी, मास-मदिरा आदि का प्रयोग करने वाले असाधु पुरुषो की प्रतिष्ठा ससार मे बढ़ जाती है, तब जाना जाता है कि दु:षमकाल का प्रवर्तन हो चुका है।

४ जब साधुजनो की पूजा-प्रतिष्ठा जनता के हृदय मे न रहे तथा उनकी विनय-भक्ति कम हो जाए तो समझ लेना चाहिए कि दु:षमकाल आरम्भ हो चुका है।

५. माता-पिता, धर्माचार्यो एव गुरुजनो में मिथ्याभाव रखना अर्थात् उनका सम्मान न होना, उनकी आज्ञा का उल्लघन होना उनके प्रति अशिष्ट व्यवहार होना ये सब लक्षण दु:षमकाल के ही माने गए है।

६ मन से दुखी होना या मन से जनता का दुखी रहना दुषमकाल का लक्षण है।

७ वचन को पाकर दुखी होना या वचन से दुखी होना, अर्थात् कलह एव वाग्युद्ध हो तथा जनता मे वाणी का विवेक न रह जाए तो समझ लेना चाहिए कि दुषम-काल प्रवृत्त हो चुका है।

उपर्युक्त सात लक्षणो से जाना जाता है कि दुषमकाल अपनी चरम-सीमा पर पहुचा हुआ है।

सुषमकाल के सात लक्षण

असमय पर वर्षा का न होना, समय पर वर्षा का होना, असाधुजनो की पूजा न होना, साधुजनों की पूजा-प्रतिष्ठा एवं सम्मान का होना, माता-पिता एवं धर्माचार्यो के प्रति विनय का व्यवहार होना, जनता का मन से सुखी रहना, वचन से सुखी होना अर्थात् जनता मे वाणी का विवेक होना, जब ये बातें विशेषतया उत्पन्न हो, तब जानना चाहिए कि सुख रूप सुषम-काल आ रहा है।

इससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि समय भी कर्म-प्रकृतियो के उदय मे एक कारण है, अत: इस दृष्टिकोण को लक्ष्य मे रखकर सूत्रकार ने इस विषय का विवेचन किया है। इसके अवान्तर अनेक भेद होने पर भी उन सबका अन्तर्भाव उक्त सात भेदो में ही हो जाता है।

संसार-समापन्नक जीव

मूल—सत्तविहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—नेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, मणुस्सा, माणुसीओ, देवा, देवीओ ॥२०॥

छाया—सप्तविधाः संसारसमापन्नकाः जीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैरयिकाः, तिर्यग्योनिकाः, तिर्यग्योनिकाः, मनुष्याः, मानुष्यः, देवाः, देव्यः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात प्रकार के ससारी जीव वर्णन किए गए हैं, जैसे—नारकी, तिर्यंच, तिर्यंची, मनुष्य, मानुषी, देव और देवियां।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वर्णित दु:षम और सुषम समय संसारी जीवों के दु:ख और सुख के लिए होता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में ससारी जीवों का वर्णन किया गया है। नारकी एकान्त नपुंसक होते हैं इनकी गणना न पुरुषों में होती है और न स्त्रियो में। तिर्यंच और मनुष्य मे स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों तरह के जीव होते है, किन्तु देवो मे पुरुष और स्त्री दो ही होते हैं। इसी कारण सूत्रकार ने कहा है—नारकी, तिर्यंच, तिर्यंची, मनुष्य, मानुषी देव और देवी। इन सात भेदों में सभी जीवो का अन्तर्भाव हो जाता है। इन योनियो में जीव कर्मानुसार सुख-दु:ख के चक्र मे परिभ्रमण करते रहते है।[1]

आयु-विनाश के कारण

मूल—सत्तविहे आउभेए पण्णत्ते, तं जहा—

अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणापराघाए।
फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आउं॥२१॥

छाया—सप्तविध आयुर्भेदः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—

अध्यवसायं निमित्तम्, आहारो वेदना पराघातः।
स्पर्श आनप्राणं, सप्तविधं भिद्यते आयुः॥

शब्दार्थ—सत्तविहे—सात प्रकार से, **आउभेए पण्णत्ते, तं जहा**—आयु का भेद अर्थात् विनाश कथन किया गया है, जैसे कि, **अज्झवसाण**—अध्यवसाय में अनन्त राग-द्वेष, भय आदि होने से, **निमित्ते**—शस्त्रादि का निमित्त होने पर, **आहारो**—अधिक आहार करने से, **वेयणा**—शरीर में अत्यन्त पीड़ा होने से, **पराघाए**—पराघात अर्थात् गिरने आदि से, **फासे**— सर्प आदि का स्पर्श करने से, **आणापाणू**—श्वास-प्रश्वास का निरोध होने से, **सत्तविहं**—इन सात कारणो से, **आउं**—आयु का, **भिज्जए**—भेद अर्थात् विनाश होता है।

मूलार्थ—सात कारणों से सोपकर्मी जीवों की आयु का विनाश हो जाता है, जैसे कि अत्यन्त राग आदि होने के कारण, शस्त्र आदि का निमित्त होने पर, अधिक आहार करने के कारण, शारीरिक पीडा की अधिकता से, गर्त आदि मे गिरने से, सर्प आदि का स्पर्श होने पर, श्वास-प्रश्वास का सर्वथा निरोध होने से। ये सात

१ विस्तार के लिए देखिए जीवाभिगम सूत्र की सातवी प्रतिपत्ति।

कारण सोपक्रमी जीवों की आयु का भेद करने वाले है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे ससार-समापन्नक जीवों का वर्णन किया गया है। आयु का बन्ध और आयु का भेदन संसारी जीवों का ही होता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में आयु-भेदन के सात कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

जीव आयु का बंध दो तरह से करता है, निरुपक्रमायु और सोपक्रम आयु। स्वत: पूर्ण हुए बिना जो आयु किसी बाहरी निमित्त के द्वारा समाप्त हो जाती है, उसे सोपक्रम आयु कहा जाता है। जिस आयु का बंध तीव्र कर्म-भोग परिणामो से होता है, वह आयु निरुपक्रम कहलाती है। सोपक्रम आयु का बध मंद परिणामो से होता है। जैसे अधिक प्यास लगने पर गौ बीच में बिना रुके लगातार पानी पीती है, पेट भर जाने पर ही या पूर्णतया प्यास शान्त होने पर ही वह जल से मुंह को उठाती है, वैसे ही जिस जीव के द्वारा आयु का बंध प्रारम्भ कर लिया और मध्य मे बिना ही विश्राम लिए तीव्र परिणामो से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निरन्तर आयु का बन्ध किया जाता है। जब उस आयुष्य-कर्म का उदय होता है तब किसी भी प्रबल निमित्त से उसका भेदन नही हो सकता। ऐसी आयु को ही निरुपक्रम आयु कहते है।

जब गौ प्यास से पीडित नहीं होती है, तब यदि उसे कहीं पानी पीना ही पड़े, तो वह मंद परिणामो से पीती है, धीरे-धीरे पीती है। इतना ही नही बीच-बीच मे विश्राम भी करती है। इसी तरह आयु के बंध-काल मे जब जीव मद परिणामो से आयु का बध करता है, तब वह आयु सोपक्रम कहलाती है। उस आयु कर्म का उदय जब जिस रीति से होता है वह उसी रीति से पूरा नही होता, तब उसका भेदन किसी न किसी कारण से हो जाना सुनिश्चित होता है। उसके जीवन में एक, दो, तीन अधिक से अधिक आठ अवसर आ सकते है—आयु भेदन के। निश्चयनय-निरुपक्रम आयु का अनुसरण करता है और व्यवहार-नय सोपक्रम आयु का।

सोपक्रम आयु की समाप्ति के सात कारण निर्दिष्ट किए गए है, जैसे कि—

१. **अज्झवसाणे**—अतिहर्ष, अतिशोक और अतिभय से आयु का भेदन हो जाता है।

२. **निमित्ते**—दंड, कशा (चाबुक), अस्त्र-शस्त्र आदि के लगने से भी आयु का भेदन होता है।

३. **आहारे**—प्रतिकूल आहार करने से, अत्यधिक गरिष्ठ आहार करने से आयु टूट जाती है।

४. **वेयणा**—प्राणनाशक शारीरिक पीडा हो जाने पर भी आयु का भेदन हो जाता है।

५. **पराघाए**—किसी गड्ढे आदि में गिरने या वृक्ष या मकान आदि के गिर जाने से, बिजली के गिरने से, या अन्य किसी दूसरी वस्तु के आघात से आयु का समाप्त हो जाना पराघात कहलाता है।

६. फासे—विष के स्पर्श से या विषाक्त-प्राणियों के दंश से तथा बिजली का स्पर्श लगने से भी आयु का भेदन हो जाता है।

७. आणापाणु—सांस के रुक जाने से भी सोपक्रम आयु की समाप्ति हो जाती है।

उक्त सात कारणों से यह ध्वनित होता है कि सोपक्रम आयु वाले को उपर्युक्त सात कारणों से बचने का सर्वदा प्रयास करते रहना चाहिए—प्रमाण से अधिक भोजन न करना, पीड़ा का उपचार करना, गमन आदि क्रियाओं में सावधान रहना, प्राणनाशक अस्त्र-शस्त्रो से बचाव करना, पानी एव विद्युत से सावधान रहना।

उक्त सात कारणो से सोपक्रम आयु का ही भेदन होता है, निरुपक्रम आयु का नही। कहा भी है—"**अयं चायुर्भेदः सोपक्रमायुषामेव नेतरेषामिति।**"

प्रश्न होना संभव है कि यदि आयु का भेदन माना जाए तो कृतनाश और अकृताभ्यागम दोषों का उपस्थित होना निश्चित ही है, क्योंकि जैसे किसी की आयु सौ वर्ष की है, यदि किसी कारण से बीस वर्ष की आयु मे उसका देहान्त हो गया, अस्सी वर्ष की आयु का बीच मे ही नाश हो गया तो इससे कृतनाश हुआ और जिस क्रिया से आयु का भेदन हुआ उससे अकृत अभ्यागम हुआ, इस प्रक्रिया से तो कभी किसी का मोक्ष नही हो सकता?

इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि जैसे भस्मरोग उत्पन्न होने पर रोगी सौ वर्ष का भोग्य पदार्थ स्वल्पकाल मे भक्षण कर लेता है, जैसे दीर्घरज्जु का पुञ्ज अग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, जैसे फैलाया हुआ गीला वस्त्र शीघ्र ही सूख जाता है वैसे ही आयु के विषय में जानना चाहिए, इससे न कृतनाश और न ही अकृत अभ्यागम होता है। इस विषय की स्पष्टता के लिए कुछ गाथाए मननीय है, जैसे कि—

"**कम्मोवक्कामिज्जइ अपत्तकालंपि जइ तओ पत्ता।**
अकयागमकयनासा मोक्खगाणासासओ दोसा।।"

"**अत्रोच्यते-यथा वर्षशतभोग्यभक्तमप्यग्निकव्याधितम्याल्पेनापि कालेनोपभुञ्जानस्य न कृतनाशो नाप्यकृताभ्यागमस्तदिहापीति, आह च—**

नहि दीह कालियस्सवि णासो तस्साणुभूइओ खिप्पं।
बहुकालाहारस्स व दुयमग्गिय रोगिणो भोगी।।
सव्वं च पएसतया भुञ्जइ कम्ममणुभागओ भइय।
तेणावस्साणुभवे के कयनासादओ तस्स।।
किंचिदकालेवि फलं पाइज्जइ पच्चए य कालेणं।
तह कम्म पाइज्जइ कालेणवि पच्चए अन्नं।।
जह वा दीहा रज्जू डज्झइ कालेण पुंजिय खिप्पं।
वितओ पडो व सूस्सइ पिंडीभूओ व कालेणं।।"

इन गाथाओं का भाव ऊपर लिखा जा चुका है।

सर्व जीव-भेद

मूल—सत्तविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया, अकाइया।

अहवा सत्तविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—कण्हलेसा जाव सुक्कलेसा, अलेसा ॥ २२॥

छाया—सप्तविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिकाः, अप्कायिकाः, तेजस्कायिकाः, वायुकायिकाः, वनस्पतिकायिकाः, त्रसकायिकाः, अकायिकाः।

अथवा सप्तविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्याः, अलेश्याः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात प्रकार के सर्वजीव कथन किए गए हैं, जैसे—पृथिवीकायिक जीव, अप्कायिक जीव, अग्निकायिकजीव, वनस्पतिकायिक जीव, त्रसकायिक जीव, अकायिक अर्थात् मुक्त आत्मा।

अथवा सात प्रकार के सर्व-जीव वर्णन किये गए हैं, कृष्णलेश्या वाले जीवों से लेकर शुक्ललेश्या वाले जीवों तक छः प्रकार के संसारी जीव और सातवें अलेश्यी अर्थात् मुक्त आत्मा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे आयु-भेद का वर्णन किया गया है। आयुभेद छः कायिक जीवो मे होता है। प्रस्तुत सूत्र में जीव के सात रूपों का वर्णन किया गया है। वे सात रूप है—पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। ये छः प्रकार के जीव संसारी हैं, अकायिक जीव सिद्ध भगवान है।

लेश्या की दृष्टि से सर्व जीव छः प्रकार के है, जैसे—कृष्णलेश्यी, नीललेश्यी, कापोतलेश्यी, तेजोलेश्यी, पद्मलेश्यी, शुक्ललेश्यी और कुछ विशुद्ध आत्माएं लेश्या-मुक्त भी होती है। इनमें से पहले छः भेद संसारी जीवो में पाए जाते है, किन्तु अलेश्यी १४वें गुण स्थान में पहुचे हुए अयोगी केवली तथा सिद्ध भगवन्त होते है। वे छः लेश्याओं से सर्वथा रहित होते है।[१]

चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का उत्थान और पतन

मूल—बंभदत्ते णं राया चाउरंतचक्कवट्टी सत्त धणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं,

---

१ विशद वर्णन के लिए देखिए जीवाभिगम सूत्र की सातवी प्रतिपत्ति।

सत्त य वाससयाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए अप्पइट्ठाणे णरए णेरइयत्ताए उववन्ने॥२३॥

छाया—ब्रह्मदत्तः खलु राजा चातुरन्तचक्रवर्तीसप्तधनूंषि ऊर्ध्वमुच्चत्वेन, सप्त च वर्षशतानि परमायुः पालित्वा कालमासे कालं कृत्वा अधः सप्तमायां पृथिव्यामप्रतिष्ठाने नरके नैरयिकतयोत्पन्नः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त राजा ऊंचाई मे सात धनुष ऊंचा था और सात सौ वर्ष की उत्कृष्ट आयु को पूरा कर काल के समय मृत्यु को पाकर अधोलोक की सातवी पृथ्वी के अप्रतिष्ठान नामक सातवे नरक मे नारकीय के रूप में उत्पन्न हुआ।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र के अन्तिम अंश में लेश्यावान जीवो का वर्णन किया गया है, लेश्याओं मे कृष्णलेश्या की गणना प्रथम है और परमकृष्ण लेश्यी जीव सातवे नरक में उत्पन्न होते हैं, अत· इस सूत्र में चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त के उत्थान और पतन का वर्णन किया गया है। चातुरन्त चक्रवर्ती महाराज ब्रह्मदत्त की सात धनुष की अवगाहना अर्थात् शारीरिक ऊचाई थी और वह सात सौ वर्ष की परमायु भोगकर मृत्यु के अनन्तर सातवे नरक के अप्रतिष्ठान नामक नारकावास मे नैरयिक के रूप मे उत्पन्न हुआ, क्योंकि केवल भौतिक सुख पतन का ही कारण है। आध्यात्मिक सुख ही वस्तुतः अनन्त सुख का मूल कारण माना गया है। जिसके पास यहा अनन्त भौतिक समृद्धिया थी, उसी ने अनन्त दुःखो को प्राप्त किया। भौतिक सुख-समृद्धि की लिप्सा अठारह तरह के पापो को जन्म देती है और उससे व्यक्ति अनन्त जीवो को मौत के घाट उतार देता है। इसी कारण भौतिक सुख-समृद्धि दुर्गति एव दुःख का मूल कारण माना गया है।

श्री मल्लिनाथ जी के साथ प्रव्रजित राजा

मूल—मल्ली णं अरहा अप्पसत्तमे मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, तं जहा—मल्ली विदेहरायवरकन्नगा, पडिबुद्धी इक्खागराया, चंदच्छाये अंगराया, रुप्पी कुणालाहिवई, संखे कासीराया, अदीणसत्तू कुरुराया, जियसत्तू पंचालराया॥२४॥

छाया—मल्ली खलु अर्हनात्मसप्तमो मुण्डो भूत्वाऽगारादनगारिकतां प्रव्रजितः, तद्यथा—मल्ली विदेहराजवरकन्यका, प्रतिबुद्धिरिक्ष्वाकुराजः, चन्द्रच्छायोऽङ्गराज, रुक्मी कुणालाधिपति, शङ्खः काशीराजा, अदीनशत्रुः, कुरुराजः जितशत्रुः पञ्चालराजः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—अरिहन्त मल्लीनाथ जी छः राजाओं के साथ राज्य को त्याग कर दीक्षित हुए, (उस समय छः दीक्षार्थी अन्य तथा सातवें स्वयं थे) जैसे—मल्लिनाथ जी विदेह देश के राजा की प्रधान पुत्री थी, प्रतिबुद्धि जो कि इक्ष्वाकुवशीय राजा थे, चन्द्रच्छाय जो कि अंगदेश के राजा थे, कुणाल देश के राजा रुक्मी, काशी देश के राजा शंख, कुरुदेश के राजा अदीनशत्रु और पाञ्चाल देश के राजा अजितशत्रु।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे दुर्गति प्राप्त चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का वर्णन किया गया है, अब सुगतिप्राप्त सात भव्य आत्माओं का परिचय देते हुए सूत्रकार सर्वप्रथम १९वें तीर्थकर श्री मल्लिनाथ भगवान के प्रव्रज्या कल्याणक की चर्चा करते है। जिस समय श्री मल्लिनाथ जी ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी उस समय छः अन्य राजाओ ने भी साथ ही दीक्षा ग्रहण की। भगवान मल्लिनाथ के पूर्वभव के साथी होने के कारण यहां उन छः राजाओं के नाम भी दिए गए हैं, जो उनके साथ प्रव्रजित हुए थे। यद्यपि भगवान के साथ तीन सौ स्त्रियो ने तथा तीन सौ पुरुषों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी। तथापि इस प्रसंग में पूर्वभव के साथी सात महामानवों का उल्लेख किया है। महाबल प्रमुख उन सात मुनिवरों का संपूर्ण वृत्तान्त इस प्रकार है—

इस जंबूद्वीप के अन्तर्गत पश्चिम महाविदेह के सलिलावति विजय की वीतशोका नामक राजधानी मे महाबल नाम का राजा राज्य करता था। उसने छः समवयस्क मित्रो के साथ दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेते समय अन्य छः अनगारों ने महाबल अनगार से कहा कि आप जो तप करेगे वही हम भी करेगे। इस तरह एक समान तप करने का निश्चय करने पर भी मुनिवर महाबल अपनी विशेष आत्मोन्नति के लिए अन्य मुनियों से छिपाव रखकर यह सोचते हुए कि जैसे कि मैं इस भव में इनसे बड़ा हू, वैसे ही जन्मांतर में भी मै इन से बड़ा ही बनकर रहू। कुछ उनसे भिन्न तपस्याए भी करने लगे। उन्होने यह भी सोचा कि मेरा यह मनोरथ तभी सफल हो सकता है जब कि मेरी तपस्या इनसे अधिक हो, अन्यथा नही। जितनी तपस्या मै करता हूं, उतनी ये भी करते हैं। इस प्रक्रिया से तो मेरे भावी भव मे विलक्षणता नही आ पाएगी। इस भावना से ओतप्रोत होकर महाबल मुनिवर ने कपट-पूर्ण तपश्चर्या करनी प्रारम्भ की, जिसके परिणाम स्वरूप उन्होने स्त्रीनाम-गोत्र कर्म का उपार्जन किया। उसके बाद जीवन के किसी भी क्षण में बीस बोलो की आराधना करते-करते उत्कृष्ट आत्म-साधना के द्वारा उन्होने तीर्थकर-नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन कर लिया। अपनी आयु पूर्णकर वे सात मुनिवर चौबीसवे जयत देवलोक के अनुत्तर-विमान में देवता के रूप मे उत्पन्न हुए।

वहा बत्तीस सागरोपम की आयु पूर्ण करके महाबल का जीव मिथिला की राजधानी मे कुम्भ राजा की प्रभावती रानी के गर्भ से तीर्थंकर पद प्राप्त करने के लिए बालिका के रूप में उत्पन्न हुआ। माता-पिता ने बालिका का नाम मल्लि रखा। दूसरे साथी भी जयंत

देवलोक से पृथ्वी पर आकर अयोध्या आदि नगरियों मे उत्पन्न हुए।

जब विदेहवर राजकन्या मल्लि की कुछ कम सौ वर्ष की आयु हुई, तब उसने अपने पूर्वभव के छ: मित्रों को अवधिज्ञान के द्वारा जाना और देखा। उनको प्रतिबोध देने के लिए राजकन्या मल्लि ने अपने उद्यान मे पहले से ही एक गर्भ-गृह बनवा लिया। उसमें छ: कक्ष थे, उन कक्षों के मध्य मे अपनी स्वर्णमयी एक मूर्ति बनवाई। इन कक्षो की रचना इस प्रकार की गई थी कि अलग-अलग कक्षों में बैठे हुए व्यक्ति सोने की मूर्ति को तो देख सकते थे, किन्तु परस्पर एक-दूसरे को नहीं। यह मूर्ति राजकन्या मल्लि के समान ही अतिसुन्दर थी। इस मूर्ति के मस्तक मे एक छिद्र था, जिसे कमल के आकार वाले ढक्कन से ढक दिया गया था। वह प्रतिदिन एक कंवल भोजन और एक घूट पानी उसमें डालती रही।

मल्लिनाथ के पूर्वभव का एक साथी अयोध्या का राजा बना, जिसका नाम प्रतिबुद्धि था। एक दिन उसने महारानी पद्मावती के द्वारा रचाए गए नाग-यज्ञ में पांच वर्णो के सुन्दर फूलों से गूथी हुई बहुत ही सुन्दर माला देखी। आश्चर्य चकित होते हुए प्रतिबुद्धि राजा ने मत्री से कहा—'तुमने क्या अन्यत्र कही ऐसी माला देखी है?' मत्री ने उत्तर दिया—"कुम्भ राजा की कन्या मल्लिकुमारी के पास जो माला मैंने देखी है उसे देखते हुए उसकी शोभा के आगे यह लाखवा अश भी नहीं है।" राजा ने मल्लिकुंवरी के विषय में पूछा कि वह कैसी है? मंत्री ने कहा—"ससार मे उसके समान अन्य कोई सुन्दरी नहीं है, निश्चित ही वह विश्व मे अनन्य सुदरी है।" राजा का मल्लिकुमारी के प्रति प्रेमाकर्षण एव अनुराग हो गया और उसे वरने के लिए उसके पिता कुम्भराजा के पास दूत भेज दिया।

उनका दूसरा साथी चद्रच्छाय अगदेश की राजधानी चपा मे राज्य करता था। वहीं पर अर्हन्नक नामक एक पोतवणिक् श्रावक भी रहता था। उसका विदेशो मे खूब व्यापार चल रहा था। एक बार यात्रा से लौटकर उसने चद्रच्छाय राजा को एक दिव्य कुण्डलो की जोड़ी भेट स्वरूप दी। राजा ने पूछा—"तुमने अनेक बार समुद्र-यात्राए की है, क्या कोई ऐसी वस्तु देखी है जो हमारे जैसों के लिए भी आश्चर्यजनक हो?" उत्तर मे उस श्रावक ने कहा—"पहले तो नही, इस यात्रा मे मुझे धर्म से विचलित करने के लिए एक देव ने भयावने उपसर्ग दिए। जब मै उसके दिए हुए उपसर्गो से किचिन्मात्र भी विचलित नही हुआ तब उसने सतुष्ट होकर दिव्यकुण्डलो की दो जोड़ियां दी। उनमे से मैंने एक जोडी राजा कुम्भ को दी है। राजा कुम्भ ने वे ही दो कुण्डल मेरे सामने मल्लिकुंवरी के कानों में पहना दिए। वह भुवन-मोहिनी कन्या तीन लोक में अपने समान सौन्दर्य नही रखती।" यह सुनकर चंद्रच्छाय राजा ने कुवरी को वरने के लिए कुम्भ राजा के पास एक दूत भेज दिया।

तीसरा साथी कुणाल देश की राजधानी श्रावस्ती में रुक्मी नामक राजा के रूप में राज्य करता था। एक दिन उसने अपनी कन्या के चातुर्मासिकी स्नान का महोत्सव मनाने के लिए नगरी के चौराहे में विशाल मंडप बनवाया। जब कन्या स्नान करके सब प्रकार के वस्त्र

आभूषणों से अलंकृत होकर अपने पिता के चरणों में प्रणाम करने के लिए आई तब राजा ने उसे अपनी गोद में बैठाकर उसके अदृष्ट पूर्व सौंदर्य को देखते हुए अपने मंत्री से कहा— "ओ वर्षधर। क्या तुमने किसी कन्या का ऐसा स्नान महोत्सव देखा है ?"

उसने कहा—"राजन्। विदेह-वर-कन्या का जो मैंने स्नान महोत्सव देखा है, उस की अपेक्षा यह महोत्सव लाखवा हिस्सा भी नही है, यह सुनकर राजा ने राग-भाव से आकृष्ट होकर उस कन्या को वरने के लिए मिथिला की ओर अपना दूत भेज दिया।

उनके पूर्व भव का चौथा साथी शंख काशी देश पर राज्य कर रहा था। एक बार मल्लि जी के कुंडलो की सन्धि खुल गई, उसे पुन: जोड़ने के लिए कुम्भ राजा ने सुनारो को आदेश दिया, किन्तु वे सुनार उन्हें पहले की तरह करने में असमर्थ रहे। राजा ने सुनारो को अयोग्य जानकर अपने देश से निकाल दिया। वे वाराणसी नरेश शंख के पास चले गए। राजा के पूछने पर सुनारो ने अपनी सारी बात कह सुनाई और साथ ही मल्लि कुंवरी के सौंदर्य की प्रशसा की। महाराज शंख ने राग से मोहित होकर उसे वरने के लिए अपना दूत मिथिला को भेज दिया।

उनके पूर्वभव का पाचवा साथी अदीनशत्रु हस्तिनापुर मे राज्य करता था। किसी समय मल्लिकुंवरी के छोटे भाई मल्लदिन्न कुमार ने एक चित्र-सभा बनवाई। सभा-भवन को चित्रित करना प्रारम्भ कर दिया गया। उन चित्रकारो में एक चित्रकार ने लब्धि-विशेष से सम्पन्न होने के कारण यवनिका के अदर मल्लिकुवरी के पैर के अगूठे को देख लिया और उसने अपनी सम्पूर्ण कला-विज्ञता से मल्लिकुवरी का ऐसा चित्र बनाया, जिसमें मल्लिकुंवरी सजीव सी प्रतीत होती थी। मल्लदिन्न कुमार अपने अन्त:पुर के साथ उस चित्र-भवन में आया। क्रमश: चित्र देखते-देखते उसकी दृष्टि मल्लिकुमारी के चित्र पर पड़ी। वह उसे साक्षात् मल्लिकुंवरी जानकर बड़ी बहिन के सामने इस प्रकार अविनय से सम्मुख आने के कारण लज्जित हुआ। उसकी धाय ने कहा, यह चित्र है साक्षात् मल्लिकुमारी नहीं। बड़ी बहिन का चित्र अयोग्य स्थान में बनाने के कारण चित्रकार पर मल्लदिन्न कुवर को बडा ही क्रोध आया और उसे प्राणदड की आज्ञा दी। सभी चित्रकारों ने मिलकर मल्लदिन्न कुमार के आगे प्रार्थना की कि ऐसे महान् गुणी कलाकार एवं चित्रकार को फासी की सजा नहीं देनी चाहिए। कुमार ने उनकी प्रार्थना पर ध्यान देते हुए चित्रकार के दाए हाथ का अंगूठा कटवा दिया ताकि वह फिर ऐसा चित्र न बना सके और साथ ही उसे देश-निकाला दे दिया। वह चित्रकार हस्तिनापुर में अदीनशत्रु राजा के पास चला गया। राजा के पूछने पर चित्रकार ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया और उसकी रूप प्रशसा सुनकर अदीनशत्रु ने राग-भाव से आकृष्ट होकर उसे वरने के लिए अपना दूत मिथिला में भेज दिया।

उनके पूर्वभव का छटा साथी जितशत्रु पांचाल देश का अधिपति बनकर कांपिलपुर में राज्य करता था। एक बार चोखा नामक परिव्राजिका ने मल्लिकुंवरी के भवन में प्रवेश

किया। वह राजकन्या के समक्ष दान-धर्म और शौच-धर्म का उपदेश देने लगी और साथ ही मल्लि जी के साथ शास्त्रार्थ करने लगी। मल्लि जी ने उसे शास्त्रार्थ में जीत लिया। निरुत्तर होकर गुस्से से भरी हुई वह परिव्राजिका राजा जितशत्रु के पास चली आई। राजा ने पूछा—'हे चोखे! तुम बहुत घूमती हो, क्या तुमने मेरी रानियो जैसी कोई सुन्दरी देखी है?' उसने कहा—'विदेह-राजकन्या को देखते हुए तुम्हारी जितनी भी सुन्दर रानियां है, उसकी सुन्दरता के समक्ष लाखवा अंश भी नही हैं।' राजा जितशत्रु ने भी मल्लिकुंवरी को वरने के लिए मिथिला में महाराज कुम्भ के पास अपना दूत भेज दिया।

छहो दूत राजा कुम्भ के पास पहुंचे और उन्होंने अपने-अपने राजा के लिए मल्लिकुवरी की याचना की। क्रोधाविष्ट राजा ने उन्हे दुत्कारा और अपद्वार से उन्हें बाहर निकाल दिया। दूतो के कहने से तथा उनको अपमानित करने से क्रोध में आकर सभी राजाओं ने मिथिला पर चढाई कर दी। उनके आक्रमण की बात सुनकर कुम्भ राजा भी अपनी सेना को लेकर युद्ध के लिए तैयार होकर राज्य की सीमा पर जा पहुचा और वहा उनकी प्रतीक्षा करने लगा। जब दोनों ओर से घोर संग्राम होने लगा तब कुम्भ राजा उनसे पराजित होकर अपनी नगरी में आ गया और दुर्ग के सभी महाद्वार बद कर दिए। उधर उन छहों राजाओं ने दुर्ग के चारों ओर सशस्त्र सेनाए तैनात कर दी। विजय का कोई उपाय न देखकर व्याकुलित चित्त होकर राजा कुम्भ ने मल्लिकुवरी के पास आकर सब बातें कह सुनाई। मल्लि जी ने कहा—"आप एक-एक राजा के पास अलग-अलग दूत के द्वारा सदेश भेज दीजिए, उन से कह देना कि मल्लिकुमारी तुम्हें ही दी जाएगी। केवल तुम्ही आओ। इस प्रकार क्रमश· छहो राजाओ को नगरी में बुला लीजिए।"

इस प्रकार सन्देश पाकर छहों राजा पूर्व-रचित गर्भगृह मे अलग-अलग छ: कमरों मे बैठ गए। प्रत्येक को इतना ही ज्ञान था कि यहा केवल मैं ही हूं, किन्तु एक को दूसरे का पता नही था। सामने की मूर्ति को साक्षात् मल्लिकुवरी समझते हुए, वे अनिमेष दृष्टि से उसे देखने लगे। इतने ही मे उस कन्या ने वहा आकर मूर्ति का ढक्कन खोल दिया, जिससे दु:सह्य दुर्गन्ध फैलने लगी। उसी दुर्गन्ध से व्याकुल होकर वे नाक ढाकने लगे और साथ ही उस मूर्ति से पराङ्मुख हो गए। मल्लि ने पूछा—"आपने नाक बद करके दूसरी ओर मुह क्यो फेर लिया? आप सोचें कि सोने की मूर्ति में डाला हुआ सुगधित एव मनभावन आहार भी इस प्रकार दुर्गन्धित हो सकता है। मै तो प्रतिदिन मनोज्ञ आहार का केवल एक कवल ही इस मे डालती रही हू। यह पुद्गल-परिणमनशील है। आप सोचे कि मलमूत्र, श्लेष्म आदि घृणित वस्तुओ से भरे हुए इस भौतिक शरीर मे इनका क्या परिणाम होता है? ऐसे गदे शरीर में आप क्यो आसक्त हो रहे हैं? आत्मा को दुर्गति में गिराने वाले काम-भोगों को छोड़ दीजिए। क्या आप को याद नहीं कि हम सब जयत-विमान से आए है। उस विमान में हम सब कितने लम्बे काल तक रहे हैं और उससे भी पहले मनुष्य-भव मे हम सब एक

साथ गृहवास में रहे है। जब प्रव्रज्या ग्रहण की तब भी हम सब साथ मे ही रहे। हम सब ने साथ मे रहने की प्रतिज्ञा की थी ?'' यह बात सुनकर सभी राजाओ के हृदय में उठे हुए मोह के बवण्डर शान्त हो गए और साथ ही मतिज्ञानावरणीय कर्म का विशेष क्षयोपशम हुआ। परिणाम स्वरूप छहों राजाओ को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ।

इसके अनन्तर मल्लि जी ने कहा—''मैं इस संसार से विरक्त होकर जैन भागवती दीक्षा लेने वाली हूं आप लोगो का क्या विचार है ?'' उन्होंने कहा—''हम भी दीक्षित होंगे।'' तब मल्लिकुमारी ने कहा—''यदि ऐसा ही है, तब तुम अपने-अपने नगर में जाओ और अपने-अपने पुत्रों को राज्य सौपकर मेरे पास चले आओ।'' इस बात को सब राजाओ ने स्वीकार कर लिया। उसके बाद मल्लिकुमारी उन्हे साथ लेकर कुम्भ राजा के पास गई। सभी राजाओं ने कुम्भ राजा के चरणो मे प्रणाम किया और साथ ही क्षमा भी मांगी। राजा कुम्भ ने भी उनका सत्कार-सम्मान किया और बड़े प्रमोद के साथ उनको विदाई दी।

मल्लिकुमारी ने वर्षीदान देकर पौष शुक्ला एकादशी को तेले के साथ अश्विनी नक्षत्र मे ३०० पुरुष तथा ३०० स्त्रियो के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। उन्होने जिस दिन दीक्षा ली उसी दिन उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होने केवलज्ञान होने के बाद उपर्युक्त छहों राजाओं को दीक्षित किया।

इस चरित्र से कई ऐतिहासिक सूचनाए प्राप्त हो रही है। मल्लिकुमारी जी मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान के धारी तो पहले से ही थे, गर्भावास मे ही उन्हें तीनों ज्ञान प्राप्त हो चुके थे। भेद-नीति के द्वारा उन्होने अपने पिता की जय-विजय कराई। पुद्गल का परिणाम प्रदर्शित करके स्नेह तथा कामराग को हटाया, वैराग्य उपदेश के द्वारा जाति-स्मरण ज्ञान की प्राप्ति इत्यादि बाते अनुभव करने योग्य है। धार्मिक कृत्यो मे माया का दुष्परिणाम भी बतलाया गया है। त्याग से निर्वाण-पद की प्राप्ति भी मननीय है। अवेदी और केवली होकर भी भगवान मल्लिनाथ जी रात्रि के समय साध्वियो की परिषद मे रहते थे, इस से लौकिक व्यवहार के पालने की शिक्षा दी गई है। इतना ही नहीं, छः राजाओ का त्याग और उनका भगवान के प्रति हार्दिक स्नेह भी मननीय है। यदि किसी व्यक्ति के हृदय मे मोहकर्म का विशेष उदय हो गया हो तो उस को सदुपदेश के द्वारा शान्त किया जा सकता है। इत्यादि अनेक रहस्य की बातें प्रकट होती है। छः राजा उत्कृष्ट तपसयम की आराधना करके सिद्ध हुए। भगवान मल्लिनाथ जी हजारों-लाखो जीवों को प्रतिबोध देकर सिद्ध हुए। चौबीस तीर्थंकरो में उन्नीसवें तीर्थकर मल्लिनाथ जी हुए, जिन्होने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप भावतीर्थ की स्थापना की। इस पाठ या इतिहास से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रत्नत्रय की आराधना करने से स्त्री भी परम-पद को प्राप्त कर सकती है। अवेदी होने के बाद सूत्रकार ने उन्हे पुल्लिंग वाचक शब्दों से विशेषित किया है, क्योंकि पुल्लिंग-वाचक शब्द उनके मोक्ष के लिए किए जाने वाले पौरुष की अभिव्यक्ति करते हैं।

सप्तविध दर्शन

मूल—सत्तविहे दंसणे पण्णत्ते, तं जहा—सम्मद्दंसणे, मिच्छदंसणे, सम्मामिच्छदंसणे, चक्खुदंसणे, अचक्खुदंसणे, ओहिदंसणे, केवल-दंसणे ॥ २५॥

छाया—सप्तविधं दर्शनं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—सम्यग्दर्शनं, मिथ्यादर्शनं, सम्यङ्-मिथ्यादर्शनं, चक्षुदर्शनम्, अचक्षुर्दर्शनम्, अवधिदर्शनं, केवलदर्शनम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दर्शन सात प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे—सम्यग्-दर्शन, मिथ्या-दर्शन, सम्यग्मिथ्या-दर्शन, चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधि-दर्शन और केवल-दर्शन।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे भगवान मल्लिनाथ की प्रव्रज्या का वर्णन किया गया है। उस प्रव्रज्या का अधिकारी सम्यग्दर्शन सम्पन्न साधक ही होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में सप्तविध दर्शन का निरूपण किया गया है।

दर्शन शब्द श्रद्धान और अनाकार-उपयोग दोनो के लिए प्रयुक्त होता है। दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम या उपशम होने पर ''सम्यग्दर्शन'' उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होते ही अज्ञान भी ज्ञान रूप मे परिणत हो जाता है। दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय होने से ''मिथ्यादर्शन'' उत्पन्न होता है। सत्य से विपरीत श्रद्धा ही मिथ्यादर्शन है। क्षयोपशम तथा उदय-भाव से ''मिश्र दर्शन'' होता है जिसका श्रद्धान सत्य और असत्य दोनो को स्पर्श करता है वह मिश्रदर्शन है। दर्शनावरणीय-कर्म के क्षयोपशम और क्षय से सामान्य बोध होता है। चक्षु-दर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधि-दर्शन ये तीनो दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं। सामान्यावबोध ही इनका स्वभाव है, किन्तु केवल-दर्शन दर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय होने पर ही उत्पन्न होता है।

छद्मस्थ वीतराग का कर्म प्रकृति-वेदन

मूल—छउमत्थवीयरागे णं मोहणिज्जवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ वेयेइ, तं जहा—णाणावरणिज्जं, दंसणावरणिज्जं, वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोत्तं अंतराइयं ॥ २६ ॥

छाया—छद्मस्थवीतरागो मोहनीयवर्जाः सप्तकर्म प्रकृतिर्वेदयति, तद्यथा— ज्ञाना-वरणीयं, दर्शनावरणीयं, वेदनीयम्, आयुः, नाम, गोत्रम्, अन्तरायम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—छद्मस्थ वीतराग भगवान मोहनीयकर्म को छोड़कर सात कर्म-प्रकृतियों का वेदन करते हैं, जैसे—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे 'दर्शन' का वर्णन किया गया है। केवलज्ञान उत्पन्न होने से पहले क्या वीतराग महापुरुष कर्म-प्रकृतियों की अनुभूति करते है ? अब सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में इसी शंका का समाधान कर रहे है।

ग्यारहवें उपशान्त और बारहवें क्षीणमोहनीय गुणस्थान मे अवस्थित जीव छद्मस्थ वीतराग कहलाता है। वहां पर वह मोहनीयकर्म को छोडकर शेष सात कर्म-प्रकृतियो का वेदन करता है। यद्यपि चार घातिकर्मों से आबद्ध महासाधक ही छद्मस्थ कहलाता है, किन्तु यहां ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन कर्मो का जो वेदन कर रहा है, वह भी छद्मस्थ ही माना गया है। जिसके जीवन मे मोह की कोई भी प्रकृति उदय में नही है, उसे वीतराग कहा जाता है। जिन गुणस्थानो मे मोह के अतिरिक्त शेष सात कर्म-प्रकृतियो का अनुभव किया जाता है, उन गुणस्थानो मे रहे हुए जीव छद्मस्थ-वीतराग कहलाते है।[1]

ससीम और निःसीम ज्ञान का विषय

मूल—सत्त ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं न याणइ, न पासइ, तं जहा—धम्मत्थिकायं, अधम्मत्थिकायं, आगासत्थिकायं, जीवं असरीरपडिबद्धं, परमाणुपोग्गलं, सद्दं, गंधं।

एयाणि चेव उप्पन्नणाणे जाणइ, पासइ, तं जहा—धम्मत्थिकायं जाव गंधं ॥२७॥

छाया—सप्त स्थानानि छद्मस्थः सर्वभावेन न जानाति, न पश्यति, तद्यथा—धर्मास्तिकायम्, अधर्मास्तिकायम्, आकाशास्तिकायं, जीवमशरीरप्रतिबद्धं, परमाणु-पुद्गलं, शब्दं, गन्धम्।

एतानि चैवोत्पन्नज्ञानो जानाति, पश्यति, तद्यथा— धर्मास्तिकायं यावद् गन्धम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात स्थानो को छद्मस्थ आत्मा सर्व प्रकार से न जान पाता है और न देख पाता है, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, शरीर रहित जीव, परमाणुपुद्गल तथा शब्द और गन्ध के पुद्गलों को।

---

१. छद्मनि—आवरणद्वयरूपे अन्तराये च कर्मणि तिष्ठतीति छद्मस्थः—अनुत्पन्नकेवलज्ञानदर्शन., स चासौ वीतरागश्च उपशान्तमोहत्वात्, क्षीणमोहत्वाद्वा विगतरागोदय इत्यर्थ·। 'सत्त', त्ति मोहस्य क्षयादुपशमाद्वा नाष्टावित्यर्थः।

इन सातो अर्थात् धर्मास्तिकाय से लेकर गन्ध-पुद्गल तक सभी के स्वरूप को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी सर्व प्रकार से जानते व देखते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में छद्मस्थता का वर्णन किया गया है। जब तक साधक मे छद्मस्थता है, तब तक वह पूर्ण ज्ञानी नही बन सकता। प्रस्तुत सूत्र मे छद्मस्थ की ज्ञान-सीमा का वर्णन किया गया है और साथ ही उनके असीम ज्ञान पर प्रकाश डाला गया है।

छद्मस्थ सात विषयो को सपूर्णरूप से न जान सकता है और न देख सकता है, जैसे कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, शरीर-रहित विशुद्धात्मा। ये चार पदार्थ अरूपी हैं। परमाणु-पुद्गल, शब्द और गध ये तीन पौद्गलिक होने पर भी उन्हे सर्व पर्यायो सहित वह नहीं जान सकता, वह उनके कुछ अश का ही ज्ञान प्राप्त कर पाता है।

केवली भगवान उक्त सात पदार्थो को सर्वांग रूप से जानते व देखते है। उनका ज्ञान रूपी और अरूपी सभी पदार्थो का प्रत्यक्ष कर लेता है।

भगवान महावीर की शरीर सम्पदा

मूल—समणे भगवं महावीरे वयरोसभणारायसंघयणे समचउरंससंठाण-संठिए, सत्त रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं हुत्था॥२८॥

छाया—श्रमणो भगवान् महावीरो वज्रऋषभनाराचसंहननः समचतुरस्रसंस्थान-संस्थितः, सप्तरत्नय ऊर्ध्वमुच्चत्वेनाभूत्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वज्रऋषभनाराच सहनन से युक्त और समचतुरस्र-संस्थान वाले थे, वे ऊंचाई मे सात रत्नि परिमाण थे।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र के अन्तिमाश मे सर्वज्ञ भगवान के असीम ज्ञान का वर्णन किया गया है, अब सर्वज्ञ प्रभु महावीर की शरीर-सम्पदा का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है कि—शारीरिक शक्ति की पराकाष्ठा को वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन कहते है। सर्वांग सुन्दर मान-उन्मान-प्रमाण युक्त शरीर को समचतुरस्र संस्थान कहते है। उनका शरीर उत्सेध अंगुल से सात हाथ की ऊंचाई वाला था। यद्यपि अपने हाथ से सभी मनुष्य प्रायः साढे तीन हाथ के ही होते हैं, तदपि भगवान महावीर के अपने अंगुल से उत्सेध अगुल दुगुना था। भगवान महावीर में सर्वोच्च शक्ति, सर्वागसौन्दर्य और प्रमाणोपेत उच्चता ये तीनो शरीर-संपदाएं अपने आप मे अनुपम थीं।

सात विकथाएं

मूल—सत्त विकहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—इत्थिकहा, भत्तकहा, देसकहा, रायकहा, मिउकालुणिया, दंसणभेयणी, चरित्तभेयणी॥२९॥

छाया—सप्त विकथाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा, मृदुकारुणिकी, दर्शनभेदिनी, चारित्रभेदिनी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात विकथाएं वर्णन की गई हैं, जैसे—स्त्री-कथा, भक्त कथा, देश-कथा, राज-कथा, मृदुकारुणिकी कथा, दर्शनभेदन करने वाली कथा और चारित्र का भेदन करने वाली कथा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे भगवान महावीर की शरीर-सम्पदा का वर्णन किया गया है। यह शरीर-सम्पदा उन्हीं साधक आत्माओ को प्राप्त होती है जो विकथाओ से दूर रहते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र मे विकथाओ का परिचय दिया गया है। जो बातें या कथाए आत्मलक्ष्य से भटकाने वाली है, उन्हे विकथा कहते हैं। स्त्री-कथा, भक्तकथा, राज-कथा और देश-कथा, इनका विस्तृत वर्णन चतुर्थ स्थान मे किया जा चुका है। शेष तीन विकथाओं का वर्णन निम्नलिखित है, जैसे कि—

मृदुकारुणिकी—जिसको सुनने से श्रोताओं के हृदय में शोक उत्पन्न हो जाए, पुत्र आदि के वियोग से दुःखित हुई माता, पति के वियोग से दुखित स्त्री आदि की कथा करना, उपन्यास आदि मे चित्रित युवक और युवती का वियोग और आखो से आसू बहाने वाली कथा मृदुकारुणिकी कहलाती है। इससे शोक उत्पन्न होता है और शोक समाधि को भग कर देता है। समाधिस्थ होना साधक के लिए आवश्यक है, अतः उसके लिए मृदुकारुणिकी कथा वर्ज्य है।

दर्शन-भेदिनी—जिस बात या कथा से श्रोता सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो जाए, उसके सम्यग्ज्ञान का भी नाश हो जाए, अन्य दर्शनो के प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाए और ज्ञानादि की अधिकता से कुतीर्थी की प्रशंसा करने लगे इत्यादि, सब बाते दर्शन-भेदिनी विकथा कहलाती है।

चारित्र-भेदिनी—जिस कथा से वक्ता या श्रोता चारित्र से भ्रष्ट हो जाए, चारित्र की निंदा करना या चारित्र के प्रति उपेक्षा रखना, जैसे कि—"आज के युग में कोई भी साधु पाच महाव्रतो का पालन कर ही नही सकता, क्योंकि सभी साधुओं मे प्रमाद बढ़ा हुआ है। दोष बहुत लगते हैं, अतिचारों को शुद्ध करने वाला कोई भी आचार्य नहीं मिलता है। जिनके पास आलोचना की जाती है वे शोधक आचार्य भी उन्ही अतिचारो के सेवन करने वाले है, अतः शुद्धि के अभाव से तीर्थ मे सिर्फ ज्ञान और दर्शन ही वर्त रहे है। इन्हीं की प्राप्ति में प्रयत्नशील होना चाहिए।" ऐसी बातें करने से या सुनने से किसी का चारित्र स्थिर नहीं रह पाता है, अतः साधक को इस प्रकार की चारित्र-भेदिनी कथाओं से भी दूर रहने का प्रयास करना चाहिए।

आचार्य और उपाध्याय के अतिशय

मूल—आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि सत्त अइसेसा पण्णत्ता, तं जहा— आयरिय उवज्झाए अंतोउवस्सयस्स पाए णिगिज्झिय-णिगिज्झिय पप्फोडेमाणे वा, पमज्जमाणे वा णाइक्कमइ, एवं जहा पंचट्ठाणे जाव बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा, दुरायं वा वसमाणे नाइक्कमइ। उवगरणा-इसेसे, भत्तपाणाइसेसे॥३०॥

छाया—आचार्योपाध्याययोः गणे सप्त अतिशेषाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आचार्यो-पाध्याययोरन्तरुपाश्रयस्य पादौ निगृह्य-निगृह्य प्रस्फोटयन् वा, प्रमार्जयन् वा नातिक्रामति, एवं यथा पञ्चमस्थाने यावद् बहिरुपाश्रयाद् एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसन् नातिक्रामति, उपकरणातिशेषः, भक्तपानातिशेषः।

शब्दार्थ—गणंसि—गच्छ में, **आयरियउवज्झायस्स णं**—आचार्य और उपाध्याय के, **सत्त अइसेसा पण्णत्ता, तं जहा**—सात अतिशेष—अतिशय कथन किए गए है, जैसे, **आयरियउवज्झाए**—आचार्य और उपाध्याय, **अंतो उवस्सयस्स**—उपाश्रय के भीतर, **पाए णिगिज्झिय-णिगिज्झिय**—पाओं को पकड़कर, **पप्फोडेमाणे वा**—झाड़ते हुए अथवा, **पमज्जमाणे वा**—प्रमार्जन करते हुए, **णाइक्कमइ**—भगवान की आज्ञा उल्लंघन नहीं करते, **एवं जहा पंचट्ठाणे**—इसी प्रकार जैसे पंचम स्थान में वर्णन किया है, **जाव**—यावत्, **बाहिं उवस्सयस्स**—उपाश्रय के बाहर, **एगरायं वा, दुरायं वा**—एक रात्रि या दो रात्रि, **वसमाणे नाइक्कमइ**—निवास करते हुए प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते, **उवगरणाइसेसे**—उपकरणातिशेष, **भत्तपाणाइसेसे**—भक्तपान अतिशेष।

मूलार्थ—गण मे आचार्य और उपाध्याय के सात अतिशेष वर्णन किए गए हैं, जैसे—आचार्य और उपाध्याय यदि उपाश्रय के अन्दर पैरों को पकड़कर प्रस्फोटन तथा प्रमार्जन करते हैं तो वे प्रभु-आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते। उसी प्रकार जैसे पांचवें स्थान में कहा गया है, यावत् उपाश्रय के बाहर एक रात्रि अथवा दो रात्रि निवास करते हुए प्रभु आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते। आचार्य और उपाध्याय के द्वारा सुन्दर उपकरण रखना उनका उपकरण-अतिशय है। सुन्दर एवं विशिष्ट आहार-पानी से आचार्य-उपाध्याय की सेवा करना यह उनका भक्तपान-अतिशेष है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में विकथाओ का वर्णन किया गया है। विकथाओं में सलग्न हुए साधुओं को आचार्य-उपाध्याय ही निवारण कर सकते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में आचार्य और उपाध्याय के सात अतिशय अर्थात् अन्य साधुओ की अपेक्षा से उनमें जो सात

विशेषताएं होती हैं, उनका वर्णन किया गया है। जैसे कि—

१. आचार्य-उपाध्याय धूल से भरे हुए अपने चरणों का प्रस्फोटन एवं प्रमार्जन उपाश्रय मे आकर कर सकते है।

२ उनकी दूसरी विशेषता यह है कि वे उपाश्रय में रहकर भी उच्चार-प्रश्रवण अर्थात् यथा स्थान मल-मूत्र का त्याग कर सकते है।

३ उनकी तीसरी विशेषता यह है—उनके लिए किसी मुनि की सेवा करना या न करना अनिवार्य नही है, प्रत्युत उनकी इच्छा पर निर्भर है।

४ उनकी चौथी विशेषता है—उपाश्रय के भीतर एक या दो रात्रि पर्यन्त एकाकी रहकर पाठ-जप आदि करना हो तो वे पृथक् रह सकते है।

५ उनकी पांचवी विशेषता यह है कि—उपाश्रय से बाहर उद्यान या देवालय आदि में यदि मंत्र या कोई विद्या सिद्ध करनी हो तो वे एक या दो राते वहां रह सकते है अधिक नहीं। इन पांच अतिशयों का वर्णन पंचम स्थान में भी किया जा चुका है।

६ उनकी छठी विशेषता यह है कि—अन्य साधुओ की अपेक्षा आचार्य-उपाध्याय के वस्त्र आदि उपकरण उत्तम एवं प्रभावक होने चाहिएं।

७ उनकी सातवी विशेषता यह है कि—जो आहार सुपाच्य, सुपथ्य एव पुष्टिकर हो, वही क्षेत्रकाल के अनुसार उन्हें देना चाहिए, कारण कि जब उनका शरीर स्वस्थ एव शक्ति- संपन्न होगा तभी वे श्रमण-सघ एवं श्रीसघ की विशेष सेवा कर सकेंगे। भक्त-पान अतिशय के विषय में एक प्राचीन गाथा का उद्धरण देना प्रसंगोचित होगा, यथा—

''सुत्तत्थथिरीकरणं विणओ गुरुपूय सेहबहुमाणो।
दाणवइ सद्धवुड्ढी बुद्धि-बल-वद्धणं चेव॥''

इस गाथा में उपकरणातिशय और भक्तपानातिशय दोनों का स्वरूप बतलाया गया है। जो शिष्य श्रेष्ठ उपकरणों से तथा पवित्र-पुष्ट सुपथ्य भोजन-पान से आचार्य एव उपाध्याय की सेवा करता है, उसका सूत्र और अर्थ स्थिर रहता है। इससे शिष्य की विनीतता सिद्ध होती है और गुरु की पूजा भी। गुरु के मन में शिष्य के प्रति बहुमान बढ़ता है, तथा दान देने वाले की श्रद्धा भी बढ़ती है। आचार्य-उपाध्याय की सेवा में संलग्न रहने से शिष्य की बुद्धि और बल दोनों बढ़ते है। इसीलिये सूत्रकार ने आचार्य एव उपाध्याय के उपकरणों और भक्तपान-अतिशय का वर्णन किया है।

संयम, असंयम, आरम्भ एवं अनारम्भ

मूल—सत्तविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविकाइयसंजमे जाव तसकाइयसंजमे, अजीवकायसंजमे।

सत्तविहे असंजमे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविकाइय-असंजमे जाव तसकाइयअसंजमे, अजीवकाय-असंजमे।

सत्तविहे आरंभे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविकाइय-आरंभे जाव अजीवकाइय-आरंभे। एवमणारंभेवि, एवं सारंभेवि, एवमसमारंभेवि, जाव अजीवकाय असमारंभे ॥ ३१॥

छाया—सप्तविधः संयम प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पृथ्वीकायिकसंयमो यावत् त्रसकायिक-संयमः, अजीवकाय-संयमः।

सप्तविधोऽसंयमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पृथ्वीकायिकासंयमो यावत् त्रसकायिकासंयमः, अजीवकायासंयमः।

सप्तविध आरम्भ प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पृथ्वीकायिकारम्भो यावद् अजीवकायारम्भः। एवमनारम्भोऽपि, एवं संरम्भोऽपि, एवमसमारम्भोऽपि, यावद् अजीवकायासमारम्भः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात प्रकार का संयम है, जैसे कि षट्काय के संयम से लेकर अजीव-काय के संयम तक।

सात प्रकार का असंयम होता है, जैसे कि पृथ्वीकाय के असंयम से लेकर त्रसकाय के असंयम तक और अजीव काय का असंयम।

सात प्रकार का आरम्भ है, जैसे—पृथ्वीकाय के आरम्भ से लेकर अजीवकाय के आरम्भ तक। इसी प्रकार अनारम्भ भी सात प्रकार का है। इसी तरह संरम्भ भी सात प्रकार का है, पृथ्वीकाय से लेकर अजीवकाय तक असमारम्भ भी सात प्रकार का जानना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में आचार्य एव उपाध्याय के सात अतिशयों का वर्णन किया गया है, वे अतिशय समाज-सेवा के लिए तथा सयम की प्रबलता के लिए ही होते हैं, अतएव सूत्रकार अब सयमादि की सप्तविधता का वर्णन करते है।

संयम—

संयम मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है। जैसे कि जीव-काय-सयम और अजीवकाय-सयम। पृथ्वीकाय आदि छः प्रकार के जीवों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होना जीवकाय संयम है और वस्त्र-पात्र पुस्तक आदि उपकरणों को यतनापूर्वक उठाना तथा रखना एवं उन्हे उपयोग मे लाना अजीव-काय-संयम है। अहिंसा की रक्षा के लिए यतना अनिवार्य है।

असंयम—

पृथ्वीकायिक आदि जीवों की हिंसा करना, उन्हें संतप्त करना, उनकी रक्षा में प्रयत्नशील

न होकर अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए उनकी विनाश-लीला देखने का उपक्रम रचना आदि जीवकाय-असंयम है और वस्त्र-पात्र पुस्तक आदि उपकरणों को बिना यतना के उठाना, रखना और उपयोग मे लाना आदि अजीवकाय असंयम है। साराश इतना ही है कि जीवो की रक्षा करना संयम है और उनकी रक्षा न करना असंयम है। संयम से हिंसा का निरोध होता है और असयम से हिसा में प्रवृत्ति होती है। अत: मुमुक्षु आत्माओं को चाहिए कि वे सयम के द्वारा स्वाभीष्ट कार्य की सिद्धि करें।

संरम्भ-असंरम्भ—

छ: जीव निकाय और अजीवकाय के लिए मन मे बुरे संकल्प करना, मन से किसी की हिंसा करना, मन को हिंसा आदि प्रवृत्तियों में प्रवृत्त करना, मन को अनियन्त्रित होकर कार्य करने देना संरभ है और मन मे सब प्राणियों के प्रति मंगल-भावना रखना, मन को अहिंसा-सत्य आदि धर्म-कार्यो मे प्रवृत्त करना असरम्भ है।

समारम्भ-असमारम्भ—

छ: जीव निकायों को किसी न किसी वस्तु से सन्तप्त करना, कठोर शब्दो से किसी को पीडा देना, या किसी को अभावग्रस्त करना या उसकी वस्तु चुरा लेना इत्यादि अनेक रीतियों से प्राणियो को दुखित करना तथा अजीवकाय को अयतना से काम मे लाना समारम्भ है और अपनी ओर से किसी भी जीव वस्तु को पीडाग्रस्त न करना तथा यतनापूर्वक सम्भालकर उपयोग करना असमारम्भ है।

आरम्भ-अनारम्भ—

छ: जीवनिकायों की हिंसा करना, उनकी विराधना करना, उनके प्राण लेना तथा अजीवकाय को अयतना से उपयोग मे लाना या अयतना से फैकना अजीवकाय-आरम्भ है। किसी भी जीव की हिंसा न करना तथा यतना से अजीवकाय को काम मे लाना अनारम्भ है। कहा भी है—

''आरंभो उद्दवओ, परितावकरो भवे समारंभो।
संकप्पो संरंभो सुद्धनयाणं तु सव्वेसि॥''

यहा यह शका होनी स्वाभाविक है कि छ: जीव-निकाय मे तो यह संयम और असयम-नियम घट सकता है, किन्तु अजीवकाय-असयम में यह संयम-असयम नियम कैसे घट सकता है? इस शंका की निवृत्ति के लिए कहा जा सकता है कि जो पुस्तक आदि अजीवकाय के आश्रित जीव है, उनको लक्ष्य मे रख कर यह कहा गया है, अत: अजीव की प्रधानता के कारण अजीवकाय-आरम्भादि कहना अनुचित नहीं है। वस्त्र-पात्र, पुस्तक आदि उपकरण सयम के बाह्य साधन हैं, अत: संयम की पूर्ति के लिए उनकी ओर ध्यान देना भी संयम-साधना का महत्वपूर्ण अंग है, अत: उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अलसी आदि के बीजों की अंकुरण-शक्ति

मूल—अह भंते! अयसि-कुसुंभ-कोद्दव-कंगु-रालग-(वराकोदूसगा) सण-सरिसव-मूलग-बीयाणं एएसिणं धन्नाणं कोट्ठाउत्ताणं, पल्लाउत्ताणं जाव पिहियाणं केवइयं कालं जोणि संचिट्ठइ?

गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्त संवच्छराइं, तेण परं जोणी पमिलायइ जाव जोणी वोच्छेए पण्णत्ते॥३२॥

छाया—अथ भदन्त! अतसी-कुसुम्भ-कोद्रव-कङ्गुरालक-[वराकोदूषक] सण-सर्षप-मूलक-बीजानामेतेषां खलु धान्यानां कोष्ठागुप्तानां, पल्यागुप्तानां, यावत् पिहितानां कियन्तं कालं योनिः संतिष्ठते?

गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्तम, उत्कर्षेण सप्त संवत्सराणि, ततः पर योनिः प्रम्लायति, यावद् योनिव्युच्छेदः प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—अह भंते—हे भगवन्, **अयसि**—अलसी, **कुसुंभ**—कुसुंभा, **कोद्दव**—कोद्रव, **कंगु**—कगणी, **रालग**—रालक, **वराकोदूसगा**—वराकोदूषक, **सण**—सन, **सरिसव**—सरसो, **मूलगबीयाणं**—मूलक बीज, **एएसिणं**—इन, **धन्नाणं**—धान्यो को, **कोट्ठाउत्ताणं**—कोष्ठागार में सुरक्षित रखने पर, **पल्लाउत्ताणं**—पल्य में स्थापित करने पर, **जाव**—यावत्, **पिहियाणं**—अच्छी प्रकार से ढके हुओं की, **केवइयं कालं**—कितने समय तक, **जोणि संचिट्ठइ**—योनि सचित्त रह सकती है?

गोयमा—हे गौतम।, **जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं**—जघन्य अर्थात् कम से कम अन्तर्मुहूर्त, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट, **सत्तसंवच्छराइं**—सात सम्वत्सर परिमाण, **तेण परं**—उसके उपरान्त, **जोणी पमिलायइ**—योनि कुम्हला जाती है, **जाव**—यावत्, **जोणी वोच्छेए पण्णत्ते**—योनि का व्यवच्छेद हो जाता है।

मूलार्थ—हे भगवन्! अलसी, कुसुम्भ, कोद्रव, कंगु, रालक, वराकोदूषक, सण, सर्षप, मूलग-बीज, इन धान्यों को कोठे और पल्य मे गुप्त रखने पर यावत् आच्छादन किए हुओ की कितने समय तक योनि सचित्त रह सकती है? हे गौतम। जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सात वर्ष पर्यन्त, तत्पश्चात् योनि अर्थात् अंकुरणशक्ति कुम्हला जाती है, यावत् बीज से अबीज और योनि का व्यवच्छेद हो जाता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जीवाश्रित और अजीवाश्रित सयम-असंयम का वर्णन किया गया है। धान्यों में जब तक अंकुरण शक्ति-रहती है तब तक वे सजीव कहलाते हैं, जब उनकी अंकुरण-शक्ति नष्ट हो जाती है, तब वे अजीव की कोटि में आ जाते है। अतः गौतम स्वामी धान्यो को लक्ष्य में रखकर उनकी सजीवता और अजीवता के विषय में प्रश्न करते है और महावीर उनका समाधान करते हैं।

भगवन्! अलसी, कुसुंभ, कोद्रव, कांगणी, रालक (कांगनी धान्य का दूसरा भेद), वरकोदूषक—अर्थात् कोद्रव की दूसरी जाति का धान्य, सरसों तथा मूलबीज धान्यों को कोठे में भरकर रखने पर, गोबर से लिपे हुए स्थान में विधि-पूर्वक धान्य को सुरक्षित रखने पर अधिक से अधिक कितने काल तक उनमे उगने की शक्ति विद्यमान रहती है?

इसके उत्तर में भगवान ने कहा—"गौतम। इनकी योनि अर्थात् अंकुरण-शक्ति जघन्य अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सात वर्ष पर्यन्त रह सकती है। उसके बाद उन बीजों में उगने की शक्ति नहीं रह जाती। बीज भी अबीज बन जाता है, उसकी अंकुरित होने की शक्ति नष्ट हो जाती है, अत: वह निर्जीव हो जाता है। इस विषय का विशेष वर्णन तीसरे और पांचवें स्थान में किया जा चुका है।

अप्कायिक और नारकी जीवों का स्थितिकाल

मूल—बायर आउकाइयाणं उक्कोसेणं सत्त वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता।

तच्चाए णं बालुयप्पभाए पुढवीए उक्कोसेणं नेरइयाणं सत्त सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।

चउत्थीएणं पंकप्पभाए पुढवीए जहण्णेणं नेरइयाणं सत्त सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ॥३३॥

छाया—बादराप्कायिकानामुत्कर्षेण सप्त वर्षसहस्राणि स्थिति: प्रज्ञप्ता।

तृतीयस्यां बालुकाप्रभायां पृथिव्यामुत्कर्षेण नैरयिकानां सप्तसागरोपमानि स्थिति: प्रज्ञप्ता।

चतुर्थ्यां पङ्कप्रभायां पृथिव्यां जघन्येन नैरयिकानां सप्त सागरोपमानि स्थिति: प्रज्ञप्ता।

शब्दार्थ—बायर आउकाइयाण—बादर अप्काय के जीवों की, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट, **सत्त वाससहस्साइं**—सात हजार वर्ष की, **ठिई पण्णत्ता**—स्थिति कथन की गई है।

तच्चाए णं—तीसरी, **बालुयप्पभाए पुढवीए**—बालुकाप्रभा पृथ्वी मे, **नेरइयाणं**—नारकों की, **सत्त सागरोवमाइं**—सात सागरोपम, **ठिई पण्णत्ता**—स्थिति प्रतिपादन की गई है।

चउत्थीए णं पंकप्पभाए पुढवीए—चतुर्थी पंकप्रभा नामक पृथ्वी मे, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट रूप से, **नेरइयाणं**—नारकों की, **सत्त सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता**—सात सागरोपम की स्थिति वर्णन की गई है।

मूलार्थ—बादर अप्काय जीवों की उत्कृष्ट स्थिति सात हजार वर्ष की है।

तीसरी बालुकाप्रभा नामक पृथ्वी में नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम की है।

चौथी पंकप्रभा पृथ्वी में नारकियों की जघन्य स्थिति सात सागरोपम की कथन की गई है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में धान्यो की अंकुरण-शक्ति के स्थितिकाल का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार उसी परम्परा में कुछ अन्य जीवो के विभिन्न स्थानों मे स्थितिकाल का वर्णन करते है। बादर अप्कायिक जीवो की उत्कृष्ट स्थिति प्राय: घनोदधि में पाई जाती है और वे वहा सात हजार वर्ष तक जीवन धारण कर सकते हैं।

तीसरी बालुकाप्रभा पृथ्वी के नौवे प्रस्तट में नैरयिकों की उत्कृष्ट सात सागरोपम की स्थिति होती है।

चौथी पृथ्वी के पहले प्रस्तट में नैरयिकों की कम से कम स्थिति सात सागरोपम की है। जिनकी आयु या स्थिति निश्चित रूप से सात की संख्या को पूर्ण करने वाली है, उन्हीं का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र मे किया गया है, अन्य का नहीं।

तीन लोकपालों की अग्रमहिषियां

मूल—सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो वरुणस्स महारन्नो सत्त अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो सत्त अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो जमस्स महारन्नो सत्त अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ॥३४॥

छाया—शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य वरुणस्य महाराजस्य सप्त अग्रमहिष्य: प्रज्ञप्ता:।

ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य सप्त अग्रमहिष्य: प्रज्ञप्ता:।

ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य यमस्य महाराजस्य सप्त अग्रमहिष्य: प्रज्ञप्ता:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—शक्र देवेन्द्र देवराज के वरुण लोकपाल की सात अग्रमहिषियां है।

ईशान देवेन्द्र देवराज के लोकपाल सोम महाराज की सात अग्रमहिषियां हैं।

ईशान देवेन्द्र देवराज के लोकपाल यम महाराज की सात अग्रमहिषियां हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अधोलोकस्थ जीवो के स्थिति-काल का वर्णन किया गया

है। अब सूत्रकार अधोलोक के विपरीत ऊर्ध्वलोक के कुछ देवो की दैवी-सम्पत्ति का वर्णन करते हैं। वैमानिक इन्द्रों के चार-चार लोकपाल हैं जो कि क्रमश: चारों दिशाओं के अधिपति है, उनके नाम है सोम, यम, वरुण और कुबेर। उन में से सौधर्मेन्द्र के वरुण नामक लोकपाल की सात पट्टदेवियां हैं। ईशानेन्द्र के सोम और यम नामक लोकपालो की सात-सात अग्रमहिषियां है। अन्य देवियों में प्रधान देवी को अग्रमहिषी या पट्टदेवी कहते हैं। ज्योतिष्क और वाणव्यतरों के लोकपाल और त्रायत्रिंशदेव नहीं होते। शेष सभी इद्रों के लोकपाल और त्रायत्रिंश देव होते हैं।

देव और देवियों का स्थितिकाल

मूल—ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अब्भिंतरपरिसाए देवाणं सत्त पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अग्गमहिसीणं देवीणं सत्त पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता।

सोहम्मे कप्पे परिग्गहियाणं देवीणं उक्कोसेणं सत्त पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ॥ ३५॥

छाया—ईशानस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य आभ्यन्तरपरिषदि देवानां सप्त पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अग्रमहिषीणां देवीनां सप्त पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

सौधर्मे कल्पे परिगृहीतानां देवीनामुत्कर्षेण सप्त पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—ईशान देवेन्द्र देवराज की आभ्यन्तर परिषद् में देवो की सात पल्योपम की स्थिति कथन की गई है।

शक्र देवेन्द्र देवराज की अग्रमहिषी देवियों की सात पल्योपम की स्थिति कथन की गई है।

सौधर्म देवलोक में परिगृहीत देवियो की उत्कृष्ट स्थिति सात पल्योपम की बताई गई है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे वरुण आदि देवो की अग्रमहिषियों का वर्णन किया गया है, अब उसी परम्परा मे जिन देव और देवियों की स्थिति सात पल्योपम की निश्चित रूप से है उनका उल्लेख प्रस्तुत सूत्र मे किया गया है।

ईशानेन्द्र की आभ्यन्तरिक परिषद् के जो देव है उनकी स्थिति सात पल्योपम की है। शक्रेन्द्र की जितनी अग्रमहिषी देविया हैं, उनकी स्थिति सात पल्योपम की होती है तथा सौधर्मकल्प देवलोक मे देवियों की उत्कृष्ट आयु सात पल्योपम की है। जो देवों की परिग्रह रूप देवियां है, वे परिगृहीता कहलाती है। जो देविया स्वतन्त्र हैं, वे अपरिगृहीता कहलाती हैं। यहां परिगृहीता देवियो की स्थिति उत्कृष्ट सात पल्योपम की बताई गई है।

लोकान्तिक देव और उनका परिवार

मूल—सारस्सयमाइच्चाणं सत्त देवा, सत्त देवसया पण्णत्ता।
गद्दतोयतुसियाणं देवाणं सत्तदेवा, सत्त देवसहस्सा पण्णत्ता॥३६॥

छाया—सारस्वतादित्यानां सप्त देवाः, सप्त देवशतानि प्रज्ञप्तानि।
गर्दतोय-तुषितानां देवानां सप्त देवाः सप्तदेवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सारस्वत और आदित्य ये सात देव हैं और सात-सात सौ इनका परिवार है।

गर्दतोय और तुषित ये भी सात-सात देव हैं परन्तु इनका परिवार सात-सात सहस्र देवों का है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वर्णित देव-परम्परा के अन्तर्गत प्रस्तुत सूत्र में लोकान्तिक देवों का वर्णन किया गया है। लोकान्तिक देव पांचवे देवलोक मे निवास करते हैं। इन के नौ विमान हैं, आठवे स्थान मे इनका सपूर्ण वर्णन किया जाएगा। उन नौ मे से सारस्वत और आदित्य नामक देवो के प्रत्येक विमान मे सात-सात देव निवास करते हैं और सात-सात सौ उनका लोकान्तिक-देव परिवार है।

गर्दतोय और तुषित इन विमानो में भी सात-सात देव है तथा सात-सात हजार उनका देव परिवार है।

सनत्कुमार आदि कल्पों में देव-स्थिति

मूल—सणंकुमारे कप्पे उक्कोसेणं देवाणं सत्त सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।
माहिंदे कप्पे उक्कोसेणं देवाणं साइरेगाइं सत्त सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।
बंभलोए कप्पे जहण्णेणं देवाणं सत्त सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता॥३७॥

छाया—सनत्कुमारे कल्पे उत्कर्षेण देवानां सप्त सागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।
माहेन्द्रे कल्पे उत्कर्षेण देवानां सातिरेकाणि सप्त सागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।
ब्रह्मलोके कल्पे जघन्येन देवानां सप्त सागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सनत्कुमार कल्प मे देवों की उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम की है। माहेन्द्र कल्प में देवों की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक सात सागरोपम की है। ब्रह्मलोक कल्प में देवों की जघन्य स्थिति सात सागरोपम की है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे लोकान्तिक देवों का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार देव-वर्णन की परम्परा में उन देवलोको का वर्णन करते है, जिनमें देवों की स्थिति सात सागर की है।

तीसरे देवलोक में जो देव उत्कृष्ट स्थिति वाले हैं उनकी स्थिति सात सागरोपम की है।

चौथे देवलोक मे उत्कृष्ट स्थिति वाले देव सात सागर से कुछ अधिक काल पर्यन्त जीने वाले होते है।

पाचवे देवलोक मे जिनकी आयु सात सागरोपम की है, वे जघन्य स्थिति वाले अर्थात् कम से कम आयु वाले देव कहलाते हैं।[१]

ब्रह्मलोक और लान्तक कल्प के विमानों की ऊंचाई

मूल—बंभलोयलंतएसु णं कप्पेसु विमाणा सत्त जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता ॥ ३८ ॥

छाया—ब्रह्मलोकलान्तकयोः कल्पयोर्विमानानि सप्त योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—ब्रह्मलोक और लान्तक इन दो कल्पों के विमान सात सौ योजन की ऊंचाई वाले हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे प्रथम देवलोक से लेकर पचम देवलोक के निवासी देवो तक का आयु-काल वर्णित किया गया है। अब सूत्रकार उसी वर्णन-परम्परा में पांचवें और छठे देवलोक के विमानो का वर्णन करते हुए कहते हैं कि पांचवें और छठे इन दो कल्पों मे विमानों की ऊंचाई सात सौ योजन की है। यहां सप्तम स्थान के अनुरोध से केवल उन्हीं देव-विमानों का वर्णन किया गया है जिनका येन-केन प्रकारेण सात की संख्या से सम्बन्ध है, शेष का वर्णन यथास्थान किया गया है।

---

१. विशेष परिज्ञान के लिए देखिए प्रज्ञापना सूत्र, स्थिति-पद।

देवों के भवधारणीय शरीरों की उत्कृष्ट अवगाहना

मूल—भवणवासीणं देवाणं भवधारणिज्जा सरीरगा उक्कोसेणं सत्त रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं। एवं वाणमंतराणं, एवं जोइसियाणं।

सोहम्मीसाणेसु णं कप्पेसु देवाणं भवधारणिज्जगा सरीर सत्त रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता॥३९॥

छाया—भवनवासिनां देवानां भवधारणीयानि शरीराण्युत्कर्षेण सप्त रत्नय उर्ध्वमुच्चत्वेन। एवं वाणव्यन्तराणाम्, एवं ज्योतिष्काणाम्।

सौधर्मेशानयोः कल्पयोः देवानां भवधारणीयानि शरीराणि सप्त रत्नय ऊर्ध्व-मुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—भवनवासी देवो की भवधारणीय शरीरो की उत्कृष्ट अवगाहना सात रत्नि परिमाण ऊंची कही गई है। इतनी ही व्यन्तरों की और ज्योतिष्क देवो की भी अवगाहना जाननी चाहिए।

सौधर्म और ईशान कल्पो मे देवों के भवधारणीय शरीर की ऊचाई भी सात रत्नि परिमाण कथन की गई है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में देव विमानों की ऊचाई का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र मे देवों की उत्कृष्ट अवगाहना का वर्णन किया गया है। भवनपति, वानव्यंतर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ईशान देवलोक के देवों के भवधारणीय शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना सात हाथ की होती है। यह अवगाहना उत्सेध अंगुल से जाननी चाहिए।

नन्दीश्वर द्वीप के अन्तर्गत द्वीप और समुद्र

मूल—णंदिस्सरवरस्स णं दीवस्स अंतो सत्त दीवा पण्णत्ता, तं जहा—जंबुद्दीवे दीवे, धायइसंडे दीवे, पोक्खरवरे, वरुणवरे, खीरवरे, घयवरे, खोयवरे।

णंदीसरवरस्स णं दीवस्स अंतो सत्त समुद्दा पण्णत्ता, तं जहा—लवणे, कालोए, पुक्खरोदे, वरुणोदे, खीरोदे, घओदे, खोओदे॥४०॥

छाया—नन्दीश्वरवरस्य द्वीपस्यान्तः सप्त द्वीपाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा— जम्बूद्वीपो द्वीपः, धातकीषण्डो द्वीपः, पुष्करवरः, वरुणवरः, क्षीरवरः, घृतवरः, क्षोदवरः।

नन्दीश्वरस्य द्वीपस्यान्तः सप्त समुद्राः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—लवणः, कालोद, पुष्करोदः, वरुणोदः, क्षीरोदः, घृतोदः, क्षोदोदः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नन्दीश्वर वर द्वीप के भीतर सात द्वीप कथन किए गए है, जैसे—जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, पुष्करवर, वरुणवर, क्षीरवर, घृतवर और इक्षोदवर।

नन्दीश्वरवर द्वीप के भीतर सात समुद्र प्रतिपादन किए गए हैं जैसे—लवणसमुद्र, कालोदसमुद्र, पुष्करोदसमुद्र, वरुणोदसमुद्र, क्षीरोदसमुद्र, घृतोदसमुद्र और ईक्षोदसमुद्र।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे भवधारणीय शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना का वर्णन किया गया है, द्वीप समुद्रों मे भी देवो का निवास है अत: अब सूत्रकार नन्दीश्वरवर द्वीप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—नन्दीश्वरवर द्वीप के भीतर सात द्वीप है और सात ही समुद्र है। उन द्वीप और समुद्रो के नामो का निर्देश मूलार्थ मे कर दिया गया है, जम्बूद्वीप से आठवां द्वीप नन्दीश्वर है, वह अन्य द्वीपो की अपेक्षा विशेष रमणीय है।

सात श्रेणियां

मूल—सत्त सेढीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—उज्जुआयया, एगओ वंका, दुहओ वंका, एगओखुहा, दुहओखुहा, चक्कवाला, अद्धचक्कवाला ॥४१॥

छाया—सप्त श्रेणय: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ऋज्वायता, एकतोवक्रा, द्विधातोवक्रा, एकत·खा, द्विधात:खा, चक्रवाला, अर्द्धचक्रवाला।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात श्रेणियां वर्णन की गई है, जैसे—ऋजुदीर्घ, एक ओर से वक्राकार, दोनों ओर से वक्राकार, एक ओर से अंकुशाकार, दोनों ओर से अकुशाकार, चक्राकार और अर्द्धचक्राकार।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वलगारा नन्दीश्वरवर द्वीप के अन्तर्गत द्वीपो और समुदो का परिचय दिया गया है। इस द्वीप के सभी प्रदेश श्रेणि-आधार पर अवस्थित हैं अत: प्रस्तुत सूत्र मे श्रेणियों का वर्णन किया गया है। जिनमे जीव और पुद्‌गल की गति होती है उन आकाश-प्रदेशों की पंक्तियो को श्रेणि कहते हैं। जीव और पुद्‌गल जब एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करते है, तब श्रेणि के अनुसार ही गति करते हैं। कहा भी है "**अनुश्रेणि गति:**" बिना श्रेणि के उनकी गति नहीं हो सकती। वे श्रेणियां सात प्रकार की होती है, जैसे कि—

१. ऋजु-आयता—जिस श्रेणि में जीव और पुद्‌गल एक समय में ही एक स्थान से चलकर लोकान्त तक पहुच जाते हैं, वह श्रेणि ऊची-नीची, पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर सभी दिशाओं मे सीधी चली जाती है, वही "ऋजु-आयता" श्रेणी कहलाती है। जो

आकाश-प्रदेश पंक्ति रूप में अवस्थित हैं, वे ही श्रेणियां हैं। कहा भी है **"एते च प्रदेशश्रेणिसमूहात्मकक्षेत्राधारः श्रेण्यवस्थिता इति"** इस श्रेणि का आकार खड़ी सीधी रेखा के समान अथवा आड़ी-सीधी रेखा के समान होता है।

२. एकतोवक्रा—जिस श्रेणि मे जीव सीधा जाकर दूसरी श्रेणि मे प्रवेश करता है उसे एकतोवक्रा कहते हैं। इसके द्वारा जाने वाले जीव को गन्तव्य स्थान मे पहुंचने के लिए दो समय लगते हैं। उसका आकार अर्ध चतुष्कोण के समान होता है।

३. उभयतोवक्रा—जिस श्रेणि में गति करता हुआ जीव दो बार वक्रगति करता है, उसे उभयतोवक्रा कहते हैं। उसका आकार पहले कुछ सीधा फिर वक्र और फिर सीधा होता है। इस श्रेणी में जाने वाले जीव को गन्तव्य स्थान तक पहुंचने मे तीन समय लगते हैं।

४ एकतःखा—जिस श्रेणि मे जीव गति करता हुआ त्रसनाडी के बाई ओर से प्रवेश करता है और फिर त्रसनाडी द्वारा जाकर उसके बाई ओर वाले मार्ग में उत्पन्न होता है उस श्रेणि विशेष को **"एकतःखा"** कहते है। उसका आकार अकुश के समान होता है। इस श्रेणि के एक ओर त्रसनाड़ी के बाहर का आकाश गणना में आया हुआ है। इस श्रेणि में उत्कृष्ट चार समय की गति होने पर भी क्षेत्र की अपेक्षा से इसको अलग कहा गया है।

५. उभयतःखा—जो जीव त्रसनाड़ी के बाहर से बाई ओर से प्रवेश करके त्रसनाडी द्वारा जाते हुए दाई ओर उत्पन्न होते हैं, उस श्रेणि को 'उभयतःखा' कहते है। उसका आकार दोनों ओर से मुड़ी हुई रेखाओ के समान होता है।

६. चक्रवाल—जिस श्रेणि में पुद्‌गल गोलाकार गति करता है, गोल चक्कर खा कर अवस्थित होता है, वह श्रेणि चक्रवाल कहलाती है। उसका आकार वर्तुल जैसा होता है।

७ अर्द्धचक्रवाल—जिस श्रेणि में आधा चक्कर खाकर पुद्‌गल अवस्थित हो जाता है, वह 'अर्द्धचक्रवाल' कहलाता है। उसका आकार अर्ध वर्तुल जैसा होता है।

ये सब श्रेणियां लोक पर्यन्त प्रदेशों की अपेक्षा जाननी चाहिएं। इन श्रेणियों में ही जीवों की गति होती है और पुद्‌गल की भी।[१]

इन्द्रों की सेना और सेनापति

मूल—चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए, पीढाणिए, कुंजराणिए, महिसाणिए, रहाणिए, नट्टाणिए, गंधव्वाणिए, दुमे पायत्ताणियाहिवई। एवं जहा पंचमट्ठाणे जाव किन्नरे रहाणियाहिवई, रिट्ठे णट्टाणियाहिवई,

१. इस विषय के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए भगवती सूत्र का २५वां शतक।

गीयरई गंधव्वाणियाहिवई।

बलिस्स णं वइरोणिंदस्स वइरोयणरण्णो सत्ताणिया, सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए। महद्दुमे पायत्ताणि-याहिवई जाव किंपुरिसे रहाणियाहिवई, महारिट्ठे णट्टाणियाहिवई, गीयजसे गंधव्वाणियाहिवई।

धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई, पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए। रुद्दसेणे पायत्ताणियाहिवई जाव आणंदे रहाणियाहिवई, नंदणे णट्टाणियाहिवई, तेयली गंधव्वाणियाहिवई।

भूयाणंदस्स सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए। दक्खे पायत्ताणियाहिवई जाव णंदुत्तरे रहाणियाहिवई, रई णट्टाणियाहिवई, माणसे गंधव्वाणियाहिवई। एवं जाव घोसमहाघोसाणं नेयव्वं।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए। हरिणेगमेसी पायत्ता-णियाहिवई जाव माढरे रहाणियाहिवई, सेए णट्टाणियाहिवई, तुंबुरू गंधव्वाणियाहिवई।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सत्त अणिया सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए। लहुपरक्कमे पायत्ता-णियाहिवई जाव महासेए णट्टाणियाहिवई, रए गंधव्वाणियाहिवई। सेसं जहा पंचम ट्ठाणे। एवं जाव अच्चुतस्सवि नेयव्वं ॥४२॥

छाया—चमरस्य खलु असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य सप्तानीकानि, सप्तानी-काधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं, पीठानीकं, कुञ्जरानीकं, महिषानीकं, रथानीकं, नाट्यानीकं, गन्धर्वानीकम्। द्रुमः पादातानीकाधिपतिः। एवं यथा पञ्चमस्थाने यावत् किन्नरो रथानीकाधिपतिः, रिष्टो नाट्याधिपतिः गीतरतिर्गन्धर्वानीकाधिपतिः।

बलेः वैरोचनेन्द्रस्य वैरोचनराजस्य सप्त अनीकानि, सप्त अनीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावद् गन्धर्वानीकम्। महाद्रुमः पादातानीकाधिपतिर्यावत् किम्पुरुषो रथानीकाधिपतिः, महारिष्टो नाट्यानीकाधिपतिः गीतयशो गन्धर्वानीका-धिपतिः।

धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य सप्तानीकानि, सप्तानीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावत् गन्धर्वानीकम्। रुद्रसेनः पादातानीकाधिपतिर्यावद् आनन्दो रथानीकाधिपतिः, नन्दनो नाट्यानीकाधिपतिः, तेतली गन्धर्वानीकाधिपतिः।

भूतानन्दस्य सप्तानीकानि, सप्तानीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावत् गन्धर्वानीकम्। दक्ष पादातानीकाधिपतिर्यावद् नन्दोत्तरो रथानीकाधिपतिः, रतिर्नाट्यानीकाधिपतिः, मानसो गन्धर्वानीकाधिपतिः। एवं यावत् घोषमहाघोषयोर्नेतव्यम्।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सप्तानीकानि, सप्तानीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावत् गन्धर्वानीकम्। हरिनैगमेषी पादातानीकाधिपतिर्यावन्माठरो रथानीकाधिपतिः, श्वेतो नाट्यानीकाधिपतिः, तुम्बरुर्गन्धर्वानीकाधिपतिः।

ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सप्तानीकानि, सप्तानीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावद् गन्धर्वानीकम्। लघुपराक्रमः पादातानीकाधिपतिर्यावन्महाश्वेतो नाट्यानीकाधिपतिः, रतिर्गन्धर्वानीकाधिपतिः, शेष यथा पञ्चमस्थाने। एवं यावत् अच्युतस्यापि नेतव्यम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चमर असुरेन्द्र असुरकुमारराज के सात अनीक हैं और सात ही अनीकाधिपति कथन किए गए है, जैसे—पादातानीक, पीठानीक, कुञ्जरानीक, महिषानीक, रथानीक, नाट्यानीक, गन्धर्वानीक। द्रुमदेव पादातानीकाधिपति है। इसी प्रकार जैसे पाचवें स्थान में वर्णन किया गया है, यावत् किन्नर रथानीकाधिपति है। रिष्ट नाट्यानीकाधिपति और गीतरति गन्धर्वानीकाधिपति है।

बलि वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज के सात अनीक एव सात अनीकाधिपति हैं, जैसे—पादातानीक यावत् गन्धर्वानीक। महाद्रुम-देव पादातानीकाधिपति है यावत् किम्पुरुष रथानीकाधिपति है और महारिष्ट नाट्यानीकाधिपति है, गीतयश गन्धर्वानीकाधिपति है।

धरणेन्द्र नागकुमारेन्द्र नागकुमार राज के सात अनीक हैं और सातों के ही अनीकाधिपति हैं, जैसे पादातानीक यावत् गन्धर्वानीक। रुद्रसेन पादाताधिपति यावत् आनन्द रथानीकाधिपति है एवं नन्दन नाट्यानीकाधिपति है। तेतली गन्धर्वानीकाधिपति है।

भूतानन्द के सात अनीक तथा सात अनीकाधिपति हैं—पादातानीकाधिपति यावत् गन्धर्वानीकाधिपति। दक्ष पादातानीकाधिपति यावत् नन्दोत्तर रथानीकाधिपति है। रति नाट्यानीकाधिपति है तथा मानस गन्धर्वानीकाधिपति है। एवं यावत् घोष और महाघोष इन्द्रो के विषय में भी समझना चाहिए।

शक्र देवेन्द्र देवराज के सात अनीक तथा सात अनीकाधिपति हैं—पादातानीक यावत् गन्धर्वानीकाधिपति। हरिणैगमेषी पादातानीकाधिपति यावत् माठर रथानीकाधिपति, श्वेत नाट्यानीकाधिपति है एवं तुम्बरु गन्धर्वानीकाधिपति है।

ईशानेन्द्र देवराज के सात अनीक तथा सात अनीकाधिपति हैं, जैसे—पादातानीकाधिपति यावत् गन्धर्वानीकाधिपति। लघुपराक्रम पादातानीकाधिपति यावत् महाश्वेत नाट्यानीकाधिपति है एवं रति गन्धर्वानीकाधिपति है। शेष वर्णन जैसे पचम स्थान में किया गया है, अच्युतेन्द्र तक का वर्णन इसी भांति जान लेना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सात श्रेणियो का अर्थात् जीव की गमन-रीतियो का वर्णन किया गया है। यदि जीव संसार से देवलोको मे जाता है तो उसे वहा की शासन-व्यवस्था एवं शासको से परिचित होना आवश्यक है। शासन-व्यवस्था का दायित्व सेनाओं और उनके सेनापतियों का होता है, अत· प्रस्तुत सूत्र में इन्द्रो की सेनाओं का और उनके सेनापतियो के नामो का निर्देश किया गया है।

अनीक शब्द का सामान्य अर्थ समूह है, परन्तु वह सैनिक-समूह के लिए रुढ़ हो चुका है, जैसे धरती के राजाओ की चतुरगिणी सेना होती है, वैसे ही देवेन्द्रों की सेना सप्ताङ्गिनी होती है, जैसे कि—पदात्यनीक, पीठानीक, कुंजरानीक, महिषानीक, रथानीक, नाट्यानीक और गंधर्वानीक। पैदल चलने वाली सेना को पदात्यनीक कहते हैं। घोड़ों पर सवार होकर चलने वाली सेना को पीठानीक कहते है। हाथियों पर बैठकर चलने वाली सेना को कुजरानीक कहा जाता है। भैसो पर बैठकर चलने वाली सेना को महिषानीक तथा रथो पर बैठकर चलने वाली सेना रथानीक कहलाती है।

हाथी, घोड़े, भैसे आदि पशु देवलोक मे नहीं है, अत: आभियोगिक देव ही उन जैसा आकार धारण कर लेते हैं। इसी दृष्टि से कुञ्जर भैंसो आदि की सेना का वर्णन किया गया है। नर्तकों की सेना को नाट्यानीक कहते हैं और गधर्वो की सेना को गधर्वानीक कहा जाता है। शत्रु को नाटक दिखाकर तथा संगीत के द्वारा वश करने का काम नाट्यानीक और गधर्वानीक को करना होता है।

यहां जैसे सप्तांगिनी सेना का वर्णन किया गया है वैसे ही उसके साथ ही सेनापतियो के नाम भी दिए गए है। नामो में कहीं एकता है और कहीं भिन्नता है। इस विषय की विशेष जानकारी के लिए नीचे विवरण दिया जाता है—

दक्षिण दिशा में रहने वाले असुरकुमार महाराज चमरेन्द्र के सात अनीक हैं और उनके अधिनायक भी सात ही हैं, जिनके नाम हैं:—द्रुम, सौदाम, कुथु, लोहिताक्ष, किन्नर, रिष्ट और गीतरति।

उत्तर दिशा में रहने वाले असुरकुमारो के महाराज बलीन्द्र के सात अनीक हैं और

उनके अधिनायक सेनानी भी क्रमशः सात ही है। उनके नाम निम्नलिखित है:—महाद्रुम, महासौदाम, मालंकार, महालोहिताक्ष, किंपुरुष, महारिष्ट और गीतयश।

दक्षिण दिशा मे रहने वाले नागकुमार महाराज धरणेन्द्र के सात अनीक हैं और सात ही अनीकों के अधिनायक सेनानी हैं, उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—रुद्रसेन, यशोधर, सुदर्शन, नीलकंठ, आनन्द, नन्दन, तेतली।

उत्तर दिशा मे रहने वाले नागकुमार महाराज भूतानंद के सात अनीक हैं और सात अनीकों के सेनापतियो के नाम क्रमशः निम्नलिखित हैं:—जैसे कि दक्ष, सुग्रीव, सुविक्रम, श्वेतकण्ठ, नंदोत्तर, रति और मानस।

धरणेन्द्र की तरह आठ दाक्षिणात्य भवनपति इन्द्रों के सेनापतियों के नाम वेणुदेव, हरिकान्त, अग्निशिख, पूर्णजलकान्त, अमितगति, वेलम्ब और घोष समझने चाहिएं।

भूतानन्द इन्द्र के सेनापतियों के जो नाम हैं, वे ही नाम उत्तर दिशा में रहने वाले वेणुदालि, हरिसह, अग्निमानव, वशिष्ट, जलप्रभ, अमितवाहन, प्रभंजन और महाघोष इन आठ भवनपति इन्द्रो के सेनापतियों के भी है।

कुछ कल्प देवलोक भी दक्षिण और उत्तर मे विभक्त है। सौधर्म देवलोक में शक्रेन्द्र महाराज का राज्य है। उसके भी सात प्रकार के अनीक और सात ही उनके अधिपति सेनानी हैं। पदाति सेना का सेनानी हरिनैगमेषी, अश्वसेना का वायु, कुञ्जर सेना का सेनानी ऐरावण, वृषभानीक का सेनानी दामर्द्धि, रथसेना का सेनापति माठर, नाट्यानीक का सेनापति श्वेत, गंधर्वानीक के सेनानी का नाम तुम्बरू है।

कल्पदेवलोकों में सौधर्म देवलोक दक्षिण की ओर है और ईशान देवलोक उत्तर दिशा मे है। उस पर शासन करने वाले इन्द्र को ईशानेन्द्र कहते हैं। उसकी सेना भी सात प्रकार की है और उन सेनाओ के सेनानी भी सात ही हैं। उनके नाम निम्नलिखित है जैसे कि—पदाति सेना का अधिपति लघुपराक्रम है, अश्वानीक का अधिपति महावायु, हस्ती सेना के सेनानी पुष्पदंत, वृषभानीक का अधिपति महादामर्द्धि, रथानीक का अधिपति महामाठर, नाट्यानीक का सेनानी महाश्वेत और गधर्वानीक के सेनानी का नाम रत है।

तीसरे, पाचवे और सातवे कल्पदेवलोक के सेनापतियो के नाम शक्रेन्द्र की तरह जानने चाहिएं और चौथे, छट्ठे, आठवें, दसवें और बारहवें कल्प के इन्द्रों के सेनानियो के नाम ईशानेन्द्र के सेनानियो की तरह जानने चाहिएं। देवों तथा सेनापतियों आदि की आराधना-विधि गुरु-आम्नाय से जाननी चाहिए।

इन्द्रों के अनीकाधिपतियों की कक्षाओं के देव

मूल—चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो दुमस्स पायत्ताणिया-हिवइस्स सत्त कच्छा पण्णत्ता, तं जहा—पढमा कच्छा जाव सत्तमा कच्छा।

चमरस्स णमसुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो दुमस्स पायत्ताणियाहिवइस्स पढमाए कच्छाए चउसट्ठि देवसहस्सा पण्णत्ता। जावइया पढमा कच्छा, तव्विगुणा दोच्चा कच्छा, तव्विगुणा तच्चा कच्छा, एवं जाव जावइया छट्ठा कच्छा तव्विगुणा सत्तमा कच्छा।

एवं बलिस्सवि। णवरं महद्दुमे सट्ठिदेवसाहस्सिओ, सेसं तं चेव।

धरणस्स एवं चेव, णवरमट्ठावीसं देवसहस्स, सेसं तं चेव। जहा धरणस्स एवं जाव महाघोसस्स, नवरं पायत्ताणियाहिवई अन्ने, ते पुव्व भणिया।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो हरिणेगमेसिस्स सत्त कच्छाओ पन्नताओ, तं जहा—पढमा कच्छा, एवं जहा चमरस्स तहा जाव अच्चुयस्स। णाणत्तं पायत्ताणियाहिवई णं ते पुव्व भणिया।

देव परिमाणमिमं—सक्कस्स चउरासीति देवसहस्सा। ईसाणस्स असीई देवसहस्साइं। देवा इमाए गाहाए अणुगंतव्वा—

चउरासीइ असीइ, वावत्तरि सत्तरि य सट्ठिया।
पन्ना चत्तालीसा, तीसा वीसा दस सहस्सा॥१॥

जाव अच्चुयस्स लहुपरक्कमस्स दस देवसहस्सा जाव जावत्तिया छट्ठा कच्छा तव्विगुणा सत्तमा कच्छा॥४३॥

छाया—चमरस्य खलु असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य द्रुमस्य पादातानीकाधिपतेः सप्त कक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रथमा कक्षा यावत् सप्तमा कक्षा।

चमरस्यासुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य द्रुमस्य पादातानीकाधिपतेः प्रथमायां कक्षायां चतुःषष्टिर्देवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। यावतिका प्रथमा कक्षा तद्द्विगुणा द्वितीया कक्षा, तद्द्विगुणा तृतीया कक्षा, एवं यावत् यावतिका षष्ठी कक्षा, तद्द्विगुणा सप्तमी कक्षा। एवं बलेरपि। नवरं महाद्रुमः षष्टिदेवसाहस्त्रिकः, शेषं तदेव।

धरणस्यैवञ्चैव, नवरमष्टाविंशतिर्देवसहस्त्राणि, शेषं तदेव, यथाधरणस्य। एवं यावत् महाघोषस्य, नवरं पादातानीकाधिपतयोऽन्ये ते पूर्वं भणिता।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य हरिणैगमैषिणः सप्त कक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा प्रथमा कक्षा, एवं यथा चमरस्य तथा यावदच्युतस्य। नानात्वं पादातानीकाधिपतीनां ते पूर्वभणिता।

देवपरिमाणमिदम्—शक्रस्य चतुरशीतिर्देवसहस्राणि। ईशानस्याशीतिर्देवसहस्राणि। देवा अनया गाथया अनुगन्तव्याः—

चतुरशीतिरशीतिर्द्वासप्ततिः सप्ततिश्च षष्टिः।
पञ्चाशच्चत्वारिंशत्, त्रिंशद् विंशतिः दशसहस्राणि॥१॥

यावदच्युतस्य। लघुपराक्रमस्य दशदेवसहस्राणि यावद् यावतिका षष्ठी कक्षा, तद्द्विगुणा सप्तमी कक्षा।

शब्दार्थ—चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो—चमर असुरेन्द्र असुरकुमारराज के, **दुमस्स पायत्ताणियाहिवइस्स**—द्रुम नामक पादातानीकाधिपति की, **सत्त कच्छाओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—सात कक्षाये प्रतिपादन की गई हैं, जैसे, **पढमा कच्छा जाव सत्तमा कच्छा**—प्रथमा कक्षा से लेकर सातवी कक्षा तक।

चमरस्स णमसुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो—चमर असुरेन्द्र असुरकुमारराज के, **दुमस्स पायत्ताणियाहिवइस्स**—द्रुम नामक पादातानीकाधिपति की, **पढमाए कच्छाए**—प्रथम कक्षा मे, **चउसट्ठि देवसहस्सा पण्णत्ता**—चौंसठ हजार देव कथन किए गए हैं, **जावइया पढमा कच्छा**—जितनी प्रथमा कक्षा है, **तव्विगुणा दोच्चा कच्छा**—उससे द्विगुणित दूसरी कक्षा है, **तव्विगुणा तच्चा कच्छा**—उससे द्विगुणित तीसरी कक्षा है, **एवं जाव जावइया छट्ठा कच्छा**—इस क्रम से जितनी छट्ठी कक्षा है, **तव्विगुणा सत्तमा कच्छा**—उससे द्विगुणित सातवी कक्षा है।

एवं बलिस्सवि—इसी प्रकार बलीन्द्र की भी सात ही कक्षायें जाननी चाहिए, **णवरं**—किन्तु इतना विशेष है कि, **महद्दुमे सट्ठिदेवसाहस्सिओ**—महाद्रुम के साठ हजार देव है, **सेसं तं चेव**—शेष पूर्ववत् ही है।

धरणस्स एव चेव—धरणेन्द्र की कक्षाए भी इसी प्रकार समझनी चाहिए, **णवरमट्ठावीसं देवसहस्सा**—किन्तु उसमें अट्ठाईस हजार देव हैं। **सेसं तं चेव**—शेष उसी प्रकार है। **जहा धरणस्स एवं जाव महाघोसस्स**—जैसे धरणेन्द्र का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार महाघोष आदि की भी कक्षाए जाननी चाहिएं, **नवरं**—किन्तु इतना विशेष है कि, **पायत्ताणियाहिवई अन्ने, ते पुव्व भणिया**—पादातानीक-अधिपति अन्य है, उनका वर्णन किया जा चुका है।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो हरिणेगमेसिस्स—शक्र देवेन्द्र देवराज के हरिणैगमेषी की, **सत्त कच्छाओ पन्नताओ**—सात कक्षाए कही गई है, जैसे, **पढमा कच्छा, एवं जहा चमरस्स**—प्रथमा कक्षा से लेकर सातवी कक्षा तक, ठीक उसी प्रकार जैमे चमरेन्द्र की कक्षाये बताई गई हैं। **तहा जाव अच्चुयस्स**—उसी तरह अच्युतेन्द्र तक कक्षा-व्यवस्था समझनी चाहिए। **णाणत्तं**—परन्तु विशेषता यह है कि, **पायत्ताणियाहिवई णं ते पुव्व**

भाणिया—जो पादातानीक-अधिपति हैं, वे पहले कहे जा चुके है।

देव परिमाणमिमं—देवों का परिमाण इस तरह है, **सक्कस्स चउरासीति देवसहस्सा**—शक्रेन्द्र के चौरासी हजार देव हैं, **ईसाणस्स असीति देवसहस्साइं**—ईशानेन्द्र के अस्सी हजार देव हैं, **देवा इमाए गहाए अणुगंतव्वा**—देवों का परिमाण इस गाथा से जानना चाहिए।

चउरासीइ—चौरासी, **असीई**—अस्सी, **बावत्तरि**—बहत्तर, **सत्तरि**—सत्तर, **य**—और, **सट्ठिया**—साठ हजार, **पन्ना चत्तालीसा**—पच्चास और चालीस, **तीसा वीसा दस सहस्सा**—तीस, बीस और दस हजार है। **जाव अच्चुयस्स**—यावत् अच्युतेन्द्र के, **लहुपरक्कमस्स**—लघु पराक्रम अधिपति के, **दस देवसहस्सा**—दश हजार देव है, **जाव जावइया**—यावत् जितनी, **छट्ठा कच्छा, तव्विगुणा सत्तमा कच्छा**—छट्ठी कक्षा है, उससे द्विगुणित सप्तमी कक्षा है।

मूलार्थ—चमर असुरेन्द्र असुरकुमारराज के द्रुम पादातानीक अधिपति की सात कक्षाये वर्णन की गई है, यथा—प्रथमा कक्षा से लेकर सप्तमी कक्षा तक। चमर असुरेन्द्र असुरकुमारराज के द्रुम पादातानीक अधिपति की प्रथम कक्षा में चौसठ हजार देव हैं। जितने प्रथम कक्षा में देव है उससे दुगने दूसरी कक्षा में, उससे द्विगुण तीसरी कक्षा में। इस क्रम से जितने देव छठी कक्षा मे हैं, उससे दुगने सातवीं कक्षा मे कथन किए गए है।

इसी प्रकार बलीन्द्र के विषय मे भी जानना चाहिए। विशेष केवल इतना ही है कि महाद्रुम की कक्षा में साठ हजार देव हैं, शेष वर्णन पूर्ववत् ही जानना चाहिए।

धरणेन्द्र की कक्षाएं भी इसी प्रकार समझनी चाहिए, किन्तु विशेष इतना ही है कि उसकी प्रथमा कक्षा मे अट्ठाईस हजार देव हैं, शेष पूर्ववत्। जैसे धरणेन्द्र का वर्णन है, उसी प्रकार महाघोषेन्द्र तक के विषय में जानना चाहिए। विशेषता इतनी है कि पादातानीक अधिपति के विषय में जैसे पूर्व वर्णन किया गया है, तद्वत् ही समझना चाहिए।

शक्र देवेन्द्र देवराज के हरिणैगमेषी देव की सात कक्षायें है, जैसे प्रथमा कक्षा से लेकर सातवीं कक्षा तक, यथा चमरेन्द्र के विषय में वर्णन किया गया है, उसी प्रकार अच्युतेन्द्र तक के विषय मे भी जानना चाहिए। विशेषता इतनी है कि पादातानीक-अधिपति जैसे पूर्व कथन किए जा चुके हैं, वैसे ही है—

देवों का परिमाण इस प्रकार है—शक्रेन्द्र के चौरासी हजार, ईशानेन्द्र के अस्सी हजार देव प्रथमा कक्षा में हैं। गाथानुसार देवों की संख्या इस प्रकार है—

चौरासी हजार, अस्सी हजार, बहत्तर हजार, सत्तर हजार, साठ हजार, पचास

हजार, चालीस हजार, तीस हजार, बीस हजार, दस हजार यावत् अच्युतेन्द्र के लघु पराक्रम देव के दस हजार देव प्रथमा कक्षा मे हैं यावत् जितने षष्ठी कक्षा में देव हैं, उससे दुगुने सातवी कक्षा के देव जानने चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में देवों की सेनाओं और सेनापतियों का उल्लेख किया गया है। अब सूत्रकार पाठक की इस जिज्ञासा का समाधान करते है कि देव-सेनाओं की संख्या कितनी है। असुरकुमार भवनपतियों के दो इन्द्र है—चमरेन्द्र और बलीन्द्र। चमरेन्द्र का पादातानीक-पैदल फौज का सेनानी द्रुम है, उसका अखंड शासन सात कक्षाओं पर चलता है। पदाति सेना के एक किसी वर्ग का नाम कक्षा है। पहली कक्षा मे जितने सैनिक है उससे दुगने सैनिक दूसरी कक्षा में हैं, दूसरी से दुगने तीसरी कक्षा में है। इसी प्रकार यह संख्या बढती जाती है और इस क्रम से छठी से सातवी कक्षा मे दुगने सैनिक हो जाते है। जैसे कि द्रुम नामक सेनानी की पहली कक्षा मे ६४००० सैनिक है। दूसरी मे १ लाख २८ हजार, तीसरी कक्षा में २ लाख ५६ हजार सैनिक है, चौथी कक्षा में ५ लाख १२ हजार हैं, पांचवीं कक्षा में १० लाख २४ हजार है, छठी कक्षा में २० लाख ४८ हजार सैनिक हैं और सातवीं कक्षा में ४० लाख ९६ हजार सैनिक हैं।

बलीन्द्र असुरकुमार महाराज की पैदल सेना का सेनानी महाद्रुम है। उसकी सेना भी सात कक्षाओ में विभाजित है। उसकी पहली कक्षा में ६० हजार देवसैनिक हैं, दूसरी कक्षा मे १ लाख २० हजार सैनिक हैं, तीसरी कक्षा में २ लाख ४० हजार सैनिक हैं, चौथी कक्षा में ४ लाख ८० हजार सैनिक है, पांचवी कक्षा में ९ लाख ६० हजार सैनिक है, छट्ठी कक्षा में १९ लाख २० हजार सैनिक है और सातवी कक्षा मे ३८ लाख ४० हजार सैनिक है।

नागकुमार भवनपतियों के दो इन्द्र है—धरण और भूतानन्द। धरणेन्द्र की पदाति सेना का सेनानी रुद्रसेन है जिसका दूसरा नाम भद्रसेन भी है। उसकी सेना भी सात कक्षाओ मे विभक्त है। उसकी पहली कक्षा मे २८ हजार देव हैं, उससे दुगने दूसरी कक्षा मे, इसी क्रम से सातवी कक्षा तक पूर्व-पूर्व से दुगुनी-दुगुनी संख्या समझ लेनी चाहिए।

भूतानन्द इन्द्र की पैदल सेना का सेनापति दक्ष है। उसकी सेना भी अन्य भवन-पति देवों की सेनाओं के समान सात कक्षाओ मे बंटी हुई है। इसकी पहली कक्षा मे सूत्रकार ने अलग सख्या नहीं बताई केवल इतना ही कहा है कि जैसे धरणेन्द्र के विषय मे संख्या का उल्लेख किया गया है उसी तरह संख्या जाननी चाहिए। इसी तरह शेष १६ भवनपति इन्द्रो के पदाति सेनापतियो के अधीन सात-सात कक्षाए बतलाई गई है।

बारह कल्पदेवलोकों में १० इन्द्र हैं। जहां-जहा इन्द्र का शासन है वहां-वहां सेना और सेनानी का होना अनिवार्य है, किन्तु इस प्रसंग मे जिन पदाति सेनाओं की सात-सात कक्षाए हैं उन्ही का उल्लेख किया गया है। शक्रेन्द्र की पदाति सेना का सेनानी हरिणैगमेषी है। उसकी सेना भी सात कक्षाओं मे विभक्त है। पहली कक्षा में ८४ हजार देवसैनिक है।

ईशानेन्द्र के लघुपराक्रम नामक सेनानी की पहली कक्षा मे ८० हजार देव-सैनिक है। इसी क्रम से ७२ हजार, ७० हजार, ६० हजार, ५० हजार, ४० हजार, ३० हजार, २० हजार और १० हजार देव कथन किए गए हैं। पहली कक्षा से दूसरी कक्षा मे दुगने, इसी क्रम से छट्ठी कक्षा से सातवी कक्षा में दुगने देवो का कथन किया गया है।

सभव है उक्त सात कक्षाए विभिन्न भागो में काम आती हो। यह विषय सेनापतियों के ध्यान देने योग्य है। इस सूत्र से सेना की रक्षा व न्याय-प्रचार व्यक्त होता है। राजा के तीन बल होते हैं, जैसे कि धान्यबल, धनबल और सेनाबल। इनके बिना राजा का प्रभाव नहीं रहता। गुप्तचर उसकी आंखे होती है, उनके बिना राजा को विरोधियों का ज्ञान नहीं होता। सेना के द्वारा इन्द्र का ऐश्वर्य व्यक्त होता है और विरोधी दबे रहते है। आराध्य देवों की आराधना के विषय में विधि-विधान गुरु-आम्नाय से जानना चाहिए।

सप्तविध वचन

मूल—सत्तविहे वयणविकप्पे पण्णत्ते, तं जहा—आलावे, अणालावे, उल्लावे, अणुल्लावे, संलावे, पलावे, विप्पलावे ॥४४॥

छाया—सप्तविधो वचन-विकल्पः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—आलापः, अनालापः, उल्लापः, अनुल्लापः, संलापः, प्रलापः, विप्रलापः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—वचन के सात भेद कथन किए गए हैं, जैसे—आलाप, अनालाप, उल्लाप, अनुल्लाप, सलाप, प्रलाप और विप्रलाप।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में देव सेनाओं की कक्षाओ का परिचय दिया गया है। देव जाति में जन्म लेने वालों के वचन सयमित होते है और देवलोकों से वचित वही रहते है, जिनके वचन असयत होते हैं, अतः अब सूत्रकार क्रम-प्राप्त वचन के भेदों का निरूपण करते है।

मनुष्य जो कुछ भी कहता व बोलता है, उसके सात रूप है। उनमें से किसी एक का प्रयोग वह अवश्य ही करता है। वे सात भेद इस प्रकार हैं—

१ **आलाप**—थोडा बोलना, परिमित एवं सत्य बोलना, मधुर, प्रिय एवं नम्रता से बोलना आलाप है।

२. **अनालाप**—कुत्सित एव दुष्ट भाषण करना, कहने योग्य वचन न बोलना, असत्य एव मिश्रभाषा बोलना, ताने मारना आदि अनालाप के विविध रूप हैं।

३. **उल्लाप**—जो वचन लक्षणा के आधार पर व्यग्य से कहे जाते हैं, उन्हें उल्लाप कहा जाता है।

४. **अनुल्लाप**—लक्षणा और व्यजना का आश्रय लेकर जो दुष्ट वचनों का प्रयोग किया जाता है वह अनुल्लाप कहलाता है। पुनः-पुनः असंयत वचन बोलना ही अनुल्लाप है।

५. **संलाप**—परस्पर बातचीत करना, जिज्ञासा व निर्णयार्थ प्रश्नोत्तर करना ही संलाप है।

६. **प्रलाप**—निरर्थक एव पागलो की तरह अंट-सट बोलना ही प्रलाप है।

७. **विप्रलाप**—प्रलाप वचनों का नाना प्रकार से बोलना विप्रलाप कहलाता है।

इनमें से आलाप, उल्लाप और सलाप वचनों का सतजन प्रयोग करते हैं, शेष चार प्रकार के वचन हेय एवं त्याज्य है, क्योंकि उनका प्रयोग हीनवृत्ति असयत व्यक्ति ही किया करते है।

विनय के भेदोपभेद

मूल—सत्तविहे विणए पण्णत्ते, तं जहा—णाणविणए, दंसणविणए, चरित्तविणए, मणविणए, वइविणए, कायविणए, लोगोवयारविणए।

पसत्थ मणविणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा—अपावए, असावज्जे, अकिरिए, निरुवक्केसे, अणण्हकरे, अच्छविकरे, अभूयाभिसंकमणे।

अप्पसत्थमण विणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा—पावए, सावज्जे, सकिरिए, सउवक्केसे, अण्हकरे, छविकरे, भूयाभिसंकमणे।

पसत्थ वइविणए सत्तविह पण्णत्ते, तं जहा—अपावए, असावज्जे जाव अभूताभिसंक्कमणे।

अप्पसत्थ वइविणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा—पावए जाव भूयाभिसंकमणे। पसत्थ कायविणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा—आउत्तं गमणं, आउत्तं ठाणं, आउत्तं निसीयणं, आउत्तं तुअट्टणं, आउत्तं उल्लंघणं, आउत्तं पल्लंघणं, आउत्तं सव्विंदियजोगजुंजणया।

अप्पसत्थकायविणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा—अणाउत्तं गमणं जाव अणाउत्तं सव्विंदियजोगजुंजणया।

लोगोवयार विणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा—अब्भासवत्तियं, परच्छंदाणुवत्तियं, कज्जहेउं, कयपडिकिइया, अत्तगवेसणया, देसकालण्णुया, सव्वत्थेसु यापडिलोमया ॥४५॥

छाया—सप्तविधो विनयः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ज्ञानविनयः, दर्शनविनयः, चारित्र-

विनय, मनोविनयः, वाग्विनयः, कायविनयः, लोकोपचारविनयः।

प्रशस्तमनोविनयः, सप्तविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अपापः, असावद्यः, अक्रियः, निरुपक्लेशः अनाश्रवकरः अक्षपिकरः, अभूताभिसंक्रमणः।

अप्रशस्तमनोविनयः सप्तविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पापकः, सावद्यः, सक्रियः, सोपक्लेशः, आस्त्रवकरः, क्षपिकरः, भूताभिसंक्रमणः।

प्रशस्तवाग्विनयः सप्तविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अपापकः, असावद्यो यावत् अभूताभिसंक्रमणः।

अप्रशस्तवाग्विनयः सप्तविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पापको यावद् भूताभिसंक्रमणः।

प्रशस्तकायविनयः सप्तविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—आयुक्तं गमनम्, आयुक्तं स्थानम्, आयुक्तं निषीदनम्, आयुक्तं त्वग्वर्तनम्, आयुक्तमुल्लंघनं, आयुक्तं प्रलंघनम्, आयुक्तं सर्वेन्द्रिययोगयोजनता।

अप्रशस्तकायविनयः सप्तविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अनायुक्तं गमनं यावद् अनायुक्तं सर्वेन्द्रिययोजनता।

लोकोपचारविनयः सप्तविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अभ्यासवर्त्तित्वं, परच्छन्दानुवर्त्तित्वं, कार्यहेतुः, कृतप्रतिकृतिता, आत्मगवेषणता (आर्त्तगवेषणता), देश-कालज्ञता, सर्वार्थेषु चाप्रतिलोमता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात प्रकार का विनय वर्णन किया गया है, जैसे—ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, मनोविनय, वचनविनय, कायविनय, लोकोपचार विनय।

प्रशस्तमनोविनय के सात भेद है, जैसे—पाप से रहित मन, सावद्यरहित मन, क्रिया-रहित मन, क्लेश-रहित मन, आस्त्रव-रहित मन, प्राणियो की पीड़ा से रहित मन, प्राणियों को भयभीत न करने वाला मन।

अप्रशस्त मनोविनय सात प्रकार का है, जैसे—पापयुक्तमन, सावद्यमन, सक्रिय मन, संक्लेशयुक्त मन, आस्त्रव-सहित मन, जीवों के लिए पीड़ाकारी मन, जीवों को भयभीत करने वाला मन।

प्रशस्त वचन-विनय के सात भेद हैं, जैसे—पाप से रहित वचन, सावद्य से रहित वचन से लेकर—जीवों को भयभीत न करने वाले वचन तक।

अप्रशस्त वचन-विनय सात प्रकार का है, जैसे—पापकारी वचन से लेकर जीवों को भयभीत करने वाले वचन तक।

प्रशस्तकाय-विनय सात प्रकार का है, जैसे—उपयोग पूर्वक चलना, उपयोग पूर्वक खड़े होना, उपयोग पूर्वक शयन करना, उपयोग पूर्वक उल्लंघन करना, उपयोग पूर्वक प्रलघन करना, उपयोग पूर्वक सर्व इन्द्रियों का योग जोड़ना।

लोकोपचार-विनय सात प्रकार का है, जैसे—विद्या-प्राप्ति के लिए गुरु आदि के पास बैठना, उनकी आज्ञा का पालन करना, अपने कार्य के लिए उनकी विनय करना, उनके किए हुए उपकार का प्रत्युपकार करना, आत्म-गवेषण अथवा आर्त्त-गवेषण करना, देश-कालज्ञ होना और सभी कार्यों में अनुकूल वर्तना।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में देव-सेनाओं की संख्या का विवरण उपस्थित किया गया है, देवत्व की प्राप्ति के आधार में विनय प्रमुख है, अत: अब सूत्रकार विनय-भेदों का वर्णन करते हैं।

विनय शब्द के अनेक अर्थ है—अनुशासन, नीति, शिक्षा, नम्रता, संयम, प्रणाम, अभ्युत्थान, गुणीजनों का सम्मान आदि। वृत्तिकार ने विनयशब्द की व्युत्पत्ति की है—"**विनीयतेऽष्टप्रकारं कर्मानेनेति विनय:**" जिसके द्वारा आठ प्रकार का कर्ममल दूर हो वही विनय है। दूसरे को बडा मानकर उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति दिखाने तथा उसकी प्रशंसा करने को भी विनय कहते हैं। उसके सात भेद है, जैसे कि ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, मन-विनय, वचन-विनय, काय-विनय और लोकोपचार-विनय।

१. **ज्ञान-विनय**—ज्ञान एवं ज्ञानियो पर दृढ निष्ठा रखना, उनका बहुमान करना, उनके वचनो का मनन करना, विधि-पूर्वक ज्ञान का ग्रहण करना, ज्ञानावरणीय कर्मबंध के छ: हेतुओं से दूर रहना, स्वाध्याय-ध्यान मे संलग्न रहना आदि ज्ञान-विनय के अनेक रूप हैं।

२. **दर्शन-विनय**—इसके मुख्यत: दो भेद हैं—शुश्रूषा और अनाशातना। दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति की सेवा करना, स्तुति एवं सत्कार करना, सामने आते हुए को देखकर खड़े हो जाना, वस्त्र आदि उपकरणों से उनका सम्मान करना, आसीन होने के लिए निवेदन करना, उन्हें आसन देना, हाथ जोडना, प्रदक्षिणा करना, आते हों तो सामने जाना, बैठे हों तो उपासना करना, जाते हों तो कुछ दूरी तक पहुचाने जाना आदि-शुश्रूषा विनय के अनेक रूप है। इस तरह से यह १० प्रकार की शुश्रूषा-विनय है।

अनुचित क्रिया की निवृत्ति ही अनाशातना विनय है। इसके १५ भेद हैं, जैसे कि तीर्थंकर, केवलि-भाषित धर्म, धर्माचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, सघ, सांभोगिक, क्रिया, मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान इन १५ की आशातना न करना, इन १५ का भक्तिपूर्वक बहुमान करना, इन १५ का वर्णवाद अर्थात् स्तुति-प्रशंसा

करना, इस तरह कुल मिलाकर इसके ४५ भेद हो जाते हैं।[१]

सांभोगिक का अर्थ होता है एक समाचारी वाले साधु और क्रिया शब्द आस्तिकता का बोधक है। इसी भाव को निम्नलिखित दो गाथाएं व्यक्त करती हैं।[२]

३. चारित्र-विनय—अपने स्वरूप में अवस्थित होना ही चारित्र है, अथवा कर्मों को नष्ट करने की प्रवृत्ति ही चारित्र है, या मूलगुण और उत्तरगुणों के समूह को चारित्र कहा जाता है। चारित्र पांच प्रकार का माना गया है, जैसे कि सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात। इन पांचों पर श्रद्धान करना, काय से इनका पालन करना, भव्य-प्राणियों के समक्ष उनकी इस प्रकार विशुद्ध प्ररूपणा करना जिससे लोगों की चारित्र की ओर रुचि बढ़े, इस प्रकार के आचरण को ही चारित्र-विनय कहते हैं।

४. मनोविनय—सयम-पूर्वक तपस्वियों की मन से विनय करना, अकुशल मन की प्रवृत्ति को रोकना और कुशल मन की प्रवृत्ति का होना मनोविनय है। इसके दो भेद हैं प्रशस्त मनोविनय और अप्रशस्त मनोविनय तथा इन दोनों के सात-सात भेद होते हैं।

५. वचन-विनय—संयमियों की, गुणीजनों की वचन से विनय करना, वचन की, अशुभ प्रवृत्तियो को रोकना तथा वाणी को शुभ प्रवृत्तियों में लगाना ही वचन-विनय है। मनोविनय की तरह इसके भी दो भेद हैं। पुन: प्रत्येक के सात-सात भेद होते है। उनका विवेचन आगे यथास्थान किया जाएगा।

६ काय-विनय—चारित्रशील साधक की काय से विनय करना, काय की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकना और शुभ क्रियाओं मे उसे प्रवृत्त करना काय-विनय है। इस के भी मनोविनय की तरह दो भेद हैं। प्रत्येक भेद के सात-सात भेद हैं।

७. उपचार-विनय—जिन क्रियाओ से अपने को और दूसरों को सुख प्राप्त हो वैसी क्रियाएं करना उपचार-विनय है। इसके भी सात भेद हैं।

---

१ सुस्सूसणा अणासायणा य विणओ उ दसणे दुविहो।
दसणगुणाहिएसु कज्जइ सुस्सूसणा विणओ।।
सक्कार-ब्भुट्ठाणो सम्माणा-सण अभिग्गहो तह य।
आसणमणुप्पयाणं, किइकम्म अजलिग्गहो य।।
इतस्सऽणुगच्छणया, ठियस्स तह पज्जुवासणा भणिया।
गच्छंताणुव्वयण एसो सूसणा विणओ।। *इति वृत्तिकार*।

२ तित्थगर धम्म आयरिय वायगे थेर।
कुल गणे सघे संभोगिय किरियाए मइनाणाईण य तहेव।।
कायव्वा पुण भत्ती बहुमाणो तह य वन्नवाओ य।
अरहंतमाइयाण केवलनाणावसाणाण।।

प्रशस्त मनोविनय के सात भेद—

मन से किसी का अहित न सोचना, मन में अशुभ सकल्प उत्पन्न न करना ही प्रशस्त मनोविनय है। इस के सात भेद निम्नलिखित हैं, जैसे कि—

१. **अपावए**—हिंसा, असत्य आदि पापो से रहित मन का व्यापार।

२. **असावज्जे**—विषय-कषाय आदि से रहित मन की प्रवृत्ति।

३. **अकिरिए**—पच्चीस प्रकार की अशुभ क्रियाओं से रहित मन की प्रवृत्ति।

४. **निरुवक्केसे**—शोक आदि क्लेशो से रहित मानसिक सकल्प।

५. **अणण्हयकरे**—अनाश्रवकर अर्थात् कर्म-बध के कारणों से रहित मन की प्रवृत्ति।

६ **अच्छविकरे**—अपने को और दूसरों को व्यथित न करना। इसकी संस्कृत छाया दो तरह की बनती है, 'अक्षपिकर:' और 'अक्षयिकर:'। प्राणियो को व्यथा न पहुंचाना या प्राणियों का क्षय न करना, ये दोनो ही अर्थ यहां संगत एव मान्य है।

७ **अभूयाभिसंकमणे**—मन का वह सकल्प जिससे किसी भी प्राणी के हृदय में भय उत्पन्न न हो। मन की उपर्युक्त सभी प्रवृत्तिया ही प्रशस्त मनोविनय है।

अप्रशस्त मनोविनय के सात भेद—

अशुभ व्यापारो में मन को लगाना ही अप्रशस्त मनोविनय है, अर्थात् जिस विनय की आराधना अशुभ प्रवृत्तियो से की जाए, उसी को अशुभ मनोविनय कहते है, इसके भी सात भेद हैं, जैसे कि—

१. **पावए**—हिंसा आदि पापो मे मन को लगाना।

२ **सावज्जे**—दोषयुक्त कार्यो में मन को प्रवृत्त करना।

३. **सकिरिए**—कायिकी आदि क्रियाओ में मन को लगाना।

४. **सउवक्केसे**—शोक आदि क्लेशों में मन को लगाना।

५. **अण्हयकरे**—आस्रव सहित कार्यो मे मन को प्रवृत्त करना।

६. **छविकरे**—अपने आप को और दूसरों को पीड़ा पहुचाने वाले कार्यो मे मन को लगाना।

७. **भूयाभिसंकमणे**—जीवो को भयभीत करन वाले कार्यो में मन को लगाना।

इन सात बातो मे से किसी एक बात मे भी यदि मन प्रवृत्त है तो वह अप्रशस्त-मनोविनय है। प्रशस्त मनोविनय सवर और निर्जरा का कारण है और आभ्यन्तर तप विनय एवं समाधि का भी साधक है, किन्तु अप्रशस्त मनोविनय कर्मबन्ध एव पाप-प्रवृत्ति का साधक है।

अप्रशस्त वचन-विनय के सात भेद—

जिस विनय की आराधना करते समय असत्य, हिंसा आदि पापकार्यो में प्रवृत्त होने वाले वचनों का प्रयोग किया जाए, जिससे दूसरो की अवहेलना हो, इस प्रकार की

वचन-प्रक्रियाएं अप्रशस्त वचन-विनय कहलाती है। इसके भी सात भेद अप्रशस्त मनोविनय की तरह जान लेने चाहिएं। प्रशस्त-वचन-विनय आत्मकल्याण मे सहायक, समाधिजनक और संवर एव निर्जरा में सहायक हो सकता है। अप्रशस्त-वचन-विनय से आत्मा का उत्थान नहीं, अपितु पतन होता है।

प्रशस्त काय विनय के सात भेद—

विनय को लक्ष्य मे रखकर शरीर से जो भी क्रिया की जाती है वह काय-विनय है। यतना पूर्वक गमन करना, यतना से बैठना, यतना से खड़े होना, यतना से शयन करना, किसी विषम स्थान को यतना से लांघना, यतनापूर्वक इन्द्रियों और योगों को प्रवर्ताना ये सब प्रशस्त-काय-विनय के रूप है।

अप्रशस्त काय विनय के सात भेद—

असावधान होकर गमन करना, खडे होना, बैठना, लेटना, उल्लंघन-प्रलघन करना, असावधानी से इन्द्रिय एवं योगों का वर्ताना आदि अप्रशस्त काय विनय के अनेक रूप है। ऐसी विनय कल्याण मे, तप, समाधि, संवर एवं निर्जरा में सहायक नहीं हो सकती, प्रशस्त-काय-विनय ही संयम है।

प्रशस्त मन, वचन और काय मे ही सयम का अवतरण होता है। विनयी ही भगवान की आज्ञा मे है। जहा विनय है वही धर्म है, वही ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। साधना की पराकाष्ठा है। इससे विपरीत भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए, अर्थ-लाभ के लिए, दुनियावी इच्छाओ की पूर्ति के लिए, अर्थार्थी, कामार्थी होकर यदि कोई व्यक्ति किसी की विनय करता है, वह अप्रशस्त मन-वचन और काय विनय है। मन, वचन और काय के द्वारा देव, गुरु और धर्म के नाम पर हिसादि पाप-क्रियाओ मे प्रवृत्त होना भी अप्रशस्त-विनय है। अप्रशस्त विनय से यदि किसी एक का भला होता है तो दूसरी ओर उससे अपरिमित हानिया भी होती है, अत: अप्रशस्त विनय हेय है—त्याज्य है।

लोकोपचार विनय के सात भेद—

जनता के व्यवहार को अथवा दूसरे को सुख पहुंचाने वाले बाह्य आचार को लोकोपचार विनय कहते है। इसके भी सात भेद है, जैसे कि—

१ **अब्भास-वत्तियं**—गुरुजनों तथा गुणीजनो के समीप रहना, सद्‌गुणों की प्राप्ति के लिए यत्नशील रहना, विद्यादि सद्‌गुणों को उद्दीप्त करने के लिए अभ्यास करते रहना ही अभ्यास-वर्तित्व विनय है। गुणीजनो के पास रहने से ही व्यक्ति गुणी बन सकता है, अत: प्रशस्त विनय का अभ्यास श्रेयस्कारी होता है।

२. **परच्छंदानुवत्तियं**—जिस गुरु के पास रहे, उसकी इच्छानुकूल चलना, अपनी इच्छा को छोड़कर गुरु की इच्छा के अनुसार व्यवहार करना परच्छन्दानुवर्तित्व विनय है।

३. **कज्जहेउं**—गुरुजनों के द्वारा दी गई आज्ञा को, विद्या को या किसी पदार्थ को विशेष मान देना, अपने कार्य हेतु गुरु की विनय करना, उनके प्रत्येक वचन का भक्ति-पूर्वक अनुकरण करना, उनकी आज्ञा को अपना सर्वस्व मानना ही कार्य-हेतु विनय है।

४. **कयपडिकिइया**—दूसरों के द्वारा किये हुए उपकार का बदला चुकाना, भोजन आदि के द्वारा गुरुजनों की सेवा करना, यदि मैं इनकी सेवा करूंगा, इनको साता पहुंचाऊगा तो मुझे ये शास्त्रीय ज्ञान सिखाएंगे, यह समझकर उनकी विनय-भक्ति करना। इस विनय के भी अनेक रूप है।

५. **अत्तगवेसणया**—दु:ख-ग्रस्त प्राणियो की रक्षा व सेवा करने के लिए उनकी खोज करना, भले ही गृहस्थ हो या साधु, सभी को अपने-अपने नियमानुसार एवं मर्यादा के अनुरूप इस विनय की आराधना करनी चाहिए। जिसको जैसा दु:ख हो उसका वैसा ही उपचार करना इस विनय का उद्देश्य है।

६. **देसकालण्णया**—देश और काल के रीति-रिवाजो का सभ्यता और सस्कृति का ज्ञाता बनना, अवसरज्ञ होना, देश-काल-विनय है।

७ **सव्वत्थेसु अप्पडिलोमया**—सब कार्यो में अनुकूल रहना, गुरुजनों से कभी भी प्रतिकूल न वर्तना ही इस विनय का स्वरूप है। विनय से गुरुजन प्रसन्न होते हैं, उनकी प्रसन्नता ही शिष्य के लिए आशीर्वाद है।

लोकोपचार विनय साधु और गृहस्थ दोनो के लिए हितकर है, साधु अपनी मर्यादा के अनुसार और गृहस्थ अपनी सीमा के अनुरूप उक्त क्रियाओ में प्रवृत्ति कर सकता है। लोकोपचार विनय से दूसरों का भला होता है, समाज मे प्रतिष्ठा बढ़ती है और आत्मा का उत्थान होता है, अत: यह विनय सभी दृष्टियों से हितकर है।

समुद्घात-भेद

मूल—सत्त समुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा—वेयणासमुग्घाए, कसाय-समुग्घाए, मारणंतियसमुग्घाए, वेउव्वियसमुग्घाए, तेजस-समुग्घाए, आहार-गसमुग्घाए, केवलिसमुग्घाए। मणुस्साणं सत्त समुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा, एवं चेव ॥४६॥

छाया—सप्त समुद्घाताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वेदना-समुद्घातः, कषाय- समुद्घातः, मारणान्तिक-समुद्घातः, वैक्रिय-समुद्घातः, तैजस-समुद्घातः, आहारक-समुद्घातः, केवलि-समुद्घातः। मनुष्याणां सप्त समुद्घाताः प्रज्ञप्ताः, एवमेव।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सात समुद्घात प्रतिपादन किए गए है, जैसे कि—वेदना-समुद्घात,

कषाय-समुद्घात, मारणान्तिक-समुद्घात, वैक्रिय-समुद्घात, तैजस-समुद्घात, आहारक-समुद्घात और केवलि-समुद्घात। मनुष्यों के सात समुद्घात वर्णन किए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में विनय के भेदोपभेदों का वर्णन किया गया है। विनय से कर्मों का घात होता है और विशिष्टतर कर्मघात समुद्घात से होता है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे सात प्रकार के समुद्घातो का वर्णन किया गया है।

समुद्घात शब्द की व्युत्पत्ति वृत्तिकार ने इस प्रकार की है ''हन् हिंसागत्यो:'' धातु से घात शब्द सिद्ध हुआ है **'हननं घात:'** सम् उपसर्ग एकीभाव में प्रयुक्त है, उत् उपसर्ग प्राबल्य अर्थ में है—जो एकीभाव में स्थित होकर प्रबलता से घात अर्थात् कर्म-निर्जरा की जाती है, उसे समुद्घात कहते है। वेदना आदि के साथ एकाकार हुए आत्मा का समयान्तर में उदय होने वाले वेदनीय आदि कर्मप्रदेशों को उदीरणा के द्वारा उदय में लाकर उनकी निर्जरा हो जाना ही समुद्घात है। इसके सात भेद हैं, जिनकी व्याख्या निम्नलिखित है—

१. **वेदना-समुद्घात**—तीव्रतम वेदना के द्वारा कालान्तर में भोगने योग्य असातावेदनीय कर्म पुद्गलो को उदयावलिका मे खींचकर, उनकी निजर्रा करना, आत्म-प्रदेशों के साथ लगे हुए कर्म-पुद्गलो को अलग करना ही समुद्घात है। कहा भी है **''पुव्वकयकम्म साडणं तु निज्जरा''**। वेदना से व्यथित हुआ जीव अनन्त कर्म-पुद्गलों से वेष्टित हुए आत्म-प्रदेशो को शरीर से बाहर निकालकर उन प्रदेशों से शरीर में रहे हुए मुख, जठर, कान आदि छिद्रो को भर देता है। शरीर परिमाण आयाम-विष्कम्भ क्षेत्र में परिव्याप्त होकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहता है, जीव उस अन्तर्मुहूर्त में बहुत ही असाता वेदनीय-कर्म की निर्जरा करता है।

२. **कषाय-समुद्घात**—तीव्र कषायो के उदय से व्याकुल हुआ जीव अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर निकालकर और उनसे भीतर विद्यमान शून्य-भाग को पूर्ण करके शरीर परिमाण लम्बे-चौडे क्षेत्र में परिव्याप्त होकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहता है और उसमे जीव बहुत ही कषाय पुद्गल की निर्जरा करता है।

३. **मारणान्तिक-समुद्घात**—मृत्यु के समय होने वाले समुद्घात को मारणान्तिक समुद्घात कहते है। जब जीव की आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है, तब मारणान्तिक समुद्घात होता है। कोई जीव आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर अपने आत्मप्रदेशों को बाहर निकालकर उनसे शरीर के भीतर रहे हुए मुख-जठर आदि अन्तरालों को पूर्णकर मोटाई में शरीर परिमाण और लम्बाई में कम से कम अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण और अधिक से अधिक एक दिशा में असंख्यात योजन परिमाण क्षेत्र को परिव्याप्त करता है और उस समय आयुकर्म के पुद्गलों की बहुत निर्जरा करता है।

४. **वैक्रिय-समुद्घात**—यह समुद्घात वैक्रियशरीर नामकर्म के आश्रित होता है।

वैक्रियलब्धि-वाला जीव वैक्रिय करते समय अथवा भवधारणीय वैक्रिय शरीर वाला जीव उत्तरवैक्रिय करते समय अपने आत्मप्रदेशो को शरीर से बाहर निकालकर विस्तार और मोटाई मे शरीर परिमाण और लंबाई में संख्यात योजन परिमाण दंड बनाता है और दंड बनाकार यथास्थूल वैक्रिय-शरीर नाम-कर्म के पुद्‌गलो की निर्जरा करता है।

५. तैजस-समुद्‌घात—यह तैजस शरीर के आश्रित होता है। इसका उपयोग तेजोलेश्या का प्रयोग करते समय किया जाता है। तेजोलेश्या लब्धि वाला महासाधक कुछ कदम पीछे हट कर अपने भीतर से सख्येय योजन परिमाण जीव के प्रदेशो को दंडाकार बाहर निकालकर क्रोध के विषयभूत जीवादि पदार्थो को जला देता है, इससे तैजस-नामकर्म की अधिक निर्जरा करता है। इसका प्रयोग क्रोध के वशीभूत होकर ही किया जाता है।

६. आहारक-समुद्‌घात—जिन जीवो ने आहारक नामकर्म का बध किया हुआ है, उस कर्म के उदय होने पर ही उसका प्रयोग किया जाता है। आहारक शरीर की लब्धि वाला साधु आहारक शरीर निर्माण की इच्छा करता हुआ चौड़ाई और मोटाई में शरीर परिमाण तथा लम्बाई मे सख्येय योजन तक अपने आत्म-प्रदेशों को दडाकार शरीर से बाहर निकालकर यथास्थूल पूर्ववत् आहारक शरीर नाम कर्म के प्रभूत पुद्‌गलो की निर्जरा करता है। जैसे दधि के मथन करने से मक्खन निकलता है, वैसे ही समुद्‌घात करने से आहारक-शरीर का तथा वैक्रिय शरीर का निर्माण होता है। यहां केवल समुद्‌घात की व्याख्या की जा रही है, शरीर की नही।

७. केवलि-समुद्‌घात—अन्तर्मुहूर्त मे मोक्ष प्राप्त करने वाले केवली के द्वारा होने वाले समुद्‌घात को केवली समुद्‌घात कहते है। यह तब होता है जबकि आयुकर्म स्वल्प हो और वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म अधिक स्थिति वाले हो। सभी केवली समुद्‌घात नही करते हैं। जिसने छ: मास की आयु शेष रहने पर केवलज्ञान को प्राप्त किया हो वह केवलिसमुद्‌घात करता है। वेदनीय आदि अघाती तीन कर्मो की स्थिति को और आयुकर्म की स्थिति के बराबर करने के लिए समुद्‌घात किया जाता है, इसमे कुल आठ समय लगते है। पहले समय मे आत्मप्रदेशो को शरीर से बाहर दडाकार निकालता है, दूसरे समय मे कपाटाकार, तीसरे समय में मथानी के आकार में और चौथे समय में आत्मप्रदेश सर्वलोक मे व्याप्त हो जाते है। केवली भगवान पाचवें, छठे, सातवे और आठवे समय मे विपरीत क्रम से आत्मप्रदेशो का सकोच करते हैं।[1]

प्रवचन-निन्हव और उनके उत्पत्ति-स्थान

मूल—समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवयणनिण्हगा पण्णत्ता, तं जहा—बहुरया, जीवपएसिया, अवत्तिया, सामुच्छेइया,

---

१ इस विषय का विशेष वर्णन प्रज्ञापना-सूत्र क ३६वे पद मे देखिए।

दोकिरिया, तेरासिया, अबद्धिया। एएसिं णं सत्तण्हं पवयण-निण्हगाणं सत्त धम्मायरिया हुत्था, तं जहा—जमालि, तीसगुत्ते, आसाढ़े, आसमित्ते, गंगे, छलुए, गोट्ठामाहिले। एएसि णं सत्तण्हं पवयण-निण्हगाणं सत्तुप्पत्ति-नगरा होत्था, तं जहा—

सावत्थी उसभपुरं सेयविया, मिहिल्लमुल्लूगातीरं।
पुरिमंतरंजि दसपुरं, णिण्हग-उप्पत्तिनयराई॥४७॥

छाया—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य तीर्थे सप्त प्रवचननिह्नवा: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—बहुरता:, जीव-प्रदेशिका:, अवक्तव्यिका:, सामुच्छेदिका:, द्वैक्रिया:, त्रैराशिका:, अबद्धिका:। एतेषां सप्तानां प्रवचननिह्नवानां सप्त-धर्माचार्या: अभूवन्, तद्यथा—जमालि:, तिष्यगुप्त:, आषाढ़:, अश्वमित्र:, गङ्ग:, षडुलूक:, गोष्ठामाहिल:। एतेषां सप्तानां प्रवचननिह्नवानां सप्तोत्पत्ति नगराणि अभूवन्, तद्यथा—

श्रावस्ती ऋषभपुरं, श्वेतिका, मिथिलोल्लुकातीरम्।
पुरिमताल-दशपुरं, निह्नवोत्पत्तिनगराणि॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर के तीर्थ मे सात प्रवचन-निह्नव प्रतिपादन किए गए है—जैसे कि बहुरत, जीव-प्रदेशिक, अवक्तव्यिक, सामुच्छेदिक, द्वैक्रिय, त्रैराशिक और अबद्धिक।

इन प्रवचन-निह्नवो के क्रमश· सात धर्माचार्य थे—जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ, अश्वमित्र, गंग, षडुलूक और गोष्ठामाहिल।

इन प्रवचन-निह्नवों के क्रमश: सात उत्पत्ति-नगर थे—श्रावस्ती, ऋषभपुर, श्वेतिका, मिथिला, उल्लुकातीर, पुरिमताल और दशपुर।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे समुद्घात का वर्णन किया गया है। समुद्घात आदि पदार्थो का निरूपण केवली भगवान ने किया है और केवली-भाषित सिद्धान्त से अन्यथा प्ररूपणा करने वाले प्रवचन-बाह्य माने जाते है, उन्ही को यहा निह्नव कहा गया है। अब सूत्रकार उन्ही निह्नवो का परिचय देते है।

नि पूर्वक ह्नु धातु से निह्नव शब्द बनता है, जिस का अर्थ होता है अनाप-शनाप बोलने वाला। जो किसी महापुरुष के प्रवचन को मानता हुआ भी किसी विशेष बात में उनके प्रवचन का विरोध करता है, जो बुद्धि-दोष के कारण सत्य बात को भी असत्य समझता है और समझाने-बुझाने पर भी सत्याश को न समझ कर हठधर्मी बन कर सत्य से विपरीत चलता है और लोगों में उलटी प्ररूपणा करता है, इतना ही नहीं स्वयं एक अलग मत का

प्रवर्त्तक बन बैठता है ऐसे व्यक्ति को निह्नव कहा जाता है, अर्थात् सत्यांशरूप प्रवचन का अपलाप करने वाला निह्नव कहलाता है।

श्रमण भगवान महावीर के शासन में सात निह्नव हुए है, प्रस्तुत सूत्र मे उनका नामोल्लेख और उनकी मान्यताओं का उल्लेख किया गया है, उनकी मान्यताएं जैन दर्शन से कितनी विपरीत है, इसका विवरण नीचे दिया जाता है, जैसे कि:—

१. **बहुरता**—बहुत समयों में कार्य-निष्पन्न होता है, एक समय में नही। जब तक किसी कार्य की पूर्णता नही होती, तब तक उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता, अत: क्रिया की निष्पत्ति अर्थात् पूर्णता अन्तिम समय में ही होती है। प्रत्येक क्रिया की पूर्ति के लिए अनेक क्षणों की आवश्यकता रहती है, किसी भी क्रिया की पूर्णता एक क्षण में संभव नही है। ऐसी मान्यता रखने वाले विचारक इस मत के अनुयायी माने जाते हैं।

जैन-दर्शन व्यवहारनय और निश्चयनय को ले कर प्रवृत्ति करता है। जिस बात को निश्चयनय से कथन किया गया है, उसका सर्वेक्षण यदि निश्चय-नय से ही किया जाए तो वह यथार्थ है, यदि उसी दृष्टिकोण से व्यवहारनय पर विचार किया जाए तो वह असत्य प्रमाणित होता है। प्रत्येक सिद्धान्त का सर्वेक्षण निश्चयनय से ही होना चाहिए, व्यवहारनय से नहीं। जब विचार आचार-विचार लोक-व्यवहार को लक्ष्य मे रख कर किया जाता है, वही व्यवहारनय की प्रवृत्ति होती है। निश्चय-नय को यदि सिद्धान्त की अन्तरात्मा कहा जाए, तो व्यवहार-नय को उसकी बाह्यात्मा कहना अनुचित्त न होगा, किन्तु नयाभास तो सिद्धान्त को बिल्कुल भी स्पर्श नही करता है। उक्त मान्यता का मूल स्रोत है भगवती सूत्र के प्रथम शतक का प्रथम उद्देशक। वह पाठ निम्नलिखित है—

''से णूणं भंते! चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए? वेइज्जमाणे वेइए? पहिज्जमाणे पहीणे? छिज्जमाणे छिन्ने? भिज्जमाणे भिन्ने? डज्झमाणे दड्ढे? मिज्जमाणे मडे? निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे? हंत गोयमा! चलमाणे चलिए, निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे।''

शास्त्रकार का उक्त सकेत निश्चयनय का ही पूर्णतया स्पर्श करता है। जिस व्यक्ति को एक कोस चलना है, उसके एक डग भरने पर भी निश्चयनय से यह कहा जा सकता है कि वह चल चुका है, क्योकि उसने एक कदम की गति पूरी कर ली है, किन्तु व्यवहारनय से उसके सम्बन्ध में ''वह चल चुका है'' यह तभी कहा जाएगा, जब वह गतव्य स्थान पर पहुच जाएगा। इसी प्रकार जिस ने वर्णमाला मे से अ आ भी सीख लिया है उसे पढ़ा हुआ कहा जा सकता है, क्याकि अब उसे उन अक्षरो को पुन: सीखने की आवश्यकता नही रही, किन्तु व्यवहारनय उसे पठित नहीं मानता। वस्त्र का एक कोना जलते समय 'वस्त्र जल गया' ऐसा कहा जा सकता है। अवयव मे अवयवी का उपचार करके चादर 'जल गई' यह

कहा जा सकता है। किसी भी औषध के द्वारा यदि पहले ही क्षण में रोग कुछ शान्त हो गया हो तो कहा जा सकता है कि 'रोग नष्ट हो गया है' उत्पन्न होते हुए रोग को 'उत्पन्न हो गया' ऐसा भी कहा जा सकता है। इस तरह ऋजुसूत्रनय से क्रियमाण को कृत कहा जाता है और व्यवहारनय से अकृत। ऋजुसूत्र निश्चयनय का ही एक भेद है। व्यवहारनय की एकान्त दृष्टि को लेकर जमाली भगवान महावीर के सिद्धान्त को मिथ्या समझने लगा।

धारणा बदलने का मूल कारण

कुण्डपुर नगर में जमाली नाम का एक क्षत्रियपुत्र राजकुमार रहता था, वह भगवान महावीर की बहिन का लडका था और दामाद भी। भगवान महावीर को सर्वज्ञ हुए जब सोलह वर्ष हो गए थे, तब जमाली ने ५०० राजकुमारों के साथ भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की। उसकी स्त्री ने १००० क्षत्रियाणियों के साथ प्रव्रज्या ले ली। जमाली ने स्थविरो के पास रहकर ग्यारह अगो का अध्ययन किया।

किसी दिन जमाली ने भगवान महावीर से अपने ५०० साथियों के साथ विचरने के लिए अनुमति मांगी, परन्तु भगवान मौन ही रहे। दूसरी और तीसरी बार पूछने पर भी भगवान ने कोई उत्तर नहीं दिया। जमाली ने अनुमति के बिना ही श्रावस्ती नगरी की ओर विहार कर दिया। वहा जाकर वह अपने साथी साधुओं के साथ तेंदुक बगीचे के कोष्ठक चैत्य में ठहर गया। तपस्या करते-करते जब उसका शरीर कृश हो गया, तो पारणे के दिन रूखा-सूखा अपथ्य आहार करने से जमाली ज्वराक्रान्त हो गया। उसके शरीर में कुछ देर बैठने की शक्ति भी नहीं रही। फलत: उसने अपने शिष्यों को आसन बिछाने की आज्ञा दी। गुरु आज्ञा के अनुसार साधु आसन बिछाने लगे।

कुछ क्षणों में पुन: जमाली ने पूछा—'क्या मेरे लिए बिस्तर बिछा दिया गया है?' उन्होने उत्तर 'हा' में दिया, परन्तु पूर्णता मे कुछ कमी थी। यह सुनकर जमाली अनगार के मन में विचार उठे कि भगवान महावीर जो यह कहते हैं कि 'चलता हुआ चलित कहलाता है' इसी प्रकार 'उदीर्यमाण को उदीर्ण, वेद्यमान को वेदित, प्रहीयमाण को प्रहीण, छिद्यमान को छिन्न, भिद्यमान को भिन्न, दह्यमान को दग्ध, म्रियमाण को मृत, निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण कहा जाता है'' वह बिल्कुल मिथ्या है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है, कि जो शय्या बिछाई जा रही है, बिछी हुई नही है, जो काम किया जा रहा है, उसे किया हुआ नहीं कहना चाहिए, जो चला जा रहा है उसे चला हुआ नही कहना चाहिए, जो क्रिया वर्तमान में की जा रही है, उसके लिए भूत कालिक क्रिया का प्रयोग कैसे किया जा सकता है, अत: ''चलमाणे चलिए'' ऐसा कहना और मानना सर्वथा मिथ्या धारणा है।

सत्यांश का अपलाप करना और असत्याश को अपनाना मिथ्यात्व है। किसी समर्थ ज्ञानी के समझाने पर भी अपना हठ न छोडना, ज्ञान और ज्ञानी की आशातना करना, निन्दा करना निह्नवता है।

सूत्र में **'बहुरया'** यह बहुवचनान्त का प्रयोग किया गया है, इससे ध्वनित होता है कि जमाली कुमार के विचारो का समर्थन करने वाले जितने भी उसके अनुयायी थे या हैं, वे भी निह्नव ही माने जाते हैं।[1]

२. जीव-पएसिया—'जीव का अन्तिम प्रदेश ही जीव है' ऐसी मान्यता रखने वाले को जीवप्रदेशिक निह्नव कहते है। वस्तुत: जीव के असख्यात प्रदेश है, असंख्यात प्रदेशों के समूहात्मक द्रव्य को जीव या आत्मा कहते है। उसके पहले या अन्तिम प्रदेश को जीव मानने वाले दार्शनिक जीव-प्रदेशिक कहलाते है।

एक बार राजगृह नगर के गुणशीलक उद्यान मे १४ पूर्वधर वसु नामक आचार्य अपने शिष्यो सहित पधारे। वे संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए समय-यापन करने लगे। उनका तिष्यगुप्त नाम का एक शिष्य जोकि आत्म-प्रवाद पूर्व का क्रमश: अध्ययन कर रहा था। उसमे एक प्रसंग ऐसा आया जिसका उदाहरण देना आवश्यकीय हो जाता है, जैसे कि—

'एगे भंते! जीवप्पएसे जीवेत्ति वत्तव्वं सिया? नो इणट्ठे समट्ठे, एवं दो, तिन्नी, संखेज्जा वा, असंखेज्जा जाव एक्केणवि पएसेण ऊणो नो जीवे त्ति वत्तव्वं सिया, जम्हा कसिणे पडिपुण्ण लोगागास-पएस-तुल्लप्पएसे जीवेत्ति वत्तव्व सिया॥''

अर्थात्—भगवन्! क्या जीव का एक प्रदेश जीव है? यह अर्थ ठीक नही है, इसी तरह भगवन्! क्या जीव के दो प्रदेश, तीन, दस, संख्यात या असख्यात जीव-प्रदेश जीव हैं? यह भी ठीक नहीं, जिसमें एक प्रदेश भी कम हो उस प्रदेश-समूह को भी जीव नही कहा जा सकता, क्योकि सपूर्ण लोकाकाश प्रदेशो के तुल्य सम्पूर्ण प्रदेश-समूह रूप जीव है, इस प्रदेश-समूहात्मक जीव तत्त्व को ही जीव कहा जा सकता है।

इस स्थल के आधार से तिष्य-गुप्त की धारणा आत्मा के सम्बन्ध मे विपरीत हो गई। एक प्रदेश भी जीव नही है। इसी तरह सख्यात, असख्यात प्रदेश भी जीव नही हैं। अन्तिम प्रदेश के बिना शेष सर्व प्रदेश निर्जीव है, अत: वही एक प्रदेश जीव है जो जीव को पूर्ण बनाता है। उसके सिवाय सभी प्रदेश अजीव हैं। उसने समझा अन्तिम प्रदेश के होने पर ही जीव का जीवत्व है। उसके बिना उसका अस्तित्व ही नही, अत: वह अन्तिम एक प्रदेश ही जीव है।

इस मिथ्या धारणा को बदलने के लिए गुरु ने समझाना प्रारम्भ कर दिया कि जैसे 'अन्य प्रदेश जीव नही हैं, वैसे ही अन्तिम प्रदेश भी जीव नहीं हो सकता, क्योंकि जीव के सभी प्रदेश समान हैं। यदि ऐसा कहा जाए कि 'अन्तिम प्रदेश पूरक है, अत: उसे ही जीव मानना चाहिए तो यह कथन भी सत्य नही है, क्योंकि पहले से लेकर अन्तिम तक

१. जमालीकुमार का आद्योपान्त जीवन-चरित और उसकी मान्यता का सारा वर्णन भगवती सूत्र के ९वे शतक के ३३ वे उद्देशक मे उपलब्ध है।

सभी प्रदेश पूरक हैं। किसी भी एक के बिना जीव अपूर्ण है। इस तरह जब सभी जीव-प्रदेश पूरक हो जाएगे तो अन्तिम प्रदेश की तरह सभी प्रदेशो को जीव मानना पडेगा।

यह मानने पर एक दूसरी आपत्ति खडी हो जाएगी, वह यह कि जितने भी जीव-प्रदेश हैं उतने ही जीव हो जाएगे और उन से निर्मित जीव भी न रहेगा।

यदि ऐसा माना जाए कि सभी प्रदेशों के पूरक होने पर भी केवल अन्तिम प्रदेश ही जीव है तो यह कथन भी निराधार ही है। पहला प्रदेश ही जीव है, अन्य सब प्रदेश अजीव हैं अथवा कुछ प्रदेश जीव है और कुछ को अजीव कहा जाए तो यह भी उचित नहीं होगा, अन्य प्रदेशों में जीव आंशिक रहता है, किन्तु अतिम प्रदेश मे सर्वात्मना रहता है, तो यह कथन भी समीचीन नहीं है। अन्तिम प्रदेश में भी जीव सर्वात्मना नहीं रह सकता, क्योकि वह भी अन्य प्रदेशों के समान ही है। जिस हेतु से अन्तिम प्रदेश को जीवत्व का साधक माना जा सकता है, उसी हेतु से अन्य प्रदेशों को भी जीव ही कहा जाएगा, क्योंकि सभी अशपूरक होते हैं। शास्त्रकार का आशय यह नही है कि प्रथमादि प्रदेश अजीव हैं, केवल अन्तिम प्रदेश ही जीव है। इस प्रकार देखा जाए तो अन्तिम अंश भी एक अश होने के कारण अजीव है। वस्तुत: सभी जीव-प्रदेशों के मिलने पर ही जीव माना जाता है। जैसे वर्तमान में १०० पैसों के समुदाय को ही रुपया कहा जाता है, ९९ पैसो को भी रुपया नहीं कहते और एक पैसे को भी रुपधा नही कहते। १०० पैसो के मिलने पर ही रुपया कहा जा सकता है, वैसे ही सम्पूर्ण प्रदेशो के समुदाय को ही आत्मा कहा जाता है। वस्तुत: वस्तु के किसी भी देश और प्रदेश की कल्पना से रहित अखड वस्तु ही ''एवभूतनय'' का विषय है।

इस तरह अनेक युक्तियो से विषय को प्रमाणित करने पर भी वह नहीं माना, हठ में दृढ़ रहा, फलत· उसे गुरु ने अपनी आज्ञा एवं सघ से बाहर कर दिया। ऋषभपुर राजगृह नगर का ही अपर नाम है।

३. अवत्तिया—अवक्तव्यिका:—यह कैसे जाना जा सकता है कि यह संयत है या असयत, अत: यह अवक्तव्य है। जिन दार्शनिकों की ऐसी संदिग्ध मान्यता है, वे सब इसी कोटि के निह्नव माने जाते हैं। इस मान्यता की प्रारम्भिक कथा इस प्रकार है—

वीर निर्वाण सम्वत् २१४ वर्ष के बाद तीसरा निह्नव हुआ है। श्वेतांबिका नगरी के पोलास उद्यान में आचार्य आषाढ अपने शिष्यो सहित पधारे। उनके साधुओं ने विशेष प्रकार का उग्र तप प्रारम्भ किया हुआ था, वाचनाचार्य भी वे ही थे। अकस्मात् रात को हृदयशूल रोग से उन की आयु पूर्ण हुई और वे पहले देवलोक के नलिनीगुल्म नामक महाविमान में देव के रूप मे उत्पन्न हुए।

वे अवधिज्ञान से अतीत सबध को जानकर साधुओं पर अनुकपा भाव से मर्त्यलोक के अन्तर्गत जहां उनका परित्यक्त भौतिक शरीर पडा था, उसी शरीर में प्रविष्ट होकर

साधुओ को उपदेश देने लगे। उद्देश, समुद्देश और अनुज्ञा की उन्होने आज्ञा दी। उद्देश का अर्थ है—उपदेश पढाना, समुद्देश है सिखाना अर्थात् शिक्षा, अनुज्ञा है साधु-विरति के योग्य उचित कर्त्तव्य का पालन। इन सब बातो के लिए उन्होंने आज्ञा दी। इस प्रकार दिव्य प्रभाव से साधुओ को देह-बाधक और संयम-बाधक क्रियाओं से उनका योगावहन पूरा करा दिया। शास्त्रवाचना और तपश्चर्या समाप्त होने पर स्वर्ग मे जाते हुए आचार्य के रूप मे देव ने साधुओं से कहा—"आप सब मेरे अपराध को क्षमा करें, क्योंकि असंयत होकर मैंने आप संयतों से वन्दना करवाई है। आप सब पर अनुकम्पा करके मैं सौधर्म देवलोक से यहां आया हू।" यह कहते हुए सबसे क्षमा याचना करके देव अपने स्थान मे चला गया।

उसके बाद साधु सोचने लगे कि हमने बहुत दिनो तक असयत को वन्दना की, उससे उनको पश्चात्ताप हो रहा था और दूसरी ओर वे संदेह करने लगे कि कोई पता नही है कि संयत कौन है ? और असंयत कौन है ? अत: अब किसी को वंदना ही नही करनी चाहिए, इसी कारण उन्होंने आपस में भी वन्दना-व्यवहार बिल्कुल छोड दिया। प्रत्येक स्थान मे उन्हें सदेह होने लगा कि यह साधु है या असाधु ? कहा भी है—

को जाणइ किं साहू देवो वा तो न वंदणिज्जो त्ति।
होज्जाऽसंजय नमणं होज्जमुसावायममुगोत्ति॥
थेरवयणं जइ परे संदेहो कि सुरोत्ति साहूत्ति।
देवे कहन्न संका? किं सो देवो अदेवोत्ति॥
तेणकहियंति व मई देवोऽहं देवदरिसणाओ य।
साहुत्ति अहं कहिए समाण रूवम्मि किं संका॥
देवस्स व किं वयणं सच्चंति न साहुरूवधारिस्स।
न परोप्परंपि वंदह जं जाणंतावि जयओ त्ति॥"

प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले पदार्थो मे भी जब उन्हे इस तरह का संदेह होने लगा तो जीवाजीवादि अप्रत्यक्ष तत्त्वो में सदेह का होना स्वाभाविक था, क्योंकि सदेहशील व्यक्ति के मन मे यह सदेह हो सकता है कि ये तत्त्व सर्वज्ञ प्रतिपादित है या नहीं ? स्थान, विहार, भ्रमण, भाषा और विनय आदि से भी साधुओ की पहचान हो सकती है। प्रत्येक स्थान पर यदि शका करने लग जाए तो आहार, उपधि, शय्या आदि का लेना भी कठिन हो जाएगा। कौन जानता है कि जो आहार लिया जा रहा है वह शुद्ध है या अशुद्ध ? इस तरह बड़ों के समझाने पर भी वे नहीं माने, विपरीत प्ररूपणा करने से वे निह्नव कहलाए।

४. सामुच्छेदिका—वीर निर्वाण सवत् २२० के लगभग की बात है। आचार्य महागिरि का पौत्र-शिष्य अश्वमित्र हुआ है, वह अपने गुरु कौण्डिन्य के साथ मिथिला नगरी के लक्ष्मीगृह उद्यान मे ठहरा हुआ था। अश्वमित्र दसवें विद्यानुप्रवादपूर्व के नैपुणक वस्तु अधिकार मे "**छिन्नच्छेदनकनय**" की वक्तव्यता मे निम्नलिखित सूत्र पढ़ रहा था।

"पडुप्पन्नसमयनेरइया वोच्छिज्जिस्संति, एवं जाव वेमाणियत्ति, एवं बिईयाइ समएसु वत्तव्वं।"

इस आलापक का अध्ययन करते हुए, उसके मन में मिथ्यात्व उत्पन्न हो गया। तब वह कहने लगा कि यदि सभी वर्तमान समय के नारकियों का व्यवच्छेद हो जाएगा तो पुण्य-पाप का फल-भोग कैसे होगा, क्योंकि सभी जीव तो पैदा होते ही नष्ट हो जाएंगे ?

"एवं च कओ कम्माण वेयणं सुकय दुक्कयाणंति ?
उप्पायाणंतरओ सव्वस्स विणास सब्भावा।।

इस प्रकार जब वह प्ररूपणा कर रहा था तब उसके गुरु ने समझाने का प्रयास किया कि यह कथन एक नय की अपेक्षा से है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ द्रव्य से नित्य है और पर्याय से अनित्य। वस्तु का सर्वनाश किसी प्रकार से भी नहीं हो सकता, अत: यह कथन सापेक्षक नय के मत से जानना चाहिए, जैसे कि—

एगनयमएणमिदं सुत्तं वच्चाहि माहु मिच्छत्तं।
निरवेक्खोसे साणवि नयाण हिययं वियारेहि।।
नहि सव्वहा विणासो अद्धा पज्जाय मेत्ता नासंमि।
सपरपज्जायाणंतधम्मिणो वत्थुणो जुत्तो।।
अह सुत्ताउत्ति मई णणु सुत्ते सासयमि निद्दिट्ठं।
वत्थुं दव्वट्ठयाए असासयं पज्जायट्ठाए।।
तत्थवि न सव्वनासो समयादि विसेसणं जओऽभिहियं।
इहरा न सव्वणासे समयादि विसेसणं जुत्तंति।।

तुम्हारी विचारणा ने केवल ऋजुसूत्रनय का एकान्त अवलंबन लिया है, इसलिए यह मिथ्या है। वस्तु का सर्वनाश कभी नहीं होता। नारक आदि जीवों में प्रतिक्षण अवस्था बदलते रहने पर भी जीव द्रव्य एक ही बना रहता है। केवल पर्यायार्थिक नय को दूसरे शब्दों मे क्षणिकवाद भी कहते हैं। प्रत्येक समय मे वस्तु का नाश मान लेने से जो मनुष्य भोजन या जलपान करेगा, उसे तृप्ति नहीं होगी, क्योंकि भोजन करने वाला तो नष्ट हो चुका। इस तरह थकान, ग्लानि, प्रत्यभिज्ञान, स्मृति, ध्यान, अध्ययन, अपनी रखी हुई वस्तु को पुन: ढूंढना इत्यादि बाते क्षणिकवाद में कुछ भी नहीं बन सकती, क्योंकि सभी में चित्त, आत्मा या शरीर की स्थिरता का होना आवश्यक है। पर्यायार्थिकनय का आश्रयण करने से सुख-दु:ख आदि की व्यवस्था नही बन सकती। इसी तरह केवल द्रव्यार्थिकनय का आश्रयण करने से भी सुख-दु:खादि की व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि एकान्त-नित्य मानने से प्रत्येक वस्तु आकाश की तरह अपरिणामी हो जाएगी, अत: द्रव्य और पर्याय दोनो का आश्रयण-उपाश्रयण करने से कार्यसिद्धि होती है, जैसे कि नैगेटिव और पॉजिटिव की तारें

मिलने से विद्युत के द्वारा सभी कार्य सिद्ध हो जाते है, एक से नहीं, वैसे ही द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय से वस्तुस्वरूप की पूर्णता होती है, एक से नही।

आचार्य ने अश्वमित्र को बहुत समझाया और कहा यदि जैन सिद्धात मानना है तो तुम्हें उक्त दोनों नयो को लक्ष्य मे रखकर आगमों का चिन्तन-मनन करना चाहिए। क्षणिकवाद को मानने से कोई भी व्यवस्था ससार की नहीं चल सकती। अनेक सुयुक्तियों के द्वारा समझाए जाने पर भी अश्वमित्र नहीं माना। परिणाम स्वरूप आचार्य ने अश्वमित्र को संघ से बहिष्कृत कर दिया।

५. दोकिरिया—सभी अरिहत भगवतों ने यही कहा है कि एक समय मे एक ही क्रिया होती है, दो नही। परन्तु आर्यगंग ने अपने अनुभव के आधार पर यह मानना प्रारम्भ कर दिया कि एक समय मे दो क्रियाए भी हो सकती हैं। इस धारणा का जन्म इस प्रकार हुआ—

वीर निर्वाण सम्वत २८८ के लगभग उल्लुका नदी के तट पर एक उल्लुकातीर नामक नगर बसा हुआ था। नदी के दूसरे किनारे एक धूली के आकार का नगर था। उस नगर मे धनगुप्त नामक मुनिराज रहते थे। उनका एक शिष्य था गंग। नदी के उस पार आचार्य को वदना करने के लिए जाते हुए आर्य गंग को नदी पार करनी पड़ी। लुंचितकेश होने से एक ओर खोपड़ी धूप से तप रही थी और दूसरी ओर नदी का जल अतिशीत होने से दोनो पैरों मे अतिशीत का अनुभव हो रहा था। मिथ्यात्व-मोह के उदय से उसके मन मे सकल्प उठे कि शास्त्र में दो क्रियाओ का एक साथ होना निषिद्ध है, किन्तु मैं शीतता और उष्णता दोनों का एक साथ अनुभव कर रहा हू। अनुभव-विरुद्ध होने से शास्त्रीय वचन ठीक नहीं है। उसने अपने अनुभव-सिद्ध विचार गुरु के समक्ष रखे।

गुरु ने कहा—एक साथ दो क्रियाओ का अनुभव होना वस्तुत: वह अनुभवाभास है। सर्व देश और सर्वकाल में अनुभव क्रम से ही होता है। समय की अत्यन्त सूक्ष्मता से तथा मन की अतीन्द्रिय शीघ्र गति एव चंचलता से ऐसी भ्रान्ति होती है कि दो क्रियाओ का अनुभव एक साथ ही हो रहा है। वास्तव मे भ्रान्ति के आधार से किसी भी तत्त्व की सिद्धि नहीं होती। जीव उपयोगमय है, उसकी सारी शक्ति एक क्षण मे एक ही ओर लगी रहती है, अत: वह उस समय मे दूसरी वस्तु को अनुभव नहीं कर सकता। जैसे बहुत से कोमल पत्तों को एक दूसरे पर रखकर यदि उन्हे तीक्ष्ण भाले से एक दम जोर से छेदा जाए तो ऐसा मालूम पडेगा मानो सब पत्ते एक साथ ही बिंध गए हो, किन्तु यह बात सर्वमान्य है कि पहले पत्ते के बिना बिंधे दूसरा नहीं बिंध सकता। सभी पत्ते क्रमश: ही बिंधते हैं, फिर शीघ्रता के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि सभी पत्ते एक साथ बिंध गए हैं।

इसी तरह एक दूसरा उदाहरण भी है कि लाठी की दोनों कोटियो में आग लगा कर यदि आलात-चक्र को बडी तेजी से घुमाया जाए तो वह अग्निचक्र बन जाता है। घुमाने से ऐसा

प्रतीत होता है जैसे कि वह अग्नि का एक चक्कर है जिसके चारों ओर आग फैल रही है, वस्तुतः ऐसा नहीं है, जैसे इन दोनो स्थानों पर शीघ्रता के कारण भ्रान्ति हो जाती है, वैसे ही समय और मन की सूक्ष्मता और शीघ्रता के कारण काल-भेद होने पर भी ऐसी भ्रांति हो जाती है कि हम दो क्रियाओं का अनुभव एक साथ कर रहे हैं।

जैसे शर्बत पीते हुए शीतलता, मधुरता, सुगध इत्यादि बातों का ज्ञान एक साथ होता हुआ प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में सभी बातों का ज्ञान क्रमिक होता है, वैसे ही पैरों से शीत और सिर से उष्ण स्पर्श का ज्ञान भी क्रमिक होता है, एक साथ नहीं। विभिन्न ज्ञानों के क्रमिक होने पर भी ज्ञाता सभी ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति मान लेता है। एक साथ ज्ञान उत्पन्न न होने देना मन का धर्म है। मान लीजिए एक व्यक्ति १४ भाषाओं का ज्ञाता है। एक बहुत बड़े फलक (साइनबोर्ड) पर तीन भाषाओं में सुवाक्य लिखे हुए हैं। उन्हें वह क्रमशः ही पढ सकता है, एक साथ नही। उपयोग का ऐसा ही स्वभाव है।

इस प्रकार अनेक युक्तियो के द्वारा आर्यगंग को समझाने पर भी उसने अपना असत्याग्रह नही छोड़ा। श्रद्धा एव प्ररूपणा विपरीत होने से वह निह्नव बना। आचार्य ने उसे और उसके अनुयायी वर्ग को संघ से बाहर निकाल दिया ताकि उनकी सगति से औरो की श्रद्धा-प्ररूपणा विपरीत न हो जाए।

६. **तैरासिया—त्रयराशिक**·—आगम-साहित्य में जीव राशि और अजीव राशि, इन दो राशियो का उल्लेख मिलता है, तीन का नहीं। फिर यह त्रैराशिक सिद्धान्त क्यो? इस विषय मे बताया जाता है कि—

वीर-निर्वाण के सवत् के ५४४ वर्ष बाद षडुल्लुक नामक छट्ठा निह्नव हुआ है। अन्तरंजिका नगरी के बाहर भूतगृह उद्यान में श्रीगुप्त नामक एक आचार्य अपने शिष्यों के साथ पधारे। श्री गुप्ताचार्य का एक शिष्य रोहगुप्त था। वह दूसरे नगर में रहता था। एक बार गुरुदर्शनो के हेतु वह अन्तरजिका नगरी में पहुंचा। उस नगरी में बलश्री राजा का राज्य था। एक दिन एक परिव्राजक लोहे की पत्ती से पेट बांध कर जामुन (जम्बू) वृक्ष की शाखा हाथ में लिए नगरी मे परिभ्रमण कर रहा था। किसी के पूछने पर उसने कहा—"मेरा पेट ज्ञान से अधिक भरा हुआ है। मैंने फूटने के भय से इस पर लोहे की पत्ती बाध रखी है। जंबूद्वीप में मेरा कोई प्रतिवादी नही है, इसलिए जंबू-वृक्ष की शाखा हाथ मे ले रखी है।"

एक दिन उसने सभी प्रतिवादियों को चुनौती दी। इस चुनौती को सुनकर रोहगुप्त ने शास्त्रार्थ करने के लिए स्वीकृति दे दी। रोहगुप्त राजसभा में गया और उसने कहा—

"यह शाखा वाला परिव्राजक क्या जानता है? स्वेच्छया यह पूर्वपक्ष स्थापन करे, मैं उसका खंडन करूंगा।

परिव्राजक ने सोचा यह चतुर लगता है, इन्हीं का सम्मत-पक्ष ही इसके समक्ष रखता

हूं, जिसका निराकरण यह न कर सके। परिव्राजक ने कहा 'संसार में दो ही राशियां है जीव और अजीव, इनके अतिरिक्त तीसरी कोई राशि नही।'

रोहगुप्त ने उसे पराजित करने के लिए अपने सिद्धान्त का खडन करना प्रारम्भ कर दिया, वह बोला—"यह हेतु असिद्ध है, क्योंकि जीव और अजीव के अतिरिक्त नो-जीव नामक एक तीसरी राशि भी अनुभव-सिद्ध है। नारकी, तिर्यंच आदि जीव हैं और आकाश, परमाणु एवं घट आदि अजीव है। कटी हुई सर्प या छिपकली की पूछ नोजीव है। ये तीन राशियां हैं, क्योकि इसी प्रकार की उपलब्धि होती है। जैसे उत्तम, मध्यम और अधम नामक तीन राशिया है।"

इस तरह की युक्तियों से परिव्राजक निरुत्तर एव पराजित हो गया और रोहगुप्त की विजय हुई। विजय पाकर वह गुरु के समीप आया और उसने वहा का सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

आचार्य ने कहा—"यह तुमने बहुत अच्छा किया कि उसे जीत लिया, किन्तु वहा से उठते समय यह क्यों नही कहा कि यह हमारा सिद्धान्त नहीं है। जैन-शास्त्र में दो ही राशियां कही हैं, जीव राशि और अजीव राशि, तीसरी राशि की कल्पना तो उसे पराजित करने के लिए ही की गई थी। अब भी जाकर सभा में तुम कह दो कि परिव्राजक का मिथ्याभिमान चूर करने के लिए ही मैंने तीसरी राशि की कल्पना की, वस्तुत: ऐसी बात नही है।"

गुरु के बहुत समझाने पर भी रोहगुप्त नहीं माना। उसने कहा यह अपसिद्धान्त नही है, तीसरी राशि नोजीव मानने में मुझे कोई आपत्ति नही है। कट कर अलग पड़ी तडपती हुई छिपकली की पूछ नोजीव है। इसका अर्थ अजीव नहीं, अपितु जीव का एक हिस्सा है। छिपकली की कटी हुई पूछ को जीव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीव का एक अंश होने के कारण वह जीव से विलक्षण है उसे अजीव भी नहीं कहा जा सकता, क्योकि उसमे स्पन्दनशीलता है, अत: उसे नोजीव मानना ही युक्ति-संगत है। नोजीव का अर्थ है 'जीव-प्रदेश' क्योंकि वह जीव और अजीव दोनों से विलक्षण है, समभिरूढ़नय के मत से जीव-प्रदेश को नोजीव माना गया है। जीव के एक देश को नोजीव कहा जाता है। जैसे घट का एक देश नोघट कहा जाता है, वैसे ही नोजीव नाम की तीसरी राशि भी है ही। वह भी जीवाजीवादि तत्त्वो की तरह युक्ति-युक्त और आगम-सिद्ध है।

उत्तर में आचार्य ने कहा—'स्थानाग सूत्र में दो ही राशिया कही गई हैं—जीव और अजीव। अनुयोग द्वार में भी कहा गया है—जीव-द्रव्य और अजीव-द्रव्य। उत्तराध्ययन सूत्र का भी कथन है—कि जीव और अजीव इन दो द्रव्यों से लोक व्याप्त है। आगम मे तीसरी राशि का वर्णन कही भी उपलब्ध नहीं है। उसकी सत्ता बताना आगम की अवहेलना है। धर्मास्तिकाय आदि का देश, प्रदेश भी उनसे सर्वथा भिन्न नहीं है। उनमे भिन्नत्व की कल्पना तो सिर्फ विवक्षा को लेकर ही की गई है। इसी तरह पूछ भी छिपकली से अभिन्न

ही है, क्योंकि वह उसी के साथ लगी हुई है। इसलिए पूंछ में रहे हुए आत्मप्रदेश जीव से भिन्न न होने से जीव ही हैं, नो जीव नहीं। किसी शस्त्र आदि से जब छिपकली की पूंछ कट जाती है, तब उसके अलग हो जाने पर भी बीच में जीव के प्रदेशों का सम्बन्ध बना रहता है। शरीर का अवयव कट कर अलग हो सकता है, किन्तु आत्मा के प्रदेशों का छेदन-भेदन नहीं होता, आत्मा तो अच्छेद्य एवं अभेद्य है।''

भगवती सूत्र में गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से प्रश्न किया कि ''भगवन्! कछुआ और उसके अवयव, मनुष्य और उसके अवयव, गोह और उसके अवयव, गौ और उसके अवयव, भैस और उसके अवयव, इनके दो, तीन यावत् संख्यात, असंख्यात टुकड़े हो जाने पर क्या बीच में भी जीव-प्रदेश रहते हैं? उत्तर मिला ''हां गौतम ! रहते हैं।''

भगवन्! क्या कोई पुरुष उन जीव-प्रदेशों को अपने हाथ से छुकर किसी तरह-पीड़ा पहुंचा सकता है?''

''गौतम यह बात सम्भव नहीं है, वहां शस्त्र की गति नहीं होती।''

उक्त प्रश्नोत्तर से जीव और उनके कटे हुए भाग के बीच में जीव प्रदेशों का होना सिद्ध है। अत्यन्त सूक्ष्म एव अमूर्त होने से उन मध्यवर्ती प्रदेशों को कोई भी छद्मस्थ देख नही सकता।

जो तुम कहते हो कि अनुयोग द्वार सूत्र के आधार पर समभिरूढनय नोजीव को पृथक् मानता है, वह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि जीव-प्रदेश को जीव से भिन्न समभिरूढनय नही मानता। अपितु जीव से अभिन्न जीव-प्रदेश को ही समभिरूढ नय 'नोजीव' कहता है। वह जीव को अलग मानकर उसके एक खड को नोजीव नहीं मानता। जिस तरह छिपकली की पूछ को तुम अलग नोजीव मानते हो, वह तुम्हारी तरह जीव और अजीव राशि से भिन्न 'नोजीव' राशि को नही मानता वह तीसरी राशि का अतर्भाव दो में ही कर लेता हैं। आदि के पाच नय भी जीव को प्रदेशों से अलग नहीं मानते। सूत्र मे कहे गए एक भी पद या अक्षर को जो नही मानता, वह शेष सब कुछ मानते हुए भी मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार जब एक अक्षर या पद मे संदेह होने पर जीव मिथ्यात्व से मलिन हो जाता है, तब अलग राशि की कल्पना या प्ररूपणा करने से तो कहना ही क्या?

इस प्रकार बहुत समझाने पर भी जब रोहगुप्त नहीं माना, तो आचार्य ने उसे श्रद्धा-भ्रष्ट जानकर संघ से बाहर निकाल दिया। रोहगुप्त ने छः भावों की स्थापना की अतः उसका षडुल्लूक नाम पड़ा और वही भविष्य मे कणादमुनि के नाम से प्रख्यात हुआ।

७. अबद्धिया—जीव कर्म से स्पृष्ट है, बद्ध नही। इस मत के प्रवर्त्तक गोष्ठामाहिल हुआ है। वह वीर-निर्वाण संवत् की छट्ठी शताब्दी में हुआ था। आर्यरक्षित जी नौ पूर्वो और २४ यविकों में प्रवीण विद्वान् थे। उनके गच्छ मे चार मुनि अग्रगण्य थे—दुर्बलिकापुष्यमित्र,

विन्ध्य, फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल। इन मे गोष्ठामाहिल आर्यरक्षित का मामा था और फल्गुरक्षित उनका छोटा भाई था। ये सब ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न हुए थे।

आर्यरक्षित के बाद चतुर्विध श्रीसंघ के शास्ता दुर्बलिकापुष्यमित्र बने। वे नौ पूर्वों के समर्थ विद्वान् थे। उधर गोष्ठामाहिल उनकी निंदा कर के साधुओं को बहकाने लगा, किन्तु उसकी बात को कोई भी नही मानता था। वह अभिमानवश आचार्य के पास स्वाध्याय के लिए भी नहीं जाता था। वाचना लेने के बाद लौटे हुए साधुओं से तथा एकान्त में बैठकर चिंतन करते हुए विंध्य अनगार से वह शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करता रहा। एक दिन आठवें कर्म-प्रवाद पूर्व और नौवे प्रत्याख्यान-प्रवाद पूर्व के अधिकार के विषय में उसने विवाद खड़ा कर दिया। उस विवाद की सक्षिप्त रूप रेखा इस प्रकार है—

कर्म-प्रवाद नामक आठवें पूर्व में कर्मो पर विचार करते हुए आचार्य श्री जी ने व्याख्यान दिया—"जीव के साथ कर्मो का सयोग तीन तरह का होता है—स्पृष्टकर्म, स्पृष्टबद्ध कर्म और स्पृष्टबद्ध निकाचित कर्म।"

कषाय रहित ईर्यापथिकी क्रिया से होने वाला कर्म-सयोग स्पृष्ट कर्म कहलाता है। वह स्थिति को बिना प्राप्त किए ही जीव से अलग हो जाता है। सूखी हुई दीवार पर फैकी हुई धूल जैसे तुरन्त अलग हो जाती है, वैसे ही स्पृष्टकर्म भी अनायास ही दूर हो जाते है।

स्पृष्टबद्धकर्म उसे कहते है—जो कर्म बद्ध होने के साथ-साथ जीव-प्रदेशो के साथ मिल जाते है, परन्तु कुछ समय पाकर ही अलग हो जाते है, जैसे गीली दीवार पर फैकी हुई धूल चिपक जाती है, परन्तु समय पाकर वह अलग हो जाती है। वैसे ही स्पृष्टबद्धकर्म भी समयान्तर में आत्मा से अलग हो जाते हैं।

जो कर्म तीव्र कषाय के उदय से बाधे जाते हैं उनका बिना भोगे छूटना असंभव है। ऐसे कर्मो को ही "स्पृष्टबद्धनिकाचित" कहते है। कालान्तर में भी वे कर्म फल दिए बिना क्षय नहीं होते। जैसे गीली दीवार पर लगाया हुआ हाथ का चित्र सूखने के बाद भी मिटता नही है।

तीन तरह के कर्मो को समझाने के लिए दूसरा उदाहरण है—जो कर्म धागे से बाधी हुई सूचि-कलाप के समान हैं, उन्हे "स्पृष्ट" कहा जाता है। लोहे की तार से बांधी हुई सूइयो की तरह रहने वाले कर्म "बद्धस्पृष्ट" कहलाते हैं। सूचि-कलाप को आग मे तपाकर हथोडे से कूटने पर उनसे बने हुए पिंड की तरह जो कर्म होते है, उन्हे "बद्ध-स्पृष्ट-निकाचित" कहते हैं। निकाचित और अनिकाचित में यही अंतर है कि जिन कर्म प्रवृत्तियों में उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण, उदीरणा, आदि न हो सके, वे कर्म निकाचित कहलाते है और जिनमें हो सके, उन्हें अनिकाचित या निधत्त भी कहते है। कर्मो का सबंध जीव के साथ दूध-पानी की तरह या लोह-पिंड एव अग्नि की तरह होता है। जैसे तांबा और सोना

दोनों को पिघलाने पर वे एकमेक हो जाते है, वैसे ही आत्मा और कर्म का सम्बन्ध होता है।

विंध्य मुनिवर से कर्मों के विषय में उपर्युक्त व्याख्या सुनकर गोष्ठामाहिल कहने लगा—कर्मों की यह व्याख्या समीचीन नही है। यदि जीव-प्रदेशों का और कर्मो का तादात्म्य संबन्ध माना जाए, तो वे कर्म कभी भी अलग नहीं हो सकेंगे, अलग हुए बिना मोक्ष का अभाव सिद्ध हो जाएगा। अत: कर्मों का संबंध अग्नि और लोहपिंड की तरह या क्षीर-नीर की तरह सबन्ध न मानकर सांप और केंचुली की तरह या चावल और छिलके की तरह मानना उचित है। इस प्रकार मानने से कर्म-बंध और मोक्ष दोनों में कोई बाधा या दोषापत्ति नहीं आएगी। कहा भी है—

''सोउं भणइ सदोसं वक्खाणमिणंति पावइ जओ ते।
मोक्खाभावो जीवप्पएस कम्माविभागाओ।।
नहि कम्मं जीवाओ अवेइ अविभागओ पएस व्व।
तदणवगमादमोक्खो जुत्तमिणं तेण वक्खाणं।।''

अत: यही सिद्ध होता है कि जीव कर्म से स्पृष्ट है, न कि पूर्णतया बद्ध। •

विंध्य अनगार गोष्ठामाहिल को पूर्णतया समझाने में अपने को समर्थ न समझकर वे आचार्य श्री जी से निवेदन करने लगे—'गुरुदेव। इनकी कर्म-विषयक और प्रत्याख्यान-विषयक शंकाओ का समाधान आप ही कर सकते है। गुरु ने स्वयं बात-चीत करके समझाने का निश्चय किया। उन्होंने सबसे पहले कर्म-विषयक विवाद को निपटाने के लिए गोष्ठामाहिल से प्रश्न किया—

''कर्म यदि जीव को साप की केंचुली की तरह ही छूते हैं, तो क्या वे जीव के प्रत्येक प्रदेश को छूते हैं या शरीर के चारों ओर चिपके रहते हैं? पहला पक्ष भी तुम्हारी मान्यता को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि प्रत्येक प्रदेश के सब ओर कर्म आ जाने से कोई भी जीव का मध्य भाग या प्रदेश नही बचेगा, जहां कर्म न हों। जैसे आकाश जीव के हर प्रदेश में व्याप्त है, वैसे ही कर्म भी जीव के प्रत्येक प्रदेश मे व्यापक होने से कर्म सर्वगत हो जाएगे, क्योंकि प्रति प्रदेश व्यापकता रूप जो सबध तुम जीव के साथ कर्मो का सिद्ध करना चाहते हो, वह केंचुली के द्वारा सिद्ध नहीं होता, अत: केंचुली का दिया हुआ दृष्टान्त साध्य-विकल है। यदि कर्मों का सम्बन्ध शरीर के चारो ओर मानते हो तो जन्मान्तर में जाते हुए जीव के साथ कर्म नहीं रहेंगे, क्योंकि शरीर के मल की तरह वे कर्म भी शरीर के साथ ही छूट जाएंगे। कर्म न रहने से जन्म नही, इस तरह ससार ही नही रहेगा। यदि बिना कर्म के संसार मान लिया जाए, तो संयम, तप आदि साधनों से होने वाली कर्मो की निर्जरा भी व्यर्थ हो जाएगी, क्योंकि संसार तो कर्म-रहित होने पर भी रहेगा। इस तरह मानने से सिद्धों को भी

संसार में आना पडेगा और इस प्रकार ससारी जीवों और सिद्धों में कोई अंतर ही नहीं रह जाएगा। जैसे चावल पर रहा हुआ जन्मजात छिलका उसे बाहर से ही आवृत करता है भीतर से नहीं, वैसे ही शरीर के भीतर जो सुख-दु:ख की अनुभूति होती है, वह उक्त दृष्टान्त से घटित नही होती, क्योंकि कर्म शरीर के मध्य में रहते है, जहा सुख-दुख की अनुभूति होती है, वहां उस अनुभूति के कारण भूतकर्म का होना अनिवार्य है। जैसे त्वचा को जब अनुभूति होती है, तब शरीर के मध्य में भी उसकी प्रतीति होती है वहा कर्म हैं, यह बात तभी सिद्ध हो सकती है, जब कि आत्मा और कर्म का संबन्ध क्षीर नीरवत् मानेंगे।''

''कर्मों का बन्ध मिथ्यात्व आदि आश्रवो के कारण होता है। मिथ्यात्व आदि आश्रव जैसे जीव के बाह्य प्रदेशों में रहते है, वैसे ही मध्यप्रदेश मे भी रहते है। कर्म-बन्ध के कारण जब वे जीव के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं तब उनका कार्य कर्म-बंध भी सर्वत्र ही होता है, अत: अग्नि और लोहपिंड के समान तथा क्षीर-नीर की तरह जीव के साथ कर्म का तादात्म्य सबध स्वीकार करना पडता है, अत: यही पक्ष युक्ति सगत है।

''प्रयोग के द्वारा जैसे दूध से पानी को अलग किया जा सकता है, सोने के साथ मिले पत्थर को या सोने के साथ मिले हुए ताबे को भी रासायनिक प्रयोग द्वारा अलग कर दिया जाता है, वैसे ही ज्ञान और क्रिया के द्वारा कर्मो को भी जीव से अलग किया जा सकता है। जैसे परस्पर तादात्म्यभाव से स्थित होने पर भी पदार्थ अलग किए जा सकते हैं, वैसे ही आध्यात्मिक प्रक्रियाओं से जीव द्वारा कर्म भी अलग किए जा सकते है, अत· मोक्ष होने में कोई भी आपत्ति नही है।''

आचार्य ने अन्य भी बहुत से हेतु दिए, किन्तु उसने यही स्वीकार किया कि जीव और कर्म का सम्बन्ध क्षीर-नीरवत् नही है, अपितु सर्प केचुलीवत् मानना ही ठीक है। उसने अपना हठ नही छोड़ा, अत: वह और उसके अनुयायी सभी निह्नव कहलाए। आचार्य ने उन्हे संघ से बहिष्कृत कर दिया।

यहा यह शंका होनी स्वाभाविक है कि जो निह्नव श्रमण भगवान महावीर के अनन्तर हुए हैं, उनका उल्लेख अंग-शास्त्रो मे कैसे किया गया? ''**होत्था**'' इस क्रिया-पद से भी यह स्पष्ट है कि वे हुए थे, इससे सूत्रकार अतीत काल का स्मरण कराते हैं। अत: निह्नवों का अस्तित्व महावीर से पूर्व ही प्रमाणित होता है, परन्तु उपर्युक्त विवेचन उनका होना महावीर के बाद सिद्ध करता है।

इस शका के समाधान मे कहा जा सकता है कि सभव है कि क्षमाश्रमण देवर्द्धि गणि ने जब आगमों को ग्रन्थ रूप दिया था, उस समय सातवें स्थान के अनुरोध से सात निह्नवों का उल्लेख भी उन्होंने कर दिया होगा। क्योकि वे पहले ही लिखते है—''**समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवयणनिण्हगा पण्णत्ता**'' इस प्रकरण में '**तित्थंसि**'

पद दिया गया है जिसका भाव है भगवान महावीर के तीर्थ मे सात निह्नव कहे गए हैं। तीर्थ का काल-प्रमाण २१००० वर्ष पर्यन्त है। '**होत्था**' क्रिया पद से सामान्यभूत अभिप्रेत है। तब वे नगर भी उन निह्नवों से संबंधित थे, उस अतीतकाल का निर्देश किया गया है। संभव है भगवान के समय में भी इस तरह के निह्नव होंगे। तभी तो औपपातिक सूत्र में प्रश्नो के द्वारा उनकी गति-विधियों का उल्लेख करते हुए उनकी धारणाओं का निराकरण किया गया है।[१]

उस सूत्र पाठ में 'भवंति' इस वर्तमान कालिक क्रिया का प्रयोग किया गया है। जिससे ज्ञात होता है कि प्रश्नकार के युग में भी प्रवचन-निह्नव होगे।[२]

वेदनीय कर्म का विपाक

मूल—सायावेयणिज्जस्स कम्मस्स सत्तविहे अणुभावे पण्णत्ते, तं जहा—मणुन्ना सद्दा, मणुण्णा रूवा, जाव मणुन्ना फासा, मणोसुहया, वइसुहया।

असायावेयणिज्जस्स णं कम्मस्स सत्तविहे अणुभावे पण्णत्ते, तं जहा—अमणुन्ना सद्दा जाव वइदुहया॥४८॥

छाया—सातावेदनीयस्य कर्मणः सप्तविधोऽनुभावः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मनोज्ञाः शब्दाः, मनोज्ञानि रूपाणि यावन्मनोज्ञाः स्पर्शाः, मनःसुखता, वाक्सुखता।

असातावेदनीयस्य कर्मणः सप्तविधोऽनुभावः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अमनोज्ञाः शब्दाः यावद् वाग्दुःखता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—साता-वेदनीय कर्म का सात प्रकार का विपाक कथन किया गया है, जैसे—मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप से लेकर मनोज्ञ स्पर्श तक पाच प्रकार का और मन का सुख तथा वचन का सुख।

असाता-वेदनीय कर्म का विपाक भी सात प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे—अमनोज्ञ शब्द से लेकर वचन-दुःख तक।

---

१ से जे इमे गामागर जाव सण्णिवेसेसु णिण्हगा भवंति, त जहा—बहुरया, जीवपएसिया, अव्वत्तिया, सामुच्छेइया, दो किरिया, तेरासिया, अबद्धिया, इच्चेते सत्त पवयणणिण्हगा केवलचरिया, लिंगसामण्णा, मिच्छद्दिट्ठी बहुहिं असब्भावुब्भावणाहिं, मिच्छत्ताभिणिवेसेहिं य अप्पाण च पर च तदुभय च वुग्गाहेमाणा, वुप्पाएमाणा विहरित्ता बहूइ वासाइ सामण्णपरियाग पाउर्णति, त्ता (. तस्स ठाणस्स अणालोइया अपडिकता) कालमासे काल किच्चा उक्कोसेण उवरिमेसु गेवेज्जेसु देवत्ताए उवत्तारो भवति, तेहिं तेसिं गई, एक्कतीस सागरोवमाइ ठिई, परलोगस्स अणाराहगा, सेस त चेव।

२. निह्नवो की मान्यताओ के खडन का विस्तृत वर्णन क्षमाश्रमण जिनभद्रगणी कृत विशेषावश्यक भाष्य मे मिलता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में निह्नवो का वर्णन किया गया है। वे निह्नव चार गतियो में भटकते हुए कर्मो के सुख-दु:ख को भोगते है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे सुखात्मक सातावेदनीय और दुखात्मक असातावेदनीय कर्मों के विपाक का वर्णन किया गया है।

पाचों इन्द्रियों, मन और वचन में शुभता का होना साता है और उनमें अशुभता का होना असाता है। **'सुहया'** शब्द की सस्कृत छाया 'सुखता' और 'शुभता है'। इसी प्रकार **'दुहया'** शब्द का संस्कृत रूप 'दु:खता' है।

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियां है—साता और असाता। जब सातावेदनीयकर्म का उदय होता है, तब जीव उसका सुखमय फल सात प्रकार से भोगता है। उसे सुनने के लिए प्रिय शब्द, देखने के लिए मंगलकारी रूप, सूंघने के लिए इष्ट गध, आस्वादन के लिए स्वादिष्ट रस, स्पर्श के लिए सुखकारी स्पर्श इत्यादि पांच इन्द्रियों के पंचविध सुख प्राप्त होते है तथा मानसिक और वाचिक सुख भी मिलते हैं। इस तरह सात प्रकार से सातावेदनीय कर्म अपना फल देता है।

असातावेदनीय कर्म का फल भी जीव सात प्रकार से ही भोगता है, जैसे कि—सुनने के लिए कटु शब्द, देखने के लिए भयकर घृणित रूप, सूघने के लिए अनिष्ट दुर्गन्ध, आस्वादन के लिए अनिष्ट रस, छूने के लिए दु:खद स्पर्श इस प्रकार पांच इन्द्रियो के प्रतिकूल विषयो के समागम से दुख अनुभव करना तथा मानसिक दु:ख और वाचिक दु:खो का अनुभव करना असातावेदनीय है। रोग और आघात आदि का होना भी अनिष्ट स्पर्श है।

नक्षत्र-द्वार

मूल—महा णक्खत्ते सत्ततारे पण्णत्ते।

अभिईयादिया णं सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, तं जहा—अभिई, सवणे, धणिट्ठा, सयभिसया, पुव्वाभद्दवया, उत्तराभद्दवया, रेवई।

अस्सणियादिया णं सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता, तं जहा—अस्सिणी, भरणी, कित्तिया, रोहिणी, मिगसिरे, अद्दा, पुणव्वसू।

पुस्साइया णं सत्त णक्खत्ता अवरदारिया पण्णत्ता, तं जहा—पुस्सो, असिलेसा, मघा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता।

साइयाइया णं सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता, तं जहा—साइ, विसाहा, अणुराहा, जेट्ठा, मूलो, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा॥४९॥

छाया—मघानक्षत्रं सप्ततारकं प्रज्ञप्तम्। अभिजिदादिकानि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारिकाणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—अभिजित्, श्रवणः, धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वाभाद्र-

पदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती।

अश्विन्यादिकानि सप्त नक्षत्राणि दक्षिणद्वारिकाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरः, आर्द्रा, पुनर्वसुः।

पुष्यादीनि सप्त नक्षत्राण्यपरद्वारिकानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पुष्यः, अश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्तः, चित्रा।

स्वात्यादिकानि सप्त नक्षत्राण्युत्तरद्वारिकाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—स्वातिः, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूलः, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—मघा नक्षत्र के सात तारे वर्णन किए गए हैं। अभिजित् आदि सात नक्षत्र पूर्वद्वारी कथन किए गए है, जैसे—अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती।

अश्विनी आदिक सात नक्षत्र दक्षिण द्वारी कथन किए गए है, जैसे—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु।

पुष्य आदि सात नक्षत्र पश्चिमद्वारी कथन किए गए हैं, जैसे, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त और चित्रा।

स्वाति आदिक सात नक्षत्र उत्तरद्वारी कथन किए गए हैं, जैसे—स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सातावेदनीय एवं असातावेदनीय कर्मों के विपाक अर्थात् फल का वर्णन किया गया है। जीव कर्मों का फल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त को पाकर ही भोगता है। काल-गणना में सहायक होने से नक्षत्रों का समावेश काल मे ही होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे नक्षत्रो का विषय वर्णित है। २८ नक्षत्रों में मघा ही एक ऐसा नक्षत्र है, जिसके सात तारे हैं।

अभिजित् नक्षत्र से लेकर रेवती पर्यन्त सात नक्षत्र पूर्वद्वार संज्ञक है। अश्विनी से लेकर पुनर्वसु पर्यन्त सात नक्षत्र दक्षिणद्वार संज्ञक हैं। पुष्य से लेकर चित्रा तक सात नक्षत्र पश्चिम-द्वार सज्ञक है। स्वाति से लेकर उत्तराषाढा नक्षत्र तक सात नक्षत्र उत्तरद्वार सज्ञक हैं।

चंद्रप्रज्ञप्ति सूत्र के अंतर्गत इस विषय में पांच लौकिक अभिमत प्रकट किए गए हैं। कुछ ज्योतिर्विद कृत्तिका से लेकर आश्लेषा तक सात नक्षत्र पूर्वद्वारिक मानते है, कुछ ज्योतिर्विद मघा से लेकर विशाखा तक सात नक्षत्र पूर्वद्वारिक स्वीकार करते है, कुछ नक्षत्रज्ञ धनिष्ठा से लेकर सात नक्षत्र पूर्वद्वारिक मानते है, कुछ ऐसे भी खगोलशास्त्री हैं, जो अश्विनी से लेकर पुनर्वसु तक सात नक्षत्र पूर्वद्वारिक स्वीकार करते हैं, कुछ भरणी से

लेकर पुष्य तक सात नक्षत्र पूर्वद्वारिक मानते हैं।

भगवान महावीर के प्रवचनानुसार नक्षत्रों की गणना अभिजित् नक्षत्र से प्रारम्भ होती है। इसीलिए अभिजित् आदि सात नक्षत्र पूर्व द्वारिक कहे गए हैं। यहां छठे मत का आश्रय लेकर वर्णन किया गया है। अब लौकिक अभिमतों में से पहले मत का आश्रय लेकर निम्नलिखित श्लोकों में वर्णन किया जाता है, जैसे कि—

''दहनाद्यमृक्षसप्तकमैन्द्रयां तु मघादिकं च याम्यायाम्।
अपरस्यां मैत्रादिकमथ सौम्यां दिशि धनिष्ठादि॥
भवति गमने नराणामभिमुखमुपसर्प्पतां शुभप्राप्तिः।
अथ पूर्वमृक्षसप्तकमुद्दिष्टं मध्यममुदीच्याम्॥
पूर्वायामौदीच्यां प्रातीच्यां दक्षिणाभिधानायाम्।
याम्यां तु भवति मध्यममपरस्यां यातुराशायाम्॥
येऽतीत्य यान्ति मूढाः परिघाख्यामनिलदहनदिग्रेखाम्।
निपतन्ति तेऽचिरादपि दुर्व्यसने निष्फलारंभा॥''

अर्थात् कृत्तिका आदि सात नक्षत्र पूर्व दिशा के हैं, मघादि सात नक्षत्र दक्षिण दिशा के है, अनुराधादि सात नक्षत्र पश्चिम दिशा के हैं, धनिष्ठा आदि सात नक्षत्र उत्तर दिशा के है। इस क्रम से जिस दिशा का जो नक्षत्र है उस नक्षत्र के दिन उस दिशा मे जाने पर वह नक्षत्र सामने होता है, अतः उस दिशा में यात्रा करने वाले यात्री को उस यात्रा में शुभ फल की प्राप्ति होती है। जो नक्षत्र पूर्व दिशा के कहे गए है, वे उत्तर दिशा की यात्रा मे मध्यम हैं। इसी तरह उत्तरदिशा के नक्षत्र पूर्व दिशा की यात्रा मे मध्यम है। दक्षिण दिशा के नक्षत्र पश्चिमदिशा की यात्रा में मध्यम हैं तथा पश्चिम दिशा के नक्षत्र दक्षिण दिशा की यात्रा में मध्यम है। जो अनभिज्ञ वायव्यकोण से आग्नेयकोण तक गई हुए परिघ नामक रेखा के नक्षत्रों को लाघकर दक्षिण दिशा में यात्रा करते है वे शीघ्र ही संकट के गर्त्त मे पड़ जाते हैं, और वे जिस कार्य का प्रारम्भ करते है उस में उन्हें सफलता नहीं मिलती। सारांश यह है कि कृत्तिकादि सात-सात नक्षत्र क्रमशः पूर्वादि चारो दिशाओ मे लिखकर आग्नेयकोण से वायव्यकोण तक रेखा खीच देनी चाहिए उसे परिघदड समझकर अपने-अपने भाग वाले १४-१४ नक्षत्रों में उसी-उसी भाग मे यात्रा आदि शुभ कार्य होना चाहिए। किन्तु दड को लाघकर कभी-भी यात्रा नहीं करनी चाहिए।

यद्यपि यह विषय खगोल शास्त्र का है, अध्यात्मविद्या-प्रधान आगमों में इसकी विशेष आवश्यकता नही थी, तथापि विकासोन्मुख आत्मा के उत्थान मे नक्षत्रों का सहयोग भी सुनिश्चित है, क्योकि आत्मिक आस्थाओ के अनुरूप वातावरण मिलने पर लौकिक सिद्धियो और अलौकिक अभिलाषाओ की पूर्ति शीघ्र हो जाया करती है।

वक्षस्कार पर्वतों के कूट

मूल—जंबुद्दीवेणं दीवे सोमणसे वक्खारपव्वए सत्त कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे सोमणसे, तह बोद्धव्वे मंगलावइकूडे।
देवकुरू विमल कंचण, विसिट्ठकूडे य बोद्धवे॥

जंबुद्दीवे दीवे गंधमायणे वक्खारपव्वए सत्त कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे य गंधमायण, बोद्धव्वे गंधिलावईकूडे।
उत्तरकुरू, फलिहे, लोहियक्ख आणंदणे चेव॥५०॥

छाया—जम्बूद्वीपे खलु द्वीपे सौमनसे वक्षस्कारपर्वते सप्त कूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

सिद्धः सौमनसस्तथा बोद्धव्यं मंगलावतीकूटम्।
देवकुरुर्विमलः काञ्चन, विशिष्टञ्च बोद्धव्यम्॥

जम्बूद्वीपे द्वीपे गन्धमादने वक्षस्कारपर्वते सप्त कूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

सिद्धञ्च गन्धमादनं बोद्धव्यं गन्धिलावतीकूटम्।
उत्तरकुरु-स्फटिकं, लोहिताक्ष आनन्दनश्चैव॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप के सौमनस वक्षस्कार पर्वत पर सात कूट कथन किए गए हैं, जैसे—सिद्धकूट, सौमनसकूट, मंगलवतीकूट, देवकुरुकूट, विमलकूट, काञ्चनकूट और विशिष्टकूट।

जम्बूद्वीप में गन्धमादन वक्षस्कार पर्वत पर सात कूट विद्यमान हैं, जैसे—सिद्ध,* गन्धमादन, गन्धिलावती, उत्तरकुरु, स्फटिक, लोहिताक्ष और आनन्दन कूट।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे नक्षत्रों का वर्णन किया गया है, नक्षत्र देवाधिष्ठित माने गए हैं, अत: देव-अधिकार होने से प्रस्तुत सूत्र मे देव-निवास-भूत कूटों का वर्णन किया गया है। जिस पर्वत के शिखर पर देव भवन हो उसे कूट कहते है। जबूद्वीप नामक द्वीप मे देवकुरु क्षेत्र से पूर्व की ओर सौमनस वक्षस्कार पर्वत पर सात कूट हैं। वह सौमनस पर्वत गजदन्ताकार है, जो नाम कूटों का है, वही नाम उसमें रहने वाले प्रमुख देव का है। विशेषता यह है कि विमल और कांचनकूट पर क्रमश: वत्सा और वत्समित्रा इन दो नामों वाली अधोलोक-निवासिनी दिशाकुमारियों का आधिपत्य है।

जबूद्वीप नामक द्वीप में उत्तरकुरु क्षेत्र से पश्चिम की ओर गंधमादन वक्षस्कार पर्वत है। उस पर्वत पर सात कूट हैं। उनमें से स्फटिक और लोहिताक्ष इन दो कूटों पर अधोलोक निवासिनी भोगंकरा और भोगवती नामवाली क्रमशः दो दिशाकुमारियो का आधिपत्य है।

शेष पांच कूटों पर जो नाम कूट का है उसी नाम के देव का निवास है। इन दो पर्वतों का तथा उनके सात-सात कूटों का विस्तृत वर्णन जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र के गज-दंतों के अधिकार मे किया गया है।

द्वीन्द्रिय जीवों की कुल कोटियां

मूल—बेइंदियाणं सत्त जाइकुलकोडिजोणी पमुह सयसहस्सा पण्णत्ता॥५१॥

छाया—द्वीइन्द्रियाणां सप्त जातिकुलकोटियोनयः प्रमुखाःशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि।

शब्दार्थ—बेइंदियाणं—द्वीन्द्रिय जीवों की, **सत्तसय सहस्सा**—सात लाख, **जाइकुल-कोडिजोणी**—जाति कुलकोटि योनि, **पमुह**—प्रमुख, **पण्णत्ता**—कथन की गई है।

मूलार्थ—द्वीन्द्रिय जीवों की सात लाख जाति कुलकोटि कही गई हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में कूटो एवं पुष्करणियों का वर्णन किया गया है। कूटस्थित पुष्करणियों मे द्वीन्द्रिय जीव भी होते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में द्वीन्द्रिय जीवों की कुलकोटियो की सख्या बताई गई है। उनकी योनिया दो लाख हैं और जाति-कुलकोटियां सात लाख है। कोटि से तात्पर्य एक समान कुल से है, अर्थात् एक कुल के अनेक प्रकार है, जैसे एक ही प्रकार के गोबर में अनेक जाति के कृमि उत्पन्न होते हैं उन सबको सामूहिक रूप से कुल कहते है। इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार लिखते है—

''द्वीन्द्रियजातौ याः योनयस्तत्प्रभवा याः कुलकोटयस्तासां लक्षणानि सप्त प्रज्ञप्तानीति, तत्र योनिर्यथा गोमयस्तत्र चैकस्यामपि कुलानि—विचित्राकाराः कृम्यादय इति''।

एक ही योनि में अनेक कुल होते हैं, अतः दो इन्द्रिय जीवों की योनियो में ७ लाख कुलकोटिया बताई गई हैं। आज प्राणी-शास्त्र का अध्ययन बहुत ऊचे स्तर पर हो रहा है और प्राणी-विज्ञान भी पर्याप्त समुन्नत हो चुका है, परन्तु डार्विन ने पशु-पक्षियों की जिस विकास-परम्परा पर प्रकाश डाला था, उसे भी आज नए वैज्ञानिक तथ्यहीन बताते जा रहे हैं। डार्विन ने सूक्ष्म जीवों के भेदो आदि का वर्णन नही किया, किन्तु सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु महावीर ने इस विषय पर जो प्रकाश डाला है हमारा विश्वास है प्राणी-विज्ञान अपने विकास की चरम अवस्था में उसे ही स्वीकार करेगा।

जीवों द्वारा पाप कर्म के रूप में पुद्गल-ग्रहण

मूल—जीवा णं सत्तट्ठाणनिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा चिणिंति वा, चिणिस्संति वा, तं जहा—नेरइयनिव्वत्तिए जाव देवनिव्वत्तिए एवं चिण जाव णिज्जरा चेव ॥५२॥

छाया—जीवाः सप्तस्थाननिर्वर्तितान् पुद्गलान् पापकर्मतया अचिन्वन् वा चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—नैरयिकनिर्वर्तितान् यावत् देवनिर्वर्तितान्। एवं चयो यावत् निर्जरा चैव।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जीवों ने सात स्थानों से निर्वर्तित पुद्गलों को पाप-कर्म रूप से एकत्र किया, करते हैं और करेंगे, जैसे नारकीपने तक। इसी प्रकार पाप-कर्म-रूप पुद्गलों का चय तथा निर्जरा भी करेगे।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे द्वीन्द्रिय जीवों का वर्णन किया गया है। द्वीन्द्रिय आदि जीव अपनी-अपनी योनि में पाप-कर्म के पुद्गलों को संचित करके ही उत्पन्न होते है, अतः प्रस्तुत सूत्र में पाप-कर्म के पुद्गलों के सचयन की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है।

नारकी, तिर्यञ्च, तिर्यञ्ची, मनुष्य, मानुषी, देव और देवी, संसार भर के सभी जीव इन सात जीव-समूहो मे समाविष्ट हो जाते हैं। इनमे रहते हुए जीव पाप-कर्मो का उपार्जन करते है इनके अतिरिक्त और कोई स्थान नहीं है जहा पापकर्मों का उपार्जन हो सके, अतः कर्मफल भोगने के स्थान भी ये सात है।

सात स्थानो मे उत्पन्न होकर जीवो ने पापकर्म के रूप मे पुद्गलों का सचय अतीत काल मे किया, वर्तमान में कर रहे हैं और भविष्य मे भी करेंगे। इसी प्रकार उपचय, बंध, उदय, उदीरणा, वेदना और निर्जरा के विषय मे भी समझना चाहिए।

पुद्गलों की अनन्तता

मूल—सत्तपएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता। सत्तपएसोगाढा पोग्गला जाव सत्तगुणलुक्खा पोग्गला अणंत्ता पण्णत्ता ॥५३॥

छाया—सप्त प्रदेशिकाः स्कन्धा अनन्ताः प्रज्ञप्ताः। सप्त प्रदेशावगाढाः पुद्गल यावत्सप्तगुणरूक्षाः पुद्गला अनन्ताः प्रज्ञप्ताः।

शब्दार्थ—सत्त पएसिया—सात प्रदेशिक, **खंधा**—स्कन्ध, **अणंता पण्णत्ता**—अनन्त कथन किए गए है। **सत्त पएसोगाढा**—सात प्रदेशों पर अवगाढ पुद्गल, **जाव**—यावत्, **सत्त गुणलुक्खा**—सात गुना रूक्ष, **पोग्गला अणंत्ता पण्णत्ता**—पुद्गल अनन्त कथन किए गए हैं।

मूलार्थ—सप्त प्रदेशिक पुद्गल-स्कन्ध अनन्त वर्णन किए गए हैं। सात आकाश प्रदेशों में अवगाहन करने वाले पुद्गल अनन्त है, यावत् सात गुणा रूक्ष पुद्गल अनन्त वर्णन किए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पापकर्म के पुद्गलों के सचय-स्थानों का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार—वे पुद्गल कितने प्रकार के होते हैं इस विषय पर प्रकाश डालते हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर पुद्गल का निरूपण करना ही इस सूत्र का उद्देश्य है, जैसे कि सात प्रदेशी स्कन्ध अनन्त है। आकाश के सात प्रदेशों को अवगाहन करने वाले पुद्गल भी अनन्त हैं। सात समय स्थिति वाले पुद्गल भी अनन्त हैं। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन को गुण या भाव भी कहते हैं। जिनमें सात गुण पाए जाएं ऐसे पुद्गल भी अनन्त हैं।

॥ सप्तम स्थान पूर्ण ॥
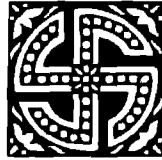
।। णमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स ।।

श्री स्थानाङ्ग-सूत्रम्

एक उद्देशक

इस उद्देशक में—

प्रस्तुत स्थान मे एकलविहारी अनगार के गुण, योनि सग्रह, चयनीय प्रकृतिया, प्रायश्चित्त आदि की उपेक्षा के कारण, मायावी द्वारा कृत आलोचना-कारण, मायावी की तपन, अनालोचना का पारलौकिक फल, आलोचना-जन्य पारलौकिक फल, सवर-असवर, स्पर्श-भेद, लोक-स्थिति के प्रकार, गणि-सम्पदा, महानिधियो की उच्चता, समितिया, आलोचना के गुण, प्रायश्चित्त, मद-स्थान, अक्रियावादी, महानिमित्त, वचन-विभक्ति, छद्मस्थ-अज्ञेय, केवली-ज्ञेय, आयुर्वेद, इन्द्रों की अग्रमहिषिया, महाग्रह, तृणवनस्पति, चतुरिन्द्रियासमारम्भजन्य संयम, समारम्भ-जन्य असंयम, अष्ट सूक्ष्म, चक्रवर्ती के मोक्षगामी वशज, श्री पार्श्वनाथ जी के गण-गणधर, दर्शन, औपमिक काल, श्री नमिनाथ जी की युगान्तकृद् भूमि, श्रीमहावीर-दीक्षित नृप, अष्टविध आहार, कृष्ण-राजियो के संस्थान आदि, धर्मास्तिकाय आदि के मध्य प्रदेश, महापद्म जी द्वारा दीक्षित होने वाले राजा, श्री नेमिनाथ जी से दीक्षित होकर सिद्ध हुई श्री कृष्ण की अग्रमहिषियां, वीर्यपूर्व की वस्तुए और चूलिकाएं, अष्ट गति, गगा आदि देवियो के द्वीप, उल्कामुख आदि के द्वीप, कालोद समुद्र का विस्तार, आभ्यन्तर-बाह्य-पुष्करार्ध का विस्तार, काकिणी रत्न का मान, मगधदेशीय योजन-मान, सुदर्शना और कूटशाल्मलि का मान, तिमिस्रगुहा और खण्डप्रपातगुहा का उच्चत्वमान, शीता और शीतोदा महानदी के वक्षस्कार, विजय और चक्रवर्ती महाराजाओ की राजधानिया, शीता और शीतोदा महानदी के तटों पर अवस्थित वैताढ्यादि, ज्ञातव्य पदार्थ, मेरुचूलिका का मध्यमान, धातकीवृक्ष के उच्चत्व आदि का मान, भद्रशाल वन के दिशाहस्ती और जम्बूद्वीप का मध्यमान, वर्षधरो के कूट आदि, तिर्यक् मिश्रोत्पन्नक कल्प, अष्ट-अष्टमिका भिक्षु प्रतिमा, ससार-समापन्नक जीव, अष्टविध संयम, आठ पृथ्वियां, अप्रमाद-स्थान, सहस्रार कल्प का उच्चत्वमान, श्री अरिष्टनेमि जी की वादि-सम्पदा, केवली-समुद्घात, श्री महावीर की अनुत्तरोपातिक सम्पदा, अष्टविध वानव्यन्तर देव और चैत्यवृक्ष, रत्न-प्रभा से सूर्य-विमान की दूरी, चन्द्र-प्रमर्दयोगकारी नक्षत्र, द्वीपसमुद्र-द्वारो की ऊचाई, पुरुषवेदनीय और यश:-कीर्ति की स्थिति, त्रीन्द्रिय जीवों की कुलकोटिया, अष्टस्थान निवर्तित पुद्गलो की अनन्तता आदि का वर्णन किया गया है।

अष्टम स्थान

सामान्य-परिचय

पहले के सात स्थानों में जीव, अजीव आदि तत्त्वों का संख्या-अपेक्षा की दृष्टि से वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उन्हीं पदार्थों का आठ की संख्या की अपेक्षा रखते हुए पदार्थों की अष्टविधता का वर्णन करते हैं।

एकाकी विहारयोग्य अनगार-गुण

मूल—अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, तं जहा—सड्ढी पुरिसजाए, सच्चे पुरिसजाए, मेहावी पुरिसजाए, बहुस्सुए पुरिसजाए, सत्तिमं, अप्पाहिगरणे, धिइमं, वीरियसंपन्ने ॥१॥

छाया—अष्टभिः स्थानैः सम्पन्नोऽनगारोऽर्हति एकलविहारप्रतिमामुपसम्पद्य विहर्तु, तद्यथा—श्रद्धिपुरुषजातं, सत्यपुरुषजातं, मेधाविपुरुषजातं, बहुश्रुतपुरुषजात, शक्तिमान्, अल्पाधिकरणः, धृतिमद्, वीर्यसम्पन्नः।

शब्दार्थ—अट्ठहि ठाणेहिं—आठ स्थानों (गुणों) से, **संपन्ने अणगारे**—सम्पन्न अनगार, **एगल्लविहारपडिमं**—एकाकी विहार प्रतिमा को, **उवसंपज्जित्ताणं**—ग्रहण कर के, **विहरित्तए**—विहार करने के लिए, **अरिहइ**—योग्य माना जाता है, **तं जहा**—यथा, **सड्ढी पुरिसजाए**—श्रद्धावान्, **सच्चेपुरिसजाए**—सत्यवादी, **मेहावी पुरिसजाए**—मेधावी, **बहुस्सुए पुरिसजाए**—बहुश्रुत, **सत्तिमं**—तप आदि की शक्ति वाला, **अप्पाहिगरणे**—क्लेश न करने वाला, **धिइमं**—धैर्यवान्, **वीरियसंपन्ने**—वीर्य-सम्पन्न।

मूलार्थ—आठ गुणों से युक्त अनगार एकाकी विहार-प्रतिमा ग्रहण कर विचरने के योग्य माना जाता है, जैसे—श्रद्धावान्, सत्यवादी, मेधावी, बहुश्रुत, शक्तिसम्पन्न, क्लेश न करने वाला, धृतिमान् और वीर्यवान्।

विवेचनिका—स्थानांग-सूत्र की यह शैली है कि जीवगुण के वर्णन से प्रत्येक स्थान का आरम्भ होता है और अजीवगुणों के वर्णन से प्रत्येक स्थान की समाप्ति होती है। उसी क्रम मे प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने सर्वप्रथम अनगार के उन आठ गुणों का वर्णन किया है, जिनके होने पर वह एकाकी विहार कर सकता है। जिन-कल्प-प्रतिमा या मासिकी आदि भिक्षु-प्रतिमा अंगीकार करके साधु के अकेले विचरने रूप अभिग्रह को एकल-विहार प्रतिमा कहते है। जो साधु आठ गुणों से सपन्न हो वही एकल-विहार प्रतिमा को ग्रहण करके विचर सकता है। वे आठ गुण इस प्रकार है—

१ **सड्ढीपुरिसजाए**—जो जीव आदि नव तत्त्वों पर सम्यक् रूप से श्रद्धा रखता हो, मोक्षमार्ग मे सयम तप मे दृढ़ श्रद्धावान् हो, जो किसी देव या देवेन्द्र के द्वारा भी श्रद्धामार्ग से विचलित न हो सके, जो किसी भी स्थिति में श्रद्धा से डावांडोल न हो सके जिसकी अन्तरात्मा जिन-धर्म से अनुरंजित हो, उसे ही "श्रद्धिपुरुषजात" कहते है। '**जात**' **शब्द** का अर्थ है प्रकार, एकल विहारी सन्त का पहला प्रकार अर्थात् रूप यही **है**।

२. **सच्चे पुरिसजाए**—जो पूर्ण सत्यवादी हो, अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहने वाला हो, हितवचन बोलने वाला हो, चारित्र-पालन मे अटल हो, किसी का बुरा न सोचता हो, सबका भला सोचने वाला हो, न्याय-प्रिय, विश्वस्त और प्रामाणिक हो, उसे 'सत्य-पुरुषजात" कहते हैं। ऐसा सत्यनिष्ठा सम्पन्न मुनीश्वर ही एकाकी विहार का अधिकारी होता है।

३ **मेहावी पुरिसजाए**—शास्त्र एवं तत्त्व के ग्रहण मे समर्थ तथा विवेक-सपन्न बुद्धिमान् पुरुष को "मेधावी पुरुषजात" कहते है, क्योंकि ऐसा मेधावी मुनि सत् और असत् की परख करने में कुशल होता है, उसकी बुद्धि विलक्षण होती है, अत: वह विहार की समस्याओ का सयमोचित समाधान निकालने में समर्थ होता है। ऐसा मुनीश्वर एकल-विहारी बन सकता है। ऐसा मुनीश्वर अपने आपको अपने ही ज्ञान बल से सुरक्षित रख सकता है।

४ **बहुस्सुय-पुरिसजाए**—एकल विहार करने वाला साधु शास्त्रो का पारंगत होना चाहिए। आगमो के सूत्र और अर्थ से पूर्णतया परिचित होना चाहिए, कम से कम वह नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु का ज्ञाता अवश्य होना चाहिए, तभी वह एकल विहार प्रतिमा का वहन कर सकता है। तीर्थकरों के युग में ग्यारह अंगों का पाठी भी इस प्रतिमा को धारण कर एकाकी विहार कर सकता था, जैसे स्कन्धक सन्यासी ने भिक्षु की प्रतिमा ग्रहण की थी।

५ **सत्तिमं**—शारीरिक शक्ति, विद्या एव मंत्र-शक्ति वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन इत्यादि अनेक शक्तियों से सपन्न साधु ही एकलविहार प्रतिमा को ग्रहण कर सकता है क्योंकि शक्ति के बिना सयम-मार्ग मे आने वाले परीषह-उपसर्गो को सहन करना कठिन होता है और सहन-शक्ति के बिना निरतिचार चारित्र की आराधना नही हो सकती।

६ **अप्पाहिगरणे**—जो मुनीश्वर क्लेश-विद्वेष से रहित, शान्त एवं क्षमावान् हो, वही

एकल विहार-प्रतिमा को अगीकार कर सकता है। क्रोधी एवं वाणी पर नियन्त्रण न रखने वाला इस प्रतिमा का अधिकारी नहीं हो सकता।

७. धिइमं—धृतिमान्, जिस मुनीश्वर की चित्तवृत्तियां स्वस्थ रहती हो, जो रति-अरति, अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गो को सहन करने में समर्थ हो, वही धृतिमान् कहलाता है। धृतिमान् साधु ही इस प्रतिमा को धारण कर एकाकी विहार कर सकता है।

८. वीरियसंपन्ने—जो संयम-स्थानो में उत्तरोत्तर बढने का उत्साह रखता हो, जिसका उत्साह कभी भी अपने कर्त्तव्य से पीछे न रहता हो। "सयमम्मि य वीरिय" के अनुसार जो संयम-सुरक्षा के लिए पुरुषार्थ करने वाला हो, वही साधु एकाकी विहार के योग्य होता है।

इन आठ गुणों से संपन्न साधु आचार्य की आज्ञा से एकल-विहार प्रतिमा को अंगीकार कर विचरण कर सकता है, परन्तु अपनी इच्छा से नहीं।

जो साधु जिन-कल्प-वृत्ति को धारण करना चाहता है उसकी तुलना पांच बातों से की जाती है जैसे कि तप से, सत्त्व से, सूत्र से, एकत्व से और बल से। जो इन शक्तियों से संपन्न हो वही इस प्रतिमा का अधिकारी होता है।[१]

अष्टविध योनि-संग्रह

मूल—अट्ठविहे जोणि-संगहे पण्णते, तं जहा—अंडगा, पोयगा जाव उब्भिया, उववाइया। अंडया अट्ठगइया पण्णत्ता, तं जहा—अंडए अंडएसु उववज्जमाणे अंडएहिंतो वा, पोयएहिंतो वा उववाइएहिंतो वा, उववज्जेज्जा, से चेव णं से अंडए अंडगत्तं विप्पजहमाणे अंडगत्ताए वा, पोयगत्ताए वा जाव उववाइयत्ताए वा गच्छेज्जा। एवं पोयगावि, जराउयावि, सेसाणं गईरागई णत्थि॥२॥

छाया—अष्टविधो योनि-संग्रहः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अण्डजाः, पोतजाः, यावदुद्भिजाः, औपपातिकाः। अण्डजा अष्टगतिका अष्टागतिका प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अण्डजोऽण्डजेषूपद्यमानोऽण्डजेभ्यो वा, पोतजेभ्यो वा, औपपातिकेभ्यो वा उपपद्येत, स एव सोऽण्डजोऽण्डजत्वं विप्रजहन् अण्डजतया वा, पोतजतया वा यावदौपपातिकतया गच्छेत्। एवं पोतजा अपि, जरायुजा अपि, शेषाणां गतिरागतिर्नास्ति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आठ प्रकार का योनि-सग्रह कहलाता है, जैसे—अण्डज, पोतज आदि से लेकर उद्भिज तक और आठवां औपपातिक। अण्डज जीव अण्डज में पैदा होता

---

१. तवेण सत्तेण सुत्तेण एगत्तेण बलेण य।
तुलणा पचहा वुत्ता जिणकप्प पडिवज्जओ॥

हुआ अण्डज से अथवा पोतज से लेकर औपपातिकों तक से आकर उत्पन्न होता है और वही जीव अण्डज-भाव को छोड़ता हुआ अण्डजपने अथवा पोतजपने से लेकर औपपातिकपने तक उत्पन्न हुआ करता है। इसी प्रकार पोतज भी, जरायुज भी उत्पन्न हो सकता है, किन्तु शेष जीवो की गति अथवा आगति नहीं होती।

विवेचनिका—अनगार का प्रमुख व्रत है 'अहिंसा'। अहिंसाव्रती साधु जीव-रक्षा के लिए सर्वदा यत्नशील रहता है। प्रश्न होता है कि वे कौन से जीव हैं जिनकी रक्षा के लिए अनगार को यत्नशील रहना चाहिए? अब इसी प्रश्न का उत्तर सूत्रकार स्वयं देते है। उत्पत्ति-स्थान को योनि कहा जाता है। त्रस योनियों के अनेक भेद होने पर भी उन सबका इस सूत्र में आठ रूपों में समाहार कर लिया गया है। विश्व भर मे जितने भी त्रस प्राणी है, उन सब के उत्पत्ति-स्थानों की यदि गणना की जाए तो वे आठ ही है, जैसे कि अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, सस्वेदज, संमूर्छिम, उद्भिज और औपपातिक। अंडज, पोतज और जरायुज इन जीवो की गति भी आठ प्रकार की है और आगति भी आठ ही प्रकार की मानी गई है। इन से भिन्न जो रसज, सस्वेदिम, सम्मूर्छिम, उद्भिज और औपपातिक जीव है उनकी गति और आगति आठ तरह की नहीं होती। औपपातिक शब्द से देव और नारक दोनो का ग्रहण होता है। रसज आदि जीव देव-गति और नरक-गति में उत्पन्न नही हो सकते और न ही देव और नारक ये रसज आदि मे उत्पन्न हो सकते हैं। देव और नारक, अण्डज, पोतज और जरायुज में ही उत्पन्न हुआ करते है। मनुष्य का अन्तर्भाव जरायुज में होता है। जितने भी त्रस प्राणी है उन सबका अन्तर्भाव इन आठ योनियो मे ही हो जाता है।

सम्मूर्छिम पद से यहा असज्ञी तिर्यञ्च और असंज्ञी मनुष्य ग्रहण किए गए है। समूर्छिम तिर्यञ्च, देव और नारक-भव में जन्म ले सकता है, किन्तु देव और नारक ये समूर्छिम योनि में जन्म नहीं ले सकते। इस अपेक्षा से ही सातवे स्थान के तीसरे सूत्र में योनि-संग्रह की सप्तविधता पर प्रकाश डाला गया था। यहां आठवा औपपातिक भेद उपस्थित करने के लिए पुनः योनि-सग्रह का वर्णन किया गया है।

अष्टविध कर्म-प्रकृतियां

मूल—जीवाणमट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा, तं जहा—णाणावरणिज्जं, दरिसणावरणिज्जं, वेयणिज्जं, मोहणिज्जं, आउयं, नामं, गोत्तं, अंतराइयं।

नेरइया णं अट्ठकम्मपगडीओ चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा। एवं निरंतरं जाव वेमाणियाणं २४।

जीवाणमट्ठ कम्मपगडीओ उवचिणिंसु वा, एवं चेव। एवं चिण,

उवचिण, बंध, उदीर, वेय तह णिज्जरा चेव। एए छ चउवीसा दंडगा भाणियव्वा॥ ३॥

छाया—जीवा अष्टकर्म-प्रकृतीः अचिन्वन् वा, चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—ज्ञानावरणीयं, दर्शनावरणीयं, वेदनीयं, मोहनीयम्, आयुष्कं, नाम, गोत्रम्, अन्तरायिकम्। नैरयिका अष्टकर्मप्रकृतीः अचिन्वन्, चिन्वन्ति, चेष्यन्ति एवमेव। एवं निरन्तरं यावद् वैमानिकानाम् २४।

जीवा अष्टकर्म-प्रकृतीः उपाचिन्वन् वा एवमेव। एवं चयः, उपचयः, बन्धः, उदीरः, वेदस्तथा निर्जरा चैव। एते षट् चतुर्विंशतिर्दण्डका भणितव्याः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जीवों ने कर्मो की आठ प्रकृतियों का पूर्व काल में चयन किया, वर्तमान मे कर रहे हैं और आगामी काल में करेगे, वे आठ कर्म-प्रकृतियां हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायकर्म।

नारकियों से लेकर वैमानिको पर्यन्त जीवो ने आठ कर्म-प्रकृतियों का चय किया, करते हैं और करेंगे। इसी प्रकार चौबीस दण्डकों के जीवों के सम्बन्ध में कथन करना चाहिए। जीवों ने जैसे अष्ट कर्म-प्रकृतियों का चयन किया, कर रहे है, या करेंगे, उसी प्रकार चय, उपचय, बन्ध, उदीरणा, वेदन तथा निर्जरा ये छह सूत्र तीनो कालों को लक्ष्य में रखकर चौबीस दण्डको में कहने चाहिएं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अण्डज आदि त्रस जीवो की योनियो का वर्णन किया गया है। वे अण्डज आदि जीव आठ प्रकार की प्रकृतियो का सग्रह करते हैं, इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे उन्ही क्रम-प्राप्त आठ कर्म-प्रकृतियो का नामोल्लेख किया गया है। जीवो ने भूत काल मे आठ कर्मो का उपार्जन किया, कर रहे हैं और भविष्य मे करेगे। वे आठ कर्म-प्रकृतिया इस प्रकार है—जैसे कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

नारकीय जीवों से लेकर वैमानिक देवो तक चौबीस दंडको में रहने वाले जीवों ने आठ कर्मो का उपचय एव बंध किया, करते हैं और करेगे। इसी प्रकार उन्होंने आठ कर्मो की उदीरणा की, करते है और करेंगे। आठ कर्मो का फल भोगा, भोग रहे है और भोगेगे। आठ कर्मो की अकाम निर्जरा की थी, करते है और करेंगे। इसी प्रकार ससार की रचना तथा ससार में संसरण हो रहा है। जब आत्मा सकाम निर्जरा के द्वारा आत्म-प्रदेशों से सभी कर्म-वर्गणाओं को दूर कर देता है, तभी वह शुद्ध होकर निर्वाण-पद को प्राप्त कर सकता है। इन कर्मो की विस्तृत व्याख्या प्रज्ञापना सूत्र में और भगवती सूत्र में उपलब्ध है तथा कर्म-ग्रन्थो मे मिलती है।

प्रायश्चित्त आदि की उपेक्षा के कारण

मूल—अट्ठहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु नो आलोएज्जा, नो पडिक्कमेज्जा जाव नो पडिवज्जेज्जा, तं जहा—करिंसु वाऽहं, करेमि वाऽहं, करिस्सामि वाऽहं, अकित्ती वा मे सिया, अवण्णे वा मे सिया, अवणए वा मे सिया, कित्ती वा मे परिहाइस्सइ, जसे वा मे परिहाइस्सइ॥४॥

छाया—अष्टभिः स्थानैर्मायी मायां कृत्वा नो आलोचेद्, नो प्रतिक्रमेत्, यावत् नो प्रतिपद्येत्, तं जहा—अकुर्व वाऽहम्, करोमि वाऽहम्, करिष्यामि वाऽहम्, अकीर्तिर्वा मे स्यात्, अवर्णो वा मे स्यात्, अविनयो वा मे स्यात्, कीर्तिर्वा मे परिहास्यति, यशो वा मे परिहास्यति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आठ कारणों से मायावी माया करके आलोचना और प्रतिक्रमण आदि प्रायश्चित्त ग्रहण नहीं करता है, जैसे—पीछे पापकर्म मैने किया, अब कर रहा हूं और आगे भी करूंगा, मेरी अकीर्ति होगी, मेरा अवर्णवाद हो जाएगा, मेरा पूजा-सत्कार दूर हो जाएगा, मेरी कीर्ति को हानि पहुंचेगी, और मेरा यश समाप्त हो जाएगा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में आठ कर्म-प्रकृतियों का वर्णन किया गया है, कर्म-बन्ध से मुक्ति का साधन है प्रायश्चित्त। प्रायश्चित्त वही कर सकता है जो मायावी नही है, मायावी व्यक्ति ही प्रायश्चित्त की उपेक्षा करता है, वह क्या सोचकर उपेक्षा करता है इस सूत्र में इसी विषय का वर्णन किया गया है।

आठ प्रकार के कर्मचय के कारणो का सेवन करके उनके दु:ख-कारक परिणामों को जानते हुए भी कुछ व्यक्ति कर्म-भार अधिक होने के कारण उन कर्मो की आलोचना नहीं करते। दोषो का सेवन प्राय: मायावी व्यक्ति ही किया करते हैं। इसी कारण सूत्रकार ने मायावी शब्द का प्रयोग किया है। मायी अर्थात् कपटी व्यक्ति माया करके पश्चात्ताप नही करता। यह मैने अच्छा नहीं किया, यह कह कर वह अपनी दूषित आत्मा की निन्दा नही करता, गुरुजनों के समक्ष अपनी भूल स्वीकार नही करता, कृत-कर्मो की गर्हा नही करता, किए हुए अतिचारों से निवृत्ति नही पाता, शुद्ध भावो के द्वारा अशुद्ध भावों का प्रक्षालन नहीं करता। फिर कभी ऐसा कुकृत्य नही करूगा, यह प्रतिज्ञा नही करता। प्रायश्चित्त के रूप मे यथायोग्य तप:-कर्म स्वीकार नही करता, ऐसा साधक कभी भी आराधक नहीं हो सकता। आठ कारणो से मायावी व्यक्ति गुरुजनो के समक्ष किए हुए दोषो की आलोचना नही करता। वे आठ कारण इस प्रकार है, जैसे कि—

१. अतीतकालीन जीवन में मैंने जानबूझ कर नहीं करने योग्य दुष्कृतों का सेवन किया है, अत: अब उनकी निंदना-गर्हणा से क्या हो सकता है ?

२. मैं अकृत्य-कर्म करने का व्यसनी बन गया हूं, अत: दूषित कर्म मेरे से नहीं छूट सकते, अत: मैं इनकी आलोचना क्या करूं? क्योंकि मै वर्तमान मे भी वही कर्म कर रहा हूं जो कि पहले करता था।

३ भविष्य में भी मैं दोषो का सेवन करता ही रहूगा, फिर उनकी आलोचना करने से क्या लाभ?

४ आलोचना करने से मेरी अपकीर्ति अर्थात् बदनामी हो जाएगी, अत: मैं उस बदनामी से बचने के लिए अति-चारो की आलोचना नही करता।

५. आलोचना करने से मेरा अवर्ण अर्थात् अपयश बढेगा, क्योंकि समाज में जो व्यक्ति मेरे पापों को नहीं जानते वे भी उसे जान जाएंगे। इस कारण से भी मायावी आलोचना नहीं करता।

६. मेरी मान-प्रतिष्ठा को हानि पहुचेगी, इसलिए भी मायावी आलोचना नहीं करता।

७ ख्याति-प्राप्त मायावी सोचता है कि आलोचना करने से मेरी संचित कीर्ति क्षीण हो जाएगी, इस कारण से भी वह आलोचना नहीं करता।

८. धर्म एव समाज से विरुद्ध आचरण तो मैंने जरूर किया है, किन्तु आलोचना करने से मेरी आज तक की इज्जत मिट्टी में मिल जाएगी।

इन आठ कारणों से मायी दूषित कर्म करके भी आलोचना नही करता।

एक दिशा या एक जाति मे फैली हुई इज्जत को कीर्ति कहते है तथा सभी दिशाओं मे या सभी जातियों व कुलों मे फैली हुई इज्जत को यश कहते है। अथवा भौतिक पदार्थों से बढ़ी हुई इज्जत कीर्ति है और गुणो से बढ़ी हुई इज्जत को यश कहते है।

जो सूत्र मे **'अवणए'** शब्द का प्रयोग किया गया है उसका आशय यह है कि यदि मैंने आलोचना की तो कुछ क्षणो में या दिनो में मिलने वाली मान बड़ाई एवं प्रतिष्ठा मुझे नहीं मिलेगी, इस भय से भी मायी आलोचना नही करता। **'अवणए'** पद के स्थान में **'अविणए'** पाठ भी प्राप्त होता है। उसका आशय है जो मेरी विनय करते हैं सभव है आलोचना करने से उनके हृदय में मेरे प्रति अविनय-भाव जागृत हो जाएगा, वे मेरी विनय नहीं करेगे, इसलिए भी मायावी आलोचना नही करते।

मायावी द्वारा कृत आलोचना के कारण

मूल—अट्ठहिं ठाणेहिं माई मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडि-वज्जेज्जा, तं जहा—माइस्स णं अस्सिं लोए गरहिए भवइ, उववाए गरहिए भवइ, आजाई गरहिया भवइ, एगमवि माई मायं कट्टु नो आलोएज्जा जाव नो पडिवज्जेज्जा, णत्थि तस्स आराहणा। एगमवि माई मायं कट्टु

आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा, अत्थि तस्स आराहणा। बहुओवि माई मायं कट्टु नो आलोएज्जा जाव नो पडिवज्जेज्जा, नत्थि तस्स आराहणा। बहुओवि माई मायं कट्टु आलोएज्जा जाव अत्थि तस्स आराहणा। आयरियउवज्झायस्स वा मे अइसेसे नाणदंसणे समुप्पज्जेज्जा, से तं ममालोएज्जा-माई णं एसे॥५॥

छाया—अष्टभिः स्थानैर्मायी मायां कृत्वाऽऽलोचयेत् यावत् प्रतिपद्येत्, तद्यथा—मायिनोऽय लोको गर्हितो भवति, उपपातो गर्हितो भवति, आयाति गर्हिता भवति, एकामपि मायी मायां कृत्वा नो आलोचयेत् यावत् नो प्रतिपद्येत्, नास्ति तस्य आराधना। एकामपि मायी मायां कृत्वाऽऽलोचयेत् यावत् प्रतिपद्येत्, अस्ति तस्य आराधना। बहुतोऽपि मायी मायां कृत्वा आलोचयेत् यावत् नो प्रतिपद्येत्, नास्ति तस्य आराधना। बहुतोऽपि मायी मायां कृत्वा आलोचयेत् यावत् अस्ति तस्य आराधना। आचार्योपाध्यायस्य वा मे अतिशेषं ज्ञानदर्शनं समुत्पद्येत्, स च मामालोकयेत्—मायी एषः।

शब्दार्थ—अट्ठहिं ठाणेहि—आठ स्थानो से, **मायी**—मायावी, **मायं कट्टु**—माया कर के, **आलोएज्जा**—आलोचना करे, **जाव पडिवज्जेज्जा**—यावत् प्रायश्चित्त ग्रहण करे, **तं जहा**—यथा, **माइस्स णं अस्सिं लोए गरहिए भवइ**—मायावी की इस लोक में निन्दा होती है, **उववाए गरहिए भवइ**—उपपात गर्हित होता है, **आजाई गरहिया भवइ**—तृतीय जन्म गर्हित होता है, **एगमवि माई मायं कट्टु**—मायावी एक भी माया कर के, **नो आलोएज्जा**—यदि आलोचना न करे, **जाव**—यावत्, **नो पडिवज्जेज्जा**—प्रायश्चित्त ग्रहण न करे तो, **तस्स नत्थि आराहणा**—उसकी आराधना नही होती, **एगमवि माई मायं कट्टु**—एक बार माया का सेवन कर के यदि मायावी, **आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा**—आलोचना कर के यदि प्रायश्चित्त आदि ग्रहण करता है, **तस्स अत्थि आराहणा**—तो वह आराधक होता है, **बहुओ वि माई माय कट्टु**—मायावी बहुत प्रकार से माया करके, **नो आलोएज्जा जाव नो पडिवज्जेज्जा**—यदि आलोचना नही करता और प्रायश्चित्त आदि ग्रहण नहीं करता तो, **तस्स नत्थि आराहणा**—तो वह आराधक नही होता, **बहुओवि माई मायं कट्टु आलोएज्जा**—बहुत प्रकार से माया का सेवन करके भी यदि मायावी आलोचना करे, **जाव पडिवज्जेज्जा**—और प्रायश्चित्त आदि ग्रहण करे तो, **अत्थि तस्स आराहणा**—तो उस की आराधना है, **आयरियउवज्झायस्स वा मे**—अथवा मेरे आचार्य-उपाध्याय को, **अइसेसे नाणदंसणे समुप्पज्जेज्जा**—यदि अतिशेष ज्ञान-दर्शन हो जाए और, **से**—वे, **ममालोएज्जा**—मुझे अवलोकन करेंगे। **माई णं एसे**—तो वे यह मायावी है, ऐसा कहेगे, इस कारण आलोचना कर लेता है।

मूलार्थ—मायावी आठ कारणो से माया कर के आलोचना और प्रायश्चित्त आदि ग्रहण करता है, यथा—मायावी व्यक्ति का यह लोक गर्हित होता है, परलोक

गर्हित होता है और तीसरा जन्म भी गर्हित होता है। जो मायी एक माया का सेवन कर उस माया की आलोचना और प्रायश्चित्त आदि ग्रहण नहीं करता उसकी आराधना नहीं होती और जो मायी एक माया की भी आलोचना आदि कर लेता है, वह आराधक होता है। जो मायी बहुत प्रकार का मायाचार सेवन करके आलोचना नहीं करता, उसकी आराधना नही होती। बहुत प्रकार का माया-आचार सेवन करके जो आलोचना कर लेता है, वह आराधक है। मेरे आचार्य-उपाध्याय को यदि अतिशेष ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो गया तो वे मुझे जान लेंगे कि यह मायावी है, "तब मैं उन की दृष्टि से गिर जाऊगा" यह सोच कर मायावी प्रायश्चित्त आदि ग्रहण कर लेता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे मायावी लोग क्यों प्रायश्चित्त आदि नही करते इस विषय पर प्रकाश डाला गया था। अब सूत्रकार यह निर्देश करते है कि मायावी व्यक्ति माया-सेवन करने के बाद आठ कारणों मे से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर भी आलोचना कर सकता है जैसे कि—

१ दोषी का जीवन इस लोक मे निन्दनीय होता है, क्योंकि कहा भी है:—

"भीउव्विग्गनिलुक्को पायड पच्छन्न दोससयकारी।
अप्पच्चयं जणंतो जडस्स धी जीवियं जियइ॥"

अर्थात् मायावी अपने दोषों के कुप्रभाव से भयभीत एवं शंकित चित्त वाला होता है, मेरे पापकर्मो का पर्दा कहीं खुल न जाए इस विचार से वह अपने पापो को ढांकने के लिए अनेक-अनेक प्रयत्न करता है। इस तरह वह प्रकट और प्रच्छन्न रूप से सैकड़ो दोषो का कर्त्ता होता है, अत: उसका विश्वास साधारण मनुष्य भी नही करता, ऐसे जीवन को सर्वथा धिक्कार है। अत: मायी का यह भव निंदनीय हो जाता है। आलोचना करने से मन की सब खट-पट दूर हो जाती है।

२ मायी का देव-भव भी निंदनीय होता है। मायावी साधक अगले भव मे भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, परमाधामी, आभियोगिक और किल्विषिक देव बनता है। ये देव जाति मे उच्च देव नहीं माने जाते। यदि मै आलोचना नही करूंगा तो घृणित देवजाति में मेरा जन्म होगा, यही सोचकर भावी जन्म के सुधार के लिए मायी आलोचना करता है।

३. मायी का ससार में आगमन भी निंदनीय होता है, देवलोको से लौट कर वह जीव दुर्गति मे जन्म लेता है, तिर्यञ्च गति तो दुर्गति है ही, किन्तु यदि वह मनुष्य गति में भी जन्म ले ले, तो वह जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप आदि से हीन बनता है। इस दुर्दशा से बचने के लिए भी मायी आलोचना करता है।

४. जो मायावी किसी भी अतिचार का सेवन करके उसकी आलोचना नही करता,

वह ज्ञानादि की प्राप्ति का आराधक नहीं बन सकता, यह सोचते हुए मायावी आलोचना एवं प्रायश्चित्त आदि में लग जाता है।

५. जो मायावी एक भी अतिचार का सेवन करके आलोचना-प्रायश्चित्त के रूप मे तप-कर्म अंगीकार कर लेता है, वह मोक्षमार्ग का आराधक बन जाता है। इन कारणों से भी मायी प्रायश्चित्त आदि संयम-मार्ग पर आ जाता है।

६. मायी यदि बहुत बार अतिचारो का सेवन करके आलोचना नही करता एव प्रायश्चित्त नही करता, तो वह मोक्ष-मार्ग का आराधक नहीं बन पाता।

७ बहुत बार दोषों का सेवन करके भी यदि मायी आलोचना करता है और उन दोषो की निवृत्ति के लिए तप आदि भी करता है, तो वह मोक्ष-मार्ग का आराधक बन सकता है। इन कारणों को लक्ष्य में रखकर भी अनेक व्यक्ति मायावी होते हुए भी आलोचना करते हैं।

८ कभी-कभी मायावी व्यक्ति यह भी विचार करता है कि यदि आचार्य-उपाध्याय या गुरु को किसी सच्चे प्रमाण से यह पता लग गया कि मै मायावी एव कपटी हूं तो वे मेरे दोषो को जान जाएंगे या उन्हे कोई ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो जाए, तो वे मेरे गुप्ताचरित दोषों को जान लेगे, इससे अच्छा यही है कि मैं स्वय उन के पास आलोचना कर लू और कृत कर्मो का प्रायश्चित्त कर लू। इस कारण से भी कुछ मायावी आलोचना कर लेते है।

जो साधु लज्जा से, गौरव से या बहुश्रुत के मद से गुरु के सामने आलोचना नही करता, वह आराधक नही, विराधक बन जाता है। कहा भी है—

"लज्जाए गारवेण य बहुस्सुयमएण वावि दुच्चरियं,
जे न कहिंति गुरूणं न हु ते आराहया होंति॥"

जो साधु संयतावस्था मे भी भाव-शल्य का उद्धरण नही करता, वह दुर्लभबोधि और अनत ससार रूप अनर्थो को उत्पन्न करता है। वैसा अनर्थ न शस्त्र करता है, न विष करता है, न दुष्प्रयुक्त वैताल करता है, न दुष्प्रयुक्त यत्र करता है और न काई सर्प ही करता है, जैसा कि मायी माया-दोष सेवन कर आलोचना न करने से स्वयं अनर्थ करता है।[१]

सूक्ष्म या बादर अर्थात् स्थूल, प्रकट या प्रच्छन्न सभी तरह से दोषों से बचना ही श्रेष्ठ है, जो व्यक्ति दोषो को छिपाए रखता है उससे सयम दुर्गन्धित एव दूषित हो जाता है। दूषित जीवन का विश्व मे कोई महत्त्व नही है, अत: साधको को पहले तो मायावी बनने से ही

---

१ नवि त सत्थ व विस व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो,
जत व दुप्पउत्त सप्पो व पमाइणो कुद्धो॥
ज कुणइ भावसल्ल अणुद्धिय उत्तमट्ठकालम्मि।
दुल्लहबोहित्त अणत - ससारियत्त वा ॥

बचना चाहिए, यदि कोई भूल से कपट-कार्य हो भी जाए तो निस्संकोच होकर उसकी निंदना, गर्हणा करते हुए उसकी निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए।

मायावी किस प्रकार तपता है?

मूल—माई णं मायं कट्टु, से जहा नामए अयागरेइ वा, तंब गरेइ वा, तउआगरेइ वा, सीसागरेइ वा, रुप्पागरेइ वा, सुवन्नागरेइ वा, तिलागणीइ वा, तुसागणीइ वा, बुसागणीइ वा, णलागणीइ वा, दलागणीइ वा, सौडियालिच्छाणि वा, भंडियालिच्छाणि वा, गोलियालिच्छाणि वा, कुंभारावाएइ वा, कवेल्लुवा, वाएइ वा, इट्टावाएइ वा, जंतवाडचुल्लीइ वा, लोहारंबरिसाणि वा, तत्ताणि समजोइ भूयाणि किंसुक-फुल्ल-समाणाणि, उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाणाइं विणिम्मुयमाणाइं, जालासहस्साइं, पमुंचमाणाइं, इंगालसहस्साइं परिकिरमाणाइं, अंतो-अंतो झियायंति। एवं माई मायं कट्टु अंतो अंतो झियायइ। जइवि य णं अन्ने केइ वयइ, तंपि य णं माई जाणइ—अहमेसे अभिसंकिज्जामि अभि-संकिज्जामि॥६॥

छाया—मायी मायां कृत्वा, स यथानामकम्—अय-आकर इति वा, ताम्र-आकर इति वा, त्रप्वाकर इति वा, सीस-आकर इति वा, रुप्य-आकर इति वा, सुवर्ण-आकर इति वा, तिलाग्नि इति वा, तुषाग्नि इति वा, बुसाग्नि इति वा, नडाग्नि इति वा, दलाग्नि इति वा, शुण्डिकालिच्छानि वा, भाण्डिकालिच्छानि वा, गोलिकालिच्छानि वा, कुम्भकार-आपाक इति वा, कवेल्लुक-आपाक इति वा, इष्ट-आपाक इति वा, यन्त्रवाडचुल्ली इति वा, लोहाकार-अम्बरीषाणि इति वा, तप्तानि वा समज्योतिर्भूतानि, किंशुकफुल्लसमानानि, उल्कासहस्राणिविनिर्मुञ्चन्ति वि निर्मुञ्चन्ति, ज्वाला सहस्राणि प्रमुञ्चन्ति, अङ्गारसहस्राणि परिकिरन्ति, अन्तरन्तो ध्मायति। एवं मायी मायं कृत्वा अन्तरन्तो ध्मायति। यद्यपि चान्यान् कोऽपि वदति, तदपि च मायी जानाति—अहमेष अभिशङ्क्ये।

शब्दार्थ—माई णं मायं कट्टु—मायावी माया करके, **से जहा नामए**—वह यथानामक दृष्टान्त से जैसे, **अयागरेइ वा**—लोहा ढालने की भट्टी, **तंबागरेइ वा**—ताम्र ढालने की भट्टी, **तउआगरेइ वा**—त्रपु ढालने की भट्टी, **सीसागरेइ वा**—सीसा ढालने की भट्टी, **रुप्पागरेइ वा**—रौप्य ढालने की भट्टी, **सुवन्नागरेइ वा**—सुवर्ण ढालने की भट्टी, अथवा, **तिलागणीइ वा**—तिलाग्नि, **तुसागणीइ वा**—तुषाग्नि, **बुसागणीइ वा**—भूसे की अग्नि, **णलागणीइ वा**—नडाग्नि, **दलागणीइ वा**—दल-अग्नि, **सौडियालिच्छाणि वा**—सुरा

निकालने की भट्टी की अग्नि, **भंडियालिच्छाणि वा**—स्थाली आदि के गर्म करने की अग्नि, **गोलियालिच्छाणि वा**—बड़े भाण्डे पकाने की आग, **कुंभारावाएइ वा**—कुम्हार के आवे की आग, **कवेल्लुवावएइ वा**—चूने की भट्टी की आग, **इट्टावाएइ वा**—ईंट पकाने के भट्टे की आग, **जंतवाडचुल्लीइ वा**—गन्ने का रस पकाने के चूल्हे की आग, **लोहारंबरिसाणि वा**—लोहार की भट्टी की आग जो, **तत्ताणि**—तप्त, **समजोइभूयाणि**—ज्योति के समान, **किंसुकफुल्लसमाणाणि**—पलाश के पुष्पो की तरह लाल और, **उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाणि**—जो सहस्रो चिंगारिया छोड़ रही हो, **जालासहस्साइं पमुंचमाणाइं**—जिसमे सहस्रो ज्वालाए निकल रही हो, **इगालसहस्साइं परिकिरमाणाइं**—जो सहस्रो अगारो को बिखेर रही है, जो, **अंतो-अतो झियायंति**—भट्टी आदि के अन्दर ही अन्दर दीप्त हो रही है, **एवमेव**—इसी दृष्टान्त द्वारा, **माई मायं कट्टु**—मायी माया कर के, **अंतो अंतो झियायइ**—अन्दर ही अन्दर शोकाग्नि से तप्त रहता है, **जइ वि य णं**—जब भी, **अन्ने केइ वयइ**—किसी भी अन्य व्यक्ति से कोई कुछ कहता है, **तंपि य णं माई जाणइ**—तभी वह मायावी यह समझता है कि, **अहमेसे**—पाप करने वाला यह मै ही हूं, **अभिसंकिज्जामि**—और मेरे विषय मे ही ये लोग शंकाए करते है।

मूलार्थ—मायावी माया कर के यथा लोहे की धमनभट्टी, ताम्र एवं त्रपु अर्थात् पीतल की धमनभट्टी की आग, सीसे की रजत तथा सुवर्ण पिघलाने की आग एव तिल, तुष, भूसा, नड, पत्र, **मदिरा** की भट्टी, भण्डित तथा गोलिक, कुम्हार का आवा, कवेलु का आवा, ईटों का भट्टा, इक्षुयन्त्र, पाटक, चुल्ली, लुहार की भट्टी की अग्नि तप्त ज्योतिभूत, केसू के फूलों के समान, हजारो उल्काए छोड़ती हुई, हजारो ज्वालाएं छोड़ती हुई, हजारो अगारे बिखेरती हुई जैसे भीतर ही भीतर जलती रहती है, इसी प्रकार मायावी का हृदय स्वपाप से अन्दर ही अन्दर जलता रहता है, जहां कहीं अन्य कोई किसी से कोई बात करता है तो वह मायावी यही समझता है कि—"ये मेरी बातें कर रहे है", इस प्रकार वह सदैव शकाशील ही बना रहता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे मायावी व्यक्ति किन कारणों से प्रायश्चित्त आदि के लिए प्रस्तुत होता है, इस विषय का विवेचन किया गया है। यदि मायावी व्यक्ति प्रायश्चित्त आदि नहीं करता तो उसकी मानसिक दशा कैसी हो जाती है, अब सूत्रकार इस विषय पर प्रकाश डालते हैं।

दोष सेवन करने वाले सभी व्यक्ति मायावी कहलाते है। मायावी साधक अपने चारित्र से गिर जाता है, वह सदैव शंकित एवं भयभीत रहता है, हर एक व्यक्ति उसे डरा देता है। सज्जन व्यक्ति उसका सम्मान नहीं करते और वह मरकर नीच योनियो में जन्म लेता है। जो अपने किए हुए पापो की आलोचना नहीं करता तथा प्रायश्चित्त नहीं करता, वह मायावी

पुरुष मन ही मन भयो, चिन्ताओं और शंकाओं की आग से झुलसता रहता है। जिस तरह लोहा, तांबा, जस्ता, सीसा, चांदी, सोना इत्यादि धातुओं को पिघलाने वाली धमनभट्ठिया भीतर ही भीतर संतप्त एव जाज्वल्यमान रहती हैं, तिल, चावल, जौ, कोद्रव इत्यादि की एवं भूसे की आग, सरकडों एवं पत्तो की आग, अर्क आदि निकालने की भट्ठी, किरमिची आदि बर्तन पकाने एवं रंगने की भट्ठी, बड़े-बड़े बर्तन पकाने एवं बनाने की भट्ठी, कुम्हारों के आवे मे जलती हुई आग, नलिया पकाने का आवा, ईटे पकाने का भट्ठा, गुड-शक्कर, चीनी आदि बनाने की भट्ठी, लुहार के बड़े-बडे तपे हुए भट्ठों मे केसू के फूल की तरह जलते हुए लाल अंगारे जो कि सैकडों ज्वालाएं तथा हजारों चिंगारियां छोडते रहते हैं, जिनके भीतर आग जोर से सुलग रही हो, शोले भडक रहे हो, अन्दर ही अन्दर आग भड़कती रहती हो, ऐसी भट्ठियों और भट्ठो की तरह मायावी मनुष्य भी सदैव पश्चात्ताप रूपी आग से झुलसता ही रहता है। वह जिसे देखता है, उसी को अपने प्रति शंकाशील समझने लगता है और सोचता है इसने मेरे दोष को या माया को जान लिया होगा। यदि कहीं कुछ व्यक्ति एकान्त मे बातें कर रहे हों, तो वह यही समझेगा कि मेरी ही बातें हो रही हैं, जिससे वह भय-भीत हो जाता है। इसी कारण सूत्रकार ने कहा है "**जइ वि य णं अन्ने केइ वयइ, तंपि य णं मायी जाणइ अहमेसे अभिसंकिज्जामि**"। पाप करने वाला अपने पाप के कारण आप ही डरता रहता है। उसके मन में सदैव खलबली, अशान्ति, भय, शंका, परेशानिया इत्यादि विकार भड़कते ही रहते है। सूत्रकार ने जो "**उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाणाइं, जालासहस्साइं पमुंचमाणाइं, इंगालसहस्साइं परिकिरमाणाइं**" पद दिए है इन पदों से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल मे भी बडी-बड़ी भट्ठिया होती थीं, जिनमें लोहा आदि धातुओं को पिंघला कर अनेक तरह की चीजे ढाली जाती थीं।

अनालोचना का पारलौकिक फल

मूल—मायी णं मायं कट्टु अणालोइयपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवइ, तं जहा—नो महिड्ढिएसु जाव नो दूरंगइएसु, नो चिरट्ठिइएसु। से णं तत्थ देवे भवइ णो महिड्ढिए जाव नो चिरट्ठिईए। जावि य से तत्थ बाहिरब्भंतररिया परिसा भवइ, सावि य णं नो आढाइ, नो परियाणाइ, णो महरिहेणमासणेणं उवनिमंतेइ। भासंपि य से भासमाणस्स जाव चत्तारि पंच देवा अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—मा बहु देवे! भासउ।

से णं तओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता इहेव माणुस्सए भवे जाइं इमाइं कुलाइं भवंति, तं जहा—अंतकुलाणि वा, पंतकुलाणि वा, तुच्छकुलाणि वा, दरिद्दकुलाणि वा,

भिक्खागकुलाणि वा, किवणकुलाणि वा तहप्पगारेसु कुलेसु पुमत्ताए पच्चायाइ। से णं तथा पुमे भवइ-दुरूवे, दुवन्ने, दुग्गंधे, दुरसे, दुफासे, अणिट्ठे, अकंते, अप्पिए, अमणुण्णे, अमणामे, हीणस्सरे, दीणसरे, अणिट्ठसरे, अकंतसरे, अप्पिएस्सरे, अमणुण्णस्सरे, अमणामस्सरे, अणाएज्जवयणपच्चायाए। जावि य से बाहिरब्भंतरिया परिसा भवइ, सावि य णं णो आढाइ, णो परियाणाइ, णो महरिहेणं आसणेणं उवणिमंतेइ। भासंपि य से भासमाणस्स जाव चत्तारि पंच जणा अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति— मा बहुं अज्जउत्तो भासउ-२ ॥७॥

छाया—मायी मायां कृत्वा अनालोचितप्रतिक्रान्तः कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु देवलोकेषु देवतया उत्पन्नो भवति, तद्यथा—नो महर्द्धिकेषु यावन्नो दूरगतिकेषु, नो चिरस्थितिकेषु। स तत्र देवो भवति नो महर्द्धिको यावन्नोचिरस्थितिकः। याऽपि च तस्य बाह्याभ्यन्तरिका परिषद् भवति, साऽपि च नो आद्रियते, नो परिजानाति, नो महार्हेणासनेनोपनिमन्त्रयते। भाषामपि च तस्य भाषमाणस्य यावच्चत्वारः पञ्च देवा अनुक्ता एवाभ्युतिष्ठन्ति, मा बहु देव! भाषस्व !

स ततो देवलोकाद् आयुक्षयेण, भवक्षयेण, स्थितिक्षयेणानन्तरं च त्यक्त्वा इहैव मानुष्यके भवे यानीमानि कुलानि भवन्ति, तद्यथा—अन्तकुलानि वा, प्रान्तकुलानि वा, तुच्छकुलानि वा, दरिद्रकुलानि वा, भिक्षाककुलानि वा, कृपणकुलानि वा तथा प्रकारेषु कुलेषु पुस्तया प्रत्यायाति। स तत्र पुमान् भवति—दूरूपः, दुर्वर्णः, दुर्गन्धः, दूरसः, दुःस्पर्शः, अनिष्टः, अकान्तः, अप्रियः, अमनोज्ञः, अमनामः, हीनस्वरः, दीनस्वरः, अनिष्टस्वरः, अकान्तस्वरः, अप्रियस्वरः, अमनोज्ञस्वरः, अमनामस्वरः, अनादेयवचन-प्रत्यायातः। याऽपि च बाह्याभ्यन्तरिका परिषद् भवति, साऽपि च नो आद्रियते, नो परिजानाति, नो महार्हेणासनेनोपनिमन्त्रयते। भाषामपि च तस्य भाषमाणस्य यावच्चत्वारः पञ्च जना अनुक्ता चैवाभ्युतिष्ठन्ति, मा बहु आर्यपुत्र! भाषस्व! मा बहु आर्यपुत्र! भाषस्व!

शब्दार्थ—माई मायं कट्टु—मायावी माया का सेवन कर के, **अणालोइयपडिक्कंते**—आलोचना न करके और प्रायश्चित्त न ग्रहण कर के, **कालमासे कालं किच्चा**—कालमास अर्थात् मृत्यु दिवस और मृत्यु मुहूर्त मे काल कर के, **अण्णतरेसु देवलोएसु**—अन्य व्यन्तर आदि देवलोको में, **देवत्ताए**—देवपने, **उववत्तारो भवइ**—उत्पन्न होता है, **तं जहा**—यथा, **नो महिड्ढिएसु**—महर्द्धिक देवों में नही, **जाव नो दूरंगइएसु**—यावत् दूरगतिक—सौधर्म आदि देवलोकों में भी नहीं, **नो चिरट्ठिइएसु**—चिरस्थिति वाले देवों में भी नही, **से णं तत्थ देवे भवइ**—वह वहा देव बनता है, **णो महड्ढिए**—किन्तु महर्द्धिक देव नही, **जाव**

नो चिरट्ठिईए—यावत् चिरस्थिति वाला देव भी नहीं होता है, **जाऽवि य णं से तत्थ**—जो वहां पर देवलोक की, **बाहिरब्भंतरिया परिसा भवइ**—बाह्य और आभ्यन्तर परिषद् होती है, **सावि य णं नो आढाइ**—वह भी उस देव का आदर नहीं करती है, **नो परियाणाइ**—उसे अच्छा नहीं मानती, **णो महरिहेण मासणेणं उवनिमंतेइ**—उसे अच्छे आसन पर बैठने के लिए निमन्त्रण नहीं करती, **भासंपि य से भासमाणस्स**—उसकी भाषा के भाषण करते समय, **चत्तारि पंच देवा अवुत्ता चेव**—चार-पाच देव बिना कहे, **अब्भुट्ठेंति**—खड़े हो जाते है और कहते हैं, **मा बहुं देवे! भासउ**—हे देव! अधिक भाषण मत करो।

से णं तओ देवलोगाओ—तत्पश्चात् वह देव, **आउक्खएणं**—देव आयु के समाप्त होने पर, **भवक्खएणं**—देव-भव का क्षय करके, **ठिइक्खएणं**—देवत्व की स्थिति पूर्ण करने के, **अणंतरं चयं चइत्ता**—अनन्तर ही च्यव कर, **इहेव माणुस्सए भवे**—इस मनुष्य-भव में, **जाइं इमाइं कुलाइं भवंति**—जो निम्न प्रकार के ये कुल है, **तं जहा**—जैसे, **अंतकुलाणि वा**—चर्मकार आदि कुल अथवा, **पंतकुलाणि वा**—चाण्डाल आदि का कुल, **तुच्छकुलाणि वा**—अल्प मनुष्य वाला अथवा अपमानित जीवन व्यतीत करने वाले कुल, **दरिद्दकुलाणि वा**—दरिद्र कुल, **भिक्खागकुलाणि वा**—भिक्षाको के कुल, **किवणकुलाणि वा**—कृपण कुल, **तहप्पगारेसु कुलेसु**—तथा प्रकार के कुलों मे, **पुमत्ताए पच्चायाइ**—पुरुष रूप में उत्पन्न होता है, **से णं तत्थ**—वहां पर वह, **पुमो भवइ**—पुरुष बनता है, परन्तु वह, **दुरूवे**—दुरूप, **दुवन्ने**—दुर्वर्ण, **दुग्गंधे**—दुर्गन्ध वाला, **दुरसे**—आनन्द-रहित, **दुफासे**—दुःस्पर्श वाला, **अणिट्ठे**—अनिष्ट, **अकंते**—अकान्त, **अप्पिए**—अप्रिय, **अमणुण्णे**—अमनोज्ञ, **अमणामे**—सौभाग्य-रहित, **हीणस्सरे**—हीन स्वर वाला, **दीणस्सरे**—दीन स्वर वाला, **अणिट्ठस्सरे**—अनिष्ट स्वर वाला, **अकंतस्सरे**—अकान्त स्वर वाला, **अप्पिएस्सरे**—अप्रिय स्वर वाला, **अमणुण्णस्सरे**—अमनोज्ञ स्वर वाला, **अमणामस्सरे**—मन प्रतिकूल स्वर वाला और, **अणाएज्जवयणपच्चायाए**—जिस का कहा कोई नहीं मानता, ऐसी स्थिति में पैदा होता है, **जावि य से तत्थ**—उसकी वहा जो भी, **बाहिरब्भंतरिया परिसा भवइ**—मनुष्य भव मे उसकी बाह्य और आभ्यन्तर परिषद् होती है, **सावि य णो आढाइ**—वह भी उस का आदर नही करती, **णो परियाणाइ**—उसे अच्छा नहीं जानती, **नो महारिहेण आसणेण उवणिमंतेइ**—न ही योग्य आसन पर बैठने के लिए निमन्त्रण करती है, **भासं पि य से भासमाणस्स**—उसके बोलने पर, **चत्तारि पंच जणा**—चार-पाच मनुष्य, **अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति**—बिना कहे ही खड़े होते हैं, और कहते हैं, **मा बहुं अज्जउत्तो भासउ**—हे आर्यपुत्र! अधिक मत बोलो।

मूलार्थ—मायावी व्यक्ति माया कर के आलोचना किए बिना और बिना प्रतिक्रमण किए मृत्यु-समय में मर कर किसी अन्य व्यन्तरादि देव-लोक में देव रूप में उत्पन्न हो जाता है, परन्तु वह चिरस्थितिक और महर्द्धिक सौधर्म आदि देवलोकों

में उत्पन्न नही होता। वह वहां देव बनता है। परन्तु उस की जो बाह्य और आभ्यन्तर परिषद् होती है, वह भी उसका आदर नहीं करती, न ही उसे वह अच्छा समझती है, न उसे उपयुक्त आसन पर बैठने के लिए निमन्त्रण देती है। जिस समय वह भाषण करता है यावत् उस समय तब चार-पांच देव बिना कहे ही खड़े हो जाते हैं और कहते हैं—हे देव! अधिक भाषण मत करो अर्थात् अधिक मत बोलो।

तत्पश्चात् उस देवलोक से आयु-क्षय भव-क्षय और स्थिति क्षय करने के अनन्तर ही च्युत हो कर इसी मनुष्य-भव में जो ये कुल, यथा—अन्तकुल, प्रान्तकुल, तुच्छकुल, दरिद्रकुल, भिक्षाककुल, कृपणकुल आदि कुल हैं, उनमें पुरुष रूप में उत्पन्न होता है। वह पुरुष कुरूप, दुर्वर्ण, दुर्गन्धयुक्त, दुरस, दुःस्पर्श, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ, मन के प्रतिकूल, हीन-स्वर, दीन-स्वर, अनिष्ट-स्वर, अकान्त- स्वर, अप्रिय-स्वर, अमनोज्ञ-स्वर, मन के प्रतिकूल स्वर और अनादेय वचनवाला होता है। उसकी जो बाह्य एवं आभ्यन्तर परिषद् होती है, वह भी उसका आदर-सत्कार नहीं करती, और न ही अच्छे आसन पर बैठने के लिए उसे निमन्त्रण देती है। जब वह भाषण करने लगता है, उस समय चार-पांच मनुष्य बिना कहे ही उठ खडे होते हैं और कहते हैं—हे आर्यपुत्र! अधिक मत बोलो। इस प्रकार उस का जीवन इस लोक में भी गर्हित हो जाता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में बताया गया है कि पाप-कर्मो का प्रायश्चित्त न करने वाले साधक अन्दर ही अन्दर किस प्रकार सन्तप्त होते रहते है। अब सूत्रकार यह बताना चाहते हैं कि ऐसे व्यक्ति परलोक मे भी चैन नही पा सकते और देवलोकों से धरती पर आकर भी उन्हे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

प्रायश्चित्त आदि के बिना साधक मर कर यदि देवलोक मे जाता है तो वह वहा पर भी देवो की छोटी जातियो में जन्म लेता है। छोटी जाति के देवो से अभिप्राय निम्न जातियों के देवों से है। जैसे कि—

नो महिड्ढिएसुः—जिन देव-देवियो का परिवार बहुत बड़ा नहीं होता, ऐसे अल्पसमृद्धि वाला देव बनता है।

नो महज्जुइएसुः—जिन देवो की शरीर और आभरण आदि की दीप्ति उद्दीप्त है, उनमे वह उत्पन्न नहीं होता।

नो महाणुभावेसुः—जो देव वैक्रिय आदि करने की अधिक शक्ति वाले है, उनमें उसका जन्म नही होता।

नो महाबलेसुः—जो अधिक बलवान है, उन में उसकी कोई गणना नही होती।

नो महासोक्खेसुः—जो देव अधिक सुखी है, उनके समक्ष वह नगण्य ही रहता है।

नो परक्कमेसुः—जो देव पराक्रमी हैं, वह उनमें उत्पन्न नहीं होता है।

नो महाजसेसुः—महायशस्वी देवों में उसकी उत्पत्ति नहीं होती।

नो महेसक्खेसुः—श्रेष्ठपदवीधर देवो मे वह उत्पन्न नहीं होता।

जावः—पद से इन्हीं आठ विशेषणों का ग्रहण किया जाता है।

नो दूरंगइएसुः—वह उच्च देवलोको में उत्पन्न नहीं होता।

नो चिरठिईएसुः—वह दीर्घस्थिति वाले देवों में भी उत्पन्न नहीं होता।

बाह्य परिषद के देव और देवियां भी उसका सम्मान नही करते और न ही आभ्यन्तर परिषद् के देव उसका सत्कार करते हैं। उसको कोई अपना स्वामी नहीं समझता, यहां तक कि उसे बैठने के लिए कोई उचित आसन भी नहीं देता। जब कहीं किसी परिषद् मे वह बोलने के लिए खड़ा होता है, तब चार-पांच देव उसका अपमान करते हुए खडे होकर कहते हैं "बस रहने दो, अधिक मत बोलो, बैठ जाओ।" इस प्रकार उस मायावी का देव-भव स्वल्पसुख और अपमान के साथ बीतता है।

जो मायावी व्यक्ति दूषित कर्म हो जाने पर अपनी साधना को दूषित ही रखता हुआ आलोचना एव प्रायश्चित्त आदि के द्वारा जीवन को शुद्ध नहीं बनाता, उसका देव-भव भी निन्दनीय होता है, वहा वह स्वल्पसुखी और अपमान से जीवन-यापन करता है।

जब वह मायावी जीव देवगति की आयु, देवभव और देवभव में भोगने योग्य पुण्यों के समाप्त हो जाने पर यहां मनुष्य के रूप मे उत्पन्न होता है। यहा पर भी वह मायावी चर्मकार, चाण्डाल, नट, दरिद्र, भिखमगे आदि नीच कुलो मे उत्पन्न होता है। उसका अपनी बिरादरी में कोई सम्मान नहीं होता, उदरपूर्ति के लिए भोजनाभाव, इष्ट-वियोग एवं अनिष्ट सयोग से पीडित आधि-व्याधि से ग्रस्त रहता है। उसका शरीर ऐसा अशुभ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाला होता है कि जिसे कोई देखना भी पसन्द नही करता। ऐसा दीन-हीन वृत्ति वाला बनता है कि जिस की बात तक भी कोई सुनना पसन्द नहीं करता। स्त्री-पुत्र भी उसकी आज्ञा नहीं मानते। लोग उसे बैठने के लिए उचित आसन तक भी नही देते। वह यदि किसी सभा में बोलने लगता है तो चार-पाच सदस्य खडे होकर उसका अपमान करते हुए कहने लगते है—"बस रहने दो, अधिक मत बोलो।" इस तरह वह सब जगह अपमानित होता है।

इस प्रकार मायावी के तीन जन्म दुःख, क्लेश एव अपमान से बीतते हैं। जिस तरह उत्तम वस्त्र के थान में जगह-जगह भद्दे-भद्दे धब्बे लग जाने से उसका अवमूल्यन हो जाता है, उसका क्रेताओं में कोई महत्त्व नहीं रहता, वैसे ही दूषित साधना का भी कोई महत्त्व नहीं रहता। मायावी बाह्य जगत् में दूसरों को चकमा देकर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ा सकता है, किन्तु आध्यात्मिक जगत् मे वह सुख एवं शान्ति का पात्र नहीं बन सकता।

आलोचनाजन्य पारलौकिक फल

मूल—माई णं मायं कट्टु आलोइयपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा—महिड्ढिएसु जाव चिरट्ठिईएसु। से णं तत्थ देवे भवइ, महिड्ढिए जाव चिरट्ठिईए, हारविराइय वच्छे, कडयतुडियथंभियभुए, अंगय-कुंडल-मउड-गंडतल-कन्नपीढधारी, विचित्तहत्थाभरणे, विचित्तवत्थाभरणे, विचित्तमालामउली, कल्लाणगपवरवत्थपरिहिए, कल्लाणग-पवर-गंध-मल्लाणुलेवणधरे, भासुरबोंदी, पलंब-वणमालधरे।

दिव्वेणं वन्नेणं, दिव्वेणं गंधेणं, दिव्वेणं रसेणं, दिव्वेणं फासेणं, दिव्वेणं संघाएणं, दिव्वेणं संट्ठाणेणं, दिव्वाए इड्ढीए, दिव्वाए जुईए, दिव्वाए पभाए, दिव्वाए छायाए, दिव्वाए अच्चीए, दिव्वेणं तेएणं, दिव्वाए लेस्साए, दस दिसाओ उज्जोवेमाणे, पभासेमाणे, महयाऽहय-णट्ट-गीय-वाइय-तंती-तल-ताल-तुडिय-घण मुइंग-पडुप्पवाइयरवेणं, दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

जावि य से तत्थ बाहिरब्भंतरिय परिसा भवइ, सावि य णमाढाइ, परियाणाइ, महारिहेण आसणेणं उवनिमंतेइ। भासंपि य से भासमाणस्स जाव चत्तारि पंच देवा अवुत्ता चेव अब्भुट्ठिंति-बहुं देवे! भासउ-भासउ। से णं तओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव चइत्ता इहेव माणुस्सए भवे जाइं इमाइं कुलाइं भवंति, अड्ढाइं जाव बहुजणस्स अपरिभूयाइं तहप्पगारेसु कुलेसु पुमत्ताए पच्चायाइ। से णं तत्थ पुमे भवइ, सुरूवे, सुवन्ने, सुगंधे, सुरसे, सुफासे, इट्ठे, कंते जाव मणामे। अहीणस्सरे, जाव मणामस्सरे, आदेज्जवयणे, पच्चायाए।

जाऽवि य से तत्थ बाहिरब्भंतरिया परिसा भवइ, सावि य णं आढाइ जाव बहुमज्जउत्ते! भासउ-भासउ ॥८॥

छाया—मायी मायां कृत्वाऽऽलोचितप्रतिक्रान्तः कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु देवलोकेषु देवतया उपपत्ता भवति, तद्यथा—महर्द्धिकेषु यावच्चिरस्थितिकेषु। स खलु तत्र देवो भवति, महर्द्धिको यावच्चिरस्थितिकः, हारविराजितवक्षाः, कटक-त्रुटित-स्तम्भितभुजः, अङ्गद-कुण्डल-मृष्ट-गण्डतल-कर्णपीठधारी, विचित्रहस्ताभरणः,

विचित्रवस्त्राभरणः, विचित्रमालामौलिः, कल्याणक-प्रवरवस्त्रपरिहितः, कल्याणक-प्रवरगन्ध-माल्यानुलेपनधरः, भास्वरबोंदी, प्रलम्ब-वनमालाधरः।

दिव्येन वर्णेन, दिव्येन गन्धेन, दिव्येन रसेन, दिव्येन स्पर्शेन, दिव्येन संघातेन, दिव्येन संस्थानेन, दिव्यया ऋद्ध्या, दिव्यया द्युत्या, दिव्यया प्रभया, दिव्यया छायया, दिव्यया अर्च्या, दिव्येन तेजसा, दिव्यया लेश्यया, दशदिश उद्योतयमानः, प्रभासयमानो महताऽहत-नाट्य-गीत-वादिततन्त्री-तल-ताल-त्रुटित-घन-मृदङ्ग-पटुप्रवादितरवेण दिव्यान् भोग-भोगान् भुञ्जानो विहरति।

याऽपि च तस्य बाह्याभ्यन्तरिका परिषद् भवति, साऽपि चाद्रियते, परिजानाति, महार्हेणासनेनोपनिमन्त्रयते। भाषामपि च तस्य भाषमाणस्य यावच्चत्वारः पञ्च देवा अनुक्त्वैव अभ्युत्तिष्ठन्ति—बहुं देव! भाषताम्, भाषताम्।

स ततो देवलोकात् आयुःक्षयेण यावत् च्युत्वेहैव मानुषके भवे यानीमानि कुलानि भवन्ति—आढ्यानि यावत् बहुजनस्य अपरिभूतानि तथा प्रकारेषु पुंस्तया प्रत्यायाति। स तत्र पुमान् भवति, सुरूपः, सुवर्णः, सुगन्धः, सुरसः, सुस्पर्शः, इष्टः, कान्तो यावत् मन आमः, अहीनस्वरः, यावन्मन आमस्वरः, आदेयवचनः प्रत्यायातः।

याऽपि च तस्य तत्र बाह्याभ्यन्तरिका परिषद् भवति, साऽपि च आद्रियते यावत् बहु आर्यपुत्र! भाषताम्, भाषताम्।

शब्दार्थ—माई णं मायं कट्टु—मायावी माया सेवन कर, **आलोइयपडिक्कंते**—यदि आलोचना तथा प्रतिक्रमण करे तो वह, **कालमासे कालं किच्चा**—कालमास में काल करके, **अण्णतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति**—अन्यतम देवलोको में देवपने में उत्पन्न होता है, **तं जहा**—जैसे, **महिड्ढिएसु जाव चिरट्ठिईएसु**—जो देवलोक महर्द्धिक एवं यावत् चिरस्थिति वाले है, **से ण तत्थ देवे भवइ, महिड्ढिए जाव चिरट्ठिईए**—वह उस महर्द्धिक देवलोक में महर्द्धिक यावत् चिरस्थिति वाला देव होता है, उसका, **हार-विराइय वच्छे**—वक्षस्थल हारों से सुशोभित होता है, **कडयतुडियथंभियभुए**—उसकी भुजाए कटक और त्रुटिताग से स्तम्भित होती हैं, **अंगय-कुंडल-मउड-गंडतल-कन्न-पीढधारी**—केयूर, कुण्डल और मृष्ट कपोल पर घर्षण करने वाले कर्णकुण्डलों को धारण करने वाला, **विचित्तहत्थाभरणे**—विचित्र प्रकार के हस्ताभरण धारण करने वाला, **विचित्त-वत्थाभरणे**—नाना प्रकार के वस्त्राभरण धारण करने वाला, **विचित्तमालामउली**—विचित्र माला युक्त शेखर वाला, **कल्लाणगपवरवत्थपरिहिए**—कल्याणकारी प्रधान वस्त्रो को धारण करने वाला, **कल्लाणगपवरगंधमल्लाणुलेवणधरे**—कल्याणकारी प्रधान गन्ध-माल्य एव अनुलेपन को धारण करने वाला, **भासुरबोंदी**—देदीप्यमान शरीर वाला, **पलंबवण-मालधरे**—लटकती हुई वनमाला को धारण करने वाला।

दिव्वेणं वन्नेणं—दिव्य वर्ण से, **दिव्वेणं गंधेणं**—दिव्य गन्ध से, **दिव्वेणं रसेणं**—

दिव्य रस से, **दिव्वेणं फासेणं**—दिव्य स्पर्श से, **दिव्वेणं संघाएणं**—दिव्य संहनन से, **दिव्वेणं संट्ठाणेणं**—दिव्य सस्थान से, **दिव्वाए इड्ढीए**—प्रधान दैविक ऋद्धि से, **दिव्वाए जुईए**—दिव्य कान्ति से, **दिव्वाए पभाए**—दिव्य प्रभा से, **दिव्वाए छायाए**—दिव्य प्रतिबिम्ब से, **दिव्वाए अच्चीए**—दिव्य शरीर निर्गत तेज से, **दिव्वेणं तेएणं**—प्रधान शारीरिक कान्ति से, **दिव्वाए लेस्साए**—दिव्य लेश्या से, **दस दिसाओ उज्जोवेमाणे**—दश दिशाओ को उद्योतित करता हुआ, **पभासेमाणे**—प्रकाशित करता हुआ, **महयाहत-णट्ट-गीय-वाइय-तंती-तल-ताल-तुडिय-घण मुइंग-पडुप्पवाइयरवेणं**—बृहत् महान् अनुबद्ध नाट्य, गीत, वादिंत्र, तन्त्री, तल-ताल, तूर्य, घन, मृदंग, पटह पटु प्रवादित शब्दपूर्वक, **दिव्वाइं भोगभोगाइं**—प्रधान भोगो को, **भुंजमाणे विहरइ**—भोगता हुआ विचरता है। **जावि य से तत्थ**—और जो उसकी वहां पर, **बाहिरब्भंतरिया परिसा भवइ**—बाह्य तथा आभ्यन्तर की परिषद होती है, **सावि य णं**—वह भी, **आढाइ**—उसका आदर करती है, **परियाणाइ**—उसे अच्छा जानती है और, **महारिहेण आसणेण उवनिमंतेइ**—महान् अहं आसन से उसका सत्कार करती है, **भासंपि य से भासमाणस्स**—और किसी विषय पर भाषण करते समय, **जाव**—यावत्, **चत्तारि पंच देवा**—चार पांच देव, **अवुत्ता चेव**—बिना कहे ही, **अब्भुट्ठिंति**—सभा मे उठ खड़े होते हैं और कहते है, **बहुं देवे! भासउ-भासउ**—हे देव! आपने बहुत अच्छा कहा, बहुत अच्छा कहा।

से णं तओ देव लोगाओ—तत्पश्चात् वह उस देवलोक से, **आउक्खएणं**—आयुक्षय कर, **जाव**—यावत्, **चइत्ता**—वहा से च्युत होकर, **जाइ**—जो, **इमाइ**—ये, **कुलाइं भवंति**—कुल होते है, **अड्ढाइं**—आढ्य, **जाव**—यावत्, **बहुजणस्स अपरिभूयाइ**—बहुजन अपरिभूत, **तहप्पगारेसु कुलेसु**—तथा प्रकार के कुलो मे, **पुमत्ताए पच्चायाइ**—पुन. पुरुषत्वेन उत्पन्न होता है।

से णं तत्थ पुमे भवइ—वह वहां पर पुरुष होता है, **सुरूवे**—सुरूप, **सुवन्ने**—सुवर्ण, **सुगंधे**—सुगन्ध युक्त, **सुरसे**—सुरस, **सुफासे**—सुस्पर्श वाला, **इट्ठे कंते**—इष्ट तथा कान्त, **जाव**—यावत्, **मणामे**—मन के अनुकूल, **अहीणस्सरे**—अहीन स्वर, **जाव मणामस्सरे**—यावत् मन के अनुकूल शब्द अर्थात् स्वर वाला और, **आदेज्जवयणे पच्चायाए**—आदेय वचन वाला उत्पन्न होता है। **जावि य से तत्थ**—जो उसकी वहा पर, **बाहिरब्भंतरिया परिसा भवइ**—जो उसकी बाहिर और आभ्यन्तर की परिषद होती है, **सावि य णं आढाइ**—वह भी उसका आदर करती है, **जाव**—यावत्, **बहुमज्जउत्ते! भासउ-भासउ**—कहती है—हे आर्य पुत्र! आपने बहुत अच्छा कहा, बहुत अच्छा कहा।

मूलार्थ—मायावी माया करके जब उस मायारूप अकृत्य कर्म की आलोचना करता है और यथायोग्य प्रायश्चित्त ग्रहण करता है, तत्पश्चात् मरण-वेला में मृत्यु को प्राप्त कर, किसी अन्यतर देवलोक में उत्पन्न होता है। वह वहां पर महर्द्धिक

एवं चिरस्थितिक देव बनता है। उसका वक्षस्थल हारों से सुशोभित होता है। उसकी भुजाएं कटक और त्रुटित आभूषणों से स्तम्भित होती हैं। वह अंगद-भुजबन्ध, कुण्डल, सुन्दर स्वच्छ कपोल अथवा कस्तूरी से चित्रित गण्डस्थल वाला एवं कर्ण-आभूषणों के धारण करने वाला होता है। उसके वस्त्राभरण तथा हस्ताभरण विचित्र प्रकार के होते हैं। उसके मस्तक पर विचित्र पुष्पमाला का मुकुट होता है। वह प्रधान कल्याणकारी वस्त्रों को धारण करता है। प्रधान कल्याणकारी श्रेष्ठ गन्धयुक्त पुष्पमालाओं और विलेपनों को धारण करने वाला होता है। उसका शरीर प्रकाशमान होता है। वह झूलती हुई तथा सब ऋतुओं के पुष्पों से निर्मित लटकती हुई मालाओं को धारण करता है।

वह देव दिव्यवर्ण, दिव्यगन्ध, दिव्यरूप, दिव्यस्पर्श, दिव्य संहनन अर्थात् शारीरिक गठन, दिव्य-संस्थान, दिव्य-ऋद्धि, दिव्य-द्युति, दिव्य-प्रभा, दिव्य-छाया, दिव्य-कान्ति, दिव्य-अर्चि, दिव्य-तेज और दिव्य-लेश्या से दश दिशाओं को उद्योतित करता हुआ एव प्रकाशित करता हुआ बृहत् अविच्छिन्न नृत्य गीत, वादित्र, तन्त्री, तल-ताल, तूर्य, घन-मृदंग पटुप्रवादित शब्दयुक्त प्रधान भोगो को भोगता हुआ विचरण करता है। उसकी जो वहां बाह्य और आभ्यन्तर परिषद् होती है, वह भी उसका आदर करती है और उसे अच्छा जानती है तथा उसे बड़ों के योग्य आसन के लिए भी निमन्त्रण करती है। जब भी वह किसी विषय पर बोलता है, तब चार पाच देव बिना कहे ही खड़े हो जाते है और कहते है—'हे देव! आपने अति सुन्दर कथन किया, अभी आप और बोलें।

तत्पश्चात् देवलोक से आयु क्षय कर के यावत् वहां से च्युत होकर, यहा मनुष्य भव में महाऋद्धि वाले यावत् बहुत जनों से आदृत, तथाप्रकार के जो उत्तम कुल हैं, उनमें पुरुष रूप में उत्पन्न होता है। वह वहां पर सुरूप, सुवर्ण, सुगन्ध, सुरस, सुस्पर्श, इष्ट, कान्त यावत् मन के अनुकूल, अदीनस्वर यावत् मन के अनुकूल स्वर एव आदेय वचन वाला मनुष्य होता है। वहा पर जो उसकी बाह्य तथा आभ्यन्तर परिषद् होती है, वह भी उसका आदर करती है, यावत् "हे आर्यपुत्र। आपने बहुत अच्छा कहा।" इस प्रकार आलोचना करने वाला तीन भवों में सुखों का अनुभव करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में दूषित कर्म करके प्रायश्चित्त आदि न करने वाले विराधक साधकों की पारलौकिक दुर्गति और देवलोकों से धरती पर लौटने के अनन्तर होने वाली दुर्दशा का वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार आलोचना आदि द्वारा आत्मशुद्धि करने वाले साधक के साधना-फल का वर्णन करते हैं।

आलोचना और तप:कर्म ये जन्म-जन्मान्तर के पापो को नष्ट करने वाले तथा जीवन को संयम मे प्रवृत्त कर शुद्ध करने वाले हैं। जो साधक हृदय से विनयशील बन कर अपने गुरु या धर्माचार्य के समक्ष आन्तरिक एवं बाह्य सभी दोषों को प्रकट कर देता है, उसे इसी जन्म मे परम शान्ति प्राप्त हो जाती है। कहा भी है—

"लहुयाल्हाइयजणणं अप्पपरनिवत्ति अज्जवं सोही।
दुक्करकरणं आढा निस्सल्लत्तं च सोहिगुण॥"

अर्थात् आलोचना करने से साधक को आठ गुणो का लाभ होता है, जैसे कि—

१. **लहुया**—साधक कर्मो के भार से मुक्त होकर लघुता प्राप्त कर लेता है।

२. **अल्हाइयजणणं**—उसके मन मे सदैव आनन्द ही आनन्द भरा रहता है तथा उसके आनन्द की वृद्धि होती रहती है।

३. **अप्पपरनिवत्ति**—आलोचना करने से साधक अपने जीवन को संयमित कर लेता है और अनेक भव्य जीवों को भी सयम में प्रवृत्त कर देता है। अपने को और दूसरे को भी वह दोषो से दूर रखने का सदैव प्रयत्न करता रहता है।

४. **अज्जवं**—आलोचना करने से मोक्ष के अभिमुख हो जाता है। जो व्यक्ति संसार के अभिमुख है, उसमे कुटिलता पाई जाती है और जो मोक्षाभिमुख है, उस में ऋजुता अर्थात् आर्जवगुण पाया जाता है।

५. **सोही**—आलोचना करने वाले का चारित्र विशुद्ध होता है।

६. **दुक्करकरणं**—आलोचना करने वाला दुष्कर से दुष्कर साधना करने मे समर्थ हो जाता है।

७. **आढा**—वह चतुर्विध संघ मे आदरणीय ही नहीं, परमादरणीय बन जाता है।

८. **निस्सल्लत्तं**—जिस प्रकार पैर के किसी भी भाग में लगा हुआ कांटा मनुष्य को व्याकुल कर चलने मे असमर्थ बना देता है, वैसे ही मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शन-शल्य नामक तीनों शल्य साधक की साधना मे प्रगति नहीं होने देते, अत: शल्यमुक्त हो कर ही आत्मा को शान्ति मिलती है। आलोचना करने से साधक नि:शल्य हो सकता है। नि:शल्य होने से साधना के पथ पर उसकी बेरोक टोक प्रगति होती है। इन आठ गुणों से सम्पन्न जीव भगवान की आज्ञा का आराधक होता है। आराधक के लिए सब ओर अमृत ही अमृत है, सुख, सम्मान-समृद्धि ये सब उसके आगे अठखेलियां करते हैं।

आराधक साधक जब देवलोक मे पहुंचता है तो वहा पर भी उसका सम्मान होता है। देव और देवियां दास-दासियो की तरह उसके सामने हाथ जोड़े खड़े रहते है। उस की आज्ञा का पालन करते है। वह ऐसा महर्द्धिक देव बनता है जिसका शरीर आभरणों से देदीप्यमान रहता है, उसे द्युतिमान, तेजस्वी कहकर सम्मानित किया जाता है। उसमें वैक्रिय आदि की

अर्थात् नानाविध रूप आदि धारण करने की शक्ति अधिक होती है, अतः देव उसे 'महानुभाव' कह कर सम्मानित करते हैं। जिसकी शारीरिक शक्ति प्रबल है उसे महाबल कहते हैं। जो अन्य देवों से अधिक सुखी है उसे महासुखी कहते हैं, जिसका अदम्य पराक्रम है, उसे महापराक्रमी कहते हैं, जिसका यश देवों के हृदय को भी प्रभावित कर रहा हो उसे महायशस्वी कहा जाता है, जो किसी विशेष माननीय पद पर आसीन हो, उसे महेशाख्य कहते हैं। जो उच्च से भी उच्च देवलोक में उत्पन्न होता है, वह दूरगत कहलाता है, जो देव अनेक सागरोपम की स्थिति वाले हैं, वे चिरस्थितिक कहलाते हैं।

चारित्र आराधक साधक कर्मशेष रहने पर निश्चय ही उक्त दस विशेषणों से सम्पन्न देव बनता है। दिव्य वस्त्रों से सुशोभित होता है उसके सिर, कान, कठ, भुजाएं, हाथ और वक्षस्थल इत्यादि अग विविध प्रकार के आभरणो से अलकृत होते हैं। वह लम्बी लटकती हुई वनमाला को धारण करता है, दिव्य वर्ण, दिव्य गध, दिव्य रस एवं दिव्य स्पर्श, दिव्य सस्थान-शक्ति-ऋद्धि-द्युति-कान्ति-प्रभा-छाया-तेजोलेश्या इन सब से दस दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ विविध प्रकार के नाट्य संगीत वादित्रो के साथ पाच इन्द्रियो का सुख भोगते हुए देव जीवन व्यतीत करता है। उसके अधीन रहने वाले देव और देविया उसका हृदय से बहुमान करते हैं और उसे अपना स्वामी समझते है। उसके लिए उचित आसन देते है। जब कभी वह देव किसी देव-सभा मे भाषण करते हुए विषय का उपसहार करने के लिए उद्यत होता है, तब बिना किसी की प्रेरणा के ही चार पाच देव खड़े हो कर नम्र निवेदन करते है कि देव। अभी आप और कहिए, और कहिए, आपका कथन सब के लिए अधिक रुचिकर हो रहा है। इस प्रकार वह देवलोक में सत्कार प्राप्त करता है।

वह देव देवलोक में रहता हुआ जब अपनी देव-आयु और स्वर्ग मे भोगने योग्य कर्म-स्थिति का क्षय कर देता है, तब वह इस कर्म-भूमि मे ऐसे उत्तम कुल में उत्पन्न होता है जहा यान, वाहन, खान-पान, नौकर-चाकर, पाच इन्द्रियो की सुख-सामग्री, अपार धनराशि पहले से ही विद्यमान हो। उत्पन्न होने के बाद वह हितैषी मित्र, श्रेष्ठ ज्ञातिजन, उच्च गोत्रवाला, खूबसूरत, नीरोग शरीर, प्रतिभाशाली, विनीत, यशस्वी, बलसम्पन्न इन समस्त सुखसाधनों से प्रतिपूर्ण होता है। इतना ही नहीं वह अपने युग मे लोकप्रिय भी होता है, उसके स्वर में माधुर्य और उसकी आज्ञा सर्वग्राहिणी होती है। नौकर चाकर तथा घर के सभी सदस्य उसका सम्मान करते है। उसको बैठने के लिए उचित एवं माननीय आसन से निमन्त्रित करते हैं। उसके एक-एक वाक्य को बड़े आदर से सुनते है। ये सब उत्तम एवं मधुर फल आलोचना करने से प्राप्त होते है।

संवर और असंवर

मूल—अट्ठविहे संवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियसंवरे, जाव फासिंदियसंवरे, मणसंवरे, वइसंवरे, कायसंवरे ॥१॥

छाया—अष्टविधः संवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियसंवरो यावत्स्पर्शनेन्द्रिय संवरः, मनः-संवरः वाक्-संवरः काय-संवरः।

अष्टविधोऽसंवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियासंवरो यावत्कायासंवरः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—संवर आठ प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय संवर से लेकर स्पर्शनेन्द्रियसंवर तक पांच प्रकार का इन्द्रिय-संयम और मन-सवर, वचन-संवर तथा काय संवर।

असंवर भी आठ प्रकार का ही होता है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय-असंवर से लेकर काय-असंवर तक।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रो में आलोचना करने वाले साधको का वर्णन किया गया है आलोचना करने वाला साधक ही संवृत और आलोचना न करने वाला असंवृत कहलाता है। अतः प्रस्तुत सूत्र में संवर और असवर का निरूपण किया गया है।

आश्रव अर्थात् इन्द्रिय-मार्गो से अन्तःकरण मे प्रविष्ट होने वाले विषयों का अवरोध करना ही संवर है, अर्थात् पाच इन्द्रियों और तीन योगो को वश मे करना ही संवर कहलाता है। जितने-जितने अंश मे इन्द्रिय-विषयों का निरोध होगा, उतने-उतने अंश मे वह संवर कहलाएगा। इन्द्रिय और योग इन आठ को शुभ की ओर लगाना और उन्हे अशुभ से हटाना ही सवर कहलाता है। संवर को ही शास्त्रीय भाषा में चारित्र कहा गया है। जैसे-जैसे आश्रव अर्थात् विषय-निरोध बढ़ता जाता है, उस के अनुसार गुणस्थानों की भी वृद्धि होती जाती है, आत्म-तत्त्व को पाने का सब से बडा अमोघ साधन सवर ही है।

आश्रव का दूसरा नाम ही असवर है। इद्रियो पर नियत्रण न करना तथा योगो को वश में न करना ही असवर है। इन आठों को पापो मे लगाना और धर्म मे न लगाना असवर का ही दूसरा रूप है

असवर संसार का मार्ग है और सवर मोक्ष का। जब इन आठ का प्रयोग आत्मकल्याण में किया जाता है, तब वही सवर बन कर मोक्ष-साधक हो जाता है और जब इनकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी हो जाती है, तब उस क्रिया को असंवर कहा जाता है।

स्पर्श भेद

मूल—अट्ठ फासा पण्णत्ता, तं जहा—कक्खडे, मउए, गरुए, लहुए, सीए, उसिणे, णिद्धे, लुक्खे ॥१०॥

छाया—अष्ट स्पर्शाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कर्कशः, मृदुकः, गुरुकः, लघुकः, शीतः, उष्णः, स्निग्धः, रूक्षः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आठ स्पर्श वर्णन किए गए हैं, जैसे—कर्कश अर्थात् कठोर, मृदु अर्थात् सुकोमल, गुरु अर्थात् भारी, लघु अर्थात् हलका, शीत, उष्ण, स्निग्ध अर्थात् चिकना और रूक्ष।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे संवर के साध्यरूप इन्द्रिय-विषयो का वर्णन किया गया है। इन्द्रियों के विषयों में स्पर्श ही ऐसा विषय है जो आठ प्रकार का होता है, अत: अब सूत्रकार स्पर्श की अष्टविधता का वर्णन करते हैं।

पुद्गलद्रव्य में आठ स्पर्श पाए जाते है और उनका ग्रहण स्पर्शनेन्द्रिय अर्थात् त्वचा द्वारा किया जाता है। जैनेतर दर्शनकारो ने स्पर्शनेन्द्रिय के दो ही विषय निर्दिष्ट किए है, जैसे कि शीत और उष्ण, किन्तु जैनागमो में स्पर्शनेन्द्रिय के आठ विषय बतलाए है। जो पदार्थ पत्थर की तरह कठोर एव खुरदरा है उसे कर्कश-स्पर्श कहते है, जो फूल की तरह सुकोमल एवं मखमल की तरह मुलायम है, वह मृदु-स्पर्श कहलाता है। जो रजकण, धूम, भाप आदि हलके पदार्थ है, उन्हें लघु कहा गया है। जो वस्तु भारी है, उसे गुरु कहते है, जैसे कि सोना, पारा या हीरा आदि। जो वस्तु ठडी है, उसे शीत-स्पर्श कहते हैं, जैसे बरफ आदि। जो पदार्थ गर्म है, वह उष्ण स्पर्श माना जाता है, जैसे धूप, अग्नि आदि। जो घृत एवं मक्खन आदि की तरह चिकने पदार्थ है, उन्हें स्निग्ध-स्पर्श कहते हैं। जो भस्म, क्षार आदि की तरह रूखा है, उसे रूक्ष-स्पर्श कहते हैं। घोराधकार में भी स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा जिन पदार्थो का ज्ञान हो सकता है, उन सब का अन्तर्भाव उक्त आठ मे ही होता है।

जैनदर्शन यद्यपि अन्तर्मुखी दर्शन है, फिर भी उसने विज्ञान सम्मत उस भौतिक जगत का सूक्ष्म वर्णन किया है, जिसका 'ज्ञेय' के रूप में जानना साधक के लिए आवश्यक है।

लोक-स्थिति के प्रकार

मूल—अट्ठ विहा लोगठिई पण्णत्ता तं जहा—आगास पइट्ठिए वाए, वायपइट्ठिए, उदही, एवं जहा छट्ठाणे जाव जीवा कम्मपइट्ठिया, अजीवा जीवसंगहीया, जीवा कम्मसंगहीया ॥११॥

छाया—अष्टविधा लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता तद्यथा—आकाशप्रतिष्ठितो वातः, वातप्रतिष्ठितः उदधिः। एवं यथा षष्ठस्थाने यावज्जीवाः कर्म प्रतिष्ठिताः, अजीवा जीवसंगृहीताः, जीवाः कर्मसंगृहीताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आठ प्रकार की लोक-स्थिति वर्णन की गई है, जैसे—वायु आकाश पर ठहरा हुआ है, घनोदधि वात पर स्थित है। ऐसे ही जिस प्रकार छठे स्थान मे

वर्णन किया गया है, यावत् जीव कर्मों पर आधारित हैं, जीव अजीव से संगृहीत है और जीव कर्मों से संगृहीत हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे वर्णित स्पर्श आठ ही होते हैं, यह लोक-मर्यादा है, अत: प्रस्तुत-सूत्र में लोक-मर्यादा की आधारभूत लोकस्थिति का वर्णन किया गया है। आठ प्रकार की लोकमर्यादा कही गई है जैसे कि—आकाश के आधार पर तनुवात और घनवात हैं, घनवात पर घनोदधि, घनोदधि पर पृथ्वी, पृथ्वी पर त्रस और स्थावर जीव ठहरे हुए हैं, जीव शरीर आदि पुद्गल का आश्रय लेकर ठहरे हुए हैं, जीव कर्मो के आधार पर ठहरे हुए है और जीव कर्मों के आधार पर ही नरक आदि गतियो में अवस्थित हैं। मन, वचन और शरीर रूप पुद्गल जीवों द्वारा संगृहीत हैं तथा जीव कर्मो द्वारा संगृहीत हैं। पांचवी और छठी लोक-स्थिति में आधाराधेय भाव की विवक्षा है और सातवी और आठवीं लोकस्थिति से सग्राह्य-संग्राहक भाव की सिद्धि होती है। इसका विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र के पहले शतक के छठे उद्देशक से जानना चाहिए।

अष्टविध गणि-सम्पदा

मूल—अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता, तं जहा—आयारसंपया, सुयसंपया, सरीरसंपया, वयणसंपया, वायणासंपया, मइसंपया, पओगसंपया, संगहपरिण्णाणाम अट्ठमा ॥१२॥

छाया—अष्टविधा गणिसम्पत् प्रज्ञप्ता, तद्यथा—आचारसम्पत्, श्रुतसम्पत्, शरीरसम्पत्, वचनसम्पत्, वाचनासम्पत्, मतिसम्पत्, प्रयोगसम्पत्, संग्रहपरिज्ञा नामाष्टमी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—गणि-सम्पत् आठ प्रकार की वर्णन की गई है, यथा—आचारसम्पत्, श्रुतसम्पत्, शरीरसम्पत्, वचनसम्पत्, वाचनासम्पत्, प्रयोगसम्पत्, मतिसम्पत्, और आठवीं संग्रहपरिज्ञा नामक संपत् है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे लोकस्थिति का वर्णन किया गया है। वह लोकस्थिति गणियों के उपदेश से जानी जाती है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे गणी-सम्पदा का वर्णन किया गया है। गण का अर्थ है समुदाय। साधुसमुदाय के जो अधिष्ठाता हैं या गुणों के समुदाय से युक्त हैं, वे गणी कहलाते हैं। उनकी संपत्ति को गणि-सपत् कहते हैं, कहा भी है **'गण: समुदायो भूयानतिशयवान् वा गुणानां साधूनां वा, यस्यास्ति स गणी—आचार्यस्तस्य सम्पत्—समृद्धिर्भावरूपा गणिसम्पत्''**। यहा गणी शब्द आचार्य का वाचक है। जैसे राजा अनेक प्रकार की संपत्ति का स्वामी होता है, वैसे ही आचार्य आठ प्रकार की संपत्ति के स्वामी होते हैं। एक-एक संपत्ति के चार-चार भेद होते हैं, उनका विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. आचार-सम्पत्—चारित्र का दृढ़ता से पालन करना आचार-संपदा है। संयम की सभी क्रियाओं में स्थिरता पूर्वक मन, वचन, काया को लगाना, गणी की उपाधि मिलने पर जाति आदि के अहंकार से रहित तथा विनयभाव सहित होना। अप्रतिबद्धविहार—चातुर्मास काल को छोड़कर एक कल्प से अधिक कहीं भी न ठहरना। वृद्धशीलता अर्थात् शरीर और मन से निर्विकार रहना, अपने स्वभाव में गंभीरता, दीर्घदर्शिता रखना, चंचलता रहित होना।

२. श्रुत-संपत्—शास्त्रीय विशिष्ट ज्ञान ही श्रुतसंपदा है। आचार्य के लिए शास्त्रो का वेत्ता होना आवश्यकीय है। इसके भी चार भेद हैं, जैसे कि—वर्तमान काल में जितने शास्त्र है, उन सबका अध्ययन जिसने गुरु आम्नाय से किया हो उन मे वर्णित पदार्थो का भली भांति ज्ञान प्राप्त कर लिया हो तथा ज्ञान का प्रचार एवं प्रसार करने में समर्थ हो, सभी शास्त्र जिसे अपने नाम की तरह याद हों, जिसने स्वमत और परमत के शास्त्रों का अध्ययन करके शास्त्रीय ज्ञान मे विचित्रता प्राप्त कर ली हो, सभी दर्शनों का अध्ययन तुलनात्मक दृष्टि से कर लिया हो, सुललित व्याख्यानों से और उत्तर देकर श्रोताओं को और प्रश्नकार को सतुष्ट करने में समर्थ हो, शास्त्रों का अध्ययन या उच्चारण करते समय स्वर व्यंजन का पूरा ध्यान रखता हो, क्योंकि उच्चारण शुद्धि के बिना अर्थ की शुद्धि नहीं होती, अशुद्ध उच्चारण से श्रोताओं पर अच्छा प्रभाव भी नहीं पडता।

३. शरीर-संपत्—शरीर का प्रभावशाली तथा सुसंगठित होना ही गणी की शरीर-संपदा है। इसके भी चार भेद है, जैसे कि—गणी का शरीर लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई सब तरह से सुसगठित होना चाहिए। शरीर में कोई ऐसा अग भी नही होना चाहिए, जिससे वह लज्जास्पद प्रतीत हो, कोई भी अग अधूरा न होना या बेडौल न होना गणी के लिए अनिवार्य है, क्योंकि सर्वाङ्गपूर्ण शरीर ही प्रभावक होता है। अत: शरीर का संहनन स्थिर होना चाहिए। पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां पूरी होनी चाहिए। केशीकुमार का प्रभाव महाराजा प्रदेशी पर और अनाथी मुनि का प्रभाव महाराजा श्रेणिक के ऊपर सबसे पहले शरीर का ही पड़ा था जिस कारण वे महाराज उनके आगे नतमस्तक हो गए थे।

४. वचन-संपत्—आदेय, मधुर, सरस एव सत्य वचनो का होना गणी की वचनसंपत् है। इसके भी चार भेद हैं, जैसे कि—गणी के वचन जनता के द्वारा ग्राह्य एवं मान्य हों। गणी के वचन मीठे और सरस होने चाहिएं, कर्णकटु नहीं। सब का हित रखते हुए शान्त चित्त से वचन बोलना, किसी का पक्षपात किए बिना मध्यस्थ होकर वचन बोलना, गणी की वचनसंपत् है। जिस वचन का आशय बिल्कुल स्पष्ट हो, सुनने वाले के लिए किसी तरह का संदेहजनक न हो, वैसा सुस्पष्ट वचन बोलना ही बडो का बडप्पन है।

५. वाचना-संपत्—शिष्यो को शास्त्र पढ़ाने की योग्यता को वाचनासंपत् कहते हैं। इसके भी चार भेद हैं, जैसे कि—किस शिष्य को कौन-सा सूत्र, कौन-सा अध्ययन किस प्रकार पढ़ाना उचित है इन सब बातों को जानकर उन्हें मनोवैज्ञानिक पद्धति से पढाना।

शिष्य की बुद्धि, रुचि और योग्यता देखकर पढ़ाना। जितना वह सूत्ररूप से या अर्थ रूप से ग्रहण कर सकता है उतना ही उसे पढाना। अर्थ को नय, निक्षेप और अनुयोग आदि के द्वारा विशद रूप में समझाना, यह गणी की पांचवीं सपत्ति है।

६. **मति-संपत्**—मतिज्ञान की उत्कृष्टता को मतिसपत् कहते हैं। इसके भी चार भेद हैं, जैसे कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। प्रत्येक भेद के साथ क्षिप्र, बहु, बहुविध, ध्रुव, अनिश्रित और असंदिग्ध इन छः भेदों का प्रयोग करना चाहिए। ऐसी विशिष्ट बुद्धि से सपन्न होना, गणी की छठी मतिसपत् है।

७. **प्रयोग-संपत्**—गणी को अनुकूल और प्रतिकूल समय का भी जानकार होना चाहिए। यदि कोई वादी शास्त्रार्थ या विवाद के लिए चुनौती देता है, तो उस समय अवसर आदि का परिज्ञान होना ही प्रयोग-संपत् कहलाता है। इसके भी चार भेद हैं, जैसे कि अपनी शक्ति देखकर ही किसी के साथ शास्त्रार्थ करना। इस शास्त्रार्थ में मुझे प्रवृत्त होना चाहिए या नही, इसमें सफलता मिलेगी या नहीं, उसे इस बात को पहले से ही सोच लेना चाहिए। सभा कैसी है, किन विचारो की है, सभ्य विज्ञ है या अनभिज्ञ, वे किस बात को पसद करते हैं, इन सब बातो को पहले जान लेना चाहिए। जिस क्षेत्र मे शास्त्रार्थ होना है, वहां जाना या रहना उचित है या अनुचित, वहां किसी तरह के उपसर्ग होने की सम्भावना तो नही, इस प्रकार गणी को क्षेत्रबल को भी देखना आवश्यक होता है। वादी किस मत का जानकार है, उसकी मान्यता क्या है, उसके मान्य ग्रन्थ कौन-कौन से है, पहले शास्त्रार्थ के विषय को जानकर फिर उसमे प्रवृत्त होना चाहिए, अन्यथा नही।

८. **संग्रहपरिज्ञासंपत्**—इसका अर्थ होता है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सहयोगी बाह्य साधनों का उपयोग पूर्वक संग्रह करना। इसके भी पूर्व की तरह चार भेद हैं, जैसे कि—साधु और साध्वियो को वर्षावास मे ठहरने योग्य क्षेत्र एव स्थान देखना, पीठ चौकी, पाट-पाटला, मकान, फूस वगैरा की व्यवस्था करना। यथासमय स्वयं स्वाध्याय, ध्यान आदि करना और दूसरों को भी प्रवृत्त कराना। अपने से बडों का विनय करना, सत्कार करना ही सग्रहपरिज्ञासंपत् है। गणी की ये आठ सपदाएं है। इनके बिना गणी द्वारा गण का संचालन नहीं हो सकता।

महानिधियों की उच्चता

मूल—एगमेगे णं महानिही अट्ठचक्कवालपइट्ठाणे, अट्ठजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ते ॥ १३ ॥

छाया—एकैको महानिधिरष्टचक्रवालप्रतिष्ठानः, अष्ट योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—एगमेगे णं महानिही—प्रत्येक महानिधि, **अट्ठचक्कवालपइट्ठाणे**—

आठ पहियों पर प्रतिष्ठित है और, **अट्ठजोयणाइं**—आठ योजन, **उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ते**—ऊंचाई में वर्णन की गई है।

मूलार्थ—चक्रवर्त्ती की प्रत्येक महानिधि आठ-आठ चक्रों (पहियों) पर प्रतिष्ठित है तथा प्रत्येक की आठ योजन की ऊंचाई बताई गई है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे गणी की आध्यात्मिक सम्पदा का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उसकी प्रतिपक्ष भूत चक्रवर्तियो की द्रव्य-सम्पदा रूप महानिधियो का परिचय देते हैं।

प्रत्येक चक्रवर्त्ती के शासन-काल मे नव महानिधान होते हैं, उनका आकार सन्दूक के समान होता है। प्रत्येक निधान के आठ-आठ पहिए होते हैं और वे निधान आठ-आठ योजन ऊंचे हुआ करते है। यदि उन्हें रेल के डिब्बे के समान कहा जाए तो अधिक संगत जान पड़ता है। ये महानिधान नौ योजन चौड़े, बारह योजन लम्बे और आठ योजन ऊचे है, जिनके नीचे आठ-आठ पहिए लगे रहते है और एक हजार यक्ष उनकी रक्षा के लिए सदैव नियुक्त रहते हैं।[1] इन का पूर्ण परिचय आगे नवम स्थान में दिया जाएगा।

अष्ट समितियां

मूल—अट्ठ समिईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—ईरियासमिई, भासासमिई, एसणा समिई, आयाणभंडमत्त-समिई, उच्चारपासवण-समिई, मण-समिई, वइसमिई, कायसमिई ॥१४॥

छाया—अष्ट समितयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ईर्यासमितिः, भाषासमितिः, एषणासमितिः, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणसमितिः, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-शिंघाण-परिष्ठापनासमितिः, मनः-समितिः, वाक्-समितिः, काय-समिति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आठ समितिया वर्णन की गई है, जैसे—ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-भाण्ड-मात्र निक्षेपण-समिति, उच्चार-प्रस्रवण-समिति, मनो-गुप्ति, वचन-गुप्ति, काय-गुप्ति।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे जिन द्रव्यात्मक महानिधियों का वर्णन किया गया है वे द्रव्यनिधिया उसी को प्राप्त होती है, जिसने भावनिधियों की पूर्णतया रक्षा की हो, अतः प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार भावनिधि रूप आठ समितियों का उल्लेख करते हैं। समिति का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना, "सम्यगितिः—प्रवृत्तिः समितिः"। समितियां आठ हैं:—

---

१ नवयोयणविच्छिन्ना, वारसदीहा, समूसिया अट्ठ।
जक्खसहस्सपरिवुडा चक्कपइट्ठिया नववि॥

१. किसी भी प्राणी को पीडा न हो, इसलिए सावधानी पूर्वक गति करना ईर्यासमिति कहलाती है।

२. हितकारी, संदेह-रहित, परिमित सत्य भाषण ही भाषा-समिति है।

३. जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक एवं उपयोगी, निर्दोष आहार-पानी, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों को जुटाना एषणा-समिति है।

४. किसी भी वस्तु को प्रतिलेखन, प्रमार्जन किए बिना न उठाना, न रखना और न काम में लाना आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणा-समिति है।

५. मल-मूत्र आदि अनुपयोगी वस्तुओं को जीव-रहित अचित भूमि पर भली प्रकार देखकर यतना से परिष्ठापन करना उच्चार-प्रस्त्रवण-खेल-सिंघान-परिष्ठापन समिति है। मुह से निकले हुए श्लेष्म को खेल और नाक के श्लेष्म को सिंघान कहते हैं। इनको एकान्त प्रासुक भूमि पर जहां न कोई आता हो और न किसी की नजर पड़ती हो वहा परठना[1] चाहिए। उसमे कोई कीट पतंग फस न जाए, इसलिए उसके ऊपर मिट्टी डाल देनी चाहिए। यही पांचवीं समिति है।

६. मन पर नियन्त्रण रखना, उसे दुष्प्रवृत्तियो से रोक कर सुप्रवृत्तियों मे लगाना मनः-समिति है।

७ वाणी पर नियन्त्रण रखना, सोचकर बोलना, विचार कर कहना, सत्य बोलना, वचन-समिति है।

८. प्रत्येक शारीरिक चेष्टा पर नियन्त्रण ही काय-समिति है।

यद्यपि अन्य आगमों मे पाच समितियो और तीन गुप्तियो को आठ प्रवचन-माताए कहा गया है किन्तु तीन गुप्तियो से पहले पाच समितियों की आराधना अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि सूत्रकार ने इस स्थान पर तीन गुप्तियो का भी आठ समितियों के रूप में वर्णन किया है।[2]

आलोचना सुनने और करने वाले के गुण

मूल—अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ आलोयणा पडिच्छित्तए, तं जहा—आयारवं, आहारवं, ववहारवं, ओवीलए, पकुव्वए, अपरिस्साई, निज्जावए, अवायदंसी।

अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ अत्तदोसमालोइत्तए, तं जहा—

---

१ परठना—इस क्रिया का अर्थ है—इस प्रकार त्याग करना कि मानो उसे कही पर विधिवत् सभाल कर रखा जा रहा हो।

२ पूर्ण व्याख्या के लिए देखिए प्रश्नव्याकरण सूत्र, सवरद्वार।

जाइसंपन्ने, कुलसंपन्ने, विणयसंपन्ने, णाणसंपन्ने, दंसणसंपन्ने, चरित्तसंपन्ने, खंते, दंते ॥१५॥

छाया—अष्टभिः स्थानैः सम्पन्नोऽनगारोऽर्हति आलोचनां प्रत्येष्टुम्, तद्यथा—आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडकः, प्रकारकः, अपरिश्रावी, निर्यापकः, अपायदर्शी।

अष्टभिः स्थानैः सम्पन्नोऽनगारोऽर्हति आत्मदोषमालोचयितुम्, तद्यथा—जातिसम्पन्नः, कुलसम्पन्नः, विनयसम्पन्नः, ज्ञानसम्पन्नः, दर्शनसम्पन्नः, चारित्र-सम्पन्नः, क्षान्तः, दान्तः।

शब्दार्थ—अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे—आठ गुणो से युक्त अनगार, **आलोयणा पडिच्छित्तए**—आलोचना ग्रहण करने के, **अरिहइ**—योग्य होता है, **तं जहा**—यथा, **आया-रवं**—आचारवान्, **आहारवं**—अवधारण करने वाला, **ववहारवं**—आगमादि पांच व्यवहारो का ज्ञाता, **ओवीलए**—लज्जा दूर करने मे समर्थ, **पकुव्वए**—विशेषतया शुद्धि कराने में समर्थ, **अपरिस्साई**—आलोचना सुनकर उसे प्रकाशित न करने वाला, **निज्जावए**—जितना निर्वहण कर सके, तदनुसार प्रायश्चित्त देने वाला, **अवायदंसी**—अपाय आदि बता कर आलोचना कराने वाला।

अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे—आठ स्थानो से सम्पन्न अनगार, **अत्तदोसमा-लोइत्तए अरिहइ**—आत्म-दोषों की आलोचना करने में समर्थ होता है, **तं जहा**—जैसे, **जाइसंपन्ने**—जाति-सम्पन्न, **कुलसंपन्ने**—कुल-सम्पन्न, **विणयसंपन्ने**—विनय-वान्, **णाणसंपन्ने**—ज्ञानवान्, **दंसणसंपन्ने**—दर्शन-युक्त, **चरित्तसंपन्ने**—चारित्रसम्पन्न, **खंते**—क्षमायुक्त, **दंते**—दमनशील।

मूलार्थ—आठ गुणो से सम्पन्न अनगार आलोचना सुनने योग्य होता है, जैसे कि पाच आचारों का पालन करने वाला, आलोचना की स्मृति रखने वाला, आगम आदि पांच व्यवहारों का ज्ञाता, लज्जा दूर कराने वाला, शुद्धि कराने में समर्थ, आलोचना सुन कर अन्य के पास न कहने वाला, शक्ति के अनुसार प्रायश्चित्त देने वाला, जो आलोचना नहीं करता उसका क्या दुष्परिणाम होता है, ऐसी बातें बताने मे सामर्थ्य रखने वाला।

आठ गुणों से सम्पन्न अपने दोषों की आलोचना कर सकता है, यथा—जिसका मातृ-पक्ष शुद्ध हो, जिस का पितृ-पक्ष शुद्ध हो, जो विनयी हो, ज्ञानवान्, दर्शनवान्, चारित्रवान्, क्षमाशील और दमितेन्द्रिय हो।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे आठ समितियों का वर्णन किया गया है। उन आठ समितियो का पालन करते समय यदि किसी में अतिचार लग गया हो तो उस की आलोचना करनी

चाहिए। अतः प्रस्तुत सूत्र में आलोचना का स्वरूप बताया गया है। आलोचना का अर्थ है मन से, माया का पर्दा उठाकर अपने द्वारा की हुई छोटी-बड़ी भूलों को प्रकट करना। आलोचना सुनना एक प्रकार का विष पीने के समान है। विष को पचाना जैसे कठिन है, वैसे ही उस दोष से अपने मन को अस्पृश्य रखना, तथा शास्त्रीय पद्धति से दोषी को प्रायश्चित्त देकर शुद्धीकरण करना कठिन है। आलोचना वही सुन सकता है जिस में आठ गुण विद्यमान हों। गुणहीन के पास आलोचना नही करनी चाहिए, अनभिज्ञ चिकित्सक जैसे रोग का समूल नाश नहीं कर सकता, वैसे ही गुणहीन गुरु भी दोषों का मूलोच्छेदन नहीं कर सकता। इसलिए सूत्रकार ने आठ गुणो से सम्पन्न अनगार को आलोचना सुनने का अधिकारी बताया है, जैसे कि—

१. **आचारवान्**—जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार तथा बलवीर्य-आचार का विशेषज्ञ है और साथ ही इनका आराधक भी है, वही आलोचना सुन सकता है।

२ **आहारवान्**—जो आलोचना के द्वारा सुने हुए अतिचारो को मन मे धारण करने वाला हो, वही अतिचारों के प्रकार का निर्णायक होता है। जब सब अतिचार स्मृति में होंगे, तभी उनका उचित प्रायश्चित्त देने में आचार्य आदि समर्थ हो सकते हैं।

३. **व्यवहारवान्**—आगम, सूत्र, आज्ञा, धारणा और जीताचार इन पांच प्रकार के व्यवहारों का ज्ञाता होना उस के लिए आवश्यकीय है। ये पाच व्यवहार प्रायश्चित्त देने में काम आते हैं, जो इन का जानकार हो वही आलोचना सुनने का अधिकारी है।

४. **अपव्रीडक**—यदि आलोचक लज्जा के वश पूर्णतया आलोचना न कर सके तो उसकी लज्जा को दूर करने में समर्थ हो, वही आलोचना सुन सकता है।

५. **प्रकुर्वक**—आलोचित अपराध का प्रायश्चित्त देकर जो अतिचारों की शुद्धि कराने मे समर्थ है, वह आलोचना सुनने का अधिकारी है।

६. **अपरिस्त्रावी**—आलोचक के दोषो को दूसरों के सामने प्रकट न करने वाला गभीर स्वभावी आलोचना सुन सकता है।

७. **निर्यापक**—उसमें शक्ति न होने पर या अन्य किसी कारण से एक साथ पूरा प्रायश्चित्त लेने मे असमर्थ साधक को थोड़ा प्रायश्चित्त देकर निर्वाह कराने वाला होना चाहिए। जिस प्रायश्चित्त का साधक निर्वाह कर ही नही सकता उस प्रायश्चित्त को देने का क्या प्रयोजन हो सकता है?

८. **अपायदर्शी**—जो व्यक्ति आलोचना विधिवत् नहीं करता है वह आराधक नही बन सकता। आलोचना न करने से जीव दुर्लभबोधि बनता है। आलोचना न करने वाले को किस प्रकार के संकट भोगने पड़ते है? ऐसा दर्शाने वाला होना चाहिए।

आलोचक के आठ गुण—

जिस साधक में आठ गुण होते है, वही आलोचना कर सकता है, अथवा जो आलोचना

करने वाला है उसमें नियमेन आठ गुण तो होते ही हैं, जैसे कि—

१. जिसका मातृपक्ष निर्मल एवं शुद्ध है उसे जाति-संपन्न कहते हैं। जाति-सम्पन्न साधक प्राय: अकृत्य सेवन नहीं करता, यदि किसी कारणवश उससे कोई अकृत्य हो भी जाए है तो वह उसकी सम्यक्तया आलोचना करने मे प्रमाद एवं विलम्ब नहीं करता, वह शीघ्र ही पश्चात्ताप आदि द्वारा आत्मा की विशुद्धि कर लेता है।

२ जिसका पितृपक्ष विशुद्ध होता है, उसे कुल-सपन्न कहते हैं। जातिवान् में लज्जा, विनय की बहुलता होती है और कुलवान् में धैर्य और बल का आधिक्य पाया जाता है।

३. जिसमें अहंभाव पाया जाता है, वह कभी भी आलोचना नही कर सकता। अहभाव का प्रतिपक्षी विनय है। विनयवान ही सुखपूर्वक आलोचना कर सकता है, इसलिए तीसरा गुण विनय-संपन्न कहा गया है।

४. जो ज्ञानवान् होता है वह आलोचना के न करने पर उसके दोषो और विपाक को भली-भांति जानता है। अत: वह आलोचना सुखपूर्वक करके प्रायश्चित्त ग्रहण और वहन कर लेता है।

५ जिसमें श्रद्धा प्रबल होती है, वही आलोचना कर सकता है, क्योंकि उसका पूर्ण विश्वास होता है कि मेरी शुद्धि प्रायश्चित्त से ही हो सकती है तथा आत्म-विशुद्धि का मुख्य कारण प्रायश्चित्त ही है, इसलिए पाचवा गुण दर्शन-सपन्न होना कहा गया है।

६ जो साधक चारित्रवान होता है उससे कभी अपराध नहीं होता, यदि हो भी जाए तो वह उसकी शुद्धि की चेष्टा करता है, अत: आलोचना करने वाले का चारित्र-संपन्न होना भी आवश्यक है।

७ जो क्षमाशील है, वही आलोचना कर सकता है, यदि गुरु ने उसे कठिन एव परुष वचनो से उपालम्भ दिया हो तो वह रोष नहीं करता, अत: उसका क्षमावान् होना भी आवश्यकीय है।

८. जो साधक जितेन्द्रिय होगा, वही गुरु के द्वारा दिए गए प्रायश्चित्त का वहन करने मे समर्थ होगा, इसलिए आठवा गुण दान्त कहा गया है। ये सभी गुण महत्त्वपूर्ण हैं और साधना की सफलता के लिए आवश्यक हैं।

प्रायश्चित्त-भेद

मूल—अट्ठविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा—आलोयणारिहे, पडिक्कमणारिहे, तदुभयारिहे, विवेगारिहे, विउस्सग्गारिहे, तवारिहे, छेयारिहे, मूलारिहे ॥१६॥

छाया—अष्टविधं प्रायश्चित्तं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आलोचनार्हं, प्रतिक्रमणार्हं,

तदुभयार्हं, विवेकार्ह, व्युत्सर्गार्ह, तपोऽर्हं, छेदार्ह, मूलार्हम्।

शब्दार्थ—अट्ठविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा—आठ प्रकार का प्रायश्चित्त होता है, जैसे कि, **आलोयणारिहे**—आलोचना के योग्य, **पडिक्कमणारिहे**—प्रतिक्रमण के योग्य, **तदुभयारिहे**—दोनों के योग्य, **विवेगारिहे**—विवेक के योग्य, **विउस्सग्गारिहे**—व्युत्सर्ग के योग्य, **तवारिहे**—तप के योग्य, **छेयारिहे**—दीक्षा छेद के योग्य, **मूलारिहे**—मूल दीक्षा के योग्य।

मूलार्थ—प्रायश्चित्त आठ प्रकार का है, जैसे—आलोचना के योग्य, प्रतिक्रमण के योग्य, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के योग्य, विवेक के योग्य, व्युत्सर्ग के योग्य, तप के योग्य, दीक्षा-छेद के योग्य, मूल दीक्षा के योग्य।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में आलोचना सुनने वाले और आलोचना करने वाले के गुणो का वर्णन किया गया है। आलोचना सुनने वाला सुनकर ही दोष-निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त देता है, वह प्रायश्चित्त कितने प्रकार का है? अब प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार इसी प्रश्न का उत्तर देते है।

प्रमादवश यदि किसी व्रत में दोष लग जाए तो उसकी निवृत्ति के लिए जो तप: कर्म आदि का विधान किया जाता है, उसे ही प्रायश्चित्त कहते हैं। वह आठ प्रकार का होता है, जैसे कि आलोचना के योग्य, प्रतिक्रमण के योग्य, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के योग्य, विवेक के योग्य, कायोत्सर्ग के योग्य, तप के योग्य, दीक्षापर्याय के छेद के योग्य, मूलदीक्षा अर्थात् पुन: महाव्रत आरोपण के योग्य।

शास्त्रकार का अभिप्राय यह है कि कुछ दोष आलोचना करने मात्र से दूर हो जाते है, कुछ प्रतिक्रमण करने से दूर हो जाते हैं और कुछ ऐसे भी दोष होते है जो दोनो से निवृत्त होते हैं।

जो दोष जिस प्रायश्चित्त के योग्य हो उसकी निवृत्ति उसी प्रायश्चित्त से करनी चाहिए। जबकि पत्थर पर लगी हुई मैल को पानी से साफ किया जा सकता हो, तब तेजाब का प्रयोग करने कि क्या आवश्यकता हो सकती है? तेजाब का प्रयोग तभी किया जाता है जबकि कोई धब्बा पानी आदि से साफ न हो सके। वैसे ही दोष भी एक प्रकार का जीवन की चादर पर लगा धब्बा है, उसकी निवृत्ति जिस प्रायश्चित्त से हो सके उसी का उपयोग प्रायश्चित्त दाता को करना चाहिए। दीक्षा-पर्याय के छेद के योग्य से अभिप्राय है—साधक के दीक्षा-काल को कम कर देना और मूल दीक्षा-छेद से अभिप्राय है—साधक को साधुत्व से सर्वथा अलग कर देना और उसे पुन: दीक्षित करना।

मद-स्थान

मूल—अट्ठ मयट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—जाइमए, कुलमए, बलमए,

रूवमए, तवमए, सुयमए, लाभमए, इस्सरियमए ॥१७॥

छाया—अष्ट मदस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—जातिमदः, कुलमदः, बलमदः, रूपमदः, तपोमदः, श्रुतमदः, लाभमदः, ऐश्वर्यमदः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आठ मद हैं, जैसे कि जाति-मद, कुल-मद, बल-मद, रूप-मद, तप-मद, श्रुत-मद, लाभ-मद और ऐश्वर्य-मद।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में प्रायश्चित्त की विवेचना की गई है। जाति आदि का मद होने पर ही मनुष्य प्रायश्चित्त की उपेक्षा करता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में आठ मद-स्थानों का परिचय दिया गया है।

यद्यपि 'मद' शब्द कस्तूरी, नशा, मद्य, शहद, वीर्य, घमंड, कामोन्मत्तता, हाथी के गंडस्थल से बहने वाला गंधरस इत्यादि अनेक अर्थों मे प्रयुक्त होता है, तथापि प्रस्तुत प्रकरण मे इसका अभिमान अर्थ ही अभीष्ट है। उत्तम जाति का तथा कुल का घमड होना सहज ही है। जिसको किसी भी तरह का अधिक बल प्राप्त हो जाता है, वह बल के नशे में चूर हो ही जाता है। जिस का रूप लोकप्रिय बना हुआ है वह रूप पर अहंकार करता ही है। जिस तपस्वी की प्रसिद्धि तप के द्वारा हो रही है, उसे तप का अभिमान हो ही जाता है। जो व्यक्ति विद्वता मे बहुत बढा-चढ़ा है, उसे श्रुत का मद हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है। जिसको सब ओर से अभीष्ट पदार्थो का लाभ ही लाभ हो रहा है, उसे लाभ का मद हो जाता है। जिस व्यक्ति को किसी भी तरह की राज-सत्ता, समाज-सत्ता प्राप्त है अथवा अपार धन-राशि उपलब्ध है, उसे ऐश्वर्यमद हो जाता है। जब मनुष्य अभिमान में चूर हो जाता है, तब वह किसी भी तरह के पापाचरण से हिचकिचाता नही है, वह किसी को कुछ समझता ही नही है, वह अपने को ही सर्वेसर्वा मानने लग जाता है। इसीलिए नीतिकार कहते हैं:—

''जात्यादिमदोन्मत्तः पिशाचवद्भवति दुःखितश्चेह।
जात्यादिहीनतां परभवे च निःसंशयं लभते॥''

अर्थात् जाति आदि के मदों से उन्मत्त हुआ व्यक्ति इस लोक मे पिशाच की तरह पापो का आचरण करने लगता है, अंत मे वह दुखित होता है। जन्मान्तर में वह निश्चय ही जाति आदि से सर्वथा हीन हो जाता है। जिस बात का वह अभिमान करता है, परभव में वह उसी बात से हीन होता है। अतः यह समझना चाहिए कि मुझे उच्च जाति एवं विद्वत्ता आदि सब संयम तप एवं विनय से ही प्राप्त हुए है, फिर भी ये सब नाशवान् हैं, अतः इन पर मुझे अभिमान नहीं करना चाहिए। विनय से उच्चगोत्र का बध होता है और अभिमान करने से नीच गोत्र का बंध होता है, अतः मदस्थानों को सभी दृष्टियों से हेय माना गया है।

अक्रियावादी के भेद

मूल—अट्ठ अकिरियावाई पण्णत्ता, तं जहा—एगावाई, अणेगावाई, मितवाई, निम्मितवाई, सायवाई, समुच्छेदवाई, णियवाई, ण संति परलोगवाई॥१८॥

छाया—अष्ट अक्रियावादिन: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकवादी, अनेकवादी, मितवादी, निर्मितवादी, सातवादी, समुच्छेदवादी, नित्यवादी, न सन्ति परलोकवादी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—अक्रियावादी आठ प्रकार के कथन किए गए हैं, जैसे कि एक आत्मा को सर्वव्यापी मानने वाले, एकान्त विशेष को मानने वाले, आत्मा और लोक आदि पदार्थों को परिमित मानने वाले, ईश्वर आदि को जगत्कर्ता मानने वाले, विषय आदि सुखों से पारलौकिक सुख मानने वाले, पदार्थ को क्षणिक मानने वाले, जगत् को नित्य मानने वाले, आत्मा तथा परलोक को न मानने वाले।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे आठ मदों का वर्णन किया गया है। लोक में प्राय: अभिमानी व्यक्ति ही नास्तिक बन जाते हैं और सत्य मार्ग से भटक जाते है। जो सत्य-मार्ग से भटका हुआ है, वही नास्तिक है और उसे ही अक्रियावादी कहा जाता है। अत: प्रस्तुत सूत्र में अक्रियावादियों के आठ रूपो का परिचय दिया गया है। सभी पदार्थों के पूर्ण स्वरूप को बताते हुए स्वर्ग, नरक इत्यादि के अस्तित्व को मान कर तदनुसार करणीय और अकरणीय की शिक्षा देने वाले सिद्धान्त को अक्रियावाद कहते है। इन बातो का निषेध या विपरीत प्ररूपणा करने वाले सिद्धान्त को अक्रियावाद कहा जाता है। उसके मानने वाले अक्रियावादी माने जाते हैं। वे आठ प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

१. एकवादी—संसार को एक ही वस्तु रूप मानने वाले अद्वैतवादी एकवादी कहलाते है। अद्वैतवादी भी अनेक तरह के होते हैं, जैसे कि आत्माद्वैत, ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत सामान्याद्वैत। इस प्रकार की मान्यता रखने वाले अद्वैतवादी वेदान्ती तथा आत्माद्वैत या ब्रह्माद्वैत के मानने वाले हैं। उनका कहना है कि ब्रह्म एक ही है "**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**" उसके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नही है। जैसे कि चन्द्र एक ही होता है, परन्तु अलग-अलग जल-पात्रो में अनेक चन्द्र दिखाई देते है, वैसे ही भिन्न-भिन्न अन्त: करणों में वही एक ब्रह्म नाना रूपो में प्रतिबिंबित हो रहा है। पृथिवी, जल-तेज आदि महाभूत तथा सारा संसार आत्मा का ही विवर्त है। अन्धकार में जैसे रस्सी को देखकर साप का भ्रम हो जाता है, वैसे ही भौतिक पदार्थो में आत्मा की भ्रान्ति होती है, वस्तुत: इस भ्रम को दूर करना ही मोक्ष है।

शब्दाद्वैतवादी का कथन है कि इस सृष्टि की रचना शब्द से ही हुई है। ब्रह्म भी शब्द रूप है। वैय्याकरण-दर्शन के अनुयायी इसी सिद्धान्त के उपासक हैं।

सामान्यवादी वस्तु को सामान्यात्मक मानते हैं। इसके अनुयायी सांख्यदर्शन और योगदर्शन के अनुगामी हैं।

ये सब दूसरी वस्तुओं का अपलाप करते हैं तथा प्रमाण-विरुद्ध अद्वैतवाद को स्वीकार करते हैं, इसलिए जैनदर्शन इन्हें अक्रियावादी कहता है।

वस्तुत: चंद्र का प्रतिबिंब जैसे विभिन्न जलाशयो में पडता है, वैसे ही यदि ब्रह्म के विषय में भी माना जाए, तो सब जीवों की एक ही अवस्था हो जाएगी, क्योंकि यदि चंद्र पूर्णिमा का होगा तो प्रतिबिंब भी पूर्ण ही होगा। यदि अष्टमी का होगा तो प्रतिबिंब भी चन्द्र सदृश अर्ध ही होगा। इसी प्रकार एक ही ब्रह्म का प्रतिबिंब मानने पर सभी आत्माओं की एक ही दशा होनी चाहिए, किन्तु ऐसा कहीं भी देखा नहीं जाता। कोई विद्वान् है और कोई मूर्ख, कोई श्रीमान है और कोई निर्धन, कोई सुखी है और कोई दु·खी इत्यादि जीवों की अनेक दशाएं एक ब्रह्म को सिद्ध नही करतीं, अत: एकवादी की मान्यताएं तर्क एवं अनुभव से सिद्ध नहीं हैं।

२. **अनेकवादी**—अनेक आत्माए मानने पर भी परलोक का न मानना अक्रियावादिता है। जो लोग यह मानते हैं कि सभी पदार्थ अनेक है अर्थात् अलग-अलग प्रतीत होने से सभी पदार्थ भिन्न ही हैं। उनका कहना है कि पदार्थों को यदि हम अभिन्न मानेंगे तो जीव अजीव, सुखी-दु:खी, बद्ध-मुक्त इत्यादि सब एक हो जाएगे। ऐसी स्थिति में तप-संयम आदि धार्मिक कार्य व्यर्थ हो जाएंगे। दूसरी बात यह है कि एकवादिता मे दोषापत्ति है, क्योंकि एकता सामान्य की अपेक्षा से ही मानी जाती है। वस्तुत: देखा जाए तो विशेष से भिन्न कोई वस्तु नही है विशेष अनेक है। जैसे रूप से भिन्न रूपत्व नाम की कोई वस्तु नहीं है वैसे ही अवयवों से भिन्न अवयवी, धर्मो से भिन्न कोई धर्मी भी नहीं है। यह अनेकवादी केवल विशेष को ही मानते हैं, सामान्य को नहीं। अनेक को मानते है, एक को नही। इसी कारण इन्हें अनेकवादी कहते हैं।

वास्तव में सभी पदार्थ किसी अपेक्षा से एक तथा किसी अपेक्षा से अनेक हैं, इसी तरह अवयव और अवयवी तथा धर्म और धर्मी कथंचित् भिन्न भी हैं और कथंचित् अभिन्न भी, कथचित् नित्य भी हैं और कथंचित् अनित्य, कथचित् एक है और कथंचित् अनेक। इस तरह मानने से सब प्रकार की व्यवस्था ठीक हो जाती है। पदार्थो को एकान्त रूप से अनेक मानना जैन-दर्शन को मान्य नही है।

३. **मितवादी**:—जीवों के अनन्त-अनन्त होने पर भी उन्हें परिमित संख्या वाला मान लेना मितवादिता है। मितवादियों का कहना है कि यदि भव्य जीव मुक्त होते रहे तो कभी न कभी संसार भव्य जीवों से रिक्त हो जाएगा। अथवा जो वादी जीव को अंगुष्ठ परिमाण या श्यामाकतण्डुल परिमाण या अणुपरिमाण मानते हैं, वे भी मितवादी ही कहलाते है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न मानकर असत्य पद्धति को अपनाना अक्रियावादिता है।

अथवा लोक को सात द्वीप और सात समुद्रों तक सीमित मानना भी मितवादिता ही है।

जैन दर्शन जीव को असंख्यात प्रदेशी एवं अनियत परिमाण वाला मानता है, वह अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सारे लोक को प्रदेशों से व्याप्त कर सकता है। अतः आत्मा को अंगुष्ठ परिमाण श्यामाकतण्डुल परिमाण या अणुपरिमाण मानना असंगत है। जैसे भविष्य के गर्भ में अनन्त दिन छिपे हुए है, एक-एक दिन वर्तमान में आते-आते और भूत में समाते हुए भविष्यत् काल कभी भी समाप्त नहीं होगा। इसी तरह भव्य जीव मुक्त होते-होते संसार खाली नही होता, क्योंकि जीव अनन्तानन्त हैं। द्वीप और समुद्र भी गिनती के नहीं हैं, अपितु असख्यात द्वीप हैं और असंख्यात समुद्र हैं। जैसी वस्तु है, वैसी न मानने से उन्हें मितवादी कहा है, जो कि अक्रियावादिता का तीसरा भेद है।

४. **निर्मितवादी**—जगत् का किसी ने निर्माण किया है। इस मान्यता के अनुयायी निर्मितवादी कहलाते हैं। इस विषय में लोगों के हृदयो में तरह-तरह की धारणाए बैठी हुई है। कुछ कहते हैं कि जैसे किसान बीज बोकर धान्य उत्पन्न करता है, वैसे ही किसी देव ने इस लोक को उत्पन्न किया है। दूसरी परम्परा के लोग कहते है कि जीव-अजीव एवं सुख-दुःख से समन्वित इस जगत् की रचना ईश्वर ने की है। सांख्यवादी कहते हैं यह लोक प्रधानकृत है। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि ब्रह्मा ने यह लोक बनाया है। किसी की मान्यता है कि सृष्टि की रचना विष्णु ने की है। कुछ दार्शनिकों की यह भी धारणा है कि इस जगत् की उत्पत्ति अण्डे से हुई है। सृष्टि के विषय मे इस प्रकार की अनेक धारणाए् प्रचलित हैं। इस प्रकार की धारणाओं वाले सभी दार्शनिक निर्मितवादी कहलाते हैं। वे निर्मितवादी भी अपनी मान्यता को सत्य बताते हैं और दूसरों की मान्यता को असत्य।

पूर्वोक्त वादी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नही जानते कि इस लोक का यथार्थ स्वभाव क्या है? वस्तुतः यह लोक कभी भी एकान्त रूप से नष्ट नही होता, क्योंकि द्रव्य से यह अनादि है, इसका आदि केवलज्ञानी के ज्ञान मे है ही नही। यह लोक पहले था, अब है और भविष्यत् काल में भी रहने वाला है। इसकी पर्याय बदलती रहती है। ह्रास-विकास भी होता रहता है, किन्तु इसकी रचना किसी ने नहीं की, अतः यह ससार सदाकाल से अनिर्मित है।

५. **सातावादी**—जिन दार्शनिकों की मान्यता है कि ससार मे सुख से रहना चाहिए, सुख ही सुख का मूल कारण है। संयम, तप, ब्रह्मचर्य आदि सुख के कारण नहीं हैं। जैसे सफेद तन्तुओ से बना हुआ वस्त्र भी सफेद ही होता है, काला या लाल नहीं, इसी प्रकार सुख से ही सुख की उत्पत्ति हो सकती है। सुख भोगने से सुख मिलता है, जैसे कि कहा भी है:—

''मृद्वी शय्या, प्रातरुत्थाय पेया, भक्त मध्ये पानकं चापराह्णे।
द्राक्षाखण्डं शर्कराचार्द्धरात्रे मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः॥''

सोने के लिए कोमल शय्या, प्रातः उठते ही सुन्दर पेय पदार्थों का पान, दोपहर में

स्वादिष्ट भोजन, दोपहर बाद दुग्धादि स्वादिष्ट पदार्थों का पान, अर्धरात्रि मे किसमिस मिश्री आदि का खाना और इस प्रकार अन्त में मोक्ष, शाक्य पुत्र ने यही जीवन का सार बताया है।

पारमार्थिक प्रशमसुख का मूल कारण संयम-तप आदि शुभानुष्ठान को दु:ख रूप में स्वीकार करने से तथा वैषयिक सुख को निर्वाणसुख का मूल कारण मानने से सातावादी भी अक्रियावादी ही है।

६. **समुच्छेदवादी**—इस मान्यता के अनुयायी बौद्ध हैं, उनका कहना है कि प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण सर्वथा नष्ट हो रही है। पहले क्षण में उत्पन्न और दूसरे क्षण में विनाश, यह क्रम सदा चलता ही रहता है, किसी भी अपेक्षा से कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। सभी पदार्थ क्षणिक हैं। किसी कार्य का होना या करना यही वस्तु का लक्षण है। नित्य वस्तु से कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती, क्योकि दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति होने पर वह नित्य नहीं रह सकता, इसलिए वस्तु को क्षणिक मानना युक्ति-सगत है।

जैन दर्शन का इस विषय में कहना है कि द्रव्य की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु नित्य है, उत्पाद और व्यय रूप पर्याय की अपेक्षा सभी पदार्थ अनित्य है। यदि द्रव्य को ही क्षणिक मान लिया जाए तो आत्मा भी प्रतिक्षण बदलता ही रहेगा। इससे स्वर्ग-नरक आदि की प्राप्ति उस आत्मा को नहीं होगी, जिसन स्वर्ग-प्राप्ति के योग्य संयम का पालन किया है और नरक-प्राप्ति के योग्य पापाचरण किए हैं। परलोक का अभाव फलार्थी को शुभ क्रियाओ में कभी प्रवृत्त ही न होने देगा, क्योकि प्रत्येक क्रिया करते समय असख्यात समय लगते हैं, उच्छेदवादी के मत में सकल व्यवहार का उच्छेद हो जाएगा। अत: एकान्त क्षणिक मानने से कुलाल आदि के द्वारा की जाने वाली अर्थ-क्रिया की भी सिद्धि न हो सकेगी। हां पर्याय से वस्तु का समुच्छेद मानना कथंचित् युक्ति-युक्त है, द्रव्य से नही। कहा भी है **''तस्मात् पर्यायतो वस्तु समुच्छेदवद्, द्रव्यतस्तु न तथेति।''**

७. **नियतवादी**—जो दर्शन पदार्थ को कूटस्थ नित्य मानते हैं, वे भी अक्रियावादी ही हैं। उनका कहना है कि जो पदार्थ सत् है, वह कूटस्थ नित्य है। वस्तुत: एकान्त नित्य मानने से सभी व्यावहारिक क्रियाओ का उच्छेद हो जाएगा, क्योंकि जो उन्होंने **''अप्रच्युता-नुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वं नित्यत्वम्''**—जो उत्पत्ति और विनाश से रहित स्थिर एक स्वभाव वाला है, वह नित्य है, यह उनका दिया हुआ लक्षण है। इस लक्षण के अनुसार कोई भी नित्य पदार्थ अर्थ-क्रिया करने में समर्थ नहीं है। बौद्ध द्रव्य को सर्वथा अनित्य मानते हैं और सांख्यदर्शन सर्वथा नित्य मानता है। एकान्त अनित्य मानना भी दोषपूर्ण है।

अनेकान्तवाद सभी पदार्थों को द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य मानता है। यही मान्यता युक्ति-संगत है। कूटस्थनित्य वादियों के अभिमत से आत्मा अकिंचित्कर सिद्ध हो जाता है। जो संयम, तप, पुण्य-पाप आदि क्रिया करने में समर्थ नहीं, वह सुख-दु:ख

आदि का उपभोक्ता भी नहीं हो सकता, क्योंकि कूटस्थ नित्य में अर्थ-क्रिया घटित नही होती।

८. **अनात्मवादी**—जो आत्मा के अस्तित्व को नही मानते वे भी अक्रियावादी हैं। आत्मा के न मानने से परलोक और मोक्ष दोनों का अभाव हो जाएगा। चार्वाक लोग आत्मा को मानने से सर्वथा इन्कार करते है। वे आत्मा को पांच भूत स्वरूप ही मानते हैं। चेतना-शक्ति का अस्तित्व अनेक प्रमाणो से सिद्ध है। विशिष्ट आत्माओ को जाति-स्मरण आदि पूर्वजन्म का ज्ञान देखने और सुनने मे आता है। इससे आत्मा की सिद्धि होती है। क्योंकि गुण और गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध होता है। जो आत्मवादी पांच भूतों से चैतन्य पदार्थ की सिद्धि करना चाहते हैं, उनका कहना युक्ति-हीन होने से अप्रामाणिक है। अत: आत्मा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम प्रमाण से सिद्ध है। सूत्रकार ने अक्रियावादी के जो आठ भेद किए है, वे सब अनात्मवादी है, क्योंकि वे सत्य-सिद्ध सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं।

आठ महानिमित्त

मूल—अट्ठविहे महानिमित्ते पण्णत्ते, तं जहा—भोमे, उप्पाते, सुविणे, अंतलिक्खे, अंगे, सरे, लक्खणे, वंजणे ॥१९॥

छाया—अष्टविधानि महानिमित्तानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भौमम्, औत्पातं, स्वप्नम्, आन्तरिक्षम्, अंगं, स्वरः, लक्षणं, व्यञ्जनम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—महानिमित्त आठ कहे गए हैं, जैसे—भौम, औत्पात, स्वाप्न, आन्तरिक्ष, आंग, स्वर, लक्षण और व्यञ्जन।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में आठ प्रकार के वादियों का वर्णन किया गया है, ये वादी प्राय: चमत्कार-प्रदर्शन के लिए निमित्त-शास्त्र का अभ्यास कर लेते हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र में आठ महानिमित्तों के नामो का निर्देश किया गया है।

जिन कारणों से मनुष्य भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल की घटनाओं एव पदार्थो को जानने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है, उन सभी कारणों को निमित्त कहते हैं। उन कारणों एवं साधनो का वर्णन जिन ग्रन्थों मे होता है, वे ग्रथ भी निमित्त ही कहलाते हैं। उन ग्रन्थों का सूत्र, वार्तिक, भाष्य आदि के द्वारा विस्तार किया जाता है, इसलिए उन ग्रन्थों का परिमाण सैंकडों-हजारो तथा लाखों श्लोकों का हो जाता है, अत: ये महान् ग्रंथ महानिमित्त कहलाते हैं। महानिमित्त के आठ भेद हैं। प्रत्येक भेद की सक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित है:—

१. **भौम**—भूमि से सम्बन्धित लक्षणों का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को भौम कहते हैं। भूमि मे हलचल का होना, सशब्द भूकम्प का होना, यह भूमि उर्वरा है या ऊषर, यह

भूमि किस बीज को उत्पन्न कर सकती है, इस भूगर्भ में कौन-सी धातु है, कितनी दूर है, जल है, गैस है या तेल है अथवा यूरेनियम की तरह का कौन-सा बहुमूल्य तत्त्व है, इत्यादि पदार्थों को जानने के लक्षणो और शुभ-अशुभ फल का ज्ञान कराने वाले शास्त्रो को भौम-महानिमित्त कहते हैं। इसके विषय में एक श्लोक में कुछ भाव प्रदर्शित किए गए हैं, जैसे कि—

"शब्देन महता भूमिर्यदा रसति कम्पते।
सेनापतिरमात्यश्च राजा राज्यं च पीड्यते॥"

अर्थात् महान शब्द करती हुई जब भूमि कापती है, तब सेनापति, मंत्री, राजा और प्रजा पीडा को प्राप्त होते हैं। इत्यादि वर्णन भी भौम-शास्त्र से सम्बन्धित है।

२. औत्पात—इसका अर्थ है—उपद्रव, आकस्मिक दु:खदायी घटना, हलचल, दंगा-फिसाद इत्यादि। यह मुख्यत: तीन प्रकार का होता है — दैविक, भौतिक और आध्यात्मिक। जिन लक्षणो से भावी उत्पातों को जाना जाए, उन लक्षणों का ज्ञान कराने वाले शास्त्र को औत्पात महानिमित्त कहते है।

३. स्वाप्न—सोते समय गाढ़ी नीद न आने के कारण कुछ घटनाए दिखाई देती हैं, जिन्हें स्वप्न कहा जाता है। जिस शास्त्र मे स्वप्नो का तथा उनके भेद-प्रभेदों का वर्णन हो और उनके द्वारा शुभ-अशुभ फलादेश का विधान हो उस शास्त्र को स्वाप्न-महानिमित्त कहते हैं।

अच्छे या बुरे स्वप्नो का शुभाशुभ बताना, जैसे कि देव, गुरु, छत्र, कमल, आदि का देखना, हाथी या घोड़े की सवारी करना, पर्वत के शिखर पर, महल पर या प्राकार पर चढना, समुद्र को पार करना, दूध-दही या अमृत का पीना, चन्द्र और सूर्य का मुख में प्रवेश करना इत्यादि स्वप्न शुभ फल देने वाले माने गए हैं। यदि स्वप्न-द्रष्टा लाल रंग वाला पेशाब करे या मलोत्सर्ग करे और उसी समय यदि स्वप्न भग हो जाए, तो स्वप्नद्रष्टा को अर्थ-हानि होती है।

४. आन्तरिक्ष—आकश से सम्बन्ध रखने वाले निमित्त को आन्तरिक्ष कहते है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारों की गति विशेष से, ग्रह-वेध से, अभ्र-विकार से, धूमकेतु के उदय से, दिग्दाह से, बिजली के विभिन्न रगो से, गंधर्वनगर की बनावट से, इन्द्रधनुष से, वायुमण्डल से सूर्य और चन्द्र को ग्रहण लगने से तथा उनके परिवेष-कुण्डल से जो शुभाशुभ बताया जाता है, वह आन्तरिक्ष शास्त्र के महानिमित्त से जाना जाता है। गंधर्वनगर के विषय मे दिग्दर्शन कराते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—

"कपिले सस्यघाताय माञ्जिष्ठं हरणं गवाम्।
अव्यक्तवर्णं कुरुते बलक्षोभं न सशय:॥

गन्धर्वनगरं स्निग्धं सप्रकारं सतोरणम्।
सौम्यां दिशं समाश्रित्य राज्ञस्तद्विजयं करम्॥''

अर्थात्—पीले गंधर्वनगर से धान्य का विनाश होता है, मजीठ के रंग वाले से गौओं का हरण होता है। अव्यक्त वर्ण वाले से सेना मे क्षोभ जागता है। यदि पूर्व दिशा में स्निग्ध प्राकार तथा तोरण सहित गधर्वनगर हो, तो वह राजा की विजय का सूचक है। इस प्रकार के फलादेश बताने वाला भी आन्तरिक्ष महानिमित्त कहलाता है।

५. **आङ्ग**—शरीर के विभिन्न अगों के स्फुरण से शुभाशुभ फल का बताना आङ्ग-शास्त्र का विषय है। पुरुष के दाएं और स्त्री के बाएं अगों का स्फुरण शुभ माना गया है। सिर के फड़कने से पृथ्वी-लाभ तथा ललाट के स्फुरण से पदवृद्धि होती है। जिस शास्त्र मे अंग-स्फुरण के शुभाशुभ फलो का उल्लेख हो, उसे आङ्ग महानिमित्त कहते है।

६. **स्वर**—इस पद से तीन अर्थ ग्रहण किए जाते हैं, षड्ज आदि सात स्वरों के द्वारा शुभाशुभ बताना, अथवा इडा, पिंगला और सुषुम्ना इन तीन स्वरों के द्वारा शुभाशुभ फल बताना और पक्षियो के शब्द से शुभाशुभ बताना। इन सबका समावेश स्वर में हो जाता है। इनका वर्णन जिस शास्त्र मे है उसे स्वरशास्त्र महानिमित्त कहते हैं।

७. **लक्षण**—स्त्री और पुरुष के शरीर की बनावट या रेखा आदि से शुभाशुभ फल बताना लक्षण कहलाता है। साधारण मनुष्यो में ३२ लक्षण पाए जाते हैं। बलदेव और वासुदेव के १०८ लक्षण होते हैं। चक्रवर्ती और तीर्थङ्करों में १००८ लक्षण होते हैं। सामुद्रिक शास्त्र मे अच्छे-बुरे अगोपागों का तथा रेखा-विज्ञान (पामिस्ट्री साइस) का विस्तृत वर्णन मिलता है। ''अंगविज्जा'' नामक ग्रंथ मे बडे विस्तार के साथ शारीरिक लक्षणो का वर्णन किया गया है और साथ ही वहां शुभाशुभ फल भी निर्दिष्ट हैं, अत: इस प्रकार के शास्त्र को लक्षण-महानिमित्त कहते है। लक्षण-निमित्त का दिग्दर्शन कराना भी आवश्यकीय हो जाता है, जैसे कि—

''अस्थिष्वर्थाः सुख मांसे, त्वचि भोगाः स्त्रियोऽक्षिषु।
गतौ यानं स्वरे चाज्ञा सर्व सत्वे प्रतिष्ठितम्॥''

अर्थात्—पुष्ट हड्डियों से जाना जाता है कि यह व्यक्ति धनवान होगा, मासल होने से सुखी समझा जाता है। शरीर की त्वचा प्रशस्त होने से व्यक्ति विलासी होता है। आखे सुन्दर होने से सुन्दरियो का वल्लभ बनता है, राजहंस, वृषभ एवं हाथी की तरह मस्त चाल वाले को यान-सवारी का साधन मिलता है। ओजस्वी एव गंभीर शब्द वाला सत्ताधीश होता है, उसकी आज्ञा सर्वमान्य होती है। विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति सबका स्वामी होता है।

८. **व्यंजन**—जिस शास्त्र मे तिल-मसा आदि का विशेष वर्णन हो, उसे ''व्यञ्जन-शास्त्र'' कहते हैं। जिस स्त्री की नाभि से नीचे के भाग में कुकुम की बूद के समान तिल या मस्सा हो या कोई और लक्षण हो वह अच्छी मानी जाती है। लक्षण शरीर के साथ उत्पन्न होते

हैं और व्यञ्जन बाद में उत्पन्न होते है। जो चिह्न पुरुष या स्त्री के होते हैं, उनके फलादेश से जीवन की पूर्ण दशा का ज्ञान हो जाता है। यद्यपि उक्त शास्त्रों को समवायाड्ग सूत्र के २९ वें समवाय में पापश्रुत के नाम से उल्लेख किया गया है, तथापि इनका ज्ञान होना पापश्रुत नहीं है, किन्तु इनके द्वारा जो पापाचरण किया जाता है उसकी अपेक्षा से इसको पापश्रुत नाम दिया गया है। ज्ञाताधर्मकथा आदि शास्त्रो मे अष्टाड्ग महानिमित्त के पण्डितो का वर्णन मिलता है। जब किसी राजकुमार आदि का जन्म होता था तब नैमित्तिको को अवश्य ही आमंत्रित किया जाता था और वे अपनी-अपनी विद्या के अनुसार जातक के जीवन का पूर्ण विवरण प्रस्तुत कर देते थे।

यद्यपि आज सामुद्रिक और स्वप्नशास्त्र के अतिरिक्त अन्य शास्त्र प्राय: अनुपलब्ध है, फिर भी इन आठो से सम्बन्धित सामग्री यत्र-तत्र लिखित रूप मे प्राप्त हो जाती है।

आठ वचन-विभक्तियां

मूल—अट्ठविहा वयणविभत्ती पण्णत्ता, तं जहा—

निद्देसे पढमा होइ, बीइया उवएसणे।
तइया करणंमि कया, चउत्थी संपयावणे॥१॥

पंचमी य अवायाणे, छट्ठी सस्सामिवायणे।
सत्तमी सन्निहाणत्थे, अट्ठमी आमंतणी भवे॥२॥

तत्थ पढमा विभत्ती, निद्देसे सो इमो अहं वत्ति।
बिईया उण उवएसे, भण कुण व इमं व तं वत्ति॥३॥

तइया करणंमि कया, णीयं च कयं च तेण व मए वा।
हंदि णमो साहाए, हवइ चउत्थी पयाणंमि॥४॥

अवणे गिण्हसुत त्तो इत्तो त्ति व पंचमी अवायाणे।
छट्ठी तस्स इमस्स व, गयस्स वा सामिसंबंधे॥५॥

हवइ पुण सत्तमी, तमिमंमि आहारकालभावे य।
आमंतणा भवे, अट्ठमी उ जह हे जुवाणत्ती॥ ६॥२०॥

छाया—अष्टविधा वचनविभक्तिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—

निर्देशे प्रथमा भवति, द्वितीया उपदेशने।
तृतीया करणे कृता, चतुर्थी सम्प्रदापने॥१॥

पञ्चमी च अपादाने, षष्ठी स्वस्वामिवचने।
सप्तमी सन्निधानार्थे, अष्टमी आमन्त्रणी भवेत्॥२॥

तत्र प्रथमा विभक्तिर्निर्देशे—'सः' 'अयम्' 'अहं' वेति।
द्वितीया पुनरुपदेशे—'भण' 'कुरु' वा 'इदं' वा 'तद्' वेति॥३॥
तृतीया करणे कृता—'नीतं' च 'कृतं' च 'तेन' वा 'मया' वा।
'हन्दि' 'नमः' 'स्वाहायै', भवति चतुर्थी प्रदाने॥४॥
'अपनय' 'गृहाण' 'ततः' 'इतः' इति वा पञ्चमी अपादाने।
षष्ठी 'तस्य' 'अस्य' वा 'गतस्य' वा स्वामिसम्बन्धे ॥५॥
भवति पुनः सप्तमी, 'तस्मिन्' 'अस्मिन्' आधार-कालभावे च।
आमन्त्रणी भवेत्, अष्टमी तु यथा हे युवन्! इति॥६॥
(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—वचन विभक्ति आठ प्रकार की वर्णन की गई है, यथा—निर्देश में प्रथमा, उपदेश में द्वितीया, करण में तृतीया, सम्प्रदान में चतुर्थी, अपादान में पञ्चमी, स्व-स्वामि-सम्बन्ध मे षष्ठी, सन्निधान में सप्तमी और आमन्त्रण में अष्टमी विभक्ति होती है।

निर्देश में प्रथमा, जैसे—सः, अयम्, अहम् आदि। उपदेश में द्वितीया, जैसे-भण, कुरु, इमम्, तद् आदि। करण में तृतीया, जैसे—तेन वा, मया वा, नीतम्, कृतम् वा। सम्प्रदान में चतुर्थी, जैसे—'हन्दि' नामक अव्यय उपदर्शन मे है, नमः, स्वाहा, ते इत्यादि। अपादान में पञ्चमी, जैसे—अपनय, गृहाण, इतः, ततः आदि। स्वसम्बन्ध में षष्ठी, जैसे—कस्य, अस्य, गतस्य आदि। आधार, काल और भाव में सप्तमी, जैसे—आधार में—स्थाल्या पचति, काल में—मधौ रमते, भाव में—चारित्रेऽवतिष्ठते। आमन्त्रण में अष्टमी, जैसे—हे युवन्! हे अमनस्के! इत्यादि।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में आठ निमित्त शास्त्रों का वर्णन किया गया है। शास्त्र वाणी-प्रधान है और वाणी और उसके अर्थ का परिज्ञान विभक्ति-ज्ञान पर निर्भर है, अतः प्रस्तुत सूत्र में वचन विभक्तियो का स्वरूप और उनके भेदो का निरूपण किया गया है।

प्रकृति-प्रत्यय के विभाग से जो वचन कहा जाए, उसे वचन-विभक्ति कहते हैं। यद्यपि आज के युग मे जितने भी सस्कृत-व्याकरण उपलब्ध है, उनमें सात विभक्तियो का संकेत मिलता है। संबोधन का अन्तर्भाव प्रथमा में ही किया गया है, तथापि प्राचीन काल में आगमकार तथा वृद्ध वैयाकरण लोग आमन्त्रण को साथ मिलाकर आठ विभक्तियां माना करते थे। इस तरह प्रस्तुत सूत्र में तथा अनुयोगद्वार सूत्र में दिए गए आठ नामों से स्पष्ट ध्वनित होता है कि विभक्तियां आठ ही होती हैं। उनके प्रयोग निम्न प्रकार से दिए गए हैं, जैसे कि—

१. निर्देश—प्रातिपादिक शब्दों के अर्थमात्र का जो प्रतिपादन है, वह निर्देश कहलाता

है। इस निर्देश मे प्रथमा विभक्ति होती है। क्रिया करने में जो स्वतंत्र हो, वह कर्त्ता है। कर्त्ता के प्रति जो निर्देश किया जाता है, उसमे प्रथमा विभक्ति प्रयुक्त होती है, जैसे कि **सः अयम्, अहम्** आदि। जब कोई व्यक्ति किसी दूरस्थ व्यक्ति को कुछ कहता है, तब कहा जाता है कि "वह क्रिया करता है" जब वह निकटस्थ व्यक्ति को कहता है, तब कहा जाता है "यह क्रिया करता है" और जब वक्ता अपनी ओर सकेत करके कहता है, तब कहा जाता है कि "मैं क्रिया करता हूं।" कर्त्ता के प्रति इसी सकेत विशेष को निर्देश कहते हैं।

२. **उपदेशन**—उपदेश में द्वितीया होती है, जैसे कि प्रत्यक्षवर्ती शास्त्र को पढ़ो और यह कार्य करो तथा परोक्षवर्ती अमुक सूत्र को पढ़ो और अमुक कार्य करो। इंसी तरह किसी को आज्ञा देना, उपदेश करना भी उपदेशन विभक्ति है। उपलक्षण से वह "पानी" पीता है। मै 'पुस्तक' पढता हूं। इन वाक्यों मे भी द्वितीया का प्रयोग किया गया है, पानी और पुस्तक कर्म हैं। कर्त्ता क्रिया के द्वारा जिस वस्तु को पाना चाहता है, उसे कर्म कहा जाता है।

३ **करण**—क्रिया की सिद्धि मे जो वस्तु साधन रूप हो उसे करण कहते हैं। जैसे कि—धन्य अणगार ने सयम और तप से देवत्व को प्राप्त किया। वह कलम से लिखता है। यहा संयम, तप और कलम, ये तीन कार्य-सिद्धि में साधकतम हैं, अतः इन्हें करण कहा जाता है। करण में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। **तेन शकटेन सस्यं नीतं, मयाकुण्डं कृतम्** आदि।

४ **संप्रदान**—जिसके लिए क्रिया की जाती है, उसे संप्रदान कहते है। जैसे वह भिक्षु के लिए भोजन देता है। उपलक्षण से नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अल, वषट् आदि शब्दो के योग मे भी चतुर्थी विभक्ति होती है। **अर्हते नमः, धर्माय स्वस्ति, इन्द्राय स्वाहा, गुरुभ्यः स्वधा, पुरुषायाल युवतिः, अग्नये वषट्, सर्वस्मै हितम्** इत्यादि। सप्रदान मे चतुर्थी का प्रयोग किया जाता है। अन्य निमित्त के योग से भी चतुर्थी का प्रयोग होता है।

५. **अपादान**—जहां एक वस्तु दूसरी वस्तु से अलग होती हो, उसे अपादान कहते है। इसमे पंचमी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है, जैसे—**वृक्ष से** पत्ता गिरता है। वह **धर्म से** भ्रष्ट होता है। राम **कर्मो से** सर्वथा मुक्त हो गए, अमुक साधु-ससार **व्यवहार से** विमुक्त हो गया। इन वाक्यों में वृक्ष, धर्म, कर्म, संसार शब्द अपादान ही हैं।

६. **सम्बन्ध**—जहां दो वस्तुओं मे परस्पर संबन्ध बताया गया हो, उसे सम्बन्ध विभक्ति कहते हैं। इसमें षष्ठी का प्रयोग किया जाता है। जैसे कि इन्द्रभूति भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य थे। राम दशरथ राजा के पुत्र थे। यह उसका सेवक है। इस प्रकार स्वामी-सेवक का संबन्ध दर्शाना ही सम्बन्ध है।

७. **अधिकरण**—आधार को अधिकरण कहते हैं, जैसे कि वृक्ष पर पक्षी बैठा है। काल

और भाव में भी सप्तमी का प्रयोग किया जाता है, जैसे मधौ रमते, यह काल में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग है। चारित्रेऽवतिष्ठते, यह भाव में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग है।

८. **आमंत्रणी**—जिसको सम्बोधित करके बुलाया जाए, उसे आमंत्रणी कहते हैं। जैसे कि 'हे राम! हे युवन्! हे साधो!'' आदि प्रथमा मे जो प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं, वे ही प्रत्यय आमंत्रणी मे प्रयोग किए जाते हैं। फिर भी व्यवहार में अन्य विभक्तियो से यह अपना काम स्वतंत्र करती है, इसी लिए यह आठवीं विभक्ति कही गई है, इसे सम्बोधन भी कहते हैं।

सूत्रकार ने सक्षेप से कारक-प्रकरण का दिग्दर्शन कराया है। इसका वितृस्त वर्णन शाकटायन आदि व्याकरण ग्रन्थो में देखना चाहिए।

छद्मस्थ और केवली-ज्ञेय का विषय

मूल—अट्ठ ठाणाइं छउमत्थे णं सव्वभावेणं ण जाणइ, न पासइ, तं जहा—धम्मत्थिकायं जाव गंधं, वायं।

एयाणि चेव उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली जाणइ, पासइ, जाव गंधं, वायं ॥२१॥

छाया—अष्ट स्थानानि छद्मस्थः सर्वभावेन न जानाति, न पश्यति, तद्यथा—धर्मास्तिकायं यावद् गन्धं, वातम्।

एतान्येव उत्पन्नज्ञानदर्शनधरोऽर्हन् जिनः केवली जानाति, पश्यति, यावद् गन्धं वातम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आठ स्थानों को छद्मस्थ आत्मा सर्व प्रकार से न जानता है और न ही देखता है, यथा—धर्मास्तिकाय से लेकर गन्ध और वायु तक आठ पदार्थो को।

इन्हीं धर्मास्तिकाय यावत् गन्ध और वायु के स्वरूप को उत्पन्न ज्ञान दर्शन के धारक अर्हन्, जिन और केवली सर्वतोभावेन जानते और देखते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में विभक्तियों का वर्णन किया गया है। विभक्तियुक्त भाषा अर्थात् श्रुत की आवश्यकता छद्मस्थ तक ही रहती है, छद्मस्थ अवस्था को पार करते ही महासाधक सर्वज्ञ हो कर बिना श्रुतज्ञान के ही सब कुछ जानने मे समर्थ हो जाता है। अतः प्रस्तुत सूत्र में छद्मस्थ की ज्ञान-सीमा और केवली भगवान की अनन्तज्ञानवत्ता का वर्णन किया गया है, जैसे कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अशरीरी आत्मा तथा परमाणुपुद्गल, शब्द, गन्ध और वायु। इन मे से पहले चार पदार्थ अरूपी एवं अमूर्त हैं, और अन्तिम चार पदार्थ रूपी एवं मूर्त हैं। छद्मस्थ जीव इन आठ का प्रत्यक्ष सर्वतोभावेन नहीं कर सकता है, भले ही वह अणुवीक्षणयन्त्र का प्रयोग कर ले।

अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान इन आठ पदार्थों का यत्किंचित् प्रत्यक्ष तो कर सकते है, किन्तु सर्वभाव से वे भी इनका प्रत्यक्ष करने मे असमर्थ ही हैं। केवलज्ञानी ही इन को सर्वभाव से जानता और देखता है।

आयुर्वेद के आठ रूप

मूल—अट्ठविहे आउवेए पण्णत्ते, तं जहा—कुमारमिच्चे, कायतिगिच्छा, सालाई, सल्लहत्ता, जंगोली, भूयवेज्जा, खारतंते, रसायणे ॥२२।

छाया—अष्टविधः आयुर्वेदः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—कौमारभृत्यं, कायचिकित्सा, शालाक्यं, शल्यहत्यं, जंगोली, भूतविद्या, क्षारतन्त्रं, रसायनम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आयुर्वेद आठ प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—कुमारों की चिकित्सा का शास्त्र, काय-चिकित्सा, कण्ठ से ऊपर के रोगों की चिकित्सा, शल्योद्धरण, सर्प आदि के दंश की चिकित्सा, भूत, यक्षादि के निग्रह की चिकित्सा, वीर्य वृद्धि बताने वाला शास्त्र, रसायन-चिकित्सा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में छद्मस्थ और अछद्मस्थ की ज्ञान-विस्तार-सीमा का वर्णन किया गया है, लौकिक क्षेत्र मे ज्ञानाधार शरीर है और उस की रचना में पूर्वोक्त आठों पदार्थ कारण हैं। शरीरस्थ आत्मा तभी छद्मस्थावस्था से ऊपर उठ कर ज्ञान का विस्तार कर सकता है जब वह स्वस्थ हो, अस्वस्थ शरीर में ज्ञान-विस्तार की शक्ति का विकास नही हो सकता। शारीरिक स्वस्थता का विधायक शास्त्र आयुर्वेद को ही माना गया है, अत: प्रस्तुत मूत्र में शास्त्रकार आयुर्वेद के आठ अंगो का परिचय देते हैं। जिस शास्त्र मे शरीर को नीरोग और पुष्ट रखने का मार्ग बताया गया है, उसे आयुर्वेद कहते है अथवा जो जीवन-तत्त्व को जानता है और उस की रक्षा का उपाय भी बताता है, उसे आयुर्वेद कहा जाता है। दूसरे शब्दो में चिकित्सा-शास्त्र को आयुर्वेद कहते हैं। चिकित्सा शास्त्र के जितने भी प्रकार हैं, उन सब का अन्तर्भाव उक्त आठ प्रकारों में ही हो जाता है। उन का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है, जैसे कि—

१. **कुमारभृत्य**—जिस शास्त्र मे सब तरह के बाल-रोगो का निदान, क्षीर-दोष का सशोधन, रोगों का उपशमन, बच्चों के भरण-पोषण के लिए कौन सी औषधि, कितने परिमाण में कितने समय के बाद देनी चाहिए, इन सब बातो का वर्णन हो, उसे "कुमारभृत्य चिकित्साशास्त्र" कहा गया है।

२. **कायचिकित्सा**—ज्वर, प्रमेह, अतिसार, रक्तविकार, शोथ अर्थात् सूजन, उन्माद, कुष्ठ इत्यादि व्याधियों को दूर करने का विधि-विधान बताने वाला चिकित्सा शास्त्र।

३. शालाक्य—गले से ऊपर कान, आंख, नाक, मुह आदि अवयवों की व्याधिया—जिनकी चिकित्सा के लिए सलाई जैसे उपकरणों की आवश्यकता पड़ती हो, उसका ज्ञान कराने वाले शास्त्र को 'शालाक्य-तन्त्र' कहा जाता है।

४. शल्यहत्या—किसी के शरीर मे तिनका, लकडी, पत्थर, धूल, लोह, हड्डी, कांटा इत्यादि निमित्तों से उत्पन्न हुई अंगपीडा को दूर करने के उपाय बताने वाले चिकित्सा-शास्त्र को 'शल्य-हत्या' कहा गया है।

५. जंगोली—विषनाशक औषध विशेष को जंगोली कहा जाता है। जिस चिकित्सा-शास्त्र में सांप, बिच्छू आदि के विष को दूर करने के उपाय, अथवा सखिया, मीठा तेलिया, अफीम इत्यादि से विषाक्त शरीर से विष उतारने के उपाय अथवा जहर को मारने के उपाय वर्णित हो, वह चिकित्सा शास्त्र जंगोली कहलाता है।

६. भूतविद्या—जिस शास्त्र में भूत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, देव, असुर आदि के द्वारा अभिभूत व्यक्ति को शान्ति और स्वस्थता के लिए विद्या-प्रयोग करने की रीति-नीति या उपाय करने का ढंग बतलाया गया हो उसके अनुसार उसका उपचार करना 'भूतविद्या' कहलाती है।

७. क्षारतंत्र—इस शास्त्र मे वीर्यवृद्धि के उपाय बतलाए गए हैं। वीर्य के क्षरण को क्षार कहते है। जिस ग्रन्थ मे इस विषय का वर्णन हो उसे क्षारतंत्र कहते है। सुश्रुत आदि ग्रन्थों मे इसे बाजीकरण तत्र कहा जाता है। उसका भी अर्थ यही है कि जिस मनुष्य का वीर्य क्षीण हो गया है वीर्य बढ़ाकर उसे हृष्ट-पुष्ट करना। जो पुरुष होकर नामर्द या नपुंसक हो जाते है, उनका उपचार इसी तन्त्र के आधार से किया जाता है।

८. रसायन—रस का अर्थ है अमृत और आयन का अर्थ है प्राप्ति, अर्थात् जिससे अमृत की प्राप्ति हो, उसे रसायन कहते है। रसायन के प्रयोग से बुढ़ापा जल्दी नही आता, बुद्धि बढ़ती है और आयु की गति ठीक चलती है तथा रोगो का अपहरण होता है। रसायन के निर्माण और प्रयोग की विधि बतान वाला शास्त्र रसायन-तन्त्र कहलाता है।

आज ऐलोपैथिक चिकित्सा के विस्तार और उसकी सद्यः प्रभावशीलता को देख कर प्रायः लोग कहने लग गए हैं कि भारतीय आयुर्वेद चिकित्सा अपूर्ण है, परन्तु चिकित्सा-शास्त्र के अंगो का उपर्युक्त विभाग यह प्रमाणित करता है कि भारतीय आयुर्वेद किसी युग मे पूर्ण समर्थ एवं सर्वतोमुखी चिकित्सा के विस्तार से पूर्ण था, परन्तु विदेशी आक्रमणो ने उस विद्या के ज्ञाताओं को नष्ट कर दिया, उसके ग्रन्थो को जलाकर भस्मसात् कर दिया, अतः वह नष्ट-सा हो गया है। यदि उसके उपर्युक्त आठो अंगों का पुनः प्रचार-प्रसार और विश्लेषण हो सके, तो आज भी वह सभी चिकित्सा-पद्धतियो से श्रेष्ठ प्रमाणित हो सकता है।

आठ-आठ महिषियों और महाग्रहों वाले इन्द्र

मूल—सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अट्ठ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पडमा, सिवा, सई, अंजू, अमला, अच्छरा, णवमिया, रोहिणी।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अट्ठ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—कण्हा, कण्हराई, रामा, रामरक्खिया, वसू, वसुगुत्ता, वसुमित्ता, वसुंधरा।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो अट्ठ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो वेसमणस्स महारन्नो अट्ठ अग्गमहि-सीओ पण्णत्ताओ।

अट्ठ महग्गहा पण्णत्ता, तं जहा—चंदे, सूरे, सुक्के, बुहे, बहस्सई, अंगारे, सणिचरे, केऊ॥२३॥

छाया—शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अष्टाग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पद्मा, शिवा, शची, अञ्जू, अमला, अप्सरा, नवमिका, रोहिणी।

ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अष्टाग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णा, कृष्णराजी, रामा, रामरक्षिता, वसूः, वसुगुप्ता, वसुमित्रा, वसुन्धरा।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य अष्ट अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः।

ईशानस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य वैश्रमणस्य महाराजस्य अष्टाग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः।

अष्ट महाग्रहाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चन्द्रः, सूर्यः, शुक्र., बुधः, बृहस्पतिः, अङ्गारकः, शनैश्चरः, केतुः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—शक्रेन्द्र देवेन्द्र देवराज के आठ अग्रमहिषिया कथन की गई हैं, यथा—पद्मा, शिवा, शची, अञ्जू, अमला, अप्सरा, नवमिका, रोहिणी।

ईशान देवेन्द्र देवराज की आठ अग्रमहिषियां कथन की गई हैं, जैसे—कृष्णा, कृष्णराजी, रामा, रामरक्षिता, वसु, वसुगुप्ता, वसुमित्रा, वसुन्धरा।

शक्र देवेन्द्र देवराज के सोम लोकपाल की आठ अग्रमहिषियां कथन की गई हैं।

ईशान देवेन्द्र देवराज के वैश्रमण महाराज की आठ अग्रमहिषियां कथन की गई है।

आठ महाग्रह वर्णन किए गए हैं, यथा—चन्द्रमा, सूर्य, शुक्र, बुध, बृहस्पति, अंगारक अर्थात् मंगल, शनैश्चर और केतु।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में आयुर्वेद का वर्णन किया गया है और आयुर्वेद के द्वारा देवों की तरह निरुपक्रम आयु हो जाती है, अत: प्रस्तुत सूत्र में देव और देवियों के विषय मे निरूपण किया गया है। शक्र देवेन्द्र की आठ मुख्य देवियां हैं। प्रत्येक पट्टदेवी का १६०००, १६००० देवी परिवार है। इन के परिवार का वर्णन भगवती सूत्र के शतक १० वें और उद्देशक पाचवे तथा इनके पूर्वजन्म का वृत्तान्त ज्ञातासूत्र के धर्मकथा नामक दूसरे श्रुतस्कन्ध में विस्तार से वर्णित है।

ईशान देवेन्द्र की भी आठ पट्टदेविया है और शक्रेन्द्र के लोकपाल सोम महाराज की भी आठ अग्रमहिषियां हैं। ईशानेन्द्र के वैश्रमण नामक लोकपाल की भी आठ अग्रमहिषी देवियां है। देवियो के नामों का निर्देश मूलार्थ में किया जा चुका है।

आठ महाग्रह कथन किए गए है, जैसे कि चन्द्र, सूर्य, शुक्र, बुध, बृहस्पति, मंगल, शनिश्चर और केतु। यहां आठवें स्थान के अनुरोध से राहु का नामोल्लेख नहीं किया गया। किसी भी राशि में अधिक से अधिक आठ महाग्रह एकत्रित हो सकते हैं, नौ नहीं। सम्भव है इसी दृष्टि से यहा आठ ग्रहो के नाम दिए गए हो।

इन ग्रहो की गति से मनुष्य दु:ख-सुख प्राप्त करते है। यह वर्णन व्यावहारिक दृष्टि को लेकर कथन किया गया है। इस से ज्योतिषचक्र का वर्णन तथा गणित एवं फलित की भी ध्वनि निकलती है, क्योंकि ज्ञातासूत्र के आठवे अध्ययन में भगवान मल्लि जी के जन्मसमय के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि उनके जन्म के समय ये आठों ग्रह उच्च स्थान में आए हुए थे। जीवाभिगम सूत्र में यह पाठ विद्यमान है कि ग्रहो की गति के कारण से मनुष्य दु:ख-सुख प्राप्त करते है। वृत्तिकार भी लिखते है—"**महाग्रहाश्च मनुष्यतिरश्चामुपघातानुग्रहकारिणो**..... . ..''। ये महाग्रह मनुष्य और तिर्यञ्चो का उपघात और अनुग्रह करने वाले होते है।

इन ग्रहो का पूर्ण विवर्ण चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि आगमो से तथा ज्योतिष ग्रन्थों से जानना चाहिए।

आठ प्रकार की तृण-वनस्पति

मूल—अट्ठविहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता, तं जहा—मूले, कंदे, खंधे, तया, साले, पवाले, पत्ते, पुप्फे ॥२४॥

छाया—अष्टविधास्तृणवनस्पतिकायिका: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मूलं, कन्द:, स्कन्ध:, त्वक्, शाला, प्रवाल:, पत्रं, पुष्पम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आठ प्रकार की तृणवनस्पतिकाय वर्णन की गई है, जैसे—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र और पुष्प।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र के अन्तिमाश मे महाग्रहों का वर्णन किया गया है। महाग्रह अन्य प्राणियों के समान वनस्पतियों का भी उपघात एवं विकास करते हैं। सूर्य-चन्द्र का तो वनस्पतियों पर सीधा प्रभाव पड़ता है। सूर्योदय के साथ कमलों के विकास और चन्द्रोदय के साथ कुमुदों के खिल उठने की घटना हम प्रतिदिन देखते ही है, अत: सूत्रकार महाग्रहो के वर्णन के अनन्तर अब अष्टविध वनस्पतियो का वर्णन करते है। वनस्पतियों के आठ भेद हैं, जैसे कि—मूल अर्थात् जड़ें, कन्द अर्थात् उग कर सीधा बाहर आने वाला अकुर, स्कन्ध—वृक्ष का स्थूल भाग जहां से शाखाएं निकलती हैं, त्वक्—ऊपर की छाल, शाखाएं, प्रवाल अर्थात् कोपले, पत्र और पुष्प। ये आठ स्थूल वनस्पति के भेद दिखलाए गए है।

जिन वृक्षों मे फल और बीज नही होते, प्रस्तुत सूत्र मे उन वनस्पतियों का ही वर्णन किया गया है।[१] इसलिए फल और बीज रूप अगो का उल्लेख यहां नही किया गया।

चतुरिन्द्रिय संबन्धित संयम और असंयम

मूल—चउरिंदिया णं जीवा असमारभमाणस्स अट्ठविहे संजमे कज्जइ, तं जहा—चक्खुमयाओ सोक्खाओ अववरोवित्ता भवइ, चक्खुमएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ। एवं जाव फासामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, फासामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवइ।

चउरिंदिया णं जीवा समारभमाणस्स अट्ठविहे असंजमे कज्जइ, तं जहा—चक्खुमयाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवइ, चक्खुमएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवइ। एवं जाव फासामयाओ सोक्खाओ० ॥२५॥

छाया—चतुरिन्द्रियान् जीवान् असमारभमाणस्य अष्टविध: संयम: क्रियते, तद्यथा—चक्षुर्मयात् सौख्याद् अव्यपरोपयिता भवति, चक्षुर्मयेन दुखेन असंयोजयिता भवति, एवं यावत्स्पर्शमयात् सौख्याद् अव्यपरोपयिता भवति, स्पर्शमयेन दु:खेनासंयोजयिता भवति।

चतुरिन्द्रियान् जीवान् समारभमाणस्य अष्टविधोऽसंयम: क्रियते, तद्यथा—चक्षुर्मयात् सौख्याद् व्यपरोपयिता भवति, चक्षुर्मयेन दु:खेन संयोजयिता भवति। एवं यावत् स्पर्शमयात् सौख्यात्।

शब्दार्थ—चउरिंदिया णं जीवा—चतुरिन्द्रिय जीवो का, **असमारभमाणस्स**—समारम्भ न करने वाला, **अट्ठविहे**—आठ प्रकार का, **संजमे कज्जइ**—संयम करता है, **तं जहा**—

---

१ विशेष वर्णन के लिए देखिए—प्रज्ञापना सूत्र का प्रथम पद और भगवतीसूत्र का ग्यारहवां शतक।

जैसे, **चक्खुमयाओ सोक्खाओ**—चक्षु के सुख का, **अववरोवित्ता भवइ**—विनाश करने वाला नहीं होता, **चक्खुमएणं दुक्खेणं**—चक्षुसम्बन्धी दु:ख को, **असंजोएत्ता भवइ**—उत्पन्न नही करता, **एवं**—इसी प्रकार, **जाव**—यावत्, **फासामयाओ सोक्खाओ**—स्पर्शनेन्द्रियसम्बन्धी सुख का, **अववरोवेत्ता भवइ**—विनाश नही करता, **फासामएणं दुक्खेणं**—स्पर्शनेन्द्रियसम्बन्धी दु:ख को, **असंजोगेत्ता भवइ**—उत्पन्न नहीं करता।

चउरिंदिया णं जीवा—चतुरिन्द्रिय जीवों का, **समारभमाणस्स**—समारम्भ करने वाला, **अट्ठविहे असंजमे कज्जइ**—आठ प्रकार का असंयम करता है, **तं जहा**—यथा, **चक्खुमयाओ सोक्खाओ**—चक्षुसम्बन्धी सुख का, **ववरोवेत्ता भवइ**—विनाश करता है, **चक्खुमएणं दुक्खेणं**—चक्षुसम्बन्धी दु:ख का, **संजोगेत्ता भवइ**—उत्पन्न करने वाला होता है, **एवं जाव**—इसी प्रकार यावत्, **फासामयाओ सोक्खाओ**—स्पर्शनेन्द्रिय के सुख का विनाश करता है।

मूलार्थ—चतुरिन्द्रिय जीवो का समारम्भ अर्थात् हिंसा न करने वाला साधक आठ प्रकार का संयम करता है, जैसे—उनके चक्षुमय सुख का विनाश नहीं करता और चक्षुमय दु:ख को उत्पन्न नहीं करता। इसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय पर्यन्त तत्सम्बन्धी सुख का विनाश नही करता और तत्सम्बन्धी दु:ख को उत्पन्न भी नही करता।

चतुरिन्द्रिय जीवों का समारम्भ करने वाला व्यक्ति आठ प्रकार का असंयम करता है, जैसे—चक्षु सम्बन्धी सुख का नाश करता है और तत्सम्बन्धी दु:ख को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय पर्यन्त समझना चाहिए।

विवेचनिका—विकलेन्द्रिय जीव वनस्पतियो के आश्रय से ही रहते है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे चतुरिन्द्रिय जीवो की रक्षा करने से आठ प्रकार के सयम का तथा रक्षा न करने से आठ तरह के असंयम का निरूपण किया गया है। चतुरिन्द्रिय जीवों की चक्षु, घ्राण, जिह्वा और त्वचा ये चार इन्द्रिया होती है। उनके विषय मे सयम और असयम इस प्रकार होता है, जैसे कि—

१. चक्षुर्मय सुख से वियुक्त न करना सयम है।
२ चक्षुर्मय दु:ख से सयुक्त न करना सयम है।
३. घ्राणमय सुख से वियुक्त न करना सयम है।
४. घ्राणमय दु:ख से संयुक्त न करना सयम है।
५ जिह्वामय सुख से वियुक्त न करना सयम है।
६. जिह्वामय दु:ख से सयुक्त न करना सयम है।
७ स्पर्शमय सुख से वियुक्त न करना सयम है।
८ स्पर्शमय दु:ख से सयुक्त न करना सयम है।

चतुरिन्द्रिय संबन्धी आठ प्रकार का असंयम इस प्रकार है:—

१ चक्षुर्मय सुख से वियुक्त करना असंयम है।

२. चक्षुर्मय दु:ख से सयुक्त करना असयम है।

३ घ्राणमय सुख से वियुक्त करना असयम है।

४ घ्राणमय दु:ख से संयुक्त करना असयम है।

५. जिह्वामय सुख से वियुक्त करना असंयम है।

६. जिह्वामय दु:ख से सयुक्त करना असंयम है।

७. स्पर्शमय सुख से वियुक्त करना असंयम है।

८. स्पर्शमय दु:ख से सयुक्त करना असंयम हैं।

साराश यह है कि प्राणियो के लिए सुख की प्राप्ति का प्रयत्न और दु:ख के विनाश का यत्न ही संयम है। इससे विपरीत सुख का विनाश तथा दु:ख की प्राप्ति असंयम है। इन्द्रियो की रक्षा करना संयम है और उनकी रक्षा न करना असयम है। सयम और असयम जीवो की रक्षा और अरक्षा पर निर्भर है।

अष्ट-सूक्ष्म

मूल—अट्ठ सुहुमा पण्णत्ता, तं जहा—पाणसुहुमे, पणगसुहुमे, बीयसुहुमे, हरियसुहुमे, पुप्फसुहुमे, अंडसुहुमे, लेणसुहुमे, सिणेहसुहुमे ॥२६॥

छाया—अष्ट सूक्ष्माणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—प्राणसूक्ष्मं, पनकसूक्ष्मं, बीजसूक्ष्म, हरितसूक्ष्मं, पुष्पसूक्ष्मं, अण्डसूक्ष्मं, लेनसूक्ष्मं, स्नेहसूक्ष्मं।

शब्दार्थ—अट्ठ सुहुमा पण्णत्ता, तं जहा—आठ प्रकार के सूक्ष्म जीव कथन किए गए है, जैसे, **पाणसुहुमे**—प्राणीसूक्ष्म, **पणगसुहुमे**—निगोदसूक्ष्म, **बीयसुहुमे**—बीजसूक्ष्म, **हरियसुहुमे**—हरितसूक्ष्म, **पुप्फसुहुमे**—पुष्पसूक्ष्म, **अंडसुहुमे**—अण्डसूक्ष्म, **लेणसुहुमे**—लेनसूक्ष्म, **सिणेहसुहुमे**—स्नेहसूक्ष्म अर्थात् ओस, धुन्ध आदि सूक्ष्म।

मूलार्थ—आठ प्रकार के सूक्ष्म जीव कथन किए गए हैं, जैसे—प्राणिसूक्ष्म कुन्थु आदि। पनकसूक्ष्म-पांच प्रकार की नीलन-फूलन-निगोद। बीजसूक्ष्म, हरित-सूक्ष्म-वनस्पति आदि, पुष्प-सूक्ष्म, अण्डसूक्ष्म, लयन-कीटिका नगर आदि, स्नेह सूक्ष्म-ओस, धुन्ध आदि।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे वर्णित सयम और असयम सूक्ष्म जीवो के आश्रित करके भी होता है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे जिन जीवों की गणना की गई है, वे स्थूल होते हुए भी

अपेक्षाकृत सूक्ष्म है। बहुत मिले हुए होने के कारण या छोटे परिमाण वाले होने के कारण जो जीव दृष्टि में नहीं आते या कठिनता से दृष्टिगोचर होते हैं, व्यवहार दृष्टि से उन्हें भी सूक्ष्म कहा जाता है। उनका विवरण निम्नलिखित है, जैसे—

१ **प्राणिसूक्ष्म**—जो त्रस प्राणी चलते हुए ही दीखते है, स्थिर होने पर नहीं, वे प्राणिसूक्ष्म कहलाते है, जैसे कुन्थु आदि।

२. **पनकसूक्ष्म**—वर्षाकाल में भूमि, काठ आदि पर होने वाली पांच रगों की लीलन-फूलन हो जाया करती है, उसे पनक-सूक्ष्म अर्थात् निगोद भी कहते हैं।

३. **बीजसूक्ष्म**—इसका अर्थ होता है बीज का मुखमूल, जिससे अकुर उत्पन्न होता है। इसी को लोक मे तुषमुख भी कहते हैं।

४ **हरितसूक्ष्म**—नवीन उत्पन्न हुई वनस्पति जो कि पृथ्वी के समान वर्णवाली हो, उसे हरितकाय सूक्ष्म कहते हैं।

५. **पुष्पसूक्ष्म**—जो फूल अति छोटे होते हैं, उन्हें पुष्पसूक्ष्म कहते हैं, जैसे कि बड़, शिंशप आदि के फूल।

६. **अंडसूक्ष्म**—जो अतिसूक्ष्म अंडे होते है उन्हे अण्डसूक्ष्म कहते है, जैसे कि—कीडी, छिपकली, मक्खी, गिरगिट आदि के अडे अत्यन्त सूक्ष्म होते है।

७. **लेनसूक्ष्म**—लेन शब्द का अर्थ होता है कीडियो का भवन—चींटियो की बाम्बी। उसमें अन्य सूक्ष्म जीव भी रहते हैं। लेन के स्थान पर लयन शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। लयन में रहने वाले जीव लयन सूक्ष्म कहलाते है।

८ **स्नेहसूक्ष्म**—ओस, धुन्ध इत्यादि सूक्ष्म जल को स्नेहसूक्ष्म कहा जाता है। इन सूक्ष्म जीवों की उपयोग-पूर्वक यतना करने से संयम की वृद्धि होती है और इनकी रक्षा न करने से असंयम बढ़ता है। अत· अहिंसा-व्रतधारी साधक को इन सूक्ष्म जीवो की रक्षा का प्रयत्न अवश्य करते रहना चाहिए।[१]

चक्रवर्ती भरत के मोक्षगामी वंशज

मूल—भरहस्स णं रन्नो चाउरंत चक्कवट्टिस्स अट्ठ पुरिसजुगाइं अणुबद्धं, सिद्धाइं, जाव सव्वदुक्खप्पहीणाइं, तं जहा—आदिच्चजसे, महाजसे, अइबले, महाबले, तेयवीरिये, कत्तवीरिए, दंडवीरिए, जलवीरिए ॥२७॥

छाया—भरतस्य खलु राजश्चातुरन्तचक्रवर्तिनोऽष्ट पुरुषयुगानि अनुबद्धं सिद्धानि,

---

१ विशेष वर्णन के लिए देखिए दशवैकालिक सूत्र ८ । १५

यावत् सर्वदुःखप्रहीणानि, तद्यथा—आदित्ययशः, महायशः, अतिबलः, महाबलः, तेजोवीर्यः, कार्त्तवीर्यः, दण्डवीर्यः, जलवीर्यः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चातुरन्त चक्रवर्ती महाराज भरत के क्रमस्थित आठ पुरुष-युग निरन्तर सिद्ध हुए यावत् सब दुःखों से रहित हुए, जैसे कि—आदित्ययश, महायश, अतिबल, महाबल, तेजोवीर्य, कार्त्तवीर्य, दण्डवीर्य और जलवीर्य।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति का वर्णन किया गया है। असंयम-निवृत्ति और सयम-प्रवृत्ति का अंतिम परिणाम मोक्ष है, अतः इस सूत्र मे प्रतिपादन किया गया है कि महाराज भरत चक्रवर्ती के बाद क्रमबद्ध आठ पट्टधर महाराजाओं ने संयम और तप से सिद्धगति को प्राप्त किया। उनके पवित्र नाम है—आदित्ययश, महायश, अतिबल, महाबल, तेजोवीर्य, कार्त्तवीर्य, दण्डवीर्य और जलवीर्य।

कुछ आचार्यो के अभिमत मे नामों का भेद दिखाई देता है, जैसे कि—

''राया आइच्चजसे महाजसे अइबले अ बलभद्दे।
बलवीरिय कत्तवीरिए जलवीरिए दडवीरिए य॥''

इस गाथा के अनुसार मोक्षगामी राजाओं के नाम थे—आदित्ययश, महायश, अतिबल, बलभद्र, बलवीर्य, कार्त्तवीर्य, जलवीर्य और दण्डवीर्य। ये आठ 'पुरुष-युग' कहलाए। वे आठ महाराज क्रमशः सिद्ध हुए यावत् सब दुखो से रहित हुए। जिनका कोई कार्य करना शेष नही रह जाता, उन्हें कृतकृत्य या सिद्ध कहते हैं। 'जाव' पद से **बुद्धाइं, मुक्काइं, परिनिव्वुडाइं**, पद ग्रहण किए जाते हैं। जो केवल ज्ञान रूपी आलोक से आलोकित हो गए हैं उन्हें बुद्ध कहते है। जो कर्मो से सर्वथा मुक्त हो गए हैं, वे मुक्त कहलाते हैं। समस्त कर्म कृत विकारो से जो शीतलीभूत हो गए है, वे परिनिवृत्त कहलाते है। जिनके सर्व दुःख क्षय हो गए है, उन्हें सर्वदु.ख-प्रहीण कहा जाता है। ये सब सिद्धो के विशेषण है। सयम और तप का अतिम परिणाम सिद्धत्व-प्राप्ति ही है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के गण और गणधर

मूल—पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणियस्स अट्ठ गणा, अट्ठ गणहरा होत्था, तं जहा—सुभे, अज्जघोसे, वसिट्ठे, बंभयारी, सोमे, सिरिधरे, वीरिए, भद्दजसे॥२८॥

छाया—पार्श्वस्य अर्हतः पुरुषादानीयस्य अष्ट गणाः, अष्टगणधराः अभवन्, तद्यथा—शुभः, आर्यघोषः, वसिष्ठः, ब्रह्मचारी, सोमः, श्रीधरः, वीर्यः, भद्रयशः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पुरुषादानीय अर्थात् पुरुषों में पूज्य अरिहन्त भगवान पार्श्वनाथ के आठ गण थे और आठ गणधर थे, यथा—शुभ, आर्यघोष, वशिष्ठ, ब्रह्मचारी, सोम, श्रीधर, वीर्य और भद्रयश।

विवेचनिका—संयमवानो के अधिकार को लक्ष्य मे रखकर प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकर्त्ता ने संयमवान गण और गणधरो का उल्लेख किया है। २३ वें तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ के आठ गण और आठ ही गणधर थे। उनके पुनीत नाम हैं—शुभ, आर्यघोष, वशिष्ठ, ब्रह्मचारी, सोम, श्रीधर, वीर्य और भद्रयश।

सूत्रकार ने भगवान पार्श्वनाथ के साथ—"**पुरिसादाणियस्स**" विशेषण दिया है, जिसका भाव है कि भगवान पार्श्वनाथ जी पुरुषो मे सबसे अधिक उपादेय थे। '**पुरुषाणां मध्ये-आदीयत इत्यादानीय उपादेय इत्यर्थः**"—पुरुषों द्वारा उपादेय का अर्थ है मानव जाति के मान्य महापुरुष।

गण शब्द का अर्थ है—एक जैसी क्रिया करने वाले सर्वविरति तथा एक जैसी वाचना लेने वाले साधुओ का समुदाय, जिसे कक्षा भी कहते है।

गणधर का अर्थ है—तीर्थकर भगवान के प्रधान शिष्य। यद्यपि आवश्यक की वृत्ति मे भगवान पार्श्वनाथ के दस गणधर माने गए है और कहा गया है कि उनमे दो गणधर अल्पायु वाले हुए है। इसी कारण उनकी गणना यहां नहीं की गई, किन्तु यह समाधान युक्ति-सगत नही है, क्योकि स्थानाग, समवायांग और कल्प इन तीन सूत्रो मे गणधरो की सख्या आठ ही बताई गई है। वृत्ति से आगम प्रमाण बलवान होता है, अत· उनके गणधरो की सख्या आठ ही समझनी चाहिए।

अष्टविध-दर्शन

मूल—अट्ठविहे दंसणे पण्णत्ते, तं जहा—सम्मदंसणे, मिच्छद्दंसणे, सम्मामिच्छदंसणे, चक्खुदंसणे जाव केवलदंसणे, सुविणदंसणे॥२९॥

छाया—अष्टविधं दर्शनं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शनं, सम्यग्-मिथ्यादर्शनं, चक्षुर्दर्शनं, यावत्केवलदर्शनं, स्वप्नदर्शनम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दर्शन आठ प्रकार का वर्णन किया गया हे, जैसे—सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन, सम्यग्-मिथ्यादर्शन अर्थात् मिश्रदर्शन, चक्षुदर्शन से लेकर केवलदर्शन तक और स्वप्नदर्शन।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे गणधरो का वर्णन किया गया है। वे सभी गणधर सम्यग्दर्शन से सपन्न होते है, अत. प्रस्तुत सूत्र में आठ दर्शनों का वर्णन किया गया है।

दर्शन शब्द के अनेक अर्थ है, जैसे कि नेत्रो के द्वारा होने वाला ज्ञान, किसी देवता या महापुरुष का साक्षात्कार, वह शास्त्र-विद्या जिससे संसार के सभी पदार्थो के कार्य-कारण भाव के सम्बन्ध एवं तत्त्वो आदि का बोध हो। आख, बुद्धि एव धर्म को भी दर्शन कहा जाता है। इन्ही बातों से सम्बन्धित आठ प्रकार के दर्शनों का प्रस्तुत सूत्र में उल्लेख किया गया है, जैसे कि—

१. **सम्यग्दर्शन**—सम्यक् तत्त्वो पर दृढ़ निश्चय ही सम्यग्दर्शन कहलाता है अथवा संसार के प्रत्येक पदार्थ का यथार्थ ज्ञान।

२. **मिथ्यादर्शन**—वस्तु-तत्त्व से विपरीत श्रद्धान एव भ्रम-युक्त ज्ञान।

३. **मिश्रदर्शन**—वस्तु-तत्त्व का कुछ सत्य और कुछ मिथ्या श्रद्धान एवं परिज्ञान।

४. **चक्षुदर्शन**—नेत्रो के द्वारा वस्तु का दर्शन होना।

५. **अचक्षुदर्शन**—अन्य इन्द्रियों के द्वारा वस्तु का ज्ञान होना।

६ **अवधिदर्शन**—इन्द्रियों और मन के अतिरिक्त रूपी पदार्थों का प्रत्यक्ष होना।

७ **केवलदर्शन**—रूपी और अरूपी सभी पदार्थो का यथार्थ साक्षात्कार होना।

८. **स्वप्नदर्शन**—निद्रावस्था में चिन्त्य-अचिन्त्य पदार्थो का प्रत्यक्ष होना।

उपर्युक्त आठ प्रकार के दर्शनो मे से पहले तीन दर्शन श्रद्धा से संबन्धित है। विश्व के सभी मत-मतान्तर एवं दर्शनशास्त्र विषयक निष्ठाओ का अतर्भाव उक्त तीनों में हो जाता है। चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन दो ये सामान्य इन्द्रिय-जन्य दर्शन के वाचक है। अवधिदर्शन और केवलदर्शन का सम्बन्ध आध्यात्मिक शक्ति से है। जिस महासाधक ने अपनी आध्यात्मिक शक्तियो का विकास कर लिया है वही अवधिदर्शन और केवलदर्शन प्राप्त कर सकता है। स्वप्नदर्शन का अतर्भाव यद्यपि अचक्षुदर्शन मे ही हो जाता है, तथापि उपाधि भेद से इसकी गणना पृथक् की गई है।

जब तक साधक आत्मा सम्यग्दर्शन सम्पन्न नही होता, तब तक वह निर्वाणपद के योग्य नहीं हो सकता। आत्मविकास एवं कल्याण-परम्परा का यदि कोई मुख्य साधन है, तो वह सम्यग्दर्शन तथा केवल दर्शन ही है।

औपमिक काल

मूल—अट्ठविहे अद्धोवमिए पण्णत्ते, तं जहा—पलिओवमे, सागरोवमे, उस्सप्पिणी, ओसप्पिणी, पोग्गलपरियट्टे, तीयद्धा, अणागयद्धा, सव्वद्धा ॥३०॥

छाया—अष्टविधमद्धौपम्यं प्रज्ञप्तं तद्यथा—पल्योपमं, सागरोपमं, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, पुद्गलपरिवर्तः, अतीतद्धा, अनागताद्धा, सर्वाद्धा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—उपमा द्वारा समझाया जाने वाला काल आठ प्रकार का है, यथा—पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, पुद्गलपरावर्त्त, अतीताद्धा, अनागताद्धा और सर्वाद्धा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अष्टविध दर्शन का वर्णन किया गया है। दर्शन का सम्बन्ध काल से भी सर्वमान्य है, क्योंकि काल-विशेष में ही आत्मा वस्तु-प्रत्यक्ष करता है। अवधि-दर्शन एवं केवल-दर्शन द्वारा साधक ऐसे सुदूर भविष्य में स्थित पदार्थो का भी दर्शन कर सकता है जिनकी गणना सामान्य गणित नही कर सकता। सामान्य-गणित की प्रक्रियाओं से परे काल की जो महासत्ता है, जहा तक अवधि-दर्शन एवं केवल-दर्शन की ही पहुंच हो सकती है, शास्त्रकार अब उस औपमिक काल का परिचय देते है।

जिस काल की गणना बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकती, उसे उपमा के द्वारा जाना जा सकता है। पल्य की उपमा से जिस काल को नापा जाता है, उसे पल्योपम कहते है।[1] दस करोड़ा-करोड़[2] पल्यो का एक सागरोपम होता है। दस करोडाकरोड़ सागरोपम का एक उत्सर्पिणी काल होता है और इतने ही लम्बे काल को अवसर्पिणी काल कहते है। अनत उत्सर्पिणी और अनंत अवसर्पिणी के कालमान को पुद्गलपरावर्तन कहते है। अनत-पुद्गलपरावर्तन अतीत काल मे बीत चुके है और अनंत पुद्गलपरावर्तन-काल भविष्यत् के गर्भ मे है। तीन काल के समयों को मिला कर सर्वाद्धा बनता है। यह काल-चक्र सदाकाल से बीत रहा है और अनंत काल तक बीतता ही रहेगा। अतीत काल अनादि-सान्त है, अनागत काल सादि, अनत और वर्तमान सादि-सान्त है। ससार के सभी जीव और अजीव पदार्थ इस अनन्तानन्त काल-चक्र से प्रभावित एवं सम्बद्ध हैं और रहेगे।

श्री अरिष्टनेमि जी की युगान्तकृद् भूमि

मूल—अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स जाव अट्ठमाओ पुरिसजुगाओ जुगंतकरभूमी दुवासपरियाए अंतमकासी॥३१॥

छाया—अर्हतोऽरिष्टनेमेर्यावद् अष्टमपुरुषयुग युगान्तकरभूमिर्द्विवर्षपर्याये अन्तमाकार्षुः।

---

१ सात दिन की अवस्था वाले बालक के बालो को इतन छोटे-छोट भागो मे बाट दिया जाए कि फिर उसके टुकडे न हो सके, ऐसे केश-खण्डो से यदि एक योजन लम्बे, एक योजन चौडे और एक योजन गहरे गड्ढे को ठूस-ठूस कर भर दिया जाए और फिर उस गड्ढे मे से सौ-सौ वर्ष क अन्तर से एक-एक केश-खण्ड को निकाला जाए—जितने समय मे वह गड्ढा खाली हो सकेगा, उतने काल को सास्कृतिक भाषा मे पल्योपम कहा जाता है।

२ करोड की सख्या को करोड से गुणा करने पर प्राप्त होने वाले गुणन-फल को करोडाकरोड या कोडा-कोड़ी कहते है।

शब्दार्थ—अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स—अरिहन्त अरिष्टनेमिनाथ से, **जाव अट्ठमाओ पुरिसजुगाओ**—क्रमस्थित आठवें युग-पुरुष पर्यन्त, **जुगंतकरभूमी**—निरन्तर निर्वाण प्राप्त करने वालों का काल था, तथा, **दुवासपरियाए**—उन की केवलज्ञानपर्याय के दो वर्ष होने पर, **अंतमकासी**—मुनि निर्वाण प्राप्त करने लगे।

मूलार्थ—अरिहन्त अरिष्टनेमिनाथ भगवान के आठ शिष्य-प्रशिष्यों तक क्रमशः युगान्तकर-भूमि काल था और भगवान की केवलपर्याय के दो वर्ष पीछे मुनि मोक्ष जाने लगे।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में काल का वर्णन किया गया है। उसी काल के अधिकार को लेकर प्रस्तुत सूत्र मे दो प्रकार की भूमि का वर्णन किया गया है।

प्रत्येक तीर्थंकर के शासन मे दो तरह की भूमि होती है—एक युगातकर भूमि और दूसरी पर्यायान्तकर भूमि। तीर्थंकर के निर्वाण होने के बाद जब तक सर्वविरति महापुरुष मोक्ष-पद प्राप्त करते रहते हैं, तब तक उसे युगान्तकर भूमि नहीं कहते, किन्तु जिस युग-प्रवर्तक आचार्य के निर्वाण होने के बाद अन्य कोई आचार्य निर्वाण प्राप्त न कर सके, उसे युगान्तकर भूमि कहते हैं। भगवान अरिष्टनेमि से लेकर आठवी पीढ़ी तक आचार्य केवल-ज्ञान प्राप्त करके मोक्षगामी होते रहे। उनके बाद अन्य कोई आचार्य या उनके शासन मे रहने वाले साधु-साध्वी वर्ग मे से किसी ने भी निर्वाण-पद प्राप्त नहीं किया।

पर्यायान्तकर भूमि से अभिप्राय है कि जिस किसी तीर्थंकर ने जब से तीर्थ-स्थापन की है, तब से लेकर जितने समय के बाद उस तीर्थ मे से निर्वाण प्राप्त होने लगे, उस काल को पर्यायान्तकर काल कहते हैं। भगवान अरिष्टनेमि के केवल-ज्ञान प्राप्त करने के दो वर्ष बाद से उनके शासन में सर्वविरति निर्वाण प्राप्त करने लगे, इसी को उनकी पर्यायान्तकर-भूमि कहा गया है। भूमि का अर्थ यहा काल-विशेष है।

यद्यपि अष्टम स्थान के अनुरोध से केवल युगान्तकर-भूमि का ही वर्णन होना चाहिए था, क्योंकि उसमे आठ आचार्य मोक्ष प्राप्त करते हैं, परन्तु सूत्रकार ने सम्बद्ध विषय होने से पर्यायान्तकर भूमि का भी साथ ही वर्णन कर दिया है।

श्रमण महावीर द्वारा दीक्षित आठ राजा

मूल—समणेणं भगवया महावीरेणं अट्ठ रायाणो मुंडे भवेत्ता अगाराओ अणगारियं पव्वाविया, तं जहा—

वीरंगय वीरजसे, संजय एणिज्जए या रायरिसी।
सेय सिवे उदायणे, तह संखे कासिवद्धणे॥३२॥

छाया—श्रमणेन भगवता महावीरेण अष्टौ राजानो मुण्डान् भावयित्वा आगाराद्

अनगारितां प्रव्राजिता:, तद्यथा—

वीराङ्गदो वीरयश:, सञ्जय: एणेयकश्च राजर्षि:।
श्वेत: शिव: उदायन: तथा शङ्ख: काशिवर्द्धन:॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने आठ राजाओं को मुण्डित कर गृहस्थ धर्म से अनगार धर्म मे दीक्षित किया, उन राजाओं के नाम इस प्रकार हैं—वीरागद, वीरयश, सञ्जय, राजर्षि एणेयक, श्वेत, शिव, उदायन और काशी नगर का संवर्द्धक राजा शंख।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे भगवान् अरिष्टनेमि के मोक्ष-गामी आठ शिष्य-प्रशिष्यों का परिचय दिया गया है। इस प्रकार अरिहन्त-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत प्रस्तुत सूत्र मे भगवान महावीर के शिष्य उन आठ राजाओं का वर्णन किया गया है जिनको उन्होंने स्वय दीक्षित किया था और जिन्होंने गृहस्थवास का परित्याग करके भगवान के पास प्रव्रज्या ग्रहण की थी तथा संयम और तप से आत्मा को भावित करके परमपद को प्राप्त किया था। उनके पुनीत नाम है—वीरागद, वीरयश, संजय, राजर्षि एणेयक, श्वेत, शिव, उदायन और शख।

राजर्षि एणेयक के विषय में वृत्तिकार लिखते है:—**एणेयको गोत्रत:, स च केतकार्द्धजनपद श्वेताम्बी नगरी राजस्य प्रदेशिनाम्न: श्रमणोपासकस्य निजक: कश्चिद् राजषि.।**'' अर्थात् एणेयक यह गोत्रपरक नाम है, एणेयक केतकार्ध प्रदेश की राजधानी श्वेताम्बी नगरी के राजा प्रदेशी का कोई निकट-बन्धु होना चाहिए।

श्वेत राजा का वर्णन राजप्रश्नीय सूत्र में किया गया है। शिवराजर्षि का वर्णन भगवती सूत्र मे वर्णित है। तथा उदायन राजा का उल्लेख भी भगवती सूत्र में ही दिया गया है। काशी देश के सवर्द्धक शख राजा के विषय में विचारणीय बात यह है कि अन्तकृत सूत्र मे अलक्ष नामक राजा का वर्णन छठे वर्ग मे मिलता है। उनकी दीक्षा भगवान के कर-कमलो के द्वारा हुई, वे अंतकृत् केवली होकर निर्वाण-पद को प्राप्त हुए। हो सकता है कि उन्ही का दूसरा नाम शख हो।

काशी देश का दूसरा राजा मल्लि भगवान के द्वारा दीक्षित हुआ था। इस प्रकरण मे उसकी सगति नहीं बैठती। दोनो राजा काशी देश के अधिपति हुए हैं। दोनो दीक्षित होकर सिद्ध हुए है, अत: इस स्थान मे शख से तात्पर्य अलक्ष राजा से ही हो सकता है।

अष्टविध आहार

मूल—अट्ठविहे आहारे पण्णत्ते, तं जहा—मणुण्णे असणे, पाणे, खाइमे, साइमे, अमणुण्णे जाव साइमे ॥ ३३ ॥

छाया—अष्ट्विध आहारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मनोज्ञमशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमं, अमनोज्ञं यावत् स्वादिमम्।

शब्दार्थ—अट्ठविहे—आठ प्रकार का, **आहारे पण्णत्ते**—आहार कथन किया गया है, **तं जहा**—जैसे कि, **मणुण्णे**—मनोज्ञ अर्थात् सुन्दर, **असणे**—भोजन, **पाणे**—पान, अर्थात् पेय पदार्थ, **खाइमे**—खादिम—अन्न वर्जित अन्य फल, औषध आदि, **साइमे**—स्वादिम—पान-सुपारी आदि, **अमणुण्णे**—अमनोज्ञ अर्थात् असुन्दर, **जाव साइमे**—यावत् स्वादिम—पान-सुपारी आदि।

मूलार्थ—आठ प्रकार का आहार वर्णन किया गया है, जैसे कि—मनोज्ञ अशन, पान, खादिम, स्वादिम, अमनोज्ञ-अशन, पान, खादिम, स्वादिम।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे भगवान महावीर द्वारा दीक्षित साधु-समुदाय का वर्णन किया गया है, साधुत्व की सर्वोत्तम अवस्था वही है जिसमे साधु-जीवन के लिए अनिवार्य आहार के प्रति समभाव रहता है, अतः सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र मे प्रिय और अप्रिय आहार की अष्टविधता का वर्णन करते है।

जो आहार भोजन करने वाले की इच्छा के अनुकूल हो, वह मनोज्ञ और जो इच्छा के प्रतिकूल हो वह आहार अमनोज्ञ होता है। जो अशन, पेय, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ शुभ वर्ण, शुभ गन्ध, शुभरस और शुभ स्पर्शयुक्त हों वे इष्ट और इनसे विपरीत भोज्य एव वस्तुओ को अनिष्ट कहा जाता है।

'अशन' वे पदार्थ कहलाते हैं, जो अन्न से निर्मित हों और चबा कर खाए जाते है।

'पान' वे दूध, शर्बत, पानी आदि पदार्थ हैं जिनका प्रयोग पीने के रूप मे ही किया जाता है।

'खादिम' उन पदार्थो को कहा गया है, जिनका निर्माण अन्न से न हो और जो कुछ चबा कर खाए जाते हों (जैसे फल आदि)।

'स्वादिम' पान, सुपारी, लौग, इलायची आदि वे पदार्थ स्वादिम कहलाते है जिन्हे मुख-शुद्धि के लिए बहुत देर तक चबाया या चूसा जाता है।

इस संसार मे जितने भी जीव है वे सब आहार के ही आश्रित हैं। इसकी विशेष जानकारी के लिए जिज्ञासुओं को प्रज्ञापना सूत्र के आहारपद का और सूत्रकृताग के आहार-परिज्ञा नामक अध्ययन का स्वाध्याय करना चाहिए।

वस्तुतः प्रिय और अप्रिय की कोई परिभाषा नहीं है, क्योंकि भोज्य पदार्थो की प्रियता और अप्रियता खाने वाले की रुचि पर निर्भर होती है। एक व्यक्ति को जीरे की सुगन्ध अच्छी लगती है, दूसरे को बुरी, भारतीयो को तेज मसाले वाली सब्जियां प्रिय लगती है और पश्चिम वालों को उबली हुई, फिर भी शास्त्रकार उन भोज्य पदार्थो को प्रिय कहते हैं जो

देखने मे सुन्दर हों, जिनकी सुगन्ध सर्वप्रिय हो, जो बुद्धि को सात्विक, विचारों को पवित्र एव भावनाओ को परिशुद्ध बनाता हो और जिन पदार्थो का स्पर्श भी सुखकारी हो।

कृष्णराजियों के संस्थान आदि

मूल—उप्पिं सणंकुमारमाहिंदाणं कप्पाणं, हेट्ठिं बंभलोए कप्पे रिट्ठ-विमाणपत्थडे, एत्थ णमक्खाडगसमचउरंससंठाणसंठियाओ अट्ठ कण्हराईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पुरच्छिमेणं दो कण्हराईओ, दाहिणेणं दो कण्हराइओ, पच्चच्छिमेणं दो कण्हराईओ, उत्तरेणं दो कण्हराईओ।

पुरच्छिमा अब्भंतरा कण्हराई दाहिणं बाहिरं कण्हराइं पुट्ठा, दाहिणा अब्भंतरा कण्हराई पच्चच्छिमगं बाहिरं कण्हराइं पुट्ठा, पच्चच्छिमा अब्भंतरा कण्हराई उत्तर बाहिरं कण्हराइं पुट्ठा, उत्तरा अब्भंतरा कण्हराई पुरच्छिमं बाहिरं कण्हराइं पुट्ठा। पुरच्छिमपच्चच्छिमिल्लाओ बाहिराओ दो कण्हराईओ छलंसाओ, उत्तरदाहिणाओ बाहिराओ दो कण्हराईओ तंसाओ, सव्वाओऽवि णं अब्भंतरकण्हराईओ चउरंसाओ।

एयासि णं अट्ठण्हं कण्हराईणं अट्ठ नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—कण्हराईइ वा, मेहराईइवा, मघाइ वा, माघवईइ वा, वायफलिहेइ वा, वायपलिक्खोभेइ वा, देवफलिहेइ वा, देवपलिक्खोभेइ वा।

एयासि णं अट्ठण्हं कण्हराईणं अट्ठसु उवासंतरेसु अट्ठ लोगंतिय-विमाणा पण्णत्ता, तं जहा—अच्ची, अच्चिमाली, वइरोअणे, पभंकरे, चंदाभे, सूराभे, सुपइट्ठाभे, अग्गिच्चाभे।

एएसु णं अट्ठसु लोगंतियविमाणेसु अट्ठविहा लोगंतिया देवा पण्णत्ता, तं जहा—

**सारसयमाइच्चा, वण्ही वरुणा य गद्दतोया य।
तुसिया अव्वाबाहा, अग्गिच्चा चेव बोद्धव्वा।।**

एएसिं णमट्ठण्हं लोगंतियदेवाणं अजहण्णमणुक्कोसेणं अट्ठ सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ।। ३४ ।।

छाया—उपरि सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः कल्पयोरधस्तात् ब्रह्मलोके कल्पे रिष्टविमान-प्रस्तटः, अत्राक्षवाटकसमचतुरस्त्रसंस्थिता अष्ट कृष्णराजयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पौरस्त्ये द्वे कृष्णराजी, दाक्षिणात्ये द्वे कृष्णराजी, पाश्चात्ये द्वे कृष्णराजी, उत्तरीये द्वे कृष्णराजी।

पौरस्त्याऽऽभ्यंतरा कृष्णराजिः दाक्षिणात्यां बाह्यां कृष्णराजिं स्पृष्टा, दाक्षिणात्याऽऽभ्यन्तरा कृष्णराजिः पाश्चात्यां बाह्यां कृष्णराजिं स्पृष्टा, पाश्चात्याऽऽभ्यन्तरा कृष्णराजिं उत्तरीयां बाह्यां कृष्णराजिं स्पृष्टा, उत्तरीयाऽऽभ्यन्तरा पौरस्त्यां बाह्यां कृष्णराजिं स्पृष्टा। पौरस्त्यपाश्चात्ये बाह्ये द्वे कृष्णराजी षडस्त्रे, उत्तरीयदाक्षिणात्ये बाह्ये द्वे कृष्णराजी त्र्यस्त्रे। सर्वा अपि अभ्यन्तरकृष्णराजयश्चतुरस्त्राः।

एतासामष्टानां कृष्णराजीनामष्टनामधेयानि, प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—कृष्णराजिरिति वा, मेघराजिरिति वा, मघा इति वा, माघवतीति वा, वातपरिघेति वा, वातप्रतिक्षोभेति वा, देव परिघेति वा, देव प्रतिक्षोभेति वा।

एतासामष्टानां कृष्णराजीनाम् अष्टस्ववकाशान्तरेष्वष्टलोकान्तिकविमानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अर्चिः, अर्चिमाली, वैरोचनं, प्रभंकरं, चन्द्राभं, सराभं, सुप्रतिष्टाभं, आग्नेयाभम्।

एतेष्वष्टसु लोकान्तिकविमानेष्वष्टविधा लोकान्तिका देवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सारस्वता आदित्याः, वन्हयो वरुणाश्च गर्दतोयाश्च ।
तुषिता अव्याबाधाः आग्नेयाश्चैव बोद्धव्याः।।

एतेषामष्टानां लोकान्तिकदेवानामजघन्यानुत्कर्षेण अष्टौ सागरोपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

शब्दार्थ—सणकुमारमाहिंदाणं कप्पाणं—सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोकों के, **उप्पि**—ऊपर और, **बंभलोए कप्पे**—ब्रह्मलोक कल्प के, **हेट्ठिं**—नीचे, **रिट्ठविमाणे पत्थडे**—रिष्ट नामक विमान के प्रस्तर अर्थात् पाथड़े हैं, **एत्थ णं**—वहां पर, **अक्खाडगसमचउरससंट्ठाणसंट्ठियाओ**—अक्षवाटक रूप (प्रेक्षको के बैठने के स्थान विशेष) सम-चतुरस्त्र संस्थानवाली, **अट्ठ**—आठ, **कण्हराईओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—कृष्ण राजियां अर्थात् कृष्ण वर्ण की शिलायें कथन की गई है, यथा, **पुरच्छिमेणं**—पूर्व की ओर, **दो कण्हराईओ**—दो कृष्णराजिया हैं, **दाहिणेणं दो कण्हराइओ**—दक्षिण की ओर दो कृष्णराजियां है, **पच्चच्छिमेणं दो कण्हराईओ**—पश्चिम दिशा में दो कृष्णराजियां हैं, **उत्तरेणं दो कण्हराईओ**—उत्तर की ओर दो कृष्णराजियां है। **पुरच्छिमा अब्भंतरा कण्हराई**—पूर्व दिशा की आभ्यन्तर कृष्णराजि, **दाहिणं बाहिरं कण्हराइं पुट्ठा**—दक्षिण की बाह्य कृष्णराजि को छूती है, **पच्चच्छिमा अब्भंतरा कण्हराई**—पश्चिम की आभ्यन्तर कृष्णराजि, **उत्तरं बाहिरं कण्हराइं पुट्ठा**—उत्तर की बाह्य कृष्णराजि से स्पृष्ट है, **उत्तरा अब्भंतरा कण्हराई**—उत्तर की आभ्यन्तर कृष्णराजि, **पुरच्छिमं बाहिर कण्हराइं पुट्ठा**—पूर्व की बाह्य कृष्णराजि को छूती है, **पुरच्छिमपच्चच्छिमिल्लाओ बाहिराओ दो कण्हराईओ**—पूर्व और पश्चिम दिशा की बाहर की जो दो कृष्णराजियां है वे, **छलंसाओ**—षट्कोण हैं, **उत्तरदाहिणाओ बाहिराओ दो कण्हराईओ**—उत्तर और दक्षिण मे बाहर की दो कृष्णराजियां, **तंसाओ**—

त्रिकोण है, **सव्वाओऽवि णं अब्भंतरकण्हराईओ**—आभ्यन्तर की सब कृष्णराजियां, **चउरंसाओ**—चौकोण हैं।

एयासि णं—इन, **अट्ठण्हं कण्हराईणं**—आठ कृष्णराजियो के, **अट्ठ नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा**—आठ नाम कथन किए गए हैं यथा, **कण्हराईइ वा**—कृष्णराजि, **मेहराईइ वा**—मेघराजि, **मघाइ वा**—मघा, **माघवईइ वा**—माघवती, **वायफलिहेइ वा**—वातपरिघा, **वायपलिक्खोभेइ वा**—वातप्रतिक्षोभा, **देवफलिहेइ वा**—देवपरिघा, **देव-पलिक्खोभेइ वा**—देव-प्रतिक्षोभा।

एयासि णं अट्ठण्हं कण्हराईणं—इन आठ कृष्णराजियों के, **अट्ठसु उवासंतरेसु**—आठ अवकाशान्तरों अर्थात् खाली स्थानों मे, **अट्ठ लोगंतिय विमाणा पण्णत्ता, तं जहा**—आठ लोकान्तिक विमान कथन किए गए है, जैसे कि, **अच्ची**—अर्चि, **अच्चिमाली**—अर्चिमाली, **वइरोअणे**—वैरोचन, **पभंकरे**—प्रभंकर, **चंदाभे**—चन्द्राभ, **सूराभे**—सूराभ, **सुपइट्ठाभे**—सुप्रतिष्ठाभ, **अग्गिच्चाभे**—आग्नेयाभ।

एएसु णं अट्ठसु—इन आठ, **लोगंतियविमाणेसु**—लोकान्तिक विमानों में, **अट्ठविहा लोगंतिया देवा पण्णत्ता, तं जहा**—आठ प्रकार के लोकान्तिक देव निवास करते है, यथा, **सारसयमाइच्चा**—सारस्वत और आदित्य, **वण्ही**—वह्नि, **वरुणा य**—और वरुण, **गद्दतोया य**—तथा गर्दतोय, **तुसिया**—तुषित, **अव्वाबाहा**—अव्याबाध, **अग्गिच्चा चेव**—तथा आग्नेय भी, **बोद्धव्वा**—समझ लेने चाहिएं।

एएसि णं अट्ठ लोगंतिय देवाणं—इन आठ लोकान्तिक देवो की, **अजहण्ण-मणुक्कोसेणं**—न जघन्य और न ही उत्कृष्ट अर्थात् एक-सी, **अट्ठ सागरोवमाइं**—आठ सागरोपम, **ठिई पण्णत्ता**—स्थिति कथन की गई है।

मूलार्थ—सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पों के उपर तथा ब्रह्मलोक कल्प के नीचे रिष्ट नामक विमान के प्रस्तट में अखाटक रूप चौकोण आठ कृष्णराजिया वर्णन की गई हैं, जैसे कि—पूर्व दिशा में दो, दक्षिण में दो, पश्चिम मे दो एवं उत्तर दिशा मे भी दो कृष्णराजियां है।

पूर्व दिशा में आभ्यन्तर की कृष्णराजि दक्षिण दिशा की बाहिर की कृष्णराजि को छू रही है, इसी तरह दक्षिण की आभ्यन्तर कृष्णराजि पश्चिम की बाह्य कृष्णराजि को, पश्चिम की आभ्यन्तर कृष्णराजि उत्तर की बाह्य कृष्णराजि को और उत्तर की आभ्यन्तर कृष्णराजि पूर्व की बाहिर वाली कृष्णराजि को स्पर्श किए हुए है।

पूर्व एवं पश्चिम की दो बाह्य कृष्णराजिया छः कोनो वाली हैं। उत्तर और दक्षिण की दो बाह्य कृष्णराजिया त्रिकोण हैं। आभ्यन्तर की सब कृष्णराजियां चतुष्कोण हैं।

इन आठ कृष्णराजियों के आठ नाम इस प्रकार हैं—कृष्णराजि, मेघराजि, मघा,

माघवती, वातपरिघा, वातप्रतिक्षोभा, देवपरिघा, देवप्रतिक्षोभा।

इन आठ कृष्णराजियों के आठ अवकाशान्तरों वाले मध्यम भागों में आठ लोकान्तिक विमान हैं, उनके नाम इस प्रकार है—अर्चि, अर्चिमाली, वैरोचन, प्रभंकर, चन्द्राभ, सूराभ, सुप्रतिष्ठाभ और आग्नेयाभ।

इन आठ लोकान्तिक विमानों मे आठ लोकान्तिक देव रहते हैं—सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और आग्नेय।

इन आठ प्रकार के लोकान्तिक देवों की अजघन्य-अनुत्कृष्ट अर्थात् एक जैसी आठ सागरोपम स्थिति वर्णन की गई है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अष्टविध आहार का वर्णन किया गया है। सयम निष्ठा से आहार-विषयक लालसाओं पर विजय प्राप्त करने वाले महासाधक देव-विमानों मे जन्म लेते हैं, अत: सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र मे देवलोकों के अगभूत रिष्ट विमान की कृष्णराजियो का वर्णन करते है। रिष्ट विमान की सभी राजिया काले रग की है। सचित्त-अचित्त पृथ्वी की भित्ति के आकार वाली आठ पक्तिया ही कृष्णराजि कहलाती हैं। उनसे युक्त क्षेत्र विशेष भी कृष्णराजि नाम से व्यवहृत होते है।

सनत्कुमार और माहेन्द्रकल्प के ऊपर और ब्रह्मलोक कल्प के नीचे रिष्टविमान नाम का एक प्रस्तट है। वहां पर अखाटक अर्थात् अखाडे के आकार की समचतुरस्र सस्थान वाली आठ कृष्णराजिया हैं। पूर्वादि चारो दिशाओ में दो-दो कृष्णराजिया है। पूर्व में दक्षिण और उत्तर दिशा में तिरछी फैली हुई दो कृष्णराजियां हैं। दक्षिण मे पूर्व और पश्चिम में तिरछी फैली हुई दो कृष्णराजिया हैं। इसी तरह पश्चिम मे दक्षिण और उत्तर दिशा में फैली हुई दो कृष्णराजिया है। उत्तर में पूर्व और पश्चिम में फैली हुई दो कृष्ण राजियां हैं।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा की आभ्यन्तर कृष्णराजियां क्रमश: दक्षिण, उत्तर, पूर्व और पश्चिम की बाहर वाली कृष्णराजियो का स्पर्श करती है, जैसे कि पूर्व की आभ्यन्तर कृष्णराजि दक्षिण की बाह्य कृष्णराजि का स्पर्श कर रही है। दक्षिण की आभ्यन्तर कृष्णराजि पश्चिम की बाह्य कृष्णराजि का, पश्चिम की आभ्यन्तर कृष्णराजि उत्तर की बाह्य कृष्णराजि का और उत्तर की आभ्यन्तर की कृष्णराजि पूर्व की बाह्य कृष्णराजि का स्पर्श करती है।

इन आठ कृष्णराजियो मे पूर्व और पश्चिम की बाह्य दो कृष्ण राजिया छ: कोणों वाली है, किन्तु उत्तर-दक्षिण की बाह्य दो कृष्णराजियां तीन कोण वाली है। अन्दर की चार कृष्णराजियां चार कोण वाली हैं। ये कृष्णराजिया असंख्यात योजना लम्बी हैं और असख्यात योजन चौड़ी हैं। इस प्रकार इनका घेरा असंख्यात योजन विस्तार वाला है।[1]

---

१ विशेष वर्णन के लिए देखिए भगवती सूत्र शतक ६, उद्देशक ५ ।

आठ कृष्णराजियों के अन्तराल में आठ लोकान्तिक विमान हैं। उन के नाम इस प्रकार हैं—अर्चि, अर्चिमाली, वैरोचन, प्रभंकर, चन्द्राभ, सूराभ, सुप्रतिष्ठाभ और रिष्टाभ। अर्चि विमान उत्तर और पूर्व कृष्णराजियो के मध्य में है। अर्चिमाली विमान पूर्व मे है। इसी तरह शेष विमानो के विषय में जान लेना चाहिए। रिष्टाभ विमान ठीक मध्य भाग में है। इन आठ विमानों में लोकान्तिक देव रहते है। जिस क्रम से विमानों के नाम दिए गए है, उसी क्रम से देवो के नाम हैं, जैसे कि सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और आग्नेय। इन सब देवो की आयु आठ सागरोपम की है।

जब तीर्थंकर के दीक्षित होने का समय होता है तब वे देव श्री भगवान को सम्बोधित कर कहते है—'भगवन्। अब आपके दीक्षा का समय आ रहा है, सब जीवो के हित के लिए भावतीर्थ की स्थापना कीजिए।' ऐसा विनम्र निवेदन करके वे देव अपने-अपने विमानों मे चले जाते है। तब श्री भगवान दीक्षा के लिए उद्यत हो जाते है। चार कल्याणकों के समय तो देव आते ही है, किन्तु दीक्षा ग्रहण की तैयारी से पहले लोकान्तिक देव ही आते है।

आठ कृष्णराजियों के नाम और उनकी सार्थकता

काले वर्ण वाली पृथ्वी और पुद्‌गल परिणामरूप होने से कृष्णराजि, काले मेघ की रेखा के समान होने से मेघराजि, छट्‌ठी और सातवी पृथ्वी मे रहे हुए अन्धकार की तरह होने से मघा और माघवती, काली आधी के समान सघन अन्धकार वाली तथा दुर्लंघ्य होने से वातपरिघा, वायु के क्षुब्ध होने से वातप्रतिक्षोभ, देवो के लिए भी दुर्लंघ्य होने से देवपरिघा, देवों को भी क्षुब्ध करने से देवपरिक्षोभा, ये इन कृष्णराजियो के शाश्वत नाम है।

धर्मास्तिकाय आदि के आठ मध्य प्रदेश

मूल—अट्‌ठ धम्मत्थिकायमज्झपएसा पण्णत्ता, अट्‌ठ अहम्मत्थि-कायमज्झपएसा, एवं चेव अट्‌ठ आगासत्थिकायमज्झपएसा पण्णत्ता, एवं चेव अट्‌ठ जीवमज्झपएसा पण्णत्ता॥ ३५॥

छाया—अष्टौ धर्मास्तिकायमध्यप्रदेशाः प्रज्ञप्ताः, अष्टौ अधर्मास्तिकायमध्यप्रदेशाः प्रज्ञप्ता, एवमेव अष्टौ आकाशास्तिकायमध्यप्रदेशाः प्रज्ञप्ताः, एवमेव अष्टौ जीवमध्यप्रदेशाः प्रज्ञप्ताः।

शब्दार्थ—अट्ठ धम्मत्थिकायमज्झपएसा पण्णत्ता—आठ धर्मास्तिकाय के मध्यप्रदेश कथन किए गए हैं, **अट्ठ अहम्मत्थिकायमज्झपएसा पण्णत्ता**—आठ अर्धास्तिकाय के मध्यप्रदेश कथन किए गए हैं, **एवं चेव**—इसी तरह, **अट्ठ आगासत्थिकायमज्झपएसा पण्णत्ता**—आठ आकाशास्तिकाय के मध्यप्रदेश कथन किए गए है, **एवं चेव**—इसी तरह, **अट्ठ जीवमज्झपएसा पण्णत्ता**—एक-एक जीव के मध्यप्रदेश भी आठ ही है।

मूलार्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और प्रत्येक जीव के आठ-आठ मध्यप्रदेश वर्णन किए गए है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में कृष्णराजियों का वर्णन किया गया है। आठ कृष्णराजिया ऊर्ध्वलोक के मध्य भाग में अवस्थित है, अत: मध्यभाग के प्रकरण को लेकर प्रस्तुत सूत्र मे धर्मादि चार अस्तिकाय के आठ-आठ रुचक-प्रदेशो का वर्णन किया गया है।

अवयवी के अविभाज्य अंश को प्रदेश कहते हैं। उसके ठीक मध्यभाग में रहने वाले प्रदेशो को रुचक प्रदेश कहा जाता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और प्रत्येक जीव के प्रदेश समान ही हैं, न न्यून और न अधिक। ये सब असंख्यात प्रदेशी है। आकाश अलोक मे भी व्याप्त है। किन्तु अन्य कोई द्रव्य अलोक मे नही है, अत: आकाश के मध्य भाग मे आठ रुचक प्रदेश हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के आठ-आठ रुचक प्रदेश भी वैसे ही हैं।

आत्मा का परिमाण न तो आकाश की तरह व्यापक है और न परमाणु की तरह अणु है किन्तु मध्य परिमाण माना जाता है। उन असख्यात प्रदेशों के ठीक मध्यभाग मे आठ रुचक प्रदेश हैं। शेष प्रदेश कार्मण शरीर के प्रभाव से सकोच-विस्तार को प्राप्त होते रहते है। इन रुचक-प्रदेशों को मध्यप्रदेश भी कहा जाता है। शेष तीन अस्तिकायों के प्रदेश संकोच-विस्तार स्वभाव वाले नही हैं। वे तत्त्व अनादिकाल से अवस्थित एवं निष्क्रिय ही है।

भावी अरिहन्त महापद्म जी द्वारा दीक्षित होने वाले राजा

मूल—अरहंता णं महापउमे अट्ठ रायाणो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वावेस्सइ, तं जहा—पउमं, पउमगुम्मं, नलिणं, नलिनगुम्मं, पउमद्धयं, धणुद्धयं, कणगरहं, भरहं॥३६॥

छाया—अर्हन् महापद्मोऽष्टौ राज्ञो मुण्डान् भावयित्वा अगारादनगारितां प्रव्राजयिष्यति, तद्यथा—पद्मं, पद्मगुल्मं, नलिनं, नलिनगुल्मं, पद्मध्वज, धनुर्ध्वजं, कनकरथं, भरतम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—महापद्म नामक अरिहन्त आठ राजाओं को मुण्डित करके गृहस्थ

धर्म से निकाल कर अनगारधर्म अर्थात् साधु धर्म में प्रवेश कराएंगे। वे आठ राजा इस प्रकार हैं—पद्म, पद्मगुल्म, नलिन, नलिनगुल्म, पद्मध्वज, धनुर्ध्वज, कनकरथ और भरत।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में धर्मास्तिकाय आदि के आठ-आठ रुचक प्रदेशों का वर्णन किया गया है। केवली भगवान ने ही उन मध्यप्रदेशो का प्रत्यक्ष किया है, अत: प्रस्तुत सूत्र में भावी तीर्थंकर महापद्म के उन राजर्षि शिष्यो का उल्लेख किया गया है जिनको भावी तीर्थंकर भगवान् महापद्म दीक्षित करके मोक्षपथ-गामी बनाएगे। इस भरत क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले उत्सर्पिणी काल में राजा श्रेणिक का जीव पहले तीर्थंकर के रूप मे महापद्म नाम वाला तीर्थकर होगा। वह अपने जीवन में आठ राजाओ को प्रव्रजित करेगा। उनके नाम हैं—पद्म, पद्मगुल्म, नलिन, नलिनगुल्म, पद्मध्वज, धनुर्ध्वज, कनकरथ और भरत। इस सूत्र में केवल नामो का ही दिग्दर्शन कराया गया है। इन प्रव्रजित होने वाले राजाओ का जीवन-वृत्तान्त किसी भी आगम में दृष्टिगोचर नही होता। भगवान् महावीर स्वामी ने जैसे आठ राजाओ को दीक्षित एवं मुडित करके उन्हे निर्वाण-पथ के पथिक बनाया था, वैसे ही महापद्म तीर्थकर भी आठ राजाओ को दीक्षित एव मुंडित करके उन्हे मोक्ष-पथ का पथिक बनाएगे। ऐसा इस सूत्र से ध्वनित होता है।

अरिष्टनेमि द्वारा दीक्षित श्रीकृष्ण की अग्रमहिषियां

मूल—कण्हस्स णं वासुदेवस्स अट्ठ अग्गमहिसीओ अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अंतिए मुंडा भवेत्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्ता, सिद्धाओ जाव सव्वदुक्खप्पहीणाओ, तं जहा—पउमावई, गोरी, गंधारी, लक्खणा, सुसीमा, जंबवई, सच्चभामा, रुप्पिणी, कण्हस्स अग्गमहिसीओ ॥३७॥

छाया—कृष्णस्य खलु वासुदेवस्य अष्टाग्रमहिष्योऽरिष्टनेमेः अन्तिकं मुण्डाः भूत्वा आगारादनगारिता प्रव्रजिताः, सिद्धाः यावत् सर्वदुःखप्रहीणाः, तद्यथा—पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती, सत्यभामा, रुक्मिणी, कृष्णस्या-ग्रमहिष्यः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—कृष्ण वासुदेव की आठ अग्रमहिषिया अर्थात् पट्टरानिया अरिहन्त अरिष्टनेमि जी के पास मुण्डित होकर आगार-धर्म से अनगार-धर्म में दीक्षित हुई और उन्होंने सिद्ध-गति को प्राप्त किया तथा सब दु:खों का अन्त किया। उन आठों

के नाम इस प्रकार हैं—पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती, सत्यभामा, रुक्मिणी।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रो में अरिहन्तो के द्वारा दीक्षित होने वाले राजाओं का वर्णन किया गया है। उसी वर्णन-परम्परा में ऐसी आठ महारानियों का सूत्रकार वर्णन करते हैं, जिन्होंने अरिहन्त भगवान् श्री अरिष्टनेमि से दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त किया।

श्री कृष्ण वासुदेव की सोलह सहस्र रानिया थीं। दो-दो सहस्र रानियों के ऊपर एक-एक पट्टरानी थी, इस तरह कृष्णवासुदेव की आठ पट्टरानियां थीं। जिन के नाम है—पद्मावती, गांधारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जांबवती, सत्यभामा और रुक्मिणी। इन आठ पट्टरानियो ने गृहवास का परित्याग कर भगवान् अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ग्रहण करके तप और संयम के द्वारा कर्मो पर विजय पाकर और सर्व प्रकार के दुखो से छूटकर सिद्धत्व को प्राप्त किया था। इनका जीवनवृत्त अतकृद्दशाग सूत्र मे वर्णित है।

यहा यह ज्ञातव्य है कि अन्तकृद्दशा आदि सूत्रों में रुक्मिणी का नामोल्लेख पहले किया गया है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण मे उनका नाम सब से पीछे दिया गया है, क्योकि गृहवास मे रुक्मिणी की सर्वदा प्रधानता रही है, इसलिए उनके नाम का पहले निर्देश किया जाता रहा है, किन्तु इस प्रसंग मे जिन्होने सांसारिक सुखों का त्याग करके सयम-मार्ग को पहले अपनाया है, यहा उनकी प्रधानता सूत्रकार को अभीष्ट है। इन आठ पट्टरानियो मे से सर्व-प्रथम पद्मावती ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी, उसके बाद गौरी ने। इस क्रम के अनुसार सब से पीछे रुक्मिणी ने गृहवास का परित्याग करके प्रव्रज्या ग्रहण की थी। इसलिए रुक्मिणी का नाम पीछे दिया गया है।

भगवान अरिष्टनेमि के शासन मे बडी साध्वी यक्षिणी थी। उनकी देख-रेख में उनका सयमी जीवन व्यतीत हुआ है। बीस वर्ष सयम-तप की आराधना करके ये आठ साध्विया परम-पद को प्राप्त हुई, और जन्म-जरा-मरण के दु:खो से सदा के लिए मुक्त हो गई।

वीर्यप्रवादपूर्व की वस्तु और चूलिकाएं

मूल—वीरियपुव्वस्स णं अट्ठ वत्थू, अट्ठ चूलियावत्थू पण्णत्ते ॥ ३८ ॥

छाया—वीर्यपूर्वस्य खलु अष्टौ वस्तूनि, अष्टौ चूलिकावस्तूनि प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—वीर्य प्रवाद नामक पूर्व की आठ वस्तु अर्थात् प्रकरण विशेष और आठ चूलिकावस्तु वर्णन की गई हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रो में अरिहन्तों द्वारा दीक्षित होकर सिद्धि-गति प्राप्त करने वाली दिव्यात्माओं के उल्लेख किए गए हैं, परन्तु दिव्यात्माए पंडितवीर्य से ही कर्मों पर

विजय प्राप्त कर सकती है, अतः प्रस्तुत सूत्र में वीर्यप्रवाद पूर्व का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

वीर्य का अर्थ है शक्तिविशेष, उस का वर्णन जिस पूर्व से प्राप्त होता है, उसे 'वीर्य-प्रवादपूर्व' कहते है। शक्ति जीवो में भी है और अजीवों मे भी। जीव ही अजीवों की शक्ति का उपयोग करता है। कुछ जीव अपनी शक्ति का प्रयोग संयम में करते हैं, कुछ असंयम में और कुछ संयम एव असंयम दोनों में प्रयोग किया करते हैं। अपनी शक्तियो को सयम और तप में लगाना 'पण्डितवीर्य' है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह मे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना 'बालवीर्य' है। जिसकी प्रवृत्ति न पूर्णतया धर्म में है और न पाप में ऐसी प्रवृत्ति को 'बालपण्डितवीर्य' कहते है। इस के स्वामी देशविरति श्रावक होते है। पण्डितवीर्य में सात्त्विकबल, बाल-पण्डितवीर्य में राजसीबल और बालवीर्य में तामसी बल की प्रधानता रहती है।

विश्वभर में जितने भी अजीव पदार्थ हैं, उन में भी अद्भुत एवं चमत्कारी शक्तिया विद्यमान है, परन्तु उन शक्तियों का उपयोग जीव ही कर सकता है। अमृत भी जड पदार्थ है और विष भी, इन दोनो की शक्तियों का वर्णन भी वीर्यप्रवादपूर्व में किया गया है।

पूर्वो के बड़े अधिकार को वस्तु कहते हैं। वीर्यप्रवादपूर्व में आठ वस्तु हैं और आठ ही चूलिका वस्तु हैं।[1]

अष्टविध गति

मूल—अट्ठ गइओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णिरयगई, तिरियगई जाव सिद्धिगई, गुरुगई, पणोल्लणगई, पब्भारगई॥३९॥

छाया—अष्ट गतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—निरयगतिः, तिर्यग्गतिः, यावत्, सिद्धिगतिः, गुरुगतिः, प्रणोदनगति·, प्राग्भारगतिः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आठ गतियां वर्णन की गई हैं, यथा—नरक-गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, देवगति, सिद्ध-गति, गुरुगति अर्थात् गुरुत्व वाले की गति, प्रणोदनगति अर्थात् प्रेरणा से उत्पन्न होने वाली गति, प्राग्भार गति अर्थात् भार आदि के दबाव से उत्पन्न होने वाली गति।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे वीर्यप्रवादपूर्व का वर्णन किया गया है। वीर्य का अर्थ है—पदार्थ मे रहने वाली विशेष प्रकार की शक्ति। यह शक्ति गति को जन्म देती है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे आठ प्रकार की गतियो का वर्णन किया गया है।

---

१ 'वीरियपुव्वे' त्यादि वीर्यप्रवादाख्यस्य तृतीयपूर्वस्य वस्तूनि मूलवस्तूनि, अध्ययन-विशेषाः, आचारे ब्रह्मचर्याध्ययनवत्, चूलावस्तूनि त्वाचाराग्रवदिति।

नरक के लिए होने वाली जीव-गति को नरकगति कहा जाता है। तिर्यञ्च योनियो के लिए होने वाली गति तिर्यञ्च-गति कहलाती है। मनुष्यभव को पाने के लिए हो रही गति मनुष्यगति है। देवभव को पाने के लिए हो रही गति को देवगति कहा जाता है। सिद्धत्व को पाने के लिए की जाने वाली जीव-गति को सिद्धिगति कहा जाता है। जो गति स्वभावजन्य होती है, वह गुरुगति कहलाती है। गुरु शब्द यहा भावपरक है अर्थात् स्वभाव से गति का होना गुरुगति है। प्रकाश-गति, शब्द-गति और वायु-गति आदि का समावेश गुरु गति में हो जाता है। किसी की प्रेरणा से गति का होना, जैसे तीर का चलना, गोली का चलना, यानवाहन का चलना इत्यादि सभी गतियों का समावेश प्रणोदन-गति मे हो जाता है। भार-विशेष के कारण उत्पन्न गति को (जैसे नौका का अधिक भार से पानी मे डूबना आदि) प्राग्भारगति कहा जाता है। इन आठ गतियों में से पहली पांच प्रकार की गतियां जीव की है और शेष तीन पौद्गलिक गतियां हैं।

गंगा आदि देवियों के अष्ट योजन प्रमाण द्वीप

मूल—गंगा-सिंधु-रत्ता-रत्तवइदेवीणं दीवा अट्ठ-अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं पण्णत्ता॥४०॥

छाया—गङ्गा-सिन्धु-रक्ता-रक्तवतीदेवीनां द्वीपा अष्टाष्टयोजनानि आयाम-विष्कम्भेन प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—गगा, सिन्धु, रक्ता और रक्तवती नामक देवियो के द्वीप आयाम-विष्कम्भ की अपेक्षा से आठ-आठ योजन के बतलाए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अष्टविध गतियों का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार निरन्तर गतिशीला नदियो की अधिष्ठात्री देवियो के द्वीपो का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। पांच भरत क्षेत्रो में गंगा और सिन्धु तथा पांच ऐरावत क्षेत्रो मे रक्ता एवं रक्तावती नदियां बहती है। गंगा-प्रपात कुण्ड ६० योजन का लम्बा-चौड़ा है। उसके ठीक मध्यभाग में आठ योजन का लम्बा-चौडा द्वीप है। उस पर गंगा देवी का एक बहुत बड़ा भवन है। वही गंगादेवी का निवास-स्थान है।

इसी तरह सिन्धु महानदी की अधिष्ठात्री देवी का द्वीप सिन्धु-प्रपात कुण्ड में तथा रक्ता और रक्तावती महानदी के प्रपातकुण्ड मे रक्ता और रक्तावती देवी के द्वीपों के विषय में जान लेना चाहिए। चारों देवियों के द्वीप आठ-आठ सौ योजन के लम्बे-चौडे हैं। वे द्वीप अपने-अपने प्रपात कुंड में है। चारो महानदियो के प्रपात-कुण्ड ६०-६० योजन के लम्बे-चौड़े हैं। इनका विस्तृत वर्णन जम्बू-द्वीप प्रज्ञप्ति मे प्राप्त होता है।

आठ-आठ सौ योजन के अंतर द्वीप

मूल—उक्कामुह-मेहमुह-विज्जुमुह-विज्जुदंतदीवाणं दीवा अट्ठ-अट्ठ जोयणसयाइं आयामविक्खंभेण पण्णत्ता ॥४१॥

छाया—उल्कामुख-मेघमुख-विद्युन्मुख-विद्युद्दन्तद्वीपानां द्वीपा अष्टाष्ट योजनशतान्यायामविष्कम्भेन प्रज्ञप्ताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—उल्कामुख, मेघमुख, विद्युन्मुख और विद्युद्दन्त नामक अन्तर्द्वीप आयाम-विष्कम्भ की अपेक्षा से आठ-आठ सौ योजन प्रतिपादन किये गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे द्वीपों का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उसी द्वीप वर्णन-परम्परा मे चार अन्तर-द्वीपो का वर्णन करते है। हिमवान् पर्वत की और शिखरी पर्वत की दो-दो कोटिया पूर्व और पश्चिम के लवण-समुद्र में प्रविष्ट है। प्रत्येक कोटि में से दो-दो दाढाए निकली हुई है। प्रत्येक दाढ पर सात-सात अन्तरद्वीप हैं। हिमवान पर्वत पर २८ अन्तरद्वीप है और २८ अन्तरद्वीप शिखरी वर्षधर पर्वत पर हैं। प्रत्येक दाढ पर ३०० योजन का अन्तर और ३०० योजन का द्वीप, ४०० योजन का अन्तर और ४०० योजन का द्वीप इसी क्रम से अन्तर और द्वीप बढ़ते हुए सातवा द्वीप ९०० योजन का है, किन्तु छठा अन्तरद्वीप आठ सौ योजन का लम्बा-चौडा है। पूर्व में जो दाढ आग्नेय कोण की ओर है उस पर जो छठा अन्तरद्वीप है उसका नाम उल्कामुख है। पश्चिम में नैर्ऋत्य कोण की जो दाढे हैं, उन पर स्थित छठे अन्तरद्वीप का नाम मेघमुख है। वायव्य कोण की ओर दूसरी दाढ पर छठे अन्तर द्वीप का नाम विद्युन्मुख है। पूर्व में दूसरे ईशान कोण की ओर स्थित छठे अन्तरद्वीप का नाम विद्युद्दन्त है। ये चार अन्तरद्वीप आठ-आठ सौ योजन लम्बे-चौडे है। इसी क्रम से शिखरी पर्वत की चार दाढ़ो पर छठे अन्तरद्वीपो के नाम वे ही है जिस क्रम से ऊपर लिखे गए हैं। इनका विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र मे किया गया है।

कालोद समुद्र का विस्तार

मूल—कालोए णं समुद्दे अट्ठ जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं पण्णत्ते ॥४२॥

छाया—कालोदः खलु समुद्रोऽष्टयोजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेण प्रज्ञप्तः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—परिधि-परिमाण की अपेक्षा से कालोद समुद्र आठ लाख योजन विस्तार वाला है।

विवेचनिका—द्वीप वर्णन की परम्परा मे प्रस्तुत सूत्र मे भी धातकी खण्ड के चारो

ओर खाई के समान विद्यमान कालोद समुद्र का वर्णन किया गया है। उस समुद्र की गोलाकार चौड़ाई आठ लाख योजन की है। चक्र की तरह गोलाकार विस्तार को चक्रवाल-विष्कम्भ कहा जाता है।

आभ्यन्तर और बाह्य पुष्करार्ध का विस्तार

मूल—अब्भंतरपुक्खरद्धे णं अट्ठ जोयणसयसहस्साइं चक्कवाल-विक्खंभेणं पण्णत्ते। एवं बाहिरपुक्खरद्धेवि ॥४३॥

छाया—आभ्यन्तरपुष्करार्द्धमष्टयोजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेण प्रज्ञप्तम्। एवं बाह्यपुष्करार्द्धमपि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आभ्यन्तर पुष्करार्द्ध परिधि-परिमाण की अपेक्षा से आठ लाख योजन का वर्णन किया गया है। इसी तरह बाह्य पुष्करार्द्ध का विस्तार भी समझना चाहिए।

विवेचनिका—द्वीप-वर्णन की परम्परा में प्रस्तुत सूत्र में भी पुष्करार्द्धद्वीप के विस्तार का परिमाण बताया गया है। पुष्करार्द्ध द्वीप को चक्रवाल-विष्कंभ से दो भागों में विभक्त करने वाला मानुषोत्तर पर्वत है। आधा पुष्कर द्वीप अंदर की ओर है और आधा पुष्करद्वीप बाहर की ओर है। दोनो का चक्रवाल-विष्कंभ परिमाण आठ-आठ लाख योजन का है।

चक्रवर्ती के काकिणी रत्न का मान

मूल—एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठसोवन्निए कागिणिरयणे छत्तले, दुवालसंसिए, अट्ठकण्णिए अहिगरणिसंठिए पण्णत्ते ॥४४॥

छाया—एकैकस्य खलु राज्ञश्चातुरन्तचक्रवर्तिनोऽष्टसौवर्णिकं काकिणीरत्नं षट्तलं, द्वादशास्त्रिकम्, अष्टकार्णिकमधिकरणिसंस्थितं प्रज्ञप्तम्।

शब्दार्थ—एगमेगस्स णं—प्रत्येक, **रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स**—चातुरन्त चक्रवर्ती महाराज का, **कागिणिरयणे**—काकिणी रत्न, **अट्ठसोवन्निए**—आठ सुवर्ण परिमाण वाला, **छत्तले**—छ: तल वाला, **दुवालसंसिए**—बारह अशो वाला, **अट्ठकण्णिए**—आठ कोनो वाला एव, **अहिगरणिसंट्ठिए पण्णत्ते**—अधिकरणि—ऐरन के सस्थान वाला कथन किया गया है।

मूलार्थ—प्रत्येक चातुरन्त चक्रवर्ती महाराज का काकिणी नामक रत्न आठ सौवर्णिक-आठ सुवर्ण परिमाण में, षट् तल, बारह अशों, आठ कोणो तथा अधिकरणी अर्थात् लोहार की ऐरन के आकार वाला वर्णन किया गया है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे आभ्यन्तर पुष्करार्ध का वर्णन किया गया है। आभ्यन्तर पुष्करार्द्ध में चक्रवर्ती भी होते है, अत. प्रस्तुत सूत्र में चक्रवर्ती के प्रमुख चिन्ह काकिणीरत्न का उल्लेख किया गया है।

प्रत्येक चक्रवर्ती नरदेव के पास काकिणी-रत्न होता है, उस रत्न का भार आठ सौवर्णिक होता है। उसके छ: तल, बारह कोटियां और आठ कोण होते हैं।

एक सौवर्णिक का भार परिमाण इस प्रकार समझना चाहिए—१६ सरसों का एक उडद का दाना, उडद के दो दानो के बराबर एक रत्ती, पाच गुंजाओ का एक कर्म-माषक और आठ कर्म-माषको के वजन का परिमाण एक सौवर्णिक होता है। आठ सौवर्णिक परिमाण वजन का एक काकिणीरत्न होता है। उक्त तोल का परिमाण भरत चक्रवर्ती के कालानुसार जानना चाहिए, क्योंकि सभी चक्रवर्ती नरदेवो के काकिणी-रत्न समान होते है। उसका सस्थान अर्थात् आकृति ऐरन के समान होती है और वह उत्सेध अगुल से चार अगुल प्रमाण का हुआ करता है।

मगध देशीय योजन-मान

मूल—मागधस्स णं जोयणस्स अट्ठ धणुसहस्साइं निधत्ते पण्णत्ते ॥४५॥

छाया—मागधस्स योजनस्य अष्ट चतु·सहस्राणि निधत्त प्रज्ञप्तम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—मगधदेश के योजन का निश्चित परिमाण आठ हजार धनुष प्रतिपादन किया गया है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में चक्रवर्ती के काकिणीरत्न का मान बताया गया है। मान-वर्णन की परम्परा में अब सूत्रकार मगधदेश मे प्रसिद्ध योजन-मान का वर्णन करते है। आठ यव-मध्य का एक अगुल, २४ अगुलो का एक हाथ, ४ हाथ का एक धनुष, २००० धनुषों का एक कोस और चार कोस का एक योजन होता है। इस परिमाण से मगधदेश मे ८००० धनुष का एक योजन निश्चित है। इसलिए सूत्रकार ने 'मागध' शब्द का ग्रहण किया है।

अन्य प्रान्तो मे १६०० धनुष का एक कोस माना गया है। उनके कथनानुसार ६४०० धनुषों का एक योजन बताया है।[1] योजनों का विस्तृत वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र मे विहित है।

सुदर्शन और कूटशाल्मलि वृक्ष का मान

मूल—जंबू णं सुदंसणा अट्ठ जोयणाइं उद्धं उच्चत्तेणं बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं, साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते। कूडसामली णं अट्ठ जोयणाइं एवं चेव॥४६॥

१ तत्र यस्मिन् देश षोडशभिर्धनु शतैर्गव्यूत स्यात्तत्र षड्भि सहस्रैश्चतुर्भिश्शतैर्धनुषां योजन भवतीति।

छाया—जम्बू सुदर्शनो अष्टौ योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन बहुमध्यदेशभागे अष्टौ योजनानि विष्कम्भेण सातिरेकाणि अष्टौ योजनानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तानि। कूटशाल्मलिरपि अष्ट योजनानि एवञ्चैव।

शब्दार्थ—जंबू णं सुदंसणा—सुदर्शन नामक जम्बू वृक्ष, **उद्धं उच्चत्तेणं**—ऊंचाई की अपेक्षा से, **अट्ठ जोयणाइं**—आठ योजन का, **बहुमज्झदेसभाए**—अत्यन्त मध्य भाग मे, **विक्खंभेणं**—चौड़ाई की अपेक्षा, **अट्ठ जोयणाइं**—आठ योजन का है, **सव्वग्गेणं**—सम्पूर्ण परिमाण मे, **साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं पण्णत्ते**—आठ योजन से कुछ अधिक प्रतिपादन किया गया है। **एवं चेव**—इसी प्रकार, **कूडसामली**—कूटशाल्मलि वृक्ष, **अट्ठ जोयणाइं**—आठ योजन परिमाण वाला है।

मूलार्थ—सुदर्शन नामक जम्बू वृक्ष ऊंचाई की अपेक्षा से आठ योजन ऊचा है। अत्यन्त मध्य भाग में चौडाई की अपेक्षा आठ योजन का है और सम्पूर्ण परिमाण में कुछ अधिक आठ योजन का वर्णन किया गया है। इसी तरह कूटशाल्मलि वृक्ष भी आठ योजन का बतलाया गया है।

विवेचनिका—योजन का अधिकार होने से प्रस्तुत सूत्र मे जम्बूवृक्ष और कूटशाल्मलि वृक्ष का परिचय दिया गया है। जम्बू अपर नाम सुदर्शन वृक्ष आठ योजन ऊंचा है तथा आठ योजन परिमाण उस का मध्य भाग है और आधा कोस का गहरा है। उसका सर्वाग आठ योजन से भी कुछ अधिक है।

इसी तरह कूटशाल्मलि वृक्ष के विषय मे भी जानना चाहिए। इन वृक्षों का विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति में प्राप्त होता है।

तिमिस्त्र-गुहा और खण्ड-प्रपात गुहा का उच्चत्व-मान

मूल—तिमिस्सगुहा णं अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं। खंडप्पवायगुहा णं अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एवं चेव॥४७॥

छाया—तिमिस्त्रगुहा अष्ट योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन। खण्डप्रपातगुहा अष्ट योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन एवमेव।

शब्दार्थ—तिमिस्सगुहा णं—तिमिस्त्रगुफा, **अट्ठ जोयणाइं**—आठ योजन, **उड्ढं उच्चत्तेणं**—ऊंचाई की अपेक्षा से कथन की गई है। **खंडप्पवायगुहा णं**—खण्डप्रपात नामक गुफा, **उड्ढं उच्चत्तेणं**—ऊंचाई की अपेक्षा से, **एवं चेव**—इसी प्रकार आठ योजन ऊंची है।

मूलार्थ—ऊचाई की अपेक्षा से तिमिस्त्र नामक गुफा आठ योजन परिमाण है। खण्डप्रपात गुफा भी ऊंचाई की अपेक्षा से आठ योजन ऊंची बताई गई है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जम्बू अपर नाम सुदर्शन वृक्ष तथा कूटशाल्मलि वृक्ष की ऊंचाई का वर्णन किया गया है। अब उसी देवस्थान की वर्णन-परम्परा मे सूत्रकार दो गुफाओं की ऊंचाई का वर्णन करते है। वैताढ्य पर्वत भरत क्षेत्र को दो भागो मे विभक्त करता है, दक्षिणार्द्ध भरत और उत्तरार्द्ध भरत। वासुदेव का राज्य दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र में ही होता है, किन्तु चक्रवर्त्ती का राज्य दोनों मे होता है। वैताढ्य पर्वत में दो गुफाएं अर्थात् सुरंगें हैं, एक तिमिस्रा और दूसरी खडप्रपात। दोनों सुरंगे आठ-आठ योजन ऊची और पचास-पचास योजन लम्बी है। जब चक्रवर्ती तिमिस्रगुफा द्वार को खोलकर उत्तरार्द्ध भरत क्षेत्र की दिग्विजय के लिए जाता है तब वहा से लौटते समय खंड-प्रपात गुफा द्वार को खोलकर दक्षिणार्ध भरत क्षेत्र में वापिस आता है। चक्रवर्ती की दिग्विजय यात्रा का विस्तृत वर्णन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में किया गया है।

वक्षस्कार पर्वत, विजय और राजधानियां

मूल—जंबूमंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं सीयाए महानईए उभओ कूले अट्ठ वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—चित्तकूडे, पम्हकूडे, नलिणकूडे, एगसेले, तिकूडे, वेसमणकूडे, अंजणे, मायंजणे।

जंबूमंदरपच्चच्छिमेणं सीओयाए महानईए उभओ कूले अट्ठ वक्खार-पव्वया पण्णत्ता, तं जहा—अंकावई, पम्हावई, आसीविसे, सुहावहे, चंदपव्वए, सूरपव्वए, णागपव्वए, देवपव्वए।

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महानईए उत्तरेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पण्णत्ता, तं जहा—कच्छे, सुकच्छे, महाकच्छे, कच्छगावई, आवते, जाव पुक्खलावई।

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महानईए दाहिणेणमट्ठचक्कवट्टिविजया पण्णत्ता, तं जहा—वच्छे, सुवच्छे, जाव मंगलावई।

जंबूमंदरपच्चच्छिमेणं सीओयाए महानईए दाहिणेणं अट्ठ चक्कवट्टि-विजया पण्णत्ता, तं जहा—पम्हे जाव सलिलावई।

जंबूमंदरपच्चत्थिमेणं सीओयाए महानईए उत्तरेणं अट्ठ चक्कवट्टि-विजया पण्णत्ता, तं जहा—वप्पे, सुवप्पे जाव गंधिलावई।

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महानईए उत्तरेणमट्ठ रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—खेमा, खेमपुरी चेव जाव पुंडरीगिणी।

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठरायहाणीओ

पण्णत्ताओ, तं जहा—सुसीमा, कुंडला चेव जाव रयणसंचया।

जंबूमंदरपच्चच्छिमेणं सीओयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठरायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आसपुरा जाव वीयसोगा।

जंबूमंदरपच्चच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—विजया, वेजयंतीजाव अउज्झा ॥४८॥

छाया—जम्बूमन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्ये सीताया महानद्या उभयकूले अष्ट वक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चित्रकूटः, पद्मकूटः, नलिनकूटः, एकशैलः, त्रिकूटः, वैश्रवणकूटः, अञ्जनः, मातञ्जनः।

जम्बूमंदरपाश्चात्ये शीतोदायाः महानद्याः उभयकूले अष्टौ वक्षस्कारपर्वता प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अङ्कवती, पक्ष्मावती, आशीविषः, सुखावहः, चन्द्रपर्वतः, सूर्यपर्वतः, नागपर्वतः, देवपर्वतः।

जम्बूमंदरचौरस्त्ये शीतायाः महानद्याः उत्तरे अष्ट चक्रवर्तिविजयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कच्छ·, सुकच्छ·, महाकच्छः, कच्छगावती, आवर्तो यावत् पुष्कलावती।

जम्बूमन्दरपौरस्त्ये शीतायाः महानद्याः दक्षिणेनाष्टौ चक्रवर्त्तिविजयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वत्सः, सुवत्सो यावत् मङ्गलावती।

जम्बूमन्दरपाश्चात्ये शीतोदायाः महानद्याः दक्षिणेन अष्ट चक्रवर्त्तिविजयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पक्ष्मो यावत् सलिलावती।

जम्बूमन्दरपौरस्त्ये शीतोदायाः महानद्याः दक्षिणे अष्टौ चक्रवर्त्तिविजयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वप्रः, सुवप्रो यावत् गन्धिलावती।

जम्बूमंदरपौरस्त्ये शीतायाः महानद्याः उत्तरे अष्ट राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षेमा, क्षेमपुरी चैव यावत् पुण्डरीकिणी।

जम्बूमन्दरपौरस्त्ये शीतायाः महानद्याः दक्षिणे अष्ट राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सुसीमा, कुण्डला चैव यावत् रत्नसञ्चया।

जम्बूमन्दरपश्चिमे शीतोदाया. महानद्याः दक्षिणे अष्टौ राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अश्वपुरा यावत् वीतशोका।

जम्बूमन्दरपश्चिमे शीतोदायाः महानद्याः उत्तरे अष्टौ राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—विजया, वैजयन्ती यावत् अयोध्या।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूमन्दर पर्वत अर्थात् जम्बूद्वीप सम्बन्धित मेरुपर्वत के पूर्व में सीता महानदी के दोनों किनारों पर आठ वक्षस्कार पर्वत हैं यथा—चित्रकूट, पद्मकूट,

नलिनकूट, एकशैल, त्रिकूट, वैश्रमणकूट, अञ्जन, मातञ्जन।

जम्बूद्वीप सम्बन्धित मन्दर पर्वत के पश्चिम में सीता महानदी के दोनों किनारो पर आठ वक्षस्कार पर्वत हैं यथा—अंकावती, पक्ष्मावती, आशीविष, सुखावह, चन्द्रपर्वत, सूरपर्वत, नागपर्वत, देवपर्वत।

जम्बूमन्दर के पूर्व मे सीता महानदी के उत्तर मे आठ चक्रवर्ती-विजय हैं, यथा—कच्छ, सुकच्छ, महाकच्छ, कच्छगावती यावत् पुष्कलावती तक आठ।

जम्बूमन्दर के पूर्व में सीता महानदी के दक्षिण में आठ चक्रवर्ती-विजय हैं, जैसे—वत्स, सुवत्स, यावत् मङ्गलावती तक आठ।

जम्बूमन्दर के पश्चिम मे शीतोदा महानदी के दक्षिण में आठ चक्रवर्ती-विजय हैं, यथा—पक्ष्म से लेकर सलिलावती तक आठ।

जम्बूमन्दर के पश्चिम में शीतोदा महानदी के उत्तर में आठ चक्रवर्ती विजय कथन किए गए हैं, यथा—वप्र, सुवप्र से लेकर गन्धिलावती तक आठ।

जम्बूमन्दर की पूर्ववर्तिनी सीता महानदी के उत्तर मे आठ राजधानिया हैं, यथा—क्षेमा, क्षेमपुरी, यावत्—पुण्डरीकिणी।

जम्बूमन्दर की पूर्ववर्तिनी सीता महानदी के दक्षिण में आठ राजधानियां हैं, यथा—सुसीमा, कुण्डला यावत्—रत्नसञ्चया।

जम्बूमन्दर की पश्चिमवर्तिनी शीतोदा महानदी के दक्षिण में आठ राजधानियां है, यथा—अश्वपुरा यावत् वीतशोका।

जम्बूमन्दर की पश्चिमवर्तिनी शीतोदा महानदी के उत्तर में आठ राजधानियां हैं, यथा—विजय, वैजयन्ती यावत् अयोध्या।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे भरत क्षेत्र को दो भागो में विभक्त करने वाले वैताढ्य पर्वत की तिमिस्रगुहा और खण्ड-प्रपात नामक दो गुहाओं का वर्णन किया गया है। अब उसी भौगोलिक परिचय की परम्परा मे सूत्रकार जम्बूद्वीप सम्बन्धी पर्वतो आदि का परिचय प्रस्तुत करते है।

इस सूत्र के दस अनुच्छेद है। पहले दो अनुच्छेद सूत्रो में १६ वक्षस्कार पर्वतो का नामोल्लेख किया गया है। ३, ४, ५, ६ अनुच्छेद सूत्रो मे ३२ चक्रवर्ती विजयों के नामोल्लेख किए गए है। ७, ८, ९ और १० अनुच्छेद सूत्रो मे ३२ राजधानियों का नामोल्लेख हुआ है।

जम्बूद्वीप में एक महाविदेह क्षेत्र है जो दो भागो मे विभक्त है, पूर्वमहाविदेह और पश्चिम महाविदेह। पूर्व महाविदेह को शीता नामक महानदी ने दो भागो मे विभक्त किया हुआ है। इसी तरह पश्चिम महाविदेह क्षेत्र को शीतोदा महानदी दो भागो में विभक्त करती

है। शीता महानदी के दोनो किनारों पर आठ वक्षस्कार पर्वत हैं, चार दक्षिणी किनारे पर और चार उत्तरी किनारे पर।

यहा इतना स्मरणीय है कि कोई भी वक्षस्कार पर्वत एक दूसरे के सामने नहीं है। चित्रकूट, पक्ष्मकूट, नलिनकूट और एकशैल ये चार वक्षस्कार पर्वत शीता महानदी के उत्तर की ओर हैं, तथा त्रिकूट, वैश्रवणकूट, अंजन और मातंजन ये चार वक्षस्कार पर्वत उसके दक्षिण तट पर है।

शीतोदा महानदी के उत्तरी किनारे पर चार वक्षस्कार पर्वत हैं, उनके नाम हैं—अंकावती, पक्ष्मावती, आशीविष और सुखावह। चन्द्रपर्वत, सूर्यपर्वत, नागपर्वत और देवपर्वत ये चार वक्षस्कार पर्वत दक्षिणी तट पर अवस्थित है। वक्षस्कार का अर्थ है—गज-दन्त के आकार का पर्वत।

शीता महानदी के उत्तर की ओर आठ चक्रवर्ती विजय है। उनके नाम हैं—कच्छ, सुकच्छ, महाकच्छ, कच्छकावती, आवर्त्त, मगलावर्त्त, पुष्कल और पुष्कलावती।

शीता महानदी के दक्षिण की ओर वच्छ, सुवच्छ, महावच्छ, वच्छावती, रम्य, रम्यक, रमणीय और मंगलावती ये आठ चक्रवर्त्ती विजय है। शीतोदा महानदी के दक्षिण की ओर आठ चक्रवर्ती विजय हैं, उनके नाम है—पक्ष्म, सुपक्ष्म, महापक्ष्म, पक्ष्मावती, शंख, नलिन, कुमुद और सलिलावती।

शीतोदा महानदी के उत्तर की ओर आठ चक्रवर्त्ती विजय है—वप्र, सुवप्र, महावप्र, वप्रावती, वल्गु, सुवल्गु, गंधिला, गंधिलावती।

चक्रवर्ती के आठ-आठ विजयो मे एक-एक राजधानी है। प्रत्येक राजधानी १२ योजन लम्बी और ९ योजन चौडी है। कच्छ विजय मे क्षेमा, सुकच्छ मे क्षेमपुरी, महाकच्छ मे अरिष्टा, कच्छकावती मे रिष्टावती, आवर्त्त मे खड्गी, मंगलावर्त्त में मजूषा, पुष्कल मे ऋषभपुरी, पुष्कलावती मे पुंडरीकिणी राजधानी है।

वत्स नामक विजय मे सुसीमा राजधानी है, सुवत्स में कुण्डला, महावत्स मे अपराजिता, वत्सवती में प्रभंकरा, रम्य विजय में अंकावती, रम्यक में पक्ष्मावती, रमणीय विजय में शुभा, मगलावती विजय में रत्नसंचया राजधानी है।

पश्चिम महाविदेह में शीतोदा महानदी के दक्षिण की ओर आठ विजयों मे आठ राजधानियां है। पक्ष्मविजय मे आसपुरा, सुपक्ष्म में सिंहपुरा, महापक्ष्म में महापुरा, पक्ष्मावती में विजयपुरा, शख विजय में अपराजिता, नलिन मे अपरा, कुमुद मे अशोका, सलिलावती में वीतशोका राजधानी है।

पश्चिम महाविदेह में शीतोदा महानदी के उत्तर की ओर आठ चक्रवर्ती विजयो की आठ राजधानियां हैं, जैसे कि वप्र विजय मे विजया, सुवप्र मे वैजयन्ती, महावप्र में जयन्ती, वप्रवती में अपराजिता, वल्गु में चक्रपुरा, सुवल्गु में खड्गपुरा, गन्धिला में अवध्या और

गन्धिलावती मे अयोध्या राजधानी है। इस प्रकार महाविदेह क्षेत्र मे ३२ विजय हैं और ३२ ही राजधानियां हैं। प्रत्येक विजय मे ६-६ खण्ड हैं। प्रत्येक विजय की लम्बाई-चौड़ाई भरतक्षेत्र-प्रमाण है।

बत्तीस विजयों में शलाका पुरुषों का अस्तित्व

मूल—जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं उक्कोसपए अट्ठ अरहंता, अट्ठ चक्कवट्टी, अट्ठ बलदेवा, अट्ठ वासुदेवा उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जंति वा, उप्पज्जिस्संति वा।

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए दाहिणेणं उक्कोसपए एवं चेव।

जंबूमंदरपच्चत्थिमेणं सीओयाए महाणईए दाहिणेणं उक्कोसपए एवं चेव। एवं उत्तरेणवि ॥४९॥

छाया—जम्बूमन्दर पौरस्त्ये शीताया· महानद्याः उत्तरे उत्कर्षपदे अष्टौ अर्हन्तः, अष्टौ चक्रवर्तिनः, अष्टौ बलदेवाः, अष्टौ वासुदेवाः उदपद्यन् वा, उत्पद्यन्ते वा, उत्पत्स्यन्ते वा।

जम्बूमन्दरपौरस्त्ये शीतायाः महानद्याः दक्षिणेन उत्कर्षपदे एवमेव।

जम्बूमन्दरपौरस्त्ये शीतोदायाः महानद्याः दक्षिणे उत्कर्षपदे एवमेव। एंवमुत्तरेऽपि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूमन्दर की पूर्ववर्तिनी शीता महानदी के उत्तर की ओर उत्कर्षपद में आठ अरिहन्त, आठ चक्रवर्ती, आठ वासुदेव, आठ बलदेव भूत काल में उत्पन्न हुए, वर्तमान में हैं और भविष्यत् काल में उत्पन्न होंगे।

जम्बूमन्दर की पूर्ववर्तिनी शीता नदी के दक्षिण मे उत्कर्षता की अपेक्षा से उपरोक्त वर्णन समझना चाहिए।

जम्बूमन्दर की पश्चिमवर्तिनी शीतोदा महानदी के दक्षिण में और उत्तर मे भी उत्कृष्ट सख्या इसी तरह जाननी चाहिये।

विवेचनिका—पूर्व महाविदेह और पश्चिम महाविदेह में शीता और शीतोदा महा-नदियों के दक्षिण और उत्तर की ओर आठ-आठ विजय हैं, जिनका विवरण पूर्व सूत्र मे दिया जा चुका है। अब सूत्रकार उनकी उपयोगिता बतलाते है। सभी विजयों में अधिक से अधिक ३२ तीर्थंकर हो सकते हैं। आठ-आठ विजयो मे आठ-आठ तीर्थंकर , आठ-आठ चक्रवर्ती, आठ-आठ वासुदेव एव बलदेव अतीत काल मे उत्पन्न हुए, उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होंगे।

तीर्थंकर तो एक युग मे ३२ हो सकते है, किन्तु चक्रवर्ती एक युग में ३२ नहीं, २८

ही हो सकते हैं, कारण यह है कि चार वासुदेव तो नियमेन होते ही हैं। एक समय मे और एक विजय मे चक्रवर्ती और वासुदेव दोनों का राज्य एक साथ नही हो सकता। जब ३२ विजयों में २८ चक्रवर्ती होते हैं, तब चार विजयो मे चार वासुदेव और चार बलदेव होते है, किन्तु जब २८ वासुदेव और २८ बलदेव होते हैं। तब शेष चार विजयों में चार ही चक्रवर्ती होते हैं। अरिहन्त चार से कम नही, ३२ से अधिक नही होते। चक्रवर्ती कम से कम चार और अधिक से अधिक २८ होते है। इसी तरह वासुदेव और बलदेव के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

महाविदेह के ज्ञातव्य भौगोलिक पदार्थ

मूल—जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीताए महानईए उत्तरेणं अट्ठदीहवेयड्ढा, अट्ठ तिमिस्स गुहाओ, अट्ठ खंडगप्पवायगुहाओ, अट्ठ कयमालगा देवा, अट्ठ णट्टमालगा देवा, अट्ठ गंगा कुंडा, अट्ठ सिंधुकुंडा, अट्ठ गंगाओ, अट्ठ सिंधूओ, अट्ठ उसभकूडा पव्वया, अट्ठ उसभकूडा देवा पण्णत्ता।

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीताए महानईए दाहिणेणं अट्ठ दीहवेअड्ढा एवं चेव, जाव अट्ठ उसभकूड-देवा पण्णत्ता। नवरमेत्थ रत्ता-रत्तावईओ, तासिं चेव कुंडा।

जंबूमंदरपच्चत्थिमे णं सीओयाए महानईए दाहिणेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा जाव अट्ठ नट्टमालगा देवा, अट्ठ गंगाकुंडा, अट्ठ सिंधुकुंडा, अट्ठ गंगाओ, अट्ठ सिंधूओ, अट्ठ उसभकूडपव्वया, अट्ठ उसभकूडा देवा पण्णत्ता।

जंबूमंदरपच्चत्थिमेणं सीओयाए महानईए उत्तरेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा जाव अट्ठ नट्टमालगा देवा, अट्ठ रत्तकुंडा, अट्ठ रत्तावइकुंडा, अट्ठ रत्ताओ जाव अट्ठ उसभकूडदेवा पण्णत्ता ॥५०॥

छाया—जम्बूमन्दरपौरस्त्ये शीताया महानद्या उत्तरेऽष्टौ दीर्घवैताढ्याः, अष्टौ तिमिस्रगुहाः, अष्टौ खण्डप्रपातगुहाः, अष्टौ कतमालका देवाः अष्टौ नाट्यमालका देवाः अष्टौ गङ्गाकुण्डानि, अष्टौ सिन्धुकुण्डानि, अष्टौ गङ्गा अष्टौ सिन्धवः, अष्टौ ऋषभकूटाः पर्वताः, अष्टौ ऋषभकूटदेवाः प्रज्ञप्ताः।

जम्बूमन्दरपौरस्त्ये शीताया महानद्या दक्षिणेऽष्टदीर्घवैताढ्या एवमेव यावद् अष्टौ ऋषभकूडदेवाः प्रज्ञप्ताः, नवरमत्र रक्तारक्तवत्यः तासामेव कुण्डानि।

जम्बूमन्दरस्य पाश्चात्ये शीतोदाया महानद्याः दक्षिणे अष्ट दीर्घवैताढ्याः यावद् अष्ट नाट्यमालकाः देवाः, अष्ट गङ्गाकुण्डानि, अष्ट सिन्धुकुण्डानि, अष्ट गङ्गाः,

अष्ट सिन्धवः, अष्ट ऋषभकूटपर्वताः, अष्ट ऋषभकूटदेवाः प्रज्ञप्ताः।

जम्बूमंदरपाश्चात्ये शीतोदाया महानद्या उत्तरे अष्टौ दीर्घवैताढ्या यावद् अष्ट नाट्यमालका देवाः, अष्ट रक्तकुण्डानि, अष्ट रक्तावतिकुण्डानि, अष्टौ रक्ता यावद् अष्टौ ऋषभकूटदेवाः प्रज्ञप्ताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूमन्दर की पूर्ववर्तिनी शीता महानदी के उत्तर में आठ दीर्घवैताढ्य पर्वत हैं, आठ तिमिस्रगुफाएं हैं, आठ खण्डप्रपात गुफायें हैं, आठ कृतमालक नामक देव हैं, आठ नाट्यमालक देव है, आठ गङ्गाकुण्ड हैं, आठ सिन्धुकुण्ड हैं, आठ गंगा हैं और आठ ही सिन्धु हैं। आठ ऋषभकूट पर्वत हैं, तथा आठ ही ऋषभकूट देव हैं।

जम्बूमन्दर की पूर्ववर्तिनी शीता महानदी के दक्षिण में आठ दीर्घवैताढ्य नामक पर्वत हैं। इसी तरह यावत् ऋषभ कूटनामक देव वर्णन किए गए हैं। वहां इतनी विशेषता है कि नदियों के नाम रक्ता और रक्तावती तथा इन्हीं के उद्भव-स्थान कुण्ड है।

जम्बूमन्दर की पश्चिमवर्तिनी शीतोदा महानदी के दक्षिण में आठ दीर्घ वैताढ्य पर्वत यावत् आठ नाट्यमालक देव, आठ गंगा-कुण्ड, आठ सिन्धु-कुण्ड, आठ गंगायें, आठ सिन्धु, आठ ऋषभकूट पर्वत और आठ ऋषभकूट देव वर्णन किए गए है।

जम्बूमन्दर की पश्चिमवर्तिनी शीतोदा महानदी के उत्तर में आठ दीर्घ वैताढ्य पर्वत यावत् आठ नाट्यमालक देव, आठ रक्तकुण्ड, आठ रक्तावतीकुण्ड, आठ रक्ता यावत् आठ ऋषभकूटदेव वर्णन किए गए हैं।

विवेचनिका—जम्बूद्वीप के अन्तर्गत मेरुपर्वत से पूर्व की ओर शीता महानदी के उत्तर की ओर आठ विजय हैं। प्रत्येक विजय मे एक दीर्घवैताढ्य पर्वत है, एक तिमिस्र-गुफा है, एक खण्डप्रपात गुफा है, एक कृतमालदेव और एक नट्टमालदेव है। एक गङ्गाकुण्ड और एक सिन्धुकुण्ड है। एक गङ्गा महानदी है और एक सिन्धु महानदी है। एक ऋषभकूट है और एक ऋषभकूट देव है।

वैताढ्य के साथ दीर्घपद इसलिए जोडा गया है कि वैताढ्य पर्वत वृत्ताकार भी है, अत: उस का व्यवच्छेद करने के लिए दीर्घपद की योजना की गई है।

ऋषभकूट सभी गोलाकार हैं, वे सब आठ योजन ऊंचे है। उनकी मूल में १२ योजन चौड़ाई है, मध्य मे आठ योजन की और ऊपर चार योजन की चौड़ाई है। जिस-जिस पर्वत, गुफा, नदी आदि के नाम ऊपर दिए गए हैं, उसी के कारण प्रत्येक विजय के षट् खण्ड बनते

हैं। शीता महानदी की दक्षिण दिशा में जो आठ विजय है, उनमें भी सब वर्णन पहले की तरह है। अन्तर केवल इतना ही है कि गगा-सिन्धु के स्थान पर रक्ता और रक्तवती कुण्ड कहने चाहिएं। इनके कुण्ड ६० योजन प्रमाण लम्बे-चौडे हैं। उनके ठीक मध्य भाग में आठ-आठ योजन के लम्बे-चौड़े द्वीप है जिन पर नदी की अधिष्ठात्री देवियों का प्रभुत्व है।

शीतोदा महानदी के दक्षिण की ओर जो आठ विजय है, उनके प्रत्येक विजय मे गगा और सिन्धु महानदियां हैं। शीतोदा महानदी के उत्तर की ओर आठ विजयो मे रक्ता और रक्तवती महानदी प्रवाहित होती हैं। शीता महानदी के उत्तर और दक्षिण मे जो आठ-आठ विजय हैं, उनमें ८ गंगा, ८ सिन्धु तथा ८ रक्ता और ८ रक्तवती, ये ३२ महानदियां शीता महानदी में मिलती हैं। इसी तरह पश्चिम की ३२ महानदियां शीतोदा महानदी मे मिलती हैं। शेष सब वर्णन एक समान है।[1]

मेरु-चूलिका का मध्यमान

मूल—मंदरचूलिया णं बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते ॥५१॥

छाया—मन्दरचूलिका खलु बहुमध्यदेशभागेऽष्टौ योजनानि विष्कम्भेन प्रज्ञप्ता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—मन्दरपर्वत की चूलिका का अत्यन्त मध्यभाग चौडाई की अपेक्षा आठ योजन परिमाण कथन किया गया है।

विवेचनिका—भौगोलिक वर्णन परम्परा मे मन्दर भी महत्त्वपूर्ण पर्वत है। उसकी चूलिका चालीस योजन ऊची है, उसका ऊपरी भाग चार योजन, मूल भाग बारह योजन और उसका ठीक मध्य भाग आठ योजन विस्तार वाला है।

धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध का संक्षिप्त विवरण

मूल—धायइसंडदीवे पुरत्थिमद्धेणं धायइरुक्खे अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ते, बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते। एवं धायइरुक्खाओ आढवेत्ता सच्चेव जंबूदीववत्तव्वया भणियव्वा जाव मंदरचूलियत्ति। एवं पच्चत्थिमद्धेवि महाधायइरुक्खाओ आढवेत्ता जाव मंदरचूलियत्ति। एवं पुक्खरवरदीवड्ढ-पुरच्छिमद्धेवि पउमरुक्खाओ आढवेत्ता जाव मंदरचूलियत्ति। एवं पुक्खवरदीवपच्चत्थिमेणं महापउमरुक्खाओ जाव मंदरचूलियत्ति ॥५२॥

---

१ विस्तृत वर्णन के लिए देखिए जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति।

छाया—धातकीखण्डद्वीपे पौरस्त्यार्द्धे धातकीवृक्षोऽष्टौ योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तः, बहुमध्यदेशभागेऽष्टौ योजनानि विष्कम्भेण, सातिरेकाण्यष्टौ योजनानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तः। एवं धातकीवृक्षादारभ्य सैव जम्बूद्वीपवक्तव्यता भणितव्या यावन्मन्दर-चूलिकेति। एवं पाश्चात्यार्द्धेऽपि महाधातकीवृक्षादारभ्य यावन्मन्दरचूलिकेति। एवं पुष्करवरद्वीपार्द्धपौरस्त्यार्द्धेऽपि पद्मवृक्षादारभ्य यावन्मन्दरचूलिकेति। एवं पुष्कर-वरद्वीपपाश्चात्यार्द्धेऽपि महापद्मवृक्षाद् यावद् मन्दरचूलिकेति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—धातकीखण्ड के पूर्वार्द्ध में धातकीवृक्ष ऊंचाई की अपेक्षा से आठ योजन है और उसका अत्यन्त मध्यभाग चौड़ाई की अपेक्षा से आठ योजन कथन किया गया है। वह सम्पूर्ण परिमाण की अपेक्षा से आठ योजन से कुछ अधिक है।

इसी प्रकार धातकीवृक्ष से लेकर वही जम्बूद्वीप की सारी वक्तव्यता मन्दर-चूलिका तक कहनी चाहिए। इसी प्रकार पाश्चात्यार्द्ध में भी महाधातकी वृक्ष से लेकर मंदरचूलिका पर्यन्त वर्णन जानना चाहिए। इसी तरह पुष्करवरद्वीप के पूर्वार्द्ध मे पद्मवृक्ष से लेकर मन्दरचूलिका पर्यन्त तथा पुष्करवरद्वीप के पाश्चात्यार्द्ध में महापद्म-वृक्ष से लेकर मन्दरचूलिका पर्यन्त जानना चाहिये।

विवेचनिका—जम्बूद्वीप में जिस प्रकार जम्बूवृक्ष से लेकर मदरचूलिका पर्यन्त जिन पदार्थो का वर्णन किया गया है, उसी तरह धातकीखंड द्वीप मे धातकीवृक्ष से लेकर मदर-चूलिका पर्यन्त समस्त पदार्थो का वर्णन यहां पर भी समझ लेना चाहिए।

पश्चिमार्द्ध में महाधातकी वृक्ष से लेकर मंदरचूलिका पर्यन्त सब वर्णन एक समान है और नाम भी वे ही है, जो पहले वर्णित हैं।

इसी तरह पुष्करवरद्वीप के पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध के विषय में भी जान लेना चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है कि पूर्वार्द्ध पुष्करवर द्वीप मे पद्मवृक्ष से अन्य पदार्थो की गणना प्रारम्भ की जाती है और पश्चिमार्द्ध पुष्करवर द्वीप मे महापद्म वृक्ष से गणना प्रारम्भ होती है। शेष सब वर्णन एक समान ही है और नाम भी वे ही है, जिन नामो का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

जिन वृक्षों के नामोल्लेख किए गए हैं, वे सब उत्तरकुरु क्षेत्र मे विद्यमान हैं। उत्तरकुरु क्षेत्र पांच है। किस क्षेत्र मे कौन-सा वृक्ष है इसका निर्देश सूत्रकार ने स्वयं ही दे दिया है। सभी वृक्ष आठ योजन ऊचे हैं और उनके मध्य भाग का विस्तार भी आठ योजन का ही है।

भद्रशाल वन के दिशा-हस्तिकूट

मूल—जंबूदीवे दीवे मंदरे पव्वए भद्दसालवणे अट्ठ दिसाहत्थिकूडा पण्णत्ता, तं जहा—

पउमत्तर नीलवंते सुहत्थि अंजणागिरी कुमुए य।
पलासए वडिंसे अट्ठमए रोयणगिरी॥

जंबूदीवस्स णं दीवस्स जगई अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं बहुमज्झ-देसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं॥५३॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरे पर्वते भद्रशालवनेऽष्टौ दिशाहस्तिकूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

पद्मोत्तरो नीलवान् सुहस्ती, अञ्जनगिरिः कुमुदश्च।
पलाशकोऽवतंसः अष्टमकः रोचनगिरिः॥

जम्बूद्वीपस्य खलु द्वीपस्य जगती अष्ट योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन बहुमध्यदेशभागे अष्ट योजनानि विष्कम्भेणम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप सम्बन्धित मेरु पर्वत के भद्रशाल वन मे आठ दिग्हस्ती कूट कथन किए गए हैं, जैसे—पद्मोत्तर, नीलवान्, सुहस्ती, अञ्जनगिरि, कुमुद, पलाशक, अवतंस और आठवां रोचनगिरि हस्तीकूट है।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप की जगती की ऊचाई आठ योजन है और सबसे अधिक चौड़ाई मध्य भाग मे आठ योजन की वर्णन की गई है।

विवेचनिका—जम्बूद्वीप की वर्णन-परम्परा के अतर्गत प्रस्तुत सूत्र मे दिशा-हस्ति-कूट और जगती का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। मेरुपर्वत के चारो ओर भद्रशालवन है। मेरुपर्वत के चारो दिशाओं मे पचास-पचास योजन की दूरी पर जाकर चार सिद्धायतन हैं। सभी सिद्धायतन ३६ योजन ऊचे, २५ योजन चौडे और ५० योजन लम्बे हैं। प्रत्येक सिद्धायतन के चारो ओर बावड़िया है।

भद्रशालवन की चार विदिशाओ मे पचास-पचास योजन दूरी पर जाकर चार प्रासाद है। प्रत्येक प्रासाद ५०० योजन ऊचा है। जो महल वायव्य और ईशान कोण मे है, उन पर ईशानेन्द्र का आधिपत्य है, किन्तु आग्नेय और नैर्ऋत्य कोण में जो प्रासाद है, उन पर शक्रेन्द्र का अधिकार है।

शीता और शीतोदा महानदी के दोनो तटो पर चारों दिशाओं में आठ हस्तिकूट है। प्रत्येक दिशा में दो-दो हस्तिकूट हैं। जो कि हिमवान कूट के समान ५०० योजन ऊंचे और हाथी के आकार वाले हैं। इसीलिए उन्हें दिग्गज भी कहते है। पूर्वदिशा मे पद्मोत्तर और नीलवंत, दक्षिण में सुहस्ती और अजनगिरि, पश्चिम में कुमुद और पलाशक और उत्तर मे अवतंसक और रोचनगिरि है। इन आठ हस्तिकूटो का आकार-प्रकार एक समान है।

जम्बूद्वीप की जगती आठ योजन ऊंची है, उसका मध्यभाग भी आठ योजन विस्तार वाला है। वह जगती जम्बूद्वीप के कोट के समान है। दिग्गजों और जगती का विस्तृत वर्णन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और जीवाभिगम सूत्र में प्राप्त होता है।

पर्वतों के कूट एवं दिक्कुमारियां

मूल—जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं महाहिमवंते वासहरपव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे महाहिमवंते, हिमवंते रोहिया हरिकूडे।
हरिकंता हरिवासे, वेरुलिये चेव कूडा उ ॥१॥

जंबूमंदरउत्तरेणं रुप्पिम्मि वासहरपव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे य रुप्पी रम्मग नरकंता बुद्धि रुप्पकूडे य।
हिरण्णवए मणिकंचणे य, प्पिम्मि कूडा उ ॥२॥

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

रिट्ठे तवणिज्ज-कंचणरययं, दिसासोत्थिए पलंबे य।
अंजण अंजणपुलए, रुयगस्स पुरच्छिमे कूडा ॥३॥

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति, तं जहा—

णंदुत्तरा य णंदा, आणंदा णंदिवद्धणा।
विजया य वेजयंती, जयंती अपराजिया ॥४॥

जंबूमंदरदाहिणेणं रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

कणए कंचणे पउमे, नलिणे ससि दिवायरे चेव।
वेसमणे वेरुलिए रुयगस्स उ दाहिणे कूडा ॥५॥

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ जाव पलिओवमट्ठिईयासो परिवसंति, तं जहा—

समाहारा सुप्पइण्णा सुप्पबुद्धा जसोहरा।
लच्छिवई सेसवई, चित्तगुत्ता वसुंधरा ॥६॥

जंबूमंदरपच्चत्थिमेणं रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सोत्थिए य अमोहे य, हिमवं मंदरे तहा।
रुअगे रुयगुत्तमे चंदे, अट्ठमे य सुदंसणे ॥७॥

तत्थ णंमट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ जाव पलिओव-मट्ठिईयाओ परिवसंति, तं जहा—

इलादेवी सुरादेवी, पुढवी पउमावई।
एगनासा णवमिया, सीया भद्दा य अट्ठमा ॥८॥

जंबूमंदरउत्तरेणंरुअगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

रयणे रयणुच्चए य सव्वरयण रयणसंचए चेव।
विजय य विजयंते, जयंते अपराजिए ॥९॥

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ जाव पलिओव-मट्ठिईयाओ परिवसंति, तं जहा—

अलंबुसा मियकेसी, पोंडरिगी य वारुणी।
आसा य सव्वगा चेव, सिरी हिरी चेव उत्तराओ ॥१०॥

अट्ठ अहेलोगवत्थव्वाओ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ, पण्णत्ताओ, तं जहा—

भोगंकरा भोगवई, सुभोगा भोगमालिणी।
सुवच्छा वच्छमित्ता य, वारिसेणा बलाहगा ॥११॥

अट्ठ उड्ढलोगवत्थव्वाओ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

मेघंकरा मेघवई, सुमेघा मेघमालिणी।
तोयधारा विचित्ता य, पुप्फमाला अणिंदिया ॥१२॥५४॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणे महाहिमवति वर्षधरपर्वते अष्टकूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

सिद्धो महाहिमवान्, हिमवान् रोहितो हरिकूटम्।
हरिकान्ता हरिवर्षः, वैडूर्यश्चैव कूटानि तु ॥१॥

जम्बूमन्दरोत्तरे रुक्मिणिवर्षधरपर्वतेऽष्टौ कूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

सिद्धश्च रुक्मी, रम्यको नरकान्ता बुद्धीरुप्यकूटञ्च।
हिरण्यवान् मणिकाञ्चनञ्च, रुक्मिणि कूटानि तु ॥२॥

जम्बूमन्दरपौरस्त्ये रुचकवरे पर्वते अष्टकूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

रिष्टं तपनीयं काञ्चन रजतं, दिशासौवस्तिकं प्रलंबश्च।
अञ्जनमञ्जनपुलकं, रुचकस्य पौरस्त्ये कूटानि॥३॥

तत्र अष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिका महर्द्धिका यावत्पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—

नन्दोत्तरा च नन्दाऽऽनन्दा नन्दिवर्धना।
विजया च वैजयन्ती, जयन्ती अपराजिता॥४॥

जम्बूमन्दरदक्षिणे रुचकवरे पर्वते अष्टकूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

कनकं काञ्चनं, पद्मं नलिनं शशी दिवाकरश्चैव।
वैश्रमणो वैडूर्यञ्च, रुचकस्य तु दक्षिणे कूटानि॥५॥

तत्र अष्टदिक्कुमारीमहत्तरिका महर्द्धिका यावत्पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति तद्यथा—

समाहारा सुप्रतिज्ञा, सुप्रतिबुद्धा यशोधरा।
लक्ष्मीवती शेषवती, चित्रगुप्ता वसुन्धरा॥६॥

जम्बूमन्दरपाश्चात्ये रुचकवरे पर्वतेऽष्टकूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

स्वस्तिकश्चामोघश्च, हिमवान् मन्दरस्तथा।
रुचको रुचकोत्तमः, चन्द्रोऽष्टमश्च सुदर्शनः॥७॥

तत्र अष्ट दिक्कुमारीमहत्तरिका महर्द्धिका यावत्पल्योपमस्थितिका. परिवसन्ति, तद्यथा—

इलादेवी सुरादेवी, पृथ्वी पद्मावती।
एकनासा नवमिका, सीता भद्रा चाष्टमी॥८॥

जम्बूमन्दरोत्तरे रुचकवरे पर्वतेऽष्टकूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

रत्नं रत्नोच्चयश्च, सर्वरत्नं रत्नसञ्चयश्चैव।
विजयश्च वैजयन्तः, जयन्तोऽपराजितः॥९॥

तत्र अष्ट दिक्कुमारीमहत्तरिका महर्द्धिका यावत् पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—

अलम्बुषा मितकेशी, पुण्डरीकी च वारुणी।
आशा च सर्वगा चैव, श्रीः ह्रीश्चैव उत्तरे॥१०॥

अष्टौ अधोलोकवास्तव्याः दिक्कुमारीमहत्तरिका महर्द्धिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

भोगंकरा भोगवती, सुभोगा भोगमालिनी।
सुवत्सा सुवत्समित्रा च, वारिषेणा बलाहका॥११॥

अष्ट ऊर्ध्वलोकवास्तव्याः दिक्कुमारीमहत्तरिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

मेघंकरा मेघवती, सुमेघा मेघमालिनी।
तोयंधरा विचित्रा च, पुष्पमाला अनिन्दिता॥१२॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप-सम्बन्धी मेरुपर्वत के दक्षिण मे महाहिमवान् नामक वर्षधर पर्वत पर आठ कूट अर्थात् चोटिया वर्णन की गई हैं, यथा-सिद्ध, महाहिमवान, हिमवान्, रोहित, हरिकूट, हरिकान्ता, हरिवर्ष और आठवा वैडूर्यकूट।

जम्बूमन्दर के उत्तर में रुक्मी नामक वर्षधर पर्वत के आठ कूट कथन किए गए हैं, यथा—सिद्ध, रुक्मी, रम्यक, नरकान्ता, बुद्धि, रुप्यकूट, हिरण्यवान् और मणिकाञ्चन।

जम्बूमन्दर के पूर्व मे रुचकवर नामक पर्वत के आठ कूट कथन किए गए है, यथा— रिष्टकूट, तपनीय, काञ्चन, रजत, दिशासौवस्तिक, प्रलम्ब, अञ्जन, अञ्जनपुलक।

वहां पर महाऋद्धि वाली प्रधान यावत् पल्योपम स्थिति वाली आठ दिशा-कुमारिकाएं निवास करती हैं, जैसे—नन्दोत्तरा, नन्दा, आनन्दा, नन्दिवर्धना, विजया, वैजयन्ती जयन्ती और अपराजिता।

जम्बूमन्दर के दक्षिण में रुचकवर पर्वत के आठ कूट हैं, यथा—कनक, काञ्चन, पद्म, नलिन, शशी, दिवाकर, वैश्रमण और वैडूर्य।

वहा पर आठ महर्द्धिक प्रधान यावत् पल्योपम स्थिति वाली दिशा कुमारिया निवास करती है, जैसे, समाहारा, सुप्रतिज्ञा, सुप्रबुद्धा, यशोधरा, लक्ष्मीवती, शेषवती, चित्रगुप्ता और वसुन्धरा।

जम्बूमन्दर के पश्चिम में रुचकवर पर्वत पर आठ कूट है, यथा—स्वस्तिक, अमोघ, हिमवान्, मन्दर, रुचक, रुचकोत्तम, चन्द्र और सुदर्शन।

वहां पर महर्द्धिक प्रधान यावत् पल्योपमस्थिति वाली आठ दिशा कुमारियां निवास करती है, जैसे—इलादेवी, सुरादेवी, पृथ्वी, पद्मावती, एकनासा, नवमिका, सीता तथा भद्रा।

जम्बूमन्दर के उत्तर में रुचकवर पर्वत पर आठ कूट है, जैसे—रत्न, रत्नोच्चय, सर्वरत्न, रत्नसंचय, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित।

वहा पर आठ महती ऋद्धि वाली प्रधान यावत् पल्योपम स्थिति वाली दिशा-

कुमारिया निवास करती हैं जैसे—अलम्बुषा, मितकेशी, पुण्डरीकिणी, वारुणी, आशा, सर्वगा, श्री और ह्री।

अधोलोक में रहने वाली आठ महर्द्धिक दिशाकुमारिया हैं, यथा—भोगंकरा, भोगवती, सुभोगा, भोगमालिनी, सुवत्सा, वत्समित्रा, वारिषेणा, बलाहका।

ऊर्ध्वलोक में रहने वाली प्रधान आठ दिशाकुमारिया निवास करती है, जैसे—मेघंकरा, मेघवती, सुमेघा, मेघमालिनी, तोयधरा, विचित्रा, पुष्पमाला और अनिन्दिता।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे जबूद्वीप की जगती का वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत सूत्र में देव और देवियो से अधिष्ठित कूटो का वर्णन किया जा रहा है। जबूद्वीपस्थ मेरुपर्वत से दक्षिण की ओर हेमवत और हरिवर्ष क्षेत्र की मर्यादा धारण करने वाला महाहिमवान वर्षधर पर्वत है, जिस पर आठ कूट है। पूर्व की ओर सिद्धकूट है। शेष सात कूट क्रमश: पश्चिम मे हैं। कूटों के जैसे नाम है, वैसे ही नाम देवों और देवियो के हैं जैसे कि किसी देव विशेष का नाम सिद्ध है, उससे अधिष्ठित कूट को सिद्ध-कूट कहते है।

जो देव महाहिमवान और हिमवान वर्षधर पर्वतो के अधिष्ठाता हें, उन्ही के नाम से दूसरा और तीसरा कूट है। चौथा कूट रोहिता नामक नदी की अधिष्ठात्री देवी से अधिष्ठित है। ह्री नामक देवी महापद्म ह्रद मे निवास करने वाली है। उसका पाचवे कूट पर भी अधिकार है। हरिकान्ता एक नदी की अधिष्ठात्री देवी हे, छठे कूट पर उसी का अधिकार है। इसी तरह शेष कूटो के विषय मे भी समझना चाहिए।

जम्बूद्वीपस्थ मेरु से उत्तर दिशा की ओर रुक्मी पर्वत है। वह हैरण्यवत और रम्यगवर्ष इन दो क्षेत्रों की मर्यादा धारण करने वाला वर्षधर पर्वत है। उस पर भी आठ कूट है। वह पर्वत भी पूर्व पश्चिम की ओर महाहिमवान की तरह लम्बा है। जिस देव और दवी का जिस कूट पर आधिपत्य है। उसका नाम कुछ कूट के सदृश और कुछ असदृश है।

४८ दिक्कुमारियों के निवास-स्थान—

दिशाओ का विभाग जम्बूद्वीपस्थ मेरु पर्वत से किया जाता है। जम्बूद्वीप से यदि द्वीपों की गणना की जाए, तो १७ वा चक्रवालविष्कभ वाला वलयाकार रुचकवर द्वीप है। उस द्वीप के ठीक मध्यभाग मे गोलाकार रुचक पर्वत के चारो दिशाओ म आठ-आठ कूट हैं। उन पर ३२ दिक्कुमारियो के आवास-स्थान है। वे देवियां महाऋद्धि वाली, महातेज वाली, महासुख वाली, अचिन्त्य प्रभाव वाली पल्योपम स्थिति वाली हैं। उनके नाम मूलार्थ में दिए जा चुके है। ये दिक्कुमारिया तीर्थकरो के जन्म-कल्याणक के समय उपस्थित होती हैं। रुचक वर पर्वत की पूर्व दिशा मे जो रिष्ट आदि आठ कूटो पर रहने वाली आठ दिक्कुमारिया हैं, वे श्री भगवान के जन्म-समय के भवन मे आकर हाथ मे दर्पण लेकर गीत गाती हुई श्री भगवान की उपासना करती है। नन्दोत्तरा, नन्दा, आनन्दा, नन्दिवर्द्धना, विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता ये उन देवियो के नाम है।

जम्बूद्वीपस्थ मेरु से दक्षिण की ओर रुचकपर्वत पर कनक आदि आठ कूट हैं, उन मे रहने वाली आठ दिक्कुमारियों के नाम क्रमशः निम्नलिखित हैं—समाहारा, सुप्रतिज्ञा, सुप्रबुद्धा, यशोधरा, लक्ष्मीवती, शेषवती, चित्रगुप्ता, वसुधरा। ये आठ दिक्कुमारियां श्री भगवान के जन्म समय उपस्थित होती है, शृंगार-प्रसाधन हाथ मे लिए सूतिका भवन की दक्षिण दिशा में खड़ी होकर गीत गाती हुई श्री भगवान की उपासना करती हैं।

जम्बूद्वीपस्थ मेरु से पश्चिम की ओर रुचकपर्वत पर स्वस्तिक आदि आठ कूटो पर क्रमशः आठ दिक्कुमारियां रहती हैं। उनके नाम नीचे लिखे अनुसार है, जैसे कि इलादेवी, सुरादेवी, पृथ्वी, पद्मावती, एकनासा, नवमिका, सीता और भद्रा। ये आठ दिक्कुमारिया जिन-भवन से पश्चिम की ओर तालवृन्त हाथ मे लिए खडी होकर भक्ति गीत गाती हुई श्री भगवान की उपासना करती है।

जम्बूद्वीपस्थ मेरु से लेकर उत्तर की ओर जो रुचक पर्वत पर रत्न आदि आठ कूट है, उन पर क्रमशः आठ दिक्कुमारियां निवास करती हैं। उनके नाम क्रमशः नीचे लिखे अनुसार हैं, जैसे कि—अलम्बुषा, मितकेशी, पुण्डरीकिणी, वारुणी, आशा, सर्वगा, श्री और ह्री। ये आठ दिक्कुमारियां जिन-भवन से पश्चिम की ओर तालवृन्त हाथ में लिए खडी होकर भक्ति के गीत गाती हुई श्री भगवान की उपासना करती हैं।

अधोलोक में आठ दिक्कुमारियों का निवास है। उनके नाम इस प्रकार है—भोगकरा, भोगवती, सुभोगा, भोगमालिनी, सुवत्सा, वत्समित्रा, वारिषेणा और वलाहका। इन में पहली दो सौमनस पर्वत पर निवास करती हैं। तीसरी और चौथी गधमादन पर्वत पर रहती हैं। पाचवी और छठी विद्युत्प्रभ पर्वत पर रहती है। सातवी और आठवी माल्यवत पर्वत पर रहती हैं। भोगकरां आदि आठ दिक्कुमारिया जिन-जन्मोत्सव पर आती है। जिन-भवन के आस-पास की भूमि को सवर्त्तक वायु के द्वारा साफ करती है। यदि मल आदि अशुभ एव अनिष्ट वस्तु कही पर हो, उसे दूर हटाती है।

ऊर्ध्वलोक मे रहने वाली आठ दिक्कुमारी देविया नन्दन वन आदि के कूटो मे रहती है, जो कि श्री भगवान के जन्म-भवन के चारों ओर योजन प्रमाण मद-मंद वर्षा के द्वारा रज को शान्त करती है। इनकी नामावली नीचे लिखे अनुसार है—मेघंकरा, मेघवती, सुमेघा, मेघमालिनी, तोयंधरा, विचित्रा, पुष्पमाला, अनिन्दिता।[1]

तिर्यक् मिश्रोपपन्नक कल्प

मूल—अट्ठ कप्पा तिरियमिस्सोववन्नगा पण्णत्ता, तं जहा—सोहम्मे जाव सहस्सारे।

---

१ इनका पूर्ण विवरण जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र के जिन-जन्म महिमा अधिकार मे देखें।

एएसु णमट्ठसुकप्पेसु अट्ठ इंदा पण्णत्ता, तं जहा—सक्के जाव सहस्सारे।

एएसि णं अट्ठण्हमिंदाणं अट्ठ परियाणिया विमाणा पण्णत्ता, तं जहा—पालए, फुप्फए, सोमणसे, सिरिवच्छे, णंदावत्ते, कामकमे, पीइमणे, विमले ॥५५॥

छाया—अष्ट कल्पास्तिर्यङ्मिश्रोपपन्नकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सौधर्मो यावत् सहस्रारः।

एतेषु खलु अष्टसु कल्पेषु अष्टौ इन्द्राः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शक्रो यावत् सहस्रारः।

एतेषामष्टानामिन्द्राणामष्टौ पारियानिकानि विमानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पालकः, पुष्पक·, सौमनसः, श्रीवत्सः, नन्दावर्त्तः, कामकमः, प्रीतिमनः, विमलः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तिर्यच और मनुष्य जिन कल्प देवलोकों में पैदा हो सकते हैं, वे सौधर्म कल्प से लेकर सहस्रार पर्यन्त आठ देवलोक हैं।

इन आठ कल्पों में क्रमशः शक्रेन्द्र से लेकर सहस्रार पर्यन्त आठ इन्द्र हैं।

इन आठ इन्द्रों के पालक, पुष्पक, सौमनस, श्रीवत्स, नन्दावर्त्त, कामकमा, प्रीतिमना और विमल नामक आठ यात्रिक विमान वर्णन किए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में देव-वर्णन के अन्तर्गत दिक्-कुमारियों का परिचय दिया गया है। अब सूत्रकार उसी परम्परा मे तिर्यच मिश्रित देवलोको, उनके अधिष्ठाता इन्द्रो और उनके यात्रिक विमानों का परिचय देते हैं।

इस सूत्र से यह बात सिद्ध की गई है कि भवनपति, वानव्यन्तर और ज्योतिष्क तथा पहले देवलोक से लेकर आठवे देवलोक पर्यन्त जितने भी देव और देविया हैं, उनकी आगति मनुष्य और तिर्यच दोनों में से होती है। आठवे कल्प देवलोक पर्यन्त जितनी भी देव जातिया है, वे न केवल मनुष्य से जाकर उत्पन्न होते है, अपितु तिर्यच पचेन्द्रिय से भी जीव आठवे देवलोक को प्राप्त कर सकते हैं। कहा भी है—"**तिरियमिस्सोववन्नग त्ति—अष्टसु तिर्यञ्चोऽप्युत्पद्यन्ते इति भूतभवापेक्षया तिर्यग्भिर्मिश्रस्तिर्यङ्मिश्रास्ते मनुष्या उपपन्ना देवतया जाता येषु ते तिर्यङ्मिश्रोपपन्नका इति।**"

इन आठ कल्पो से च्यव कर जीव तिर्यच गति में भी उत्पन्न हो सकते है। ९वे देवलोक से लेकर छब्बीसवे देवलोक तक देव मनुष्य गति से ही जाकर उत्पन्न होते है और वहां से च्यव कर मनुष्यगति में ही लौटते हैं।

आठ कल्पों मे आठ इन्द्र है, शक्र और यावत् पद से ईशान्, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक और महाशुक्र ये नाम ग्रहण किए जाते है।

इन आठ इन्द्रों के आठ पारियानिक विमान हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—पालक, पुष्पक, सौमनस, श्रीवत्स, नन्दावर्त्त, कामकम, प्रीतिमन, विमल। जब इन्द्र किसी कारणवश कही दूसरे स्थान में जाने की इच्छा करते हैं, तब आभियोगिक देवों द्वारा विमान बनाए जाते हैं, ये विमान सब वैक्रियमय होते हैं। जो जिस विमान का नाम है, उसी नाम का आभियोगिक देवता इन्द्र का आदेश मिलने पर उसे तैयार करता है। विमानों के नाम तो स्थायी है, किन्तु विमान स्थायी नही है। आवश्यकता पड़ने पर वे तैयार किए जाते हैं और कार्य की पूर्णता होने पर स्वय ही अदृश्य हो जाते हैं।

अष्ट-अष्टमिका भिक्षु-प्रतिमा

मूल—अट्ठट्ठमियाणं भिक्खुपडिमाणं चउसट्ठीए राइंदिएहिं दोहि य अट्ठासीएहिं भिक्खासएहिं अहासुत्तं जाव अणुपालियावि भवइ ॥५६॥

छाया—अष्टाष्टमिका भिक्षुप्रतिमा चतुष्षष्ट्या रात्रिंदिवैर्द्वाभ्याञ्चाष्टाशीतिभिक्षा-शताभ्यां यथासूत्रं यावद् अनुपालिताऽपि भवति।

शब्दार्थ—अट्ठट्ठमियाण—अष्टाष्टमिका नामक, **भिक्खुपडिमाणं**—भिक्षु प्रतिमा, **चउसट्ठीएहिं राइंदिएहिं**—चौंसठ रात-दिनों मे, **दोहि य अट्ठासीएहिं भिक्खासएहिं**—और दो सौ अठासी भिक्षाओं द्वारा, **अहासुत्तं**—सूत्रानुसार, **जाव**—यावत्, **अणुपालियावि भवइ**—अनुपालन की जाती है।

मूलार्थ—अष्टाष्टमिका नामक भिक्षुप्रतिमा चौंसठ रात-दिनों में दो सौ अठासी भिक्षाओं द्वारा सूत्रानुसार पालन की जाती है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में आठ इन्द्रो और उनके विमानो का वर्णन किया गया है जिन्हे देव-ऋद्धि कहा जा सकता है। ये ऋद्धियां भिक्षु-प्रतिमा आदि साधनाओ द्वारा ही प्राप्त होती है, अत: सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में विविधविध भिक्षु-प्रतिमाओं मे से अष्ट-अष्टमिका भिक्षु-प्रतिमा का वर्णन करते है। प्रतिमा शब्द अभिग्रह-विशेष का वाची है। अष्ट-अष्टमिका भिक्षुप्रतिमा की पूर्ति में ६४ अहोरात्र लगते है और २८८ भिक्षा की दत्तियां लगती हैं। इस अनुष्ठान की प्रक्रिया इस प्रकार है—पहले आठ दिन एक-एक दत्ति भोजन की और एक-एक ही दत्ति पानी की ली जाती है। द्वितीय अष्टक में दो-दो दत्तियां भोजन की और दो-दो दत्तिया पानी की। इसी तरह तीसरे अष्टक

अट्ठ-अट्ठमिया भिक्खु पडिमा								
१	१	१	१	१	१	१	१	८
२	२	२	२	२	२	२	२	१६
३	३	३	३	३	३	३	३	२४
४	४	४	४	४	४	४	४	३२
५	५	५	५	५	५	५	५	४०
६	६	६	६	६	६	६	६	४८
७	७	७	७	७	७	७	७	५६
८	८	८	८	८	८	८	८	६४
६४ दिवसा ✷ २८८ दत्तिओ								

में तीन-तीन एवं आठवे अष्टक मे आठ-आठ दत्तियां भोजन और पानी की ग्रहण करनी होती हैं। इस प्रकार इसकी पूर्ति में कुल ६४ अहोरात्र लगते हैं। दत्तियों की कुल संख्या २८८ होती हैं। इतनी ही पानी की दत्तिया होती हैं।

इस अनुष्ठान का पूर्ण विवरण दशाश्रुतस्कन्धसूत्र की सातवीं दशा मे उपलब्ध होता है। सूत्र मे आए हुए जाव पद से '**अहाकप्पा, अहामग्गा, अहातच्चा, सम्मं काएण फासिया, पालिया, सोहिया, तीरिया, किट्टिया, आराहिया**' पद ग्रहण किए जाते हैं। जिनका क्रमशः अर्थ है—कल्प अर्थात् आचार के अनुरूप, मोक्षादि के मार्गानुकूल, तत्त्व के अनुसार, साम्य भाव से शरीर के द्वारा स्पर्श करना, उपयोग में लाकर उसकी रक्षा करना, अतिचारों से शुद्धीकरण करना, कीर्ति द्वारा उसे पूर्ण करना, उसकी सम्यक्तया आराधना करना एवं गुरुजनों की आज्ञा के अनुरूप प्रतिमा का पालन करना साधक का कर्त्तव्य है।

संसार-समापन्नक जीव

मूल—अट्ठविहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—पढमसमय-नेरइया, अपढमसमय-नेरइया, एवं जाव अपढम-समयदेवा।

अट्ठविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—नेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, मणुस्सा, मणुस्सीओ, देवा, देवीओ, सिद्धा।

अहवा अट्ठविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—आभिणिबोहियनाणी जाव केवलनाणी, मइ-अन्नाणी, सुय-अण्णाणी, विभंगणाणी॥५७॥

छाया—अष्टविधाः संसारसमापन्नका जीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रथमसमय-नैरयिकाः, अप्रथमसमय-नैरयिकाः, एवं यावद् अप्रथमसमयदेवाः।

अष्टविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैरयिकाः, तिर्यग्योनिकाः, तिर्यग्योनिकाः, मनुष्याः, मानुष्यः, देवाः, देव्यः, सिद्धाः।

अथवा अष्टविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानी, यावत् केवलज्ञानी, मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आठ प्रकार के संसारी जीव वर्णन किए गए हैं, यथा—प्रथमसमय-नारकीय, अप्रथमसमय-नारकीय यावत् अप्रथम-समयदेव।

आठ प्रकार के सब जीव वर्णन किए गए हैं, यथा—नारकीय, तिर्यच, तिर्यंची, मनुष्य, मानुषी, देव, देवी और सिद्ध।

अथवा आठ प्रकार के सर्व जीव कथन किए गए है, यथा—आभिनिबोधिक-ज्ञानी यावत् केवलज्ञानी, मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी, विभंग-ज्ञानी।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे अष्ट अष्टमिका भिक्षु-प्रतिमा का वर्णन किया गया है। इस प्रकार की तपस्याएं संयम-परायण मुनीश्वर ही कर सकते हैं, सामान्य ससारी जीव तप और संयम की आराधना नहीं कर पाते हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र में आठ प्रकार के उन संसारी जीवों का वर्णन किया गया है।

वे आठ प्रकार के जीव हैं—प्रथम समय में उत्पन्न हुए नारकी और अप्रथम समय में उत्पन्न हुए नारकी। इसी तरह तिर्यंच, मनुष्य और देवों पर्यन्त जानना चाहिए। जिन जीवो को नरक मे उत्पन्न हुए एक ही समय हुआ है, वे 'प्रथम-समय-नैरयिक' और जिनको उत्पन्न हुए अनेक समय हो चुके है वे 'अप्रथम-समय-नैरयिक' कहलाते हैं। इसी तरह तिर्यंच, मनुष्य तथा देवो के विषय मे भी दो-दो भेद जानने चाहिए।

आठ प्रकार के सर्व जीव—

सभी जीवों का अन्तर्भाव आठ बोलो मे हो जाता है, जैसे कि—नारकी, तिर्यच, तिर्यंची, मनुष्य, मानुषी, देव, देवी और सिद्ध। सभी नारकी केवल नपुंसक वेदी होते हैं। सिद्ध तीनों वेदों से रहित होते है। तिर्यच और मनुष्य इन पदों से पुरुष और नपुंसक दोनों का ग्रहण हो जाता है। देव-गति में नपुंसक वेदी नहीं होते हैं। वहां स्त्री-वेदी और पुरुष-वेदी ही होते हैं।

आठ प्रकार के सवजीव—

जीव ज्ञान और अज्ञान के कारण आठ तरह के हैं जैसे कि आभिनिबोधिक-ज्ञानी, श्रुत-ज्ञानी, अवधि-ज्ञानी, मन:पर्यवज्ञानी, केवल-ज्ञानी, मति-अज्ञानी, श्रुताज्ञानी और विभंगज्ञानी। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी। आत्म-ज्ञान से युक्त साधक ज्ञानी और अज्ञान से युक्त मानव अज्ञानी होता है। आभिनिबोधिक शब्द मतिज्ञान के लिए ही प्रयुक्त होता है, अज्ञान के लिए नहीं। इसीलिए सूत्रकार ने अभिनिबोधिक न कहकर मति-अज्ञानी कहा है। विभगज्ञानी का भाव है—विपरीतावधिज्ञानी। जिस तरह अवधिज्ञानी पदार्थो के यथार्थ रूपों को जानता एवं देखता है, उसी तरह विभंगज्ञानी सम्यक्तया न जान सकता है और न देख सकता है। क्योकि उसका ज्ञान एकान्तवाद को लिए हुए होता है। विभगज्ञान के स्वरूप का विवेचन सातवे स्थान में किया जा चुका है।

अष्टविध-संयम

मूल—अट्ठविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा—पढम-समय-सुहुमसंपराय-सरागसंजमे, अपढम-समय-सुहुम-संपराय-सरागसंजमे, पढम-समय-बादरसंजमे, अपढम-समय-बादर-संजमे, पढम-समय-उवसंत-कसाय-वीयराग-संजमे, अपढम-समय-उवसंत-कसाय-वीयराग-संजमे, पढम-समय-खीणकसाय-वीयराग संजमे, अपढम-समय-खीणकसाय-वीयराग-संजमे ॥५८॥

छाया—अष्टविधः संयमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रथमसमय-सूक्ष्म-सम्पराय-सराग-संयमः, अप्रथम-समय सूक्ष्मसम्पराय-सरागसंयमः, प्रथमसमय-बादर-संयमः अप्रथमसमय-बादरसंयमः, प्रथमसमयोपशान्तकषाय- वीतरागसंयमः, अप्रथमसमयोपशान्तकषाय-वीतरागसंयमः, प्रथमसमय क्षीणकषायवीत- रागसंयमः, अप्रथमसमयः-क्षीणकषाय-वीतरागसंयमः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आठ प्रकार का सयम बतलाया गया है, जैसे—प्रथम समय का सूक्ष्म सम्पराय संयम, अप्रथम-समय का सूक्ष्मसम्पराय-सयम, प्रथम-समय का बादर सम्पराय संयम, अप्रथम-समय का बादर सम्पराय-संयम, प्रथम-समय का उपशान्त-कषाय-वीतराग-संयम, अप्रथम-समय का उपशान्त-कषाय-वीतराग-संयम। प्रथम-समय का क्षीण-कषाय-वीतराग-सयम, अप्रथम समय का क्षीण-कषाय-वीतराग-सयम।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे संसार-समापन्नक जीवो का ही वर्णन किया गया है। ससार मे रहे हुए जीव ही सयम-आराधना करके ससार से मुक्ति प्राप्त कर सकते है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे संयम के आठ भेदो का वर्णन किया गया है।

संयम के मूलतः दो भेद है—'सराग-सयम' और 'वीतराग-सयम'। इनमे से सराग-संयम के दो भेद है—सूक्ष्म-सपराय-सराग-संयम और बादर-सपराय-सराग-सयम। प्रत्येक संयम के साथ प्रथम-समय और अप्रथम-समय जोड देने से सराग-संयम के चार भेद हो जाते हैं। संज्वलन कषाय की मात्रा अत्यन्त सूक्ष्म होने पर जो चारित्र होता है, उसे 'सूक्ष्म-सपराय-सराग- सयम' कहा जाता है। स्थूल संज्वलन कषायो के होने पर जिस चारित्र का पालन किया जाता है वह "बादर-सपराय-सराग-सयम" कहलाता है। इनमें सयम के पहले दो भेद दसवें गुणस्थान में होते हैं और सयम का तीसरा और चौथा भेद छठे से लेकर नौवे गुणस्थान तक पाया जाता है। दसवे गुणस्थान मे प्रवेश करते ही पहले समय मे 'प्रथम-समय-सूक्ष्म-सपराय-सराग-संयम' होता है। शेष समयो मे 'अप्रथम-समय-सूक्ष्म-सपराय-सराग-सयम' हुआ करता है। दसवे गुणस्थान से नीचे उतरते ही पहले समय मे 'प्रथम समय बादर-संपराय-सराग-संयम' होता है। शेष मे अप्रथम-समय-बादर-सम्पराय-सराग-संयम' पाया जाता है।

वीतराग सयम भी दो प्रकार का होता है—उपशान्त-कषाय-वीतराग-संयम और क्षीण कषाय वीतराग-सयम। इनमें से पहला संयम ग्यारहवे गुणस्थान मे होता है और दूसरा बारहवे गुणस्थान मे पाया जाता है। इन दोनों के दो-दो भेद हैं—प्रथम समय और अप्रथम समय। इन दो पदों को जोडकर वीतराग संयम चार प्रकार का हो जाता है अर्थात् प्रथम-समय-उपशान्त कषाय-वीतराग-सयम, अप्रथम-समय-उपशान्त- कषाय-वीतराग-

संयम। प्रथम-समय-क्षीण-कषाय-वीतराग-सयम और अप्रथम-समय-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम के रूप में वीतराग संयम के चार भेद माने जाते हैं।[1]

आठ पृथ्वियां

मूल—अट्ठ पुढवीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—रयणप्पभा जाव अहे सत्तमा, ईसिपब्भारा।

ईसीपब्भाराए णं पुढवीए बहुमज्झदेसभागे अट्ठजोयणिए खेत्ते अट्ठ-जोयणाइ बाहल्लेणं पण्णत्ते।

ईसीपब्भाराए णं पुढवीए अट्ठ नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—ईसिइ वा, ईसिपब्भाराइ वा, तणूइ वा, तणुतणुइ वा, सिद्धीइ वा, सिद्धालएइ वा, मुत्तीइ वा, मुत्तालएइ वा॥५९॥

छाया—अष्टौ पृथिव्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रत्नप्रभाः यावत् अधःसप्तमी, ईषत्प्राग्भारा।

ईषत्प्राग्भारायाः पृथिव्या बहुमध्यदेशभागे अष्टयोजनिकक्षेत्रमष्टयोजनानि बाहुल्येन—प्रज्ञप्तम्।

ईषत्प्राग्भारायाः, पृथिव्या अष्टनामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—ईषद् इति वा, ईषत्प्राग्भारेति वा, तनुरिति वा, तनु-तनुरिति वा, सिद्धिरिति वा, सिद्धालय इति वा, मुक्तिरिति वा, मुक्तालय इति वा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आठ पृथ्वियां वर्णन की गई हैं, यथा—रत्नप्रभा से लेकर सातवी अध:सप्तमी और आठवीं ईषत्प्राग्भारा।

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के अत्यन्त मध्यभाग मे आठ योजन का क्षेत्र मोटाई की अपेक्षा आठ योजन का कथन किया गया है।

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के आठ नाम इस प्रकार है, यथा—ईषत्, ईषत्प्राग्भारा, तनु, तनु-तनु, सिद्धि, सिद्धालय, मुक्ति और मुक्तालय।

विवेचनिका—सयम का पालन पृथ्वीस्थ प्राणी ही करते हैं, अत: पूर्व सूत्र में सयम-भेदों का वर्णन करके अब सूत्रकार आठ पृथ्वियों का परिचय देते हैं। पृथ्वियां आठ है—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा, तमतमाप्रभा और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी। इनमें से ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी का मध्यभाग आठ योजन मोटा है। उस पृथ्वी के गुणनिष्पन्न

---

१ विस्तृत वर्णन के लिए देखिए भगवती सूत्र शतक २५।

आठ नाम है, जैसे कि सबसे छोटी होने से उसे ईषत् कहते है। यह अन्य पृथ्वियों की अपेक्षा सब से ऊपर है, लम्बाई-चौड़ाई में स्वल्प है, इस कारण उसे ईषत्प्राग्भारा कहते हैं। सबसे पतली होने से उसे तनु भी कहते है। अति तन्वी होने से, उसे तनुतनु भी कहा जाता है, क्योंकि उसके किनारे मक्खी के पख के समान अति पतले हैं। सिद्धो के समीप होने से उसे सिद्धि या सिद्धालय भी कहते हैं। इसी तरह उसे मुक्ति और मुक्तालय भी कहते हैं। यह व्यावहारिक दृष्टि को लक्ष्य में रखकर कथन किया गया है। जैसे कि **"गंगायां घोष:"** गंगा मे कुटीर है, अर्थात् गगा के किनारे कुटीर है, यह लक्षणा से जाना जाता है। इसी तरह सिद्धि, सिद्धालय, मुक्ति और मुक्तालय ये चार नाम लक्ष्यार्थ के रूप में लिए गए हैं।

आवश्यकीय-कर्त्तव्य

मूल—अट्ठहिं ठाणेहिं समं संघडियव्वं, जइयव्वं, परक्कमियव्वं, अस्सिं च णं अट्ठे णो पमाएयव्वं भवइ—असुयाणं धम्माणं सम्मं सुणणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, सुयाणं धम्माणं ओगिण्हणयाए अवधारणयाए अब्भुट्ठियव्वं भवइ, पावाणं कम्माणं संजमेणमकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, पोराणाणं कम्माणं तवसा विगिंचणयाए, विसोहणयाए अब्भुट्ठे-यव्वं भवइ, असंगिहीयपरियणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, सेहं आयारगोयरगहणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्च-करणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, साहम्मियाणमधिगरणंसि उप्पण्णंसि तत्थ अनिस्सियोवस्सिओ अपक्खग्गाही मज्झत्थभावभूए, कह णु साहम्मिया अप्पसद्दा, अप्पझंझा, अप्पतुमंतुमा उवसामणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ ॥६०॥

छाया—अष्टसु स्थानेषु सम्यक् संघटितव्यं, यतितव्यं, पराक्रमितव्यमस्मिंश्चार्थे नो प्रमादयितव्यं भवति—अश्रुतानां धर्माणां सम्यक् श्रवणतायै अभ्युत्थातव्यं भवति, श्रुतानां धर्माणामवग्रहणतायै उपधारणतायै अभ्युत्थातव्यं भवति, पापानां कर्मणां संयमेनाकरणतायै अभ्युत्थातव्यं भवति, पुराणानां कर्मणां तपसा विवेचनतायै विशो-धनतायै अभ्युत्थातव्यं भवति, असंगृहीतपरिजनस्य संग्रहणतायै अभ्युत्थातव्यं भवति, शैक्षस्याचारगोचरग्रहणतायै अभ्युत्थातव्यं भवति, ग्लानस्याग्लान्या वैयावृत्यकरणतायै अभ्युत्थातव्यं भवति, साधर्मिकाणामधिकरणे उत्पन्ने तत्रानिश्रितोपश्रितोऽपक्षग्राही, मध्यस्थभावभूतः कथं नु साधर्मिका अल्पशब्दाः, अल्पझंझा, अल्पतुमंतुमा· उपशामन-तायै अभ्युत्थातव्यं भवति।

शब्दार्थ—अट्ठहिं ठाणेहिं—आठ स्थानो मे, **समं**—सम्यक् प्रकार से, **संघडियव्वं**—अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए, **जइयव्वं**—प्राप्त को बनाए रखने के

लिए प्रयत्न करना चाहिए, **परक्कमियव्वं**—शक्ति क्षीण होने पर भी पराक्रम बनाए रखना चाहिए, **अस्सिं च णं अट्ठे**—इस विषय में, **णो पामाएयव्वं भवइ**—प्रमाद न करना चाहिए, यथा, **असुयाणं धम्माणं**—न सुने हुए धर्मो को, **सम्मं सुणणयाए**—सम्यक् प्रकार से सुनने के लिए, **अब्भुट्ठेयव्वं भवइ**—उद्यम करना चाहिए, **सुयाणं धम्माणं**—सुने हुए धर्मो को, **ओगिण्हणयाए**—चिन्तन करने के लिए और, **अवधारणयाए**—तत्सम्बन्धी दृढ संस्कार बनाने के लिए, **अब्भुट्ठेयव्वं भवइ**—उद्यम करना चाहिए। **पावाणं कम्माणं संजमेण-मकरणयाए**—सयम द्वारा पाप-कर्मों को न करने के लिए, **अब्भुट्ठेयव्वं भवइ**—उद्यम करना चाहिए। **पोराणाणं कम्माणं**—पहले कृतकर्मो की, **तवसा विगिंचणयाए**—तप द्वारा निर्जरा और, **विसोहणयाए**—विशुद्धि के लिए, **अब्भुट्ठेयव्वं भवइ**—प्रयत्न करना चाहिए। **असंगिहीयपरियणस्स**—अनाश्रित शिष्यादि परिजन की, **संगिण्हणयाए**—सार संभाल करने लिए, **अब्भुट्ठेयव्वं भवइ**—प्रयत्न करना चाहिए। **सेहं आयार-गोयर-गहणयाए**—नवदीक्षित-शिष्यादि को आचार-विचार और भिक्षाचर्या आदि सिखाने के लिए, **अब्भुट्ठेयव्वं भवइ**—प्रयत्न करना चाहिए। **गिलाणस्स अगिलाए**—रोगी की घृणा छोडकर, **वेयावच्चकरणयाए**—सेवा-भक्ति करने के लिए, **अब्भुट्ठेयव्वं भवइ**—प्रयत्न करना चाहिए। **साहम्मियाणमधिगरणंसि उप्पण्णंसि**—साधर्मियो में क्लेश उत्पन्न हो जाने पर, **तत्थ**—उस विवाद में, **अनिस्सियोवस्सिओ**—राग-द्वेष से रहित होकर, **अपक्खग्गाही**—किसी का पक्ष न लेकर, **मज्झत्थभावभूए**—मध्यस्थ भाव को प्राप्त हो कर, **कह णु**—किस प्रकार, **साहम्मिया**—साधर्मी, **अप्पसद्दा**—व्यर्थ के महान शब्द न बोलने वाले, **अप्पझंझा**—व्यर्थ व असगत वचन न बोलने वाले, **अप्पतुमंतुमा**— क्रोध और मान से तूं-तू शब्द न बोलने वाले होगे, इस प्रकार, **उवसामणयाए**—क्लेश को शान्त करने के लिए, **अब्भुट्ठेयव्वं भवइ**—उद्यम करना चाहिए।

मूलार्थ—आठ स्थानो में साधक को सम्यक् प्रकार से अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने और प्राप्त वस्तु के सरक्षण करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस विषय मे क्षणमात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

अश्रुत धर्मो को सम्यक् प्रकार से श्रवण के लिए और श्रुत धर्मो का चिन्तन करने तथा तद्विषयक दृढ़ सस्कार बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। संयम द्वारा पाप कर्मों को न करने के लिए यत्न करना चाहिए। पुराने कर्मो की तप द्वारा निर्जरा और विशुद्धि करने के लिए यत्न करना चाहिए। आश्रय-रहित शिष्यादि रूप परिवार को आश्रय देने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। नवदीक्षित शिष्यादि को आचार तथा भिक्षाचर्या आदि की विधि सिखाने के लिए यत्न करना चाहिए। घृणा को छोड़कर रोगियों की सेवा के लिए प्रयत्नवान बनना चाहिए। स्वधर्मियों में क्लेश उत्पन्न होने पर उस विवाद में राग-द्वेष रहित होकर किसी का पक्ष न लेकर

मध्यस्थ भाव को धारण कर इस बात के लिए यत्न करना चाहिए कि यह क्लेश किस प्रकार शान्त हो जिससे व्यर्थ के शब्द और असंगत तथा क्रोध और मान से उत्पन्न परस्पर की 'तूं-तू मैं-मैं' शब्द का बोलना समाप्त हो जाए।

विवेचनिका—पूर्वसूत्र में आठ पृथ्वियो का वर्णन किया गया है। पृथ्वी पर स्थित साधको के लिए ही साध्य का निर्देश किया जाता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में साधको के लिए आठ साधनीय विषयों का वर्णन किया गया है। अप्रमत्त-भाव से शुभानुष्ठान करने पर सिद्धिया प्राप्त होती है, इस शुभ-अनुष्ठान के रूप में भगवान् की आठ शिक्षाओ का पालन करना अनिवार्य है। इसीलिए कहा गया है—**'सम्मं सघडियव्वं'**—अर्थात् सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। **जइयव्वं**—वे शिक्षाएं यदि प्राप्त हो, तो उनकी रक्षा के लिये सावधान रहना चाहिए। **परक्कमियव्वं**—शक्ति क्षीण होने पर भी उन शिक्षाओं की आराधना मे दत्त-चित्त रहना चाहिए। उनके पालन के लिए दिन-प्रतिदिन उत्साह बढ़ाते रहना चाहिए। यदि उत्साह प्रबल होगा, तो शक्ति न होने पर भी साधक स्वकर्त्तव्य के प्रति हतोत्साह नही हो सकता। **अस्सि च णं अट्ठे नो पमायव्वं भवइ**—उन आठ शिक्षाओ के पालन करने मे बिल्कुल भी प्रमाद नही करना चाहिए। यहां प्रमाद का अर्थ है "स्वकर्त्तव्य-विस्मृति"। इन चार पदो से उन आठ शिक्षाओ की महत्ता एवं साधक-जीवन के लिए उपयोगिता स्पष्ट की गई है।

आठ सुशिक्षाएं

१ नही सुने हुए धर्मो को सम्यक् प्रकार से सुनने के लिए उद्यत रहना चाहिए। सूत्रकार ने यहा धर्म शब्द का प्रयोग बहुवचनान्त किया है, क्योंकि धर्म के अनेक अग है, जैसे कि—सम्यक्त्व-धर्म, श्रुत-धर्म, और चारित्रधर्म, अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप धर्म, अथवा आगार-धर्म और अनगार-धर्म इत्यादि। इन समस्त धर्मो के पालन के लिए साधक को यत्नशील रहना चाहिए।

२. साधक भेद-प्रभेदो सहित सुने हुए धर्म को मनन का विषय बनाए, उसमे सतत मन को एकाग्र करे, स्मृति-पथ मे रखे, जिससे आत्मा में धर्म संस्कारो की अमिट छाप पड सके। धर्म की स्मृति बनी रहने से ही आत्मा कर्म-मल से सर्वथा निर्लिप्त हो सकता है।

३. सयम आराधना से पापकर्मो को दूर करने के लिए भी साधक को प्रयत्नशील रहना चाहिए। विकार एव दोषजनक सभी उपाधियो का सयम के द्वारा निराकरण करना, उन पाप-कर्मो को पुन: न करने के लिए ही उद्यत होना साधक के लिए परम आवश्यक है।

४. साधक को पूर्वबद्ध कर्मो का क्षय करने के लिए यथाशक्य तप भी करना चाहिए। तप करने से घातिकर्मो का स्थितिघात तथा रसघात होता है, जिससे कर्मो से छुटकारा पाना सहज हो जाता है। संयम-आराधना से पाप-कर्म न करने के लिए प्रतिज्ञा की जाती है और तप से संचित कर्मो का क्षय किया जाता है।

५. नये शिष्यो के सग्रह करने के लिए अथवा निराश्रित सहधर्मी को अपने समुदाय

में सम्मिलित करने के लिए अथवा जैनेतर को जिन धर्म से प्रभावित करने के लिए साधक को निरंतर प्रयास करना चाहिए। ''जिसका कोई नहीं है, उसके तुम बनो'' यह भगवान की उक्ति जीवो को आश्रय देने वाली है।

६. नये शिष्यों को साधु-धर्म की मर्यादाए सिखाने के लिए यत्नशील होना चाहिए, क्योंकि नए साधक के लिए संयम-सुमेरु के शिखर पर पहुचाने वाली यदि कोई शिक्षा है तो वह आचार-गोचर ही है। जैसे प्रशिक्षण के बिना सैनिक विजय नहीं पा सकता, वैसे ही आचार-गोचर शिक्षा प्राप्त किए बिना साधक कर्मों पर विजय नहीं पा सकता।

७. रोगग्रस्त या पीड़ाग्रस्त सर्व-विरति के बिना किसी तरह खेद माने सयम-पूर्वक वैयावृत्य करने के लिए साधक को यत्नशील रहना चाहिए, क्योकि अनुकम्पाजन्य सुकोमलता ही धर्म की जननी है। रोगग्रस्त को सयम में सुदृढ़ बनाए रखने से साधक और साधना-शिक्षक दोनो का कल्याण होता है।

८ जब सहधर्मियो में किसी कारणवश परस्पर विरोध खड़ा हो जाए मन-मुटाव हो या क्लेश उत्पन्न हो जाए, तब साधक को अपने या दूसरे का पक्ष न लेकर राग-द्वेष से अलग होकर मध्यस्थ भाव से झगडो का निपटारा एव परस्पर खिमत-खिमावना करके संघ मे शान्ति स्थापन करनी चाहिए। पहले के शान्त हुए कलह की पुन: उदीरणा भी नहीं करनी चाहिए। जिस से संघ मे विद्या-विनय एवं विवेक का प्रसार हो, वैसी क्रियाए करने का प्रयास करना चाहिए। जैनधर्म शान्ति, सहिष्णुता, एकता, वात्सल्य आदि सद्गुणो मे परिव्याप्त है, कषायो के उभारने में जैन धर्म आज्ञा नही देता।

ये शिक्षाए प्राणीमात्र के लिए उपयोगी है, न कि केवल जैन साधकों के लिए। अत. इनकी सर्वजनीन महत्ता सब के लिए मान्य है।

कल्प द्वय का उच्चत्व-मान

मूल—महासुक्क-सहस्सारेसु णं कप्पेसु विमाणा अट्ठ जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता॥६१॥

छाया—महाशुक्र-सहस्त्रारयोर्विमानानि अष्टौ योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—महाशुक्र एवं सहस्त्रार कल्पदेवलोकों मे ऊंचाई की अपेक्षा से विमान आठ सौ योजन ऊंचे वर्णन किए गए है।

विवेचनिका—जो साधक प्रमाद से रहित है, वे उच्चदेवलोको मे उत्पन्न होते हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र में विमानों का प्रमाण बताया गया है। सातवें और आठवें देवलोक में जितने भी विमान हैं, वे सब आठ सौ योजन प्रमाण ऊंचे है।

श्री अरिष्टनेमि की वादि-सम्पदा

मूल—अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अट्ठसया वाईणं सदेवमणुयासुराए परिसाए वाए अवराजियाणं उक्कोसिया वाइसंपया हुत्था ॥६२॥

छाया—अर्हतोऽरिष्टनेमे: अष्टवादिशतानां सदेवमनुजासुराणां परिषदि वादेऽपराजितानामुत्कृष्टा वादिसंपदभूत्।

शब्दार्थ—अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स—अर्हत् अरिष्टनेमि जी के, **अट्ठसयावाईणं**—आठ सौ वादियो की, **सदेवमणुयासुराए**—देवो, मनुष्यों और असुरों की, **परिसाए**—सभा मे, **वाए अवराजियाणं**—वाद में अपराजित अर्थात् जिन्हें जीता नहीं जा सकता, **उक्कोसिया**—उत्कृष्ट, **वाइसंपया हुत्था**—वादियो की सम्पदा थी।

मूलार्थ—अरिहन्त अरिष्टनेमि जी की उत्कृष्ट वादि-सम्पदा आठ सौ वादियों की थी। ये वादी ऐसे थे कि देव, मनुष्यो और असुरों की परिषद् में किसी से भी नही जीते जा सकते थे।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे सातवें और आठवे देवलोक के विमानो की ऊंचाई का वर्णन किया गया है। उन विमानों में अरिहन्तो की चरण-शरण में रहने वाले अपराजेय विद्याभ्यासी निवास किया करते हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार अरिहन्त श्री अरिष्टनेमि जी के अजेय विद्याभ्यासियों की गणना बताते हुए कहते हैं—

अरिहन्त अरिष्टनेमि भगवान के शासनकाल में आठ सौ शास्त्रार्थ महारथी हुए हैं। उन साधुओ को देव, मनुष्य या असुर कोई भी वाद मे पराजित नहीं कर सकता था। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र की प्रभावना वाद द्वारा ही हो सकती है। जैसे हेतु के सम्मुख हेत्वाभास नहीं ठहर सकता और जैसे दिवाकर के सामने अधकार नही ठहर सकता, वैसे ही सम्यग्-ज्ञान के सामने अज्ञान नही ठहर सकता, सम्यग्दर्शन के सामने मिथ्यादर्शन नहीं ठहर सकता, सयमी के सामने पाखडी नहीं ठहर सकता। अत: धर्म प्रभावना मे सम्यग्वाद की भी अत्यत आवश्यकता रहती है। सम्यग्वाद से ही मिथ्यावाद का निराकरण किया जा सकता है। मिथ्यादृष्टियों को शास्त्रार्थ में पराजित करने से धर्म-प्रभावना होती है, प्रभावना से जीव सुलभबोधि बनता है तथा सुगति का अतिथि भी। वे वादी सदैव प्रमाण और नय के द्वारा वाद का प्रारम्भ किया करते थे, इसी कारण वे किसी से पराजित नही होते थे। भगवान अरिष्टनेमि के युग में उन वादी मुनीश्वरो की कुल संख्या आठ सौ थी।

केवलि-समुद्घात

मूल—अट्ठसमइए केवलिसमुग्घाए पण्णत्ते, तं जहा—पढमे समए दंडं करेइ, बीए समए कवाडं करेइ, तइए समए मंथानं करेइ, चउत्थे समए

लोगं पूरेइ, पंचमे समए लोगं पडिसाहरइ, छट्ठे समए मंथं पडिसाहरइ, सत्तमे समए कवाडं पडिसाहरइ, अट्ठमे समए दंडं पडिसाहरइ ॥६३॥

छाया—अष्टसामयिकः केवलिसमुद्घातः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रथमे समये दण्डं करोति, द्वितीये समये कपाटं करोति, तृतीये समये मन्थानं करोति, चतुर्थे समये लोकं पूरयति, पञ्चमे समये लोकं प्रतिसंहरति, षष्ठे समये मन्थानं प्रतिसंहरति, सप्तमे समये कपाटं प्रतिसंहरति, अष्टमे समये दण्डं प्रतिसंहरति।

शब्दार्थ—केवलिसमुग्घाए—केवलि-समुद्घात, **अट्ठसमइए पण्णत्ते**—आठ समय का प्रतिपादन किया गया है, **तं जहा**—यथा, **पढमे समए**—पहले समय में आत्म प्रदेशों को, **दंडं करेइ**—दण्डाकार बनाता है, **बीए समए कवाडं करेइ**—दूसरे समय में कपाटाकार बनाता है, **तइए समए मंथानं करेइ**—तीसरे समय में मन्थानक बनाता है, **चउत्थे समए लोगं पूरेइ**— चौथे समय में लोक को पूरता है, **पंचमे समए लोगं पडिसाहरइ**—पांचवें समय में लोक का प्रतिसंहार करता है, **छट्ठे समए मंथं पडिसाहरइ**—छठे समय में मन्थानक का प्रतिसहार करता है, **सत्तमे समए कवाडं पडिसाहरइ**—सातवे समय में कपाट का प्रतिसंहार करता है, और, **अट्ठमे समए दडं पडिसाहरइ**—आठवे समय मे दण्ड का प्रतिसहार करता है।

मूलार्थ—केवलिसमुद्घात आठ समय का कथन किया गया है, यथा—प्रथम समय में आत्म-प्रदेशो को दण्डरूप मे परिणत करता है, द्वितीय समय मे कपाट बनाता है, तृतीय समय मे मन्थानक बनाता है, चतुर्थ समय मे समस्त लोक को आत्म-प्रदेशो से परिव्याप्त कर देता है, पञ्चम समय मे लोक का प्रतिसहार करता है, छट्ठे समय में मन्थानक का प्रतिसहार करता है, सातवें में कपाट का तथा आठवे समय में दण्ड का प्रतिसहार करके यथावस्थित हो जाता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में भगवान् अरिष्टनेमि जी की वादी-सम्पदा का वर्णन किया गया है। अपराजेय ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न मुनीश्वर ही 'केवली' पद प्राप्त किया करते हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र मे केवलीसमुद्घात का वर्णन किया गया है।

अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त करने वाले किसी-किसी केवली भगवान के जब वेदनीय आदि कर्म अत्यधिक हों और आयु-कर्म स्वल्प हो, तब वे कर्मो को सम करने के लिए समुद्घात किया करते हैं। अन्तर्मुहूर्त पहले आवर्जिकर्म होता है। आवर्जि कर्म का अर्थ है—कर्मो की उदीरणावलिका में लाने की क्रिया।'

केवलीसमुद्घात में आठ समय लगते हैं। पहले समय मे केवली के आत्मप्रदेशों की

---

१ ''तत्र समुद्घात प्रारभमाण प्रथममेवावर्जीकरणमभ्येति, अन्तर्मौहूर्तिकं उदीरणावलिकायां कर्मप्रक्षेपव्यापार-रूपमित्यर्थ:''

रचना दण्डाकार हो जाती है, वह दण्ड मोटाई में स्वशरीर परिमाण और लम्बाई में लोकान्तपर्यन्त विस्तृत होता है। दूसरे समय मे वह दण्ड पूर्व और पश्चिम या उत्तर और दक्षिण मे फैल जाता है। फिर उस दण्ड का लोकपर्यन्त फैला हुआ कपाट सा आकार बन जाता है। तीसरे समय मे दक्षिण, उत्तर तथा पूर्व-पश्चिम चारों दिशाओं मे लोकान्तपर्यन्त आत्मप्रदेशो को फैलाकर वह उसी कपाटाकार को मथानीरूप बना देता है। ऐसा करने से लोक का अधिकांश भाग आत्मप्रदेशो से व्याप्त हो जाता है, किन्तु मंथानी की तरह अन्तराल प्रदेश खाली रहते हैं। चौथे समय मे मंथानी के अन्तरालो को पूर्ण करता हुआ समस्त लोकाकाश को आत्मप्रदेशों से परिव्याप्त कर देता है, क्योंकि लोकाकाश के प्रदेश और जीव प्रदेश दोनो समान एवं बराबर है। पांचवे समय मे पुन. मथानी, छट्ठे समय मे कपाट, सातवे समय मे दण्ड और आठवें समय मे समस्त आत्मप्रदेश शरीर मे प्रविष्ट होकर शरीरस्थ हो जाते हैं।

पहले और आठवें समय में औदारिक काय-योग होता है। सातवे, छट्ठे और दूसरे समय में औदारिक मिश्रकाय योग होता हैं। चौथे, पाचवें और तीसरे समय में कार्मणकाय योग होता है। तीसरे, चौथे और पाचवे समय मे केवली अनाहारक होते है। इस प्रकार केवली भगवान समुद्घात के द्वारा वेदनीय आदि कर्मो को आत्मप्रदेशो से पृथक कर डालते हैं। सभी केवली समुद्घात नहीं करते, केवल वही करते है जिन के वेदनीय आदि कर्मो की अभी बहुलता होती है।[१]

वस्तुत: केवली महापुरुष समुद्घात करते नहीं, उनके साधना-प्रभाव से स्वत: ही होता है, परन्तु यहा केवल विषय की स्पष्टता के लिए 'करेइ' शब्द का प्रयोग किया गया है। समुद्घात भी तभी होता है जबकि वेदनीय आदि कर्म अत्यधिक होते है और आयुष्य कर्म स्वल्प होता है। सभी केवलियो को समुद्घात नही करना पडता। छ: मास आयु शेष रहने पर जिसे केवल ज्ञान उत्पन्न होता है, वही केवलिसमुद्घात करता है।

भगवान महावीर की अनुत्तरौपपातिक सम्पदा

मूल—समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अट्ठसया अणुत्तरोववाइयाणं गइकल्लाणाणं जाव आगमेसिभद्दाणं उक्कोसिया अणुत्तरोववाइयसंपया हुत्था॥६४॥

छाया—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अष्टशतान्यनुत्तरौपपातिकानि गतिकल्याणानां यावद् आगमिष्यद्भद्राणामुत्कृष्टा अनुत्तरौपपातिकसंपदाऽभूत्।

शब्दार्थ—समणस्स णं भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर की, **अट्ठसया अणुत्तरोववाइयाणं**—आठ सौ अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वालो, **गइकल्लाणाणं**—कल्याण-रूप देव गति को प्राप्त करने वालो, **जाव**—यावत्, **आगमेसिभद्दाण**—भविष्यत्

१ विस्तृत विवचन के लिए देखिए औपपातिक सूत्र एव प्रज्ञापना सूत्र के समुद्घात पद।

काल मे निर्वाणरूप कल्याण को प्राप्त करने वालो की, **उक्कोसिया**—उत्कृष्ट, **अणुत्तरो-ववाइयसंपया हुत्था**—अनुत्तर विमानो में जाने वालो की उत्कृष्ट संपदा थी।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर की अनुत्तर विमानों में जाने वालो, कल्याणरूप देवगति प्राप्त करने वालों एवं यावद् भविष्य में निर्वाण रूप कल्याण पाने वालों की उत्कृष्ट सम्पदा आठ सौ थी।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में केवली समुद्घात का वर्णन किया गया है। अब उसी परम्परा मे भगवान महावीर के उन मुनीश्वरो का वर्णन किया जा रहा है जिन्होने अपनी उत्कृष्ट साधना के द्वारा सर्वोच्च देवलोको को प्राप्त किया अथवा जो भविष्य मे उत्कृष्टतम साधना द्वारा मोक्षगामी होगे।

जो केवली तो नहीं, किन्तु उत्कृष्ट साधना-सम्पन्न भिक्षु होते हैं, वे उच्च देवलोकों को प्राप्त करते हैं। श्रमण भगवान महावीर के समय मे १४००० मुनिवरो में से ८०० मुनिवर पाच अनुत्तर विमानो में उत्पन्न हुए, जो कि भविष्य मे निर्वाण-पद को प्राप्त करेगे। उनकी गति और स्थिति दोनो ही कल्याणकारी हैं। अनुत्तर विमानों मे जितने भी देव निवास करते है, वे सब एकान्त सम्यग्दृष्टि, परित्त-संसारी, सुलभबोधि एवं आराधक होते है।

वानव्यन्तरदेव और उनके चैत्यवृक्ष

मूल—अट्ठविहा वाणमंतरा देवा पण्णत्ता, तं जहा—पिसाया, भूया, जक्खा, रक्खसा, किन्नरा, किंपुरिसा, महोरगा, गंधव्वा। एएसि णं अट्ठण्हं वाणमंतरदेवाणं अट्ठ चेइयरुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—

कलंबो अ पिसायाणं, वडो जक्खाण चेइयं।
तुलसी भूयाणं भवे, रक्खसाणं च कंडओ॥
असोओ किन्नराणं य, किंपुरिसाण य चंपओ।
नागरुक्खो भुयंगाणं, गंधव्वाण य तेंदुओ॥ ६५॥

छाया—अष्टविधा वाणव्यन्तरा देवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पिशाचाः, भूताः, यक्षाः, राक्षसाः, किन्नराः, किम्पुरुषाः, महोरगाः, गन्धर्वाः। एतेषामष्टानां वाणव्यन्तरदेवानामष्टौ चैत्यवृक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

कदम्बश्च पिशाचानां, बटो यक्षाणां चैत्यम्।
तुलसी भूतानां भवेत्, राक्षसानाञ्च कण्डकः॥
अशोकः किन्नराणाञ्च, किम्पुरुषाणाञ्च चम्पकः।
नागवृक्षो भुजंगानां, गन्धर्वाणाञ्च तिन्दुकः॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देव वर्णन किए गए हैं, जैसे कि—पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व।

इन आठ व्यन्तर देवों के आठ चैत्यवृक्ष हैं, जैसे पिशाचों का कदम्ब, यक्षो का वट, भूतों का तुलसी, राक्षसो का कण्डक, किन्नरों का अशोक, किम्पुरुषो का चम्पक, भुजगों का नागवृक्ष और गन्धर्वो का तिन्दुक।

विवेचनिका—देवाधिकार होने से प्रस्तुत सूत्र में वानव्यतर देवो के नाम और उनके निवास-योग्य चैत्यवृक्षों के नाम निर्दिष्ट किए गए हैं। व्यंतर देव १६ प्रकार के होते हैं। उनमें आठ प्रकार के वान-व्यन्तर प्रधान माने जाते हैं। जैसे कि—पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गधर्व। इन देवों के आठ चैत्यवृक्ष होते हैं, जैसे कि—

पिशाचों का कदम्ब, यक्षों का बरगद, भूतों का तुलसी, राक्षसो का कण्डक, किन्नरों का अशोक, किंपुरुषों का चम्पक, भुजगो का नागवृक्ष और गधर्वो का तिन्दुक।

ये आठ चैत्यवृक्ष मणिपीठिका के ऊपर होते है और सभी रत्नमय हैं। ऊपर छत्र एवं ध्वजाओ से समलकृत हैं। ये चैत्यवृक्ष सौधर्म सभा के आगे अवस्थित हैं।

लौकिक दृष्टि से भी यदि देखा जाए तो इन वृक्षों पर देवो की विशेष दृष्टि रहती है। देवसाधक इन देवों की साधना उक्त वृक्षो के नीचे सुखपूर्वक कर सकता है। भुजग शब्द महोरग देव जाति के लिए प्रयुक्त हुआ है।

रत्नप्रभा से सूर्याविमान की दूरी

मूल—इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ अट्ठजोयणसए उड्ढवाहाए सूरविमाणे चारं चरइ ॥६६॥

छाया—अस्या: रत्नप्रभाया: पृथिव्या. बहुसमरमणीयाद् भूमिभागाद् अष्ट योजन-शतान्यूर्ध्वम् अबाधया सूरविमानं चारं चरति।

शब्दार्थ—इमीसे—इस, **रयणप्पभाए पुढवीए**—रत्नप्रभा नामक पृथ्वी के, **बहुसमर-मणिज्जाओ भूमिभागाओ**—अत्यन्त सम और रमणीय भूमिभाग से, **अट्ठजोयणसए**—आठ सौ योजन की, **उड्ढवाहाए**—ऊंचाई पर, **सूरविमाणे**—सूर्य का विमान, **चारं चरइ**—चलता है।

मूलार्थ—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के अत्यन्त सम और रमणीय भूमि-प्रदेश से आठ सौ योजन की ऊंचाई पर सूर्य का विमान परिभ्रमण करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे वानव्यतर देवों का वर्णन किया गया है, ज्योतिष्क देव विमानों मे रहते हैं, अत: प्रस्तुत मे सूर्य-विमान इस धरातल से कितना ऊचा है? इस रहस्य

का सूत्रकार ने अनावरण किया है। इस रत्नप्रभा पृथ्वी के बहुसमतल भूमि भाग से सूर्य विमान ८०० योजन ऊंचा चलता है। वह विमान इतना बड़ा है कि यदि एक योजन के ६१ भाग किए जाएं तो वह ४८ भाग मात्र लम्बा-चौडा है। १६००० देवता इस विमान के रक्षक, सेवक एवं संचालक है।

यद्यपि आज के वैज्ञानिक सूर्य-मण्डल की पृथ्वी से दूरी सवा नौ करोड़ मील स्वीकार करते हैं और आठ सौ योजन का अर्थ लगभग ३२००००० मील ही होता है, परन्तु युग-युग का मान-भेद इस विषय मे विरोध की प्रतीति नहीं होने देता।

प्रमर्द-योग नक्षत्र

मूल—अट्ठ नक्खत्ता चंदेणं सद्धिं पमद्दं जोगं जोयेंति, तं जहा—कत्तिया, रोहिणी, पुणव्वसू, महा, चित्ता, विस्साहा, अणुराहा, जेट्ठा॥६७॥

छाया—अष्टौ नक्षत्राणि चन्द्रेण सार्द्ध प्रमर्द योगं योजयन्ति, तद्यथा—कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आठ नक्षत्र चन्द्रमा के साथ मिलकर प्रमर्द नामक योग उत्पन्न करते हैं, जैसे—कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सूर्य-विमान का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार उसी विषय से सम्बन्ध चन्द्र-नक्षत्र योग से उत्पन्न प्रमर्द योग का वर्णन करते हैं।

प्रमर्दयोग का अर्थ होता है—निर्दिष्ट नक्षत्रो का दक्षिण या उत्तर की ओर से चन्द्र के साथ योग होना। यह योग कभी-कभी ही होता है। इसका फल मनुष्य लोक मे सुभिक्ष आदि कथन किया गया है। वृत्तिकार भी लिखते है—**एतानि नक्षत्राण्युभययोगिनि चंद्रस्य दक्षिणेनोत्तरेण च युज्यन्ते, कथञ्चिच्चन्द्रेण भेदमप्युपयान्तीति, एतत्फल चेदम्—''एतेषामुत्तरगा ग्रहाः सुभिक्षाय चन्द्रमा नितरामिति'**। प्रमर्द योगकारी आठ नक्षत्र निम्नलिखित है—कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसू, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा।

द्वीप-समुद्र-द्वारों की ऊंचाई

मूल—जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स दारा अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता। सव्वेसिंपि दीवसमुद्दाणं दारा अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता॥६८॥

छाया—जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य द्वाराणि अष्ट योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि। सर्वेषामपि द्वीपसमुद्राणां द्वाराणि अष्ट योजनानि ऊर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के द्वार ऊंचाई की अपेक्षा आठ योजन ऊंचे वर्णन किए गए है। सभी द्वीप-समुद्रो के द्वार ऊंचाई की अपेक्षा आठ योजन कथन किए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे सूत्रकार खगोल-सम्बन्धी वर्णन कर रहे थे, अब उसके प्रतिपक्षभूत भूगोल का आंशिक वर्णन करते हैं। जबूद्वीप के चार द्वार हैं जिनके नाम विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित हैं। ये द्वार आठ योजन ऊंचे हैं। सभी द्वीपो और समुद्रों के द्वारों के नाम भी ये ही है और वे भी आठ-आठ योजन ऊचे हैं।[१]

पुरुषवेद और यशःकीर्ति नाम कर्म की जघन्य स्थिति

मूल—पुरिसवेयणिज्जस्स णं कम्मस्स जहण्णेणं अट्ठसंवच्छराइं बंधठिई पण्णत्ता। जसोकित्तीनामएणं कम्मस्स जहण्णेणं अट्ठ मुहुत्ताइं बंधठिई पण्णत्ता। उच्चगोयस्स णं कम्मस्स एवं चेव॥६९॥

छाया—पुरुषवेदनीयस्य कर्मणो जघन्येन अष्टौ सम्वत्सराणि बन्धस्थितिः प्रज्ञप्ता। यशःकीर्तिनामकस्य कर्मणो जघन्येन अष्टौ मुहूर्त्ताणि बन्धस्थितिः प्रज्ञप्ता। उच्चगोत्रस्य कर्मण एवमेव।

शब्दार्थ—पुरिसवेयणिज्जस्स णं कम्मस्स—पुरुष वेदनीय कर्म की, **जहण्णेण** —जघन्य—कम से कम, **बंधठिई—बन्धन**-स्थिति, **अट्ठसवच्छराइं पण्णत्ता**—आठ वर्ष की कथन की गई है। **जसोकित्तीनामएणं**—यश.कीर्ति नामक, **कम्मस्स**—कर्म की, **जहण्णेणं**—जघन्य, **बंधठिई**—बन्ध-स्थिति, **अट्ठ मुहुत्ताइं पण्णत्ता**—आठ मुहूर्त्त की कथन की गई है। **उच्चगोयस्स ण कम्मस्स**—उच्चगोत्र कर्म की बन्ध स्थिति, **एवं चेव**—इसी तरह समझनी चाहिए।

मूलार्थ—पुरुष वेदनीय कर्म की जघन्य बन्ध-स्थिति आठ वर्ष की कथन की गई है। यश:-कीर्त्ति नाम-कर्म की जघन्य बन्ध स्थिति आठ मुहूर्त्त बताई गई है। उच्चगोत्र कर्म की बन्ध स्थिति भी इसी प्रकार जान लेनी चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे जम्बूद्वीप-समुद्रो के द्वारो का वर्णन किया गया है। उन द्वारों मे कर्मबद्ध जीव निवास करते है, अत· सूत्रकार इस सूत्र मे जिन कर्मो की स्थिति आठ वर्ष की है या आठ मुहूर्त्त की है, उनका उल्लेख करत हैं। जीव जघन्य स्थिति का बन्ध दसवे गुण-स्थान में करता है। नीचे के गुणस्थानो में जघन्य स्थिति का बध नही होता। पुरुषवेद की जघन्य-स्थिति का यदि कोई बध करता है तो आठ वर्ष का स्थिति-बध होता है। उसका उदयकाल आठ वर्ष तक ही रहता है, उसके बाद स्त्री या नपुंसक भाव को प्राप्त हो जाता है।

---

१ विशेष वर्णन के लिए दखिए जीवाभिगम सूत्र।

यश:-कीर्त्ति और उच्चगोत्र इन प्रकृतियो की कम से कम स्थिति आठ मुहूर्त्त की है। इससे कम इन प्रकृतियों का बंध नही हो सकता। कर्मो की जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियों का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के २३वे, २४वे, २५वे पदों में द्रष्टव्य है।

त्रीन्द्रिय जीवों की कुल-कोटियां

मूल—तेइंदियाणमट्ठ जाईकुलकोडी जोणीपमुह सयसहस्सा पण्णत्ता ॥ ७०॥

छाया—त्रीन्द्रियाणामष्टौ जातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—त्रीन्द्रिय जाति के जीवो की कुल-कोटिया आठ लाख वर्णन की गई हैं।

विवेचनिका—शुभाशुभ कर्मो के उदय से जीव विचित्र जाति कुल कोटियों में परि-भ्रमण करता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में त्रीन्द्रिय जीवों की जाति-कुल-कोटि का निर्देश किया गया है। त्रीन्द्रिय जीवो की दो लाख योनिया है। उनमे उत्पन्न होने वाले त्रीन्द्रिय जीवों की आठ लाख जाति-कुल-कोटिया बतलाई गई हैं। यद्यपि त्रीन्द्रिय जीव असंख्यात है, परन्तु एक ही प्रकार मे उत्पन्न होने वाले जीव-समूह की एक ही जाति-कुलकोटि मानी जाती है। त्रीन्द्रिय जीवो की इस प्रकार की जाति-कुलकोटिया आठ लाख है।

अशुभ कर्म और पुद्गलों की अनन्तता

मूल—जीवा णं अट्ठ ठाणणिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा, तं जहा—पढमसमयनेरइयनिव्वत्तिए जाव अपढमसमय-देवनिव्वत्तिए। एवं चिण, उवचिण जाव निज्जरा चेव।

अट्ठ पएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता। अट्ठपएसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता, जाव अट्ठगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता॥७१॥

छाया—जीवा खलु अष्टस्थाननिवर्तितान् पुद्गलान् पापकर्मतया अचैषुर्वा, चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—प्रथम-समय-नैरयिकनिवर्तितान् यावत् अप्रथम-समय-देव-निवर्तितान्। एवं चयः, उपचयो यावद् निर्जरा चैव।

अष्ट प्रदेशिकाः स्कन्धा अनन्ता प्रज्ञप्ताः। अष्टप्रदेशावगाढा पुद्गला अनन्ता प्रज्ञप्ताः, यावद् अष्ट गुणरूक्षाः पुद्गला अनन्ताः प्रज्ञप्ताः।

शब्दार्थ—**जीवाणं**—जीवों ने, **अट्ठ ठाणणिव्वत्तिए पोग्गले**—आठ स्थानो मे निष्पादित पुद्गलों को, **पावकम्मत्ताए**—पाप कर्म रूप से, **चिणिसु वा**—एकत्रित किया, **चिणंति**

वा—वर्तमान काल में एकत्रित करते है, **चिणिस्संति वा**—भविष्यत् काल मे एकत्रित करेंगे, **तं जहा**—जैसे कि, **पढमसमयनेरइयनिव्वत्तिए**—प्रथम समय के नारकीयों द्वारा उपार्जित, **जाव**—यावत्, **अपढमसमयदेवनिव्वत्तिए**—अप्रथम समय के देवो द्वारा उपार्जित, **एवं**—इसी प्रकार, **चिण-उवचिण जाव निज्जरा चेव**—चय, उपचय और निर्जरा के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

अट्ठ पएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता—आठ प्रदेशी स्कन्ध अनन्त हैं। **अट्ठपएसोगाढा**—आठ प्रदेशों पर अवगाहित, **पोग्गला अणंता पण्णत्ता**—पुद्‌गल अनन्त कथन किए गए हैं, **जाव**—यावत्, **अट्ठगुणलुक्खा पोग्गला**—आठ गुण रूक्ष पुद्‌गल, **अणंता पण्णत्ता**—अनन्त प्रतिपादन किए गए है।

मूलार्थ—जीवों ने आठ स्थानो से उपार्जित पुद्‌गलो को भूतकाल में पाप-कर्म रूप से एकत्रित किया, वर्तमान में करते हैं और भविष्य में करेंगे, यथा—प्रथम समय के नारकियो द्वारा उपार्जित यावत् अप्रथम समय के देवो द्वारा उपार्जित। इसी तरह कर्मो का चय—एक बार इकट्‌ठा करना, उपचय-बारम्बार इकट्‌ठा करना और यावत् निर्जरा अर्थात् कर्मक्षय आदि के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

आठ प्रदेशी स्कन्ध अनन्त प्रतिपादन किए गए हैं। आठ आकाश प्रदेशो में व्याप्त पुद्‌गल अनन्त वर्णन किए गए हैं। यावत् अष्ट गुणरूक्ष पुद्‌गल अनन्त प्रतिपादन किए गए हैं।

विवेचनिका—जीव वर्णन की परम्परा के अन्तर्गत प्रस्तुत सूत्र में जीव और अजीव दोनो का वर्णन किया गया है। ससार भर मे जितने भी जीव हैं, उन सब ने भूतकाल मे कर्मो का सचय किया, वर्तमान में कर रहे है और आगे भी करते ही रहेंगे, भले ही वे प्रथम समय के उत्पन्न हो या अप्रथम समय के उत्पन्न। इसी तरह उपचय, बंध, वेदना, उदीरणा एव निर्जरा के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

आठ प्रदेशी स्कन्ध अनन्त हैं। आकाश के आठ प्रदेशो पर अवगाहन करने वाले पुद्‌गल भी अनन्त है। आठ समय तक अवस्थित होने वाले पुद्‌गल भी अनन्त हैं। यावत् आठ गुणा रूक्ष पुद्‌गल भी अनन्त है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य गुण और पर्याय से युक्त माना गया है। पुद्‌गल द्रव्य में पांच वर्ण, दो गध, पांच रस और आठ स्पर्श होते है, अत: आठवे स्थान के अनुरोध से अष्ट गुण रूक्ष पुद्‌गल पर्यन्त सब का वर्णन जान लेना चाहिए।

॥ आठवां स्थान समाप्त ॥

।। णमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स ।।

श्री स्थानाङ्ग-सूत्रम्

एक उद्देशक

इस उद्देशक में—

इस उद्देशक में साम्भोगिक सम्बन्ध का विच्छेद, ब्रह्मचर्य-अध्ययन, ब्रह्मचर्य- गुप्तियां, चौथे और पाचवे तीर्थकरों का मध्यकाल, नव तत्त्व, संसार- समापन्नक जीव, रोग-उत्पत्ति के कारण, दर्शनावरणीय कर्म, नक्षत्र-चन्द्रयोग, रत्न-प्रभा से नक्षत्र-मण्डल की दूरी, जम्बूद्वीप में प्रवेश योग्य मत्स्य, बलदेवों और वासुदेवों के पिता, महानिधियां, विकृतियां, मलद्वार, पुण्य-भेद, पाप-बन्ध के कारण, पाप-श्रुत-प्रसंग, नैपुणिक पुरुष, महावीर स्वामी के नौ गण, निर्दोष आहार, वरुण-देव की अग्र-महिषियां, ईशानेन्द्र की अग्रमहिषियो का स्थितिकाल, देव-निकाय, ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट, आयु-परिमाण, नव नवमिका-भिक्षु प्रतिमा, जम्बू-मन्दरादि के कूट, श्री पार्श्वनाथ जी का देहमान, तीर्थकर गोत्र-उपार्जन करने वाले जीव, आगामी उत्सर्पिणी काल के सिद्ध, महापद्म चरित्र, चन्द्र-पृष्ठ-योगकारी नक्षत्र, देव-विमानो की ऊचाई, विमलवाहन का देहमान, ऋषभदेव जी का तीर्थ प्रवर्तन-काल, घनदन्तादि द्वीपों का मान, शुक्रग्रह की नव वीथियां, नौ कषाय, पुद्गल चयन के नौ स्थान और नव प्रदेशी स्कन्ध आदि का वर्णन किया गया है।

नवम स्थान

प्रथम उद्देशक

सामान्य परिचय

जिन जीवादि पदार्थों का वर्णन आठवें स्थान में किया जा चुका है उन्हीं पदार्थों का वर्णन नौवें स्थान में नौ-नौ प्रकार से हेय, ज्ञेय और उपादेय रूप से वर्णन किया जाएगा।

साम्भोगिक को विसाम्भोगिक करने के कारण

मूल—नवहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे संभोइयं विसंभोइयं करेमाणे णाइक्कमइ, तं जहा—आयरियपडिणीयं, उवज्झायपडिणीयं, थेरपडिणीयं, कुलपडिणीयं, गणपडिणीयं, संघपडिणीयं, नाणपडिणीयं, दंसणपडिणीयं, चरित्तपडिणीयं ॥१॥

छाया—नवभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थः साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं कुर्वन् नातिक्रामति, तद्यथा—आचार्य-प्रत्यनीकम्, उपाध्याय-प्रत्यनीकम्, स्थविर-प्रत्यनीकम्, कुल-प्रत्यनीकम्, गण-प्रत्यनीकम्, संघ-प्रत्यनीकम्, ज्ञान-प्रत्यनीकम्, दर्शन-प्रत्यनीकम्, चारित्र-प्रत्यनीकम्।

शब्दार्थ—नवहिं ठाणेहिं—नव स्थानो से, **समणे णिग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ, **संभोइय**—साम्भोगिक को, **विसंभोइयं करेमाणे**—विसाम्भोगिक करता हुआ, **णाइक्कमइ**—भगवान की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता, **तं जहा**—यथा, **आयरियपडिणीयं**—आचार्य के प्रत्यनीक, **उवज्झायपडिणीयं**—उपाध्याय के प्रत्यनीक, **थेरपडिणीयं**—स्थविर के प्रत्यनीक, **कुलपडिणीयं**—कुल के प्रत्यनीक, **गणपडिणीयं**—गण वे प्रत्यनीक, **संघ पडिणीयं**—संघ के प्रत्यनीक, **नाणपडिणीयं**—ज्ञान के प्रत्यनीक, **दंसण पडिणीयं**—दर्शन के प्रत्यनीक, **चरित्तपडिणीयं**—चारित्र के प्रत्यनीक।

मूलार्थ—नौ कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ सभोगी साधु से आहार-पानी के सम्बन्ध का विच्छेद करता हुआ भगवदाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है, यथा आचार्य प्रत्यनीक अर्थात् आचार्य के साथ शत्रुसदृश व्यवहार करने वाले, इसी तरह उपाध्याय के प्रत्यनीक, स्थविर के प्रत्यनीक, कुल के प्रत्यनीक, गण के प्रत्यनीक, सघ के प्रत्यनीक, ज्ञान के प्रत्यनीक, दर्शन और चारित्र के प्रत्यनीक।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि कोई भी साधु नौ कारणो में से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर सांभोगिक सहधर्मी को विसाभोगिक करते हुए भगवान की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता, अर्थात् जो साधु परस्पर बारह प्रकार के मिलवर्तनों से सम्बन्धित हैं उनका सम्बन्ध तोडते हुए जिनेन्द्र देव की आज्ञा का उल्लंघन नही करता है। सहधर्मी साधुओं का जो परस्पर मिलवर्तन एवं आहारादि बारह प्रकार का आदान-प्रदान होता है, उसे सभोग कहा जाता है। उन्हें तोड़ना विसभोग है। स्मरण रहे कि बिना किसी प्रबल प्रमाण के मिल-वर्तन तोडना निषिद्ध है। वे नौ कारण निम्नलिखित हैं, जैसे कि–

१ आचार्य से विरुद्ध चलने वाले प्रत्यनीक साधु से।

२ उपाध्याय से विपरीत चलने वाले प्रत्यनीक साधु से।

३ स्थविर से प्रतिकूल चलने वाले प्रत्यनीक साधु से।

४ अपने साधु-कुल से विरुद्ध चलने वाले प्रत्यनीक साधु से।

५. अपने साधु-गण से विपरीत चलने वाले प्रत्यनीक साधु से।

६. चतुर्विध श्री संघ से प्रतिकूल चलने वाले साधु से।

७. सम्यग्ज्ञान से विरुद्ध चलने वाले प्रत्यनीक साधु से।

८ सम्यग्दर्शन से विपरीत चलने वाले प्रत्यनीक साधु से।

९. सम्यक् चारित्र से प्रतिकूल प्रक्रिया करने वाले साधु से।

प्रत्यनीक का अर्थ है–निन्दा, ईर्ष्या, वैरभाव रखने वाला। अत: जो प्रत्यनीक है वह संघ में रखने के योग्य नही होता। यदि वह समझाने पर भी अपने कदाग्रह को छोड़ने के लिए तैयार न हो, तो उसे अपने गण से बहिष्कृत ही कर देना चाहिए। इसी में सघ का भला है।

जो आचार्य आदि नव स्थानो के साथ प्रेम, विनय, भक्ति तथा साधु-जीवन के उपयुक्त व्यवहार करता है वही साधक संघ मे रहता हुआ आत्मविकास करके निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है। प्रत्यनीकता से साधक संसार-भ्रमण की वृद्धि एव दु:ख का पात्र बनता है, अत: प्रत्यनीकता कभी भी नहीं करनी चाहिए।

ब्रह्मचर्य-अध्ययन

मूल—णव बंभचेरा पण्णत्ता, तं जहा—सत्थपरिन्ना, लोगविजयो जाव

उवहाणसुयं, महापरिण्णा ॥ २॥

छाया—नव ब्रह्मचर्याणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—शस्त्रपरिज्ञा, लोकविजयो यावत् उपधानश्रुतं, महापरिज्ञा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नौ ब्रह्मचर्य-अध्ययन प्रतिपादन किए गए हैं, यथा—शस्त्र-परिज्ञा, लोकविजय यावत्, उपधान-श्रुत और महापरिज्ञा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे विसाम्भोगिक बनाने के कारणो पर प्रकाश डाला गया है, विसाम्भोगिक उसे ही बनाया जा सकता है जो ब्रह्मचर्य आदि संयम का पालन नहीं करता, अत: प्रस्तुत सूत्र में ब्रह्मचर्य के प्रकारों का वर्णन किया गया है। आगमकारों ने सभी कुशल अनुष्ठानों को ब्रह्म कहा है, चर्य का अर्थ है—आचरण, अत: इन दोनों पदों का आशय है—संयम का आचरण। जैसे कि कहा भी है—**ब्रह्मकुशलानुष्ठानं, तच्च तच्चर्यं चासेव्यमिति ब्रह्मचर्यं—संयम इत्यर्थ:।**

संयम के योग्य बाते जिस शास्त्र में हों, वह शास्त्र भी ब्रह्मचर्य कहलाता है। आचारांग सूत्र के पहले श्रुत-स्कन्ध में नौ अध्ययन हैं, उनमें संयम का ही विस्तृत वर्णन है, अत: उन अध्ययनो के समुदाय को ब्रह्मचर्य कहा जाता है। उसके प्रत्येक अध्ययन में संयम का वर्णन है, अत: सूत्रकार ने 'बभचेरा' इस बहुवचनान्त पद का प्रयोग किया है। उन अध्ययनो के नाम और उनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है।

१. **शस्त्र-परिज्ञा**—इस अध्ययन में द्रव्य और भाव भेदों से उन अनेक प्रकार के शस्त्रो का वर्णन किया गया है जिनसे जीव-हिंसा होती है। उनका ज्ञान-पूर्वक त्याग करना ही शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन कहलाता है। इस प्रथम अध्ययन मे जीव-हिंसा के त्याग करने का विधान किया गया है।

२. **लोक-विजय**—इस अध्ययन मे बताया गया है कि साधक को लोकेषणा के बहाव मे नहीं बहना चाहिए। द्रव्यलोक को छोड़कर रागद्वेष लक्षणरूप भाव-लोक पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी गई है, इसलिए इसका नाम लोक-विजय निर्धारित किया गया है।

३. **शीतोष्णीय**—इस अध्ययन मे अनुकूल और प्रतिकूल परीषहो को सहने का उपदेश दिया है। स्त्री आदि अनुकूल परीषह कहलाते है और वध आदि प्रतिकूल परीषह माने जाते हैं। दोनों तरह के परीषह साधक को आत्म-लक्ष्य से गिराने वाले हैं, अत: परीषहों के जीतने से ही साधक शूरवीर कहलाता है। यही इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।

४. **सम्यक्त्व**—इस अध्ययन में सम्यक्त्व-रत्न को सुरक्षित रखने के लिए उपदेश दिया गया है। तापस आदि के अज्ञान कष्ट को देखकर या उनके आठ प्रकार के ऐश्वर्य को देखकर साधक को विवेक-संमूढ नहीं होना चाहिए। सम्यक्त्व में दृढ़ रहने की प्रेरणा

ही इस अध्ययन का प्रमुख विषय है।

५. **लोकसार**—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, ये ही लोक मे सारभूत है। इनके अतिरिक्त शेष सब कुछ नि:सार है, अत: इस अध्ययन का मुख्य विषय है—सारभूत को ग्रहण कर, नि:सार पदार्थो का त्याग करना। इस अध्ययन को आदान-पद से 'आवन्ति' भी कहते है।

६. **धूताध्ययन**—इसमें सयमी को कुसग का त्याग कर सुसंग या सत्संग की उपासना का उपदेश दिया गया है, अथवा कर्मरज को धुनने की प्रेरणा दी गई है, इसलिए इसका नाम धूताध्ययन रखा गया है।

७. **विमोहाध्ययन**—इसमे मोह-रहित होकर विचरने का उपदेश दिया गया है। निर्मोही व्यक्ति ही परीषह-उपसर्गो को जीतने में पूर्णतया सफल हो सकता है। बाह्य मोह की अपेक्षा अन्तरग मोह आत्मविकास में अधिक बाधक है, उससे अलग कैसे होना चाहिए, इस विषय का मार्ग- दर्शन किया गया है।

८. **उपधानश्रुत**—इस अध्ययन में शासनपति तीर्थकर भगवान की साधना का उल्लेख किया गया है। श्रमण भगवान महावीर ने साढे बारह वर्ष जिस प्रकार साधनापथ पर चलते हुए सयम-तप की आराधना की तथा देव, मनुष्य और तिर्यञ्चो के घोर-अतिघोर उपसर्गो को समता से सहन किया, उन सब बातों का विस्तृत वर्णन मिलता है। लक्ष्य-बिन्दु पर पहुंचने तक दृढता से की जाने वाली तपश्चर्या ही उपधान है। इसलिए इसे श्रुत-साहित्य मे उपाधान-श्रुत कहा गया है।

९. **महापरिज्ञा**—इस अध्ययन मे निर्वाण पद की प्राप्ति के लिए दृढ प्रतिज्ञा का प्रतिपादन किया गया है। अन्तक्रिया कैसे करनी चाहिए, सम्भव है, इस बात का भी उल्लेख हो, परन्तु यह अध्ययन आज के युग मे उपलब्ध नही है। आचाराड्ग-सूत्र में इस अध्ययन का स्थान सातवा है और इस प्रसग मे इसे नौवा अध्ययन कहा गया है, कारण अज्ञात है।

इन नौ अध्ययनो को ब्रह्मचर्य अध्ययन कहते है। मुमुक्षुओ के लिए ये अध्ययन मननीय है। इन अध्ययनो मे कथित नियमो के पालन करने से साधक शीघ्र ही सिद्धत्व को प्राप्त कर सकता है।

ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियां

मूल—नव बंभचेरगुत्तीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवइ, णो इत्थिसंसत्ताइं, नो पसुसंसत्ताइं, नो पंडगसंसत्ताइं, नो इत्थीणं कहं कहेत्ता, नो इत्थिठाणाइं सेवित्ता भवइ, णो इत्थीणमिंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ, नो पणीयरसभोई, नो पाणभोयणस्स अइमत्तं आहारए सया भवइ, नो पुव्वरयं पुव्वकीलियं समरेत्ता भवइ, नो सद्दाणुवाई, णो रूवाणुवाई, णो सिलोगाणुवाई, नो

सायसोक्ख पडिबद्धे यावि भवइ।

नव बंभचेर अगुत्तीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णो विवित्ताइं सयणा-सणाइं सेवित्ता भवइ, इत्थिसंसत्ताइं, पसुसंसत्ताइं, पंडगसंसत्ताइं, इत्थीणं कहं कहेत्ता भवइ, इत्थीणं ठाणाइं सेवित्ता भवइ, इत्थीणं इंदियाइं जाव निज्झाइत्ता भवइ, पणीयरसभोई, पाणभोयणस्स अइमायमाहारए सया भवइ, पुव्वरयं पुव्वकीलियं सरित्ता भवइ, सद्दाणुवाई, रूवाणुवाई, सिलोगाणुवाई जाव सायासुक्ख पडिबद्धे यावि भवइ॥३॥

छाया—नव ब्रह्मचर्यगुप्तयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—विविक्तानि शयनासनानि सेविता भवति, नो स्त्रीसंसक्तानि, नो पशुसंसक्तानि, नो पण्डकसंसक्तानि, नो स्त्रीणां कथां कथयिता भवति, नो स्त्रीस्थानानि सेवित्ता भवति, नो स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाणि आलोकयिता निर्ध्याता भवति, नो प्रणीतसरसभोगी, नो पानभोजन-स्यातिमात्रमाहारकः सदा भवति, नो पूर्वरतं पूर्वक्रीडितं स्मर्त्ता भवति, नो शब्दानुपाती, नो रूपानुपाती, नो श्लोकानुपाती, नो सात-सौख्यप्रतिबद्धश्चापि भवति।

नव ब्रह्मचर्याऽगुप्तयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नो विविक्तानि शयनासनानि सेविता भवति, स्त्री-संसक्तानि, पशुसंसक्तानि, पण्डकसंसक्तानि, स्त्रीणां कथा कथयिता भवति, स्त्रीणां स्थानानि सेविता भवति, स्त्रीणामिन्द्रियाणि यावन् निर्ध्याता भवति, प्रणीतरसभोगी, पानभोजनस्य अतिमात्रमाहारक सदा भवति, पूर्वरतं, पूर्वक्रीडितं स्मर्त्ता भवति, शब्दानुपाती, रूपानुपाती, श्लोकानुपाती यावत् सात- सोख्य-प्रतिबद्धश्चापि भवति।

शब्दार्थ—नव बभचेरगुत्तीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—ब्रह्मचर्य की नव गुप्तियां प्रतिपादन की है, यथा, **विवित्ताइ सयणासणाइं**—एकान्त शय्या, वसति और आसनो का, **सेवित्ता भवइ**—सेवन करने वाला हो, **णो इत्थिसंसत्ताइं, नो पसुसंसत्ताइं, नो पंडगसंसत्ताइं**—स्त्री-सहित, पशु-सहित, नपुंसक-सहित वसतियों और आसनों का सेवन करने वाला न हो, **नो इत्थीणं कहं कहेत्ता**—स्त्रियो की कथा करने वाला न हो, **नो इत्थिठाणाइं सेवित्ता भवइ**—स्त्रियों के स्थानो का सेवन न करे, **णो इत्थीणमिंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता भवइ**—स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियो को देखकर उनका चिन्तन करने वाला न होवे, **नो पणीयरसभोई**—प्रणीत—पौष्टिक रस का सेवन करने वाला न हो, **नो पाणभोयणस्स अइमत्तं आहारए सया भवइ**—साधारण पान-भोजनादि का भी अत्यधिक मात्रा मे आहार करने वाला न हो, **नो सद्दाणुवाई, नो रूवाणुवाई, नो सिलोगाणुवाई**—शब्द, रूप और प्रशंसा में आसक्ति रखने वाला न होवे, **नो सायसोक्खपडिबद्धे यावि भवइ**—भौतिक सुख में आसक्ति रखने वाला न हो।

नव बभचेर अगुत्तीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—ब्रह्मचर्य की नौ अगुप्तियां वर्णन की गई हैं, यथा, **णो विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवइ**—एकान्त शय्यासन का सेवन करने वाला न हो, **इत्थि संसत्ताइं, पसुसंसत्ताइं, पंडगसंसत्ताइं**—स्त्री-सहित, पशु-सहित और नपुंसक-सहित वसति और आसनों का सेवन करता हो, **इत्थीणं कहं कहेत्ता**—स्त्रियों की कथा करने वाला हो, **इत्थीणं ठाणाइं सेवित्ता भवइ**—स्त्रियों के स्थान का सेवन करने वाला हो, **इत्थीणं इंदियाइं जाव निज्झाइत्ता भवइ**—स्त्रियो की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों का अवलोकन एवं चिन्तन करने वाला हो, **पणीयरसभोई, पाणभोयणस्स अइमायमाहारए सया भवइ**—प्रणीत-पौष्टिक रस तथा आहार-पानी अत्यधिक मात्रा मे सेवन करने वाला हो, **पुव्वरयं पुव्वकीलियं सरित्ता भवइ**—पूर्वकालीन भुक्त-भोगो का तथा रति-क्रीडा का स्मरण करने वाला हो, **सद्दाणुवाई, रूवाणुवाई, सिलोगाणुवाई**—शब्द, रूप तथा प्रशसा में आसक्ति रखने वाला, **जाव सायासुक्ख पडिबद्धे यावि भवइ**—भौतिक सुख मे आसक्ति रखने वाला हो।

मूलार्थ—ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तिया वर्णन की गई हैं, यथा—एकान्त शय्या—वसति और आसन का सेवन करना, स्त्री-सहित, पशु-सहित और नपुंसक-सहित वसति एव आसन का सेवन न करना, स्त्री कथा न करना, स्त्री सम्बन्धी स्थान का सेवन न करना, स्त्रियों की मनोहर तथा मनोरम इन्द्रियों को देखकर उनका चिन्तन न करना, प्रणीत रसयुक्त भोजन न करना, साधारण पान-भोजन का भी अधिक मात्रा में सेवन न करना, पूर्व कालीन भुक्त-भोगों और रति-क्रीड़ाओं का स्मरण न करना, शब्द, रूप तथा प्रशंसा मे आसक्ति न रखना, भौतिक सुख में अनासक्ति भाव रखना।

ब्रह्मचर्य की नौ अगुप्तियां प्रतिपादन की गई हैं, यथा—एकान्त शय्या तथा आसन का सेवन न करना तथा स्त्री, पशु और पण्डक-सहित शय्या का सेवन करना, स्त्रियों की कथा करना, स्त्री-सम्बन्धी स्थान का आसेवन करना, स्त्रियों की मनोहर तथा मनोरम इन्द्रियों का चिन्तन करना, प्रणीत रसयुक्त भोजन का सेवन करना, आहार आदि का अत्यधिक मात्रा में उपभोग करना, पूर्व कालिक भुक्त-भोगों तथा रति-क्रीड़ा का चिन्तन करना, शब्द, रूप तथा प्रशंसा में आसक्त होना और भौतिक सुख में आसक्त होना।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे ब्रह्मचर्य अध्ययन का वर्णन किया गया है। उसी ब्रह्मचर्य के दूसरे अर्थ पर प्रस्तुत सूत्र मे प्रकाश डाला गया है। वीर्य के धारण और रक्षण को ब्रह्मचर्य कहते हैं। शारीरिक एव आध्यात्मिक सभी शक्तियो का आधारभूत वीर्य है। वीर्य रहित पुरुष लौकिक तथा लोकोतरिक किसी तरह की भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ बाड़ें बतलाई गई हैं। उनके बिना ब्रह्मचर्य सुरक्षित नहीं रह सकता। वे नौ बाड़ें इस प्रकार हैं—

१. जिस मकान, आवास या भवन में स्त्री, पशु या नपुंसक रहते हों, वहा ब्रह्मचारी न ठहरे।

२. ब्रह्मचारी को किसी दूसरे के सामने विकार उत्पन्न करने वाली स्त्रियों की बातें या कथा कहानी नहीं कहनी चाहिए।

३. ब्रह्मचारी को स्त्री के साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए। जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो, उसके उठ जाने पर भी दो घडी तक उस स्थान पर नही बैठना चाहिए। अथवा जिस जगह स्त्रियों का आगमन अधिक हो उस स्थान मे भी ब्रह्मचारी को नहीं ठहरना चाहिए।

४. ब्रह्मचारी स्त्रियों के मनोहारी रूप या अगोपांगो को न देखे। यदि अचानक दृष्टि पड़ भी जाए तो उस ओर ध्यान न देना चाहिए।

५. ब्रह्मचारी विकार-उत्पादक गरिष्ठ भोजन भी न करे, ऐसे भोजन को विषाक्त समझ कर ग्रहण न करे।

६ ब्रह्मचारी अतिमात्रा में रूखा भोजन भी न करे। ऊनोदरी तप करे अर्थात् आधा पेट भोजन करे, आधे में से दो भाग पानी से और एक भाग वायु के लिए छोडना चाहिए।

७ ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने से पहले जो कामचेष्टाए की हैं, ब्रह्मचारी उनका पुन: स्मरण न करे।

८. ब्रह्मचारी स्त्रियो के शब्द, रूप और ख्याति का अनुसरण करने वाला नहीं होना चाहिए, क्योंकि इन से मन चचल हो उठता है। अत: इन बातों मे ध्यान न दे।

९ पुण्योदय से प्राप्त अभीष्ट वर्ण, गंध, रस और स्पर्श आदि के सुखों में ब्रह्मचारी को आसक्त नही होना चाहिए, क्योंकि सुख शील बनने से ही वासनाएं पीड़ित करती है, अत: सुखशील नहीं होना चाहिए। इन नौ बाडों का पालन करने से ही ब्रह्मचर्य की रक्षा की जा सकती है।

जो साधक ब्रह्मचर्य का पालन नही करते, उनकी नौ बाड़ें सुरक्षित नही रहती या जिन की नौ बाड़ें सुरक्षित नहीं है, उनका ब्रह्मचर्य रत्न असुरक्षित है, वे किसी भी समय अपने इस महाव्रत को भग कर भ्रष्ट हो सकते हैं। अत: सूत्रकार ने नौ गुप्तियों और नौ अगुप्तियो का भी निर्देश करके 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति', इस न्याय के अनुसार ब्रह्मचर्य की महती सुरक्षा की आवश्यकता को व्यक्त किया है।

चौथे और पांचवें तीर्थंकर का मध्यकाल

मूल—अभिणंदणाओ णं अरहओ सुमई अरहा नवहिं सागरोवम-कोडीसयसहस्सेहिं विइक्कंतेहिं समुप्पन्ने॥४॥

छाया—अभिनन्दनाद् अर्हतः सुमतिरर्हन् नवसु सागरोपमकोटिशतसहस्त्रेषु व्यतिक्रान्ते समुत्पन्नः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—अरिहन्त अभिनन्दन जी से अरिहन्त सुमतिनाथ जी नौ लाख सागरोपम कोटि-काल व्यतीत होने पर उत्पन्न हुए थे।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के नौ साधनों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार की महती सुरक्षा के निदर्शन अरिहन्त ही होते है, और उन्हीं के चरण-चिह्नो के अनुयायी ब्रह्मचर्य महाव्रत की पूर्ण साधना कर सकते हैं। अतः प्रस्तुत सूत्र में इन दो अरिहन्तों का स्मरण किया गया है जिनका मध्यकाल नवम स्थान के अनुरोध से नौ की सख्या से सम्बद्ध है।

चौथे तीर्थकर भगवान अभिनन्दन देव से नौ लाख करोड़ सागरोपम काल बीतने पर पाचवे तीर्थंकर भगवान सुमति नाथ के कल्याणको का प्रारम्भ हुआ।

नव तत्त्व

मूल—नव सब्भावपयत्था पण्णत्ता, तं जहा—जीवा, अजीवा, पुण्णं, पावो, आसवो, संवरो, निज्जरा, बंधो, मोक्खो ॥५॥

छाया—नव सद्भावपदार्थाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जीवाः, अजीवाः, पुण्यं, पापम्, आश्रवा·, संवराः, निर्जरा, बन्धः, मोक्षः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नौ सद्भाव पदार्थ वर्णन किए गए हैं, जैसे—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में भगवान अभिनन्दन एव सुमति नाथ का मध्यकाल वर्णन किया गया है। काल का अन्तर चाहे कितना भी हो, परन्तु सभी तीर्थंकर नौ तत्त्वों का ही प्रतिपादन करते है। अतः प्रस्तुत सूत्र मे तीर्थकर प्ररूपित नौ तत्त्वो का परिचय दिया गया है। नव तत्त्व सदाकाल भावी है। इसलिए सूत्रकार ने इनके लिए **'सब्भावपयत्था'**—**सद्भाव पदार्थ**, विशेषण का प्रयोग किया है। इन तत्त्वो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। जैसे कि—

१ **जीव**—जिसका लक्षण उपयोग है, जिसे सुख-दुःख का ज्ञान होता है और जो ज्ञानादि शक्तियों का पुञ्ज है, उसे ही जीव कहते हैं। जीवों के मध्यम १४ भेद है और उत्कृष्ट ५६३ भेद हैं।

२. **अजीव**—जीव का विपक्षी अजीव है, जो कि जड़ पदार्थ है, उपयोग शून्य है और सुख-दुःख की अनुभूति से रहित है। अजीव के मध्य भेद १४ है और उत्कृष्ट ५६० हैं।

३. **पुण्य**—कर्मो की शुभ-प्रकृतियां पुण्य कहलाती हैं। यह नौ तरह से बांधा जाता है और ४२ प्रकार से भोगा जाता है।

४. **पाप**—कर्मो की वे अशुभ प्रकृतियां पाप कहलाती हैं जिनसे आत्मा का पतन हो जाता है। पाप-कर्मों का बन्ध १८ प्रकार से बांधा जाता है और ८२ प्रकार से उसका फल भोगा जाता है।

५. **आश्रव**—जिसके द्वारा शुभ और अशुभ कर्मो का ग्रहण किया जाए, उसे आश्रव कहते हैं। इसी को बध का कारण भी कहते हैं।

६. **संवर**—समिति-गुप्ति द्वारा आश्रवो का निरोध ही संवर कहलाता है।

७. **निर्जरा**—फल भोगकर या संयम और तप से कर्मो को धीरे-धीरे क्षय करना ही निर्जरा है।

८. **बन्ध**—आश्रव के द्वारा आए हुए कर्मो का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बन्ध है।

९. **मोक्ष**—कर्मों के बंध से सर्वथा छूट जाने पर आत्मा का अपने स्वरूप में लीन हो जाना ही मोक्ष है।

इन मे मुख्य रूप से दो तत्त्व है—जीव और अजीव। पुण्य भौतिक सुख का कारण है और पाप दु:खों का कारण माना जाता है। आश्रव बध का कारण है और संवर आश्रव का निरोधक है। पूर्वबद्ध कर्मो को आत्मा से अलग करने वाली प्रक्रिया निर्जरा है। जब तक बध है, तब तक संसार है। बध से सर्वथा मुक्त होना ही मोक्ष है। सभी पदार्थ ज्ञेय हैं। ज्ञात होने के अनन्तर आश्रव, पाप और बध इनको छोड़ना चाहिए। सवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन तत्त्व उपादेय है। संवर और निर्जरा साधन है तथा मोक्ष साध्य है।

संसार-समापन्नक जीव

मूल—नवविहा संसार समावन्नगा जीवा पण्णत्ता, जं जहा—पुढवि-काइया जाव वणस्सइकाइआ, बेइंदिया जाव पंचिंदियत्ति।

पुढविकाइया नवगइया नव आगइया पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइए पुढविकाइएसु उववज्जमाणे पुढविकाइएहिंता वा जाव पंचिंदिएहिंतो वा उववज्जेज्जा। से चेव णं से पुढविकाइए पुढविकायत्तं विप्पजहमाणे पुढविकाइयत्ताए जाव पंचिंदियत्ताए वा गच्छेज्जा। एवमाउकाइयावि, जाव पंचिंदियत्ति।

णवविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, नेरइया, पंचेंदियतिरिक्खजोणिया, मणुस्सा, देवा, सिद्धा,।

अहवा णवविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—पढमसमयनेरइया,

अपढमसमय नेरइया जाव अपढमसमयदेवा, सिद्धा।

नवविहा सव्वजीवोगाहणा पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइओगाहणा, आउकाइओगाहणा जाव वणस्सइकायओगाहणा, बेइंदियओगाहणा, तेइंदियओगाहणा, चउरिंदियओगाहणा, पंचिंदियओगाहणा।

जीवाणं नवहिं ठाणेहिं संसारं वत्तिंसु वा, वत्तंति वा, वतिस्संति वा, तं जहा—पुढविकाइयत्ताए जाव पंचिंदियत्ताए ॥६॥

छाया—नवविधाः संसारसमापन्नकाः जीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिका यावत् वनस्पतिकायिकाः, द्वीन्द्रियाः यावत् पञ्चेन्द्रिया इति।

पृथिवीकायिकाः नवगतिकाः नवागतिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिकाः पृथिवीकायिकेषूपपद्यमानः पृथिवीकायिकेभ्यो वा यावत् पञ्चेन्द्रियेभ्यो वोत्पद्येत। स एव सः पृथिवीकायिकत्वं विप्रजहन् पृथिवीकायिकतया यावत् पञ्चेन्द्रियतया वा गच्छेत् एवमप्कायिका अपि। यावत् पञ्चेन्द्रिया इति।

नवविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकेन्द्रियाः, द्वीन्द्रियाः, त्रीन्द्रियाः, चतुरिन्द्रियाः, नैरयिकाः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिजाः, मनुष्याः, देवाः, सिद्धाः।

अथवा नवविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रथमसमयनैरयिकाः, अप्रथम-समयनैरयिका यावद् अप्रथमसमयदेवाः, सिद्धाः।

नवविधाः सर्वजीवावगाहना प्रज्ञप्ता, तद्यथा—पृथिवीकायिकावगाहना, अप्कायिकावगाहना यावत् वनस्पतिकायिकावगाहना, द्वीन्द्रियावगाहना, त्रीन्द्रियावगाहना, चतुरिन्द्रियावगाहना, पञ्चेन्द्रियावगाहना।

जीवा नवसु स्थानेषु संसारम् अवर्तन्त वा, वर्तते वा, वर्तिष्यन्ते वा, तद्यथा—पृथिवीकायिकतया यावत् पञ्चेन्द्रियतया।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—संसारी जीव नौ प्रकार के कथन किए गए है, यथा—पृथ्वीकायिको से लेकर वनस्पतिकायिकों तक और द्वीन्द्रिय जीव से लेकर पञ्चेन्द्रिय जीवो तक।

पृथ्वीकायिक जीव नौ प्रकार की गति वाले तथा नौ प्रकार की आगति वाले वर्णन किए गए हैं, यथा—पृथ्वीकाय मे उत्पन्न होने वाला जीव, पृथ्वीकाय जीवो से यावत् पञ्चेन्द्रिय जीवों से आकर उत्पन्न हो सकता है और पृथ्वीकायिक जीव पृथ्वीकाय को छोड़कर पृथ्वीकाय में यावत् पञ्चेन्द्रिय रूप मे उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार अप्कायिक यावत् पञ्चेन्द्रिय जीवो के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

सर्व जीव नौ प्रकार के कथन किए गए हैं, यथा—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,

चतुरिन्द्रिय, नैरयिक, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिज, मनुष्य, देव और सिद्ध।

अथवा सर्वजीव नौ प्रकार के हैं, यथा—प्रथम समय के नारकीय, अप्रथम समय के नारकीय यावत् अप्रथम समय के देव और मुक्तात्मा सिद्ध।

जीवों की अवगाहना नौ प्रकार की कथन की गई है, यथा—पृथ्वीकाय के जीवों की अवगाहना, अप्काय के जीवों की अवगाहना यावत् वनस्पतिकाय के जीवों की अवगाहना, द्वीन्द्रिय जीवों की अवगाहना यावत् पञ्चेन्द्रिय जीवो की अवगाहना।

जीव संसार में नव स्थानों में रह चुके है, रह रहे हैं और भविष्यत् में रहते रहेंगे, यथा—पृथ्वीकाय के रूप में यावत् पञ्चेन्द्रिय काय के रूप में।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे जिन नौ पदार्थो का वर्णन किया गया है, उनमें से प्रथम तत्त्व जीव है। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार जीव-भेदों में से संसार समापन्नक जीवो के नौ भेदो का वर्णन करते हैं वे पृथ्वी आदि पाच स्थावर जीव और द्वीन्द्रिय आदि चार त्रस जीव हैं। पृथ्वीकायिक जीवों की नौ गतियां हैं और नौ ही आगतियां होती हैं। सभी जीव अपने वर्तमान जीवन मे उक्त नौ जीव-भेदों में से किसी एक भव से ही आए हुए है और वर्तमान भव को छोड़कर वे किसी भी उक्त जीव-भेद् मे उत्पन्न होते है। किसी जीव योनि से जाने को गति और आने को आगति कहते है। इसी तरह अप्कायिक जीवो से लेकर पचेन्द्रिय जीवो तक नौ प्रकार से गति-आगति का स्वरूप समझना चाहिए।

सभी जीव नौ प्रकार के होते है, जैसे कि—प्रथम समय का नैरयिक, अप्रथम समय का नैरयिक, प्रथम समय का तिर्यञ्च, अप्रथम समय का तिर्यञ्च, प्रथम समय का मनुष्य, अप्रथम समय का मनुष्य, प्रथम समय का देव और अप्रथम समय का देव, नौवा भेद सिद्धों का है। क्योकि सिद्ध भगवान् भी जीवास्तिकाय से भिन्न नही हैं।

सब जीवो की अवगाहना नौ प्रकार की होती है, जैसे पृथ्वीकाय की अवगाहना, अप्काय की अवगाहना, तेजस्काय की अवगाहना, वायुकाय की अवगाहना, वनस्पतिकाय की अवगाहना, द्वीन्द्रिय जीवों की अवगाहना, त्रीन्द्रियों की अवगाहना, चतुरिन्द्रियों की अवगाहना और पचेन्द्रिय जीवो की अवगाहना। आत्मा जितने आकाश-प्रदेशो को शरीर के द्वारा या आत्मप्रदेशों के द्वारा घेरता है उसे अवगाहना कहते है।

संसार भर में जितने भी प्राणी है, वे सब नौ प्रकार के है, जैसे कि पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव। इन भवो में रहकर जीवों ने अतीत काल में पाप किए, वर्तमान में पाप कर रहे हैं और अनागत काल में पाप-कर्म करेंगे, इसी कारण भव-भ्रमण किया, करते हैं और करते रहेंगे।

रोग-उत्पत्ति के कारण

मूल— णवहिं ठाणेहिं रोगुप्पत्ती सिया, तं जहा—अच्चासणाए, अहियासणाए, अइणिद्दाए, अइजागरिएण, उच्चारनिरोहेणं, पासवण-निरोहेणं, अद्धाणगमणेणं, भोयणपडिकूलयाए इंदियत्थविकोवणयाए ॥ ७॥

छाया—नवभिः स्थानैः रोगोत्पत्तिः स्यात्, तद्यथा—अत्यशनतया, अहिताशनतया, अतिनिद्रया, अतिजागरितेन, उच्चारनिरोधेन, प्रश्रवणनिरोधेन, अध्वगमनेन, भोजन-प्रतिकूलतया, इन्द्रियार्थविकोपनतया।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नौ कारणो से रोगों की उत्पत्ति होती है, जैसे—अधिक मात्रा में भोजन करने से, अजीर्णावस्था में भोजन करने से, अथवा अधिक बैठने से, अत्यधिक सोने से, अति जागरण से, मल की बाधा रोकने से, प्रश्रवण—मूत्र की बाधा रोकने से, अति चलने से, प्रकृति-विरुद्ध भोजन करने से, काम विकारों का सेवन करने से।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे संसार-समापन्नक जीवो का वर्णन किया गया है। ससारी जीव सशरीरी होते है और भौतिक शरीर रोगो का घर माना गया है, इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे यह विवेचन किया गया है कि शरीर में विविध प्रकार के विकार अर्थात् रोग उत्पन्न होते है। रोग नौ कारणो से उत्पन्न होते हैं। उन कारणों का उल्लेख संक्षेप मे किया गया है, जैसे कि—

१. **अच्चासणाए**—अधिक बैठने से बवासीर आदि रोग और अजीर्ण आदि रोग उत्पन्न हो जाते है।

२. **अहियासणाए**—जो आसन अनुकूल न हो, उस आसन से बैठना रोग का दूसरा कारण है। जिस आसन से शरीर अस्वस्थ हो जाए वह आसन अहितकर होता है, अथवा अहितकर भोजन करने से तथा अधिक भोजन करने से भी रोगोत्पत्ति होती है।

३. **अतिनिद्दाए**—आवश्यकता से अधिक निद्रा लेने से भी शरीर रोग-ग्रस्त हो जाता है।

४. **अतिजागरिएण**—बहुत जागने से भी शरीर अस्वस्थ हो जाता है।

५. **उच्चारनिरोहेणं**—मल-निरोध करने पर नाना प्रकार के रोग पैदा होते हैं।

६. **पासवणनिरोहेणं**—लघुशका की बाधा रोकने से नेत्रो के अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

७. **अद्धाणगमणेणं**—शक्ति से अधिक यात्रा करने से रोगोत्पत्ति होती है।

८. **भोयणपडिकूलयाए**—प्रकृति-विरुद्ध भोजन करने से भी रोग उत्पन्न होते हैं।

९. इंदियत्थविकोवणयाए—विषयो के अधिक सेवन करने से तपेदिक—राजयक्ष्मा आदि विविध रोग उत्पन्न होते हैं। काम-क्रीड़ा मे आसक्ति भी रोगों की जननी है।[१]

जब इन्द्रियों मे कामविकार उत्पन्न होता है, तब स्त्री आदि के सयोग की सबसे पहले इच्छा होती है। उसके बाद वह स्त्री आदि का संयोग कैसे हो सकता है इस विषय मे चिन्ता उत्पन्न होती है और उस निमित्त की याद सताने लग जाती है। फिर उस निमित्त के गुण, स्नेह, माधुर्य आदि का कीर्तन होने लगता है। संयोग न मिलने पर उद्वेग पीडित करता है, फिर प्रलाप होता है। इस प्रकार अन्त में उन्माद अर्थात् पागलपन हो जाता है, व्याधिग्रस्त होना, फिर अंगोपागो का शून्य हो जाना, फिर निमित्त को बिना ही प्राप्त किए परलोक का अतिथि बन जाना ये सब काम-विकार के दुष्परिणाम हैं, अत: काम-विकार के अधिक बढ जाने से उक्त दस प्रकार से जीवो को हानि उठानी पड़ती है।

पहले आठ कारण कष्ट साध्य रोगों के है, नौवा कारण तो असाध्य कोटि का ही माना जाता है, क्योकि काम-विकार की मात्रा अधिक बढ़ने पर शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते है, अत: काम-रोग को सबसे बड़ा रोग माना गया है।

दर्शनावरणीय कर्म

मूल—णवविहे दरिसणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—निद्दा, निद्दानिद्दा, पयला, पयलापयला, थीणगिद्धी, चक्खुदंसणावरणे, अचक्खुदंसणावरणे, अवधिदंसणे, केवलदंसणे ॥८॥

छाया—नवविधं दर्शनावरणीयं कर्म प्रज्ञप्तं, तद्यथा—निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि:, चक्षुर्दर्शनावरण:, अचक्षुर्दर्शनावरण:, अवधि-दर्शनावरण:, केवलदर्शनावरण:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नौ प्रकार का दर्शनावरणीय कर्म कथन किया गया है, जैसे, निद्रा—सुखपूर्वक सोना और सुखपूर्वक जागना। निद्रानिद्रा—सुखपूर्वक सोना और दु:ख-पूर्वक जागना। प्रचला—खड़े-खडे अथवा बैठे-बैठे सो जाना, प्रचला-प्रचला—चलते-चलते सो जाना, स्त्यानगृद्धि—जागृत अवस्था की आकांक्षाएं स्वप्नावस्था में करना अथवा जिस निद्रा मे वासुदेव के बल से आधे बल की प्राप्ति हो जाए। चक्षु-र्दर्शनावरण—नेत्रों द्वारा देखने की शक्ति रोकने वाला कर्म, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधि-

---

१ इन्द्रियार्थाना—शब्दादिविषयाणा विकोपन विपाक., इन्द्रियार्थ—विकोपन कामविकार इत्यर्थ:, ततो हि स्त्र्यादिष्वभिलाषादुन्मादादिरोगोत्पत्ति, यदुक्तम्—आदावभिलाष. स्याच्चिन्ता तदनन्तर, तत. स्मरणम्, तदनुगुणाना कीर्तनमुद्वेगश्च, प्रलापश्च, उन्मादस्तदनु, ततो व्याधिर्जडता, ततस्ततो मरणम्।

दर्शन की शक्ति को रोकने वाला कर्म, केवलदर्शनावरण—केवलदर्शन की शक्ति को रोकने वाला कर्म।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में शारीरिक रोगो का वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने रोग के कारणी भूत कर्म-विशेष का वर्णन करते हुए दर्शनावरणीय कर्म-प्रकृति के नौ भेदों का उल्लेख किया है।

दर्शन का अर्थ है—जो बोध सामान्य मात्र को ग्रहण करता है, उसको आवृत करने वाला कर्म दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। उसके नौ भेदो की व्याख्या इस प्रकार है—

१ **निद्रा**—जिसमे सुखपूर्वक ही शयन किया जाए और सुखपूर्वक जागा जाए वह निद्रा है।

२ **निद्रानिद्रा**—जो सुख के साथ नींद आए और दु:खपूर्वक खुले वह निद्रानिद्रा है।

३ **प्रचला**—जो नींद बैठे-बैठे या खड़े-खडे आ जाए अर्थात् ऊंघना, उसे प्रचला कहते है।

४. **प्रचलाप्रचला**—जिसके प्रभाव से जीव चलते-चलते सो जाए उसे प्रचलाप्रचला कहते हैं।

५. **स्त्यानगृद्धि**—इस निद्रा में सोए हुए मनुष्य में वासुदेव के आधे बल जितनी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। सारांश यह है कि जीव मे सहज बल से कही अनेक गुणा अधिक बल प्रकट हो जाता है। इस बल के जागृत होने पर अप्रशस्त विचार ही उत्पन्न होते हैं। उस निद्रा में यदि कोई जीव काल कर जाए तो उसको नरक गति ही प्राप्त होती है।

उक्त पाच प्रकार की निद्राएं दर्शनावरणीय कर्म के उदय से आती हैं। इनके क्षयोपशम-भाव से या क्षायिक भाव से आत्मा को जागृत अवस्था की प्राप्ति होती है। उक्त दर्शनावरण के पाच भेद दर्शन-लब्धि को आवृत करने वाले होते है, अत: इनको दूर करने के लिए साधक को निरन्तर जागरूक रहना चाहिए।

६. **चक्षुर्दर्शनावरण**—सामान्यमात्रग्राही बोध को आवृत करने वाली कर्म-प्रकृति को चक्षुर्दर्शनावरण कहते है। इस कर्म के उदय से जीव को चक्षु की प्राप्ति नही होती। वह जीव एकेन्द्रिय से लेकर त्रीन्द्रिय पर्यन्त कही भी उत्पन्न हो सकता है। यदि मनुष्य-जन्म प्राप्त कर भी ले, तो वह जन्मान्ध ही उत्पन्न होता है, या पीछे से नेत्रविहीन हो जाता है। नेत्र-शक्ति को येन केन प्रकारेण आवृत करना ही इसका फल है।

७ **अचक्षुर्दर्शनावरण**—नेत्रों के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियो और मन को अचक्षु कहते है। अचक्षु से जायमान सामान्यग्राही बोध को अचक्षुर्दर्शन कहा जाता है। इस दर्शन का जो आवरण करने वाला कर्म है, उसे अचक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं।

८. **अवधिदर्शनावरण**—इन्द्रियो की अपेक्षा किए बिना जो रूपी पदार्थों का सामान्यग्राही

बोध होता, वही अवधिदर्शन है, उसे आवृत करने वाली कर्म-प्रकृति अवधिदर्शनावरण कहलाती है।

९. **केवलदर्शनावरण**—समस्त वस्तुओ को प्रत्यक्ष करने वाले सामान्य-ग्राही बोध को केवलदर्शन कहते है। उसे आवृत करने वाले कर्म को केवलदर्शनावरण कहा जाता है। क्षयोपशम भाव में दर्शन की तारतम्यता रहती है किन्तु क्षायिकभाव में तारतम्य नहीं होता है।

नक्षत्र-चन्द्रयोग

मूल—अभिई णं णक्खत्ते साइरेगे नवमुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोयेइ। अभीइआइया णं णव नक्खत्ता चंदस्स उत्तरेणं जोयं जोएंति, तं जहा—अभीई, सवणो, धणिट्ठा जाव भरणी॥९॥

छाया—अभिजिन्नक्षत्रं सातिरेकान्नवमुहूर्त्तान् चन्द्रेण सार्द्ध योगं युंक्ते। अभिजिदादीनि नव नक्षत्राणि चन्द्रस्योत्तरे योगं युञ्जन्ति, तद्यथा—अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा यावत् भरणी।

शब्दार्थ—अभिई णं णक्खत्ते—अभिजित् नामक नक्षत्र, **साइरेगे नवमुहुत्ते**—कुछ अधिक नवमुहूर्त्तो तक, **चंदेण सद्धिं**—चन्द्रमा के साथ, **जोयं जोयेइ**—योग जोड़ता है, **अभीइआइया णं णवनक्खत्ता चदस्स उत्तरेणं**—अभिजित् आदि नौ नक्षत्र उत्तर दिशा मे स्थित होते हुए चन्द्रमा के साथ, **जोयं जोएंति**—योग जोड़ते है, **तं जहा**—जैसे, **अभीई**—अभिजित्, **सवणो**—श्रवण, **धणिट्ठा जाव भरणी**—धनिष्ठा से लेकर भरणी तक।

मूलार्थ—अभिजित् नक्षत्र नौ मुहूर्त्तो से कुछ अधिक समय तक चन्द्रमा के साथ युक्त रहता है। अभिजित् आदि नौ नक्षत्र उत्तर दिशा में स्थित रहते हुए चन्द्रमा से योग जोड़ते हैं, यथा—अभिजित्, श्रवण और धनिष्ठा से लेकर भरणी तक।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में दर्शनावरणीय कर्म के भेद बताए गए है। मानवीय कर्म-गति के साथ ज्योतिष शास्त्र ग्रहगति का घनिष्ठ सम्बन्ध बताता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार चन्द्र-नक्षत्र-योग का वर्णन करते है।

ज्योतिष शास्त्र कहता है कि सभी नक्षत्रों का योग सभी ग्रहो से होता है। प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि अभिजित् नक्षत्र चन्द्रमा के साथ कितने काल तक युक्त रहता है। कुछ नक्षत्र ४५ मुहूर्त तक, कुछ ३० मुहूर्त तक और कुछ नक्षत्र १५ मुहूर्त तक युक्त रहा करते हैं। किन्तु एक अभिजित् नक्षत्र ही नौ मुहूर्त से कुछ अधिक क्षणो तक चन्द्रमा के साथ युक्त रहा करता है।

अभिजित् आदि नौ नक्षत्र चन्द्र के उत्तर भाग मे योग वाले होते हैं, वे नौ नक्षत्र ये हैं—अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी और

भरणी। ये नौ नक्षत्र उत्तर दिशा में रहते हुए दक्षिण दिशा में स्थित चन्द्र के साथ योग किया करते हैं।

रत्नप्रभा से नक्षत्रमण्डल की दूरी

मूल—इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ णवजोअण सयाइं उड्ढं अवाहाए उवरिल्ले तारारूवे चारं चरइ॥१०॥

छाया—अस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्याः बहुसमरमणीयाद् भूमिभागाद् नवयोजन-शतान्यूर्ध्वमबाधायामुपरिष्टात् तारारूपं चारं चरति।

शब्दार्थ—इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के, **बहुसमर-मणिज्जाओ भूमिभागाओ**—अत्यन्त सम और रमणीय भूमिभाग से, **णवजोअण सयाइं**—नौ सौ योजन की, **उड्ढं अवाहाए उवरिल्ले**—ऊंचाई तक, **तारारूवे**—तारा समूह, **चारं चरइ**—गति करता है।

मूलार्थ—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के अत्यन्त सम और रमणीय भूमि-भाग से नौ सौ योजन की ऊंचाई तक तारारूप-तारामण्डल भ्रमण करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे चन्द्र और नक्षत्र-योग का वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत सूत्र में उसी विषय से सम्बद्ध विषय अर्थात् रत्नप्रभा पृथ्वी से नक्षत्र-मण्डल की दूरी का वर्णन किया गया है।

इस भूमि के समतल भूमिभाग से ७९० योजन ऊपर तारामण्डल गति करता है। ८०० योजन की ऊंचाई पर सूर्य गति करता है। ९०० योजन की ऊंचाई पर शनि का विमान है। यह ज्योतिष-चक्र अधिक से अधिक नौ सौ योजन की ऊंचाई पर परिभ्रमण कर रहा है।[१]

जम्बूद्वीप में प्रवेश-योग्य मत्स्य

मूल—जंबुद्दीवे णं दीवे णवजोयणिआ मच्छा पविसिंसु वा, पविसंति वा, पविसिस्संति वा॥११॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे नवयोजनिकाः मत्स्याः प्रविक्षन् वा, प्रविशन्ति वा, प्रवेक्ष्यन्ति वा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप में नौ योजन की लम्बाई वाले मत्स्य भूतकाल में प्रविष्ट हुए, वर्तमान में प्रविष्ट होते हैं और भविष्य में प्रवेश करेंगे।

---

१ विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—जीवाभिगम सूत्र एव जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में खगोल के नक्षत्रों का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार अपनी विशिष्ट शैली के अनुसार भूगोल-सम्बन्धी वर्णन करते हुए मत्स्य-मान के माध्यम से शीता और शीतोदा महानदियों के समुद्रसंगम-स्थल के विस्तार का वर्णन करते है।

इस सूत्र मे बतलाया गया है कि लवण-समुद्र में ५०० योजन की अवगहना वाले लम्बे-लम्बे मच्छ हैं। जम्बूद्वीप मे शीता और शीतोदा ये दो महानदियां सब से बड़ी है। जहा लवण समुद्र में उन का संगम होता है यदि उस मार्ग से कोई मच्छ जम्बूद्वीप में प्रवेश करे तो अधिक से अधिक नौ योजन लम्बा मच्छ उसमें प्रवेश कर सकता है, ऐसे ही मत्स्यो ने पहले प्रवेश किया, वर्तमान में प्रवेश करते हैं और भविष्य मे प्रवेश करेंगे।

बलदेवों और वासुदेवों के पिता

मूल—जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए णव बलदेव-वासुदेवपियरो हुत्था, तं जहा—

पयावई, य बंभे य, रोद्दे सोमे सिवेइया।
महासीहे अग्गिसीहे, दसरह नवमे य वसुदेवे॥

इत्तो आढत्तं जहा समवाये निरवसेसे जाव एगा से गब्भवसही सिज्झिस्सति आगमेस्सेणं।

जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमेस्साए उस्सप्पिणीये नव बलदेव-वासुदेवपियरो भविस्संति, नव बलदेवमायरो भविस्संति। एवं जहा समवाये निरवसेसं जाव—महाभीमसेण सुग्गीवे य अपच्छिमे।

एए खलु पडिसत्तू, कित्ती पुरिसाण वासुदेवाणं।
सव्वेवि चक्कजोही, हम्मेहंती सचक्केहिं॥१२॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां नवबलदेववासुदेवपितरोऽभूवन, तद्यथा—

प्रजापतिश्च ब्रह्मा च, रुद्रः सोमः शिव इति च।
महासिंहोऽग्निशिखः, दशरथो नवमश्च वसुदेवः॥

इत आरभ्य यथा समवाये निरवशेषं यावद् एका तस्य गर्भवसतिः सेत्स्यत्यागमिष्यति।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां नव बलदेव- वासुदेवपितरो भविष्यन्ति, नव बलदेववासुदेवमातरो भविष्यन्ति। एवं यथा समवाये निरवशेषं यावन्महाभीमसेनः सुग्रीवश्चापश्चिमः।

एते खलु प्रतिशत्रवः, कीर्तिपुरुषाणां वासुदेवानाम्।
सर्वेऽपि चक्रयोधिनः, हनिष्यन्ते स्वचक्रैः॥

शब्दार्थ—**जंबुद्दीवे दीवे**—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के, **भारहे वासे**—भारतवर्ष में, **इमीसे ओसप्पिणीए**—इस अवसर्पिणी काल में, **णव बलदेव-वासुदेवपियरो हुत्था**—नौ बलदेव और नौ वासुदेवों के पिता थे, **त जहा**—जैसे, **पयावई य**—प्रजापति, **बंभे य**—ब्रह्मा, **रोद्दे**—रुद्र, **सोमे**—सोम, **अग्गिसीहे**—अग्निसिंह और, **दसरह**—दशरथ, **नवमे य वसुदेवे**—नौवें वसुदेव। **इत्तो आढत्तं जहा समवाये निरवसेसं**—यहां से लेकर जैसे समवायाग में है, उसी प्रकार सम्पूर्ण रूप से जानना चाहिए, **जाव**—यावत्, **एगा से गब्भवसही**—वे एक जन्म लेकर, **आगमेस्साए**—आगामी काल में, **सिज्झिस्सइ**—सिद्ध होंगे।

जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भारत वर्ष मे, **आगमेस्साए उस्सप्पिणीये**—आगामी उत्सर्पिणी में, **नव बलदेववासुदेवपियरो**—नौ बलदेवो तथा वासुदेवो के नव पिता, **भविस्संति**—होगे, **नव बलदेववासुदेवमायरो भविस्संति**—नौ बलदेव और वासुदेवों की नौ माताएं होंगी, **एवं जहा समवाये निग्वसेसं**—जिस प्रकार समवायाग मे वर्णन आया है, उसी प्रकार यहा भी जानना चाहिए, **जाव**—यावत्, **महाभीमसेण सुग्गीवे य अपच्छिमे**—महाभीमसेन और अन्तिम सुग्रीव होगा, **एए खलु पडिसत्तू**—निश्चय ही ये शत्रु है, **कित्ती पुरिसाण वासुदेवाणं**—कीर्तिमान् वासुदेवो के और ये, **सव्वेवि चक्कजोही**—सब के सब चक्र से युद्ध करने वाले है, **हम्मेहंती सचक्केहिं**—और अपने ही चक्र से मारे जाते हैं।

मूलार्थ—जम्बूद्वीप के भारत वर्ष में इस अवसर्पिणी में बलदेव तथा वासुदेवो के नौ पिता हो चुके हैं, उनके नाम इस प्रकार है—प्रजापति, ब्रह्मा, रुद्र, सोम, शिव, महासिह, अग्निशिख, दशरथ और वसुदेव। यहा से लेकर समवायांग सूत्र में जिस प्रकार वर्णन आया है, उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए, यावत् आगामी काल मे एक जन्म लेकर सिद्धगति को प्राप्त होगे।

जम्बूद्वीप के भारतवर्ष मे आगामी उत्सर्पिणी काल में बलदेव और वासुदेवों के नौ पिता और नौ माताए होगी। समवायाग सूत्र में जिस प्रकार वर्णन किया गया है ठीक उसी तरह यहा भी जानना चाहिए, यावद् महाभीमसेन और अन्तिम सुग्रीव होंगे।

कीर्तिमान् वासुदेवों के ये प्रतिवासुदेव अर्थात् प्रतिशत्रु—वैरी होंगे। ये मब चक्र-युद्ध करने वाले होंगे तथा अपने ही चक्र से मार डाले जाएंगे।

विवेचनिका—पृर्व सूत्र मे जम्बूद्वीप के एक अश का वर्णन किया गया है। जम्बूद्वीप में ही बलदेव एवं वासुदेव आदि होते है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे इस अवसर्पिणीकाल मे होने

वाले नौ बलदेवों और नौ वासुदेवों के नौ पिताओं के नामो का निर्देश किया गया है। इनकी माताए अलग-अलग होती है और पिता एक ही होता है। इस दृष्टि से नौ बलदेवों की नौ माताए और नौ वासुदेवों की नौ माताए हुईं, किन्तु पिता नौ ही हुए हैं। उन पिताओ के नाम इस प्रकार हैं—प्रजापति, ब्रह्मा, रुद्र, सोम, शिव, महासिह, अग्निशिख, दशरथ और वसुदेव।

बलदेव और वासुदेवो के पूर्वभव के नाम, धर्माचार्य, निदान, कर्मबंध के कारण, प्रतिशत्रु और उनकी गति आदि बातों का वर्णन समवायाङ्ग सूत्र के अनुसार जान लेना चाहिए। क्रमश: पहले आठ बलदेव सिद्धगति को प्राप्त हुए और नौवें बलदेव जिनका नाम बलभद्र था, ब्रह्म देवलोक में देवता के रूप मे उत्पन्न हुए हैं। वहां से च्यव कर इस भरत क्षेत्र मे तीर्थंकर पद को प्राप्त कर निर्वाण पाएगे।

बलदेव और वासुदेव का परस्पर घनिष्ट प्रेम होता है। वासुदेव प्रतिवासुदेव पर विजय पाकर आजीवन निष्कंटक राज्य-श्री का उपभोग करते है। उनके देहावसान क बाद बलदेव सयम ग्रहण करते हैं। आजीवन शुद्ध सयम पालकर निर्वाण-पद को प्राप्त होते हैं। यदि कर्म पूर्णतया क्षय न हो सके तो वैमानिक देव बनते है, ऐसा अनादि नियम है।

इस स्थान पर यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि स्थानाङ्ग सूत्र तीसरा अग है और समवायाङ्ग सूत्र चौथा अंग-शास्त्र है, तो फिर तीसरे अग-सूत्र में चौथे अंग-शास्त्र का प्रमाण क्यो दिया गया है ?

इस शका के समाधान में कहा जा सकता है कि उक्त दोनो अगों मे श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने एक समान वर्णन किया है। दोनो शास्त्र उन्हे कण्ठस्थ थे। उन कंठस्थ शास्त्रों को पुस्तकारूढ करते समय उन्होंने इस स्थान पर समवायांग सूत्र का प्रमाण देकर विषय-पूर्ति की है, क्योंकि समवायाङ्ग उनके लिए बुद्धि-प्रत्यक्ष था। अत: यह कथन युक्तियुक्त है।

सूत्रकर्त्ता ने वासुदेव और प्रति-वासुदेव के विषय में निम्नलिखित वर्णन किया है—

एए खलु पडिसत्तू कित्ती पुरिसाण वासुदेवाण।
सव्वेवि चक्कजोही हम्मेहंति सचक्केहिं॥

इस गाथा का भाव यह है कि कीर्ति-पुरुष वासुदेवो के नव प्रतिशत्रु होते है जो कि चक्र से युद्ध करते है, वे अपने ही चक्र से मारे जाते है। सूत्रकार ने वासुदेवो को कीर्ति-पुरुष कहा है, क्योकि ये महापुरुष कीर्ति-प्रधान पुरुष होते है। तीसरे स्थान मे इन महापुरुषो को उत्तम-पुरुष भी कहा गया है क्योंकि इनका राज्यशासन न्याय-पूर्वक होता है। इसी कारण इन्हे लोक-पूज्य भी कहा जाता है।

महानिधियां

मूल—एगमेगे णं महानिही णं णव णव जोयणाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते—एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स नव महानिहीओ पण्णत्ताओ,

तं जहा—

णेसप्पे पंडुयए पिंगलए, सव्वरयण महापउमे।
काले य महाकाले, माणवग महानिही संखे॥१॥
णेसप्पंमि निवेसा, गामागरनगरपट्टणाणं य।
दोणमुहमडंबाणं, खंधाराण गिहाणं य॥२॥
गणियस्स य बीयाणं, माणुम्माणस्स जं पमाणं य।
धन्नस्स य बीयाणं, उप्पत्ती पंडुए भणिया॥३॥
सव्वा आभरणविही, जा य होइ महिलाणं।
आसाण य हत्थीण य, पिंगलनिहिंमि सा भणिया॥४॥
रयणाइं सव्वरयणे, चोद्दस पवराइं चक्कवट्टिस्स।
उप्पज्जंति, एगिंदियाइं पंचिंदियाइं य॥५॥
वत्थाण य उप्पत्ती, निप्पत्ती चेव सव्वभत्तीणं।
रंगाण य धोयाण य, सव्वा एसा महापउमे॥६॥
काले कालण्णाणं, नव्वपुराणं य तीसु वासेसु।
सिप्पसयं कम्माणि य, तिन्नि पयाए हियकराइं॥७॥
लोहस्स य उप्पत्ती, होइ महाकाले आगराणं च।
रुप्पस्स सुवन्नस्स य, मणिमोत्तिसिलप्पवालाणं॥८॥
जोहाण य उप्पत्ती, आवरणाणं य पहरणाणं य।
सव्वा य जुद्धनीई, माणवए दंडनीई य॥९॥
नट्टविही नाडगविही, कव्वस्स चउविहस्स उप्पत्ती।
संखे महानिहिम्मी, तुडियंगाणं य सव्वेसिं॥१०॥
चक्कट्ठ पइट्ठाणा, अट्ठुस्सेहा य नव य विक्खंभे।
बारसदीहा, मंजूससंठिया जह्नवीई मुहे॥११॥
वेरुलियमणि कवाडा, कणगमया विविहरयणपडिपुन्ना।
ससि सूर-चक्कलक्खण, अणु-सम-जुगबाहु-वयणा य॥१२॥
पलिओवमट्ठिईया, णिहिसरिणामा य तेसु खलु देवा।
जेसिं ये आवासा, अक्किज्जा आहिवच्चा व॥१३॥

एए ये नवनिहओ, पभूयधणरयण संचय समिद्धा।
जे वसमुवगच्छंती, सव्वेसिं चक्कवट्टीणं॥१४॥१३॥

छाया—एकैकः खलु महानिधिर्नव-नव योजनानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः। एकैकस्य राज्ञश्चातुरन्तचक्रवर्त्तिनो महानिधयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

नैसर्पः पाण्डुकः पिङ्गलः, सर्वरत्नः महापद्मः।
कालश्च महाकालो, माणवको महानिधिः शङ्खः॥ १ ॥
नैसर्पे निवेशाः, ग्रामाकर-नगरपत्तनानि च।
द्रोणमुखमडम्बानां, स्कन्धावाराणां गृहाणाञ्च॥ २ ॥
गणितस्य च बीजानां, मानोन्मानयोः यत्प्रमाणञ्च।
धान्यस्य च बीजानामुत्पत्तिः, पाण्डुके भणिता॥ ३ ॥
सर्वाभरणविधिः, पुरुषाणां, यश्चभवति महिलानाम्।
अश्वानां हस्तिनाञ्च, पिङ्गलनिधौ स भणितः ॥ ४ ॥
रत्नानि सर्वरत्ने, चतुर्दश प्रवराणि चक्रवर्त्तिनः।
उत्पद्यन्ते एकेन्द्रियाणि, पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ ५ ॥
वस्त्राणामुत्पत्तिः, निष्पत्तिश्चैव सर्व-भक्तीनाम्।
रागाणां-धौतानाञ्च, सर्वा एषः महापद्मे॥ ६ ॥
काले कालज्ञान, नव-पुराणञ्च त्रिषु वर्षेषु।
शिल्पशतं कर्माणि च, त्रीणि प्रजाया हितकराणि॥ ७ ॥
लौहस्य चोत्पत्तिर्भवति, महाकाले आकराणाञ्च।
रूप्यस्य सुवर्णस्य च, मणिमुक्ताशिलाप्रवालानाम्॥ ८ ॥
योधानाञ्चोत्पत्तिः, आवरणानाञ्च प्रहरणानाञ्च।
सर्वा च युद्धनीतिः, माणवके दण्डनीतिश्च॥ ९ ॥
नाट्यविधिर्नाटकविधिः, काव्यस्य चतुर्विधस्योत्पत्तिः।
खङ्खे महानिधौ, त्रुटिताङ्गानाञ्च सर्वेषाम्॥ १० ॥
चक्राष्टप्रतिष्ठानाः, अष्टोत्सेधाश्च नव च विष्कम्भाः।
द्वादशदीर्घमञ्जूषा-संस्थिताः जाह्नव्या मुखे॥ ११ ॥
वैडूर्य-मणि-कपाटाः, कनकमया-विविधरत्न-प्रतिपूर्णाः।
शशिसूर-चक्रलक्षणाः, अनु-समयुग-बाहु-वदनाश्च॥ १२ ॥
पल्योपमस्थितिकाः, निधिसदृङ्नामानश्च तेषु खलु देवाः।
येषाञ्चावासाः, अक्रेया अधिपत्या वा॥ १३ ॥

एते ते नवनिधयः, प्रभूत-धनरत्न-समृद्धाः।
ये वशमुपगच्छन्ति, सर्वेषाञ्चक्रवर्तिनाम्॥१४॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—प्रत्येक महानिधि विष्कम्भ की अपेक्षा नौ योजन प्रमाण वर्णन की गई है। प्रत्येक चक्रवर्ती के आधीनस्थ नव निधान होते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—नैसर्प, पण्डुक, पिंगल, सर्वरत्न, महापद्म, काल, महाकाल, माणवक और शंख।

नैसर्प महानिधान में ग्राम, नगर, पत्तन, द्रोणमुख, मडम्ब, स्कन्धावार और गृह-निर्माण सम्बन्धी वर्णन प्राप्त होता है।

पण्डुक महानिधान में गणना-योग्य वस्तु, बीज-गणित, मान, उन्मान, प्रमाण आदि का तथा धान्यों और बीजों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

पिंगल महानिधान में पुरुष और स्त्रियों के सर्व प्रकार के आभूषणों की निर्माण-विधि तथा घोड़ों और हस्तियों के अभूषणो के विषय में वर्णन प्राप्त होता है। सर्वरत्न नामक महानिधि में चक्रवर्ती के चौदह महारत्नों का और पञ्चेन्द्रिय सेनापति आदि रत्नों के विधान का उल्लेख है।

महापद्म नामक महानिधि मे रंगे हुए और धोए हुए सर्व प्रकार के वस्त्रों की उत्पत्ति तथा निष्पत्ति का विधान है।

काल महानिधि में नवीन और प्राचीन वस्तुओं का तीन-तीन वर्ष तक का कालज्ञान है। सौ प्रकार का शिल्प तथा प्रजा के हितकर तीन प्रकार के कामो का विवरण है।

महाकाल महानिधि में चादी, सोना, मणि, मोती, पत्थर, मूगा और लौह आदि धातुओं की उत्पत्ति तथा खानों के विषय मे विवेचन प्राप्त होता है।

माणवक महानिधि में शूरवीरो और तत्सम्बन्धी कवच, शस्त्रास्त्र तथा युद्ध-नीति और दण्डनीति के विधान का उल्लेख है। शङ्ख महानिधि मे नृत्यविधि, नाट्यविधि, चार प्रकार के काव्य की उत्पत्ति तथा सर्व प्रकार के तूर्यादि वादित्रों का विधान है।

ये सब महानिधान आठ चक्रों पर आश्रित है। आठ-आठ योजन ऊचे, नौ-नौ योजन चौडे तथा बारह योजन लम्बे है। मञ्जूषा अर्थात् पेटी के आकार वाले और गंगा के अग्रभाग पर अवस्थित है।

इन महानिधियों के कपाट वैडूर्य-मणिमय तथा सुवर्णमय है और नाना प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण हैं। ये सभी निधान, चन्द्र, सूर्य और चक्र के चिह्नों से चिह्नित है। सम है अर्थात् विषम नही हैं। इनके अग्रभाग में यूप अर्थात् स्तम्भ के समान दीर्घ और वृत्ताकार द्वार शाखाएं हैं।

इन सभी महानिधानो के अधिष्ठातादेव पल्योपम स्थिति वाले है। इन निधियों के देवों के नाम भी निधियों जैसे ही हैं। ये निधान इन देवो के आवास-स्थान हैं। इन निधानों का क्रय-विक्रय नहीं हो सकता। इनका आधिपत्य भी इन्हीं देवों के पास है।

ये सभी महानिधान अत्यधिक धन एव रत्नो से भरपूर हैं। ये निधान सभी चक्रवर्तियों के अधीन होते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में बलदेव-वासुदेव आदि महापुरुषो का वर्णन किया गया है। महापुरुषो की उस वर्णन-परम्परा में चक्रवर्ती भी आते है, अत: प्रस्तुत सूत्र में चक्रवर्तियो के विशाल नौ निधानों का वर्णन प्राप्त होता है।

चक्रवर्तियो के विशाल कोषों को निधान कहा जाता है। चक्रवर्तियो का प्रत्येक महानिधान नौ योजन विस्तार वाला होता है। चक्रवर्ती की समस्त सम्पत्ति इन नौ निधानों में सुरक्षित रहती है। इनके विषय मे परम्परागत कथन चला आ रहा है कि एक-एक महानिधि के ३-३ भाग हैं, पहले भाग मे देवासन है, दूसरे भाग मे रत्नसचय है और तीसरे भाग में रत्नमय ग्रन्थो का संग्रह है। उन नौ महानिधियो के ग्रन्थों में निम्नलिखित विषय वर्णन किए गए हैं, जैसे कि—

१. **नैसर्पमहानिधि**--इस मे नए ग्रामों एवं नगरों को बसाना तथा पुराने ग्रामो को व्यवस्थित करना, खनिज पदार्थो की जितनी खाने हैं, उनका प्रबन्ध करना, जितनी बन्दरगाहे है, जितने व्यापारिक नगर है, जितनी छावनिया है, उन सब का प्रबन्ध एव व्यवस्था करने का विधि-विधान है।

२ **पांडुकमहानिधि**—इस निधि मे गणितविद्या, बीजगणित तथा जो पदार्थ गणित के द्वारा क्रय-विक्रय किए जाते हैं, उनके बनाने की सामग्री, जिनका व्यवहार माप के द्वारा किया जाता है, तोली जाने वाली वस्तुए हैं, धान्यादि की उत्पत्ति आदि का सारा विधि-विधान निहित है।

३. **पिगलमहानिधि**—इस निधि मे सभी प्रकार के आभूषणो का वर्णन है। ससार भर मे जितने प्रकार के स्त्री-पुरुषो के आभूषण है, बालक-बालिकाओं के आभूषण है और हाथी-घोड़ो आदि के शृगार के साधन है, उन सब के आकार-प्रकार उनके बनाने की पद्धति और उनका संग्रह विद्यमान है।

४. **सर्वरत्नमहानिधि**—इस मे सब प्रकार के रत्नो का विधान है। जो संसार भर मे सर्वोत्तम हो, अप्रतिम हो, उसे रत्न कहा जाता है। चक्र आदि एकेन्द्रियरत्न, सेनापति आदि पंचेन्द्रिय रत्न, इन की उत्पत्ति, परीक्षा की शैली इत्यादि रत्नो से सम्बन्धित वर्णन इस महानिधि में उपलब्ध होता है।

५. **महापद्मनिधि**—इसमें उत्तम-उत्तम सभी प्रकार के वस्त्रों का उत्पादन, सिलाई,

रंगाई, धुलाई, कटाई इत्यादि सभी कलाओं का वर्णन और साथ ही उनका संग्रह भी है। वस्त्रो से संबंधित सभी बातो का वर्णन इसमें उपलब्ध होता है।

६. **कालमहानिधि**—इस मे तीन वर्ष की पुरानी बाते और तीन वर्ष में होने वाली सभी बातों का ज्ञान होता है और साथ ही वर्तमान कालिक ज्ञान भी। घट, लोह, चित्र, वस्त्र और नापित इन के २०-२० भेद करने से कुल १०० भेद होते है। इसी को १०० प्रकार का शिल्प कहते है। कृषि-वाणिज्य आदि विविध कर्मों का ज्ञान इस से होता है। कालज्ञान, शिल्पज्ञान और कर्मज्ञान ये तीन ज्ञान प्रजा-हित के लिए होते हैं। तीन वर्ष मे जो कुछ होने वाला है, उस से बचने का उपाय पहले किया जा सकता है।

७. **महाकालमहानिधि**—खानों से निकलने वाले जितने भी उत्तमोत्तम पदार्थ हैं, जैसे कि सोना, चांदी, लोहा, मणि, यूरेनियम आदि उन की उत्पत्ति, परीक्षा तथा उनका संशोधन इन सब बातो का वर्णन इसमें है। इतना ही नही, ये सब पदार्थ जिस-जिस काम में आते है या जिस तरह से इनका ग्रहण किया जाता है, उन सब विधि-विधानों का वर्णन इसमें निहित है और उनका संग्रह भी। साधारण जनता के लिए यह विषय अत्यन्त लाभप्रद है। ये निधिया चक्रवर्ती को ही प्राप्त होती है।

८. **माणवकमहानिधि**—इस में सैनिक विद्या, युद्ध-नीति, साम, दाम, भेद और दण्डनीति का विधान है। सब प्रकार के सैनिक शस्त्र-अस्त्र, कवच-परिधान, दुश्मन को घेरे में लाने के उपाय, शत्रु से बचने के उपाय आदि विषयों का वर्णन निहित है और साथ ही उन का सग्रह भी।

९ **शंखमहानिधि**—इस मे संगीत के साज-बाज, बैड, ३२ प्रकार के नाटक, गद्य, पद्य, गेय काव्य, छन्द, अलकार, समछन्द, विषमछन्द और अर्द्धसम छन्दों का विस्तृत वर्णन है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थो का साधन तथा सस्कृत-प्राकृत, अपभ्रंश एवं संकीर्ण भाषा में बने हुए ग्रन्थो का सग्रह है

ये नौ महानिधिया आठ योजन ऊची, नौ योजन चौडी, और बारह योजन लम्बी, संदूक के आकार वाली हैं तथा गगा के मुख पर इनका निवास स्थान है। उनके किवाड़ वैडूर्य मणि से जटित एव स्वर्णमय है। विविध प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण हैं। सूर्य-चन्द्र आदि शुभ लक्षणो से युक्त हैं। इन्हीं नामो वाले निधियों के अधिष्ठाता देव हैं। जिनकी स्थिति पल्योपम की है। ये नौ निधियां जिस के वश होती है, उसी को चक्रवर्ती कहते है। ये निधियां तप-संयम के प्रभाव से ही मिल सकती हैं। लोकोपकारी जितनी क्रियाएं है, वे सब इन से ही प्राप्त होती है।

नौ विकृतियां

मूल—णव विगईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—खीरं, दहिं, णवणीयं, सप्पिं, तेलं, गुलं, महुं, मज्जं, मंसं॥ १४॥

छाया—नव विकृतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षीरं, दधि, नवनीतं, सर्पिः, तैलं, गुड़ः, मधु, मद्यं, मांसम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नव विकृतियां—विकारजनक पदार्थ कथन किए हैं, यथा—दूध, दही, नवनीत, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मधु, मद्य और मांस।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में महानिधियों का वर्णन किया गया है। उन महानिधियों के देखने, सुनने वा स्मरण करने मात्र से लोभी मनुष्य के मन मे विकार उत्पन्न हो जाते हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र मे उन मानसिक विकारों के द्रव्यो का वर्णन किया गया है जो विकारोत्पत्ति में सहायक हों।

नौ प्रकार की विकृतिया ब्रह्मचर्य को नष्ट करने में कारण बनती है। ब्रह्मचर्य के नष्ट हो जाने से दुर्गति एवं जीवन का पतन होने लगता है। वे विकृति-जनक पदार्थ इस प्रकार हैं—

१. **दूध**—दूध गाय का भी होता है, भैंस, भेड़, बकरी और ऊंटनी का भी। इन पशुओ का दूध ही अधिकतर मनुष्य अपने काम में लाता है। 'कामोत्पादक पय:' की उक्ति के अनुसार दूध को काम-विकार का जनक माना गया है, अत: उसे विकार कहा गया है।

२. **दही**—ऊटनी के दूध का दही नही बनता, शेष सबका बनता है। दही को श्लेष्म-संवर्धक एवं आलस्य का उत्पादक माना जाता है।

३. **नवनीत**—जिस दूध का दही बनता है उसी से मक्खन भी बनता है। मक्खन चर्बी बढाता है और साथ ही पौष्टिक भी होता है, अत: इसे भी कामोत्पादक माना गया है।

४. **घृत**—जितने प्रकार का मक्खन होता है उतने ही प्रकार का घी भी होता है। वनस्पति घी भी इसी में सम्मिलित है। घृत स्मृति-वर्धक और शक्ति-वर्धक है, परन्तु उसे कामोत्पादक भी माना गया है।

५. **तैल**—बादामरोगन, तिलों एव सरसो आदि का तेल और जो तेल खाने के काम आते है, उन सब तेलो का समावेश इसी में हो जाता है, तेल को भी चिकनाहट के कारण विकारोत्पादक कहा गया है।

६. **गुड़**—यह दो तरह का होता है—ढीला और बधा हुआ। शक्कर, खांड, मिश्री आदि सभी मीठी वस्तुएं उसमें ग्रहण की जाती हैं। गुड़ आदि पदार्थ मधुमेह आदि रोगों के जनक है और रोग साधना-मार्ग में बाधक होते ही है।

७. **मधु**—शहद तीन तरह का होता है—मकरन्द का, फलों का और चीनी का। मधुमक्खियों द्वारा इकट्ठा किया हुआ, भ्रमरों द्वारा इकट्ठा किया हुआ, कौन्तिक—भिरडों आदि द्वारा इकट्ठा किया हुआ, सभी प्रकार के मधु काम-विकार के जनक और शारीरिक शक्ति के उत्पादक माने गए हैं।

८. **मद्य**—मद्य अर्थात् शराब के अनेक रूप हैं और इसके सभी रूप उन्मादकारी और बुद्धि को भ्रष्ट करने वाले हैं।

९. **मास**—यह तीन तरह का होता है—जलचर-मछली आदि का, खेचर—पक्षी का तथा भूमि पर चलने वाले जीवो का मास। इनके अतिरिक्त अडे भी मास से भिन्न नहीं हैं। अण्डा मास का प्रथम रूप है। इनमें मद्य और मास तो सर्वथा वर्जित एवं अपेय तथा अभक्ष्य है शेष विकृतियो का भी साधक यथाशक्ति त्याग करे, जिससे वह इन विकृतियों से बचकर रहे, तभी उसकी ब्रह्मचर्य समाधि निष्प्रकप रह सकती है।

नौ मल-द्वार

मूल—णव सोयपरिस्सवा बोंदी पण्णत्ता, तं जहा—दो सोत्ता, दो णेत्ता, दो घाणा, मुहं, पोसे, पाऊ॥१५॥

छाया—नव स्त्रोत-परिश्रवा बोन्दी प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—द्वे श्रोत्रे, द्वे नेत्रे, द्वे घ्राणे, मुखं, पोसः, पायुः।

शब्दार्थ—णव सोयपरिस्सवा बोंदी पण्णत्ता, तं जहा—शरीर नौ छिद्रों द्वारा मल का त्याग करता है, यथा, **दो सोत्ता**—दो कान, **दो णेत्ता**—दो नेत्र, **दो घाणा**—दो नासिकाए, **मुह**—मुख, **पोसे**—मूत्रेन्द्रिय, **पाऊ**—गुदा।

मूलार्थ—शरीर से मल निकलने के नौ मार्ग कथन किए गए हैं, यथा—दो कान, दो आंखें, दो नासिका-छिद्र, एक मुख, मूत्रेन्द्रिय और गुदा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में नौ प्रकार की विकृतियो का वर्णन किया गया है। ये विकृतिजनक पदार्थ भौतिक शरीर में विकार भी उत्पन्न करते हैं और मल भी। वह मल स्वभावत: शरीर छिद्रो से प्रवाहित होता रहता है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे उन मलस्त्रावी नौ छिद्रो का परिज्ञान कराया गया है।

बोदी का अर्थ औदारिक शरीर है। उस में मल झरने के नौ द्वार होते है, जिन से यदा-कदा मल निकलता ही रहता है। वे द्वार है दो कान, दो आंखे, दो नासिका-छिद्र, मुह, मूत्रेन्द्रिय और गुदा। इन नौ छिद्रो से अन्दर की मैल बाहर निकलती है। इन के अतिरिक्त शेष अंगो या उपागो के क्षत-विक्षत होने से, फोड़ा फुन्सी हो जाने से या आप्रेशन करके मलमूत्र के द्वार का रास्ता बदल देने से तथा शरीर के सभी अवयवो से अन्दर रही हुई घृणास्पद मैल निकला करती है। वह तो कादाचित्क एवं कृत्रिम होती है, किन्तु उक्त नौ द्वार तो स्वस्थ अवस्था में भी खुले ही रहते हैं। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे नौ द्वारो का ही वर्णन किया गया है।

यद्यपि शरीर के रोमों से भी पसीना आदि मल निकलता है, वह भी तो मैल ही है, फिर नौ ही द्वार क्यो कहे गए हैं? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि प्रस्तुत

सूत्र में गर्मी-सर्दी सभी कालो में मलप्रवाही द्वारों का वर्णन किया गया है न कि सामान्य छिद्रों का। पसीना गर्मी में ही निकलता है, शीतकाल में नही। रोम छिद्र हैं, द्वार नहीं, अत: प्रस्तुत सूत्र मे तो द्वारों का ही वर्णन किया गया है, न कि सूक्ष्म छिद्रो का।

पुण्य-प्रकार

मूल—णवविहे पुण्णे पण्णत्ते, तं जहा—अन्न पुण्णे, पाणपुण्णे, वत्थ-पुण्णे, लेणपुण्णे, सयणपुण्णे, मणपुण्णे, वइपुण्णे, कायपुण्णे, नमोक्कार-पुण्णे॥१६॥

छाया—नवविधं पुण्यं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अन्नपुण्यं, पानपुण्यं, वस्त्रपुण्यं, लयनपुण्यं, शयनपुण्यं, मनः पुण्यं, वाक्पुण्यं, कायपुण्यं, नमस्कारपुण्यम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नौ प्रकार के पुण्यों का वर्णन किया गया है, यथा—अन्न-पुण्य, पान-पुण्य, वस्त्र-पुण्य, लयन-पुण्य, शयन-पुण्य, मन:-पुण्य, वचन-पुण्य, काय-पुण्य, नमस्कार-पुण्य।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे मलस्रावी शरीर-द्वारो का वर्णन किया गया है। शरीर जहां मलस्रावी है वहा पुण्य-साधना मे सहायक भी है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे मानव-शरीर द्वारा सम्पन्न होने वाले पुण्य-प्रकारों का वर्णन किया गया है।

जो जीव को पवित्र बनाता है और आत्मा को समुन्नत करता है, उसे पुण्य कहते है, अथवा जिस प्रक्रिया से शुभ प्रकृतियो का बंध होता है वह पुण्य है। आठ कर्मो की १४८ प्रकृतिया है, उन में से ४२ प्रकृतिया पुण्य के उदय से भोगी जाती है। पुण्य के नौ भेद हैं, जैसे कि—

१. **अन्नपुण्य**—दया-बुद्धि से किसी को भोजन देना पुण्य है।

२. **पानपुण्य**—दया-बुद्धि से किसी प्यासे की प्यास बुझाना पुण्य है।

३. **वस्त्रपुण्य**—अनुकम्पा भाव से किसी गरीब को वस्त्र देना भी पुण्य है।

४. **लयनपुण्य**—किसी को ठहरने के लिए मकान देना पुण्य है।

५. **शयनपुण्य**—आराम करने के लिए किसी को आसन या बिस्तर देना पुण्य है।

६. **मन: पुण्य**—मानसिक भावो को पवित्र रखना मन:पुण्य है।

७. **वचनपुण्य**—किसी को वाणी के द्वारा धैर्य एवं दिलासा देना, गुणी जनों की प्रशसा करना, हितभाव से मीठा बोलना और प्रभु-स्तुति एव स्वाध्याय करना वचन-पुण्य है।

८. **कायपुण्य**—गुणीजनो या दुखियों की शरीर से सेवा करना काय-पुण्य है।

९. **नमस्कारपुण्य**—विनय एवं नम्रता से किसी को नमस्कार करना, नमस्कार पुण्य है।

इस स्थान पर यह जानना आवश्यक है कि पुण्योपार्जन करने के नौ भेद प्राणीमात्र के लिए कथन किए गए हैं, न कि केवल साधु के लिए, क्योंकि जिस स्थान पर 'श्रमण-माहन' के लिए सूत्र पाठ आता है, वहां **''फासुए एसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं''** इत्यादि पाठ आता है। इस सूत्र में 'फासुए' और 'एसणिज्जे' यह पाठ नहीं है, अतः यह सूत्र प्राणीमात्र के पुण्य-बंध के कारणो को बता रहा है। उत्तम साधु के लेने योग्य अन्न यदि सुपात्र को दिया जाए तो वह तीर्थकर नाम आदि पुण्य प्रकृतियो के बंध का कारण बनता है। शेष पुण्य अन्य प्रकृतियो के पुण्य बध के कारण हुआ करते हैं।

पाप बन्ध के कारण

मूल—णव पावस्साययणा पण्णत्ता, तं जहा—पाणाइवाए, मुसावाए जाव परिग्गहे, कोहे, माणे, माया, लोहे ॥१७॥

छाया—नव पापस्याऽऽयतनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—प्राणातिपातः, मृषावादो यावत् परिग्रहः, क्रोधः, मानः, माया, लोभः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नौ प्रकार से पाप का बन्ध होता है, यथा—**प्राणातिपात** से, मृषावाद से लेकर परिग्रह आदि करने से, क्रोध से, मान से, माया से और लोभ से।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे पुण्य का वर्णन किया गया है। पुण्य का विरोधी पाप है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे नौ प्रकार के पाप-स्थानो अर्थात् कारणो का वर्णन किया गया है। पाप के सभी भेद कर्म बध के मूल कारण है। जीव-हिंसा करने से, झूठ बोलने से, चोरी की बुद्धि से किसी की वस्तु उठाने से, दुराचार का सेवन करने से, परिग्रह अर्थात् आसक्ति भाव से, क्रोध करने से, मान करने से, माया अर्थात् कपट करने से तथा लोभ करने से पाप का उपार्जन होता है।

यद्यपि पाप १८ तरह का होता है तथापि उन सब पाप-रूपों का अन्तर्भाव उक्त नौ भेदों मे हो जाता है। राग का माया और लोभ मे, द्वेष का क्रोध और मान मे, कलह का क्रोध मे, अभ्याख्यान का मृषावाद में, पैशुन्य तथा पर-परिवाद का मृषावाद और क्रोध मे, रति-अरति का कषायो में, माया-मृषा का माया और मृषावाद में, और मिथ्यात्व का अनन्तानुबंधी कषायों में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः पाप-स्थान नौ ही है।

प्राणातिपात अर्थात् हिसा आदि को प्रस्तुत सूत्र मे 'पाप-आयतन' कहा गया है, क्योंकि ये ऐसे पाप-कर्म है जिन्हे पाप का बीज कहा जा सकता है। जैसे एक घर में पति-पत्नी से परिवार बढता जाता है इसी प्रकार हिंसा आदि से पापो की विविध-विध

परम्परा बढ़ती जाती है, अतः हिंसा आदि को पाप को आयतन अर्थात् पापों का घर बताया गया है।

पाप-श्रुत प्रसंग

मूल—णवविहे पाव-सुयपसंगे पण्णत्ते, तं जहा—
उप्पाए निमित्ते मंते, आइक्खिए तिगिच्छए।
कला आवरणेऽन्नाणे मिच्छापावयणेइ य॥१८॥

छाया—नवविधः पाप-श्रुत-प्रसंगः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—
उत्पातो निमित्तं मंत्रं, आख्यायिकं चैकित्सिकम्।
कलाऽऽवरणमज्ञानं, मिथ्याप्रवचनमिति च॥
(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नौ प्रकार का पाप-श्रुत-प्रसग प्रतिपादन किया गया है, यथा—उत्पात-शास्त्र, निमित्तशास्त्र, मन्त्रशास्त्र, मातंगविद्या, वैद्यकशास्त्र, कलाशास्त्र, आवरण-शास्त्र, अज्ञानशास्त्र, मिथ्या-प्रवचन।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पाप के नौ रूपों का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उस प्रसंग में नौ प्रकार के ऐसे श्रुत अर्थात् साहित्य का वर्णन करते हैं जिसके पढ़ने में पाप-प्रवृत्ति जागृत होती है। जिस श्रुत अर्थात् साहित्य के पढने से पाप मे प्रवृत्ति हो उसे 'पाप-श्रुत-प्रसग' कहते है। वह पापश्रुतप्रसंग नौ प्रकार का होता है। जिसका विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. **उत्पात**—दैविक एवं भौतिक उपद्रव होने के आसार देखकर उनकी निवृत्ति के लिए हिंसादि उपायों का प्रयोग बताने वाला, किसी पशु आदि के बलिदान द्वारा, राष्ट्र-रक्षा के उपाय बताने वाला साहित्य पाप-श्रुत कहलाता है।

२. **निमित्त**—हिसादि पाप निमित्तों द्वारा शुभ-अशुभ फल बताने वाला शास्त्र।

३. **मंत्र**—जिस शास्त्र मे मारण, उच्चाटन, मोहन, वशीकरण आदि मंत्रों की साधना, उनके अधिष्ठाता देवों का आह्वान आदि का वर्णन हो, और साथ ही उनके प्रयोगों का वर्णन भी किया गया हो, वह शास्त्र।

४. **मातङ्गविद्या**—जिसके उपदेश से भोपा आदि के द्वारा भूत और भविष्यत् की बातें बताई जाती हैं। कहा भी है "**मातङ्गविद्या-यदुपदेशादतीतादिः कथयन्ति डोण्ड्यो वधिरा इति।**

५. **चैकित्सिक**—जिस शास्त्र में रोग-निदान और उनकी चिकित्सा का वर्णन हो, जैसे कि आयुर्वेद शास्त्र।

६. **कला**—जिस शास्त्र मे पुरुषों सम्बन्धी ७२ कलाएं और स्त्रियों सम्बन्धि ६४ कलाएं उनकी विधि एव उनके प्रयोग का कथन किया गया हो, वह शास्त्र।

७ **आवरण**—जिस शास्त्र मे भवन, प्रासाद, नगर आदि बसाने का वर्णन हो, भूमि के शुभ-अशुभ लक्षणों का विवेचन हो, तलघर आदि बनाने की विधि लिखी हो, जिस को दूसरे शब्दों में वास्तु-शास्त्र भी कहते हैं।

८. **अज्ञान**—जिस शास्त्र मे अज्ञान-वर्धक बातें लिखी हो, पदार्थों का यथार्थ स्वरूप वर्णित न हो, जैसे कि काव्य-नाटक उपन्यास आदि तथा कोकशास्त्र आदि भी अज्ञान-शास्त्र कहलाते हैं।

९ **मिथ्या-प्रवचन**—लोकायतिक, षष्टीतत्र चार्वाक आदि शास्त्र।

जिन शास्त्रों मे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप का वर्णन न हो, वे सब पापश्रुत हैं। ससार भर में जितने भी पाप-साहित्य हैं, उनका समावेश उक्त नौ मे ही हो जाता है, किन्तु ये ही दृढ़धर्मी द्वारा यदि लोकहित की भावना से जाने जाएं या काम में लाए जाएं तो ये पाप-श्रुत नहीं कहलाते। जब इनके द्वारा वासना-पूर्ति या दूसरे को हानि पहुंचाई जाए तभी ये पापश्रुत कहलाते है।[१] पापश्रुत या मिथ्याश्रुत को भी सम्यग्दृष्टि संयत सम्यक्श्रुत के रूप मे परिणत कर देते है, किन्तु साधारण साधको के लिए कोई भी पापश्रुत हितकर एव लाभप्रद नही है।

नैपुणिक पुरुष

मूल—नव णेउणिया वत्थू पण्णत्ता, तं जहा—संखाणे, निमित्ते, काइए, पोराणे, पारिहत्थिए, परपंडिए, वाइए, भूइकम्मे, तिगिच्छए॥१९॥

छाया—नव नैपुणिकानि वस्तूनि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—संख्यानं, निमित्तं, कायिकं, पुराणः, पारिहस्तिकः, परपण्डितः, वादिकः, भूति-कर्म, चिकित्सिकः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नौ नैपुणिक पुरुष प्रतिपादन किए गए है, यथा—सख्या-शास्त्र मे निपुण, निमित्त शास्त्र में निपुण, कायिक-शास्त्र में निपुण, पुराण शास्त्र मे निपुण, जन्म से निपुण, सर्वोत्तम विद्वान, मन्त्रवादी, ज्वर आदि का राख आदि से प्रतिकार करने वाला और चिकित्सावेदी।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पापश्रुत साहित्य का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उसी परम्परा मे नैपुणिक पुरुष के नौ भेदों का वर्णन करते है। श्रुत के पारगामी विद्वान् ही निपुण कहलाते है। जिसने किसी भी कार्य को जानने में निपुणता प्राप्त कर ली है, उसे नैपुणिक कहा जाता है। कहा भी है—

---

१ एतच्चमर्वमपि पापश्रुत सयतेन पुष्टावलबनेनासेव्यमानमपापश्रुतमेवेति। —इति वृत्तिकार·

"निपुणं सूक्ष्मं ज्ञानं, तेन चरन्तीति नैपुणिकाः, निपुणा एव वा नैपुणिकाः "वत्थू" त्ति आचार्यादि पुरुषवस्तूनि, पुरुष इत्यर्थः।"

अर्थात् पदार्थ के अन्तस्तल को जानने वाले व्यक्ति ही नैपुणिक वस्तु कहलाते हैं। वे नौ प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

१. **संख्यान**—गणित-शास्त्र के विशेषज्ञ।

२. **निमित्त**—मुहूर्त-चिन्तामणि आदि ज्योतिष शास्त्र के पारगामी विद्वान्।

३. **कायिक**—स्वरोदय के पूर्ण वेत्ता—प्राण-तत्व के विज्ञ विद्वान्।

४. **पुराण**—जिसने अपने जीवन में लोकनीति को देखकर एव स्वयं अनुभव प्राप्त करके बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया है या पुराणशास्त्र या इतिहास का मर्मज्ञ विद्वान् है, अथवा जो कथाकार है उसे भी पुराण कहा जाता है।

५. **पारिहस्तिक**—जो जन्मसिद्ध निपुण है, अपने सब प्रयोजन समय-सयम पर पूरे कर लेते है, उन्हें पारिहस्तिक नैपुणिक कहते हैं।

६. **पर-पण्डित**—इसके दो अर्थ होते हैं—जिससे बढ़कर उस युग में अन्य पण्डित न हो, जिस को आगम की भाषा में श्रुतकेवली कहा जाता है। इस पद का दूसरा अर्थ है—जिसके ससर्ग से दूसरे लोग भी पण्डित हो जाते हो, उसे पर-पंडित कहते हैं। वृत्तिकार भी लिखते हैं—**"परः प्रकृष्टः पण्डितः परपण्डितो बहुशास्त्रज्ञः, परो वा मित्रादिः पण्डितो यस्य स तथा, सोऽपि निपुणसंसर्गान्निपुणो भवति।"**

७. **वादी**—जिसको शास्त्रार्थ में कोई न जीत सके, उसे वादी कहते हैं। यह वाद-लब्धि हर एक विद्वान् के पास नही होती है। मंत्रवादी, धातुवादी आदि का समावेश भी इसी पद मे हो जाता है।

८. **भूति-कर्म**—जो ज्वरादि को या यक्षावेश को उतारने के लिए राख को मंत्रित करके शरीर पर लगाता है वह भूति-कर्म नैपुणिक कहलाता है।

९. **चिकित्सिक**—जो आयुर्वेद शास्त्र मे निपुण है, वह चिकित्सक कहलाता है। रोग के मूल कारण को समझने मे तथा उसके शमन या सशोधन मे जो निपुण है, वह नैपुणिक कहलाता है।

वास्तव में देखा जाए तो ये नौ कारण सांसारिक क्रियाओं के लिए उपयोगी हैं, अथवा अनुप्रवाद पूर्व के नौ वस्तु-अध्ययन विशेष हैं। उन्हें जानने वाला पुरुष भी नैपुणिक कहलाता है।

महावीर स्वामी के नौ गण

मूल—समणस्स णं भगवओ महावीरस्स णव गणा हुत्था, तं जहा—गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उद्दवाइयगणे,

विस्सवाइयगणे, कामड्ढियगणे, माणवगणे, कोडियगणे ॥२०॥

छाया—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य नव गणा अभूवन्, तद्यथा—गोदासगणः, उत्तरबलिस्सहगणः, उद्देहगणः, चारणगणः, ऊर्ध्ववादिकगणः, विश्ववादिकगणः, कामर्द्धिकगणः, मानवगणः, कोटिकगणः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के नौ गण हुए हैं, यथा—गौदास-गण, उत्तरबलिस्सह-गण, उद्देह-गण, चारण-गण, ऊर्ध्ववातिक-गण, विश्ववादिक-गण, कामर्द्धिक-गण, मानव-गण और कोटिक-गण।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पाप-प्रवृत्तियो का वर्णन किया गया है, उन पाप-प्रवृत्तियो से गणाधिष्ठाता आदि बचते है और साधकों को उनसे बचने का उपदेश देते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र मे नवम स्थान के अनुरोध से उन गणों का उल्लेख किया गया है जिनकी सख्या नौ थी।

जिन साधुओं की क्रिया-सामाचारी एक समान हो, वाचना भी एक सदृश हो उन साधुओ के समुदाय को गण कहते हैं। श्रमण भगवान महावीर स्वामी के नौ गण थे।

गोदास भद्रबाहु स्वामी के बडे शिष्य थे, उन्ही के नाम से गोदास-गण प्रचलित हुआ।

उत्तरबलिस्सह स्थविर महागिरि के प्रथम शिष्य हुए हैं, उनके नाम से उत्तरबलिस्सह-गण प्रचलित हुआ। शेष गणों के नामों का उल्लेख मूलार्थ में किया जा चुका है।

इन गणो के नाम किस अर्थ को लिए हुए हैं या ये नव गण किस आधार पर स्थापित किए गए हैं, इस विषय मे इतिहास मौन है, हां इनका कुछ वर्णन कल्पसूत्र की स्थविरावली में उपलब्ध होता है। यहां केवल उन गणो का नामोल्लेख ही किया गया है। सभव है महावीर स्वामी के निर्वाण के अनन्तर श्रमण-संघ नौ गणों में विभक्त हो गया हो। यहा जिनके नाम दिए गए हैं, ऐसा भी संभव है कि वे नाम गणाग्रणी महापुरुषों के ही हों। जिनसे गणो की प्रवृत्ति हुई है।

निर्दोष आहार

मूल—समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णव कोडिपरिसुद्धे भिक्खे पण्णत्ते, तं जहा—ण हणइ, ण हणावइ, हणंतं णाणुजाणइ। ण पयइ, ण पयावेइ, पयंतं णाणुजाणइ। ण किणइ, ण किणावेइ, किणंतं णाणुजाणइ ॥२१॥

छाया—श्रमणेन भगवता महावीरेण श्रमणानां निर्ग्रन्थानां नवकोटि परिशुद्धं भैक्षं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—न हन्ति, न घातयति, घ्नन्तं नानुजानाति। न पचति, न पाचयति, पचन्तं नानुजानाति। न क्रीणाति, न क्रापयति, क्रीणन्तं नानुजानाति।

शब्दार्थ—समणेणं भगवया महावीरेणं—श्रमण भगवान महावीर ने, **समणाणं णिग्गंथाणं**—श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए, **णव कोडिपरिसुद्धे**—नौ विभागों से निर्दोष, **भिक्खे पण्णत्ते**—भैक्ष कथन किया गया है, **तं जहा**—यथा, **ण हणइ**—न हनन करता है, **ण हणावइ**—न हनन करवाता है, **हणंतं णाणुजाणइ**—हनन करने वाले को अच्छा नहीं समझता है। **ण पयइ**—न पकाता है, **ण पयावेइ**—न पकवाता है, **पयंतं णाणुजाणइ**—पकाते हुए को अच्छा नहीं जानता है। **ण किणइ**—स्वय क्रय नही करता, **ण किणावेइ**—न क्रय करवाता है, **किणंतं णाणुजाणइ**—क्रय करते को अच्छा नहीं समझता है।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने श्रमण-निर्ग्रन्थों का नौ प्रकार का परिशुद्ध अर्थात् निर्दोष आहार वर्णन किया है, यथा—स्वयं मारता नहीं अर्थात् स्वयं हनन नही करता, दूसरे से किसी जीव का हनन करवाता नही है, हनन करने वाले की अनुमोदना नहीं करता। स्वयं पकाता नहीं, अन्य से पकवाता भी नहीं और पकाने वाले का अनुमोदन भी नही करता। स्वय खरीदता नही है, अन्य से खरीदवाता नहीं और खरीदने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में गणों का वर्णन किया गया है। गण में रहने वाले साधु भैक्ष वृत्ति वाले होते हैं। श्रमण भगवान महावीर ने श्रमण-निर्ग्रन्थों को नौ प्रकार की विशुद्ध भिक्षा ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत सूत्र मे निर्देश किया है। भिक्षा से प्राप्त होने वाला आहार भैक्ष कहलाता है। कहा भी है—**भिक्षाणां समूहो भैक्षम्।** नौ प्रकार से विशुद्ध आहार आदि वस्तु लेनी ही साधु-साध्वी के लिए उचित है। भिक्षा की नौ कोटियों का विवरण इस प्रकार है। जैसे कि—

१. साधु आहार के लिए स्वयं जीव हिंसा नही करता है।

२ न किसी गृहस्थ आदि से जीव-हिंसा करवाता है।

३ और न ही हिंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

४ साधु स्वयं न आहार पकाता है!

५ न किसी गृहस्थ के द्वारा पकवाता है।

६ और न पकाते हुए को भला ही समझता है।

७. साधु आहार आदि वस्तु न खरीदता है।

८. न किसी गृहस्थ को खरीदने के लिए कहता है।

९. खरीदने वाले व्यक्ति का अनुमोदन भी नही करता।

ऊपर लिखी हुई सभी कोटियां मन-वचन और काय रूप तीन योगो से है। पहली तीन कोटियो से यह ध्वनित होता है कि—

जिस साधक ने त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का परित्याग कर दिया है वह

कंद-मूल एवं फल-फूल आदि सचित्त वस्तुओं का आहार नहीं कर सकता तथा गेहूं आदि धान्य का कुट्टन-पीसन, दलन आदि हिंसक प्रवृत्तियां भी नहीं कर सकता है, न ऐसी प्रवृत्ति के लिए दूसरे को प्रेरणा दे सकता है और ऐसी हिंसक प्रवृत्तियों का वह समर्थन भी नहीं कर सकता।

दूसरे प्रकार की तीन कोटियों का आशय यह है—कि खाद्य और पेय पदार्थों को साधु अग्नि या विद्युत् आदि के प्रयोग से न स्वयं पकाए, न दूसरो से कहकर पकवाए, पकाने वाले का समर्थन भी न करे।

तीसरे प्रकार की तीन कोटियो का भाव यह है कि साधु, खाद्य, पेय पदार्थ न तो स्वयं खरीदे, न खरीदने के लिए किसी को प्रेरणा करे और यदि कोई अपने आप ही खरीद कर दे तो उसका समर्थन भी न करे।

इन नौ कोटियों की विशुद्धि से विशुद्ध भैक्ष ग्रहण करने का विधान शास्त्रकारों ने साधक के लिए किया है। इसी से मानव आत्म-विकास करके निर्वाण पद की प्राप्ति कर सकता है। साधु का जीवन गृहस्थ के लिए भारभूत नही होना चाहिए। निर्दोष एवं विशुद्ध भिक्षाचरी से आहार ग्रहण करना वृत्ति-संक्षेप तप है। तप से ब्रह्मचर्य की विशुद्धि होती है। ब्रह्मचर्य से आत्मा पूर्णता की ओर अग्रसर होता है और पूर्णता ही मोक्ष है।

वरुण देव की अग्रमहिषियां

मूल—ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारन्नो णव अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ॥२२॥

छाया—ईशानस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य वरुणस्य महाराजस्य नव अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—ईशान देवेन्द्र देवराज के वरुण महाराज की नौ अग्रमहिषिया हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में नौ प्रकारो से विशुद्ध आहार का वर्णन किया गया है। नव कोटि विशुद्ध आहार करने वाले भिक्षु यदि निर्वाण प्राप्त न कर सके तो वे देवगति प्राप्त करते है, अतः प्रस्तुत सूत्र में क्रम-प्राप्त देव और देवियों का वर्णन किया गया है।

व्यन्तर और ज्योतिष्क इन्द्रों के अतिरिक्त शेष सभी इन्द्रो के चार-चार लोकपाल होते हैं, जो कि सीमाओं की सुरक्षा किया करते हैं। ऐसे सभी लोकपाल महाराज कहलाते हैं, जिनका विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र के तीसरे शतक में किया गया है, किन्तु इस स्थान पर केवल इतना ही वर्णन है कि ईशान देवेन्द्र के लोकपाल जो कि उत्तर दिशा के अधिपति हैं, उनका नाम वरुण है। उनकी नौ अग्रमहिषी देवियां है। स्मरण रहे, जो दक्षिण दिशा में इन्द्र हैं उनके लोकपालों के नाम, सोम, यम, वरुण और वैश्रवण है, किन्तु जो इन्द्र उत्तर

दिशा में हैं, उनके लोकपालों के नाम सोम, यम, वैश्रवण और वरुण है। वैश्रवण पश्चिम दिशा का अधिनायक है और वरुण लोकपाल उत्तर दिशा का महाराजा है।

ईशानेन्द्र की अग्रमहिषियों का स्थितिकाल

मूल—ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरण्णो अग्गमहिसीणं णव पलिओ-वमाइं ठिई पण्णत्ता।

ईसाणे कप्पे उक्कोसेणं देवीणं णव पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता॥२३॥

छाया—ईशानस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य अग्रमहिषीणां नव पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ताः। ईशाने कल्पे उत्कर्षेण देवीनां नव पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—ईशान देवेन्द्र देवराज की पटरानियों की नौ पल्योपम की स्थिति कथन की गई है। ईशान नामक कल्प-देवलोक में देवियों की उत्कृष्ट स्थिति नौ पल्योपम की वर्णन की गई है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे वर्णित विषय के अनुरूप प्रस्तुत सूत्र में भी देवियों की स्थिति का वर्णन किया गया है। ईशान देवेन्द्र की जितनी अग्रमहिषी देवियां है, उनकी स्थिति नव पल्योपम की मानी गई है। ईशान कल्प देवलोक में परिगृहीता देवियों की उत्कृष्ट स्थिति नव पल्योपम की है और अपरिगृहीता देवियों की उत्कृष्ट स्थिति ५५ पल्योपम की होती है। परिगृहीता देवी विवाहिता स्त्री के समान होती है। परिगृहीता और अपरिगृहीता देवियों की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए एक गाथा दी जाती है जैसे कि—

''सपरिग्गहेयराणं सोहम्मीसाण पलिय-साहियं।
उक्कोस सत्तपन्ना नव पणपन्ना य देवीणं॥''

अर्थात् सौधर्म देवलोक मे परिगृहीता देवी की स्थिति कम से कम एक पल्योपम की और अधिक से अधिक सात पल्योपम की तथा अपरिगृहीता देवी की कम से कम स्थिति पल्योपम की और अधिक से अधिक पचास पल्योपम की होती है। दूसरे देवलोक में परिगृहीता देवी की स्थिति कम से कम पल्योपम से कुछ अधिक और अधिक से अधिक नौ पल्योपम की मानी गई है। अपरिगृहीता देवी की कम से कम एक पल्योपम से कुछ अधिक और उत्कृष्ट स्थिति पच्चपन पल्योपम की मानी गई है।

लोकान्तिक देव-निकाय

मूल—नव देव निकाया पण्णत्ता, तं जहा—

सारस्सयमाइच्चा, वण्ही वरुणा य गद्दतोया य।
तुसिया अव्वाबाहा, अग्गिच्चा चेव रिट्ठा य॥

अव्वाबाहाणं देवाणं नव देवा, नव देवसया पण्णत्ता, तं जहा—अग्गिच्चावि, एवं रिट्ठावि॥२४॥

छाया—नव देवनिकायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सारस्वता आदित्याः, वह्नयो वरुणाश्च गर्द्दतोयाश्च।

तुषिता अव्याबाधाः, आग्नेयाश्चैवरिष्टाश्च॥ १ ॥

अव्याबाधानां देवानां नव देवाः नव देवशतानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—एवमाग्नेयानामपि, एवं रिष्टानामपि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—देवों के नौ निकाय वर्णन किए गए हैं, यथा—सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्द्दतोय, तुषित, अव्याबाध, आग्नेय और रिष्ट।

अव्याबाध, आग्नेय तथा रिष्टदेवों के नौ देव मुख्य और उनका नौ सौ देवो का परिवार वर्णन किया गया है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रों में देवियो का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उस देव-वर्णन की परम्परा में लोकान्तिक देवों का वर्णन करते है। लोकान्तिक देवों के नौ विमान हैं। उनका निवास स्थान ब्रह्मदेवलोक है। उन में से पहले आठ भेद कृष्णराजियो के अन्तरालो मे पाए जाते हैं, किन्तु नौवा भेद कृष्णराजि के ठीक मध्यभाग के रिष्टाभ प्रस्तट मे है। उनका नामोल्लेख मूलार्थ मे किया जा चुका है।

तत्त्वार्थ सूत्र मे **वरुण** के स्थान में **अरुण** और **अग्गिच्च** के स्थान में **मरुत** नामोल्लेख किए गए है। इसका मूलाधार क्या है यह अभी तक अज्ञात है। दिगम्बर परम्परा में लोकान्तिको के आठ भेद ही प्रसिद्ध है।

अव्याबाध, आग्नेय और अरिष्ट इन विमानों मे नौ-नौ देव हैं और उनका ९००-९०० देवपरिवार है। नव लोकान्तिक देव आपस में छोटे-बड़े नही होते, सभी स्वतन्त्र हैं, तथा वे तीर्थकर के गृहत्याग के समय प्रतिबोध करने का अपना आचार पालन करते हैं। उनकी आयु पूर्ण आठ सागरोपम की होती है। भद्र स्वभावी होने के नाते उन पर किसी भी इन्द्र का शासन नहीं है।

ग्रैवेयक विमान-प्रस्तट

मूल—णव गेवेज्ज-विमाण-पत्थडा पण्णत्ता, तं जहा—हेट्ठिमहेट्ठिमगेवेज्जविमाणपत्थडे, हेट्ठिममज्झिम-गेविज्जविमाण-पत्थडे, हेट्ठिमउवरिमगे-विज्ज-विमाण-पत्थडे। मज्झिमहेट्ठिम-गेविज्ज-विमाण-पत्थडे। मज्झिममज्झिम-गेविज्जविमाण-पत्थडे, मज्झिमउवरिमगेविज्ज-

विमाण-पत्थडे, उवरिमहेट्ठिमगेविज्ज-विमाण-पत्थडे, उवरिम- मज्झिम-गेविज्जविमाण-पत्थडे, उवरिम-उवरिम-गेविज्जविमाण-पत्थडे।

एएसि णं णवण्हं गेविज्जविमाण-पत्थडाणं णव नामधिज्जा पण्णत्ता, तं जहा—

भद्दे सुभद्दे सुजाए, सोमणसे, पियदरिसणे।
सुदंसणे अमोहे य, सुप्पबुद्धे जसोहरे॥२५॥

छाया—नव ग्रैवेयकविमानप्रस्तटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अधस्तनाधस्तनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, अधस्तनमध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, अधस्तनोपरितनग्रैवेयक-विमानप्रस्तटः। मध्यमाधस्तनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, मध्यममध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, मध्यमोपरितनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः। उपरितनमध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, उपरित-नाधस्तनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, उपरितनोपरितनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः।

एतेषां नवानां ग्रैवेयकविमान-प्रस्तटानां नव नामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

भद्रः सुभद्रः सुजातः, सौमनसः प्रियदर्शनः।
सुदर्शनोऽमोघश्च, सुप्रबुद्धो यशोधरः॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नौ ग्रैवेयक विमान-प्रस्तट कथन किए गए है, यथा—अधस्तनाधस्तन-ग्रैवेयक विमान प्रस्तट, अधस्तनमध्यमग्रैवेयकविमान प्रस्तट, अधस्तनोपरितनग्रैवेयक विमान-प्रस्तट। मध्यमाधस्तन ग्रैवेयक विमान-प्रस्तट, मध्यममध्यमग्रैवेयक विमान-प्रस्तट, मध्यमोपरितनग्रैवेयक विमान प्रस्तट।

उपरितनाधस्तनग्रैवेयक विमान-प्रस्तट, उपरिस्तनमध्यमग्रैवेयक विमान-प्रस्तट, उपरितनोपरितनग्रैवेयक विमान-प्रस्तट।

इन नौ ग्रैवेयक विमान-प्रस्तटो के नौ नाम बताए गए हैं, यथा—भद्र, सुभद्र, सुजात, सौमनस, प्रियदर्शन, सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध और यशोधर।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे देव-निकायों का वर्णन किया गया है, अब उसी परम्परा मे सूत्रकार नौ ग्रैवेयक देवलोको का परिचय देते है।

बारह कल्प देवलोको से ऊपर क्रमशः नौ विमान एक दूसरे के ऊपर है। जो कि पुरुषाकृतिलोक के ग्रीवास्थानीय भाग मे होने के कारण ये ग्रैवेयक कहलाते है।

उनके तीन-तीन त्रिक हैं। एक-एक त्रिक मे तीन-तीन प्रस्तट हैं। पहले त्रिक में १११ विमान हैं, दूसरे मे १०७ और ऊपर के त्रिक में १०० विमान है।

नौ ग्रैवेयक विमान-प्रस्तटों के नौ नाम हैं, जैसे कि—भद्र, सुभद्र, सुजात, सौमनस,

प्रियदर्शन, सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध और यशोधर। इनमें रहने वाले देवों में दो दृष्टियां पाई जाती हैं—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि। वहां सभी देव उपशान्त-कषाय वाले होते है और उनमें सदैव शुक्ललेश्या ही पाई जाती है।[१]

नौ प्रकार का आयु-परिणाम

मूल—नवविहे आउपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा—गइपरिणामे, गइबंधणपरिणामे, ठिइपरिणामे, ठिइबंधणपरिणामे उड्ढंगारवपरिणामे, अहेगारवपरिणामे, तिरियंगारवपरिणामे, दीहंगारवपरिणामे, रहस्संगारवपरिणामे ॥२६॥

छाया—नवविध आयुष्यपरिणामः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—गतिपरिणामः, गतिबन्धनपरिणामः, स्थिति-परिणामः, स्थितिबन्धन-परिणामः, ऊर्ध्वगौरव-परिणामः, अधोगौरवपरिणामः, तिर्यग्गौरव-परिणामः, दीर्घगौरव-परिणामः, ह्रस्वगौरव-परिणामः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आयु का परिणमन नौ प्रकार से कथन किया गया है, यथा—गतिपरिणाम, गति का बन्धन परिणाम, स्थिति-परिणाम, स्थिति-बन्धन परिणाम, ऊर्ध्वगमन परिणाम, अधोगमन परिणाम, तिर्यगगमन परिणाम, दीर्घगमन परिणाम और ह्रस्वगमन परिणाम।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे दीर्घ आयुष्क देवो का वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत सूत्र मे उस आयु का परिणाम वर्णन किया गया है।

आयु का अर्थ है—जीवनकाल अथवा आयु के कारणीभूत कर्म-पुद्गल। आयुष्यकर्म की स्वाभाविक शक्ति को आयु-परिणाम कहते हैं। परिणाम शब्द स्वभाव, शक्ति, धर्म इत्यादि अर्थो का बोधक है। आयु कर्म जिस-जिस रूप में परिणत होकर फल देता है, वह आयु-परिणाम है। इसके नौ भेद हैं और उनकी व्याख्या इस प्रकार है—

१. गति-परिणाम—चार गतियों में से जिस जीव ने जिस गति मे जाना होता है, उसी गति में पहुचा देने वाले आयुष्य-कर्म को गति-परिणाम कहते हैं।

२. गति-बंधन परिणाम—जिस आयु के स्वभाव से जीव नियत गति के योग्य कर्म का बध करता है, वह गति-बंधन परिणाम कहलाता है, जैसे कि देव मनुष्य और तिर्यञ्च की आयु का बन्ध कर सकता है, अन्य किसी गति का नही। इसी तरह नारकी के विषय में भी समझना चाहिए।

३. स्थिति-परिणाम—आयु-कर्म की जिस शक्ति से जीव किसी भी गति विशेष में

१ विस्तार के लिए देखिए, प्रज्ञापना सूत्र का दृष्टिपद और लेश्यापद।

अतर्मुहूर्त से लेकर तैतीस सागरोपम परिमाण आयु बांधता है, उसे आयु-स्थिति-परिणाम कहते हैं। २५६ आवलिका से कम आयु कोई भी जीव नही बांधता और ३३ सागरोपम से अधिक भी कोई नहीं बांधता। इसी आयु को स्थिति-परिणाम कहते हैं।

४. स्थिति-बंध-परिणाम—आयु-कर्म की जिस शक्ति के द्वारा जीव आगामी भव के लिए प्रतिनियत स्थिति की आयु का बंध करता है, उसे 'आयु स्थिति बंध परिणाम' कहते है। जैसे कि तिर्यञ्च भव में जीव देवायु का बंध उत्कृष्ट १८ सागरोपम कर सकता है, जबकि नरकायु का बन्ध उत्कृष्ट ३३ सागरोपम कर सकता है।

५. ऊर्ध्वगौरव-परिणाम—जिस आयु-स्वभाव से जीव की गमन-शक्ति ऊर्ध्व दिशा की ओर हो, वह 'आयु ऊर्ध्वगौरव परिणाम' है। कहा भी है—**येनायुःस्वभावेन जीवस्योर्ध्वदिशि गमनशक्तिलक्षणः परिणामो भवति, सः ऊर्ध्वगौरवपरिणामः। इह गौरवशब्दो गमनपर्यायः।** गौरव शब्द यहा गमन अर्थ का बोधक है।

६. अधो-गौरव-परिणाम—जिस आयु की शक्ति से जीव नीची दिशा को प्राप्त हो, वह आयु अधोगौरव-परिणाम वाली होती है।

७. तिर्यग्गौरव-परिणाम—जिस आयु की शक्ति से जीव को पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर रूप तिरछी दिशाओ मे जाने की शक्ति प्राप्त हो, वह आयु तिर्यग्गैरव-परिणाम वाली है।

८. दीर्घगौरव-परिणाम—जिस आयु की शक्ति से जीव को बहुत दूर जाने की शक्ति प्राप्त हो, वह आयु दीर्घ-गौरव परिणाम वाली होती है। इस आयु परिणाम के उत्कृष्ट होने से जीव लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जा सकता है।

९. ह्रस्व-गौरव परिणाम—जिस आयु-शक्ति से जीव को थोडी दूर जाने की शक्ति प्राप्त हो, वह आयु 'ह्रस्व-गौरव परिणाम' वाली होती है।

जीव जिस-जिस परिणाम से आयु का बंध करता है, वह उसी परिणाम से परभव को प्राप्त करता है। जिस भव मे जिस जीव ने जाना है, वह उस भव के योग्य अन्य कर्म-प्रकृतियो को भी साथ ही बाधता है। शुभ या अशुभ कर्मो को भोगने के लिए आयु-कर्म सहयोगी होता है। आयु स्वतत्र रूप से न शुभ है और न अशुभ, किन्तु शुभ कर्मो के योग से शुभ कहलाती है और अशुभ कर्मो के योग से अशुभ। आयु सुख-दुःख की अनुभूति के लिए औदारिक आदि शरीरो मे जीव को स्थित रखती है। संख्यातकाल की आयु वाले मनुष्य और तिर्यञ्च वर्तमान आयु के तीसरे भाग में से चाहे किसी भी समय में परभव की आयु बांधते हैं, किन्तु असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यञ्च तथा नारकी और देव, ये सब छः मास शेष रहने पर परभव की आयु का बध किया करते हैं। उनकी और उत्तम पुरुषों की आयु निश्चय ही निरुपक्रमी होती है। शेष मनुष्यों एवं तिर्यञ्चो की आयु सोपक्रमी भी होती है और निरुपक्रमी भी। जो आयु किसी प्रबल निमित्त से भेदन हो वह सोपक्रमी और जो महानिमित्त मिलने पर भी समय की ही पूर्णता करे, वह निरुपक्रमी आयु कहलाती है।

नव नवमिका भिक्षु-प्रतिमा

मूल—णव-णवमिया णं भिक्खुपडिमा एगासीए राइंदिएहिं चउहिं य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं अहासुत्ता जाव आराहिया यावि भवइ॥२७॥

छाया—नव-नवमिका भिक्षुप्रतिमा एकाशीत्या रात्रिंदिवैश्चतुर्भिः पञ्चोत्तर-भिक्षाशतैर्यथासूत्रं यावद् आराधिता चाऽपि भवति।

शब्दार्थ—णवणवमिया णं भिक्खुपडिमा—नवनवमिका भिक्षु प्रतिमा, **एगासीए राइंदिएहिं**—इक्यासी रात दिनों में, **चउहिं य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं**—तथा चार सौ पाच भिक्षाओं द्वारा, **अहासुत्ता**—सूत्रानुसार, **जाव**—यावत्, **आराहिया यावि भवइ**—आराधन की जाती है।

मूलार्थ—नवनवमिका भिक्षु प्रतिमा इक्यासी रात-दिनो में तथा चार सौ पांच भिक्षाओं द्वारा सूत्रानुसार आराधन की जाती है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे आयु का वर्णन किया गया है। आयु की उत्तमता तप विशेष पर निर्भर होती है। आयु के परिणाम विशेष से तप का सामर्थ्य प्राप्त होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में नव नवमिका भिक्षु प्रतिमा का स्वरूप, अनुष्ठानकाल तथा दत्ति परिमाण का संकेत किया गया है। पहली नवमिका में एक-एक दत्ति भोजन की और एक-एक दत्ति पानी की लेनी होती है। इसी प्रकार दूसरी नवमिका में दो-दो दत्तियां भोजन और पानी की प्रतिदिन नौ दिन ग्रहण करनी होती हैं। इसी क्रम से नव नवमिका में प्रतिदिन नौ-नौ दत्ति भोजन और पानी की ग्रहण करनी होती हैं। इस प्रतिमा की आराधना में ८१ दिन लगते हैं और दत्तियो की कुल सख्या ४०५ होती है। इस सूत्र पाठ में जाव पद से "**अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएण फासिया पालिया सोहिया किट्टिया**" इन पदो का ग्रहण हुआ है, इन पदो की व्याख्या पहले की जा चुकी है। यह तपस्या आत्म शुद्धि के लिए अतीव महत्त्वपूर्ण है।

नौ प्रकार का प्रायश्चित्त

मूल—णवविहे पायच्छित्तए पण्णत्ते, तं जहा—आलोयणारिहे जाव मूलारिहे, अणवट्ठप्पारिहे॥२८॥

छाया—नवविधं प्रायश्चित्त प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—आलोचनार्ह यावन्मूलार्हम्, अनवस्थाप्यार्हम्।

शब्दार्थ—णवविहे पायच्छित्तए पण्णत्ते, तं जहा—नौ प्रकार का प्रायश्चित्त कथन किया गया है, जैसे, **आलोयणारिहे**—आलोचना योग्य, **जाव**—यावत्, **मूलारिहे**—मूल के योग्य, **अणवट्ठप्पारिहे**—अनवस्थाप्यार्ह।

मूलार्थ—नव प्रकार का प्रायश्चित्त वर्णन किया गया है, जैसे—आलोचनार्ह—

जिस प्रायश्चित्त में केवल आलोचना करनी पडती है। यावत् मूलार्ह—जिस प्रायश्चित्त में नवीन दीक्षा लेनी पड़ती है। अनवस्थाप्यार्ह—एक प्रकार का गुरु प्रायश्चित्त।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में भिक्षु-प्रतिमा का वर्णन किया गया है। प्रतिमा की आराधना में कभी किसी तरह कमी रहने पर दोष की सम्भावना भी बनी रहती है, उन दोषों की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त भी करना आवश्यक है, अत: प्रस्तुत सूत्र में प्रायश्चित्त का वर्णन किया गया है।

प्रायश्चित्त का सामान्य अर्थ तो पश्चात्ताप भी होता है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में इसका अर्थ है—ऐसी साधना करना जिससे पूर्वकृत दोष नष्ट हो जाए और नवीन दोष के उत्पन्न होने की पुन: सम्भावना न रह जाए।

१. जो प्रायश्चित्त सिर्फ आलोचना के योग्य ही है उसे आलोचनार्ह प्रायश्चित्त कहते है।
२. हार्दिक भावना से "**तस्स मिच्छा मि दुक्कडं**" कहना प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त है।
३ जिसकी शुद्धि आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो से होती हो, उसे तदुभयार्ह कहते हैं।
४ सदोष आहार-पानी का त्याग करना या "ऐसी प्रवृत्ति पुन: कभी नहीं होगी" गुरु की साक्षी से इस तरह की प्रतिज्ञा करना विवेकार्ह प्रायश्चित्त है।
५ जिस दोष की शुद्धि कायोत्सर्ग से हो सकती है वह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है।
६. जिस की शुद्धि किसी तप विशेष से हो सकती हो, उसे तपोऽर्ह प्रायश्चित्त कहते है।
७ जिस दोष की निवृत्ति दीक्षा की पर्याय कम करने से हो, उसे देना छेदार्ह प्रायश्चित्त कहा गया है।
८ महाव्रतो के पुन: आरोपण करने से जिस दोष की निवृत्ति हो, उसे मूलार्ह कहा जाता है।
९ जिस ने पहले दोष निवृत्ति के लिए विशिष्ट तपस्या कर ली हो, फिर उसे दीक्षा देना अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है।

प्रायश्चित्त करना आभ्यन्तर तप है। आभ्यन्तरिक तप साधक को कभी भी साधना से विचलित नही होने देता तथा उससे कर्मों की महानिर्जरा भी होती है।

नौ-नौ कूटों वाले पर्वत

मूल—जंबूमंदर-दाहिणेणं भरहे दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे भरहे खंडग माणी वेयड्ढे पुन्न तिमिस्सगुहा।
भरहे वेसमणे या भरहे कूडाण णामाइं॥१॥

जंबूमंदर-दाहिणेणं निसहे वासहरपव्वए णव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे निसहे हरिवास विदेह हिरि धिइ असीओया।
अवरविदेहे रुयगे निसहे कूडाण नामाणि॥२॥

जंबूमंदर-पव्वए णंदणवणे णव कूडा पण्णत्ता तं जहा—

णंदणे मंदरे चेव निसहे हेमवए रयय रुयए य।
सागरचित्ते वइरे बलकूडे चेव बोद्धव्वे॥३॥

जंबूमालवंतवक्खारपव्वए णव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे य मालवंते उत्तरकुरु कच्छ सागरे रयए।
सीया तह पुण्णणामे हरिस्सहकूडे य बोद्धव्वे॥ ४ ॥

जंबू कच्छ दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे कच्छे खंडग माणी वेयड्ढ पुण तिमिस्सगुहा।
कच्छे वेसमणे या कच्छे कूडाण नामाइं॥ ५ ॥

जंबू सुकच्छे दीहवेयड्ढे णव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे सुकच्छे खंडग माणी वेयड्ढ पुन्न तिमिस्सगुहा।
सुकच्छे वेसमणे या सुकच्छि कूडाण णामाइं॥ ६ ॥

एवं जाव पोक्खलावइंमि दीहवेयड्ढे। एवं वच्छे दीहवेयड्ढे। एवं जाव मंगलावइम्मि दीहवेयड्ढे।

जंबूविज्जुप्पभे वक्खार-पव्वए नव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे अ विज्जुणामे देवकुरा पम्ह कणग सोवत्थी।
सीओयाए सजले हरिकूडे चेव बोद्धव्वे॥७॥

जंबूमन्दरे पम्हे दीहवेयड्ढे णव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे पम्हे खंडग माणी वेयड्ढ एवं चेव जाव सलिलावइंमि दीहवेयड्ढे।

एवं वप्पे दीहवेयड्ढे। एवं जाव गंधिलावइंमि दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे गंधिल खंडग माणी वेयड्ढ पुन्न तिमिस्सगुहा।
गंधिलावइ वेसमण कूडाणं होंति णामाइं॥८॥

एवं सव्वेसु दीहवेयड्ढेसु दो कूडा सरिसणामगा, सेसा ते चेव।

जंबूमंदरेणं उत्तरेणं नीलवंते वासहरपव्वए णव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे नीलवंत विदेह सीया कित्ती नारिकंता य।
अवरविदेहे रम्मगकूडे उवदंसणे चेव ॥९॥

जंबूमंदर उत्तरेणं एरवए दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे रयणे खंडग माणी वेयड्ढ पुण्ण तिमिस्सगुहा।
एरवए वेसमणे एरवए कूडणामाइं ॥१०॥२९॥

छाया—जम्बूमन्दरदक्षिणे भरते दीर्घवैताढ्ये नव कूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धो भरतः खण्डको माणिः वैताढ्यः पूर्णस्तिमिस्त्रगुहा।
भरतो वैश्रमणश्च भरते कूटानां नामानि॥ १ ॥

जम्बूमन्दरदक्षिणे निषधे वर्षधरे पर्वते नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धो निषधो हरिवर्षो विदेहो ह्रीर्धृतिश्च शीतोदा।
अपरविदेहः रुचको निषधे कूटानां नामानि॥ २ ॥

जम्बूमन्दरपर्वते नन्दनवने नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

नन्दनो मन्दरश्चैव निषधो हिमवान् रजतः रुचकश्च।
सागरचित्रो वज्रो बलकूटश्चैव बोद्धव्यः॥ ३ ॥

जम्बूमाल्यवद्वक्षस्कारपर्वते नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धश्चमाल्यवान् उत्तरकुरुः कच्छः सागरो रजतः।
शीता तथा पूर्णनामो हरिस्सहः कूटश्च बोद्धव्यः॥ ४ ॥

जम्बूमन्दरे कच्छे दीर्घवैताढ्यपर्वते नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धः कच्छः खण्डको माणिः वैताढ्यः पूर्णस्तिमिस्त्रगुहा।
कच्छो वैश्रमणश्च कच्छे कूटानां नामानि॥ ५ ॥

जम्बूमन्दरे सुकच्छे दीर्घवैताढ्ये नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धः सुकच्छः खण्डको माणिर्वैताढ्यः पूर्णस्तिमिस्त्रगुहा।
सुकच्छो वैश्रमणश्च सुकच्छकूटानां नामानि॥ ६ ॥

एवं यावत् पुष्कलावत्यां दीर्घवैताढ्ये। एवं वत्से दीर्घवैताढ्ये। एवं यावन्मङ्गलावत्यां दीर्घवैताढ्ये।

जम्बूविद्युत्प्रभे वक्षस्कारपर्वते नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धश्च विद्युन्नामानः देवकुरवः पद्मः कनकः स्वस्तिकः।
शीतोदा च सजलः हरिकूटश्चैव बोद्धव्यः॥ ७॥

जम्बूमन्दरे पद्मे दीर्घवैताढ्ये नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धः पद्मः खण्डकोमाणिः वैताढ्यः। एवं चैव यावत्सलिलावत्यां दीर्घवैताढ्ये। एवं वप्रे दीर्घवैताढ्ये। एवं यावद् गन्धिलावत्यां दीर्घवैताढ्ये नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धो गन्धिलः खण्डको माणिः वैताढ्यः पूर्णस्तिमिस्रगुहा।
गन्धिलावती वैश्रमणः कूटानां भवन्ति नामानि॥८॥

एवं सर्वेषु दीर्घवैताढ्येषु द्वौ कूटौ सदृशनामकौ, शेषास्त एव।
जम्बूमन्दरे उत्तरे नीलवति वर्षधरपर्वते नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धो नीलवान् विदेहः शीता कीर्तिश्च नारिकान्ता च।
अपरविदेहः रम्यककूट उपदर्शनश्चैव॥९॥

जम्बूमन्दरोत्तरे ऐरवते दीर्घवैताढ्ये नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धो रत्नः खण्डको मानिः वैताढ्यः पूर्णस्तिमिस्रगुहा।
ऐरवतो वैश्रमण ऐरवते कूटनामानि॥१०॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूमन्दर की दक्षिण दिशा के भारत सम्बन्धी दीर्घ वैताढ्य पर्वत पर नौ कूट इस प्रकार वर्णन किए हैं, यथा—सिद्ध, भरत, खण्डक, मानि, वैताढ्य, पूर्ण, तिमिस्रगुहा, भरत और वैश्रमण।

जम्बूमन्दर की दक्षिण दिशा सम्बन्धी निषध वर्षधर पर्वत पर नौ कूट हैं, जैसे—सिद्ध, निषध, हरिवर्ष, विदेह, ह्री, धृति, शीतोदा, अपरविदेह और रुचक।

जम्बूमन्दर पर्वत सम्बन्धी नन्दन वन पर नौ कूट हैं, यथा—नन्दन, मन्दर, निषध, हिमवान्, रजत, रुचक, सागरचित्र, वज्र और बलकूट।

जम्बूमन्दर सम्बन्धी माल्यवान वक्षस्कार पर्वत पर नौ कूट है, जैसे—सिद्ध, माल्यवान्, उत्तरकुरु, कच्छ, सागर, रजत, शीता, पूर्ण, हरिस्सह।

जम्बूमन्दर सम्बन्धी कच्छनामक विजय सम्बन्धी दीर्घवैताढ्य पर नौ कूट हैं, जैसे—सिद्ध, कच्छ, खण्डक, मानि, वैताढ्य, पूर्ण, तिमिस्रगुहा, कच्छ, वैश्रमण।

जम्बूमन्दर सम्बन्धी सुकच्छ विजय के दीर्घ-वैताढ्य पर्वत पर नौ कूट हैं, यथा—सिद्ध, सुकच्छ, खण्डक, मानि, वैताढ्य, पूर्ण, तिमिस्रगुहा, सुकच्छ, वैश्रमण।

इसी प्रकार यावत् पुष्कलावती सम्बन्धी दीर्घ-वैताढ्य तथा वत्स सम्बन्धी दीर्घ-वैताढ्य एवं मगलावती विजय सम्बन्धी दीर्घ-वैताढ्य पर नौ-नौ कूटो के विषय मे भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

जम्बूमन्दर सम्बन्धी विद्युत्प्रभ वक्षस्कार पर्वत पर नौ कूट हैं, यथा—सिद्ध, विद्युत्, देवकुरु, पद्म, कनक, स्वस्तिक, शीतोदा, सजल, हरिकूट।

जम्बूमन्दर सम्बन्धित पद्म दीर्घवैताढ्य पर नौ कूट हैं, यथा—सिद्ध, पद्म, खण्डक, मानि, वैताढ्य। शेष नामों की पूर्ववत् कल्पना कर लेनी चाहिए। इसी प्रकार सलिलावती

तथा वप्र सम्बन्धी दीर्घ-वैताढ्य के नौ-नौ कूट हैं।

गन्धिलावती विजय सम्बन्धित दीर्घ-वैताढ्य पर नौ कूट है, यथा—सिद्ध, गन्धिल, खण्डक, मानि, वैताढ्य, पूर्ण, तिमिस्रगुहा, गन्धिलावती, वैश्रमण, इस प्रकार सर्व दीर्घ वैताढ्यों के दो-दो कूट सदृश नाम वाले हैं।

जम्बूमन्दर के उत्तर में नीलवान् वर्षधर पर्वत पर नौ कूट हैं, यथा—सिद्ध, नीलवान्, विदेह, शीता, कीर्ति, नारीकान्ता, अपरविदेह, रम्यककूट, उपदर्शन।

जम्बूमन्दर के उत्तर में ऐरावत दीर्घ-वैताढ्य पर नौ कूट है, जैसे—सिद्ध, रत्न, खण्डक, मानि, वैताढ्य, पूर्ण, तिमिस्रगुहा, ऐरावत, वैश्रमण।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रों में वर्णित साधना और प्रायश्चित्त आदि भरत आदि कर्म भूमियों में ही होते है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे कर्म-भूमि के सम्बन्ध मे ज्ञेय पदार्थों का वर्णन किया गया है। जबूद्वीप में ३४ दीर्घ वैताढ्य पर्वत है। एक भरत क्षेत्र मे और एक ऐरावत क्षेत्र मे तथा महाविदेह क्षेत्र में ३२ विजयों मे एक-एक दीर्घ वैताढ्य पर्वत है। प्रत्येक दीर्घ वैताढ्य पर्वत पर नौ-नौ कूट हैं। दीर्घ पद ग्रहण करने से वृत्तवैताढ्य पर्वतो की व्यावृत्ति हो जाती है। निषध और नीलवंत इन दो वर्षधर पर्वतो पर नौ-नौ कूट हैं। नन्दन वन में तथा माल्यवान वक्षस्कार पर्वत पर नौ-नौ कूट हैं। प्रत्येक कूट देवाधिष्ठित है। कूटो का विस्तृत वर्णन जंबूद्वीप-प्रज्ञप्ति मे वर्णित है। यहा नवम स्थान के अनुरोध से केवल नौ-नौ संख्या वाले कूटो का उल्लेख किया गया है। इन कूटो की लम्बाई-चौडाई एव ऊंचाई उनमें रहने वाले देव और देवियो के निवास-स्थान का वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति से जानना चाहिए। कूटों के नाम मूलार्थ मे दिए जा चुके है।

श्री पार्श्वनाथ जी का देहमान

मूल—पासे णं अरहा पुरिसादाणिए वज्जरिसहणारायसंघयणे समचउरंससंठाणसंठिए नव रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं हुत्था ॥ ३० ॥

छाया—पार्श्वोऽर्हन् पुरुषादानीयो वज्रऋषभनाराचसंहननः समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितो नव रत्नय ऊर्ध्वमुच्चत्वेनाऽभूत्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—भगवान् पार्श्वनाथ अर्हन् जो पुरुषों मे माननीय एवं आप्त पुरुष थे, उन का शरीर गठन रूप वज्र-ऋषभ-नाराचसंहनन और सुदृढ़ समचतुरस्र संस्थान था तथा ऊंचाई में उनका शरीर नौ हाथ प्रमाण था।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पर्वत-कूटों का वर्णन किया गया है, उन समस्त कूटो का प्रत्यक्षीकरण केवलज्ञानी अरिहन्त कर रहे है, अत: इस सूत्र में तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ

की अवगाहना का निर्देश किया गया है।

बाईसवे तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ जी का शरीर नौ हाथ ऊंचा था। उनकी हड्डिया वज्र से भी अधिक दृढ थीं, उनका शरीर सर्वांग सुन्दर एवं सभी अवयव मानोन्मान प्रमाण-युक्त होने से समचतुरस्र सस्थान वाला था। वे पुरुषो मे श्रेष्ठ एव आप्त होने से अरिहन्त हुए।

सूत्रकार ने उनके शरीर की नौ हाथ की अवगाहना का निर्देश किया है, वह अपने हाथ से नहीं, अपितु उत्सेध हाथ से ऊंचाई का वर्णन किया गया है।

तीर्थंकर-नामगोत्र का उपार्जन करने वाले जीव

मूल—समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि णवहिं जीवेहिं तित्थगरणामगोत्ते कम्मे णिव्वइए—सेणिएणं, सुपासेणं, उदाइणा, पोट्टिलेणं अणगारेणं, दढाउणा, संखेणं, सयएणं, सुलसाए सावियाए, रेवईए॥३१॥

छाया—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य तीर्थे नवभिर्जीवैस्तीर्थङ्करनामगोत्रं कर्म निर्वर्तितम्—श्रेणिकेन, सुपार्श्वेन, उदायिना, पोट्टिलेन अनगारेण, दृढ़ायुऽऽषा, शङ्खेन, शतकेन, सुलसया श्राविकया, रेवत्या।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—श्रमण भगवान् महावीर के तीर्थ में नौ जीवों ने तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन किया, यथा—राजा श्रेणिक ने, सुपार्श्व ने, उदायी ने, पोट्टिल अनगार ने, दृढ़ायु ने, शंख एवं शतक श्रावको ने, सुलसा और रेवती श्राविकाओं ने।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में तेईसवे तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार उसी परम्परा में चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर से सम्बद्ध विषय का वर्णन करते है।

भगवान महावीर स्वामी के शासनकाल मे जिन जीवो ने तीर्थंकर नाम-गोत्र-कर्म का उपार्जन किया था उन के पवित्र नाम है—महाराज श्रेणिक, सुपार्श्व, उदायी राजा, पोट्टिल अनगार, दृढायु, शंख श्रावक, शतक श्रावक, सुलसा श्राविका और रेवती श्राविका। संभव है किसी अन्य तीर्थंकर के युग मे इतने जीवों ने तीर्थकर नाम गोत्र का उपार्जन न किया हो, जितने कि महावीर के शासन काल मे तीर्थकर नाम-गोत्र का उपार्जन कर सके। इसी महत्ता को बताने के लिए इस सूत्र मे नौ भव्य व्यक्तियो के नामों का उल्लेख किया गया है।

सिद्धान्त की बात यह है—जिस जीव ने जिस भव में तीर्थकर नाम गोत्र का बध किया है, उससे तीसरे भव में वह निश्चित ही तीर्थंकर बनता है। बंध भी मनुष्य भव में होता है और उसका उदय भी मनुष्य भव में ही होता है, अन्य किसी भव मे नहीं।

तीर्थंकर की आगति अठतीस स्थानों से होती है, जैसे कि छब्बीस देवलोक, नौ लोकान्तिक तथा पहला, दूसरा, और तीसरा नरक इन ३८ स्थानों से आकर जीव तीर्थंकर बन सकता है, अन्य किसी स्थान से नहीं। तीसरे भव में तीर्थंकर नाम-गोत्र का उदय हो ही जाता है। विश्व में तीर्थंकर से बढ़ कर और कोई पद नही है। जिस जीव ने तीर्थंकर नाम-गोत्र-कर्म का बध कर लिया, वह वैमानिक देव के अतिरिक्त अन्य किसी गति में जन्म नहीं लेता। यदि कुसगति से, पापाचरण करते हुए पहली, दूसरी या तीसरी नरक की आयु बांधने के बाद समयान्तर में तीर्थंकर भगवान की सुसंगति होने से वह जीव सन्मार्ग में आ जाए, तो पीछे से तीर्थंकर नाम-गोत्र बांधा जा सकता है। तीर्थंकर नाम-गोत्र बांधने के ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के आठवे अध्ययन मे बीस कारण बताए गए है, किन्तु तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्ययन में उन्हीं को संक्षिप्त कर १६ कारणों का उल्लेख किया गया है, जैसे कि—

१. **दर्शन-विशुद्धि**—वीतराग के कहे हुए तत्त्वो पर निर्मल एवं दृढ श्रद्धा रखना।

२. **विनय-संपन्नता**—ज्ञान आदि मोक्षमार्ग और उसके साधनों के प्रति योग रीति एव नीति से सम्मान एव श्रद्धा मे तल्लीन रहना।

३. **शीलव्रतानतिचार**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इनको व्रत कहा जाता है तथा इनको मूलगुण भी कहते हैं। इनके पालन करने में उपयोगी जो अभिग्रह आदि अन्य नियम हैं, वे शील कहलाते हैं। उनका निरतिचार रूप मे पालन करना।

४. **अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग**—तत्त्वविषयक ज्ञान में सतत जागरूक रहना, पुनः-पुन. ज्ञान मे उपयोग लगाना।

५. **अभीक्ष्ण-संवेग**—वैषयिक भोग जो कि वस्तुतः सुख के बदले दुःख के ही साधन बनते हैं, उनके जाल में न फंसना।

६. **यथाशक्ति त्याग**—थोड़ी शक्ति को भी बिना छिपाए हुए अभयदान देना, आहारदान, ज्ञानदान आदि दानों को विवेकपूर्वक देना।

७. **यथाशक्ति तप**—शक्ति के अनुरूप तप करना, इच्छा का निरोध करना, विवेक-पूर्वक हर प्रकार की सहनशीलता का अभ्यास करना।

८. **संघ-साधु-समाधि**—सघ और साधुओ को विशेष रूप से समाधि पहुचाना।

९. **वैयावृत्यकरण**—नवदीक्षित, ग्लान, तपस्वी की सेवा करना।

१०. **अरिहन्त-भक्ति**—तीर्थकर भगवान के प्रति अनन्य निष्ठा रखना।

११. **आचार्य-भक्ति**—आचार्य का बहुमान करना।

१२. **बहुश्रुत-भक्ति**—आगमवेत्ता का बहुसम्मान करना।

१३. **प्रवचन-भक्ति**—जिन वाणी के प्रति हार्दिक श्रद्धा रखना।

१४. **आवश्यक-अपरिहानि**—छः आवश्यकों के अनुष्ठान को न छोड़ना।

१५. **मार्ग-प्रभावना**—जन-जन के मानस मे जिन-धर्म की प्रभावना करना।

१६. प्रवचन-वात्सल्य—वैसे ही निर्ग्रन्थ प्रवचन पर और समान धर्मियों पर वात्सल्य भाव रखना, जैसे गाय अपने बछड़े पर स्नेह रखती है।

इन साधनों की साधना से जब साधक को उत्कृष्ट रस या निःसीम रसानुभूति होती है, तब तीर्थंकर नाम-गोत्र का बंध होता है। उक्त नौ जीवों ने भी इन में से एक या दो की उत्कृष्ट साधना से तीर्थंकर नाम-गोत्र का उपार्जन किया था।

ऊपर जिन नौ महापुरुषों के नामोल्लेख किए गए हैं, उनमें से पोट्टिल अनगार का नाम भी है। अनुत्तरोववाई सूत्र मे जिस पोट्टिल अनगार का वृत्तान्त उपलब्ध है, उसका निर्वाण महाविदेह क्षेत्र से होगा, भरत क्षेत्र से नहीं। इससे मालूम होता है कि जिसने तीर्थंकर नाम-गोत्र बाधा है, वह पोट्टिल अनगार अन्य है। दृढ़ायु का वृत्तान्त भी अनुपलब्ध है। शङ्ख श्रावक का इतिहास यत्किंचित् भगवती सूत्र के बारहवें शतक के पहले उद्देशक में वर्णित है।

सुलसा श्राविका का जीवन-वृत्तान्त वृत्तिकार ने यथासंभव लिखा है।

रेवती सेठानी का उल्लेख भगवती सूत्र के १५ वे शतक में मिलता है। उदायी राजा कोणिक का पुत्र और श्रेणिक राजा का पौत्र, १६ राजाओ मे अग्रगण्य एव प्रमुख राजा था। यहा पर तो उनके नामों का निर्देश मात्र ही किया गया है।

चातुर्याम धर्म के प्रतिपादक

मूल—एस णं अज्जो! कण्हे वासुदेवे, रामे बलदेवे, उदय पेढालपुत्ते, पुट्टिले, सयएगाहावई, दारुएनियंठे, सच्चई नियंठीपुत्ते, सावियबुद्धे अंबडे परिव्वायए, अज्जावि णं सुपासा पासावच्चिज्जा आगमेस्साए उस्सप्पिणीए चाउज्जामं धम्मं पन्नवइत्ता सिज्झिहिन्ति जाव अंतं काहिंति॥३२॥

छाया—एते खलु आर्याः! कृष्णो-वासुदेवः, रामो-बलदेवः, उदकः पेढालपुत्रः, पोट्टिलः, शतको गाथापतिः, दारुको निर्ग्रन्थः, सत्यकी निर्ग्रन्थीपुत्रः, श्राविका-प्रतिबुद्धोऽम्बड़ः परिव्राजकः, आर्याऽपि सुपाश्र्वापत्यीया, आगमिष्यति उत्सर्पिण्यां चातुर्यामं धर्मं प्रज्ञाप्य सेत्स्यन्ति, यावदन्तं करिष्यन्ति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—हे आर्य! कृष्ण वासुदेव, राम बलदेव, उदक पेढालपुत्र, पोट्टिल, शतक नामक गाथापति, दारुक निर्ग्रन्थ, निर्ग्रन्थी-पुत्र सत्यकी, सुलसा श्राविका प्रतिबुद्ध अम्बड परिव्राजक और पार्श्वनाथ जी की प्रशिष्या सुपार्श्वा आर्यिका, ये नौ जीव आगामी उत्सर्पिणी में चार महाव्रत रूप धर्म का निरूपण कर सिद्धगति को प्राप्त होंगे यावत् जन्म-मृत्यु का अन्त करेंगे।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में तीर्थंकर नाम गोत्र बांधने वाले जीवो का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार जिन जीवों ने तीर्थंकर बनकर चातुर्याम धर्म का प्रतिपादन करके सिद्धत्व को प्राप्त करना है, उनका नामोल्लेख करते है। सूत्रकार ने जिन नामों का उल्लेख किया है, उनका परिचय इस प्रकार है—

१. कृष्ण वासुदेव—प्रत्येक अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणीकाल मे इस भरत क्षेत्र के अन्तर्गत नौ वासुदेव होते हैं, जिन के अधीन १६००० राजा हुआ करते हैं। 'वासुदेव' यह किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है, अपितु यह एक राजनैतिक पद है। वासुदेव के अधीन ८००० देवता भी होते हैं। प्रत्येक वासुदेव तीन खण्ड का अधिपति होता है। इस पद के अधिनायक नौ वासुदेव हुए है। उन में नौंवे वासुदेव कृष्ण जी हुए है। वे आने वाले उत्सर्पिणी-काल में तीर्थंकर पद को अलंकृत कर निर्वाण प्राप्त करेगे।

२. राम बलदेव—बलदेव भी राजनैतिक पद है। बलदेव की प्रकृति सात्विक होती है। रोहिणी के पुत्र एवं श्री कृष्ण जी के बडे भाई बलभद्र बलदेव हुए हैं। राम उनका अपर नाम था। श्री कृष्ण जी का शरीर का अन्त हो जाने के बाद राम बलदेव ने सयम और तप की आराधना करके ब्रह्मदेवलोक को प्राप्त किया। वे भी आने वाले उत्सर्पिणी काल में तीर्थंकर बनकर निर्वाण को प्राप्त करेगे।

३ उदक पेढालपुत्र—पेढाल के पुत्र उदक अनगार हुए हैं जो कि पार्श्वनाथ भगवान के प्रशिष्य थे। इन्होंने नालदा मे रहकर गौतमस्वामी के साथ संवाद किया, उनसे अपने सदेह को दूर किया और चातुर्याम धर्म से हटकर पंचयाम धर्म को धारण किया। इनका विस्तृत वर्णन सूत्र-कृताड्ग के २३ वें अध्ययन में वर्णित है।

४. पोट्टिल—इनका जीवन वृत्तान्त अनुपलब्ध है।

५. शतक गाथापति—इनका नाम तो प्रसिद्ध है, किन्तु जीवन-वृत्तान्त उपलब्ध नही है।

६. दारुक निर्ग्रन्थ—इनका जीवन वृत्तान्त भी अनुपलब्ध है। अन्तकृत् सूत्र के तीसरे वर्ग मे जिस दारुक का निर्देश किया गया है वे अन्तकृत केवली होकर निर्वाण पद को प्राप्त हो चुके है, अत: ये दारुक निर्ग्रन्थ अन्य ही होने चाहिए।

७. निर्ग्रन्थी-पुत्र सत्यकि—सत्यकि विद्याधरो का एक चक्रवर्ती भी हुआ है। यह वही है या अन्य इसका स्पष्टीकरण कही देखने में नही आया। वृत्तिकार ने जिस सत्यकि का उल्लेख वृत्ति मे किया, वह भी संदेहास्पद है। एक-एक नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं। संभव है जो माता प्रव्रज्या ग्रहण कर सर्व प्रकार के ग्रन्थों से मुक्त होकर निर्ग्रन्थी बनी, उसके पुत्र सत्यकि को लोग निर्ग्रन्थी-पुत्र विशेषण से पुकारने लगे हों, इसी कारण सत्यकि निर्ग्रन्थी पुत्र से प्रसिद्ध हुआ होगा।

८. श्राविका-बुद्ध अंबड परिव्राजक—औपपातिक सूत्र में जिस अंबड परिव्राजक

का विस्तृत वर्णन है, वह इससे भिन्न है, क्योंकि उसने महाविदेह क्षेत्र मे मनुष्य भव को पाकर निर्वाण पद को पाना है। इसी कारण यहां उस के लिए श्राविका प्रतिबुद्ध विशेषण जोड़ा है। वृत्तिकार इस विषय मे लिखते हैं, यथा—**श्राविका-श्रमणोपासिका सुलसाभिधाना बुद्धः सर्वज्ञः धर्मे भावितेयमित्यवगतवान्—श्राविका वा बुद्धा ज्ञाता येन, सः श्राविका-बुद्धः 'अंबडो', अम्बडाभिधानः परिव्राजकविद्याधरः श्रमणोपासकः''**। अंबडपरिव्राजक की कथा भी वृत्तिकार ने दी है।

९. **आर्या सुपार्श्वा**—भगवान पार्श्व जी की प्रशिष्या आर्या सुपार्श्वा नाम की हुई है।

ये नौ जीव आने वाले उत्सर्पिणीकाल मे इसी भरत क्षेत्र के अंदर चार महाव्रतों की प्ररूपणा करके सिद्धत्व को प्राप्त करेंगे। यहां 'जाव' पद से **'भोत्स्यन्ते मोक्ष्यन्ते परिनिर्वास्यन्ति सर्वदुःखानाम्।'** इन पदों का ग्रहण हुआ है। ये नौ जीव आगामी उत्सर्पिणी काल में तीर्थंकर पदवी पाकर सिद्ध होगे। चातुर्याम धर्म के प्रतिपादक तीर्थंकर ही हुआ करते है, सामान्य केवली नहीं।

आद्य-तीर्थंकर महापद्म चरित्त—१

मूल—एस णं अज्जो! सेणिए राया भिंभिसारे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए सीमंतेनरए चउरासीति वाससहस्स ट्ठिईयंसि निरयंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति। से तं तत्थ णेरइए भविस्सइ काले, कालोभासे जाव परमकिण्हे वन्नेणं। ये णं तत्थ वेयणं वेइहिती, उज्जलं जाव दुरहियासं। से णं तओ नरयाओ उव्वट्टेत्ता आगमेसाए उस्सप्पिणीए इहेव जंबुद्दीवे भारहे वासे वेयड्ढगिरिपायमूले पुंडेसु जणवएसु सयदुवारे णगरे संमुइस्स कुलगरस्स भद्दाए भारियाए कुच्छिंसि पुमत्ताए पच्चायाहिती। तए णं सा भद्दा भारिया नवण्हं मासाणं बहुपढिपुण्णाणं अद्धट्ठमाण य राइंदियाणं वीइक्कंताणं सुकुमालपाणिपायं अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरं लक्खण-वंजण जाव सुरूवं दारगं पयाहिती।

जं रयणिं च णं से दारए पयाहिती, तं रयणिं च णं सयदुवारे णगरे सब्भंतरबाहिरए भारग्गसो य कुंभग्गसो य पउमवासे य रयणवासे य वासे वासिहिति। तए णं तस्स दारयस्स अम्मापियरो एक्कारसमे दिवसे वइक्कंते जाव बारसाहे दिवसे अयमेयारूवं गोण्णं गुणनिप्फण्णं नामधिज्जं काहिंति—जम्हा णं अम्हमिमंसि दारगंसि जायंसि समाणंसि सयदुवारे नगरे सब्भिंतरवाहिरए भारग्गसो य कुंभग्गसो य पउमवासे य रयणवासे य

वासे वुट्ठे, तं होऊ णमम्हमिमस्स दारगस्स नामधिज्जं महापउमे। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधिज्जं काहिंति—'महापउमेत्ति'। तए णं महापउमं दारगं अम्मापियरो साइरेगं अट्ठवासजायगं जाणित्ता महया रायाभिसेएणं अभिसिंचिहिंति। से णं तत्थ राया भविस्सइ महया हिमवंतमहंतमलयमंदररायवन्नओ जाव रज्जं पसाहेमाणे विहरिस्सइ॥३३॥

छाया—एष खलु आर्याः! श्रेणिको राजा भिंभिसारः कालमासे कालं कृत्वा अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्याः सीमन्तके नरके चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकेषु नैरयिकेषु नैरयिकतयोत्पत्स्यते। स तत्र नैरयिको भविष्यति, कालः कालावभासो यावत्परमकृष्णो वर्णेन। स तत्र वेदनां वेदयिष्यति—उज्ज्वलां यावद् दुरधिसहाम्। स ततो नरकादुद्वृत्य आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यामिहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे वैताढ्यगिरिपादमूले पुण्ड्रेषु जनपदेषु शतद्वारे नगरे संमुचे कुलकरस्य भद्राया भार्यायाः कुक्षौ पुंस्तया प्रत्याजनिष्यते। ततः सा भद्रा भार्या नवसु मासेषु बहुप्रतिपूर्णेष्वर्द्धाष्टमेषु च रात्रिन्दिवेषु व्यतिक्रान्तेषु सुकुमारपाणिपादमहीनप्रतिपूर्णपञ्चेन्द्रियशरीरलक्षणव्यञ्जनयावत्सुरूपं दारकं प्रजनिष्यते।

यस्यां रजन्यां च स दारकः प्रजनिष्यते, तस्यां रजन्यां शतद्वारे नगरे साभ्यन्तरबाह्यके भाराग्रशश्च कुम्भाग्रशश्च पद्मवर्षश्च रत्नवर्षश्च वर्षो वर्षिष्यति। ततस्तस्य दारकस्य अम्बापितरौ एकादशे दिवसे व्यतिक्रान्ते यावद् द्वादशे दिवसे इदमेतद्रूपं गौणं गुणनिष्पन्नं नामधेयं करिष्यतः—यस्मादस्माकमस्मिन् दारके जाते सति, शतद्वारे नगरे साभ्यन्तरबाह्ये, भारग्रशश्च, कुम्भाग्रशश्च, पद्मवर्षश्च, रत्नवर्षश्च, वर्षो वृष्टः, तद् भवतु अस्माकमस्य दारकस्य नामधेयं महापद्मः। ततो महापद्मं दारकमम्बापितरौ सातिरेकाष्टवर्षं जातकं ज्ञात्वा महता राज्याभिषेकेण अभिषेक्ष्यतः। स तत्र राजा भविष्यति, महाहिम-वन्महन्मलयमन्दर राजवर्णको यावद्राज्यं प्रसाधयन् विहरिष्यति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—हे आर्यो। श्रेणिक राजा जिसका नाम बिम्बसार भी है यथासयम काल धर्म को प्राप्त होकर इस रत्नप्रभा नामक पृथ्वी के सीमन्त नरक में जोकि चौरासी हजार वर्ष स्थिति वाला है, नैरयिक रूप में उत्पन्न होगा। वह कृष्ण वर्ण, कृष्णप्रभा यावत् अत्यन्त कृष्ण वर्ण से युक्त नारक बनेगा। उस नरक में वह घोर एवं दुःस्सह वेदना अनुभव करेगा। तत्पश्चात् उस नरक से निकल कर आगामी उत्सर्पिणी काल में इस जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्र में वैताढ्यगिरि पर्वत के मूल में पुण्ड्रदेश के अन्तर्गत शतद्वार नगर में सम्मुचि कुलकर की भद्रा भार्या की कुक्षि से पुत्रत्वेन उत्पन्न होगा। तत्पश्चात् वह भद्रा भार्या नव मास, साढे सात दिन व्यतीत होने पर

सुकुमार हाथ-पांव वाले अहीन एवं परिपूर्ण-पञ्चेन्द्रिय शरीर तथा लक्षण और व्यञ्जनों से युक्त सुन्दर बालक को उत्पन्न करेगी। जिस रात वह सुन्दर बालक उत्पन्न होगा, उसी रात्रि को शतद्वार नगर के भीतर तथा बाहर भार-परिमाण और कुम्भ-परिमाण पुष्प-वृष्टि होगी। तदनन्तर बालक के माता-पिता एकादश दिन व्यतीत हो जाने पर जन्म से ठीक बारहवें दिन उस बालक का इस प्रकार का गौण अर्थात् गुण निष्पन्न नाम संस्कार करेंगे—

क्योंकि हमारे इस पुत्र के जन्म-ग्रहण करते ही शतद्वार नगर और बाहिर भार-प्रमाण तथा कुम्भ-प्रमाण पुष्प-वृष्टि और रत्न-वृष्टि हुई है, इस कारण इस बच्चे का नाम महापद्म रखा जाता है। पुनः माता-पिता यह जानकर कि हमारा यह पुत्र आठ वर्ष से कुछ अधिक आयु का हो चुका है, अतः महान उत्सवपूर्वक उस का राज्याभिषेक करेंगे। वह राजा हिमालय, मलय एवं मेरुसदृश महान् होगा तथा राज्य का शासन करेगा।

विवेचनिका—महावीर के तीर्थ मे जिन जीवो ने तीर्थकर नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन किया है उनके नामो का उल्लेख सूत्र ३१ मे कर आए है। अब सूत्रकार उनमे से महाराजा श्रेणिक के जीव ने आने वाले उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरे मे तीर्थकर के रूप मे जन्म लेना है। उसका पहले कल्याणक से लेकर निर्वाण कल्याणक पर्यन्त सारा वर्णन आगामी सूत्रों मे करते है।

गौतम आदि साधु-जनो को संबोधित करते हुए भगवान महावीर कह रहे है कि—हे आर्यो! यह राजा श्रेणिक जिसका दूसरा नाम भिंभसार या बिम्बसार है। काल के अवसर पर काल करके इसी रत्नप्रभा पृथ्वी के सीमंतक नरकावास मे ८४००० वर्ष की स्थिति वाले नैरयिको मे नारकीय के रूप मे उत्पन्न होगा। वहां अन्य नारकियो की तरह उसका भी जीवन-काल दुखान्त एव विषादान्त होगा।

इस भरत क्षेत्र मे २१०००-२१००० वर्ष के पांचवे और छट्ठे आरे के बीतने पर उत्सर्पिणी काल का पहला आरा प्रारम्भ होगा। उस काल का स्वभाव भी छट्ठे आरे के समान होगा। वह काल भी २१००० वर्ष का होगा। उसके पूर्णतया बीत जाने पर दूसरा आरा प्रारम्भ होगा वह भी २१००० वर्ष का होगा। उसका स्वभाव पाचवे आरे के समान होगा और साथ ही वह काल प्रत्येक दृष्टि से विकासोन्मुख होगा। धर्म-नीति के अतिरिक्त शेष सभी व्यावहारिक नीतिया उपयुक्त होंगी। दूसरे आरे के समाप्त होने पर और तीसरे आरे के तीन वर्ष और साढ़े आठ महीने बीतने पर इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में भरत क्षेत्र के अन्तर्गत वैताढ्य गिरि की तलहटी मे पुण्ड्रदेश के अंदर शतद्वार नामक नगर में शासन करने वाला तथा कुल की मर्यादा बांधने वाला समुचि नामक कुलकर होगा। उसकी भार्या भद्रा होगी। वे कुलकर संतान की तरह अपनी प्रजा की हित भावना से रक्षा करते हुए जीवन यापन करेगे।

समयान्तर में श्रेणिक का जीव नरकायु पूर्णकर भद्रा की कुक्षि मे आते ही १४ महा-स्वप्नों के द्वारा अपने आने की सूचना माता को देगा और पिता् संमुचि को भी मालूम हो जाएगा तथा अन्य लोगों को भी। नौ महीने $८^1/_2$ दिन व्यतीत होने पर भद्रा भार्या सब प्रकार के शुभ लक्षणो एव व्यंजनो से परिपूर्ण, प्रतिपूर्ण इन्द्रियों से युक्त, अनन्य सुन्दर बालक को जन्म देगी। जन्म-कल्याणक का सारा वर्णन यहां समझ लेना चाहिए।

जिस रात उस बालक का जन्म होगा उसी रात उस शतद्वार नगर के भीतर और बाहर पुञ्जरूप से फूलों की, पद्मों की तथा रत्नों की वर्षा होगी। माता-पिता यह निश्चय करेगे कि इस बालक के जन्म होते ही पद्म-पुञ्ज की वृष्टि हुई, अत: इसका नाम महापद्म रखेगे। जब वह महापद्म कुछ अधिक आठ वर्ष का हो जाएगा, तब उस के माता-पिता बड़े समारोह से उसका राज्याभिषेक करेंगे। वह उस जन-पद का राजा होगा। जैसे महाहिमवान, मलय, मन्दर, एव महेन्द्र, ये पर्वत व्यवहार पक्ष मे महान् कहे जाते हैं वैसे ही वह महापद्म भी राज-लक्षणो से संपन्न होने से अन्य पदाधिकारियो की अपेक्षा महान माना जाएगा और न्याय नीति से राज्य का प्रशासन करेगा।

सूत्र में आए हुए आर्य शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ कुलोत्पन्न। जब भगवान महावीर जनता को सबोधित करते थे तो कहा करते थे कि 'हे आर्यो।' यह सम्बोधन उनके भावो की महत्ता का बोधक है।

सूत्रकार ने राजा श्रेणिक के साथ जो भिंभसार विशेषण जोड़ा है, इसका कारण यह है कि एक बार राजा प्रसेनजित ने अपने १०० पुत्रो की परीक्षा लेने के लिए जलते हुए महल से प्रिय वस्तु निकालने के लिए उन्हे भेजा। श्रेणिक ने जयढक्का—(बड़ा नगारा) बाहर निकाली थी, तब प्रसेनजित ने श्रेणिक का दूसरा नाम भिंभसार रखा अर्थात् उसे भिंभसार शब्द से सबोधित किया था। वृत्तिकार भी लिखते है—**भिंभीत्ति ढक्का, सा सारो यस्य स तथा, किल तेन कुमारत्वे प्रदीपनके, जयढक्का गेहान्निष्कासिता, ततः पित्रा भिंभसार उक्त इति।**

इस सूत्र पाठ से यह भी सिद्ध होता है कि जो वर्तमान मे $२५^१/_२$ देश आर्य माने जाते हैं। उनमे पुण्ड्रदेश की गणना नहीं की गई, अत: यह जनपद वैताढ्य गिरि के समीप कथन किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि आर्य देश की मर्यादा वैताढ्य गिरि पर्यन्त सिद्ध होती है। सभव है $२५^१/_२$ देश की मर्यादा भगवान महावीर के समय मे नियत की गई हो, क्योंकि प्रज्ञापना सूत्र के पहले पद में लिखा है—जहां तीर्थकर, चक्रवर्ती, वासुदेव की उत्पत्ति हो, उस क्षेत्र को आर्य क्षेत्र कहा जाता है।

सूत्रकार ने भाराग्र और 'कुम्भाग्र' का उल्लेख किया है। यहा यह ज्ञातव्य है कि १२० पल का एक भार होता है अथवा पुरुष के उठाने योग्य भार को भी भार कहते हैं। ६० आढकों का एक कुम्भ होता है। देवो द्वारा कुम्भ-परिमाण कमलों की वर्षा होने का संकेत

किया गया है। ११ दिन बीतने के बाद १२ वे दिन माता-पिता उसका गुण-निष्पन्न नाम महापद्म रखेंगे। इससे सिद्ध होता है कि नाम-संस्कार १२ वें दिन होने की रीति है।

आद्य तीर्थंकर महापद्म-चरित्त-२

मूल—तए णं तस्स महापउमस्स रन्नो अन्नया कयाइ दो देवा महिड्ढिया जाव महेसक्खा सेणाकम्मं काहिंति, तं जहा—पुन्नभद्दे य माणिभद्दे य। तए णं सयदुवारे नगरे बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहप्पभिययो अन्नमन्नं सद्दावेहिंति, एवं वइस्संति-जम्हा णं देवाणुप्पिया! अम्हं महापउमस्स रन्नो दो देवा महिड्ढिया जाव महेसक्खा सेणाकम्मं करेंति, तं जहा—पुन्नभद्दे य, माणिभद्दे य तं होऊ णमम्हं देवाणुप्पिया! महापउमस्स रन्नो दोच्चेपि नामधेज्जे देवसेणे। तए णं तस्स महापउमस्स दोच्चेवि नामधेज्जे भविस्सइ—देवसेणेति।

तए णं तस्स देवसेणस्स रन्नो अन्नया कयाई सेयसंखतलविमल-सन्निकासे चउद्दंते हत्थिरयणे समुप्पज्जिहिति। तए णं से देवसेणे राया तं सेयं संखतउलविमलसन्निकासं चउद्दंतं हत्थिरयणं, दुरूढे समाणे सयदुवारं नयरं मज्झं मज्झेणं अभिक्खणं-अभिक्खणं अइज्जाहि य णिज्जाहि य। तए णं सयदुवारे णयरे बहवे राईसर-तलवर जाव अन्नमन्नं सद्दावेहिंति एवं वइस्संति-जम्हा णं देवाणुप्पिया! अम्हं देवसेणस्स रन्नो सेय संखतल-विमलसन्निकासे चउद्दंते हत्थिरयणे समुप्पन्ने, तं होऊ णमम्हं देवाणुप्पिया! देवसेणस्स रन्नो तच्चेवि नामधेज्जे विमलवाहणे। तए णं तस्स देवसेणस्स रन्नो तच्चेवि णामधेज्जे भविस्सइ—विमलवाहणे॥३४॥

छाया—ततस्तस्य महापद्मस्य राज्ञोऽन्यदा कदाचिद् द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावन्म-हेशाख्यौ सेनाकर्म करिष्यतः, तद्यथा—पूर्णभद्रो मणिभद्रश्च। ततः शतद्वारे नगरे बहवो राजेश्वर-तलवर-माडम्बिक-कौटुम्बिकेभ्य-श्रेष्ठि-सेनापति- सार्थवाहप्रभृतयोऽन्योऽन्यं शब्दापयिष्यन्ति, एवं वदिष्यन्ति-यस्माद् देवानुप्रियाः। अस्माकं महापद्मस्य राज्ञो द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावद् महासौख्यौ सेनाकर्म कुर्वतस्तद्यथा—पूर्णभद्रश्च मणिभद्रश्च, तस्माद् भवतु अस्माकं देवानुप्रियाः! महापद्मस्य राज्ञो द्वितीयमपि नामधेयं देवसेनः इति। ततस्तस्य महापद्मस्य द्वितीयमपि नामधेयं भविष्यति—देवसेन इति।

ततस्तस्य देवसेनस्य राज्ञोऽन्यदा कदाचिच्छ् वेतशङ्खतलविमलसन्निकाशं चतुर्दन्तं हस्तिरत्नं दुरूढः सन् शतद्वारं नगरं मध्यमध्येन अभीक्ष्णमभीक्ष्णमतियास्यति च

निर्यास्यति च। ततः शतद्वारे नगरे बहवो राजेश्वरतलवरा यावदन्योऽन्यं शब्दापयिष्यन्ति, एवं वदिष्यन्ति च—यस्माद् देवानुप्रियाः! अस्माकं देवसेनस्य राज्ञः श्वेतशङ्खतल-विमलसन्निकाशं चतुर्दन्तं हस्तिरत्नं समुत्पन्नं, तद् भवतु अस्माकं देवानुप्रियाः! देवसेनस्य राज्ञस्तृतीयमपि नामधेयं विमलवाहनः। ततस्तस्य देवसेनस्य राज्ञस्तृतीयमपि नामधेयं भविष्यति—विमलवाहनः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तब उस महापद्म राजा का सेनाकर्म किसी समय महान् ऋद्धि तथा महान् ऐश्वर्यशाली दो देव करेंगे। उनके नाम पूर्णभद्र और मणिभद्र होंगे। तत्पश्चात् शतद्वार नगर मे राजा, युवराज, कोतवाल, मांडबिक, कौटुम्बिक, धनाढ्य, नगरसेठ, सेनापति, सार्थवाह आदि बहुत से लोग परस्पर एक दूसरे को बुलायेंगे और इस प्रकार कहेंगे—हे देवानुप्रिय। क्योंकि हमारे राजा का सैन्य-कार्य महर्द्धिक यावत् महान् ऐश्वर्यशाली दो देव करते हैं, इसलिए हमारे महापद्म नामक राजा का दूसरा नाम 'देवसेन' होना चाहिए। तब उस महापद्म राजा का दूसरा नाम देवसेन रखा जाएगा।

तत्पश्चात् देवसेन राजा को किसी समय श्वेत शंख-तल के समान निर्मल चार दान्तो वाला हस्ति-रत्न उत्पन्न होगा तथा देवसेन राजा उस चतुर्दन्त हस्तिरत्न पर चढकर शतद्वार नगर के मध्य मे से बारम्बार गमनागमन करेगा। तत्पश्चात् शतद्वार नगर में राजा, युवराज कोतवाल आदि बहुत से लोग परस्पर एक दूसरे को बुलायेगे और इस प्रकार कहेगे कि हे देवानुप्रिय! हमारे देवसेन राजा को शंखतल के समान अतिनिर्मल चतुर्दन्त हस्तिरत्न उत्पन्न हुआ है। इसलिए हमारे देवसेन राजा का तृतीय नाम विमलवाहन होना चाहिए। तत्पश्चात् उस देवसेन राजा का तीसरा नाम विमलवाहन रखा जाएगा।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र मे महापद्म के देवसेन और विमलवाहन इन दो नामों की सार्थकता बताई गई है। अन्य किसी समय दो महर्द्धिक, महाद्युतिक, महाबली, महायशस्वी, महासुखी देव उस महापद्म राजा के सेना-कार्य के वाहक होगे। उनके नाम हैं—पूर्णभद्र और मणिभद्र। दक्षिण दिशा की ओर यक्ष-निकाय देवों का इद्र पूर्णभद्र और उत्तर की ओर यक्ष-निकाय देवो का इन्द्र माणिभद्र है। दोनों इन्द्रों ने सेनाविभाग का कार्य सभालना है, इस कारण महापद्म का दूसरा नाम देवसेन रखा जाएगा। इससे सिद्ध होता है—सेनापति विद्वान् और युद्ध-विद्या मे कुशल होना चाहिए।

कुछ समय के बाद देवसेन राजा को एक हस्तीरत्न प्राप्त होगा जो कि सफेद रंग वाला तथा चार दांतो वाला होगा। उस पर सवार होकर वह देवसेन राजा शतद्वार नगर के बीचों-बीच

अनेक बार गमनागमन करेगा, अत: जनता उस देवसेन का नाम विमलवाहन रखेगी। देवसेन और विमलवाहन ये दो नाम राज्याधिकारी तथा प्रजाधिकारियो के द्वारा रखे जाएंगे।

'तए णं सतदुवारे नगरे बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिया-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाह-प्पभितयो'—इन पदो का अर्थ है—जिसका अभिषेक किया गया हो, उसे राजा कहते हैं। मंडलाधीश को भी राजा कहा जाता है। युवराज को ईश्वर अथवा अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्य-सपन्न व्यक्ति को भी ईश्वर कहते हैं। जिस पर प्रसन्न होकर नरपति उसे पट्टबध से विभूषित करे, वह तलवर कहलाता है। सीमा-प्रान्त का अध्यक्ष या चित्र-मडप के अध्यक्ष को माडम्बिक कहा जाता है। बहुत बड़े परिवार के प्रमुख को कौटुम्बिक कहते है। जिसके पास इतनी धनराशि हो कि जिसके पीछे हाथी भी छिप जाए उसे इभ्य कहते हैं, अथवा जिनके पास सवारी आदि के लिए हाथी हो उन्हें भी इभ्य कहा जाता है। जो नगर में सबसे बढकर धनाढ्य हो, वह श्रेष्ठी कहलाता है। जो चतुरंगिणी सेना का नायक हो, उसे सेनापति कहते है। जो सार्थ का नायक हो, उसे सार्थवाह कहते हैं। इनके होने पर ही राजा की शोभा एव सौदर्य की वृद्धि होती है।

तीर्थंकर महापद्म-चरित्त-३

मूल—तए णं से विमलवाहणे राया तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता अम्मापिहिं देवत्तगएहिं गुरुमहत्तरएहिं अब्भणुन्नाए समाणे, उउमि सरए संबुद्धे, अणुत्तरे मोक्खमग्गे, पुणरवि लोगंतिएहिं जीयकप्पिएहिं देवेहिं, ताहिं, इट्ठाहिं, कंताहिं, पियाहिं, मणुन्नाहिं, मणामाहिं, उरालाहिं, कल्लाणाहिं, धन्नाहिं, सिवाहिं मंगलाहिं, सस्सिरीआहिं वग्गूहिं, अभिणंदिज्जमाणे अभिथुवमाणे य बहिया सुभूमिभागे उज्जाणे एगं देवदूसमादाय मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयाहिति।

तस्स णं भगवंतस्स साइरेगाइं दुवालस वासाइं निच्चं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केई उवसग्गा उप्पज्जंति, तं जहा—दिव्वा वा, मणुसा वा, तिरिक्खजोणिया वा ते उप्पन्ने सम्मं सहिस्सइ, खमिस्सइ, तितिक्खिस्सइ, अहियासिस्सइ। तए णं से भगवं इरियासमिए जाव गुत्तबंभयारि अममे, अकिंचणे, छिन्नगंथे, निरुवलेवे कंसपाईव मुक्कतोए, जहा भावणाए जाव सुहुयहुयासणेइव तेयसा जलंते—

कंसे संखे जीवे गगणे, वाये य सारए सलिले।
पुक्खरपत्ते कुम्मे, विहगे खग्गे य भारंडे॥१॥

कुंजर वसहे सीहे, नागराया चेव सागरमखोभे।
चंदे सूरे कणगे, वसुंधरा चेव सुहुयहुए॥२॥

नत्थि णं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधे भवइ। से य पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अंडए वा, पोयए वा, उग्गहेइ वा, पग्गहिएइ वा। जं णं जं णं दिसं इच्छइ, तं णं तं णं दिसं अपडिबद्धे, सुइभूए, लहुभूए, अणप्पगंथे संजमेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरिस्सइ॥३५॥

छाया—ततः स विमलवाहनो राजा त्रिंशतं वर्षाणि अगारवासमध्ये उषित्वाऽम्बा-पित्रोर्देवत्वगतयोर्गुरुमहत्तरैरभ्यनुज्ञातः सन् ऋतौ शरदि सम्बुद्धोऽनुत्तरे मोक्षमार्गे पुनरपि लोकान्तिकैर्जीतकल्पकैर्देवैस्ताभिरिष्टाभिः, कान्ताभिः, प्रियाभिर्मनोज्ञाभिर्मनोऽमा-भिरुदाराभिः, कल्याणाभिर्धन्याभिः, शिवाभिर्मङ्गलाभिः, सश्रीकाभिर्वाग्भिरभिन-न्द्यमानोऽभिस्तूयमानश्च बहिः सुभूमिभागे उद्याने, एकं देवदूष्यमादाय मुण्डो भूत्वा अगाराद् अनगारितां प्रव्रजिष्यति।

तस्य भगवतः सातिरेकाणि द्वादशवर्षाणि नित्यं व्युत्सृष्टकायस्य त्यक्तदेहस्य ये केऽपि उपसर्गा उत्पत्स्यन्ते, तद्यथा—दिव्या वा, मानुषा वा, तिर्यग्योनिका वा तानुत्पन्नान् सम्यक् सहिष्यते, क्षमिष्यते, अध्यासिष्यते। ततः स भगवान् ईर्यासमितो भाषासमितो यावद् गुप्तब्रह्मचारी, अममः, अकिञ्चनः, छिन्नग्रन्थः निरुपलेपः कांस्यपात्र-मिवमुक्ततोयो यथा भावनायां यावत् सुहुतहुताशन इव तेजसा ज्वलन्—

कांस्यं शङ्खो जीवो गगनं, वातश्च शारदं सलिलम्।
पुष्करपत्रं कूर्मः, विहगः खड्गी च भारण्डः॥
कुञ्जरो वृषभः सिंहः, नागराजश्चैव सागरोऽक्षोभ्यः।
चन्द्रः सूरः कनकं, वसुन्धरा चैव सुहुतहुतः॥

नास्ति तस्य भगवतः कुत्रापि प्रतिबन्धो भवति। स च प्रतिबन्धश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अण्डजो वा, पोतजो वा, अवग्रहिको वा, प्रग्रहिको वा। यां यां दिशमिच्छति, तां तां दिशमप्रतिबद्ध. शुचिभूतः, लघुभूतः, अनल्पग्रन्थः संयमेन आत्मानं भावयन् विहरिष्यति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तत्पश्चात् वह विमलवाहन राजा तीस वर्ष पर्यत गृहस्थवास में रहकर माता-पिता के स्वर्गस्थ हो जाने पर अपने बडों की आज्ञा प्राप्त कर शरद् ऋतु में सम्यक् बोध प्राप्त कर और प्रधान मोक्षमार्ग में परम्परा का अनुसरण करने वाले लोकान्तिक देवो द्वारा तत् तत्, इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और मन अर्थात् आम-मन से चाहे जाने योग्य, उदार, कल्याणरूप, धन्य रूप, शिव रूप, मंगलरूप, श्रीयुक्त

वचनों द्वारा जिनकी स्तुति एवं प्रशसा और अभिनन्दन किया जाएगा, वह विमलवाहन राजा नगर से बाहर सुभूमिभाग उद्यान में एक देवदूष्य वस्त्र को धारण कर मुण्डित हो घर-बार को छोड़कर अनगारवृत्ति को धारण करेगा। उस भगवान् को जिसने अपने शरीर से ममत्व छोड़ दिया है, बारह वर्ष से कुछ अधिक समय तक जो भी कोई उपसर्ग जैसे—देवकृत, मनुष्यकृत तथा तिर्यग्योनिकृत उत्पन्न होगा, उसे वह सम्यक्तया क्षमा, तितिक्षा और दृढ़तापूर्वक सहन करेगा। तदनन्तर वह भगवान् ईर्यासमिति, भाषा-समिति से समित यावत् मन, वचन और काया की गुप्ति धारण करने वाले, ब्रह्मचारी, ममत्व-रहित, सब प्रकार के द्रव्यों से रहित एव धन-धान्य-रहित, द्रव्य-भाव एव मल-रहित, कांस्य के उस पात्र समान जिसमे जलस्नेह नहीं रहता, उसी प्रकार जीव की अन्तरात्मा मे किसी प्रकार सांसारिक स्नेह नही है, यावत् भावना नामक आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १५ वे अध्ययन में जिस प्रकार वर्णन है, उसी तरह यहां भी जानना चाहिए। तपस्तेज से हुताग्नि के समान देदीप्यमान, कास्यपात्र समान निःस्नेह, शंख समान राग-द्वेष रहित होने से विशुद्धतम, गगन समान आलम्बन न चाहने वाले, वायु समान अप्रतिबद्ध-विहारी, शारदीय जल समान निर्मल मन वाले, कमल समान अलिप्त, कच्छप सदृश मन एवं गुप्तेन्द्रिय, पक्षी समान स्वतन्त्र, खड्गी-गेंडे के सींग की तरह रागादि से मुक्त होने से एकाकी, भारण्ड समान अप्रमत्त, कषाय आदि शत्रुओं को जीतने से हाथी के समान, कृत प्रतिज्ञा को पालन करने में वृषभ तुल्य, परीषहो को जीतने से सिंह के समान, मेरु-समान अविचलित, समुद्र की भांति अक्षोभ्य, चन्द्र-तुल्य सौम्य-लेश्या सम्पन्न, सूर्य समान तेजस्वी, शुद्धसुवर्ण की भांति देदीप्यमान काति वाले, पृथिवी समान सभी प्रकार के शीतोष्ण स्पर्शो को सहन करने वाले, हवन की अग्नि समान तेज वाले। उस भगवान् को किसी प्रकार प्रतिबन्ध नहीं होगा। वह प्रतिबन्ध चार प्रकार का है, जैसे—अण्डज, पोतज, वसति आदि का तथा समुदाय रूप से वस्त्र पात्रादि का।

उनकी जिस-जिस दिशा मे विहार करने की इच्छा होगी, उसी दिशा मे प्रतिबन्ध रहित शुचिभूत-पवित्र, लघुभूत-द्रव्य-भाव से हल्के, माया कपट आदि की ग्रन्थियों से रहित, सयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करेगे।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र के इस अनुच्छेद सूत्र में महापद्म के जीवन-काल मे त्याग की प्रारम्भिक-दशा से लेकर चारित्र की उत्कृष्टता तक का दिग्दर्शन कराया गया है। प्रव्रज्या ग्रहण करने से पूर्व सभी तीर्थकर एक वर्ष पर्यन्त प्रतिदिन एक करोड, आठ लाख स्वर्ण-

मुद्राएं दान करते हुए जनपद को समृद्ध बनाकर फिर दीक्षित होते हैं। इस अनादि नियम के अनुसार महापद्म भी एक वर्ष पर्यन्त उपर्युक्त संख्या के अनुरूप अतुल धन-राशि दान में देकर सर्व प्रथम दान-धर्म की प्रणाली जनता को सिखलाएंगे।

माता-पिता का देवलोक-वास होने के अनन्तर लोकान्तिक देवों के द्वारा प्रार्थना करने पर महापद्म आदरणीय ज्येष्ठ-जनो से आज्ञा प्राप्त कर तीस वर्ष का गृहवास पूर्ण होते ही शत-द्वार नगर के बाहर सुभूमिभाग नामक उद्यान में समस्त वस्त्र-आभूषणो को उतार कर, इन्द्र के द्वारा दिए हुए देवदूष्य वस्त्र से ग्रहण करेंगे और सामायिक चारित्र ग्रहण कर स्वयं प्रव्रजित होंगे। उन्हे उसी समय मनपर्यवज्ञान उत्पन्न होगा। सभी तीर्थंकरो को मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान तो जन्म-सिद्ध ही होते है और चौथा ज्ञान चारित्र ग्रहण करते समय हुआ करता है।

महापद्म जब अनगार अवस्था में प्रव्रजित होगे तथा वे कुछ अधिक १२ वर्ष पर्यन्त बाह्य और आभ्यन्तर तप मे संलग्न रहेगे, तब अपनी देह से ममत्व भाव का त्याग करके केवल चारित्र मे प्रवृत्ति करेगे। लक्ष्य से विचलित करने के लिए यदि कोई देवता-सबधी, मनुष्य- संबधी और तिर्यञ्च-सबधी उपसर्ग आएगे, तो उन्हे कर्मक्षय के हेतु समता से सहन करेगे। वे कभी भी उपसर्गों के सामने झुकेंगे नही, अपने लक्ष्यबिंदु से कभी विचलित नही होगे।

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-निक्षेपसमिति और उच्चारादि परिष्ठापनीय समिति, मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, इन में से चारित्र के सभी अंगो में प्रवृत्ति करना समिति है और पतन के सभी प्रकारो से निवृत्ति पाना गुप्ति है। भगवान महापद्म समिति-गुप्ति की आराधना में नित्य दत्तचित्त रहेंगे। वे गुप्त ब्रह्मचारी, ममत्वरहित, अनासक्त-कर्मग्रंथिरहित विषयों से निर्लिप्त होकर विचरेगे।

आगे चलकर सूत्रकार ने उनके उच्चतम जीवन को २१ उपमाओ से उपमित करते हुए लिखा है—

१. **कंस पाईव मुक्कतोए**—जैसे कासे के पात्र मे जल का लेप नहीं लगता, पानी के उडेलते ही वह जल के लेप से सर्वथा निर्लिप्त हो जाता है, वैसे ही भगवान महापद्म भी कर्म रूपी जल के लेप से सर्वथा मुक्त रहेगे।

२. **संखे इव निरंजणे**—जैसे शख कालिमा से रहित होता है, वैसे ही भगवान महापद्म भी राग आदि दोषों की कालिमा से रहित होकर विचरेंगे।

३. **जीवे इव अप्पडिहयगई**—जैसे जीव की गति कहीं पर भी नहीं रुकती, वैसे ही उनकी गति भी किसी स्थान पर नही रुकेगी। कोई भी बाह्य कारण उन की प्रगति में बाधक नही होगा।

४. **गगणमिव निरालंबणे**—जैसे आकाश सभी प्रकार के आश्रयों के बिना ही रहता

है, वैसे ही वे अन्य किसी व्यापार-धधे तथा किसी व्यक्ति का आलबन लिए बिना ही जीवन-यापन करेंगे।

५. **वाउरिव अपडिबद्धे**—जैसे वायु का ऐसा कोई घर नही जहा वह बंधी रहे, वैसे ही वे भी घर आदि के बधन से रहित होकर विचरेगे।

६. **सारयसलिल व सुद्धहियए**—शरद्ऋतु के निर्मल जल की तरह वे निर्मल हृदय वाले होगे।

७. **पुक्खरपत्तं व निरुवलेवे**—जैसे कमल की पांखुडी जल के लेप से रहित होती है, वैसे ही वे भी मोह-लेप से रहित होकर विचरेंगे।

८. **कुम्मोइव गुत्तिंदिए**—वे कछुए की तरह अपनी इन्द्रियो को गुप्त रखेगे।

९. **विहगे इव सव्वओ विप्पमुक्के**—वे पक्षी की तरह परिवार एवं नियत-वास से सर्वथा रहित होकर विचरण करेंगे।

१०. **खग्गिविसाणं व एगजाए**—जैसे गैडे का एक सींग होता है, वैसे ही वे भी मोह के सभी परिवारों से रहित हो एकाकी विचरेगे।

११ **भारण्डपक्खीव अप्पमत्ते**—वे भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त रहेंगे। भारण्ड पक्षी के शरीर पर दो ग्रीवाएं और तीन पैर होते है।[१] ऐसी शारीरिक अवस्था मे वह सर्वदा सावधान रहकर जीवन निर्वाह करता है, उसकी सामान्य असावधानी उसके जीवन के लिए विनाशकारी बन सकती है। उसी पक्षी के समान महापद्म भी सतत सावधान रहेगे।

१२. **कुञ्जरो इव सोंडीरे**—जैसे हाथी वृक्षो को उन्मूल करने मे दक्ष होता है, वैसे ही वे भी कषाय आदि के उन्मूलन करने मे दक्ष होगे।

१३. **वसभे इव जायथामे**—वृषभ की तरह संयमभार को वहन करने मे समर्थ होगे।

१४. **सीहे इव दुद्धरिसे**—जैसे सिंह को कोई भी पराजित नही कर सकता, वैसे ही उन्हे भी कोई परीषह एव उपसर्ग पराजित नहीं कर सकेगा। वे उदित हुए परीषहो को समता से निरतर जीतते ही रहेंगे।

१५. **मंदरे इव अप्पकंपे**—जैसे प्रलयकाल का पवन भी मेरु को कंपा नहीं सकता, वैसे ही मोह के तूफान उन्हे लक्ष्यबिन्दु से विचलित नही कर सकेगे।

१६. **सागरो इव अक्खोभे**—सागर के समान गंभीर एव हर्ष-शोक आदि-जन्य विक्षोभों से रहित होंगे।

१७ **चदो इव सोमलेसे**—चन्द्रमा के समान शान्त प्रकृति के स्वामी होगे।

१८. **सूरे इव दित्ततेए**—शरीर और ज्ञान से वे सूर्य के समान देदीप्यमान होंगे।

---

१ भारण्डपक्षिण किलेक शरीर पृथग्ग्रीव, त्रिपादञ्च भवति। तैश्चात्यन्तमप्रमत्ततयैव निर्वाह लभेते, इतितेनोपमेति।
—इति वृत्तिकार

१९. जच्चकंचणगं व जायरूवे—विशुद्ध सुवर्ण के समान कर्म-मल से वे सर्वथा रहित होगे।

२०. वसुंधरा इव सव्वफाससहे—पृथ्वी के समान वे अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गो को सहन करने वाले होंगे।

२१. सुहुयहुयासणे इव तेयसा जलंते—वे अच्छी तरह होम की हुई अग्नि के समान तप-तेज से जाज्वल्यमान होगे।

भगवान महापद्म के साधनामय जीवन मे किसी भी प्रकार की सयम और तप सम्बन्धी बाधा नही होगी, क्योंकि प्रगति मे बाधक चार प्रकार के कारण होते हैं—अंडज, पोतज, अवगृहीत और प्रगृहीत। **अडज**—हस-मयूर आदि पक्षियों पर ममत्व का होना, अथवा **अंडज**—पट्टसूत्र से बना हुआ वस्त्र तथा **अंडक**—मयूरी आदि के अण्डों पर ममत्व भाव का होना, 'ये मेरे है', ऐसी ममता उनके मन में नही होगी। **पोतज**—हस्ती आदि पर ममत्व का होना भी साधुवृत्ति मे प्रतिबधक है अथवा **पोतक**—बालक पर अथवा पोतक एक प्रकार का विशिष्ट वस्त्र भी होता है जिस पर रेशम की कढाई की हुई होती है, ऐसे बहुमूल्यवान् वस्त्रों का मोह भी उनके संयमी जीवन मे प्रतिबन्धक न होगा। वस्तुत: देखा जाए तो ममत्व ही आत्म-साधना में सबसे बडा बाधक होता है।

वापिस करने योग्य ग्रहण किए हुए सभी पदार्थ अवग्रहिक कहे जाते है, जैसे कि मकान, चोकी, पट्टा आदि। धारण किए हुए सभी पदार्थ प्रग्रहिक माने जाते है जैसे कि वस्त्र-पात्रादि। इन सब वस्तुओ पर उन्हें कोई ममत्व नहीं होगा। अभिप्राय यह है कि बाहर के किसी भी छोटे-बड़े पदार्थ पर उन्हे किंचिन्मात्र भी ममत्व नहीं होगा और न अपने शरीर पर ही ममता होगी, अत: वे जिस दिशा की ओर विचरना चाहेगे, उस ओर बिना किसी प्रतिबन्ध के विचरेगे।

वाणी के ११ गुण—

इस सूत्र मे महत्त्वपूर्ण बात यह भी बतलाई गई है कि ११ गुणो से संपन्न वाणी का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि सम्यग्-वाणी सब तरह के विकारों को शान्त करती है। वाणी से ही इन्सान सुशिक्षित बनता है, वाणी से ही उत्तम पुरुषो की तथा अधम पुरुषो की पहचान होती है। वाणी से ही सुख-समृद्धि प्राप्त होती है। धर्म की ओर भावना का वेग भी वाणी से ही होता है, अत. शुभ वाणी ११ विशेषणो से युक्त होती है। वे ११ विशेषण इस प्रकार है—

१. इष्टा—जो वाणी अमृत के समान मधुर हो उसे इष्ट कहते हैं।

२. कान्ता—जो वाणी मन को अधिक रुचिकर हो वह कान्ता है।

३. प्रिया—जो वाणी हृदय मे प्रेम अंकुरित करती है वह प्रिया कहलाती है।

४. मनोज्ञा—जो मन को भी आकर्षित कर ले वह मनोज्ञावाणी होती है।

५ **मणामा**—हृदय स्पर्शी वाणी को मणामा कहते हैं।

६. **उदारा**—जो वाणी अर्थ की दृष्टि से महान हो, उसे उदारा कहते हैं।

७. **कल्याणा**—कल्याणकारिणी वाणी को कल्याणा कहते हैं।

८. **धन्या**—प्रशसनीय वाणी को धन्या कहते है।

९. **शिवा**—दोषवर्जित वाणी को शिवा कहते हैं।

१०. **मांगल्या**—मगलकारी वाणी मांगल्या कहलाती है।

११. **सश्रीका**—शब्दालङ्कार एव अर्थालंकारों से युक्त वाणी सश्रीका कहलाती है।

इस सूत्र से यह ध्वनित होता है कि इन विशेषणो से युक्त वाणी ही बोलनी चाहिए।

तीर्थंकर महापद्म चरित्त—४

मूल—तस्स णं भगवंतस्स अणुत्तरेणं नाणेणं अणुत्तरेण दंसणेणं अणुवचरिएण। एवं आलएणं विहारेणं अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, खंती, मुत्ती, गुत्ती, सच्च, संजम, तवगुण-सुचरिय-सोवचिय-फलपरिनिव्वाण-मग्गेणं अप्पाणं भावेमाणस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणंते, अणुत्तरे, निव्वाघाए जाव केवलवरनाण-दंसणे समुप्पज्जिहिंति। तए णं से भगवं अरहा जिणे, केवली भविस्सइ सव्वन्नू, सव्वदरिसी सदेवमणुआसुरस्स लोगस्स परियागं जाणइ, पासइ। सव्वलोए सव्वजीवाणं आगइं, गइं, ठियं, चयणं, उववायं तक्कं, मणोमाणसियं, भुत्तं, कडं, पडिसेवियं, आवीकम्मं, रहोकम्मं, अरहा अरहस्स भागी, तं तं कालं मणसवयसकाइए जोगे वट्टमाणाणं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावे जाणमाणे, पासमाणे विहरइ।

तए णं से भगवं तेणं अणुत्तरेणं केवलवरनाणदंसणेणं सदेवमणु-आसुरलोगं अभिसमिच्चा समणाणं निग्गंथाणं [जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति, तं जहा—दिव्वा वा, माणुसा वा, तिरिक्खजोणिया वा, ते उप्पन्ने सम्मं सहिस्सइ, खमिस्सइ, तितिक्खिस्सइ। तए णं से भगवं अणगारे भविस्सइ—ईरियासमिए, भासा, एवं जहा वद्धमाणसामी तं चेव निरवसेसं जाव अव्वावारविउसग्गजोगजुत्ते। तस्स णं भगवंतस्स एएणं विहारेणं विहरमाणस्स दुवालसहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं तेरसहिं य पक्खेहिं, तेरसमस्स णं संवच्छरस्स अंतरावट्टमाणस्स अणुत्तरेणं णाणेणं जहा भावणाए केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जिहिति, जिणे भविस्सइ, केवली, सव्वन्नू,

सव्वदरिसी, सणेरइए जाव] पंच महव्वयाइं सभावणाइं छच्च जीव निकाय-धम्मं देसेमाणे विहरिस्सइ ॥३६॥

छाया—तस्य भगवतोऽणुत्तरेण ज्ञानेन, अनुत्तरेण दर्शनेन, अनुचरितेन (अनुत्तरेण चारित्रेण) एवमालयेन विहारेण, आर्जव-मार्दव-लाघव-क्षान्ति-मुक्ति-गुप्ति-सत्य-संयम-तपोगुण-सुचरित-शौच-फलपरिनिर्वाणमार्गणाऽऽत्मानं भावयतो ध्यानान्त-रिकायां वर्तमानस्य अनन्तमनुत्तरं, निर्व्याघातं, यावत् केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पत्स्यते। ततः स भगवान् अर्हन् जिनः केवली, भविष्यति, सर्वज्ञः सर्वदर्शी सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य पर्यायं ज्ञास्यति, द्रक्ष्यति। सर्वलोके सर्वजीवानामागतिं, गतिं, स्थितिं, च्यवनमुपपातं-तर्क, मनोमानसिकं, भुक्तं, कृतं, प्रतिसेवितमाविष्कर्म, रहःकर्म, अरहा अरहस्य भागी, तं तं कालं मनोवाक्कायिके योगे वर्तमानानां सर्वलोके सर्वजीवानां सर्वभावान् पश्यन् विहरिष्यति।

ततः स भगवान् तेनानुत्तरेण केवलवरज्ञान-दर्शनेन सदेवमनुजासुरलोकमभिसमेत्य श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यः [ये केचिदुपसर्गा उत्पत्स्यन्ते तद्यथा—दिव्या वा, मानुषा वा, तिर्यग्योनिका वा तान् उत्पन्नान् सम्यक् सहिष्यते, क्षमयिष्यते, तितिक्षिष्यते, अध्यासिष्यते। ततः स भगवान अनगारो भविष्यति, ईर्यासमितः भाषा एवं यथा वर्द्धमानस्वामी, तच्चैव निरवशेषं यावद् अव्यापारव्युत्सर्गयोगयुक्तः। तस्य भगवत एतेन विहारेण द्वादशसु सम्वत्सरेषु व्यतिक्रान्तेषु त्रयोदशसु पक्षेसु, त्रयोदशस्य सम्वत्सरस्य अन्तरावर्तमानस्य अनुत्तेरण ज्ञानेन यथा भावनायां केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पत्स्यते, जिनो भविष्यति, केवली सर्वज्ञः, सर्वदर्शी, सनैरयिक० यावत्] पञ्च महाव्रतानि सभावनानि षड् जीवनिकायधर्मं दिशन् विहरिष्यति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—महापद्म भगवान् को सर्वोत्तम ज्ञान-दर्शन और चारित्र द्वारा तथा वसति-स्थिति, विहार-विचरण, आदि से ऋजुता, मृदुता, लघुता, क्षान्ति, निर्ममता, गुप्ति, सत्य, संयम और तपरूप उत्तमगुणो एव उत्तम आचरण के फलस्वरूप मुक्तिमार्ग और शान्तिमार्ग द्वारा आत्मा को भावित करते हुए तथा ध्यान में अवस्थित होकर अनन्त, सर्वोत्तम, विघ्न-बाधाओ से रहित केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न होगा।

तत्पश्चात् वे जिन होंगे और उन से कोई पदार्थ भी छिपा नहीं रहेगा। उस सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवलज्ञानी को देव, मनुष्य, असुर आदि लोक स्वरूप की पर्यायों का ज्ञान एवं दर्शन होगा और समस्त लोक के सम्पूर्ण जीवो की आगति, गति, स्थिति, च्यवन—वैमानिक और ज्योतिष्क देवो का च्यवन, उपपात देव नारको का

जन्म, तर्क-विचार, मन, 'मनोगतभाव, भुक्त-खाए हुए पदार्थ, कृत-किए गए घटादि पदार्थ, परिषेवित-प्राणिवध आदि, आविष्करण-प्रकट रूप कार्य, रह:कर्म-गुप्त कर्मों के ज्ञाता, उस-उस काल की अपेक्षा सम्पूर्णलोक मे सब जीवों की मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं एव सब पदार्थों का ज्ञान तथा दर्शन को धारण करते हुए विहार करेंगे।

उस सर्वोत्तम केवलज्ञान, केवलदर्शन द्वारा सम्पूर्ण लोक को सम्यक् प्रकार से जानकर श्रमणनिर्ग्रन्थों को पच्चीस भावनाओं सहित पांच महाव्रतों और षड् जीवनिकायों को रक्षण रूप धर्म का उपदेश करते हुए विचरण करेंगे।[१]

विवेचनिका—इस सूत्र पाठ में साधना के सभी अंगों का सुपरिणाम बतलाया गया है। महानिर्ग्रन्थ महापद्म आत्मोत्थान के लिए किन-किन साधनों का उपयोग करेंगे अब उनका परिचय देना सूत्रकार को अभीष्ट है, जिससे कि अन्य साधक भी उनका अनुकरण कर सके।

उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन और चारित्र की आराधना करने से, विविक्त-शयनासन से तथा आत्मविहार से, उत्कृष्ट सरलता-विनम्रता-लाघव-क्षान्ति-सतोष-गुप्ति-सत्य-संयम-तपगुणों से एवं उत्कृष्ट फल-प्रधान मुक्तिमार्ग से आत्मा को भावित करते हुए शुक्ल ध्यान में प्रविष्ट होकर घनघाती कर्मों को क्षय करके अनत, परमप्रधान, निर्व्याघात, प्रतिपूर्ण, अखंड केवल ज्ञान और केवल दर्शन उन्हें उत्पन्न होंगे। तब वे महापद्म अनगार भगवान अर्हन्, जिन, केवली होंगे। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होकर देव, मनुष्य और असुरलोक की सब पर्यायो के ज्ञाता-द्रष्टा होंगे।

तीन लोक मे जीवो के सब पर्यायों का साक्षात् करना ही केवलज्ञान की सार्थकता है। यह जीव किस गति से आया है और यहां से किस गति में जाएगा, यह जीव संसार मे कितने काल तक ठहरेगा, यह जीव किस देवलोक से च्युत होकर यहा आया, इसका किस देवलोक में उपपात अर्थात् जन्म होगा, इसकी बुद्धि मे क्या तर्क-कल्पना-विमर्श हो रहा है, इसके मानसिक भाव क्या है, इसने क्या भोगा, क्या किया, क्या दोष लगाया, प्रकट रूप मे या गुप्त रूप मे जीवो के मन, वचन और काययोग जो कुछ भी वर्त रहा है, केवलज्ञानी उन सब बातों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करते है।

महापद्म अरिहंत भी सब लोक में सब जीवों के सब भावो को जानेंगे और देखेंगे। केवलज्ञान प्राप्त किए बिना जीव कर्मो से मुक्त नही हो सकता, कर्मक्षय किए बिना दु:खों से छुटकारा नही मिलता। केवलज्ञान पा कर ही जीव अपने स्वरूप मे लय हो सकता है।

---

१ पाठकों को ध्यान रहे कि ( ) इस चिह्न के अन्तर्गत पाठ का मूलार्थ पिछले पृष्ठ पर आ चुका है। अत. यहा नही दिया गया।

केवलज्ञानी में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख प्रकट होते है। ये गुण अरिहन्त मे सदा के लिए रहते है, पुन: उनका कभी भी अस्त नही होता।

अरहा शब्द से अष्टविध महाप्रतिहार्यों से युक्त होने का संकेत किया है।

तीर्थंकर महापद्म चरित्त—५

मूल—से जहाणामे अज्जो! मए समणाणं निग्गंथाणं एगे आरंभठाणे पण्णत्ते, एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं णिग्गंथाणं एगं आरंभट्ठाणं पण्णवेहिइ। से जहाणामए अज्जो! मए समणाणं निग्गंथाणं दुविहे बंधणे पण्णत्ते, तं जहा—पेज्जबंधणे, दोसबंधणे, एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं णिग्गंथाणं दुविह बंधणं पन्नवेहिति, तं जहा—पेज्जबंधणं च दोसबंधणं य। से जहानामए अज्जो! मए समणाणं निग्गंथाणं तओ दंडा पण्णत्ता, तं जहा—मणदंडे ३, एवामेव महापउमेवि समणाणं निग्गंथाणं दंडे पण्णवेहिति, तं जहा मणदंडे ३। से जहानामए एएणं अभिलावेणं चत्तारि कसाया पण्णत्ता तं जहा—कोहकसाए ४, पंचकामगुणे पण्णत्ते, तं जहा—सद्दे ५, छज्जीवनिकाया पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया जाव तसकाइया, एवामेव जाव तसकाइया। से जहाणामए एएणं अभिलावेणं सत्त भयट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा ७ एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं निग्गंथाणं सत्तभयट्ठाणा पन्नवेहिति। एवमट्ठ मयट्ठाणे, णव बंभचेर-गुत्तीओ, दसविहे समणधम्मे, एवं जाव तेत्तीसमासायणाओ त्ति।

से जहा नामए अज्जो! मए समणाणं निग्गंथाणं नग्गभावे, मुंडभावे, अण्हाणए, अदंतवणे, अच्छत्तए, अणुवाहणए, भूमिसेज्जा, फलगसेज्जा, कट्ठसेज्जा, केसलोए, बंभचेरवासे, परघरप्पवेसे जाव लद्धावलद्धवित्तीउ पण्णत्ताओ, एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं निग्गंथाणं णग्गभावं जाव लद्धावलद्धवित्ती पन्नवेहिति। से जहानामए अज्जो! मए समणाणं निग्गंथाणं आहाकम्मिएइ वा, उद्देसिएइ वा, मीसज्जाएइ वा, अज्झोरएइ वा, पूइए, कीए, पामिच्चे, अच्छेजे, अणिसट्ठे, अभिहडेइ वा, कंतारभत्तेइ वा, दुब्भिक्खभत्तेइ वा, गिलाणभत्तेइ वा, वद्दलियाभत्तेइ वा, पाहुणभत्तेइ वा, मूलभोयणेइ वा, कंदभोयणेइ वा, फलभोयणेइ वा, बीयभोयणेइ वा, हरियभोयणेइ वा पडिसिद्धे, एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं आहाकम्मियं वा जाव हरियभोयणं वा पडिसेहिस्सइ॥३७॥

छाया—तद् यथानाम आर्याः! मया श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्य एकमारम्भस्थानं प्रज्ञप्तम्, एवमेव महापद्मोऽपि अर्हन् श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्य एकमारम्भस्थानं प्रज्ञापयिष्यति, तद्यथानाम आर्याः! मया श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यो द्विविधं बन्धनं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रेमबन्धनञ्च द्वेषबन्धनञ्च एवमेव महापद्मोऽपि अर्हन् श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यो द्विविधं बन्धनं प्रज्ञापयिष्यति, तद्यथा—प्रेमबन्धनञ्च, द्वेषबन्धनञ्च। तद्यथानाम आर्याः! मया श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यस्त्रयो दण्डाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मनोदण्डः ३, एवमेव महापद्मोऽपि श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यस्त्रीन् दन्डान् प्रज्ञापयिष्यति, तद्यथा—मनोदण्डः ३। तद्यथानाम आर्याः! एतेनाभिलापेन चत्वारः कषायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्रोधकषायः ४। पञ्चकाम गुणाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा शब्दः ५। षड्जीवनिकायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिका यावत्त्रसकायिकाः, एवमेव यावत्त्रसकायिकान्। तद्यथानाम एतेनाभिलापेन सप्तभयस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—एवमेव महापद्मोऽपि अर्हन् श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यः सप्तभयस्थानानि प्रज्ञापयिष्यति। एवमष्ट मदस्थना न, नवब्रह्मचर्यगुप्तीः, दशविधान् श्रमण धर्मान्, एवं यावत् त्रयस्त्रिंशतमाशातना इति।

तद्यथानाम आर्याः! मया श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यो नग्नभावः, मुण्डभावः, अस्नान-कम्, अदन्तधावनम्, अछत्रकम्, अनुपानत्कं, भूमिशय्या, फलकशय्या, काष्ठशय्या, केशलोचः, ब्रह्मचर्यवासः, परगृहप्रवेशे यावल्लब्धापलब्धवृत्तीः प्रज्ञप्ता—एवमेव महापद्मोऽपि अर्हन् श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यो नग्नभावं यावल्लब्धापलब्धवृत्ती प्रज्ञापयिष्यति। तद्यथानाम आर्याः! मया श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्य आधाकर्मिकं वा, औदेशिकं वा, मिश्रजातं वा, अध्यवपूरकं वा, पूतिकं, क्रीतं वा, प्रमित्यकम्, आच्छेद्यम्, अनिसृष्टम्, अभ्याहृतं वा, कान्तारभक्तं वा, दुर्भिक्षभक्तं वा, ग्लानभक्तं वा, वार्दलिकाभक्तं वा, प्राघूर्णकभक्तं वा, मूलभोजनं वा, कन्दभोजनं वा, बीज भोजनं वा, हरितभोजनं वा प्रतिषिद्धम्, एवमेव महापद्मोऽप्यर्हन् श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्य आधाकर्मिकं वा यावद् हरितभोजनं वा प्रतिषेधिश्यति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—हे आर्यो! जिस प्रकार मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों का एक आरम्भ स्थान वर्णन किया है, उसी तरह महापद्म अरिहन्त भी श्रमण-निर्ग्रन्थों को एक आरम्भ-स्थान कथन करेंगे। जैसे मैने दो प्रकार के बन्धन यथा—राग-बन्धन और द्वेष-बन्धन कहे हैं, वैसे ही महापद्म भी कहेगे। तथा तीन प्रकार के दण्ड-मनोदण्ड, वचन-दण्ड और कायदण्ड का स्वरूप जैसे मैंने वर्णन किया है उसी प्रकार महापद्म भी निरूपण करेंगे। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों का कथन जैसे मैंने किया है, उसी तरह महापद्म भी प्ररूपण करेंगे। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पांच कामगुणो का, छः प्रकार के जीवनिकाय—यथा पृथ्वीकाय यावत् त्रस-काय, सात भय-स्थान,

आठ मद-स्थान, नव ब्रह्मचर्य गुप्तियां, दस प्रकार का श्रमण-धर्म यावत् तेंतीस आशातनाओं का निरूपण जैसे मैने किया है, उसी तरह महापद्म भी करेंगे।

हे आर्यो। मैंने जिस प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए नग्नभाव, मुण्डभाव, स्नान न करना, अदन्तधावन, छत्र धारण न करना, जूता न पहनना, पृथ्वी पर सोना, फलकशय्या, काष्ठशय्या, केशलोच, ब्रह्मचर्य का पालन करना, गृहस्थों के घरों मे प्रवेश करना, यावत् भिक्षा मे लाभ होने पर हर्ष नही, लाभ न होने पर विषाद नहीं, ग्रहण करना एवं अनादर पूर्वक ग्रहण न करना इत्यादि साधु की साधना वृत्तियों का निरूपण किया है, वैसे ही महापद्म भी करेगे।

हे आर्यो! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए आधाकर्मिक, औद्देशिक, मिश्रजात, अध्यवपूरक, पूतिकर्म, क्रीतक, प्रामित्य, आच्छिद्य, अनिसृष्ट, अभिहृत्य, दुर्भिक्षभक्त, ग्लान-रोगी के निमित्त बना आहार, वार्दलिका भक्त, प्राघूर्णक आहार, मूल आदि का भोजन, फल आदि का भोजन, बीजादि का भोजन, हरितकाय का भोजन इत्यादि उपर्युक्त पदार्थो का निषेध किया है, उसी प्रकार महापद्म अरिहन्त भी निषेध करेगे।

विवेचनिका—इस सूत्रपाठ मे सकेत किया गया है कि श्रमण भगवान महावीर श्रमण निर्ग्रन्थो को संबोधित करते हुए प्रतिपादन करते है कि हे आर्यो! एक आरम्भ-स्थान से लेकर ३३ आशातनाओ तक जिस सख्याक्रम से मैंने शिक्षाएं वर्णित की है, उसी क्रम से अरिहन्त महापद्म भी श्रमणो को शिक्षाए देगे।

इन ३३ अको में से २६ वे अक मे दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार और बृहत्कल्प इन तीन सूत्रो के २६ उद्देशक है। श्री भगवान स्वयं कहते है—उनका कथन जैसे मैने किया है वैसे ही महापद्म भी प्रतिपादन करेगे। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है जो विद्वान उक्त तीन सूत्रो के २६ उद्देशकों को भद्रबाहु-कृत मानते है, वह कथन सूत्र संगत नहीं है।

साधु स्थूल एव सूक्ष्म सभी जीवो का रक्षक होता है। पिता के मन मे जैसे अपनी संतति पर पूर्णतया वात्सल्य होता है, क्षुधाग्रस्त होने पर वह उसे मारकर खा नहीं सकता, उसके बच्चे को यदि कोई मारता है तो वह भी उसके लिए असह्य हो जाता है—वैसे ही साधु अपने स्वार्थ के लिए न किसी को मारता है, न मरवाता है, यदि कोई साधुओ के निमित्त हिंसा आदि क्रिया करके आहार-पानी बहराता है तो उसे अकल्पनीय समझकर वे ग्रहण नहीं करते। भगवान महावीर ने अकल्पनीय आहार ग्रणह करना साधु के लिए निषिद्ध बताया है। उनका विवरण सक्षेप मे यहां दिया जाता है, जैसे कि—

१. आधाकर्मिक—किसी विशेष साधु के निमित्त से सचित्त वस्तु को अचित्त बनाना तथा अचित्त वस्तु को पकाना। इससे संबंधित दोष चार प्रकार का होता है, जैसे कि—

प्रतिसेवन, प्रतिश्रवण, सवसन, अनुमोदन। इन पदो की संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित है— आधाकर्मी आहार करना प्रतिसेवन कहलाता है, आधाकर्मी आहार की विनति स्वीकार करना प्रतिश्रवण, आधाकर्मी आहार भोगने वालो के साथ रहना संवसन और आधाकर्मी आहार सेवन करने वाले की प्रशंसा करना अनुमोदन कहलाता है।

२. **औद्देशिक**—देय वस्तु के अतिरिक्त अन्य प्रकार के आरम्भ-संरंभ आदि दोष साधु के उद्देश्य से लगाना अथवा किसी विशेष साधु के लिए बनाया गया आहार यदि वही साधु ले तो आधाकर्म, दूसरा ले तो औद्देशिक है।

३. **मिश्रजात**—गृहस्थ के द्वारा अपने और साधु के लिए एक साथ पकाया हुआ या बनाया हुआ आहार मिश्रजात कहलाता है।

४. **अध्यवपूरक**—अपने लिए बनते हुए भोजन मे से साधुओं का आगमन सुनकर उनके निमित्त से उसमे कुछ और मिला देना अध्यवपूरक आहार है।

५. **पूतिकर्म**—शुद्ध आहार में यदि आधाकर्म आदि का अश मिल जाता है, तो वह आहार भी शुद्ध संयमी के लिए अकल्पनीय होता है।

६. **क्रीत**—साधु के निमित्त मोल लिया हुआ आहारादि क्रीत कहलाता है।

७. **प्रामित्य**—साधु के निमित्त उधारा लिया हुआ आहारादि प्रामित्य कहलाता है।

८ **आच्छेद्य**—साधु के लिए किसी दूसरे से छीनकर लाए हुए आहारादि को आच्छेद्य कहते है, जैसे बच्चे से या नौकर आदि से कोई छीन कर दे, तो उसे लेना।

९ **अनिसृष्ट**—किसी वस्तु के एक से अधिक स्वामी होने पर उनकी बिना इच्छा से दिया जाने वाला आहारादि पदार्थ लेना, वह अनिसृष्ट दोष कहलाता है।

१० **अभिहृत**—साधु के निमित्त गृहस्थ द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाया हुआ आहारादि ग्रहण करना अभिहृत कहलाता है।

वन में मिलने वाला भोजन कान्तार भक्त है। दुर्भिक्ष के समय दिया जाने वाला भोजन, रोगो की शान्ति के लिए दिया जाने वाला भोजन, वर्षा के लिए होने वाले यज्ञ से दिया जाने वाला भोजन साधु को ग्रहण करना वर्जित है। लोग उक्त कारणो से पहले भी अन्नादि का दान करते थे, यह उक्त पदो से ध्वनित होता है। शेष पद सुगम होने से यहां उनकी व्याख्या नहीं की गई। इस प्रकार का आहार लेना श्रमण-निर्ग्रन्थो के लिए निषिद्ध है। महावीर कहते हैं, जैसे मैने उक्त प्रकार से कहा है वैसे ही अरिहत महापद्म भी निषेध करेंगे। जिस आहार आदि पदार्थ के ग्रहण करने से पाच महाव्रतो मे से किसी भी महाव्रत मे दोष लगे, वैसा आहार यदि सुलभता से मिलता हो या अतिकठिनता से मिलता हो तो उसे ग्रहण करने के लिए मन से भी प्रार्थना न करे, ऐसा अरिहत भगवन्तों का सिद्धान्त है। साधक को अपनी साधना दूषित नही करनी चाहिए, इसी में उसका कल्याण है।

तीर्थंकर महापद्म चरित्त—६

मूल—से जहानामए अज्जो! मए समणाणं पञ्चमहव्वइए सपडिक्कमणे अचेलए धम्मे पण्णत्ते, एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं णिग्गंथाणं पंचमहव्वइयं जाव अचेलगं धम्मं पण्णवेहिति। से जहानामए अज्जो! मए पंचाणुव्वइए, सत्तसिक्खावइए दुवालसविहे सावगधम्मे पण्णत्ते, एवामेव महापउमेवि अरहा पंचाणुव्वइयं जाव सावगधम्मं पण्णवेस्सइ। से जहानामए अज्जो! मए समणाणं सेज्जायरपिंडेइ वा, रायपिंडेइ वा पडिसिद्धे, एवामेव महाउमेवि अरहा समणाणं सेज्जायरपिंडइ वा पडिसेहिस्सइ। से जहानामए अज्जो! मए समणाणं सेज्जायरपिंडेइ वा, रायपिंडेइ वा पडिसिद्धे, एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं सेज्जायरपिंडइ वा पडिसेहिस्सइ। से जहाणामए अज्जो! मम णव गणा, इगारस गणहरा, एवामेव महापउमस्सवि अरिहओ णव गणा, एगारस गणहरा भविस्संति। से जहानामए अज्जो! अहं तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए, दुवालस संवच्छराइं तेरस पक्खा छउमत्थपरियागं पाउणित्ता, तेरसहिं पक्खेहिं ऊणगाइं तीसं वासाइं केवलिपरियागं पाउणित्ता बायालीसं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता बावत्तरि वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिज्झिस्सं जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेस्सं, एवामेव महापउमेवि अरहा तीसं वासाइं आगारवासमज्झे वसित्ता जाव पव्विहिति, दुवालस संवच्छराइं जाव बावत्तरिवासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिज्झिहिति जाव सव्वदुक्खाणमंतं काहिइ—

"जं सीलसमायारो, अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तस्सीलसमायारो, होइ उ अरहा महापउमे॥३८॥"

॥ इइ सिरी महापउमचरियं समत्तं॥

छाया—तद्यथा नाम आर्याः! मया श्रमणेभ्यः पञ्चमहाव्रतिकः सप्रतिक्रमणोऽचेलको धर्मः प्रज्ञप्तः एवमेव महापद्मोऽप्यर्हन् श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यः पञ्चमहाव्रतिकं यावदचेलकं धर्मं प्रज्ञापयिष्यति। तद्यथानाम आर्या.! मया पञ्चानुव्रतिकः सप्तशिक्षाव्रतिको द्वादशविधश्रावकधर्मः प्रज्ञप्तः, एवमेव महापद्मोऽप्यर्हन् पञ्चानुव्रतिकं यावच्छ्रावकं धर्मं प्रज्ञापयिष्यति। तद्यथा नाम आर्याः! मया श्रमणेभ्यः शय्यातरपिण्डो वा, राजपिण्डो वा प्रतिषिद्धः, एवमेव महापद्मोऽप्यर्हन् श्रमणेभ्यः शय्यातरपिण्डो

वा, राजपिण्डो वा प्रतिषेधिष्यति। तद्यथा नाम आर्याः! मम नवगणाः एकादशगणधराः, एवमेव महापद्मस्यापि अर्हतो नव गणाः एकादश गणधराः भविष्यन्ति। तद्यथानाम आर्या! अहं त्रिंशद वर्षाण्यागारवासमध्ये उषित्वा, मुण्डो भूत्वा यावत् प्रव्रजितः, द्वादशसम्वत्सरान् त्रयोदशपक्षान् छद्मस्थपर्याय पालयित्वा त्रयोदशभिः पक्षैरूनकानि त्रिंशद्वर्षाणि केवलिपर्यायं प्राप्य द्विचत्वारिंशद्वर्षाणि श्रामण्यपर्यायं प्राप्य द्वासप्तति वर्षाणि सर्वायुः पालयित्वा सेत्स्यामि यावत्सर्वदुःखानामन्तं करिष्यामि, एवमेव महापद्मोऽप्यर्हन् त्रिंशद्वर्षाणि आगारावासमध्ये उषित्वा यावत् प्रव्रजिष्यति, द्वादश-सम्वत्सरान् यावत्, द्वासप्ततिवर्षाणि सर्वायुः पालयित्वा सेत्स्यति, यावत् सर्वदुखानामन्तं करिष्यति—

"यच्छीलसमाचारोऽर्हन् तीर्थङ्करो महावीरः।
तच्छीलसमाचारो भविष्यति त्वर्हन् महापद्मः॥"

इति श्री महापद्मचरितं समाप्तम्

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—हे आर्यो! जिस प्रकार मैंने श्रमणो के लिए प्रतिक्रमण सहित पञ्च महाव्रत रूप अचेलक धर्म का प्ररूपण किया है, उसी तरह महापद्म भी सप्रतिक्रमण पांच महाव्रत रूप अचेलक धर्म का निरूपण करेगे। जिस प्रकार मैने पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत रूप, बारह प्रकार का श्रावकधर्म कथन किया है, उसी प्रकार महापद्म अर्हन्त भी करेंगे। हे आर्यो! जिस प्रकार मैंने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए शय्यातर-पिण्ड और राजपिण्ड का निषेध किया है, उसी तरह महापद्म भी करेंगे। जिस प्रकार मेरे नव गण और ग्यारह गणधर है, उसी प्रकार महापद्म के भी होगे। हे आर्यो! जिस प्रकार मैंने तीस वर्ष पर्यन्त गृहस्थ-वास मे रहने के अनन्तर मुण्डित होकर यावत् प्रव्रजित हुआ हूं, और मैं बारह वर्ष, तेरह पक्ष पर्यन्त छद्मस्थ पर्याय को पालकर, तेरह पक्ष कम तीस वर्ष केवली पर्याय पालकर, बियालीस वर्ष श्रमणपर्याय का पालन कर तथा सर्वायु बहत्तर वर्ष की पाल कर सिद्ध गति को प्राप्त होऊंगा यावत् सब दुःखो का अन्त करूगा, इसी प्रकार महापद्म भी करेगे।

जो शील और आचार तीर्थकर महावीर का था, वैसा ही शील और समाचार अरिहन्त महापद्म का भी होगा।

। महापद्म चरित्त समाप्त ।

विवेचनिका—इस सूत्रपाठ मे भी अरिहन्त महापद्म के जीवन का परिचय भगवान महावीर के जीवन तुल्य बतलाया गया है। भगवान महावीर कहते हैं—कि जैसे मैने प्रति-क्रमण सहित पाच महाव्रत तथा अचेलक धर्म की प्ररूपणा की है, वैसे ही महापद्म भी

करेंगे। इसी तरह पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत रूप श्रावक-व्रतो के विषय में भी जान लेना चाहिए। गृहस्थधर्म उक्त १२ व्रतो मे समाविष्ट हो जाता है।

भगवान ने साधुओ के लिए शय्यातर पिंड तथा राजपिंड लेना भी निषिद्ध किया है। जिसके मकान में साधु ठहरता है उस मकान मालिक को शय्यातर कहते हैं, क्योंकि शय्यादान करने मात्र से ही वह भवसागर से तरने योग्य बन जाता है। उसके घर से आहार-पानी, वस्त्र-पात्र आदि ग्रहण करना शय्यातर-पिंड कहा जाता है। उस घर से उपर्युक्त वस्तु लेनी साधु के लिए उचित नहीं है।[1]

प्रश्न हो सकता है कि भगवान ने शय्यातरपिंड ग्रहण करना सर्वविरत के लिए क्यों निषिद्ध किया है? प्रश्न का उत्तर मननीय है, इसमें मुख्यतया सात दोष बताए है, जैसे कि—

१. शय्यातर के घर से आहार करना सभी तीर्थकरों ने निषिद्ध किया है।

२. अज्ञात घरों से लाई हुई गोचरी भी जब पूर्णतया निर्दोष नहीं होती, तब शय्यातर के घर से लाई हुई गोचरी कैसे शुद्ध हो सकती है? साधु को स्व-निमित्त से बना आहार नहीं लेना चाहिए। शय्यातर-पिण्ड ग्रहण करने पर उसे अपने निमित्त से बने हुए आहार को ही ग्रहण करना पड़ेगा, क्योंकि गृहस्थ साधु के लिए भी उसी तरह आहार तैयार करवाएगा, जैसा कि वह घर मे आए हुए मेहमानों के लिए तैयार करवाता है।

३ गृहस्थ के द्वारा जितने भी आहार के सदर्भ मे दोष लगते हैं, वे सब उद्गम कहलाते है अत. शय्यातर पिण्ड-विशुद्धि नहीं हो सकती।

४ शय्यातर-पिण्ड ग्रहण करने से जीवन से सतोषधर्म का लोप हो जाता है।

५ शय्यातर-पिण्ड लेने से जीवन मे लाघव-धर्म नही रहता।

६. शय्यातर-पिण्ड ग्रहण करने पर साधु के लिए निवास-योग्य स्थान मिलना भी दुर्लभ हो जाएगा, क्योंकि गृहस्थ सोचेगा कि यदि इन्हे अपने मकान में ठहराऊंगा तो भोजन-पानी का प्रबन्ध भी मुझे ही करना पडेगा।

७. सामुदानिक भिक्षा की रीति-नीति का व्यवच्छेद हो जाएगा। निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने से तथा दाता के द्वारा दिए जाने से जो दाता को पुण्यानुबंधी पुण्य का एवं महानिर्जरा रूपी महालाभ होना था, उसका व्यवच्छेद हो जाएगा। इन सात कारणो से शय्यातर-पिंड ग्रहण करना निषिद्ध है।

वासुदेव एव चक्रवर्ती के लिए बना हुआ भोजन अथवा पौष्टिक पदार्थ सभी राज-पिण्ड है, अत: राज-पिंड सेवन कर लेने पर ब्रह्मचर्य सुरक्षित नही रह सकता।

---

१ सेज्जायरे त्ति, शेरते यस्यां साधक सा शय्या, तया तरति भवसागरम् इति, शय्यातरो—वमतिदाता, तस्य पिण्डो भक्तादि. शय्यातरपिण्ड·, स चाशनादिर्वस्त्रादि , सूच्यादिश्चेति, तद्ग्रहणे दोषास्त्वमी—
तित्थकरपडिकुट्ठो अन्नायं उग्गमो वि य न सुज्झे।
अविमुत्ती अलाघवता दुल्लह सेज्जा विउच्छेदो।। इति वृत्तिकार।

श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू! जिस शील-समाचार से युक्त भगवान महावीर का जीवन रहा है, उसी शील-समाचार युक्त महापद्म का जीवन भी रहेगा, जैसे कि नवगण और ग्यारह गणधर का होना, ३० वर्ष गृहवास में रहकर मुण्डित होना, ४२ वर्ष श्रामण्य-पर्याय में रहना, ३० वर्ष केवली पर्याय में रहना, ७२ वर्ष की सर्वायु पालकर निर्वाण प्राप्त करना। अत: भगवान महावीर का जीवन-चरित्त और महापद्म का जीवन चरित्त परस्पर बहुत कुछ समानता को लिए हुए है।

इस चरित्त को सुनकर साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओं ने महाराजा श्रेणिक को भावी तीर्थंकर जानकर भी उसे वन्दना-नमस्कार नही किया। इससे यह भली भान्ति सिद्ध हो जाता है कि द्रव्य-निक्षेप और बिंब आदि वन्दनीय व पूजनीय नहीं माने जा सकते।

नौवे स्थान में तीर्थंकर पहापद्म चरित्त देने का अभिप्राय: सूत्रकार का क्या हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है, कि जैसे भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों के वाचना की दृष्टि से नौ गण बने हैं, वैसे ही वाचना ही दृष्टि से महापद्म के भी ग्यारह गणधरो के नौ ही गण होगे। इस अपेक्षा नौवे स्थान में महापद्म चरित्त का उल्लेख किया है।

चन्द्र-पृष्ठ-योगकारी नक्षत्र

मूल—णव णक्खत्ता चंदस्स पच्छं भागा पण्णत्ता, तं जहा—
अभिई सवणो धणिट्ठा, रेवइ अस्सिणि मग्गसिर पूसो।
हत्थो चित्ता य, तहा पच्छं भागा णव हवंति॥३९॥

छाया—नव नक्षत्राणि चन्द्रस्य पश्चाद्भागानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—
अभिजित् श्रवणो धनिष्ठा, रेवती अश्विनी मृगशिरः पुष्यः।
हस्तश्चित्रा च, तथा पश्चाद्भागानि नव भवन्ति॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जिन नक्षत्रों का योग चन्द्रमा के पश्चिम भाग से होता है, ऐसे नक्षत्र नौ हैं, जैसे कि—अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, रेवती, अश्विनी, मृगशिरा, पुष्य, हस्त और चित्रा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे भावी तीर्थकर का चरित वर्णित किया गया है। तीर्थकर के कल्याणक भी किसी विशेष नक्षत्र मे ही हुआ करते है, अत: प्रस्तुत सूत्र में उन नौ नक्षत्रो का वर्णन किया गया है, जिनका चन्द्र के साथ पृष्ठभाग से योग होता है।

नौ नक्षत्र जो कि चन्द्रमा के पिछले भाग मे योग जोडते है, उनके नामो का निर्देश मूलार्थ मे किया जा चुका है। किसी प्रति में ऐसा भी पाठ प्राप्त होता है, जैसे कि—

"अस्सिणि भरणी सवणो, अणुराहा धणिट्ठ-रेवई पूसो।
मियसिर-हत्थो चित्ता, पच्छिमजोगा मुणेयव्वा।"

अश्विनी, भरणी, श्रवण, अनुराधा, धनिष्ठा, रेवती, पुष्य, मृगशिरा, हस्त और चित्रा इन नौ नक्षत्रों का योग चन्द्रमा से जब होता है, तब पश्चिम भाग से ही होता है।

सूत्र निर्दिष्ट नौ नक्षत्र चन्द्र के पृष्ठ भाग से योग करते है और दूसरी गाथा में निर्दिष्ट नौ नक्षत्र पश्चिम दिशा से योग करते है। ऐसा ज्ञात होता है कि अभिजित चन्द्र के पृष्ठ भाग मे भी पश्चिमी भाग से ही योग करता हो।

देव-विमानों की ऊंचाई

मूल—आणय-पाणय-आरणच्चुएसु कप्पेसु विमाणा णव जोयण-सयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं॥४०॥

छाया—आनत-प्राणतारणाच्युतेषु कल्पेषु विमानानि नव योजनशतान्यूर्ध्व-मुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आनत नवम, प्राणत दसवें, आरण ग्यारहवें और अच्युत बारहवे देवलोक में विमान ऊंचाई की अपेक्षा नौ सौ योजन वर्णन किए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे नक्षत्रो का वर्णन किया गया है, वे नक्षत्र विमान-रूप हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र मे देव विमानो की ऊंचाई का वर्णन किया गया है। नौवे आनत देवलोक, दसवे प्राणत देवलोक, ग्यारहवें आरण देवलोक और बारहवे अच्युत देवलोक मे जितने विमान हैं, वे सब नौ-नौ सौ योजन के ऊचे है। इन विमानो के आधार रूप पदार्थो का वर्णन जीवाभिगम सूत्र मे विस्तार से दिया गया है।

विमलवाहन का देहमान

मूल—विमलवाहणे णं कुलगरे णव धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं हुत्था॥४१॥

छाया—विमलवाहनः कुलकरो नवधनुः शतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेनाऽभूत्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—कुलकर विमलवाहन का शरीर ऊचाई में नौ सौ धनुष प्रमाण था।

विवेचनिका—इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे मे पन्द्रह कुलकर हुए है, जिनमे से ७वे कुलकर विमलवाहन हुए हैं। उनके शरीर की ऊचाई नौ सौ धनुष की थी।

एक धनुष ९६ अंगुल परिमाण होता है। आगमो मे तीन प्रकार के अगुलो का वर्णन

प्राप्त होता है, जैसे कि—आत्मांगुल, प्रमाणागुल और उत्सेधांगुल। शाश्वत पदार्थो का नाप प्रमाणागुल से होता है। जिम काल के जो मनुष्य होते है, उनके अंगुलों से क्षेत्र आदि का नाप किया जाता है वह है आत्मागुल। जीवो की अवगाहना, लम्बाई-ऊंचाई और चौड़ाई आदि का नाप उत्सेध अगुल से किया जाता है। उत्सेध और प्रमाण ये दो अंगुल नियत है और आत्मागुल अनियत है। अपने हाथ से छोटे-बड़े सभी मनुष्य सादे तीन हाथ के होते हैं, किन्तु ९०० धनुष की अवगाहना जो विमलवाहन की लिखी है, वह उत्सेध अगुल से जाननी चाहिए। उत्सेधांगुल बहुत छोटा होता है। २४ उत्सेध अंगुलों का एक हाथ और चार हाथ का एक धनुष होता है।[१]

भगवान ऋषभदेव का तीर्थ-प्रवर्तन काल

मूल—उसभेणं अरहा कोसलिए णं इमीसे ओसप्पिणीए णवहिं सागरोवमकोडाकोडीहिं विइक्कंताहिं तित्थे पवत्तिए॥४२॥

छाया—ऋषभेण अर्हता कौशलिकेन अस्यामवसर्पिण्यां नवसु सागरोपम-कोटाकोटिषु व्यतिक्रान्ते तीर्थ प्रवर्तितम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—कौशल देशीय अरिहन्त ऋषभदेव ने इस अवसर्पिणी काल के नव सागरोपम कोटा-कोटि वर्ष व्यतीत होने पर तीर्थ की स्थापना की थी।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे कुलकरो का वर्णन किया गया है, कुलकरो की परम्परा भगवान् ऋषभदेव जी के आगमन के साथ समाप्त हो गई। अत: प्रस्तुत सूत्र मे भगवान् ऋषभदेव जी के काल का वर्णन किया गया है।

इस अवसर्पिणी काल के पहले तीर्थकर कौशलदेश मे उत्पन्न अरिहत ऋषभदेव जी ने नौ करोडा-करोड सागरोपम काल बीतने पर धर्म-तीर्थ की स्थापना की थी। पहला आरा ४ करोडा-करोड सागरोपम का, दूसरा तीन करोड-करोड़ सागरोपम का और तीसरा दो करोड़ा-करोड सागरोपम का है। तीसरे आरे के अतिम भाग मे अर्थात् पल्योपम का असख्यातवा भाग शेष रहने पर भगवान ऋषभदेव जी के द्वारा धर्मतीर्थ (चतुर्विधसघ) की स्थापना हुई थी। २४ तीर्थकरो मे पहले तीर्थकर भगवान ऋषभदेव जी हुए हैं।

घनदन्तादि द्वीपों का मान

मूल—घणदंत-लट्ठदंत-गूढदंत-सुद्धदंत-दीवाणं दीवा णव-णव जोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं पण्णत्ता॥४३॥

---

१ नाप-तोल आदि के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए-अनुयोगद्वार सूत्र।

छाया—घनदन्त-लष्टदन्त-गूढ़दन्त-शुद्धदन्त-द्वीपानां द्वीपाः नव-नव योजन-शतान्यायाम-विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—घनदन्त, लष्टदन्त, गूढ़दन्त और शुद्धदन्त नामक चार अन्तर्द्वीप लम्बाई-चौड़ाई की अपेक्षा से नौ-नौ सौ योजन के वर्णन किए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे भगवान् ऋषभदेव द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन का वर्णन किया गया है, उनके द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन का कार्य जम्बूद्वीप में ही हुआ था, अत अब सूत्रकार जम्बूद्वीप के नौ की संख्या से सम्बद्ध अन्तरद्वीपों का वर्णन करते हैं। जितने योजन का अन्तर हो और उतने योजन का द्वीप हो, उसे अन्तरद्वीप कहते हैं।

जम्बूद्वीप में चुल्लहिमवन्त और शिखरी पर्वत से पूर्व और पश्चिम की ओर लवण-समुद्र मे दाढ के आकार वाली दो-दो शाखाएं निकली हुई हैं। प्रत्येक दाढ पर सात अतरद्वीप है। जैसे कि तीन सौ योजन का अन्तर और तीन सौ योजन का द्वीप, ४०० योजन का अन्तर और ४०० योजन का द्वीप। इस क्रम से सौ-सौ योजन बढ़ाते-बढाते सबके अन्त में ९०० योजन का अन्तर और ९०० योजन का द्वीप है। पूर्व की ओर आग्नेयकोण में जो सातवा अन्तरद्वीप है, उसका नाम घनदत है। दक्षिण की ओर नैर्ऋत्य कोण मे जो सातवां अन्तरद्वीप है, उसका नाम लष्टदन्त है। वायव्यकोण मे जो दाढ़ है उसके सातवें द्वीप का नाम गूढ़दत है। ईशान कोण मे जो दाढ है, उसके सातवे द्वीप का नाम शुद्धदन्त है। ये चार अन्तरद्वीप ९००-९०० योजन लम्बे-चौड़े है।

शुक्रग्रह की नव वीथियां

मूल—सुक्कस्स णं महागहस्स णव वीहीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—हयवीही, गयवीही, णागवीही, वसहवीही, गोवीही, उरगवीही, अयवीही, मियवीही, वेसानरवीही ॥४४॥

छाया—शुक्रस्य महाग्रहस्य नव वीथयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हयवीथिः, गजवीथिः, नागवीथिः, वृषभवीथिः, गोवीथिः, उरगवीथिः, अजवीथि·, मृगवीथिः, वैश्वानरवीथिः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—शुक्र महाग्रह की नौ वीथियां अर्थात् गति-मार्ग कथन किए गए हैं, जैसे—हयवीथि, गजवीथि, नागवीथि, वृषभवीथि, गोवीथि, उरगवीथि, अजवीथि, मृगवीथि और वैश्वानरवीथि।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे भूगोल-विषयक वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उसके प्रतिपक्षीभूत खगोल सम्बन्धी वर्णन करते है। शुक्र महाग्रह की नौ वीथिया है। वीथि शब्द का अर्थ है, मार्ग अर्थात् क्षेत्र विभाग।

वे वीथियां प्रायः तीन-तीन नक्षत्रो में विभक्त है। वीथियो के नाम मूलार्थ में दिए जा चुके है। वीथि विशेष में चलने से शुक्र आदि ग्रह मनुष्य लोक पर विशेष अनुग्रह और निग्रह करते है। कहा भी है— **वीथि विशेषचारेण च शुक्रादयो ग्रहा मनुजादीनामनुग्रहो-पघातकारिणो भवन्तीति, द्रव्यादिसामग्र्या कर्मणामुदयादिसद्भावादिति सम्बन्धात्।**[१]

इस प्रकार इस ज्योतिष-शास्त्र-गम्य विषय का प्रस्तुत सूत्र में सुन्दर, स्पष्ट एवं विशद विवेचन हुआ है।

कषाय सहचारी-नोकषाय

मूल—नवविहे नोकसायवेयणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—इत्थिवेए, पुरिसवेए, णपुंसगवेए, हासे, रई, अरई, भए, सोगे, दुगुंछा॥४५॥

छाया—नवविधं नोकषायवेदनीयं कर्म प्रज्ञप्तं, तद्यथा—स्त्रीवेदः, पुरुषवेदः, नपुंसकवेदः, हास्यं, रतिः, अरतिः, भयं, शोकः, जुगुप्सा।

---

१. एक गुजराती पचाग मे ग्रह-वीथि और फलादेश के विषय में जो कुछ लिखा गया था, हम उसका हिन्दी रूपान्तर निम्न टिप्पणी मे प्रस्तुत कर रहे है।

'स्थानाग सूत्र' मे शुक्र महाग्रह की नौ वीथिया कही गई है, वे नौ वीथिया आकाश मे क्षेत्र का विभाग है। उन नौ वीथियो मे तीन-तीन नक्षत्रो का विभाग करने पर नौ वीथियो के सत्ताईस नक्षत्र हो जाते हैं। इस प्रकार तीन नक्षत्रो में चलते हुए वह महाग्रह एक वीथी मे विचरण करता है। इन नौ वीथियो मे शुक्र-सचार का शुभाशुभ फल आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी जी ने क्रमश· लिखा है।

पहली 'हयवीथी' है, इसके भरणी, कृत्तिका और रोहिणी ये तीन नक्षत्र है, जब इस वीथि मे अर्थात् भरणी, कृत्तिका और रोहिणी नक्षत्र पर शुक्र सचरण करता है, तब पृथ्वी पर बहुत वर्षा होती है, धान्य अधिक होता है और धन की वृद्धि होती है। वह समय सुकालपूर्ण होता है और जन-सुखकारी होता है।

दूसरी 'गजवीथी' के मृगशिरा, आर्द्रा और पुनर्वसु ये तीन नक्षत्र है। जब शुक्र उनमें सचरण करता है, तो उसका भी फल शुभ होता है। इसका फल प्राय. प्रथम वीथी जैसा ही है।

तीसरी 'नागवीथी' के पुष्य, आश्लेषा और मघा ये तीन नक्षत्र है, इनमे शुक्र महाग्रह के सचरण करने का फल भी पहली और दूसरी वीथी के ही समान है।

चौथी 'वृषभवीथी' के पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी और हस्त ये तीन नक्षत्र हैं। जब शुक्र महाग्रह इनमे विचरण करता है तो उसका फल भी पहली वीथी जैसा ही होता है।

पाचवी 'गोवीथी' के चित्रा, स्वाती और विशाखा ये तीन नक्षत्र है, इनमे शुक्र-सचरण के फल दूसरी वीथी जैसा ही हुआ करता है।

छठी 'उरगवीथी' के अनुराधा, ज्येष्ठा और मूल ये तीन नक्षत्र हैं, इनमे शुक्र-सचरण के फलस्वरूप धान्य तो बहुत उत्पन्न होता है, परन्तु उसके भाव मध्यम रहते है। तेजी-मदी बार-बार चलती रहती है।

सातवीं 'अजवीथी' के पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा और श्रवण नक्षत्र है।

आठवी 'मृगवीथी' के धनिष्ठा, शतभिषा और पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्र हैं और नौवी वैश्वानर वीथी के उत्तराभाद्रपदा, रेवती और अश्विनी नक्षत्र हैं। इन तीनो वीथियो मे शुक्र के सचरण करने पर धान्योत्पत्ति कम होती है, धान्य महगे हो जाते है, मानव जाति पीडित होती है, बरसात कम होती है और दुर्भिक्ष अधिक पडता है।

(**शब्दार्थ स्पष्ट है**)

मूलार्थ—नोकषाय वेदनीयकर्म नौ प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, यथा—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा।

विवेचनिका—शुक्रग्रह का प्रभाव अधिकतर सवेदी जीवो पर पड़ता है, वेद नोकषाय का अवान्तर भेद है। अत: प्रस्तुत सूत्र में नोकषाय का वर्णन किया गया है। नोकषाय का अविनाभावी सम्बन्ध कषाय के साथ है। यहां ''नो'' शब्द निषेध का वाचक नही है, अपितु सहचारी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कषायो के साथ जो मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं, वे कषायो के साथ मिलकर ही अपना फल देते हैं, उन्हें नोकषाय कहते हैं। जैसे बुध ग्रह दूसरे के साथ युक्त हो, तो वह अपने साथी ग्रह बल को ही बल देता है, वैसे ही नोकषाय भी कषायों के साथ ही रहते हैं और उन्हीं के साथ रहकर ही अपना फल देते हैं, स्वतन्त्र नहीं।

जितना स्तर कषाय का होता है, उतना ही नोकषाय का भी होता है। नोकषाय-वेदनीयकर्म के नौ भेद है, जैसे कि—

१. **स्त्रीवेद**—जिसके उदय से स्त्री को पुरुष की अभिलाषा होती है, उसे स्त्रीवेद कहा जाता है। पित्त के उदय से जैसे मीठा खाने की इच्छा होती है, सूखे हुए उपलों मे या मीगनों में लगी हुई आग जैसे बाहर नहीं भड़कती, अपितु अन्दर ही अन्दर सुलगती रहती है, वैसे ही स्त्रीवेद भी जब उदय होता है, तब वह भीतर ही भीतर मन को विकृत करता रहता है, उसे स्त्री-वेद कहा जाता है।

२. **पुरुषवेद**—जिसके उदय से पुरुष को स्त्री की अभिलाषा होती है, वह पुरुष-वेद है। जैसे कफ के प्रकोप से खट्टी वस्तु खाने की इच्छा होती है, वैसे ही जब पुरुषवेद का उदय होता है, तब पुरुष को स्त्री की अभिलाषा होती है। यह उस अग्नि के समान उदय होता है जो एक-दम भड़क जाती है और फिर शान्त भी शीघ्र हो जाती है।

३. **नपुंसकवेद**—जैसे पित्त और कफ के उदय से स्नान की इच्छा होती है, वैसे ही जिस के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों से गमन की इच्छा होती है, वह नपुंसक वेद कहलाता है। जब इसका उदय होता है, तब बड़े भारी नगर-दाह के समान कामदेव भड़कता है। यह तेज और स्थायी दोनों तरह का होता है। पुरुषवेद से स्त्री वेद प्रबल एवं स्थायी और स्त्रीवेद की अपेक्षा नपुसकवेद प्रबल तम एव अनुपशान्त होता है।

४. **हास्य**—जिसके उदय से मनुष्य सकारण या अकारण हंसने लग जाए, उसे हास्य कहते हैं। इसके अधम, मध्यम और उत्तम, इस तरह तीन भेद है।

५. **रति**—जिसके उदय से जीव की रुचि सचित्त एवं अचित्त बाह्य पदार्थो की ओर आकृष्ट हो, असंयम में प्रवृत्ति हो उसे रति कहते है।

६. **अरति**—जिसके उदय से बाह्य पदार्थो से या सयम से अरुचि हो जाए, वह अरति

है अर्थात् मन का किसी भी शुभ या अशुभ वस्तु में न लगना अरति है।

७. **भय**—जिसके उदय से किसी न किसी प्रकार की भयकरता हृदय में बनी रहे, वह भय-मोहनीय है। अज्ञानता, अपूर्णता, बलहीनता ये सब भय के कारण हैं।

८. **शोक**—जिस के उदय से जीव आक्रन्दन, रुदन आदि करने लग जाए, वह शोक-मोहनीय है। इसके उदय से प्राणी शोक-रहित होता हुआ भी कभी-कभी सशोक बन जाता है।

९. **जुगुप्सा**—जिसके उदय से मनुष्य दूसरो से घृणा करने लग जाता है या जाति, कुल आदि के मद से इतर जीवों से घृणा करने लग जाता है, वह जुगुप्सा प्रकृति है। यह प्रकृति भी धर्म-साधना मे बाधक है, इन सबके त्यागने से ही जीव निर्वाण पद के योग्य हो सकता है।

जीवों की कुल कोटियां

मूल—चउरिंदियाणं णव जाइकुलकोडि-जोणिप्पमुहसयसहस्सा पण्णत्ता। भुयगपरिसप्प-थलयर-पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं नव जाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा पण्णत्ता॥४६॥

छाया—चतुरिन्द्रियाणां नव जातिकुलकोटि-योनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। भुजपरिसर्पस्थलचर-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकानां नव जातिकुलकोटि-योनिप्रमुख-शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चतुरिन्द्रिय जीवों की नौ लाख जाति-कुलकोटि योनि प्रमुख कथन की गई हैं। भुजग-परिसर्प-स्थलचर-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग् योनिक जीवों की जाति-कुलकोटि-योनि-प्रमुख नव लाख वर्णन की गई है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे नो कषायों का वर्णन किया गया है, कषायों और नोकषायों के कारण ही जीव चतुरिन्द्रिय आदि योनियो मे जन्म लेते है, अत: अब सूत्रकार चतुरिन्द्रिय आदि जीवो की जाति-कुलकोटियो का वर्णन करते है। एक जाति मे जितने तरह के जीव हो सकते है, उन भेदों को कुल-कोटि कहा जाता है।

सडते हुए गोबर की एक ही राशि में अनेकविध जीव उत्पन्न होते है, वे सब जीव एक ही स्थान से उत्पन्न होने के कारण एक ही जाति के होते हैं, परन्तु उन की कुलकोटियां भिन्न-भिन्न होती है। इस प्रकार विभिन्न पदार्थो से जन्म लेने वाले चतुरिन्द्रिय आदि जीवों की नौ लाख कुलकोटियां होती हैं।

भुजाबल से चलने वाले पंचेन्द्रिय तिर्यचो को भुजगपरिसर्प कहते है, जैसे कि, गोह, नेवला, गिलहरी आदि। इन पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों की नौ लाख कुलकोटियां है।

पापकर्म के रूप में पुद्गल चयन

मूल—जीवा णं णवट्ठाणनिवत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा, तं जहा—पुढविकाइयनिवत्तिए जाव पंचिंदियनिवत्तिए। एवं चिण, उवचिण जाव णिज्जरा चेव ॥४७॥

छाया—जीवा नव स्थाननिर्वर्तितान् पुद्गलान् पापकर्मतया अचैषुर्वा, चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—पृथिवीकायनिर्वर्तितान् यावत् पञ्चेन्द्रियनिर्वर्तितान्। एवं चयः, उपचयो वा यावन्निर्जरा चैव।

शब्दार्थ—जीवा णं—जीवों ने, **णवट्ठाणनिवत्तिए पोग्गले**—नव स्थानो मे निवर्तित—निष्पादित पुद्गलों को, **पावकम्मत्ताए**—पाप कर्म रूप से, **चिणिंसु वा**—उपार्जन किया, **चिणंति वा**—वर्तमान में करते है, और, **चिणिस्संति वा**—भविष्यत् मे करेगे, **तं जहा**—जैसे, **पुढविकाइयनिवत्तिए जाव पंचिंदिय निवत्तिए**—पृथिवीकायपने मे निष्पादित यावत् पंचेन्द्रियपने में निष्पादित, **एवं चिण, उवचिण**—इसी तरह उपार्जन किया, अथवा विशेष रूप से उपार्जन किया, **जाव**—यावत्, **णिज्जरा चेव**—निर्जरा की।

मूलार्थ—जीवों ने नव स्थानो में निर्वर्तित पुद्गलों का पाप कर्म रूप से भूतकाल मे उपार्जन किया, वर्तमान मे करते हैं और आगामी काल मे करेंगे, यथा—पृथिवीकाय मे यावत् पञ्चेन्द्रिय में निष्पादित पापरूप से उपार्जन किया, उपार्जन करते हैं और करेंगे, यावत् निर्जरा की, कर रहे हैं और भविष्य मे करेंगे।

विवेचनिका—जीव अधिकार होने से प्रस्तुत सूत्र में भी नौ प्रकार के पाप-कर्म-रत जीवो का तथा उनके द्वारा पापकर्मो को ग्रहण करने का उल्लेख किया गया है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, ये नौ प्रकार के जीव पाप-कर्म मे रत रहकर पुद्गलो का पापकर्म के रूप मे तीनो कालो मे चय, उपचय और निर्जरा आदि करते हैं। साराश यह है कि जीव अनादिकाल से पाच स्थावर और त्रसपने मे रह कर पापकर्म करते आए है, वर्तमान मे कर रहे है और भविष्य मे करते रहेगे।

सूत्रकर्त्ता ने "**पोग्गले पावकम्मत्ताए**" पाप कर्म से पहले पुद्गल शब्द दिया है। इसका कारण यह है कि कर्म केवल उत्क्षेपण आदि ही नहीं है, किन्तु जैन सिद्धान्त कर्म को पुद्गल द्रव्य मानता है, अत: जीव कर्मपुद्गलो का चय-उपचय करते ही रहते हैं, तथा निर्जरा भी।

पुद्गल पर्यायों की अनन्तता

मूल—णव पएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता, णवपएसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता, जाव णव गुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता ॥४८॥

छाया—नव प्रदेशिकाः स्कन्धाः अनन्ताः प्रज्ञप्ताः, नव प्रदेशावगाढ़ाः पुद्गला अनन्ता प्रज्ञप्ताः, यावत् नवगुणरूक्षाः पुद्गला अनन्ता प्रज्ञप्ताः।

शब्दार्थ—णव—नौ-नौ, **पएसिया खंधा**—प्रदेशो वाले स्कन्ध, **अणंता पण्णत्ता**—अनन्त प्रतिपादन किए गए है, **णव पएसोगाढा**—नव प्रदेशो मे अवस्थित पुद्गल, **अणंता पण्णत्ता**—अनन्त कथन किए गए हैं, **जाव**—यावत्, **णव गुणलुक्खा पोग्गला**—नवगुण रूक्ष पुद्गल, **अणंता पण्णत्ता**—अनन्त वर्णन किए गए है।

मूलार्थ—नव प्रदेशिक स्कन्ध अनन्त बतलाए गए हैं। नव-नव प्रदेशों में आकाश अवस्थित पुद्गल भी अनन्त हैं। यावत् नवगुण रूक्ष पुद्गल भी अनन्त प्रतिपादन किए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे पुद्गल ग्रहण की चर्चा की गई है। अब सूत्रकार उसी परम्परा में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा पुद्गल-पर्याय की अनन्तता का वर्णन करते हैं। नौ प्रदेशों वाले स्कन्ध अनन्त हैं। आकाश के नौ प्रदेशों पर अवगाहन करने वाले पुद्गल अनन्त हैं। नौ समय तक ठहरने वाले पुद्गल भी अनन्त है, इसी तरह नौ गुणा रूक्ष पुद्गल भी अनन्त हैं। दो परमाणुओं से लेकर अनन्त परमाणुओ पर्यन्त परमाणु समूह को स्कन्ध कहा जाता है।

पुद्गल-द्रव्य प्रायः जीवो के उपभोग-परिभोग मे आता है, क्योंकि छः द्रव्यो मे केवल रूपी द्रव्य यदि कोई है तो पुद्गल ही है और यह दुख-सुख वेदने में निमित्त कारण है। अतः जब आत्मा इससे सर्वथा रहित हो जाता है, तब ही वह निर्वाणपद को प्राप्त करता है। सिद्ध-बुद्ध, अजर, अमर, पारगत इत्यादि नामों के धारण करने वाला वह तभी होता है, जब कि वह पुद्गल-बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

॥ नवम स्थान समाप्त ॥
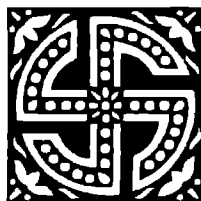
॥ णमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

श्री स्थानाङ्ग-सूत्रम्

एक उद्देशक

इस उद्देशक में

लोक-स्थिति, शब्द-भेद, इन्द्रियार्थ, पुद्गल-चलन, क्रोधोत्पत्तिस्थान, सयम, अहंकारोत्पत्ति, समाधि, प्रव्रज्या, जीव-परिणाम, आन्तरिक्षक अस्वाध्याय, अहिंसा-मूलक संयम, सूक्ष्म भेद, गगा-सिन्धु-वाहिनी नदियां, दस राजधानियां, मन्दर-मान, दिशा-केन्द्र, लवण-समुद्र-मान, धातकीखण्ड-मेरु-मान, वृत्त-वैताढ्य-पर्वत, जम्बू-द्वीप के क्षेत्र, मानुषोत्तर-पर्वत, अंजन-दधिमुख, रतिकर-पर्वत, रुचकवर पर्वत, द्रव्यानुयोग, उत्पात-पर्वत, जीव-अवगाहना, श्री सम्भवनाथ जी एवं श्री अभिनन्दन जी का मध्यकाल, अनन्त उत्पाद पूर्व की वस्तु, प्रवाद-पूर्व की चूला वस्तु, प्रतिसेवना, आलोचना, प्रायश्चित्त, मिथ्यात्व-भेद, चन्द्र-प्रभ, धर्मनाथ आदि की पूर्ण आयु, भवनवासी देव उनके चैत्यवृक्ष, सुख, उपघात, विशुद्धि, संक्लेश, बल, सत्य, दृष्टिवाद-नाम शास्त्र-दोष-विशेष-भेद, वाग्-अनुयोग, दान, गति, मुण्ड-भेद, सख्यान, समाचारी, महावीर के स्वप्न, स्वप्न-फल, सराग-सम्यग्दर्शन, सज्ञा, नैरयिक-वेदना, छद्मस्थ-अज्ञेय, सर्वज्ञ-ज्ञेय, दश अध्ययनो वाले आगम, नैरयिक- भेद, नैरयिकादियो की स्थिति, कल्याणकारी कर्मोपार्जन के कारण, आशसा-प्रयोग, स्थविर, पुत्र, केवली-अनुत्तर, समय-क्षेत्र के कुरु-महाद्रुम, महर्धिक देव, दुषम-सुषम-काल के लक्षण, सुषम-सुषम काल के कल्पवृक्ष, उत्सर्पिणी-कुलकर, वक्षस्कारपर्वत, इन्द्राधिष्ठित कल्प और इन्द्र, दश-दशमिका भिक्षु-प्रतिमा, ससार-समापन्नक जीव, शतायु पुरुष की दशाएं, तृण-वनस्पतिकाय, विद्याधर-श्रेणिया, आभियोगिक-श्रेणिया, ग्रैवेयक विमानों की उच्चता, तेजोलेश्या द्वारा भस्म करने के कारण, दस आश्चर्य, रत्न काण्डादि की चौडाई, समुद्रो आदि की गहराई, कृत्तिका और अनुराधा नक्षत्रों के चार-मण्डल, ज्ञान-सवर्धक नक्षत्र, स्थलचरादि की कुलकोटिया, दश स्थान निवर्तित पुद्गलो के चयनादि विषयो पर प्रकाश डाला गया है।

दशम स्थान

सामान्य परिचय

नौवें स्थान में जिन जीवादि पदार्थों का वर्णन नौ-नौ प्रकार से किया गया है अब सूत्रकार दसवें स्थान में उन्हीं पदार्थों का वर्णन दस-दस प्रकार से करते हैं।

लोक स्थिति

मूल—दसविहा लोयट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा—जण्णं जीवा उद्दाइत्ता-उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो-भुज्जो पच्चायंति, एवं एगा लोयट्ठिई पण्णत्ता।

जण्णं जीवाणं सया समियं पावे कम्मे कज्जइ, एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता।

जण्णं जीवा सया समियं मोहणिज्जे पावे कम्मे कज्जइ, एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता।

ण एवं भूयं वा, भव्वं वा, भविस्सइ वा, जं जीवा अजीवा भविस्संति एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता।

ण एवं भूयं वा, भव्वं वा, भविस्सइ वा, जं तसा पाणा वोच्छिज्जिस्संति, थावरा पाणा वोच्छिज्जिस्संति, तसा पाणा भविस्संति वा, एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता।

ण एवं भूयं वा, भव्वं वा, भविस्सइ वा, जं लोए अलोए भविस्सइ, अलोए वा लोए भविस्सइ, एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता।

ण एवं भूयं वा, भव्वं वा, भविस्सइ वा, जं लोए अलोए पविस्सइ, अलोए वा लोए पविस्सइ, एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता।

जाव ताव लोए, ताव-ताव जीवा, जाव ताव जीवा ताव-ताव लोए, एवंप्पेगा लोयट्ठिई।

जाव ताव जीवाण य पोग्गलाण य गइपरियाए, ताव-ताव लोए, जाव ताव लोए, ताव-ताव जीवाण य पोग्गलाण य गइरियाए, एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता।

सव्वेसुवि णं लोयंतेसु अबद्धपासपुट्ठा पोग्गला लुक्खत्ताए कज्जइ, जेणं जीवा य पोग्गला य नो संचायंति बहिया लोगंता गमणयाए, एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता॥१॥

छाया—दशविधा लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—यज्जीवा अपद्राय-अपद्राय तत्रैव भूयो भूयः प्रत्यायान्ति, एवमेका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

यज्जीवाः सदा समितं पापं कर्म कुर्वन्ति, एवैका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

यज्जीवाः सदा समितं मोहनीयं पापं कर्म कुर्वन्ति, एवमेका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

नैवं भूतं वा, भव्यं वा, (भवति वा) भविष्यति वा, यज्जीवाः अजीवा भविष्यन्ति, अजीवा वा जीवा भविष्यन्ति, एवमेका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

नैवं भूतं वा भव्यं वा (भवति वा) भविष्यति वा, यत्रसाः प्राणाः व्युच्छेत्स्यन्ति, स्थावराः प्राणा भविष्यन्ति, स्थावराः प्राणाः व्युच्छेत्स्यन्ति, त्रसाः प्राणा भविष्यन्ति, एवमेका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

नैवं भूतं वा, भव्यं वा, (भवति वा) भविष्यति वा, यल्लोकोऽलोको भविष्यति, अलोको वा लोको भविष्यति, एवमेका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

नैवं भूतं वा, भव्यं वा, (भवति वा) भविष्यति वा यल्लोकोऽलोके प्रवेक्ष्यति, अलोको वा लोके प्रवेक्ष्यति, एवमेका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

यावत्तावल्लोकः, तावत्तावज्जीवाः, यावत्तावज्जीवाः तावत्तावल्लोकः, एवमेका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

यावत्तावज्जीवाना पुद्गलानाञ्च गतिपर्यायः, तावत्तावल्लोकः, यावत्तावल्लोकः, तावत्तावज्जीवानां पुद्गलानाञ्च गतिपर्यायः एवमप्येका लोकस्थिति. प्रज्ञप्ता।

सर्वेष्वपि लोकान्तेषु अबद्धपार्श्वस्पृष्टाः पुद्गला रूक्षतया क्रियन्ते, येन जीवाश्च पुद्गलाश्च नो शक्नुवन्ति बहिर्लोकान्ताद् गन्तुम्, एवमप्येका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

शब्दार्थ—दसविहा—दस प्रकार की, **लोगट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा**—लोकस्थिति कथन की गई है, यथा—, **जण्णं जीवा उद्दाइत्ता-उद्दाइत्ता**—जीव पुनः-पुनः मर-मर कर, **तत्थेव**—वहीं पर, **भुज्जो-भुज्जो**—बारम्बार, **पच्चायंति**—उत्पन्न होते हैं, **एवमप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—इस तरह यह लोकस्थिति का प्रथम कारण कथन किया गया है।

जण्णं जीवा णं—जो कि जीव, **सया समियं**—सदा निरन्तर, **पावे कम्मे कज्जति**—

पाप कर्म करते हैं, **एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—इस कारण भी लोक की स्थिति है। **जण्णं जीवा**—जो कि जीव, **सया समियं**—सदा निरन्तर, **मोहणिज्जे पावे कम्मे कज्जंति**—मोहनीय पाप कर्म करते हैं, **एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—ऐसे भी लोक की एक स्थिति है।

ण एवं भूयं वा—ऐसा कभी नही हुआ, **भव्वं वा**—न हो रहा है, **भविस्सइ वा**—और न ही होगा, **जं**—कि, **जीवा अजीवा भविस्संति**—जीव अजीव हो जाएं, **अजीवा जीवा भविस्संति**—अजीव जीव हो जाए, **एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—इस तरह भी एक लोकस्थिति है।

ण एवं भूयं वा, भव्वं वा, भविस्सइ वा—ऐसा नहीं हुआ, न हो रहा है और न होगा कि, **जं तसा पाणा वोच्छिज्जिस्संति**—कि त्रस प्राणी विनष्ट हो जाएं, **थावरा पाणा भविस्संति**—और स्थावर प्राणी ही रहें, **थावरा पाणा वोच्छिज्जिस्संति**—स्थावर प्राणी विनष्ट हो जाएगे, **तसा पाणा भविस्संति वा**—अथवा त्रस प्राणी ही रहेंगे, **एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—इस कारण भी एक लोकस्थिति है।

ण एवं भूयं वा, भव्वं वा, भविस्सइ वा—ऐसा न तो हुआ है, न हो रहा है और न होगा कि, **जं लोए अलोए वा भविस्सइ**—कि लोक अलोक हो जाएगा, **अलोए लोए वा भविस्सइ**—अथवा अलोक लोक हो जाएगा, **एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—इस तरह भी एक लोकस्थिति है।

ण एवं भूयं वा, भव्वं वा, भविस्सइ वा—ऐसा कभी न हुआ है, न हो रहा है और न होगा, **ज लोए अलोए पविस्सइ**—कि लोक अलोक मे प्रवष्टि हो जाए, **अलोए वा लोए पविस्सइ**—अथवा अलोक लोक मे प्रवेश कर जाएगा, **एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—ऐसे भी लोक की एक स्थिति है।

जाव ताव लोए, ताव-ताव जीवा—जितने क्षेत्र मे लोक है, उतने क्षेत्र मे जीव हैं, **जाव ताव जीवा, ताव-ताव लोए**—जितने क्षेत्र में जीव हैं, उतने क्षेत्र में लोक है, **एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—इस तरह भी लोकस्थिति वर्णित है।

जाव ताव जीवाण य पोग्गलाण य गइपरियाए—जितने क्षेत्र में लोक है, उतने क्षेत्र मे जीव एवं पुद्गलों की गति-पर्याय है, **एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—इस तरह भी लोकस्थिति है।

सव्वेसुवि णं लोगंतेसु—लोकान्त के सर्व भागों मे, **अबद्धपासपुट्ठा पोग्गला लुक्खत्ताए कज्जइ**—पुद्गल रूक्ष होने से झड़ जाते हैं, उन का बन्धन नहीं होता है, **जेणं जीवा य पोग्गला य**—इस कारण जीव और पुद्गल, **नो संचायंति बहिया लोगंता गमणयाए**—लोकान्त से बाहर जाने में समर्थ नहीं हो सकते हैं, **एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—इस प्रकार भी लोकस्थिति कही गई है।

मूलार्थ—दस प्रकार की लोकस्थिति का वर्णन किया गया है, जैसे कि —जीव मर-मर कर वही बार-बार उत्पन्न होते है।

जीव सदा निरन्तर पाप-कर्म करते हैं।

जीव सदा निरन्तर मोहनीय कर्म करते हैं।

भूतकाल में ऐसा हुआ नहीं, वर्तमान में होता नहीं और भविष्य में होगा नहीं कि जीव अजीव हो जाएं अथवा अजीव जीव बन जाएं।

ऐसा कभी नहीं हुआ, न होता है तथा न ही होगा कि त्रस प्राणी ही शेष रहें और स्थावर नष्ट हो जाएंगे।

ऐसा न हुआ है, न होता है और न होगा ही कि लोक अलोक हो जाए और अलोक लोक हो जाए।

त्रिकाल में भी ऐसा नहीं हो सकता कि लोक अलोक में प्रवेश कर जाए और अलोक लोक में प्रविष्ट हो जाए।

जिस-जिस क्षेत्र में लोक है, उस-उस क्षेत्र मे जीव है, जितने क्षेत्र में जीव है, उतने क्षेत्र में लोक है।

जहां-जहां जीवो और पुद्गलो की गति-पर्याय है, वहां-वहां पर लोक है। जहा-जहां लोक है, वहां-वहां जीवों और पुद्गलों की गति-पर्याय है।

लोकान्त के सब भागों मे पुद्गलों का बन्धन नहीं होता, केवल स्पर्शमात्र होता है और वे रूक्षता के कारण झड़ जाते हैं, इसलिए जीव और पुद्गल लोकान्त से बाहिर नही जा पाते हैं। इन उपर्युक्त कारणों से पञ्चास्तिकाय रूप लोक की स्थिति बनी हुई है।

विवेचनिका—जीव और पुद्गल सक्रिय होते हुए भी लोक मे ही पाए जाते है। अत. प्रस्तुत सूत्र मे लोक-स्थिति का वर्णन किया गया है।

लोक-स्वभाव को ही लोक-स्थिति कहा जाता है। लोक-स्थिति दस प्रकार की है—

१. जिन प्रदेशो पर जीव अनन्त बार जन्म-मरण कर चुके हैं, उन्ही प्रदेशों पर वे पुनः-पुनः जन्म-मरण कर रहे है। लोकाकाश का कोई भी ऐसा प्रदेश शेष नही रह गया, जिसे प्रत्येक जीव ने जन्म-मरण के द्वारा अनन्त बार स्पर्श न किया हो। यह भी एक लोक-स्थिति है।

२ जीव-प्रवाह से निरन्तर पाप-कर्म में सलग्न हैं। मोक्ष के जितने भी प्रतिबन्धक तत्त्व हैं, वे सब पाप कर्म हैं। आठ कर्मो का बन्ध भी पाप कर्म से ही होता है। अतः जीवो द्वारा निरन्तर पापकर्म करते रहना, यह दूसरी लोक-स्थिति है।

३. जीव सदा काल से मोह-कर्म का बन्ध कर रहे है। मोह का नाम ही संसार है, जो ससार है, वही मोह है और जो मोह है, वही संसार है। मोह-कर्म भी लोक-स्थिति का तीसरा कारण है।

४ लोक की अनादि काल से यह व्यवस्था चल रही है कि न कभी जीव जीवत्व को छोडकर अजीव बना और न कभी अजीव अजीवत्व को छोड़कर जीव बना। जीव और अजीव ये दोनों तत्त्व त्रैकालिक हैं। ये न तो अपने स्वरूप का कभी परित्याग करते है और न दूसरे के स्वरूप को ग्रहण ही करते है। इस दृष्टि से इसे चौथी लोक स्थिति बताया गया है।

५ यह सिद्धान्त भी त्रैकालिक है कि लोक कभी अलोक नहीं बन सकता और अलोक कभी लोक नहीं बन सकता। दोनों क्षेत्र अपने-अपने स्थान मे अवस्थित है। इनका परस्पर कभी भी परिवर्तन नही होता। यह पाचवीं लोक-स्थिति है।

६ यह सिद्धान्त भी अनादि-अनन्त है—ऐसा कभी नहीं होता कि लोक मे त्रस प्राणी ही रह जाए और स्थावरो का सर्वथा अभाव हो जाए अथवा स्थावर जीव ही ससार मे रह जाए, त्रस प्राणियो का बिल्कुल ही अभाव हो जाए। त्रस जीव रहे स्थावर नही या स्थावर जीव रहें त्रस नही, ऐसा कभी नही हो सकता, प्रत्युत दोनो का अस्तित्व सदैव रहता है। यह लोकस्थिति का छटा कारण है।

७ लोक की यह स्थिति भी त्रैकालिक रही है कि लोक का प्रवेश कभी अलोक मे नही होता और अलोक का प्रवेश कभी लोक में नहीं होता। जो जहा है, वह वहीं रहता है। इस दृष्टि से भी लोक-स्थिति त्रैकालिक है।

८. जहा तक लोक है, वही तक जीव है और जहां तक जीव है वही तक लोक है। तीन काल मे भी जीव और पुद्गल लोक-मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते, इस अपेक्षा से भी लोक-स्थिति त्रैकालिक है।

९. जितनी आकाश-परिधि मे जड़-चेतन की एक छोर से दूसरे छोर पर्यन्त उत्कृष्ट गति हो सकती है, उतने आकाश विभाग को लोक कहा जाता है। जहा तक धर्मास्तिकाय है, वहां तक जड-चेतन की गति होती है। इस अपेक्षा से लोक-स्थिति का यह नौवां कारण है।

१०. गति करने की शक्ति जीव और पुद्गल दोनों में है। अन्य किसी द्रव्य में गति रूप क्रिया नहीं है। जैसे पूरी शक्ति से छोड़ा हुआ बाण दीवार आदि के साथ टकरा कर वही गिर जाता है, वैसे ही गतिशील जड़ और चेतन लोकान्त मे जाकर वही रुक जाते है। पुद्गलो की रूक्षता से अथवा धर्मास्तिकाय के अभाव से लोकस्थिति ऐसी ही है, जिससे गतिशील पदार्थ भी लोक-मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर पाते। अलोक मे जीव और पुद्गल का सर्वथा अभाव है, अतः वहां न अन्धकार है और न प्रकाश है, न धूप है न छाया, क्योंकि ये सब

पुद्गल की पर्याय हैं। जब अलोक में पुद्गल ही नही है, तब उसकी पर्याय कहां सम्भव हो सकती है।

शब्द-भेद

मूल—दसविहे सद्दे पण्णत्ते, तं जहा—
नीहारि पिंडिमे लुक्खे, भिन्ने जज्जरिए इय।
दीहे रहस्से पुहुत्ते य, काकणी खिंखिणिस्सरे॥२॥

छाया—दशविधाः शब्दाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—
निर्हारी पिण्डिमो रूक्षः, भिन्नो जर्जरित इति।
दीर्घो ह्रस्वः पृथक्त्वञ्च, काकणी (किङ्किणी) स्वरः॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—शब्द दस प्रकार का वर्णन किया गया है, यथा—निहारी घोष, पिण्डिमघोष, भिन्न अर्थात् टूटे हुए पदार्थ का शब्द, जर्जरित-जीर्ण पदार्थ का शब्द, दीर्घ, ह्रस्व, पृथक्त्व अर्थात् नाना प्रकार के वादित्रों का संयुक्त शब्द, काकलि अर्थात् सूक्ष्म गीत-ध्वनि, किङ्किणी अर्थात् क्षुद्र घंटियो का शब्द।

विवेचनिका—लोकस्थिति-वर्णन के अन्तिमांश में पुद्गलों का वर्णन किया गया है। पुद्गलो मे शब्द-पुद्गल भी लोकान्त पर्यन्त जा सकता है, यह पुद्गलात्मक शब्द कितने प्रकार का होता है, अब सूत्रकार इसी जिज्ञासा के समाधान के लिए कहते हैं कि यह पुद्गलात्मक शब्द दस प्रकार का होता है। पुद्गलो के सयोग या वियोग होने पर शब्द की उत्पत्ति होती है। उन दस शब्द-भेदो का विवरण निम्नलिखित है—

१ **निर्हारी**—जिस शब्द की उत्पत्ति के अनन्तर कुछ समय के लिए गूंज बनी रहती है, उस शब्द को निर्हारी कहते है। जिस प्रकार घण्टे पर चोट पड़ते ही शब्द उत्पन्न होता है और उस शब्द की गूज बहुत समय तक होती रहती है। यही शब्द निर्हारी शब्द कहलाता है, इसी तरह अन्य झाझर, नगारा आदि के शब्दो के विषय में भी जानना चाहिए।

२. **पिंडिम**—जिस शब्द के होने पर गूज न हो, उसे ''पिंडिम'' कहते है, अर्थात् घोषवर्जित शब्द पिंडिम कहलाता है, जैसे कि ढक्का अर्थात् डमरू के बजाने से गूज नही उठती है।

३ **रूक्ष**—रूखा, अनिष्ट, भयंकर शब्द ''रूक्ष'' कहलाता है, जैसे कौए का शब्द।

४. **भिन्न**—शीत-कम्पित एव ज्वरग्रस्त व्यक्ति जैसे शब्द बोलता है, वैसे शब्दो को भिन्न शब्द कहते हैं। किसी वस्तु के छेदन-भेदन से होने वाला शब्द।

५. **जर्जरित**—थोथे बांस से निकले हुए शब्द की तरह के जितने भी शब्द हैं, वे सब ''जर्जरित'' कहलाते हैं।

६. **दीर्घ**—जो शब्द दूर से सुनाई दे, उसे ''दीर्घ शब्द'' कहते हैं अथवा दीर्घ वर्णो से युक्त शब्द भी इसी के अन्तर्भूत हो जाते है।

७. **ह्रस्व**—ह्रस्व वर्णों से युक्त शब्द को और धीमे से होने वाले शब्द को ''ह्रस्वशब्द'' कहा जाता है, जैसे वीणा का शब्द।

८. **पृथक्**—एक ही समय में एक-साथ उत्पन्न होने वाले वादित्रों आदि के शब्द को ''पृथक्त्व शब्द'' कहते हैं। वह शब्द अनेक वादित्रो के द्वारा पृथक् रूपो मे उत्पन्न होने पर भी एक रूप में सुनाई देता है, अतः इसे ''पृथक्त्व शब्द'' कहा गया है।

९. **काकणी**—जिस समय गीत को उठाते हैं, उस समय गीत-ध्वनि अत्यन्त सूक्ष्मरूप में होती है। इसी तरह अन्य द्रव्यों के शब्द भी जानने चाहिए। इसी को दूसरे शब्दों में ''काकली'' शब्द भी कहते है।

१०. **किंकिणी**—घुघरुओ के शब्द। छोटे-छोटे घुघरू जो बैलों के गले मे बांधे जाते है अथवा नाचने वाले के पैरो मे बाधे जाने वाले घुघरू उनसे होने वाले शब्द को ''किंकिणी-शब्द'' कहते हैं।

इस सूत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द आकाश का गुण नही है। यह एक प्रकार से पुद्गल का ही एक रूप है। श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होने से भी शब्द को पौद्गलिक मानना युक्ति-सगत है।

शब्द तीन प्रकार के होते है—जीव-शब्द, अजीव-शब्द और मिश्र-शब्द। शब्दो के उपर्युक्त दस भेद इन तीन भेदों मे ही गर्भित जाते है। विश्वभर मे जितने भी प्रकार के शब्द सुनने मे आते हैं, उन सबका समावेश उपर्युक्त दस भेदो में अथवा तीन भेदों मे हो जाता है।

त्रैकालिक-इन्द्रियार्थ

मूल—दस इंदियत्थाईया पण्णत्ता, तं जहा—देसेणवि एगे सद्दाइं सुणिंसु, सव्वेणवि एगे सद्दाइं सुणिंसु। देसेणवि एगे रूवाइं पासिंसु, सव्वेणवि एगे रूवाइं पासिंसु। एवं गंधाइं, रसाइं, फासाइं जाव सव्वेणवि एगे फासाइं पडिसंवेएंसु।

दस इंदियत्था पडुप्पन्ना पण्णत्ता, तं जहा—देसेणवि एगे सद्दाइं सुणेंति, सव्वेणवि एगे सद्दाइं सुणेंति। एवं जाव फासाइं।

दस इंदियत्था अणागया पण्णत्ता, तं जहा—देसेणवि एगे सद्दाइं

सुणिस्संति, सव्वेणवि एगे सद्दाइं सुणेस्संति। एवं जाव सव्वेणवि एगे फासाइं पडिसंवेइस्संति ॥३॥

छाया—दश इन्द्रियार्था अतीताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—देशेनापि एके शब्दान् अश्रौषुः, सर्वेणापि एके शब्दान् अश्रौषुः। देशेनापि एके रूपाणि अद्राक्षुः, सर्वेणापि एके रूपाणि अद्राक्षुः। एवं गन्धान्, रसान्, स्पर्शान्, यावत् सर्वेणापि एगे स्पर्शान् प्रतिसमवेदिषुः।

दश इन्द्रियार्थाः प्रत्युत्पन्नाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—देशेनापि एके शब्दान् शृण्वन्ति, सर्वेणापि एके शब्दान् शृण्वन्ति। एवं यावत् स्पर्शान्।

दश इन्द्रियार्था अनागताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—देशेनापि एके शब्दान् श्रोष्यन्ति, सर्वेणापि एके शब्दान् श्रोष्यन्ति। एवं यावत् सर्वेणापि एके स्पर्शान् प्रतिसंवेदयिष्यन्ति।

शब्दार्थ—दस इंदियत्थाईया पण्णत्ता, तं जहा—दस अतीत-इन्द्रियार्थ अर्थात् इन्द्रियो के विषय कथन किए गए हैं, यथा—, **देसेणवि एगे सद्दाइं सुणिसु**—कुछ व्यक्तियों ने देश अर्थात् एक अश मे शब्दो को सुना। **सव्वेणवि एगे सद्दाइं सुणिंसु**—कुछ व्यक्तियो ने सर्व प्रकार से भी शब्दो को सुना, **देसेणवि एगे रूवाइं पासिंसु**—कुछ व्यक्तियो ने देश से अर्थात् एक अंश के रूपो को देखा, **सव्वेणवि एगे रूवाइं पासिंसु**—कुछ व्यक्तियों ने सर्व प्रकार से रूपो को देखा, **एवं गंधाइ**—इसी प्रकार गन्ध, **रसाइं**—रस, **फासाइं**—स्पर्श, **जाव**—यावत्, **सव्वेणवि एगे फासाइं पडिसवेएंसु**—कुछ व्यक्तियो ने सर्व प्रकार से भी स्पर्शो का अनुभव किया।

दस इदियत्था पडुप्पन्ना पण्णत्ता, तं जहा—दश इन्द्रियार्थ प्रत्युत्पन्न-वर्तमान कालीन कथन किए गए है, यथा, **देसेणवि एगे सद्दाइं सुणेंति**—कुछ व्यक्ति अशत. शब्दो का श्रवण करते है, **सव्वेणवि एगे सद्दाइं सुणेंति**—कुछ व्यक्ति सभी प्रकार से शब्दो का श्रवण करते हैं, **एवं जाव फासाइं**—इसी प्रकार स्पर्श आदि का सवेदन करते हैं।

दस इदियत्था अणागया पण्णत्ता, तं जहा—दस इन्द्रियार्थ अनागत कथन किए गए है, जैसे, **देसेणवि एगे सद्दाइ सुणिस्सति**—कुछ व्यक्ति अशत· शब्दो को सुनेगे। **सव्वेणवि एगे सद्दाइं सुणेस्संति**—कुछ व्यक्ति सर्व प्रकार से शब्दों का श्रवण करेंगे, **एवं जाव सव्वेणवि एगे फासाइं पडिसंवेएस्संति**—इसी प्रकार कुछ व्यक्ति यावत् सर्व प्रकार से स्पर्शो का संवेदन करेगे।

मूलार्थ—दश अतीत इन्द्रियार्थ कथन किए गए है, जैसे कुछ व्यक्तियो ने अशतः शब्दो को सुना, कुछ व्यक्तियो ने शब्दो को सभी प्रकार से सुना। कुछ व्यक्तियों ने रूपों को अंशतः देखा और कुछ व्यक्तियों ने पूर्णतया देखा। इसी प्रकार गन्ध, रस और स्पर्श का अंशतः अथवा पूर्णतया अनुभव किया।

प्रत्युत्पन्न, वर्तमान कालीन दश इन्द्रियार्थ कथन किए गए हैं, जैसे—कुछ

व्यक्ति अंशत: शब्दों को सुनते हैं, कुछ व्यक्ति सर्वत: स्पर्श आदि का अनुभव करते हैं।

अनागत अर्थात् भविष्यत्कालीन इन्द्रियार्थ भी दश ही कथन किए गए हैं, जैसे—कुछ व्यक्ति अंशत: शब्दो को सुनेंगे और कुछ व्यक्ति सर्वत:। एवं यावत् अंशत: अथवा पूर्णत: स्पर्शों का सवेदन करेगे।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में शब्द का वर्णन किया गया है। शब्द इन्द्रिय ग्राह्य हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र मे इन्द्रियों के विषयों का तीन कालों की अपेक्षा से दस-दस प्रकार से वर्णन किया गया है। इन्द्रियां भी बाह्य पदार्थो के साक्षात् करने के लिए साधकतम करण हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषय को ही ग्रहण कर सकती है, अनियत को नही। श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को ही ग्रहण करती है, चक्षुरिन्द्रिय रूप को ही देखती है, घ्राणेन्द्रिय गंध को ही सूंघती है, रसनेन्द्रिय रस को ही चखती है और स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श ही करती है। सभी इन्द्रियां देश और सर्व रूप से अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं, जैसे कि—

श्रोत्रेन्द्रिय जब अधूरी बात को सुनती है, या एक ओर की बात को, या टेलीफोन की तरह एक कान से सुनती है, उसे देश-श्रवण कहते है। जब किसी बात को पूरी तरह सुना जाता है तथा अनेक दृष्टियो से सुना जाता है, तब उसे सर्व-श्रवण कहा जाता है। इसी तरह अन्य शब्दो के विषय मे भी देश और सर्व का प्रयोग करना चाहिए।

चक्षुरिन्द्रिय जब किसी पदार्थ को एकान्त दृष्टि से देखती है या आशिक रूप से या लक्ष्य साधते हुए एक आख से देखती है तब वह देश से देखना कहलाता है। उसी अवयवी को जब सर्वाग रूप से दो नेत्रो से या अनेकान्त दृष्टि से देखती है, तब वह सर्व रूप से देखना कहा जाता है।

घ्राणेन्द्रिय जब आशिक रूप से गध को सूघती है तब वह देश से सूघना कहलाता है और जब पूर्णतया सूंघती है, तब वह सर्व रूप से सूंघना कहलाता है।

रसनेन्द्रिय जब आंशिक रूप से किसी एक रस को चखती है, तब वह देश मे चखना कहलाता है, किन्तु जब वह पूर्णतया रसास्वादन करती है, तब वह सर्व से रसास्वादन करना कहलाता है।

स्पर्शनेन्द्रिय अर्थात् त्वचा जब किसी अवयवी के एक अवयव को छूती है, तब वह स्पर्श देशत: होता है, किन्तु जब सर्वांग रूप से किसी अवयवी को छूती है, तब वह सर्वरूप से स्पर्श कहलाता है। इस तरह पांच इन्द्रियों ने अतीत काल मे देश और सर्वरूप से अपने-अपने विषय को ग्रहण किया, वर्तमान में ग्रहण कर रही है और अनागत काल मे ग्रहण करेंगी।

दस भेद अतीत काल से सम्बधित है, दस भेद वर्तमान से संबंधित और दस भेद

भविष्य से सबधित है, इस प्रकार इन्द्रियार्थ के कुल तीस भेद होते है। पांचों इन्द्रियों का देश और सर्वभाव से जीव तीन कालों मे अनुभव कर रहे है। इनके त्यागने से ही आत्मविकास हो सकता है। इस मे कोई सदेह नही कि पांच इन्द्रियों के विषय सदा-सर्वदा अपना अनुभव दिखाते रहते है। उन विषयो पर राग और द्वेष न करना यही उनका त्याग है। इसी से आत्मा स्व-कल्याण कर सकता है।

अखंड पुद्गल-चलन

मूल—दसहिं ठाणेहिमच्छिन्ने पोग्गले चलेज्जा, तं जहा—आहारिज्जमाणे वा चलेज्जा, परिणामिज्जमाणे वा चलेज्जा, उस्ससिज्जमाणे वा चलेज्जा, निस्ससिज्जमाणे वा चलेज्जा, वेदेज्जमाणे वा चलेज्जा, णिज्जरिज्जमाणे वा चलेज्जा, विउव्विज्जमाणे वा चलेज्जा, परियारिज्जमाणे वा चलेज्जा, जक्खाइट्ठे वा चलेज्जा, वायपरिग्गहे वा चलेज्जा॥४॥

छाया—दशभि: स्थानैरच्छिन्न: पुद्गलश्चलेत्, तद्यथा—आह्रियमाणो वा चलेत्, परिणम्यमानो वा चलेत्, उच्छवस्यमानो वा चलेत्, नि:श्वस्यमानो वा चलेत्, वेद्यमानो वा चलेत्, निर्जीर्यमाणो वा चलेत्, वैक्रियमाणो वा चलेत्, परिचार्यमाणो वा चलेत्, वातपरिगतो वा चलेत्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस कारणों से शरीर तथा स्कन्ध से सम्बन्धित पुद्गल चलित होता है, यथा—आहार करते समय, उदर में परिणमन करते समय, उच्छ्वास लेते समय, नि:श्वास लेते समय, कर्म-फल भोगते समय, कर्म-निर्जरा करते समय, वैक्रिय करते समय, मैथुन करते समय, शरीर में यक्षादि के प्रवेश के समय और वायु से प्रेरित होते समय।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में इन्द्रियार्थो का वर्णन किया गया है। इन्द्रियो के विषयभूत जितने भी पदार्थ है, वे सब पुद्गलात्मक है, अत: प्रस्तुत सूत्र में चलित अखड पुद्गलों का वर्णन किया गया है।

पुद्गलद्रव्य तीन प्रकार का होता है, जैसे कि प्रयोगज, मिश्रित और विश्रसा।

जो पुद्गल जीव ने मन, वचन, काय के रूप मे ग्रहण किए हुए हैं, वे सब प्रयोगज पुद्गल हैं।

जिन पुद्गलों को ग्रहण करके जीव छोड़ देता है, उन्हे मिश्रित पुद्गल कहा जाता है।

इन दोनों के अतिरिक्त जो पुद्गल हैं, उन्हें विश्रसा पुद्गल कहते हैं, जैसे कि बादल

और इन्द्रधनुष आदि। जो पुद्गल शरीर से अभिन्न है या विवक्षित स्कन्ध से अपृथग्-भूत हैं, वे दस कारणों से चलायमान हो जाते हैं अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित हो सकते हैं, वे कारण इस प्रकार है—

१. जिस पुद्गल का आहार किया जा रहा है, वह स्थानान्तरित होता ही रहता है। जब कोई प्राणी पानी पीता है, तब वह पानी सब ओर से खिंचा हुआ मुह मे आता है और उदर के प्रकोष्ठ मे जा पहुंचता है। कभी-कभी तुरन्त पिया हुआ पानी पसीने के रूप में बाहर आ जाता है, यही उस की चलन-क्रिया है। अथवा जब संयत आहारिक वर्गणा के पुद्गलों से आहारक शरीर का निर्माण किया करता है, उस समय भी अच्छिन्न पुद्गल चलित होते हैं।

२ जिस समय जठर-अग्नि से अन्न आदि का परिणमन होता है, तब भी अखण्ड पुद्गल चलित होता है। जब खाया हुआ या पिया हुआ पदार्थ खलभाग में एवं रसभाग मे परिणत होता है, तब वह एक दशा से दूसरी दशा में बदल जाता है। कोई भी किया हुआ आहार अन्दर जमा नहीं रहता, वह बराबर परिणमन होता ही रहता है। जो परिणमित हो चुका है, वह मलाशय मे जमा हो जाता है, अत: पाचन-क्रिया मे भी पुद्गल-संचलन होता है।

३ उच्छ्वास लेते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान मे वायु-पुद्गल गमन करते है।

४. नि:श्वास छोडते समय भी वायु-पुद्गल चलित होते हैं। सांस लेते हुए या छोडते हुए समस्त शरीर चलित होता है।

५ जिन पुद्गलो का रस अनुभव किया जा रहा हो या कर्मो का फल भोगा जा रहा हो, उस समय भी अच्छिन्न पुद्गल स्थानान्तरित होने से चलित होते हैं।

६ जो पुद्गल अपना रस देकर आत्मा से या शरीर से अलग हो जाते हैं, उन में क्रिया नही होती, अपितु जिन को आत्मा से अलग किया जा रहा होता है, उनको निर्जीर्यमाण पुद्गल कहते है।

७. वैक्रिय शरीर के रूप मे परिणत होता हुआ पुद्गल एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित होता है। वैक्रिय रूप धारण करते हुए जब शरीर मे हल-चल मचती है तब पुद्गल संचलन होना अवश्यंभावी है।

८. मैथुन सेवन करते समय शुक्र-पुद्गल का अपने स्थान से स्खलित होना परिचार्य-माण कहलाता है। वह स्थानान्तरित होता है, वही उस की चलन-क्रिया है।[१]

९. शरीर में जब यक्षावेश, भूत आदि अधिष्ठित होता है, उस से भी शरीरगत पुद्गल चलायमान होते हैं।

१० शरीरगत पांच प्रकार की वायु से परिव्याप्त या प्रेरित पुद्गल चलायमान होते है।

---

१. 'परियारिज्जमाणे' परिचार्यमाणो—मैथुनसञ्ज्ञाया विषयीक्रियमाण. शुक्रपुद्गलादि. परिचार्यमाणे वा— भुज्यमाने स्त्रीशरीरादौ शुक्रादिरेव।

देह के भीतर जिस मल-मूत्र आदि का निकास होता है, वह वायु-प्रेरित होता है। इन दस कारणो के उपस्थित होने पर अच्छिन्न पुद्गल भी चलित होता है।

इन्ही दस कारणों से सारे शरीर मे हलन-चलन होता है।

क्रोधोत्पत्ति-स्थान

मूल—दसहिं ठाणेहिं कोहुप्पत्ती सिया, तं जहा—मणुन्नाइं मे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधाइं अवहरिंसु। अमणुन्नाइं में सद्द-फरिस-रस- रूव-गंधाइं उवहरिंसु। मणुन्नाइं मे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधाइं अवहरइ। अमणुन्नाइं मे सद्द-फरिस-जाव गंधाइं उवहरइ। मणुन्नाइं मे सद्द जाव अवहरिस्सइ। अमणुन्नाइं मे सद्द जाव उवहरिस्सइ। मणुन्नाइं मे सद्द जाव गन्धाइं अवहरिंसु वा, अवहरइ, अवहरिस्सइ। अमणुण्णाइं मे सद्द जाव उवहरिंसु वा, उवहरइ, उवहरिस्सइ। मणुण्णामणुण्णाइं सद्द जाव अवहरिंसु, अवहरइ, अवहरिस्सइ, उवहरिंसु, उवहरइ, उवहरिस्सइ। अहं च णं आयरियउवज्झायाणं सम्मं वट्टामि, ममं य णं आयरियउवज्झाया मिच्छं पडिवन्ना॥५॥

छाया—दशभिः स्थानैः क्रोधोत्पत्तिः स्यात्, तद्यथा—मनोज्ञान्मे शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धान-पहृतवान्। अमनोज्ञान्मे शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धानुपहृतवान्। मनोज्ञान्मे शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धानपहरति। अमनोज्ञान्मे शब्द-स्पर्शयावत् गन्धानुपहरति। मनोज्ञान्मे शब्दान्यावदपहरिष्यति। अमनोज्ञान्मे शब्दान्यावदुपहरिष्यति। मनोज्ञान्मे शब्दान् यावद् गन्धान् अपहृतवान् वा, अपहरति, अपहरिष्यति। अमनोज्ञान्मे शब्दान्या-वदुपहृतवान्, उपहरति, उपहरिष्यति। मनोज्ञामनोज्ञान् शब्दान् यावदपहृतवान, अपहरति, अपहरिष्यति, उपहृतवान, उपहरति, उपहरिष्यति। अहञ्चाचार्योपाध्यायभ्यां सम्यग्वर्त्ते, माम् आचार्योपाध्यायौ मिथ्यां प्रतिपन्नौ।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस कारणों मे क्रोध उत्पन्न होता है, जैसे—अमुक व्यक्ति ने मेरे मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप एव गन्ध का भूत काल में अपहरण किया। वर्तमान मे अपहरण करता है। भविष्य मे मेरे शब्दादि का अपहरण करेगा। भूत काल में अमनोज्ञ शब्दादि दिए। वर्तमान मे अमनोज्ञ शब्द आदि देता है। भविष्य में अमनोज्ञ शब्द आदि देगा। मनोज्ञ शब्दादि का तीनों कालों मे अपहरण करेगा। अमनोज्ञ शब्दादि तीन काल में मुझे देगा। मनोज्ञ एव अमनोज्ञ शब्दादि का तीनो कालों मे अपहरण

करेगा तथा तीनों ही कालों में देगा। मैं आचार्य तथा उपाध्याय के साथ शुद्ध व्यवहार करता हूं, परन्तु वे मेरे साथ दुर्व्यवहार करते हैं।

विवेचनिका—इन्द्रियो के विषय-भूत पुद्गल-धर्मों को परिलक्षित करके क्रोध की उत्पत्ति होती है, अत: सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में परम्परा-प्राप्त क्रोध उत्पन्न होने के दस कारण बताए हैं, जैसे कि—

१. यह सोच कर कि इस व्यक्ति ने मेरे प्रिय शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श इत्यादि सुखो के साधन अतीत काल में अपहरण किए हैं, यह सोच कर व्यक्ति मे क्रोध उत्पन्न होता है।

२ इस व्यक्ति ने अप्रिय शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श इत्यादि दु:ख के साधन मेरे आगे उपस्थित किए है, यह मेरे लिए कैसे सह्य हो सकता है? इस विचार से भी प्राणी में क्रोध उत्पन्न होता है।

३ यह व्यक्ति मेरे इष्ट शब्दादि सुखसाधन रूप पदार्थो का अपहरण करता है, इस कारण भूत विचार से भी प्राणी में क्रोध उत्पन्न होता है।

४ यह व्यक्ति मुझे अनिष्ट शब्दादि दुख रूप पदार्थ देता है, जिनको मैं स्वप्न मे भी नही चाहता। यह सोच कर भी व्यक्ति मे क्रोध उत्पन्न होता है।

५ यह व्यक्ति मेरे मनोज्ञ अर्थात् मन को प्रिय लगने वाले शब्दादि पदार्थो का अपहरण करेगा, इस आशंका से भी क्रोध पैदा होता है।

६ यह व्यक्ति अमनोज्ञ शब्दादि पदार्थ मुझे देगा, ऐसी योजना बनी हुई है, इस बात को जान कर भी क्रोध पैदा होता है।

७ अमुक व्यक्ति ने मेरे प्रिय शब्दादि विषय पहले भी अपहरण किए, अब भी अपहरण कर रहा है और यह आगे के लिए भी अपहरण करने से नहीं हटेगा, इस कारण से भी क्रोध की उत्पत्ति होती है।

८ अप्रिय शब्दादि पदार्थ इस ने मुझे पहले भी दिए, अब भी दे रहा है, इसी तरह यह आगे के लिए भी देता रहेगा। यह सोच कर भी क्रोध उत्पन्न होता है।

९. इस व्यक्ति ने मेरे शब्दादि मनोज्ञ पदार्थ पहले अपहरण किए, अब कर रहा है और अनागतकाल में भी अपहरण करता ही रहेगा, इस के साथ ही शब्दादि अमनोज्ञ पदार्थ इस ने पहले भी दिए, अब भी दे रहा है और भविष्य में भी देता रहेगा, इस आशका से भी मनुष्य मे क्रोध सजग हो जाता है।

१० मैं तो आचार्य एवं उपाध्याय के साथ सम्यक् बर्ताव करता हूं, किन्तु वे फिर भी मुझ पर प्रसन्न नहीं होते, बल्कि मेरे प्रति विपरीत भाव ही रखते है। इस प्रकार सोचने विचारने से अन्त:करण में क्रोध की ज्वाला भड़क उठती है। यद्यपि गुरु के भाव सम्यक्

भी हैं, तथापि शिष्य के मन मे आशका एवं मिथ्या धारणा से क्रोध उत्पन्न हो ही जाता है।

इसलिए सयमी के लिए क्रोध करना अतीव हानि-प्रद एवं अनुचित है, अतः शिष्य को चाहिए कि वह क्रोध को छोड़ कर शान्ति का आश्रयण करे। इसी मे उसका अपना और श्री-सघ का कल्याण है।

उत्थान और पतन के मूल कारण

मूल—दसविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविकाइय-संजमे जाव वणस्सइ-काय-संजमे, बेइंदिय-संजमे, तेंदिय-संजमे, चउरिंदिय-संजमे, पंचिंदिय-संजमे, अजीवकाय-संजमे।

दसविहे असंजमे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविकाइय-असंजमे, आउकाय-असंजमे, तेउ-काय-असंजमे, वाउ-काय-असंजमे, वणस्सइ-काय-असंजमे, जाव अजीवकाय-असंजमे।

दसविहे संवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियसंवरे जाव फासिंदियसंवरे, मण संवरे, वय-संवरे, काय-संवरे, उवकरण-संवरे, सूईकुसग्गसंवरे।

दसविहे असंवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदिय-असंवरे जाव सूईकुसग्ग-असंवरे॥६॥

छाया—दशविधः संयमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पृथिवीकायिक-संयमो यावत् वनस्पतिकाय-संयमः, द्वीन्द्रिय-संयमः, त्रींद्रिय-संयमः, चतुरिन्द्रिय-संयमः, पञ्चेन्द्रिय-संयमः, अजीवकाय-संयमः।

दशविधोऽसंयमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पृथिवीकायिकोऽसंयमः, अप्कायिकोऽसंयमः, तेजस्कायिकोऽसंयमः, वायु-कायिकोऽसंयमः, वनस्पति-कायिकोऽसंयमः यावद् अजीव-कायासंयमः।

दशविधः संवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियसंवरो यावत् स्पर्शेन्द्रिय-संवरः, मनः-संवरः, वाक्-संवर, काय-संवरः, उपकरण-संवरः, सूचीकुशाग्र-संवरः।

दशविधोऽसंवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा श्रोत्रेन्द्रियासंवरो यावत् सूचीकुशाग्रासंवरः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस तरह का संयम वर्णन किया गया है, यथा—पांच स्थावरों की यत्नपूर्वक रक्षा करना तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय जीवों की रक्षा करना एव अजीव पदार्थों को यत्न पूर्वक ग्रहण करना।

दस प्रकार का असंयम वर्णन किया गया है, यथा—पृथ्वीकाय-असंयम, अप्काय-असयम, तेजस्काय-असयम, वायु-काय असयम, वनस्पति काय असंयम से लेकर अजीव-काय-असंयम तक।

दशविध संवर वर्णन किया गया है, जैसे श्रोत्रेन्द्रिय से लेकर स्पर्शनेन्द्रिय तक पांच इन्द्रियों का सवर और मनः-संवर, वाक्-संवर, काय-संवर, जीवनोपयोगी उपकरणों को यत्न पूर्वक ग्रहण करना रूप उपकरण-संवर एवं सूचीकुशाग्र मात्र पदार्थ भी बिना यत्न से न ग्रहण करना रूप सवर। दस प्रकार का असंवर कहा गया है—श्रोत्रेन्द्रिय-असंवर से लेकर सूचीकुशाग्र-असंवर तक।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में क्रोधोत्पत्ति के कारणो पर प्रकाश डाला गया है, क्रोध पर सयम एवं संवर आदि द्वारा ही विजय पाई जाती है, अत: प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार उत्थान और पतन के मूल कारणो का अर्थात् सयम-संवर और असंयम-असवर का वर्णन करते है।

हिंसा से निवृत्त होना संयम है और हिंसा मे प्रवृत्त होना असंयम। कर्मबंध के सभी कारणो का निरोध करना सवर है और निषिद्धाच एवं विवेकहीनता असंवर है। इनमे संयम और संवर उन्नति के कारण है, असयम एव असंवर ये दो अवनति के मूल कारण हैं।

पाच स्थावर जीवो, चार त्रस जीवों और अजीवकाय, इन दस के साथ यतना पूर्वक व्यवहार करना ही सयम है।

वस्त्र-पात्र, पुस्तक आदि छोटे-बड़े पदार्थो को यतना पूर्वक व्यवहार में लाने को ही अजीव-काय-सयम कहा गया है।

संयम से विपरीत आचरण असयम कहलाता है। पृथ्वीकायिक जीवो की यतना न करना, इसी तरह अप्कायिक जीवों की यतना न करना, तेजस्कायिक, वायु-कायिक एवं वनस्पति-कायिक जीवों की यतना न करना, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एव पंचेन्द्रिय जीवों की यतना न करना तथा उपयोग मे आने वाले अजीव पदार्थों को यतना से काम में न लाना असयम है। पृथ्वीकाय का सब से पहले कथन करने का प्रयोजन यह है कि यह सब प्राणियों का आधार भूत है। शेष काय इसमे आधेय रूप से रहते हैं, अत: इस का सर्व प्रथम उल्लेख करना युक्ति-सगत है।

जिस प्रकार सयम और असंयम का वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार दस संवरों और दस असंवरो का भी वर्णन किया गया है। इन्द्रियों और योगों की अशुभ प्रवृत्ति से आते हुए कर्मो को रोकना संवर है, अर्थात् पांचों इन्द्रियो एवं मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकना तथा उन्हें शुभ व्यापार में लगाना संवर है। जिन वस्त्रों के पहनने से हिंसा हो, अथवा जो वस्त्र-पात्र आदि अकल्पनीय हो उन्हे न ग्रहण करना, बिखरे हुए वस्त्र आदि को समेट कर रखना उपकरण संवर है।

साधु के पास दो प्रकार के उपकरण होते हैं औघिक और औपग्रहिक। जो वस्त्र-पात्रादि उपधि एक बार लेकर पुन: वापिस न लौटाई जाए, उसे औघिक कहते है। जिस को पुन: लौटाया जाए, उस उपधि को औपग्रहिक कहते है, जैसे कि मकान, सूई, कैची आदि। समग्र औघिक उपधि की अपेक्षा से उपकरण-संवर कहा गया है।

सूई और कुशाग्र आदि पदार्थ शरीर के विघातक होने से किसी के शरीर में चुभने का डर रहता है, अत: उन सब को समेट कर रखना 'सूची-कुशाग्र-सवर है'। सामान्य रूप से यह सवर सभी औपग्रहिक उपधियों के लिए है।

पहले आठ सवर भाव-संवर हैं और शेष दो सवर द्रव्य-सवर हैं। राग-द्वेष से दूर रह कर ही यतना एवं विवेक सुरक्षित रह सकता है। यतना मे सवर है। संवर ही जीव को मोक्ष-प्राप्ति के योग्य बनाता है।

संवर से विपरीत अर्थात् कर्मो के आगमन-मार्ग को खुला रखना असंवर है। इस के भी सवर की तरह दस भेद हैं। बेलगाम घोड़ों की तरह, निरंकुश हाथी की तरह इन्द्रियों को खुला छोड़ने से, मन निग्रह न करने से, वाणी को नियत्रित न रखने से, काय को वश में न रखने से और औघिक तथा औपग्रहिक उपकरणो को यतना पूर्वक न रखने से असवर जागृत होता है और असंवर से आत्मा का पतन होता है।

लोक-व्यवहार मे भी असवर निन्दनीय है। सवर लोकमान्य धर्म है और असंवर अधर्म है। अत: प्रत्येक साधक को संयम और संवर की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

इनका पालन करना ही चारित्र है। चारित्र नए कर्मों को रोकता है और पूर्व बद्ध कर्मो को क्षय करता है।

यद्यपि सवर एव संयम की ग्राह्यता एवं उपयोगिता से ही असंवर और असयम की अग्राह्यता ध्वनित हो जाती है, फिर भी शास्त्रकार ने असयम और असवर का उल्लेख करके इनसे बचे रहने की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है।

अहंकारोत्पत्ति के कारण

मूल—दसहिं ठाणेहिं अहमंतीइ थंभिज्जा, तं जहा—जाइमएण वा, कुलमएण वा जाव इस्सरियमएण वा, णागसुवन्ना वा मे अंतियं हव्वमागच्छंति, पुरिसधम्माओ वा मे उत्तरिए अहोहिए णाणदंसणे समुप्पन्ने ॥७॥

छाया—दशभि: स्थानैरहमन्तीति स्तभ्नीयात्, तद्यथा—जातिमदेन वा, कुलमदेन वा यावदैश्वर्यमदेन वा, नागसुपर्णा वा मे अन्तिकं शीघ्रमागच्छन्ति, पुरुषधर्माद्वा मे औत्तरिकमवधिज्ञानदर्शनं समुत्पन्नम्।

शब्दार्थ—दसहिं ठाणेहिं—दस कारणों से, **अहमंतीइ थंभिज्जा, तं जहा**—कोई भी

व्यक्ति "मैं सर्वाधिक हूं", इस प्रकार के अहंकार से ग्रस्त हो जाता है जैसे, **जाइमएण वा**—जातिमद के कारण, **कुलमएण वा**—कुलमद के कारण, **जाव इस्सरियमएण वा**—यावत् ऐश्वर्यमद से, **णागसुवन्ना वा मे अंतियं हव्वमागच्छंति**—मेरे पास नागकुमार तथा सुपर्णकुमार देव शीघ्र उपस्थित होते है, **पुरिसधम्माओ वा**—ज्ञान पुरुषधर्म है अत:, **मे उत्तरिए**—मुझे उस से प्रधान, **णाणदंसणे समुप्पन्ने**—अवधिज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो रहा है, इस कारण उस ज्ञानदर्शन की दृष्टि से मै सब से बढ़-चढ़ कर हू।

मूलार्थ—दश कारणों से अहंभाव की उत्पत्ति होती है, यथा—जातिमद से, कुल मद से लेकर ऐश्वर्य मद तक आठ कारणों से, नागकुमार तथा सुपर्णकुमार देव मेरे पास आते हैं, इस अभिमान से। ज्ञान तो पुरुषमात्र को है, परन्तु मुझे सब से अधिक अवधिज्ञान तथा दर्शन उत्पन्न हो रहा है, इस से भी अहंभाव उत्पन्न होता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र के अन्तिमांश में असंवर का वर्णन किया गया है, अहंकार करना भी असवर है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे अहंकार उत्पन्न होने के दस कारण बतलाए गए हैं। जैसे कि—जाति-मद से अहंकार होता है, कुल-मद से अहंकार होता है, बल-मद से भी अहकार होता है, रूप-मद से अहकार होता है, श्रुत-मद से अहंकार होता है, तप-मद से अहंकार होता है, लाभ-मद से अहकार होता है और ऐश्वर्य-मद से भी अहंकार होता है। इन आठ मद-स्थानो की व्याख्या आठवे स्थान मे की जा चुकी है।

मै कितना सौभाग्यशाली हू कि मेरे पास नागकुमार तथा सुपर्ण कुमार जाति आदि के देव भी दर्शनार्थ आते हैं, और वे मेरी सेवा करते रहते है। इस भाव से भी अहकार की उत्पत्ति होती है।

छद्मस्थ अवस्था में जितना ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होना चाहिए उतना मुझ में उत्पन्न हो ही चुका है, इतना बडा-ज्ञान दर्शन मेरे समकालीन अन्य किसी व्यक्ति को प्राप्त नहीं हुआ, जितना कि मुझे हुआ है। इस मद-भावना से भी अहकार हो जाता है।

सूत्रकार ने जो 'अहमंतीइ' पद दिया है यह तीन शब्दों से बना है। इस का पदच्छेद है—अहम्-अन्ता-इति। इसका अर्थ है—जाति आदि मे जिस को उत्कृष्ट अहंभाव हो—मै अन्य की अपेक्षा अतिशय वाला हू।[१]

'अन्त' शब्द का अर्थ जाति आदि का प्रकर्ष है। यह प्रकर्ष जिस में होता है, वह अन्ती है। मै ही अन्ती हूं अर्थात् जाति आदि से उत्तम हू। ऐसे अभिमानी को "अहमन्ती" कहते

---

१ "अहमती" ति अह अता इति अन्तो-जात्यादिप्रकर्षपर्यन्तोऽस्यऽस्तीति—अन्त., अहमैव जात्यादिभिरुत्तमतया पर्यन्तवर्ती, अथवाऽनुस्वारप्राकृततयेति—अह अति.—अतिशयवानिति एव विधोल्लेखेन। —इतिवृत्तिकार·।

है। अहमन्ती जीव उक्त दस कारणों से होता है। वैभव या प्रभुता का मद करना ऐश्वर्यमद है।

इस जन्म में जिस बात का अहंकार किया जाता है, आगामी जन्म में वह प्राणी उस बात से हीनता को प्राप्त होता है, अत: आत्मार्थी को किसी प्रकार का मद नहीं करना चाहिए। जाति व कुल-मद से सूत्रकार ने जीवों को ऊंच या नीच होने का निषेध किया है। भगवान ने समभाव का उपदेश दिया है। आत्मा न ऊंच है और न नीच है और सभी सांसारिक पदार्थ नाशवान् हैं फिर नाशवान् पदार्थों के ऊपर अहंभाव कैसा? अभिमान ही पतन का कारण है। अहभाव आत्मा में कठोरता पैदा करता है, उसे हटाने पर ही जीव विनयशील बनता है।

समाधि और असमाधि के कारण

मूल—दसविहा समाही पण्णत्ता, तं जहा—पाणाइवायवेरमणे, मुसावायवेरमणे, अदिन्नादानवेरमणे, मेहुणवेरमणे, परिग्गहवेरमणे, ईरियासमिई, भासासमिई, एसणासमिई, आयाण-भंड-मत्त-णिक्खेवणा-समिई, उच्चारपासवण-खेल-जल-सिंघाणग-परिट्ठावणियासमिई।

दसविहा असमाही पण्णत्ता, तं जहा—पाणाइवाए जाव परिग्गहे, ईरियासमिई जाव उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाणग-परिट्ठावणिया-ऽसमिई ॥८॥

छाया—दशविध: समाधि: प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्राणातिपातविरमणं, मृषावाद-विरमणं, अदत्तादान-विरमणं, मैथुन-विरमणं, परिग्रह-विरमणं, ईर्यासमिति:, भाषासमिति:, एषणासमिति:, आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणा-समिति:, उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्म-जल्ल-शिंघानकपरिष्ठापनिकासमिति:।

दशविधोऽसमाधि: प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्राणातिपातो यावत् परिग्रह: ईर्याऽसमितिर्यावद् उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्म-शिंघानक-परिष्ठापनिकाऽसमिति:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस प्रकार की समाधि का वर्णन किया गया है, जैसे कि—प्राणातिपात-विरमण, मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुन-विरमण, परिग्रह-विरमण, ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान- भाण्ड-मात्र- निक्षेपणा-समिति, उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्म-जल्ल-शिंघाण-परिष्ठापनिका-समिति।

असमाधि दस प्रकार की वर्णन की गई है, प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक

पांच प्रकार की असमाधि और ईर्या-असमिति से लेकर उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्म-शिंघानक-परिष्ठापनिका-असमिति तक पांच प्रकार की असमाधि।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अहंकारोत्पत्ति के कारणों का वर्णन किया गया है, उन कारणों के परित्याग से ही समाधि प्राप्त हो सकती है।

अत: प्रस्तुत सूत्र में दस प्रकार की समाधि का वर्णन किया गया है। समता में रहना ही समाधि है। यह योगसाधना का वह चरम फल है जिससे मनुष्य सब क्लेशों से मुक्त होकर अनेक प्रकार की शक्तियां प्राप्त करता है, ध्यान में दृढता प्राप्त कर आत्मा में तल्लीन होता है। मानसिक झगड़ों का अंत कर अपूर्व आनन्द में मग्न होता है और साथ ही शारीरिक नैरोग्य भी पाता है। समाधि दस कारणो से जीव को प्राप्त होती है अथवा दस प्रकार की समाधि होती है, जैसे कि—

१. **प्राणातिपात-विरमण**—किसी भी प्राणी के प्राणों का वध न करना। इस महाव्रत से समभाव की साधना सम्पन्न होती है।

२. **मृषावाद-विरमण**—असत्य भाषण एवं असत्य व्यवहार का सर्वथा परित्याग करना। इस महाव्रत से पदार्थो के यथार्थ स्वरूप को जानने की शक्ति प्राप्त होती है।

३. **अदत्तादान-विरमण**—बिना दी हुई वस्तु को किसी भी रूप में ग्रहण न करना। इस महाव्रत से चोरी का त्याग, मर्यादित क्षेत्र मे रहने की शिक्षा और समाज-हित की भावना जागृत होती है।

४. **मैथुन-विरमण**—मैथुन का सर्वथा त्याग करना। इस महाव्रत में शिक्षा दी गई है कि शारीरिक, वाचिक एवं आध्यात्मिक शक्ति के विकास मे मुख्य साधन ब्रह्मचर्य ही है और ब्रह्मचर्य से मानसिक एव शारीरिक दृढता प्राप्त होती है।

५. **परिग्रह-विरमण**—किसी भी जड-चेतन पर आसक्ति न रखना। इस महाव्रत से शिक्षा प्राप्त होती है कि सासारिक पदार्थो से अनासक्त रहना चाहिए, क्योंकि आसक्ति ही सब पापों की जननी है।

६. **ईर्यासमिति**—ज्ञान एव विवेक पूर्वक गमन-क्रिया में प्रवृत्ति करना। इस में स्व-पर की रक्षा निहित है।

७. **भाषा-समिति**—मानसिक शान्ति, सामाजिक एवं पारिवारिक शान्ति भंग करने वाली भाषा न बोलना। इससे शास्त्र-सम्मत एवं सत्यपूत वचन बोलने की प्रवृत्ति जागृत होती है।

८. **एषणा-समिति**—शुद्ध, सादे एवं निर्दोष आहार की गवेषणा करना। इससे महाव्रतो की रक्षा करते हुए शरीर की रक्षा करने की तथा वृत्ति-संक्षेप तप और सतोष रखने की पवित्र भावना जागृत होती है।

९. **आदान-भांडमात्र-निक्षेपणासमिति**—धर्मोपकरणों को यतना से उठाना और रखना।

१०. **उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्म-जल्ल-शिंघाण-परिष्ठापनिका-समिति**—मल-त्याग, मूत्रत्याग, खखार तथा कफ आदि शारीरिक मलो को शास्त्रोक्त रीति से एकान्त मे त्यागना, घृणास्पद वस्तुओं को जहा-तहां फैंकना, थूकना, सिनकना धर्मविरुद्ध और लोक-विरुद्ध-व्यवहार है। इस समिति से शिक्षा मिलती है कि धर्मविरुद्ध और लोक-व्यवहार-विरुद्ध कोई भी कार्य साधक को नहीं करना चाहिए।

योगनिष्ठा और आत्म-समाधि के इच्छुक की समाधि एवं शान्ति तभी तक स्थिर रह सकती है, जब तक कि उक्त दस बातों का पालन सम्यक्तया किया जाए। समाधिस्थ रहना ही मुमुक्षु का परम कर्त्तव्य है। उसे आत्म-समाधि को सुरक्षित रखने के लिए सतत अप्रमत्त रहना चाहिए। ये दस शिक्षाए प्रत्येक व्यक्ति के लिए हितकर हैं।

हिंसा करने से, झूठ बोलने से, चोरी करने से, दुराचार करने से, आसक्ति रखने से, बिना देखे चलने से, बिना विचारे बोलने से, सदोष आहार ग्रहण करने से, बिना यतना के किसी भी छोटी-बडी वस्तु को उठाने एव रखने से, मल-मूत्र आदि घृणाजनक वस्तुओं को जहां-तहा फैकने से, स्व-पर मे असमाधि उत्पन्न होती है। ये सब असमाधि उत्पन्न होने के कारण है। साधको के लिए यही उचित है कि वे असमाधि के कारणो को छोड़कर समाधि के कारणो को अपनाएं, तभी उनकी साधना कल्याणकारिणी हो सकती है। संसार के अभिमुख प्राणी प्राय: असमाधि के कारणो मे समाधि की खोज किया करते है, इसीलिए वे सुख-शान्ति पाने में सदैव असफल ही रहते है। भगवान महावीर का कथन है कि समाधिस्थ रहकर ही जीव को सादि-अनन्त समाधि प्राप्त हो सकती है।

प्रव्रज्या, श्रमणधर्म और वैयावृत्य

मूल—दसविहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—

छंदा रोसा परिज्जुन्ना, सुविणा पडिस्सुया चेव।

सारणिया रोगिणीया, अणाढिया देवसन्नत्ती वच्छाणुबंधिया॥

दसविहे समण-धम्मे पण्णत्ते, तं जहा—खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे।

दसविहे वेयावच्चे पण्णत्ते, तं जहा—आयरिय-वेयावच्चे, उवज्झाय-वेयावच्चे, थेर-वेयावच्चे, तवस्सि-वेयावच्चे, गिलाण-वेयावच्चे, सेह-वेयावच्चे, कुल-वेयावच्चे, गण-वेयावच्चे, संघ-वेयावच्चे, साहम्मिय-वेयावच्चे॥१॥

छाया—दशविधा प्रव्रज्या प्रज्ञप्ता, तद्यथा—

छन्दा रोषा परिद्यूना, स्वप्ना प्रतिश्रुता चैव।

स्मारणिका रोगिणिका, अनादृता देवसंज्ञप्तिः वत्सानुबन्धिका॥

दशविधः श्रमणधर्म्मः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—क्षान्तिः, मुक्तिः, आर्जवं, मार्दवं, लाघवं, सत्यं, संयमः, तपः, त्यागः, ब्रह्मचर्यवासः।

दशविधं वैयावृत्यं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आचार्य-वैयावृत्यम्, उपाध्याय-वैयावृत्यम्, स्थविर-वैयावृत्यम्, तपस्वि-वैयावृत्यम्, ग्लानवैयावृत्यम्, शैक्षवैयावृत्यम्, कुलवैयावृत्यम्, गणवैयावृत्यम्, संघवैयावृत्यम्, साधर्मिकवैयावृत्यम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस प्रकार की प्रव्रज्या प्रतिपादन की गई है, जैसे—स्वकीय अभिप्राय से, यथा श्री गौतम स्वामी जी। रोष से, जैसे—शिवभूति। दारिद्र्य से, यथा—काष्ठकवाहक। स्वप्न से, यथा—पुष्पचूला। प्रतिज्ञा से, यथा—शालिभद्र के भगिनी-पति। स्मरण कराने से, यथा—मल्लीनाथ जी ने छह मित्रो को पूर्व जन्म का स्मरण कराया। रोग से, यथा—सनत्कुमार चक्रवर्ती। अनादर से, यथा—नन्दिषेण। देवो के प्रतिबोध से, यथा—मैतार्य मुनि। पुत्र के स्नेह से, यथा—भृगुपुरोहित।

दश प्रकार का श्रमण धर्म वर्णन किया गया है, यथा—क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, दान, ब्रह्मचर्यवास।

दश प्रकार का वैयावृत्य वर्णन किया गया है, यथा—आचार्य-वैयावृत्य, उपाध्याय-वैयावृत्य, स्थविर--वैयावृत्य तपस्वी-वैयावृत्य, रोगी--वैयावृत्य, शैक्ष-वैयावृत्य, कुल-वैयावृत्य, गण-वैयावृत्य, संघ-वैयावृत्य, साधर्मिक-वैयावृत्य।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में समाधि का वर्णन किया गया है। उस समाधि का आश्रय सुप्रव्रज्या है और असमाधि का आश्रय दुष्प्रव्रज्या है। प्रव्रज्या का अर्थ है—गृहवास का परित्याग कर संयम-मार्ग में गमन करना। प्रव्रज्या, दीक्षा का पर्यायवाची शब्द है। प्रव्रज्या आत्म-विकास में मुख्य साधन है, उस साधन की प्राप्ति में दस कारण उपस्थित होते हैं। जब कोई व्यक्ति दीक्षित होता है, तब वह निम्नलिखित दस कारणो में से किसी एक कारण से ही दीक्षित हुआ करता है, जैसे कि—

१. छन्द—अपनी इच्छा से या दूसरे की इच्छा से दीक्षित होना। जैसे जम्बूस्वामी ने अपनी इच्छा से प्रव्रज्या ग्रहण की थी और भवदत्त ने अपने बड़े भाई की इच्छा से दीक्षित जीवन स्वीकार किया था।

२. रोष—यदि किसी कारण से घर में कलह उत्पन्न हो गया हो, तो रोष भी दीक्षा का एक कारण हो जाता है, जैसे शिवभूति ने रोष के कारण दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

३. **परिद्यून**—अर्थात् दरिद्रता से। परिश्रम करने पर भी यदि धन की प्राप्ति नहीं होती है तो उस समय सम्यक् विचार होने पर दीक्षा भी ग्रहण की जा सकती है। जैसे कि एक लक्कड़हारे ने निर्धनता के वशीभूत होकर प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

४. **स्वप्न**—स्वप्न में कोई ऐसा कारण देखा या सुना जाए, जिस से वैराग्य उत्पन्न हो जाए या स्वप्न में दीक्षा लेना। पुष्पचूला ने स्वप्न निमित्त से ही दीक्षा ग्रहण की थी।

५. **प्रतिश्रुत**—आवेश में आकर या प्रतिज्ञा ग्रहण कर दीक्षा लेना, जैसे कि शालीभद्र के बहनोई धन्ना सेठ ने दीक्षा ली थी।

६. **स्मारणिका**—पूर्व भव की बात याद दिलाने से या जाति-स्मरण ज्ञान होने से भी अनेक भव्य जीवों का दीक्षा लेना, जैसे कि भगवान मल्लिनाथ के द्वारा पूर्वभव का स्मरण कराने पर प्रतिबुद्धि आदि छह राजाओ ने दीक्षा ली और भगवान महावीर ने सुदर्शन श्रेष्ठी को दीक्षित किया।

७. **रोगणिका**—रोग के कारण ससार से विरक्ति धारण कर दीक्षा लेना, जैसे सनत्कुमार चक्रवर्ती ने दीक्षा ली।

८ **अनादर**—किसी के द्वारा तिरस्कृत होने पर ली गई दीक्षा, जैसे नन्दिषेण ने दीक्षा ली।

९. **देव-संज्ञप्ति**—देव के द्वारा प्रतिबोध देने पर ली गई दीक्षा, जैसे तेतली प्रधान मंत्री ने दीक्षा ली।

१०. **वत्सानुबंधिका**—पुत्र के स्नेह से दीक्षित होना, जैसे भृगु पुरोहित ने तथा वयर स्वामी की माता ने प्रव्रज्या ग्रहण की।

ये दस कारण दीक्षा ग्रहण करने के बताए गए है। यदि लघुकर्मा जीव होगा, तो उसको इन मे से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर दीक्षा की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नही। जो कार्य सिद्धि मे असाधारण कारण हो तथा जो कार्य-सिद्धि के अत्यन्त निकट हो, वही निमित्त कहलाता है। जमे हुए घी को पिघलाने में उष्णता निमित्त है, किन्तु पत्थर के लिए वह निमित्त नही है। इसी तरह जिस जीव की भूमिका संयम लेने की हो, उसी के लिए उक्त दस निमित्त प्रव्रज्या ग्रहण करने के है।

श्रमण-धर्म—

प्रव्रज्या शब्द का अर्थ है श्रमण-धर्म की ओर गमन करना। श्रमण धर्म दस प्रकार का होता है। श्रमणत्व की आराधना किए बिना चारित्र निखरता नही है, चारित्र-शुद्धि के बिना आत्म-शुद्धि नहीं होती और आत्म-शुद्धि के बिना निर्वाण-प्राप्ति नहीं हो सकती। अत: श्रमण-धर्म के दस भेदों का विवरण इस प्रकार है—

१. **क्षान्ति**—क्रोध पर विजय पाना, क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी शान्ति को

भंग न होने देना।

२. **मुक्ति**—भौतिक वस्तुओं पर बिल्कुल भी आसक्ति न रखना अर्थात् संतोष धारण करना।

३. **आर्जव**—कपट रहित होना, प्रतिक्षण अपनो और परायों से निष्कपटता का व्यवहार करना।

४. **मार्दव**—अभिमान पर विजय पाना। मान उत्पन्न होने के कारण उपस्थित होते हुए भी अहंकार न करना, विनम्र एव विनीत बनकर रहना।

५ **लाघव**—कर्मो के भार से तथा दोषो के भार से या परिग्रह के भार से हल्का होना।

६. **सत्य**—हितकारी एवं मधुर वचन बोलना।

७. **संयम**—पाच इन्द्रियो का दमन करना, चार कषायों पर विजय पाना, योग प्रवृत्तियो पर अकुश रखना, पांच महाव्रतों का पालन करना, ये सब सयम के ही प्रकार हैं।

८. **तप**—इच्छाओं का निरोध करना, कष्टों को सहन करना।

९. **त्याग**—सुपात्र को दान देना। अथवा किसी वस्तु पर से अपना स्वत्व हटा लेना।

१० **ब्रह्मचर्यवास**—नववाड सहित ब्रह्मचर्य का पालन करना।

ये दस लक्षण धर्म के माने जाते है। जैनेतर संप्रदायो मे भी धर्म के दस लक्षण बतलाए गए है। धर्म के दस भेदो का सभी सप्रदायो ने बडे आदर से स्वागत किया है।

सेवनीय महापुरुष और वैयावृत्य

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान अर्थात् रोगग्रस्त, नवदीक्षित, कुल, गण, सघ और साधर्मिक, इन की सेवा करना ही वैयावृत्य है। वैयावृत्य का अर्थ है—संयम के अनुरूप सेवा, अन्न-पान, वस्त्र, औषध शिक्षा आदि से उपास्य की सुश्रूषा करना। वैयावृत्य मवर और निर्जरा का कारण है तथा पुण्य का भी।

उक्त दस जनों की सेवा करते हुए मनुष्य को यदि उत्कृष्ट रस आ जाए तो तीर्थकर नाम गोत्र का बंध भी हो सकता है। उपर्युक्त दस प्रकार के धर्म का पालन करने पर तो कोई व्यक्ति तीर्थंकर-नाम-गोत्र का बंध करे या न भी करे, किन्तु वैयावृत्य परायण सेवक तीर्थकर नाम-गोत्र का बध भी कर सकता है। सेव्य महान हो या लघु, किन्तु सेवक भी कभी-कभी महान बनने मे बाजी जीत लेता है।

जीव और अजीव परिणाम

मूल—दसविहे जीवपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा—गइपरिणामे, इंदिय-परिणामे, कसायपरिणामे, लेसापरिणामे, जोगपरिणामे, उवओगपरिणामे, णाणपरिणामे, दंसणपरिणामे, चरित्तपरिणामे, वेयपरिणामे।

दसविहे अजीवपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा—बंधणपरिणामे, गइपरिणामे, संठाणपरिणामे, भेदपरिणामे, वण्णपरिणामे, रसपरिणामे, गंधपरिणामे, फासपरिणामे, अगुरुलहुपरिणामे, सद्दपरिणामे ॥१०॥

छाया—दशविधो जीवपरिणामः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—गतिपरिणामः, इन्द्रियपरिणामः, कषायपरिणामः, लेश्यापरिणामः, योगपरिणामः, उपयोगपरिणामः, ज्ञानपरिणामः, दर्शनपरिणामः, चारित्रपरिणामः, वेदपरिणामः।

दशविधोऽजीवपरिणामः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—बन्धनपरिणामः, गतिपरिणामः, संस्थानपरिणामः, भेदपरिणामः, वर्णपरिणामः, रसपरिणामः, गन्धपरिणामः, स्पर्शपरिणामः, अगुरुलघुपरिणामः, शब्दपरिणामः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जीव-परिणाम दस प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे कि गति-परिणाम, इन्द्रिय-परिणाम, कषाय-परिणाम, लेश्या-परिणाम, योग-परिणाम, उपयोग-परिणाम, ज्ञान-परिणाम, दर्शन-परिणाम, चारित्र-परिणाम और वेद-परिणाम।

दश प्रकार का अजीव परिणाम कथन किया गया है, जैसे—बन्धन-परिणाम, गति-परिणाम, संस्थान-परिणाम, भेद-परिणाम, वर्ण-परिणाम, रस-परिणाम, गन्ध-परिणाम, स्पर्श-परिणाम, अगुरुलघु-परिणाम और शब्द-परिणाम।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे वैयावृत्य का वर्णन किया गया है। वैयावृत्य भी जीव का एक योग परिणाम है। अतः प्रस्तुत सूत्र में जीव के दस प्रकार के परिणामो का वर्णन किया गया है। एक रूप को छोड कर दूसरे रूप मे परिवर्तित हो जाना अथवा विद्यमान पर्याय को छोड कर नवीन पर्याय को धारण कर लेना परिणाम कहलाता है।[1]

द्रव्यार्थिकनय[2] से सभी पदार्थ नित्य एवं ध्रुव हैं, किन्तु पर्यायार्थिक नय से सभी पदार्थ अनित्य एव अध्रुव हैं, क्योकि उन में उत्पाद और व्यय का क्रम निरन्तर चलता ही रहता है। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि सदैव ध्रुव की ओर रहती है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि उत्पाद और व्यय की ओर केन्द्रित रहती है। इस की दृष्टि मे ऐसा कोई पदार्थ नही है, जिस में उत्पाद और व्यय न होते हों।

पर्याय दो तरह की होती है—द्रव्यपर्याय और भावपर्याय। इन मे भावपर्याय के भी दो

---

१ ''परिणामे'' त्यादि परिणमन परिणामस्तद्भावगमनमित्यर्थः, यदाह—

परिणामो ह्यर्थान्तरगमन न च मर्वथा व्यवस्थानम्।
न च मर्वथा विनाश परिणामस्तद्विदामिष्ट.॥

२. द्रव्यार्थनयस्येति—

मत्पर्ययेण नाश. प्रादुर्भावऽमता च पर्ययत.।
द्रव्याणा परिणाम प्रोक्त खलु पर्ययनयस्य॥

भेद है—विभावपर्याय और स्वभावपर्याय।

संसारी जीवों में दस परिणाम पाए जाते हैं, जिन के नाम मूलार्थ में दिए जा चुके हैं। उन की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

१. **गतिपरिणाम**—जीव को किसी भी गति की प्राप्ति का होना गतिपरिणाम है। गति चार प्रकार की है—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। गति नामकर्म के उदय से जीव जब जिस गति में होता है, तब वह उसी नाम से कहा जाता है, जैसे नरकगति का जीव नारक। गतिपरिणाम भी जीव की द्रव्यपर्याय है।

२. **इन्द्रियपरिणाम**—जीव जिस गति मे रहा हुआ है, उसे श्रोत्रेन्द्रिय आदि पांच इन्द्रियो मे से किसी भी इन्द्रिय की प्राप्ति का होना इन्द्रिय-परिणाम है।

३. **कषायपरिणाम**—इन्द्रियो की प्राप्ति होने पर ही कषायों की परिणति होती है। क्रोध मे, मान में, माया में या लोभ मे परिणमन होना कषायपरिणाम है। ससारी जीव इन चार कषायों मे से किसी न किसी कषाय मे रह कर ही अपना जीवन-व्यवहार चलाता है।

४. **लेश्यापरिणाम**—कषायपरिणाम होने पर लेश्या का होना अवश्यंभावी है, किन्तु लेश्या के होने पर कषाय का होना अवश्यभावी नहीं है। क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीव के साथ शुक्ललेश्या उत्कृष्ट नौ वर्ष कम एक करोड पूर्व तक रह सकती है। कहा भी है—

''मुहुत्तद्धं तु जहन्ना उक्कोसा होइ पुव्व कोडीओ।
नवहिं वरिसेहिं ऊणा नायव्वा सुक्कलेसाए॥''

कषायों के सद्भाव में लेश्या की नियमा है और लेश्या के सद्भाव मे कषाय की भजना है। लेश्याएं ६ हैं, जैसे कि—कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ललेश्या। जीव इन छः लेश्याओं में से किसी एक में अवश्य रहता है, ससार मे रहता हुआ जीव कभी भी लेश्या रहित नहीं हो सकता।

५. **योग-परिणाम**—लेश्या सयोगी मे होती है। योग के बिना लेश्या भी नहीं होती। जहां तक लेश्या है, वहां तक योग है। मन-वचन और काया के व्यापार को ही योग कहते हैं। योग का निरोध होने पर लेश्या का भी अवसान हो जाता है। ससारी जीव किसी न किसी योग मे अवश्य बर्तता है। सुषुप्तिकाल मे भी काय-योग बन्द नहीं होता, बराबर चलता ही रहता है। बाटे वहते जीव मे भी कार्मण काय योग होता है।

६. **उपयोग-परिणाम**—संसारी प्राणियो के योग होने पर ही उपयोग होता है। अत: योग-परिणाम के बाद ही उपयोग-परिणाम हुआ करता है। साकार और अनाकार के भेद से उपयोग दो तरह का होता है। पाच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन, इन में से पहले के आठ भेद साकार उपयोग के है और पीछे के चार भेद अनाकार उपयोग के हैं। इनमे जीव की परिणति का होना उपयोग-परिणाम है।

७. ज्ञान-परिणाम—उपयोग परिणाम होने पर ही ज्ञान-परिणाम होता है। मति, श्रुत, अवधि-ज्ञान, मन:पर्यव-ज्ञान और केवलज्ञान इनमें जीव की परिणति का होना ज्ञान-परिणाम है।

८. दर्शन-परिणाम—चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधि-दर्शन और केवल-दर्शन, इन में से किसी एक में जिसका उपयोग का लगना, अथवा दर्शन के तीन भेद हैं—सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन, और मिश्रदर्शन इनमे से किसी एक में जीव की परिणति का होना दर्शन-परिणाम है।

९. चारित्र-परिणाम—सम्यग्दर्शन के पश्चात् चारित्र होता है। चारित्र के पांच भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-सपराय और यथाख्यात। इन पांच चारित्रो में से जीव का किसी भी चारित्र में परिणत होना चारित्र-परिणाम है।

१०. वेद-परिणाम—काम-वासना को वेद कहते हैं। वह तीन प्रकार के व्यक्तियों में पाया जाता है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद में। जहां वेद है, वहा चारित्र की भजना है, किन्तु अवेदी में चारित्र की नियमा है। यह कथन पहले से लेकर आठवें गुणस्थानवर्त्ती जीवों की अपेक्षा से किया गया है।

अजीव परिणाम

जिस प्रकार जीव के दस परिणाम बताए गए हैं, वैसे ही अजीव के भी दस परिणाम होते हैं। जीव-रहित पदार्थो के परिवर्तन से होने वाली उन की विविध अवस्थाओ को अजीव-परिणाम कहते हैं। परिणमन से ही द्रव्य परिणामी कहलाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अपरिणामी अर्थात् पर्याय-रहित कोई भी द्रव्य नही है। अजीव परिणाम के दस भेद इस प्रकार है, जैसे कि—

१. बंधन-परिणाम—विभिन्न पुद्‌गलो का परस्पर सम्बन्ध हो जाना ही बंधन-परिणाम है। स्निग्ध और रूक्ष स्कन्धो का बध तो होता ही है। स्निग्ध और स्निग्ध का भी बध होता है तथा रूक्ष और रूक्ष का बध भी होता है, किन्तु इतना स्मरण रहे कि एक गुण वाले स्निग्ध और एक गुण वाले रूक्ष को छोड़कर शेष समान गुण वाले या विषम गुण वाले स्निग्ध तथा रूक्ष का परस्पर सजातीय एवं विजातीय बध हो जाता है। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ बंध सजातीय कहलाता है। स्निग्ध का रूक्ष के साथ बध होना विजातीय या विसदृश बध कहलाता है। सजातीय बंध भी जघन्य गुणो की समानता होने पर नहीं होता है। विषमता में सजातीय बध होता है। तात्पर्य यह है कि यदि गुणों की विषमता हो तो विसदृश पुद्‌गलो का बंध होता है।[१]

---

१ समनिद्धयाए बंधो न होइ, समलुक्खयाए वि न होइ।
वेमाय निद्धलुक्खत्तणेण, बधो उ खधाण।।
निद्धस्स निद्धेण दुयाहिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिए ण।
निद्धस्स लुक्खेण उवेइ, बध जहन्न वज्जो विसमो समो वा।। —इति भाष्यकार:।

२. **गति-परिणाम**—अजीव द्रव्यों में पुद्गल ही गति करता है। इसकी गति दो प्रकार की होती है—स्पृशद्गति और अस्पृशद्गति। जो पुद्गल किसी दूसरे को स्पर्श करता हुआ गति करता है, वह स्पृशद्गति कहलाता है यथा प्रयत्न-विशेष से पानी के ऊपर तिरछी फैंकी हुई ठीकरी बीच में रहे हुए पानी का स्पर्श करती हुई बहुत दूर तक नीचे चली जाती है, इसे स्पृशद्गति परिणाम कहते हैं। मध्य में रहे हुए पदार्थों को बिना स्पर्श किए जो पुद्गल की गति होती है, वह अस्पृशद्गति-परिणाम कहलाता है, जैसे गगन-चुंबी महल के ऊपर से फैंका हुआ पत्थर बीच मे दूसरे पदार्थ को बिना स्पर्श किए एकदम नीचे पहुच जाता है। ये दो प्रकार के गति परिणाम होते हैं। अथवा दीर्घगति और ह्रस्वगति। इस प्रकार गति के अनेक भेद गति-परिणाम के बन जाते है।

३. **संस्थान-परिणाम**—पुद्गल का कोई न कोई आकार होता है। आकार-प्रकार अनन्त होते हुए भी उन सबका समावेश पाच सस्थानों मे हो जाता है। परिमडल, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण और आयत, ये पाच सस्थान है। प्रत्येक सस्थान के अनेक-अनेक भेद हैं। परमाणु का कोई सस्थान नही है, किन्तु द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध तक उपर्युक्त पांच मे से वे किसी एक संस्थान को अवश्य लिए हुए हैं।

४. **भेद-परिणाम**—पदार्थो मे भेद का होना भेद परिणाम कहलाता है। इसके पांच भेद हैं, जैसे कि खण्ड- भेद, अनुतट- भेद, प्रतर- भेद, चूर्ण-भेद, उत्करिका-भेद। घड़े के फूट जाने पर जैसे घडा खंड-खंड हो जाता है, वह खंड-भेद है। बांस के अन्दर एक पोर से दूसरे पोर तक का हिस्सा अनुतट भेद कहलाता है। एक तह के बाद दूसरी तह का होना, प्रतरभेद है, जैसे अभ्रक में। किसी वस्तु के पिस जाने पर चूर्ण भेद बनता है, जैसे आटा-मैदा आदि। किसी वस्तु के छीलने या कुरेदने पर जो भेद होता है, वह उत्करिका कहलाता है, जैसे लकड़ी में मीनाकारी। इस प्रकार के भेद होने को भेद-परिणाम कहते हैं।

५. **वर्ण-परिणाम**—काला, नीला, लाल, पीला और सफेद, ये पांच वर्ण हैं। एक रंग का दूसरे रग में बदलना वर्ण-परिणाम है। जैसे हल्दी पीली है और चूना सफेद है, दोनों लाल रग के रूप में परिणत हो जाते है, इसको वर्ण-परिणाम कहते है।

६. **गन्ध-परिणाम**—गन्ध दो प्रकार का है, सुगंध और दुर्गन्ध। सुगध का दुर्गन्ध के रूप मे और दुर्गन्ध का सुगन्ध के रूप में परिणत होना गन्ध-परिणाम है।

७. **रस-परिणाम**—तीखा, कड़वा, कसैला, खट्टा और मीठा, इस तरह मूल रस के पांच भेद हैं। एक रस का दूसरे रस के रूप मे परिणत होना रस-परिणाम है।

८. **स्पर्श-परिणाम**—स्पर्श आठ प्रकार का होता है—कर्कश, मृदु, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, उष्ण और शीत। एक स्पर्श का दूसरे स्पर्श के रूप में परिणमन होना स्पर्श-परिणाम है।

९. **अगुरु-लघु परिणाम**—जो न इतना भारी हो कि नीचे चला जाए, न इतना हल्का

हो कि ऊपर को चला जाए, ऐसा अत्यन्त सूक्ष्म पुद्गल अगुरु-लघु कहलाता है, जैसे परमाणु, भाषा, मन, कर्म इत्यादि सब अगुरुलघु परिणामी हैं। यह वह गुण है जिसके निमित्त से द्रव्य का द्रव्यत्व बना रहता है। जो किसी की अपेक्षा से गुरु हो और किसी की अपेक्षा से लघु हो, उसे गुरु-लघु कहते है, जैसे औदारिक शरीर, वस्त्र-पात्र आदि। इस कथन से सिद्ध होता है कि निश्चय नय के मत से पुद्गल द्रव्य दो प्रकार के हैं—गुरुक और लघुक तथा व्यवहार नय के मत से पुद्गल द्रव्य के चार प्रकार हैं, जैसे कि **गुरुक**—अधोगमन स्वभाव वाला, वज्र आदि। **लघुक**—ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला धूम आदि। **गुरु-कलघुक**—तिर्यग्गमन स्वभाव वाला वायु आदि। **अगुरुलघु**—आकाश आदि।[१]

१०. **शब्द-परिणाम**—पुद्गलो का शब्द के रूप मे परिणत होना शब्द-परिणाम है। इसके तीन भेद है—जीवशब्द, अजीवशब्द और मिश्रशब्द। इनके भी पुन: दो-दो भेद हैं शुभ और अशुभ।

इस प्रकार सूत्रकार ने जीव-परिणाम और अजीव-परिणाम का वर्णन किया है। इसका विस्तृत स्वरूप प्रज्ञापना सूत्र के परिणाम-पद से जानना चाहिए। परिणाम शब्द से यह भली-भान्ति सिद्ध हो जाता है कि द्रव्य ध्रुव होने पर भी पर्याय की दृष्टि से परिवर्तनशील है। जब आत्मा वैभाविक पर्याय से मुक्त होकर स्वाभाविक पर्याय अर्थात् निजस्वरूप में परिणत होता है, तब वही समय उसकी पूर्णता का होता है, अत: आत्मार्थियो को चाहिए कि शुद्ध परिणति के लिए प्रयत्नशील रहे। इसी में आत्म-कल्याण है।

अस्वाध्याय काल

मूल—दसविहे अंतलिक्खिए असज्झाइए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाए, दिसिदाहे, गज्जिए, विज्जुए, निग्घाए, जूयए, जक्खालित्ते, धूमिया, महिया, रयउग्घाए।

दसविहे ओरालिए असज्झाइए पण्णत्ते, तं जहा—अट्ठि, मंसं, सोणिए, असुइसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराए, सूरोवराए, पडणे, रायवुग्गहे, उवसयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे॥११॥

छाया—दशविधमान्तरिक्षकमस्वाध्यायिकं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—उल्कापातः, दिग्दाहः, गर्जितं, विद्युत्, निर्घातः, यूपकं, यक्षादीप्तं, धूमिका, महिका, रज-उद्घातः।

---

१ निच्छयओ सव्वगुरु सव्वलहुं वा न विज्जइ दव्व।
वायरमिह गुरुलहुय, अगुरुलहु सेसय दव्व॥
गुरुय, लहुय, उभय, णोभयमिति वावहारिय नयस्सा।
दव्व लेट्टू१, दीवो२, वाऊ३, वोम४, जहा सख॥

दशविधमौदारिकमस्वाध्यायिकं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अस्थि, मांसं, शोणितं, अशुचि-सामन्तं, चन्द्रोपरागः, सूर्योपरागः, पतनं, राजव्युद्ग्रहः, उपाश्रयस्यान्तम्, औदारिकं शरीरम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दशविध आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय कथन किया गया है, यथा— उल्कापात, दिग्दाह, गर्जित, विद्युत्, निर्घात, यूपक, यक्षादीप्त, धूमिका, महिका, रज-उद्घात।

दश प्रकार का औदारिक से सम्बन्धित अस्वाध्याय है, यथा—अस्थि, मांस, रक्त, अशुचि पदार्थ, श्मशान, चन्द्र ग्रहण, सूर्य ग्रहण, पतन, राजविग्रह-स्थान और उपाश्रय के अन्दर किसी शव के होने पर। उक्त कारणों के होने पर स्वाध्याय वर्जित है।

विवेचनिका—परिणामादि का ज्ञान स्वाध्याय पर निर्भर है और स्वाध्याय वही सफल होता है जो उचित समय पर किया जाता है। स्वाध्याय के लिए कौन-सा समय अनुचित है, अब सूत्रकार इसी जिज्ञासा को शान्त करते हुए कहते है—

स्वाध्याय पांच प्रकार का होता है, जैसे कि वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। इन में मुख्यतया वाचना, परिवर्तना और धर्मकथा की ही अस्वाध्याय जानना चाहिए न कि अर्थ आदि की पृच्छना और अनुप्रेक्षा का। आकाश-सम्बन्धी अर्थात् प्राकृतिक कारणों की दृष्टि से अस्वाध्याय दस प्रकार का वर्णन किया गया है। उसका विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. **उल्कापात**—जब आकाश मे से गिरता हुआ तेजपुंज दिखाई देता है, जिस को लोकभाषा मे तारा टूटना कहते है। उल्कापात होने पर एक प्रहर तक स्वाध्याय करना निषिद्ध है।

२. **दिग्दाह**—दिशाओं में दाह का होना। किसी दिशा मे महानगर जलने की तरह ऊपर प्रकाश और नीचे अन्धकार दिखलाई देता है, वही दिग्दाह कहलाता है। जब तक दिशा में लालिमा रहे तब तक स्वाध्याय करना निषिद्ध है।

३. **गर्जित**—आकाश मे गर्जना का होना। भगवती सूत्र शतक ३, उ० ७ में लिखा है कि "**गहगज्जिए**" इस का अर्थ है—ग्रहो की गति विशेष से होने वाली कड़कडाहट या गर्जना। बादल गर्जने पर दो प्रहर पर्यन्त अस्वाध्याय-काल माना गया है।

४. **विद्युत्**—प्रावृट्काल को छोड़कर जब आकाश मे बिजली चमक रही हो, तब एक प्रहर तक अस्वाध्याय-काल रहता है।

५. **निर्घात**—आकाश में बादलो के होने या न होने पर घोर गर्जना का होना निर्घात

कहलाता है। यह भी स्वाध्याय के लिए वर्जित है।

६ **यूपक**—सन्ध्या की प्रभा का और चन्द्र की प्रभा का जिस काल में सम्मिश्रण हो, उसे यूपक कहते हैं। शुक्लपक्ष की एकम, दूज और तीज की रात को एक-एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. **यक्षादीप्त**—आकाश मे कभी-कभी बिजली के समान चमकता हुआ यक्ष दिखाई देता है अथवा व्यन्तरदेवकृत अग्निदीपन को भी यक्षादीप्त कहते हैं। वह जब तक दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

८. **धूमिका**—इसका अर्थ है—धूए जैसी काली धुन्ध, जिस से अन्धेरा-सा छा जाता है। जब तक धूमिका रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करनी चाहिए।

९. **महिका**—सफेद धुन्ध, तुषार का गिरना। धूमिका और महिका कार्तिक आदि मासो में गिरती है और गिरने के बाद ही सूक्ष्म होने के कारण अप्काय स्वरूप हो जाती है।

१०. **रज-उद्घात**—जब दिशाएं और आकाश धूलि से भरे हुए हों, आधी चल रही हो, रेणु की वर्षा हो रही हो, रेता आकाश में चढा हुआ हो, तब उतनी देर स्वाध्याय नही करनी चाहिए, जब तक कि रजोवृष्टि होती रहे।

इन दस अस्वाध्यायों के समय को छोड़कर ही सूत्र-स्वाध्याय करना चाहिए, क्योंकि इन अस्वाध्याय के समयों में स्वाध्याय करने से कभी-कभी व्यंतरजाति के देव कुछ उपद्रव भी कर देते हैं। अत: अस्वाध्याय में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। निर्घात होने पर एक अहोरात्र तक अस्वाध्याय रहता है।

शास्त्रकार का यह अभिप्राय भी हो सकता है कि उल्कापात आदि के समय मानसिक एव बौद्धिक स्थिरता नहीं रह जाती है और बुद्धि तथा मन के अस्थिर होने पर स्मृति-भ्रश हो जाता है। स्मृति-भ्रंश अवस्था का स्वाध्याय निष्फल ही रहता है।

औदारिक अर्थात् स्थूल शरीर से सबन्धित अस्वाध्याय भी दस प्रकार का होता है, जैसे कि—

१. **अस्थि**—जहां पर हड्डियां पड़ी हो, वहां स्वाध्याय नही करना चाहिए।

२. **मांस**—जहां पर किसी भी जीव के शरीर का मांस पडा हो, वहां पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. **शोणित**—जिस जगह पर रुधिर से भूमि सनी हुई हो, उस स्थान पर भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। यदि ये अशुचि पदार्थ सौ हाथ के भीतर-भीतर हों, तब अस्वाध्याय-काल माना जाता है। यदि उक्त घृणास्पद पदार्थ सौ हाथ से दूर हो, तो अस्वाध्याय-काल नहीं माना जाता।

४. **अशुचिसामंत**—आस-पास मल-मूत्र होने पर भी अस्वाध्याय होता है। जहां तक

अशुचि पदार्थ दृष्टिगोचर होते हों या उनकी दुर्गन्ध आती हो, वहां तक अस्वाध्याय माना जाता है।

५. श्मशान—श्मशान भूमि से १०० हाथ के भीतर किसी स्थान पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

६. चन्द्रग्रहण—ग्रहण काल से ही अस्वाध्याय-काल प्रारम्भ हो जाता है। स्वल्प ग्रहण लगे तो ४ प्रहर, आधे से कुछ अधिक लगे तो ८ प्रहर तथा यदि परिपूर्ण ग्रहण लगे तो १२ प्रहर तक अस्वाध्याय-काल माना जाता है।

७. सूर्यग्रहण—थोड़ा ग्रहण लगे तो ८ प्रहर, अधिक लगे तो १२ प्रहर और परिपूर्ण लगे तो १६ प्रहर का अस्वाध्याय काल माना गया है। चन्द्र और सूर्य तथा राहु का विमान पृथ्वी-कायिक होने से इनकी गिनती औदारिक-सम्बन्धी अस्वाध्याय मे की गई है। चन्द्र का राहु के साथ या सूर्य का राहु के साथ योग मिलने से अस्वाध्याय होता है।

८. पतन—किसी राष्ट्रीय नेता का देहावसान होने पर अस्वाध्याय माना जाता है। जब तक घरों में, बाजारों में तथा कार्यालयो, विद्यालयों एव अदालतो में कार्य बद रहता है, तब तक अस्वाध्याय माना जाता है वातावरण शान्त होने पर ही स्वाध्याय करना चाहिए।

९. राज-विग्रह—जिस देश से जितने समय तक राजा आदि का संग्राम चलता रहे, तब तक अस्वाध्याय रहता है।[१]

१०. शव—जहां किसी का शव अर्थात् मुर्दा पडा हो तो १०० हाथ तक अस्वाध्याय-काल रहता है।

उक्त दशविध अस्वाध्याय-काल का निर्देश भी मानसिक अस्थिरता और बौद्धिक अस्थिरता के कारण ही माना गया है।

संयम और असंयम के भेद

मूल—पंचिंदियाणं जीवाणं असमारभमाणस्स दसविहे संजमे कज्जइ, तं जहा—सोयामयाओ सुक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, सोयामएणं दुक्खेण असंजोगेत्ता भवइ। एवं जाव फासमएणं दुक्खएणं असंजोएत्ता भवइ।

एवं असंयमोवि भाणियव्वो ॥१२॥

छाया—पञ्चेन्द्रियान् जीवानसमारम्भमाणस्य दशविधः संयमः क्रियते, तद्यथा—श्रोत्रमयात् सौख्याद् अव्यपरोपयिता भवति, श्रोत्रमयेन दुःखेनासंयोजयिता भवति। एवं यावत् स्पर्शमयेन दुःखेन असंयोजयिता भवति।

---

१ अस्वाध्यायो का विस्तृत वर्णन व्यवहार भाष्य और निर्युक्ति उ० ७ से जानना चाहिए।

एवमसंयमोऽपि भणितव्यः।

शब्दार्थ—पंचिंदियाणं जीवाणं—पंचेन्द्रिय जीवों के, **असमारभमाणस्स**—असमारम्भ से, **दसविहे संजमे कज्जइ**—दस प्रकार का संयम किया जाता है, जैसे, **सोयामयाओ सुक्खाओ**—श्रोत्रेन्द्रिय के सुख से, **अववरोवेत्ता भवइ**—व्यपरोपण नही होता है और, **सोयामएणं दुक्खेण**—श्रोत्रेन्द्रिय के दुःख से, **असंजोगेत्ता भवइ**—संयोजन नहीं होता, **एवं जाव**—इसी प्रकार यावत्, **फासमएणं दुक्खएणं**—स्पर्शनेन्द्रिय के दुःख से, **असंजोएत्ता भवइ**—सयुक्त नहीं होता।

एवं असंयमोवि भाणियव्वो—इसी तरह दश प्रकार का असंयम भी कहना चाहिए।

मूलार्थ—पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा न करने से दश प्रकार का संयम वर्णन किया गया है, जैसे—उन जीवों के श्रोत्रादि पांच इन्द्रियों को न तो नाश करता है, और न ही श्रोत्रमयदुःख से उन्हें संयुक्त करता है। इसी तरह यावत् स्पर्शनेन्द्रिय के दुःख से संयुक्त नहीं करता।

इसी तरह पञ्चेन्द्रिय जीवो की हिंसा करने से दश प्रकार के असंयम का वर्णन भी कहना चाहिए।

विवेचनिका—उचित काल में स्वाध्याय करने से सयम की वृद्धि होती है, अतः अब सूत्रकार सयम-भेदों का वर्णन करते है। जीवों की रक्षा एवं अहिंसा ही संयम है, तद्विपरीत आचरण असंयम है। दस प्रकार का सयम होता है और दस प्रकार का असयम। जिन जीवो की पांच इन्द्रियां हो, उन्हे पचेन्द्रिय जीव कहते है। पचेन्द्रिय जीवों की हिंसा न करने से दस प्रकार का संयम-लाभ होता है, जैसे कि—

१ श्रोत्रमय सुख से जीवों को वियुक्त न करना संयम है।

२. श्रोत्रमय दुःख के द्वारा जीवों को संयुक्त न करना संयम है।

३. चक्षुर्मय सुख से जीवों को वियुक्त न करना संयम है।

४. चक्षुर्मय दुःख के द्वारा जीवों को संयुक्त न करना संयम है।

५. घ्राणमय सुख से जीवों को वियुक्त न करना संयम है।

६. घ्राणमय दुःख के द्वारा जीवों को संयुक्त न करना सयम है।

७ जिह्वामय सुख से जीवों को वियुक्त न करना संयम है।

८ जिह्वामय दुःख के द्वारा जीवों को संयुक्त न करना संयम है।

९. स्पर्शमय सुख से जीवों को वियुक्त न करना सयम है।

१० स्पर्शमय दुःख के द्वारा जीवो को संयुक्त न करना संयम है।

दस प्रकार का असंयम

१ श्रोत्रमय सुख से जीवो को अलग करना असंयम है।

२. श्रोत्रमय दु:ख से जीवों को सयुक्त करना असयम है।

३. चक्षुर्मय सुख से जीवों को अलग करना असयम है।

४ चक्षुर्मय दु:ख से जीवों को संयुक्त करना असंयम है।

५. घ्राणमय सुख से जीवों को अलग करना असयम है।

६. घ्राणमय दु:ख से जीवो को सयुक्त करना असयम है।

७. जिह्वामय सुख से जीवों को अलग करना असंयम है।

८. जिह्वामय दु:ख से जीवो को संयुक्त करना असंयम है।

९ स्पर्शमय सुख से जीवो को अलग करना असंयम है।

१०. स्पर्शमय दु:ख से जीवो को संयुक्त करना असयम है।

सभी जीवों को सुख प्रिय और दु:ख अप्रिय है। किसी का सुख छीनना और दु:ख देना असंयम है और किसी को दु:ख से बचाना और सुख देना संयम है। असंयम से स्वयं जीव दु·खसमन्वित और सुख-वियुक्त हो जाता है, किन्तु सयम से जीव स्वय सुख समन्वित होता है और दु:ख-वियुक्त। अत: संयम उपादेय है और असंयम हेय।

दशविध सूक्ष्म

मूल—दस सुहुमा पण्णत्ता, तं जहा—पाणसुहुमे, पणगसुहुमे जाव सिणेहसुहुमे, गणियसुहुमे, भंगसुहुमे॥१३॥

छाया—दश सूक्ष्माणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—प्राणसूक्ष्मं, पनकसूक्ष्मं यावत् स्नेहसूक्ष्मं, गणितसूक्ष्मं, भङ्‌गसूक्ष्मम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस सूक्ष्म कथन किए गए हैं, यथा—प्राणसूक्ष्म, पनकसूक्ष्म, बीजसूक्ष्म-ब्रीहि आदि की नखिका अर्थात् अग्रभाग, हरित अर्थात् भूमि के समान वर्ण वाले तृण आदि, पुष्पसूक्ष्म-वट आदि के पुष्प, अण्डसूक्ष्म-कीटिका कादि के नगर, स्नेहसूक्ष्म, गणित-सूक्ष्म और भंग-सूक्ष्म।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में संयम और असयम के कारणों का वर्णन किया गया है। संयम के पालन में और असंयम से निवृत्ति के लिए स्थूल-सूक्ष्म जीवो-अजीवों का ज्ञान होना आवश्यक है, बादर जीवों की रक्षा करना सुगम है और बादर विषय को समझना भी सुगम है, किन्तु सूक्ष्म जीवों की रक्षा करना और सूक्ष्म विषय को समझना कठिन ही नही,

अतिकठिन है। अत: प्रस्तुत सूत्र मे दस सूक्ष्मो का उल्लेख किया गया है, जैसे कि—

१. **प्राणसूक्ष्म**—जो जीव चलते हुए ही दृष्टिगोचर होते हैं रुकने पर नहीं, यथा कुन्थु आदि।

२. **पनकसूक्ष्म**—भूमि एव काष्ठ आदि में उत्पन्न नीलन, फूलन, उल्ली आदि।

३. **बीजसूक्ष्म**—जिससे अकुर उत्पन्न हो, खशखश आदि।

४. **हरितसूक्ष्म**—भूमि के समान वर्ण वाले तृण आदि।

५. **पुष्पसूक्ष्म**—शीशम के फूल, रातरानी के फूल इत्यादि।

६. **अंडसूक्ष्म**—कीड़ियो के अण्डे इत्यादि।

७. **लयनसूक्ष्म**—कीडियो के भवन इत्यादि।

८. **स्नेहसूक्ष्म**—ओस, धुन्ध, नमी, फुवार आदि।

९. **गणितसूक्ष्म**—गणित अर्थात् संख्या का जोड, गुणा, भाग, लब्ध इत्यादि को गणित सूक्ष्म कहते हैं, क्योंकि इसका ज्ञान भी सूक्ष्मबुद्धि द्वारा ही होता है।

१०. **भंगसूक्ष्म**—वस्तु के विकल्प को भंग कहते है। यह भंग दो प्रकार का होता है—स्थानभग और क्रम-भंग।

हिंसा के विषय स्थान-भग—

१ द्रव्य से हिंसा, भाव से नहीं।   २ भाव से हिसा, द्रव्य से नहीं।

३. द्रव्य और भाव दोनो से हिंसा।   ४. द्रव्य और भाव दोनो से हिंसा नही।

हिंसा के विषय में क्रम-भंग—

१ द्रव्य और भाव से हिंसा।   २ द्रव्य से हिंसा भाव से नही।

३ भाव से हिंसा, द्रव्य से नहीं।   ४. न द्रव्य से हिंसा और न भाव से हिंसा।

पहले के आठ सूक्ष्म सयम की अपेक्षा स वर्णित किए गए है। उनकी रक्षा अप्रमत्तता से करने पर ही पहले महाव्रत की रक्षा हो सकती है, अन्यथा चारित्र की आराधना निरतिचार नही हो सकती।

गणित और भंग इनका संबंध कुशाग्र बुद्धि से है। भगवती सूत्र मे अनेक स्थलो पर भंगो की कल्पना की गई है जिनका समझना सूक्ष्म बुद्धि वालो के लिए ही सम्भव है। साधारण व्यक्ति तो उन्हे पढ़ते-सुनते ही घबरा उठता है और असमंजस मे पड जाता है। जिसका हृदय दया से ओत-प्रोत होता है, वही सूक्ष्म जीवो की रक्षा कर सकता है और जिसकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है, वही सूक्ष्म गणित को समझ सकता है तथा जिसकी बुद्धि अनेकान्तवाद से सुसस्कृत है, वही भग एव सप्तभगी आदि का स्वरूप भली-भांति जान सकता है। इसलिए उपर्युक्त दस सूक्ष्मो का परिचय दिया गया है।

गंगा-सिन्धु-वाहिनी दस नदियां

मूल—जंबूमंदरदाहिणेणं गंगासिंधुमहानईओ दस महानई ओसमप्पेंति तं जहा—जउणा, सरऊ, आदी, कोसी, मही, सयद्दू, विवच्छा, विभासा, एरावई, चंदभागा।

जंबूमंदरउत्तरेणं रत्तारत्तवईओ महानइओ दस महानईओ समप्पेंति, तं जहा—किण्हा, महाकिण्हा, नीला, महानीला, तीरा, महातीरा, इंदा जाव महाभोगा॥१४॥

छाया—जम्बूमन्दरदक्षिणे गङ्गासिन्धू महानद्यौ दशमहानद्यः समाप्नुवन्ति, तद्यथा—यमुना, सरयूः, आदी, कोशी, मही, शतद्रू, वितस्ता, विपाशा, ऐरावती, चन्द्रभागा।

जम्बूमंदरोत्तरे रक्तारक्तवत्यौ महानद्यौ दशमहानद्यौ समाप्नुवन्ति, तद्यथा—कृष्णा, महाकृष्णा, नीला, महानीला, तीरा, महातीरा, इन्द्रा यावत् महाभोगा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत के दक्षिण की ओर गगा और सिन्धु नामक महानदियों में दस महानदियां आकर मिलती है, पांच गंगा में, यथा—यमुना, सरयू, आदि, कोशी और मही। पांच सिन्धु में, यथा—शतद्रू, वितस्ता, विपाशा, ऐरावती और चन्द्रभागा।

जम्बूद्वीप के मन्दर पर्वत के उत्तर में रक्ता और रक्तवती महानदियों में दस महानदियां मिलती हैं, पांच रक्ता मे, जैसे—कृष्णा, महाकृष्णा, नीला, महानीला, तीरा। पांच रक्तवती में, यथा—महातीरा, इन्द्रा, इन्द्रसेना, वारिषेणा, महाभोगा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे दस सूक्ष्मो का वर्णन किया गया है। सूक्ष्मबुद्धि आगमवेत्ता अपनी असीम ज्ञानधारा द्वारा सुदूर के पदार्थो का भी प्रत्यक्ष कर लिया करते है, अतः प्रस्तुत सूत्र में सुदूर नदी-संगमों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

जम्बूद्वीप के मंदर पर्वत से दक्षिण की ओर भरत क्षेत्र मे दस महानदिया गंगा और सिन्धु में मिलती हैं। यमुना, सरयू, आदी, कोसी, मही, ये पांच नदियां गंगा महानदी में मिलती हैं। शतद्रू (सतलुज), वितस्ता (जेहलम), विपाशा (व्यास), ऐरावती (रावी) चन्द्रभागा (चन्हाब) ये पाच महानदियां सिन्धु में मिलती हैं।

इसी प्रकार जम्बूद्वीप के मन्दराचल के उत्तरी भाग में रक्ता नामक महानदी मे कृष्णा, महाकृष्णा, नीला, महानीला और तीरा तथा रक्तवती मे महातीरा, इन्द्रा, इन्द्रसेना, वारिषेणा और महाभोगा नामक महानदियो का संगम होता है।

भारत की प्राचीन राजधानियां

मूल—जंबुद्दीवे दीवे भरहेवासे दस रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

चंपा, महुरा, वाराणसी य, सावत्थी, तह य साएयं।
हत्थिणउर, कंपिल्लं, मिहिला, कोसंबि, रायगिहं॥

एयासु णं दस रायहाणीसु दस रायाणो मुंडा भवेत्ता जाव पव्वइया, भरहे, सगरो, मघवं, सणंकुमारो, संती, कुंथू, अरे, महापउमे, हरिसेणे, जयणामे॥ १५॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे दशराजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

चम्पा, मथुरा, वाराणसी च, श्रावस्ती, तथा च साकेतम्।
हस्तिनापुरं, काम्पिल्यं, मिथिला, कौशाम्बी, राजगृहम्॥

एतासु दशराजधानीषु दश राजानो मुण्डा भूत्वा यावत् प्रव्रजितास्तद्यथा—भरतः, सगरः, मघवा, सनत्कुमारः, शान्तिः, कुन्थुः, अरः, महापद्मः, हरिषेणः, जयनामा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भारतवर्ष मे दस प्रमुख राजधानियां इस प्रकार हैं—चम्पापुरी, मथुरा, वाराणसी अर्थात् काशी, श्रावस्ती, साकेत-अयोध्या, हस्तिनापुर, काम्पिल्यपुर, मिथिलापुरी, कौशाम्बी, राजगृह।

इन उपर्युक्त दस राजधानियों के दस राजा मुण्डित होकर यावत् प्रव्रजित हुए, वे इस प्रकार है—भरत चक्रवर्ती, सगर चक्रवर्ती, मघवा, सनत्कुमार चक्रवर्ती, श्री शान्तिनाथ, श्री कुन्थुनाथ, श्री अरनाथ, महापद्म, हरिषेण तथा जयनाम।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे भूगोलाश्रित विषय का वर्णन किया गया है, प्रस्तुत सूत्र मे भी उसी भूगोल-सम्बन्धित विषय का वर्णन किया जाता है।

इस भरत क्षेत्र मे साढे पच्चीस आर्य देश हैं। उनमें से अंग देश की राजधानी चम्पा, शूरसेन देश की राजधानी मथुरा, काशी देश की राजधानी साकेत, जिसे अयोध्या या विनीता भी कहते हैं। कुरु देश की राजधानी हस्तिनापुर, पंचाल देश की राजधानी कम्पिलपुर या काम्पिल्य, विदेह देश की राजधानी मिथिला, वत्सदेश की राजधानी कौशाम्बी नगरी, मगध देश की राजधानी राजगृह है। इन दस राजधानियों में निर्ग्रन्थो के लिए एक मास मे दो बार या तीन बार प्रवेश करना निषिद्ध बतलाया गया है। इन नगरियों में उत्सर्ग मार्ग का आश्रय लेकर साधु बारम्बार प्रवेश नही कर सकते, क्योकि उनमें सयम के अनुकूल वातावरण नहीं होता। साधक की मनोवृत्तियां बहिर्मुखी न हो जाएं, इसी कारण उनमे जाना

वर्जित किया गया है, आगमकार संयम से प्रतिकूल वातावरण में रहना साधुओं के लिए हितकर नहीं मानते। कहा भी है—**तरुणा वेश्या, स्त्री विवाहरागा (राजा) दिषु भवति स्मृतिकरणं, आतोद्य गीतशब्दे स्त्रीशब्दे च सविकारे।**

अर्थात् उक्त नगरियो में पुन.-पुन: गमन करने से पदार्थ के अवलोकन से मन में विस्मय और विकार आदि भी उत्पन्न हो सकते हैं, अत: इन नगरियों मे उत्सर्ग मार्ग से पुन:-पुन: गमन करने का आगम में निषेध किया गया है। उपलक्षण से अन्य राजधानियों के विषय में भी समझना चाहिए।

उक्त राजधानियो का उल्लेख इसलिए किया गया है कि इन दस राजधानियो में बारह चक्रवर्ती महाराजाओं ने राज्य किया है और उनमे दस चक्रवर्त्ती दीक्षित हुए हैं। निशीथ भाष्य के अभिप्राय से नौ राजधानियो में एक-एक चक्रवर्ती हुए हैं और एक राजधानी में तीन चक्रवर्ती राजाओं ने क्रमश: राज्य किया, किन्तु आवश्यक भाष्य के अभिप्राय से भरत और सगर, ये दो साकेत अर्थात् अयोध्या में प्रव्रजित हुए। श्रावस्ती में मघवा दीक्षित हुए, सनत्कुमार, शान्ति, कुन्थु, अर और महापद्म ये पाच हस्तिनापुर मे प्रव्रजित हुए। हरिषेण कांपिल्य में दीक्षित हुए। जय नामक चक्रवर्ती राजगृह नगर मे प्रव्रजित हुए। आठवें और बारहवें चक्रवर्ती महाराजा प्रव्रजित नही हुए।

सूत्रकार ने जो **'एयासु णं दस रायहाणीसु दस रायाणो मुंडा भवित्ता जाव पव्वइया'** पाठ दिया है, इससे यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि इन नगरियो में दस चक्रवर्ती दीक्षित हुए है, किन्तु सूत्र में उनका क्रमबद्ध उल्लेख नही किया गया है।

आवश्यक सूत्र की वृत्ति मे कुछ अन्य प्रकार से इस विषय का उल्लेख किया गया है, परन्तु मूल आगम ही प्रमाण कोटि में गिना जाता है। मत-भेद आचार्यकृत ग्रंथों में होते है, आगमों मे नही, अत: आगम-वर्णित विषय को ही मान्य समझना चाहिए।

मन्दर-मान

मूल—जंबुद्दीवे दीवे मंदरे पव्वए दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं धरणियले, दसजोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, उवरिं दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं, दसदसाइं जोयणसहस्साइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते ॥१६॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरः पर्वतो दशयोजनशतान्युद्वेधेन धरणितले, दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण, उपरि दशयोजनशतानि विष्कम्भेण, दश-दशकानि योजनसहस्राणि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—जंबुद्दीवे दीवे—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, **मंदरे पव्वए**—मन्दर पर्वत, **दस जोयण सयाइं उव्वेहेणं**—दश योजन शत अर्थात् एक हजार योजन गहराई की अपेक्षा से,

धरणियले—भूमि में है, **दस जोयण सहस्साइं**—दश हजार योजन, **विक्खंभेणं**—लम्बाई-चौडाई की अपेक्षा से भूमि पर है और, **उवरि दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं**—शिखर विष्कम्भ की अपेक्षा एक हजार योजन है, **दसदसाइं जोयणसहस्साइं**—दश दशक योजनशत अर्थात् एक लाख योजन, **सव्वग्गेणं पण्णत्ते**—सर्वांग की अपेक्षा से है।

मूलार्थ—जम्बूद्वीप का मेरु पर्वत भूमि के अन्दर-नीचे एक हजार योजन गहरा है, भूमि तल पर उसकी मोटाई दस हजार योजन परिमाण की है। मेरु पर्वत का शिखर एक हजार योजन का है तथा मेरु का सर्वांग प्रमाण एक लाख योजन का वर्णन किया गया है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे वर्णित भूगोल वर्णन की परम्परा में प्रस्तुत सूत्र द्वारा पुन: भौगोलिक ज्ञान प्रस्तुत किया गया है। मंदर पर्वत इस मध्यलोक के ठीक मध्यभाग मे है जिस को लोक की नाभि भी कहते हैं। यह पर्वत एक हजार योजन भूमि मे गहरा है, दस हजार योजन भूमि पर विस्तार वाला है। इसका ऊपरी भाग एक हजार योजन का लम्बा-चौडा है। इसका सम्पूर्ण विस्तार एक लाख योजन का है।

वह भूमि मे एक हजार योजन की गहराई वाला है। इससे वास्तु-शास्त्र के वेत्ताओं ने यह अभिप्राय निकाला है कि वह पर्वत एक हजार योजन भूमि में गहरा है तभी तो वह ९९००० योजन ऊपर आकाश को स्पर्श कर रहा है। जितनी मंजिलों का मकान ऊपर होता है, उसके अनुसार ही उसके नीचे की गहराई होती है, अत: ९९००० योजन के लिए एक हजार योजन की गहराई उपयुक्त ही है।

यद्यपि पर्वतो की गहराई पृथ्वी के साथ एक होती है, उसका मूलभाग अमुक बिन्दु पर समाप्त हो जाता है, यह कहना क़ठिन होता है, फिर भी यहां गहराई का जो वर्णन किया गया है उसका अभिप्राय यही है कि इतने प्रमाण तक उसका पर्वतीय प्रभाव विद्यमान है।

दिशाएं और उनका केन्द्र

मूल—जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स बहुमज्झदेसभागे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्लेसु खुड्डगपयरेसु, एत्थ णमट्ठपएसिए रुयगे पण्णत्ते, जओ णमिमाओ दस दिसाओ पवहंति, तं जहा—पुरच्छिमा, पुरच्छिम-दाहिणा, दाहिणा, दाहिणपच्चत्थिमा, पच्चत्थिमा, पच्चत्थि-मुत्तरा, उत्तरा, उत्तरपुरच्छिमा, उड्ढा, अहो। एएसि णं दसण्हं दिसाणं दस नामधिज्जा पण्णत्ता, तं जहा—

इंदा अग्गीइ जमा णेरई वारुणी य वायव्वा।
सोमा ईसाणावि य विमला य तमा य बोद्धव्वा॥१७॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य बहुमध्यदेशभागेऽस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्या उपरितनाधस्तनयोः क्षुल्लकप्रतरयोरत्र अष्ट प्रदेशिको रुचकः प्रज्ञप्तः, यत इमा दशदिशः प्रवहन्ति, तद्यथा—पौरस्त्या, पौरस्त्यदक्षिणा, दक्षिणा, दक्षिणपश्चिमा, पाश्चात्या, पाश्चात्योत्तरा, उत्तरा, उत्तरपौरस्त्या, ऊर्ध्वा, अधः।

एतासां दशानां दिशां दशनामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

ऐन्द्री, आग्नेयी यामी, नैर्ऋती, वारुणी च वायवी।
सौम्या, ऐशानी अपि च विमला च तमा च बोद्धव्या।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत के बहुमध्य देशभाग में, इस रत्नप्रभा पृथ्वी के उपरितन और अधस्तन क्षुल्लक प्रतर मे आठ प्रादेशिक रुचक कहा गया है, जहां से दश दिशाए निकलती है, वे दिशाएं इस प्रकार हैं—पूर्व, पूर्व-दक्षिण, दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम, पश्चिमोत्तर, उत्तर, उत्तर-पूर्व, ऊर्ध्व और अधः। इन दिशाओ के दश नाम हैं, जैसे ऐन्द्रा, आग्नेयी, यमा, नैर्ऋती, वारुणी, वायवी, सोमा, ईशानी, विमला और तमा।

विवेचनिका—इस सूत्र में दिशाए और विदिशाएं कहा से आरम्भ होती हैं और उन का केन्द्र कहा है इस विषय का स्पष्टीकरण किया गया है। जम्बूद्वीपवर्ती मदर पर्वत के ठीक मध्यभाग मे ९०० योजन नीचे जहा मध्यलोक समाप्त हाता है और अधोलोक प्रारम्भ होता है, वहां आकाश के आठ रुचक प्रदेश हैं। चार प्रदेश ऊपर और चार नीचे गोस्तनाकार ठहरे हुए हैं। वे ही आठ रुचक प्रदेश दस दिशाओं के केन्द्र-बिन्दु हैं। दस दिशाए है—पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान, विमला और तमा। दो-दो प्रदेशो से वृद्धि पाती हुई शकटोर्ध्व सस्थान के समान ये दिशाए लोकान्त पर्यन्त पहुच गई हैं। ऊर्ध्व अधोदिशाए उत्तरोत्तर बिना ही वृद्धि पाए चार-चार प्रदेश करके लोकान्त पर्यन्त पहुची हुई है। इसी तरह चार कोणस्थित विदिशाए उत्तरोत्तर बिना ही वृद्धि पाए एक-एक प्रदेश करके लोकान्त तक पहुची हुई है।

इन दस दिशाओं के दस नाम भी प्रतिपादन किए गए है, जैसे कि इन्द्रा, आग्नेयी, यमा, नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, सोमा, ईशाना, विमला और तमा। ऊर्ध्व दिशा को विमला नाम इसलिए दिया गया है, क्योंकि वह तम रहित होने से निर्मल है। तमा अधोदिशा का नाम इसलिए दिया गया है, क्योंकि वह अंधकार-युक्त होने से रात्रि के समान है।

लवण-समुद्र-मान

मूल—लवणस्स णं समुद्दस्स दसजोयणसहस्साइं गोतित्थविरहिए खेत्ते पण्णत्ते। लवणस्स णं समुद्दस्स दस जोयण-सहस्साइं उदगमाले पण्णत्ते।

सव्वेवि णं महापायाला दसदसाइं जोयणसहस्साइमुव्वेहेणं पण्णत्ता। मूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं पण्णत्ता। बहुमज्झदेसभाए एगपएसियाए सेढीए दसदसाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं पण्णत्ता। उवरिं मुहमूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं पण्णत्ता।

तेसि णं महापायालाणं कुड्डा सव्ववइरामया, सव्वत्थ समा दस 'जोयणसयाइं बाहल्लेणं पण्णत्ता। सव्वेवि णं खुद्दा पायाला दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता, मूले दसदसाइं जोयणाइं विक्खंभेणं, बहुमज्झदेसभाए एगप्पएसियाए सेढीए दस जोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता, उवरि मुहमूले दसदसाइं जोयणाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता। तेसि णं खुद्दा पायालाणं कुड्डा सव्ववइरामया, सव्वत्थ समा दस जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ता ॥१८॥

छाया—लवणस्य समुद्रस्य दशयोजनसहस्राणि गोतीर्थरहितक्षेत्रं प्रज्ञप्तम्। लवणस्य समुद्रस्य दशयोजनसहस्राणि उदकमाला: प्रज्ञप्ता.। सर्वेऽपि महापाताला: दशदशकानि योजनसहस्राण्युद्वेधेन प्रज्ञप्ता:। मूले दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ता:। बहुमध्यदेशभागे एकप्रदेशिकया श्रेण्या दशकानि योजनसहस्राणि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ता:। उपरिमुखमूले दश योजनसहस्राणि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ता:।

तेषां महापातालानां कुड्यानि सर्ववज्रमयानि, सर्वत्र समानि दशयोजनशतानि बाहल्येन प्रज्ञप्तानि। सर्वेऽपि क्षुद्रा: पाताला दश योजनशतानि उद्वेधेन प्रज्ञप्ता:। मूले दश दशकानि योजनानि विष्कम्भेण, बहुमध्यदेशभागे एकप्रदेशिकया श्रेण्या दश योजन शतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ता:। उपरि मुखमूले दश-दशकानि योजनानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ता:। तेषां क्षुद्रपातालानां कुड्यानि सर्ववज्रमयानि, सर्वत्र समानि दशयोजनानि बाहल्येन प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—लवण समुद्र का दस हजार योजन गोतीर्थ-विरहित क्षेत्र कथन किया गया है। लवण-समुद्र की दस हजार योजन की उदकमाला वर्णन की गई है। सभी महापाताल-कलश एक-एक लाख योजन परिमाण भूमि में गहरे वर्णन किए गए है। उनका विष्कम्भ मूल मे दस हजार योजन है। उनके बहुमध्य देश भाग में एक प्रदेशिक श्रेणी से बढते-बढ़ते लाख योजन तक उनके मध्यभाग का विष्कम्भ कहा गया है, वे कलश ऊपर मुख-मूल में दश हजार योजन के हैं।

उन पाताल-कलशों की भित्तियां सर्ववज्रमयी हैं, तथा सर्वत्र सम और एक हजार योजन मोटाई वाली हैं। सभी क्षुल्लक पाताल कलश एक हजार योजन गहराई

में हैं, मूल में एक सौ योजन चौड़े हैं। उनके बहुमध्यदेश भाग एकप्रदेशिक श्रेणी से वृद्धि करते हुए एक हजार योजन चौड़े हैं, ऊपर मुखमूल मे एक सौ योजन चौड़े हैं। उन क्षुद्र पाताल-कलशों की दीवारें सर्वत: वज्रमयी एव सर्व प्रकार से सम तथा दश योजन परिमाण मोटाई वाली हैं।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में भौगोलिक वर्णन की परम्परा मे लवण-समुद्र गत समभूमि के विषय का कथन किया गया है। लवण-समुद्र दो लाख योजन चौडा है। वह जम्बूद्वीप और धातकीखंड द्वीपों के मध्य में है। वह एक हजार योजन गहरा है। जम्बूद्वीप से लवण-समुद्र में ९५००० योजन जाकर और धातकी खंड से ९५००० योजन इधर आने पर जो स्थान है, वह गोतीर्थ कहलाता है। गाय आदि पशुओ के लिए तालाब आदि मे उतरने की जो भूमि होती है उसे गोतीर्थ कहते है। समुद्र मे थोडी-थोडी नीचाई बढती-बढती ९५००० योजन पर्यन्त बढ़ती ही गई है। इसी तरह धातकीखंड की ओर से भी लवण-समुद्र में ढलान बढ़ती गई है। उस समुद्र के ठीक मध्यभाग मे चक्रवाल-विष्कम्भ गोतीर्थविरहित सम क्षेत्र दस हजार योजन का है। समुद्र के भीतर ढलान वाली भूमि को गोतीर्थ और समतल भूमि को गोतीर्थ-विरहित कहा जाता है।

लवण-समुद्र के ठीक मध्यभाग से उठी हुई उदकमाला दीवार की तरह १६००० योजन ऊची, १०००० योजन चक्रवाल-विष्कभ वाली है। उसको उदकवेग तथा उदकशिखा भी कहते है। इस के कारण ही समुद्र का पानी उछलता है। वेलधर देव इसकी रक्षा मे उपस्थित रहते है। इसका विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र मे वर्णित है।

पूर्व आदि चार दिशाओ मे चार महापाताल-कलश हैं, उनके नाम हैं—वलयामुख, केयूर, यूपक और ईश्वर। ये सभी कलश गोतीर्थ-विरहित समतल भूमिभाग में हैं। ये सब लाख-लाख योजन भूमि मे गहरे हैं। मूल मे दस हजार योजन चौडे है, मध्य मे एक लाख योजन चौडे तथा मुखमूल में पुन. दस हजार योजन विस्तार वाले है। उन कलशों की भित्तियां वज्रमयी है तथा सर्वत्र समान हैं। मोटाई में वे हजार-हजार योजन के है। लघु पाताल-कलशों की अपेक्षा से उन चारो को महापाताल-कलश कहते हैं

लवणसमुद्र की दिशाओं और विदिशाओ मे जो लघुपाताल कलश हैं, वे भी ठीक मध्य भाग में हैं। उनकी भित्तिया सब वज्रमयी है एव सर्वत्रसम है। उन भित्तियो की मोटाई दस योजन की है। वे सब हजार-हजार योजन गहरे है, मूल में १०० योजन का विष्कभ, मध्य में १००० योजन का तथा ऊपर मुखमूल में पुन: १०० योजन का विष्कम्भ है। उन लघु-पाताल कलशों की कुल संख्या ७८८४ है।[1]

---

१ विशेष वर्णन के लिए देखिए जीवाभिगम सूत्र।

धातकी खण्ड और पुष्करवर द्वीपार्द्ध के मेरु-मान

मूल—धायईसंडगा णं मंदरा दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं, धरणियले देसूणाइं दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, उवरिं दस जोयण सयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते। पुक्खरवरदीवद्धगा णं मंदरा दस जोयण सयाइं एवं चेव॥१९॥

छाया—धातकीखण्डकौ मन्दरौ दशयोजनशतान्युद्वेधेन, धरणितले देशोनानि दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण, उपरि दशयोजनशतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तौ। पुष्करवरद्वीपार्द्धकौ मन्दरौ दश योजनशतानि एवमेव।

शब्दार्थ—धायईसडगा णं मंदरा—धातकीखण्ड के मेरु, **दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं**—एक हजार योजन गहरे है, **धरणियले देसूणाइं दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं**—और भूमितल मे देशोन दस हजार योजन का विष्कम्भ है, **उवरिं दस जोयण सयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते**—ऊपर की ओर एक हजार योजन का विष्कम्भ है। **पुक्खरवरदीवद्धगा णं मंदरा**—पुष्करवरद्वीपार्द्ध के मेरु, **दस जोयण सयाइं एवं चेव**—इसी तरह एक हजार योजन गहरे जानने चाहिएं।

मूलार्थ—धातकीखण्ड के मेरु पर्वत उद्वेध की अपेक्षा एक हजार योजन के है। धरणितल पर उनका विष्कम्भ देशोन दश हजार योजन का है, वे ऊपर एक-एक हजार योजन चौड़े हैं। पुष्करवरद्वीपार्द्ध के मेरु पर्वत एक हजार योजन गहरे हैं। शेष वर्णन पूर्ववत् ही जानना चाहिए।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र मे भी भौगोलिक वर्णन की परम्परा के अन्तर्गत धातकी-खंडवर्ती मेरु पर्वत के विषय मे परिचय दिया गया है। धातकीखण्ड मे एक मेरु पूर्व की ओर है ओर दूसरा पश्चिम की और है। प्रत्येक मेरुपर्वत का परिमाण इस प्रकार है। दोनों मेरु पर्वत एक हजार योजन भूमि में गहरे है, भूमि पर उनका कुछ कम दस हजार योजन का विष्कम्भ है। ऊचाई ८४००० योजन की है। उनका सब से उपरि भाग १००० योजन चौडा है। इसी तरह दूसरे मेरुपर्वत के विषय में भी जानना चाहिए। पुष्करार्द्ध के दोनो मेरु पर्वतों का परिचय भी इसी तरह जान लेना चाहिए।

वृत्त वैताढ्य पर्वत

मूल—सव्वेवि णं वट्टवेयड्ढपव्वया दस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दस गाउयसयाइमुव्वेहेणं, सव्वत्थसमा, पल्लगसंट्ठाणसंठिया, दस जोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता॥२०॥

छाया—सर्वेऽपि वृत्तवैताढ्यपर्वताः दश योजनशतान्यूर्ध्व मुच्चत्वेन, दशगव्यूत-

शतान्युद्वेधेन, सर्वत्रसमाः, पल्यसंस्थानसंस्थिताः, दश योजनशतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सभी वृत्तवैताढ्यपर्वत एक हजार योजन ऊंचे, दस गव्यूति-शत उद्वेध की अपेक्षा से तथा सर्वत्र समान और पर्यंक संस्थान वाले एवं विष्कम्भ की अपेक्षा हजार योजन परिमाण वाले हैं।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में भी उसी भौगोलिक परिचय की परम्परा में वृत्तवैताढ्य पर्वतों का परिचय दिया गया है। वृत्तवैताढ्य शब्द के ग्रहण से दीर्घवैताढ्य पर्वतो का व्यवच्छेद स्वतः ही हो जाता है। इनका अस्तित्व हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष और रम्यकवर्ष इन क्षेत्रो में पाया जाता है। शब्दापाती, विकट पाती, गन्धावती और माल्यवंत ये उन पर्वतों के नाम है। ये पर्वत १०० योजन गहरे, १००० योजन ऊचे और १००० योजन भूमि पर चौडाई मे फैले हुए हैं। सर्वत्र सम और पल्यक संस्थान से संस्थित है। धान्य भरने के बड़े कोठे को पल्लग कहते है।

जम्बूद्वीप के क्षेत्र

मूल—जंबुद्दीवे दीवे दस खेत्ता पण्णत्ता, तं जहा—भरहे, एरवए, हेमवए, हेरन्नवए, हरिवासे, रम्मगवासे, पुव्वविदेहे, अवरविदेहे, देवकुरा, उत्तरकुरा ॥२१॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे दश क्षेत्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भरतं, ऐरवतं, हैमवतं, हैरण्यवतं, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, अपरविदेहः, देवकुरुः, उत्तरकुरुः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप में दश क्षेत्र वर्णन किए गए हैं, यथा—भरत, ऐरवत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, पूर्वविदेह, उत्तर विदेह, देवकुरु और उत्तरकुरु।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में भी भौगोलिक वर्णन के अन्तर्गत जम्बूद्वीप के जितने क्षेत्र है, उनका उल्लेख किया गया है। जम्बूद्वीप मे कुल क्षेत्र १० पाए जाते है, जैसे कि भरत, ऐरवत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, पूर्वमहाविदेह, पश्चिम महाविदेह, देवकुरु, और उत्तरकुरु। इनमें से भरत, ऐरवत, पूर्वविदेह और अपरविदेह, ये चार क्षेत्र कर्मभूमि हैं और शेष सब अकर्मभूमि। इन क्षेत्रों में मनुष्यजाति का निवास है।

मानुषोत्तर पर्वत का मान

मूल—माणुसुत्तरे णं पव्वए मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं पण्णत्ते ॥२२॥

छाया—मानुषोत्तरपर्वतो मूले दश द्वाविंशति योजनशतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—माणुसुत्तरे णं पव्वए—मानुषोत्तर पर्वत, **मूले**—मूल मे, **दसबावीसे जोयणसए**—एक हजार बाईस योजन, **विक्खंभेणं पण्णत्ते**—विष्कम्भ की अपेक्षा से कहा गया है।

मूलार्थ—मानुषोत्तर पर्वत मूल में विष्कम्भ की अपेक्षा से एक हजार बाईस योजन का है।

विवेचनिका—इस सूत्र मे उस मानुषोत्तर पर्वत का वर्णन किया गया है जो मनुष्यलोक की सीमा बाधता है। वह मानुषोत्तर पर्वत पुष्करवर द्वीप के ठीक मध्यभाग में कुण्डलाकार, चक्रवाल विष्कम्भ वाला है। उसकी चौड़ाई मूल मे १०२२ योजन है। उस से बाहर मानव जाति का निवास नहीं है।

अंजनक दधिमुख और रतिकर पर्वतों का मान

मूल—सव्वेवि णमंजणगपव्वया दस जोयणसयाइमुव्वेहेणं, मूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, उवरिं दस जोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता।

सव्वेवि णं दहिमुहपव्वया दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं, सव्वत्थसमा, पल्लगसंठाणसंठिया, दसजोयणसहस्साइं विक्खंभेणं पण्णत्ता।

सव्वेवि णं रइकरपव्वया दस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दसगाउसयाइं उव्वेहेणं, सव्वत्थसमा, झल्लरिसंठिया, दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं पण्णत्ता॥२३॥

छाया—सर्वेऽपि अञ्जनकपर्वता. दशयोजनशतान्युद्वेधेन, मूले दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण, उपरि दशयोजनशतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ता·।

सर्वेऽपि दधिमुखपर्वता· दशयोजनशतान्युद्वेधेन, सर्वत्रसमाः, पर्यङ्क-संस्थानसंस्थिताः, दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः।

सर्वेऽपि रतिकरपर्वता दशयोजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन, दशगव्यूतशतान्युद्वेधेन, सर्वत्रसमाः, झल्लरी-संस्थिताः, दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सभी अञ्जनक पर्वत एक-एक हजार योजन गहरे, मूल में दश हजार योजन चौडे है। ऊपरी भाग की दृष्टि से विष्कम्भ मे एक हजार योजन चौड़े है।

सभी दधिमुख पर्वत एक हजार योजन गहरे, सर्वत्र सम, पल्यंकसस्थान से सस्थित और गहराई में दस हजार योजन के वर्णन किए गए हैं।

सभी रतिकर पर्वत दस योजनशत ऊंचाई में, उद्वेध में एक हजार योजन के कथन किए गए हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र मे अजनक, दधिमुख और रतिकार पर्वतो का परिमाण बतलाया गया है। आठवे नदीश्वर द्वीप के ठीक मध्यभाग में चारों दिशाओ मे श्यामवर्ण वाले चार अजनक पर्वत हैं। प्रत्येक अंजनक पर्वत की चारों दिशाओं मे लाख-लाख योजन विस्तार वाली चार नन्दापुष्करिणियां हैं। प्रत्येक पुष्करिणी में एक-एक दधिमुख पर्वत है। विदिशाओं में चार रतिकर पर्वत हैं। प्रत्येक अंजनक पर्वत की भूमिगत गहराई १००० योजन है। भूमि पर उनका १०००० योजन का विस्तार है। वे सब ८४००० योजन ऊंचे है।

सभी दधिमुख पर्वत सफेद है। भूमिगत १००० योजन की गहराई वाले तथा १०००० योजन के विस्तार वाले और ६०००० योजन ऊचे है और पल्यक-संस्थान से सस्थित है। सभी रतिकर पर्वत १००० कोस गहरे है, हजार योजन ऊचे है और एक हजार योजन विस्तार वाले है। इनका विस्तृत वर्णन चतुर्थ स्थान के द्वितीय उद्देशक मे किया जा चुका है।

रुचकवर पर्वत-मान

मूल—रुयगवरे णं पव्वए दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं, मूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, उवरिं दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते। एवं कुंडलवरेवि॥२४॥

छाया—**रुचकवरः पर्वतो दशयोजनशतान्युद्वेधेन, मूले दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण, उपरि दशयोजनशतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः। एवं कुण्डलवरोऽपि।**

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—रुचकवर पर्वत एक हजार योजन गहरा, मूल मे दस हजार योजन चौडा है और ऊपरी भाग में एक हजार योजन विष्कम्भ वाला है। इसी प्रकार कुण्डलवर द्वीप मे कुण्डलवर पर्वत का वर्णन भी जानना चाहिए।

विवेचनिका—इस सूत्र में रुचक पर्वत का परिचय दिया गया है। रुचक पर्वत तेरहवे द्वीप के ठीक मध्यभाग मे चक्रवाल विष्कभ मे स्थित है। वह हजार योजन गहरा, भूमि पर १०००० योजन विस्तार वाला है। उसके ऊपरी भाग मे हजार योजन की चौड़ाई है तथा वह सर्वत्र सम है।

ग्यारहवे द्वीप मे गोलाकार चक्रवाल विष्कंभ वाला कुण्डलवर पर्वत है, उसका परिमाण भी रुचकवर पर्वत के समान समझना चाहिए।

दसवें स्थान के अनुरोध से सूत्रकर्त्ता ने दस अंक ग्रहण किए है। बीसवे सूत्र से लेकर जितना भी वर्णन किया गया है, उस सबका विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र की तीसरी

प्रतिपत्ति में विस्तारपूर्वक किया गया है। उक्त भौगोलिक वर्णन सभी ज्ञेय है और संस्थान-विचय नामक धर्म-ध्यान का विषय है।

द्रव्यानुयोग-भेद

मूल—दसविहे दवियाणुओगे पण्णत्ते, तं जहा—दवियाणुओगे, माउयाणुओगे, एगट्ठियाणुओगे, करणाणुओगे, अप्पियणप्पिए, भाविया-भाविए, बाहिराबाहिरे, सासयासासए, तहणाणे, अतहणाणे॥२५॥

छाया—दशविधो द्रव्यानुयोगः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—द्रव्यानुयोगः, मातृकानुयोगः, एकार्थिकानुयोगः, करणानुयोगः, अर्पितानर्पितं, भाविताभावितं, बाह्याबाह्यं, शाश्वताशाश्वतं, तथाज्ञानम्, अतथाज्ञानम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—द्रव्यानुयोग दश प्रकार का है, जैसे—द्रव्यानुयोग, मातृकानुयोग, एकार्थिकानुयोग, करणानुयोग, अर्पितानर्पित, भाविताभावित, बाह्याबाह्य, शाश्वता-शाश्वत, तथ्यज्ञान, अतथ्यज्ञान।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रो मे भौगोलिक वर्णन की परम्परा मे गणितानुयोग का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार नवीन विषय द्रव्यानुयोग का वर्णन करते हैं। श्री भगवान ने जिस अर्थ का प्रतिपादन किया है, उससे मेल खाने वाला जो गणधरों का कथन है, वही अनुयोग कहलाता है। अनुयोग और व्याख्यान दोनों पर्यायवाची शब्द है।[1]

यह अनुयोग चार प्रकार का होता है, जैसे कि चरण-करणानुयोग, धर्म-कथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग। जिसमे साधु-धर्म और श्रावक-धर्म का वर्णन किया गया है, वह चरण-करणानुयोग कहलाता है। जिस कथा मे समुन्नत महापुरुषों और साधु या साध्वी का ऐसा जीवन-वर्णन हो जिससे जीवन उत्थान के लिए प्रेरणा मिले वह धर्म-कथानुयोग है, जिसमें चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, भूगोल-खगोल का वर्णन हो, वह गणितानुयोग है। जिसमे जीवादि पदार्थो का विश्लेषण किया गया हो, वह द्रव्यानुयोग है। इनका विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. द्रव्यानुयोग—जो सत् है, वही द्रव्य है। अथवा जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वह द्रव्य है अथवा जो गुण-पर्याय से युक्त है, वह द्रव्य है। द्रव्य मुख्यतया दो तरह के है—जीव-द्रव्य और अजीव-द्रव्य। जिसमें द्रव्य का सम्यक् प्रकार से विवेचन किया जाए, वह द्रव्यानुयोग है।

---

१ अनुयोजनं-सूत्रस्यार्थेन सम्बन्धन, अनुरूपोऽनुकूलो वा योग· सूत्रस्याभिधेयार्थंप्रति व्यापारोऽनुयोगः, व्याख्यानमिति भाव.।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये सब अजीव द्रव्य हैं। इनको जानने वाला जीव द्रव्य है। इन सब द्रव्यों में जीव-द्रव्य की प्रधानता है। जीव उसे कहते हैं जिसमे चेतना या उपयोग पाया जाए—**उवओगलक्खणो जीवो।** जीव दो प्रकार के है—ससारी और मुक्त। मुक्त आत्मा में केवल गुण-पर्याय होती है, किन्तु द्रव्य-पर्याय नहीं। ससारी जीवों में द्रव्य पर्याय और गुण-पर्याय दोनो होती है। द्रव्य-पर्याय औदयिक भाव में पाई जाती है। देव, नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य ये सब द्रव्य-पर्याय हैं। द्रव्य-पर्याय में जो बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य आदि पर्याय होती है—वे सब कालकृत पर्याय हैं। प्रशस्त और अप्रशस्त भावो मे वर्तना गुण या भावपर्याय है। मिथ्यादृष्टि मे द्रव्य और भाव दोनो तरह की पर्याय वैभाविक ही होती है, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव में स्वाभाविक पर्याय हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य गुण और पर्याय युक्त ही होता है, अत: जीव और अजीव ये दो ही द्रव्य सामान्य रूप से है। द्रव्य के अनतगुण और अनत पर्याय है। जीव-द्रव्य चेतना गुण-युक्त है और अजीव-द्रव्य चेतना विरहित है। धर्म-द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश-द्रव्य, और काल-द्रव्य ये चार द्रव्य अरूपी अजीव-द्रव्य हैं, किन्तु पुद्गल अजीव-द्रव्य रूपी है। जीव द्रव्य को सम्मिलित कर कुल छ: द्रव्य होते है।

२. **मातृकानुयोग**—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस त्रिपदी को मातृकापद कहते है। इस त्रिपदी को जीवादि द्रव्यो मे घटाना मातृकानुयोग है। जैसे कि जीव की बाल्य आदि पर्याय प्रतिक्षण परिवर्तित होती है। यदि पूर्व पर्याय का विनाश और उत्तर- पर्याय की उत्पत्ति न स्वीकार की जाए तो शिशु, युवा, वृद्ध इत्यादि अवस्थाओ का अभाव मानना पडेगा, किन्तु ऐसा होता नही है। यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को सर्वथा न माना जाए तो लौकिक व्यवहार का भी व्यवच्छेद हो जाएगा, अत: सिद्ध हुआ कि द्रव्यार्थिकनय से जीवादि द्रव्य ध्रुव एवं नित्य हैं और पर्यायार्थिकनय से अध्रुव एवं अनित्य है। इसलिए उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त द्रव्य स्वीकार करना ही युक्ति सगत है। कहा भी है—**द्रव्यतयाऽस्य ध्रौव्यमित्युत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तमतो द्रव्यमित्यादि मातृकापदानुयोग·।**

यदि प्रतिक्षण नवीन पर्याय उत्पन्न न हो तो बाल, युवा, वृद्ध आदि विविध अवस्थाए नही आ सकतीं, क्योकि विविध अवस्थाए एक ही साथ कभी नहीं आती है।

इसी तरह जीव द्रव्य व्यय वाला भी है, क्योंकि बाल्यादि अवस्थाएं प्रतिक्षण नष्ट होती रहती हैं। यदि व्यय न हो तो जीव सदा बाल्य अवस्था में ही बना रहे।

द्रव्य रूप से जीवत्व एव द्रव्यत्व ध्रुव है, वह सदा-सर्वदा रहने वाला है। यदि द्रव्य को ध्रौव्य गुणयुक्त न माना जाए तो पहले अनुभव किए हुए का कभी भी स्मरण न हो सकेगा। उसके लिए अभिलाषा भी उत्पन्न नही हो सकेगी। शुभाशुभ क्रियाएं भी व्यर्थ हो जाएगी। अत: किसी एक वस्तु का पूर्वापर पर्यायो में रहना मानना अनिवार्य है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु में त्रिपदी को घटाया जाता है। यही मातृकानुयोग है।

३. **एकार्थिकानुयोग**—एक अर्थ वाले शब्दों का अनुयोग करना, समान वर्ण वाले शब्दों की व्युत्पत्ति द्वारा वाच्यार्थ से संगति बैठाना। जैसे जीवद्रव्य के पर्यायवाची शब्द हैं— प्राणी, भूत, जीव, सत्व इत्यादि। जीव प्राण धारण करने से प्राणी, सदाकाल से चला आ रहा है अत: भूत, जीने वाला होने से जीव और सदा सत् सत्व कहलाता है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ के जो पर्यायवाची नाम हैं उन्हीं को एकार्थिकानुयोग कहते है।

४. **करणानुयोग**—क्रिया के प्रति साधकतम कारणों को करण कहते हैं! जैसे जीव कर्त्ता है, वह भिन्न-भिन्न क्रियाओं को करने में काल, स्वभाव, नियति तथा पूर्वकृत कर्मों की अपेक्षा रखता है। करण के बिना एकाकी जीव कुछ भी नहीं कर सकता। मिट्टी से घडा बनाने मे कुम्भकार को दंड़, चक्र, चीवर आदि उपकरणों की आवश्यकता होती है। इसी तरह तात्त्विक बातों के कारण की पर्यालोचना करना करणानुयोग है। प्रत्येक उपादान कारण को कार्यरूप में परिणत होने के लिए अथवा करने के लिए भिन्न-भिन्न निमित्त कारण होते हैं। जब वे निमित्त कारण अपने-अपने कार्य-निर्माण करने में व्यापारवान् होते हैं, तब उन्हे करण कहा जाता है। प्रत्येक क्रिया के करते समय साधकतम करण की अत्यन्त आवश्यकता रहती है तथा योगात्मा और कषायात्मा के करणों से ही जीव को व्यवहार पक्ष मे कर्त्ता माना गया है। वास्तव में देखा जाए तो कर्म-रहित जीव स्वकीय पर्यायों का ही कर्त्ता है।

५. **अर्पितानर्पितानुयोग**—विशेषण सहित वस्तु को अर्पित कहते हैं और विशेषण-रहित को अनर्पित। अर्पित का अर्थ मुख्य और अनर्पित का अर्थ गौण है। प्रत्येक वस्तु अनेक-धर्मात्मक होती है, जब उसमें प्रयोजनवश जिस धर्म की मुख्यता होती है, तब वह विवक्षावश प्रधानता को प्राप्त होकर अर्पित है, किन्तु वस्तु के जिस धर्म की जिस समय विवक्षा नही होती है, वह अनर्पित कहलाता है। अत: एक ही पदार्थ को कभी नित्य और कभी अनित्य कहने में कोई विरोध नही आता है। जैसे एक ही पुरुष अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा पिता कहलाता है, वैसे ही वस्तु के विषय मे भी जान लेना चाहिए। एक ही पदार्थ मे नित्य और अनित्य, भिन्न और अभिन्न, सत् और असत्, एक और अनेक इत्यादि अनेक विरोधी धर्म रहते हैं। वक्ता जिस अभिप्राय से नित्य कहता है, उस अभिप्राय से जब भी देखेंगे, तब वह नित्य दीखेगा। जब वह विरोधी अभिप्राय से उसी पदार्थ को देखता है, तब नित्यत्व उसके मस्तिष्क से निकल जाता है और अनित्यत्व का प्रवेश हो जाता है। जैसी दृष्टि होती है, वैसी ही सृष्टि दृष्टिगोचर होती है। जब वस्तु को सामान्य दृष्टि से देखा जाता है, तब अनर्पित और जब विशेष दृष्टि से देखा जाता है, तब अर्पित। एक समय में एक धर्म की मुख्यता रहती है तो दूसरे की गौणता, किन्तु दोनो का प्रवेश और कथन एक साथ नहीं होता, इसी को अर्पितानर्पितानुयोग कहते हैं।

६. **भाविताभावितानुयोग**—जिस वस्तु में दूसरे द्रव्य के संसर्ग से उसकी वासना आ गई हो, उसे भावित कहते हैं और जिसे दूसरी वस्तु का संसर्ग प्राप्त न हुआ हो या संसर्ग होने पर भी किसी प्रकार का उस पर प्रभाव न पड़ा हो उसे अभावित कहते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं—प्रशस्त भावित और अप्रशस्त भावित। कर्मो से मुक्त होने की भावना और ससार से उद्विग्न होने की भावना से भावित होना प्रशस्त भावित है। इससे विपरीत धर्म से विमुख और पाप भावना से भावित होना अप्रशस्त भावित है। इन दोनों के दो-दो भेद हैं वामनीय और अवामनीय। किसी ससर्ग से उत्पन्न हुए दोष यदि दूसरे ससर्ग से दूर हो जाएं तो उन्हे वामनीय कहते है और जो किसी भी तरह दूर न हो सकें, वे अवामनीय कहलाते हैं। भावित-अभावित और वाम्य-अवाम्य को लेकर किसी भी द्रव्य की व्याख्या करना भाविताभावितानुयोग है।

७. **बाह्याबाह्यानुयोग**—जब विलक्षणता और समानता को लेकर द्रव्य की व्याख्या की जाए, तब वह बाह्याबाह्य कहलाता है। जिस प्रकार जीव द्रव्य अरूपी होने पर भी उसका चैतन्य धर्म आकाशास्तिकाय से विलक्षण है, क्योंकि आकाश और जीव दोनों अमूर्त और अरूपी होने से समान धर्म वाले है, फिर भी जीव में चैतन्य धर्म अन्य द्रव्यों की अपेक्षा विलक्षण ही पाया जाता है। जीव अमूर्त और अरूपी होने की अपेक्षा आकाश द्रव्य जीव से अबाह्य है, किन्तु चैतन्य धर्म-युक्त होने से जीव आकाश से बाह्य है। अथवा जिस पदार्थ का अवलोकन बाह्य दृष्टि से किया जाए वह बाह्य और जिस को अन्तरंग से देखा या परखा जाए वह अबाह्य। द्रव्य की बाहरी एव भीतरी पृष्ठभूमि का वर्णन करना बाह्याबाह्यानुयोग कहलाता है।

८. **शाश्वताशाश्वतानुयोग**—जिस द्रव्य की व्याख्या करते हुए शाश्वत और अशाश्वत का वर्णन किया जाए उसे शाश्वताशाश्वतानुयोग कहते हैं। जैसे कि जीव द्रव्य शाश्वत है, क्योकि न कभी इसकी उत्पत्ति हुई और न कभी अत होगा, परन्तु मनुष्य आदि पर्यायों से वह अशाश्वत भी है, क्योंकि उसकी पर्याय बदलती रहती है ध्रौव्य की अपेक्षा से जीव शाश्वत और उत्पाद एव व्यय पर्याय की अपेक्षा अशाश्वत है। इस विचार-धारा को लेकर द्रव्य की व्याख्या करना शाश्वताशाश्वतानुयोग कहलाता है। नित्यानित्यवाद ही रमणीय है।

९. **तथाज्ञानानुयोग**—जैसी वस्तु है उस के अनुरूप ज्ञान को तथाज्ञान कहते है। वस्तु के यथार्थज्ञान को तथाज्ञान अर्थात् तथ्यज्ञान कहा जाता है।

१०. **अतथाज्ञानानुयोग**—तीन अज्ञानों का वर्णन करना या मिथ्यादृष्टि जिस तत्त्व-ज्ञान का वर्णन करता है वह अथवा हेत्वाभास एवं प्रमाणाभास से होने वाला विपरीत ज्ञान अतथाज्ञानानुयोग कहलाता है, जैसे कथञ्चिद् नित्यानित्य वस्तु को एकान्त-नित्य या एकान्त-अनित्य कहना। इन दस रूपों में द्रव्य की व्याख्या की जाती है।

उत्पात-पर्वतों के प्रमाण

मूल—चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो तिगिच्छिकूडे उप्पाय-पव्वए दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं पण्णत्ते। चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो सोमस्स महारन्नो सोमप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दस गाउयसयाइं उव्वेहेणं, मूले दस जोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते। चमरस्स णमसुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो जमस्स महारन्नो जमप्पभे उप्पायपव्वए एवं चेव। एवं वरुणस्सवि। एवं वेसमणस्सवि। बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो रुयगिंदे उप्पायपव्वए मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं पण्णत्ते। बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स सोमस्स एवं चेव। जहा चमरस्स लोगपालाणं तं चेव बलिस्सवि।

धरणस्स णं णागकुमारिंदस्स णागकुमाररन्नो धरणप्पभे उप्पायपव्वए दस जोयणसयाइं उडढ्ं उच्चत्तेणं, दसगाउयसयाइं उव्वेहेणं, मूले दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं। धरणस्स नागकुमारिंदस्स णं नागकुमाररण्णो कालवालस्स महारण्णो महाकालप्पभे उप्पायपव्वए दस जोयणसयाइं उड्ढं एवं चेव। एवं जाव संखवालस्स। एवं भूयाणंदस्सवि। एवं लोगपालाणंवि। से जहा धरणस्स एवं जाव थणियकुमाराणं सलोगपालाणं भाणियव्वं। सव्वेसिं उप्पायपव्वया भाणियव्वा, सरिसणामगा।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सक्कप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयण-सहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दस गाउयसहस्साइं उव्वेहेणं, मूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेण पण्णत्ते। सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो जहा सक्कस्स तहा सव्वेसिं लोगपालाणं, सव्वेसिं च इंदाणं जाव अच्चुयत्ति। सव्वेसिं पमाणमेगं॥२६॥

छाया—चमरस्य खल्वसुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य तिगिच्छिकूट उत्पातपर्वतो मूले द्वाविंशतियोजनशतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः। चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य सोमस्य महाराजस्य सोमप्रभ उत्पातपर्वतो दशयोजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन, दशगव्यूत-शतान्युद्वेधेन, मूले दशयोजनशतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः। चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुर-कुमारराज्ञो यमस्य महाराजस्य यमप्रभ उत्पातपर्वत एवमेव। एवं वरुणस्यापि। एवं वैश्रमणस्यापि।

बलेर्वैरोचनेन्द्रस्य वैरोचनराज्ञो रुचकेन्द्र उत्पातपर्वतो मूले दशद्वाविंश- तियोजन-

शतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः। बलेर्वैरोचनेन्द्रस्य सोमस्यैवञ्चैव, यथा चमरस्य लोकपालानां तदेव बलेरपि।

धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारमहाराजस्य धरणप्रभ उत्पातपर्वतो दशयोजन-शतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन, दशगव्यूतशतान्युद्वेधेन, मूले दशयोजनशतानि विष्कम्भेण। धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराज्ञः कालपालस्य महाराजस्य महाकालप्रभ उत्पातपर्वतो दशयोजनशतान्यूर्ध्वमेवमेव। एवं यावत् शङ्खपालस्य, एवं भूतानन्दस्यापि। एवं लोक-पालानामपि। तस्य यथा धरणस्य। एवं यावत्स्तनितकुमाराणां सलोकपालानां भणित-व्यम्। सर्वेषामुत्पातपर्वता भणितव्याः, सदृशनामकाः।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य शक्रप्रभ उत्पातपर्वतो दशयोजनसहस्राण्यूर्ध्वमुच्चत्वेन, दशगव्यूतसहस्राण्युद्वेधेन, मूले दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः। शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य शक्रप्रभ उत्पातपर्वतो दशयोजनसहस्राण्यूर्ध्वमुच्चत्वेन, दश गव्यूतसह-स्राण्युद्वेधेन, मूले दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः। शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य यथा शक्रस्य तथा सर्वेषां लोकपालानां सर्वेषाञ्चेन्द्राणां यावद् अच्युतस्येति। सर्वेषां प्रमाणमेकम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चमर असुरेन्द्र असुरकुमारराज का तिगिच्छकूट उत्पातपर्वत मूल में एक हजार बाईस योजन चौड़ा है। चमर असुरेन्द्र के सोम नामक लोकपाल का सोमप्रभ उत्पात पर्वत एक हजार योजन ऊचा, एक हजार कोस गहरा, मूल में वह एक हजार योजन चौड़ा है। चमर असुरेन्द्र असुरकुमारराज के यम महाराज का यमप्रभ उत्पात पर्वत भी इसी तरह जानना चाहिए। इसी तरह वरुण का भी और वैश्रमण का भी समझना चाहिए।

बलि वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज का रुचकेन्द्र उत्पात पर्वत मूल में एक हजार बाईस योजन चौड़ाई वाला है। बलि वैरोचनेन्द्र के सोम का उत्पात पर्वत भी इसी तरह है, जैसे चमरेन्द्र के लोकपालों का है और बलि के शेष लोकपालों के उत्पात पर्वतों की गहराई-चौडाई आदि भी उसी तरह जान लेनी चाहिए।

धरण नागकुमार राज का धरणप्रभ उत्पात पर्वत दस सौ योजन ऊंचा, दस गव्यूत शत गहरा और मूल में एक हजार योजन चौड़ा है। धरण नागकुमारेन्द्र नागकुमार राजा के कालपालराजा का महाकाल प्रभ-उत्पात पर्वत सौ योजन ऊंचा पूर्ववत् जानना चाहिए। इसी प्रकार शखपाल आदि का भी। इसी तरह भूतानन्द का भी। ऐसे ही उनके वर्णन हैं, लोकपालों का जैसे कि धरण का है, इसी तरह

स्तनितकुमारों का लोकपालों समेत कहना चाहिए। सब के उत्पात-पर्वत उनके नाम, उनकी लम्बाई-चौड़ाई-गहराई आदि भी समझनी चाहिए।

शक्र देवेन्द्र देवराज का शक्रप्रभ उत्पात पर्वत ऊंचाई में दश हजार योजन, दश हजार गव्यूत उद्वेध में और मूल में दस हजार योजन चौड़ा है। शक्र देवेन्द्र देवराज के सोम महाराज का जैसे शक्र का है, उसी तरह सब लोकपालों का और सभी इन्द्रों का अच्युत इन्द्र तक कहना। सबका प्रमाण एक जैसा है।

विवेचनिका—गणितानुयोग का आश्रयण करके प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकर्त्ता ने चमरेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक सभी इन्द्रों के उत्पात पर्वतो का तथा उनके लोकपालों के उत्पात पर्वतों का प्रमाण सहित वर्णन किया है। जब अधोलोकवर्ती देव अथवा ऊर्ध्वलोक वासी देव मध्यलोक में आते है, तब वे किसी विवक्षित पर्वत-मार्ग से ही यहां आते हैं, उन्हीं पर्वतों को उत्पात-पर्वत कहा जाता है।[1]

तिर्यग्लोक में जाने के लिए जिन पर्वतों पर आकर देव उत्तर वैक्रिय शरीर का निर्माण करते हैं और फिर वहां से तिर्यग्लोक में आते है उन्ही को उत्पात पर्वत कहा जाता है। उत्पात-पर्वत सब देवों के भिन्न-भिन्न है।

चमरेन्द्र असुरकुमार राजा का उत्पातपर्वत तिगिच्छि कूट है। तेरहवें रुचक द्वीप से दक्षिण की ओर असंख्यात द्वीप-समुद्रो को लाघकर एक अरुणवर द्वीप आता है, उस द्वीप की सीमा से ४२००० योजन अरुणवर समुद्र में जाकर तिगिच्छिकूट पर्वत है जो कि प्रासादयुक्त है। वह पर्वत रत्नमय है। पद्मवरवेदिका और वनखण्ड से परिवेष्टित है। वह मूल में १०२२ योजन चौडा है।

चमरेन्द्र असुरकुमार महाराज के चार लोकपाल है—सोम, यम, वरुण और वैश्रवण। लोकपालो के जो नाम है, उनके नामो के सदृश उत्पात पर्वतों के नाम हैं, जैसे कि सोमप्रभ, यमप्रभ, वरुणप्रभ और वैश्रवणप्रभ। ये चार उत्पातपर्वत १००० योजन गहरे है और १००० योजन ऊंचे है।

बलि वैरोचनेन्द्र असुरकुमार महाराज का उत्पातपर्वत रुचकेन्द्र १०२२ योजन विस्तार वाला है। वह रुचक द्वीप से असंख्यात द्वीप समुद्रो को लाघ कर अरुणवर समुद्र का ४२००० योजन अवगाहन कर उत्तर दिशा में है। उसकी ऊचाई-गहराई और चौड़ाई भी तिगिच्छिकूट नामक उत्पात पर्वत की तरह जान लेनी चाहिए। उस के चार लोकपालो के उत्पात पर्वत भी वैसे ही समझने चाहिएं जैसे कि चमरेन्द्र के लोकपालों के हैं।

शेष आठ भवन-पतियों के १६ इन्द्र है। उन की राजधानियां आठ दक्षिण दिशा में और आठ उत्तर दिशा मे हैं। जिस दिशा में जिस इन्द्र की राजधानी है, उसका तथा उस के

१ उत्पतनमूर्ध्वगमनमुत्पातस्तेनोपलक्षित पर्वत उत्पात-पर्वत:। इति वृत्तिकार:

लोकपालों के उत्पातपर्वत भी उसी दिशा में है, सभी उत्पात पर्वतों की गहराई-चौडाई और ऊंचाई १००० योजन की है। जिस इन्द्र का जैसा नाम है तथा उसके लोकपालों का जैसा नाम है, उस नाम के पीछे 'प्रभ' शब्द जोड़ देने से उत्पात पर्वत का नाम बन जाता है। जैसे धरणेन्द्र का धरण-प्रभ, शक्रेन्द्र का शक्रप्रभ, इसी तरह शेष उत्पात पर्वतों के विषय में भी जान लेना चाहिए। अंतर केवल इतना ही है कि द्वीपकुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार और स्तनितकुमार इन्द्रों और उनके लोकपालों के उत्पातपर्वत अरुणवर द्वीप के अरुणवर समुद्र में हैं। वानव्यंतर और ज्योतिषीन्द्रों के न उत्पात पर्वत है और न उनके लोकपाल ही है। 'वैमानिकों' के १० इन्द्र हैं और प्रत्येक इन्द्र के ४-४ लोकपाल है। शक्रेन्द्र, सानत्कुमार, ब्रह्म, महाशुक्र तथा प्राणत इन्द्रों के उत्पातपर्वत दक्षिण दिशा में है और ईशानेन्द्र, माहेन्द्र, लातक, सहस्रार और अच्युत, इन ५ वैमानिक इन्द्रो के उत्पातपर्वत उत्तर दिशा मे हैं।

प्रश्न हो सकता है कि भवनपति इन्द्र और देव इस मध्यभूमि पर आते ही है, अत: उन के उत्पात पर्वतों का होना तो सम्यक् है, किन्तु जो शक्रेन्द्र आदि देव हैं, उनके उत्पातपर्वत किस कारण कथन किए गए है?

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि शक्रेन्द्र आदि देव जब कल्याणक आदि दिवसों में यहां आते हैं, तब वे देव पहले अपने-अपने उत्पातपर्वतो पर उतरते है, फिर यहां आया करते है। दूसरी बात यह है कि वे पर्वत उनके अधिकार मे है, वे ऊपर से आते हुए अपने-अपने प्रासादों मे ठहरते है। इस दृष्टिकोण से उन पर्वतों का नाम उत्पातपर्वत पडा है। यद्यपि देवों की गति अचिंत्य है तथापि व्यवहार नय की अपेक्षा से तथा अधिकार की अपेक्षा से उपर्युक्त वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

हजार योजन अवगाहना वाले जीव

मूल—बायरवणस्सइकाइयाणं उक्कोसेणं दसजोयणसयाइं सरीरोगाहणा पण्णत्ता। जलचरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं उक्कोसेणं दस जोयणसयाइं सरीरोगाहणा पण्णत्ता। उरपरिसप्प-थलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं उक्कोसेणं एवं चेव॥२७॥

छाया—बादरवनस्पतिकायिकानामुत्कर्षेण दशयोजनशतानि शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता। जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानामुत्कर्षेण दशयोजनशतानि शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता। उर:-परिसर्प-थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानामुत्कर्षेणैवमेव।

शब्दार्थ—बायरवणस्सइकाइयाणं उक्कोसेणं—बादरवनस्पतिकाय जीवो की उत्कृष्ट, **दसजोयणसयाइं सरीरोगाहणा पण्णत्ता**—दस सौ योजन शरीर की अवगाहना कही गई है, **जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं उक्कोसेणं**—जलचर-पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चो की

उत्कृष्ट, **दस जोयणसयाइ**—एक हजार योजन, **सरीरोगाहणा पण्णत्ता**—शरीर की अवगाहना कही गई है, **उरपरिसप्पथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं उक्कोसेणं**—उर परिसर्प-स्थल-चर-पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों की उत्कृष्ट अवगाहना, **एवं चेव**—पूर्ववत् जाननी चाहिए।

मूलार्थ—बादर वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्ट शरीर की अवगाहना एक हजार योजन है। जलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिज जीवो की उत्कृष्ट शरीर-अवगाहना एक हजार योजन है। इसी प्रकार उर:परिसर्प-स्थलचर पञ्चेन्द्रिय जीवों की अवगाहना भी जाननी चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रों में हजार-हजार का अधिकार चल रहा है, अत: प्रस्तुत सूत्र में भी हजार का आश्रयण कर हजार योजन की अवगाहना किन-किन जीवो की है यह निर्देश किया गया है। जितने आकाश-प्रदेश शरीर द्वारा अवगाहन किए जाएं, उसे अवगाहना कहते हैं। अवगाहना का माप उत्सेधांगुल से किया जाता है न कि प्रमाणांगुल से। कहा भी है—"**उस्सेह पमाणाउमिणे देहं**"। बादर वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना हजार योजन की है। यह कथन समुद्रवर्ती पद्मनाल की अपेक्षा से समझना चाहिए। इतनी ही अवगहना गर्भज मत्स्य की होती है। उक्त कथन स्वयभूरमण समुद्र की अपेक्षा से कहा गया है। गर्भज उर:परिसर्प महोरग आदि ढाई द्वीप से बाहर के द्वीपों मे पाए जाते है। पद्मनाल, मच्छ और महोरग, इन की उत्कृष्ट अवगाहना १००० योजन की होती है।

तीसरे और चौथे तीर्थकर का अन्तर

मूल—संभवाओ णमरहाओ अभिणंदणे अरहा दसहिं सागरोवम-कोडिसयसहस्सेहिं वीइक्कंतेहिं समुप्पन्ने॥ २८॥

छाया—संभवतोऽर्हतोऽभिनन्दनोऽर्हन् दशसु सागरोपमकोटिशतसहस्त्रेषु व्यतिक्रान्तेषु समुत्पन्न:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—श्री सम्भवनाथ अरिहन्त से श्री अभिनन्दन अरिहन्त के उत्पन्न होने का अन्तरकाल दश लाख कोटि सागरोपम का है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे अवगाहना का वर्णन किया गया है। अवगाहना आदि नियमबद्ध विषयों का प्रतिपादन तीर्थकर भगवान ही करते हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र मे दो तीर्थकरों के अन्तर-काल का निर्देश किया गया है।

तीसरे तीर्थंकर भगवान के निर्वाण होने के बाद दस लाख करोड़-करोड सागरोपम काल बीतने पर, चौथे तीर्थंकर अभिनन्दन अरिहन्त का जन्म कल्याणक हुआ था। इसी तरह भिन्न-भिन्न प्रकार से चौबीस तीर्थकरो का अन्तर-काल शास्त्रकारो द्वारा निर्दिष्ट हुआ है।

दशविध अनन्त

मूल—दसविहे अणंते पण्णत्ते, तं जहा—णामाणंतए, ठवणाणंतए, गणणाणंतए, पएसाणंतए, एगओणंतए, दुहओणंतए, देसवित्थाराणंतए, सव्ववित्थाराणंतए, सासयाणंतए॥२१॥

छाया—दशविधमनन्तकं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—नामानन्तकं, स्थापनानन्तकं, द्रव्यानन्तकं, गणनानन्तकं, प्रदेशानन्तकम्, एकतोऽनन्तकं, उभयतोऽनन्तकं, देशविस्तारानन्तकं, सर्वविस्तारानन्तकं, शाश्वतानन्तकम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दश प्रकार का अनन्त होता है, यथा—नाम-अनन्त, स्थापना-अनन्त, द्रव्य-अनन्त, गणना-अनन्त, प्रदेश-अनन्त, एकतोऽनन्त, उभयतोऽनन्त, देशविस्तार-अनन्त, सर्वविस्तार-अनन्त, शाश्वत-अनन्त।

विवेचनिका—अरिहन्त भगवान ही जीवादि अनन्त पदार्थो को देख सकते है, अत: प्रस्तुत सूत्र में दस प्रकार के अनन्तक प्रतिपादन किए गए है। जिनकी नामावली मूलार्थ में लिख दी गई है। प्रत्येक अनन्तक का विवरण इस प्रकार है—

१. **नामानन्तक**—जीव पदार्थ हो या अजीव पदार्थ, जिस पदार्थ का नाम अनन्तक रख दिया है, उसे नामानन्तक कहते है, जैसे कि अनन्तराम, अनन्त चौदस इत्यादि—

२ **स्थापनानन्तक**—जिस अनन्त की स्थापना की गई है, वह स्थापनानन्तक है। अनन्त का नक्शा या मॉडल बनाना सद्भूत स्थापनानन्त है और अनघड़ वस्तु मे अनन्त की स्थापना कर लेना असद्भूत स्थापनानन्त कहलाता है। जैसे अक्ष आदि में अनंत की स्थापना करना।

३. **द्रव्यानन्तक**—जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य अनन्त होने से इन्हें द्रव्यानन्तक कहते है।

४. **गणनानन्तक**—१, २, ३, संख्यात, असख्यात, अनन्त इस तरह केवल गिनती करना गणनानन्तक कहलाता है। इस मे वस्तु की विवक्षा नहीं होती।

५. **प्रदेशानन्तक**—आकाश प्रदेशों मे रहने वाली अनन्तता को प्रदेशानन्तक कहते हैं।

६. **एकतोऽनन्तक**—अतीत काल अथवा अनागत काल इन में से किसी एक को एकतोऽनन्तक कहते हैं, क्योंकि अतीतकाल भी अनन्त है और अनागतकाल भी अनन्त है।

७. **उभयतोऽनन्तक**—जो पदार्थ अतीत और अनागत दोनों कालों की अपेक्षा से अनन्त हैं अथवा एक दिशा में भी आकाश के अनन्त प्रदेश हैं और दो दिशाओं मे भी आकाश प्रदेश अनन्त हैं, अत: उन्हें उभयतोऽनन्तक कहा जाता है।

८. **देशविस्तारानन्तक**—आकाश-प्रदेशों के प्रतर भी अनन्त हैं।

९. **सर्वविस्तारानन्तक**—आकाशास्तिकाय में अनन्त प्रदेश हैं, अत: उन्हें सर्व-विस्तारानन्तक कहा जाता है।

१०. **शाश्वतानन्तक**—जिस पदार्थ का आदि-अन्त न हो, जैसे—जीवादि वस्तु अनन्त है। जीव और अजीव ये दोनों द्रव्य अनादि अनन्त है, अत: इनकी अनन्तता शाश्वतानन्तक कहलाती है।

पूर्वगत वस्तु और चूलावस्तु

मूल—उप्पायपुव्वस्स णं दस वत्थू पण्णत्ता। अत्थिणत्थि प्पवायपुव्वस्स णं दसचूलवत्थू पण्णत्ता॥ ३०॥

छाया—उत्पादपूर्वस्य दशवस्तूनि प्रज्ञप्तानि। अस्तिनास्ति-प्रवादपूर्वस्य दश-चूलावस्तूनि प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—उत्पादपूर्व की दश वस्तु अर्थात् अध्ययन विशेष वर्णन किए गए हैं। अस्ति-नास्ति प्रवादपूर्व की दश चूला-वस्तु वर्णन की गई हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे वर्णित अनन्तादि पदार्थो के ज्ञान का मूल स्रोत पूर्वगत-श्रुतज्ञान है, अत: प्रस्तुत सूत्र में दश संख्या से सम्बन्धित पूर्वो का वर्णन किया गया है। जैनागमों के अनुसार प्रत्येक पूर्व श्रुतज्ञान का समुद्र है। पूर्वो का ज्ञान १४ भागों में विभक्त है। उनमें पहले पूर्व का नाम उत्पादपूर्व है। इसमें दस वस्तु हैं। पूर्वो के अतर्गत बडे अधिकार को वस्तु कहा जाता है। अस्ति-नास्ति-प्रवाद पूर्व में दस चूलावस्तु है। पूर्वो की सख्या मे इसका क्रमांक चौथा है।

प्रतिसेवना, आलोचना और प्रायश्चित्त

मूल— दसविहा पडिसेवणा पण्णत्ता, तं जहा—
दप्प पमाय णाभोगे आउरे आवईसु य।
संकिए सहसक्कारे, भयप्पओसा य वीमंसा।
दस आलोयणा दोसा पण्णत्ता, तं जहा—
आकंपइत्ता अणुमाणइत्ता जंदिट्ठं बायरं य सुहुमं वा।
छन्नं सद्दाउलगं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी।

दसहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ अत्तदोसमालोएत्तए, तं जहा—

जाइसंपन्ने, कुलसंपन्ने, एवं जहा अट्ठठाणे जाव खंते, दंते, अमाई, अपच्छाणुतावी।

दसहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ आलोयणं पडिच्छित्तए, तं जहा—

आयारवं, अवहारवं जाव अवायदंसी, पियधम्मे, दढधम्मे।

दसविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा—आलोयणारिहे जाव अणवट्ठप्पारिहे, पारंचियारिहे ॥३१॥

छाया— दशविधा प्रतिसेवना प्रज्ञप्ता, तद्यथा—
दर्पः प्रमादोऽनाभोगः आतुर आपत्सु च।
शंकितः सहसात्कारो भयः प्रद्वेषश्च विमर्शः।
दश आलोचना-दोषाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—
आकम्प्यः, अनुमान्यः, यद्दृष्टं, बादरश्च सूक्ष्मं वा।
छन्नं शब्दाकुलं बहुजनमव्यक्तं तत्सेवी॥

दशभिः स्थानैः सम्पन्नोऽनगारोऽर्हत्यात्मदोषमालोचयितुम्, तद्यथा—जातिसम्पन्नः, कुल-सम्पन्नः, एवं यथा अष्टमस्थाने यावत् क्षान्तः, दान्तः, अमायी, अपश्चादनुतापी।

दशभिः स्थानैः सम्पन्नोऽनगारोऽर्हत्यालोचनां प्रत्येष्टुम, तद्यथा—आचारवान्, अवधारणावान्, यावद् अपातदर्शी, प्रियधर्मः, दृढधर्मः।

दशविधं प्रायश्चित्तं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—आलोचनार्ह यावद् अनवस्थाप्यार्ह, पाराञ्चिकार्हम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस प्रकार से प्रतिसेवना अर्थात् दोषों का लगना होता है, यथा—दर्प से, प्रमाद से, विस्मृति से, रोगादि के कारण से, आपत्काल में, शंका से, अकस्मात्, भय से, द्वेष से और परीक्षा से।

दस आलोचना के दोष हैं, यथा—स्वल्प दण्ड के लिए वृद्धों की सेवा करना, दोषों का अनुमान करके आलोचना करना, देखे जाने पर दोषो की आलोचना करना, स्थूल दोषों की आलोचना करना, सूक्ष्म दोषों की आलोचना करना, अव्यक्त शब्द से आलोचना करना, उच्च स्वर से आलोचना करना, एक दोष बहुतों से कहना, अगीतार्थ मुनि के पास आलोचना करना और समान दोषसेवी के पास आलोचना करना।

दश स्थानों से सम्पन्न अनगार आत्मदोषों की आलोचना करने के योग्य होता है, जैसे—जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, जैसे आठवें स्थान में वर्णन किया गया है, यावत् क्षमावन्त, दान्त, माया-रहित, आलोचना के पश्चात् पश्चात्ताप न करने वाला।

दस स्थानों से सम्पन्न अनगार आलोचना सुनने योग्य अथवा प्रायश्चित्त देने योग्य होता है, यथा—आचारवान्, अवधारणवान्, यावत् जो आलोचना नहीं करते उनको भावी कष्ट दिखा कर आलोचना कराने वाला, प्रियधर्मी और दृढ़धर्मी।

दस प्रकार का प्रायश्चित्त होता है, यथा—आलोचना के योग्य यावत् नूतन दीक्षा, पारांचिक अर्थात् कुछ समय तक तपस्या आदि करवा कर पुन: दीक्षित करना।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पूर्वगत वस्तु और चूला वस्तु का उल्लेख किया गया है। उन अधिकारों में दोषों से निवृत्ति और गुणों मे प्रवृत्ति का विधान है, उन्हीं का आश्रय लेकर सूत्रकार ने इस सूत्र में प्रतिसेवनादि का परिचय प्रस्तुत किया है।

आगमों की भाषा में दोष-सेवन को प्रतिसेवना कहते हैं। निषिद्ध क्रियाओ के सेवन करने से ही व्रत दूषित होते हैं। दूषित व्रत आत्म-साधना में अकिंचित्कर होते हैं। जैसे अस्वस्थ एवं दुर्बल व्यक्ति के द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं होता है, वैसे ही दूषित व्रती भी साधनोत्तीर्ण स्तर पर नही पहुच सकता। जब भी साधक अपनी साधना को किसी प्रकार दूषित कर देता है, तब वह इन दस प्रकार की प्रतिसेवनाओं में से किसी भी एक कारण से दूषित किया करता है। उन का विवरण इस प्रकार है—

१ **दर्प्प**—दर्प्प का अर्थ है अहंकार। अहकारवश दोष लगाना। क्योंकि दर्प पूर्वक गमन आदि क्रियाएं करते समय साधक को प्राणातिपात, असत्य आदि का दोष लग ही जाता है। अभिप्राय यह है कि जो क्रिया दर्प-पूर्वक की जाती है, वह दोष का कारण अवश्य होती है।

२. **प्रमाद**—किसी भी सत्कार्य मे उपेक्षा रखना प्रमाद है। किसी हसी-मजाक, विकथा आदि में संलग्न रहना। विषय, कषाय, निद्रा, आलस्य आदि का अतर्भाव प्रमाद में हो जाता है। प्रमाद के प्रविष्ट होते ही साधक मे स्वकर्त्तव्य-विमुखता आ जाती है। अत· कर्त्तव्य-विस्मृति ही प्रमाद-दोष है।

३. **अनाभोग**—आभोग का अर्थ है ज्ञान। जिस दोष की जानकारी साधक को नही है, उसका सेवन करना। जो दोष अनजाने से लगता है, वह अनाभोग दोष कहलाता है।

४. **आतुर**—भूख-प्यास, रोग, शोक आदि से पीडित होता हुआ साधक, जब अपनी साधना को दूषित करता है, तब वह आतुर दोष कहलाता है।

५. आपत्ति—क्लेश, दु:ख या कष्ट के समय को आपत्ति कहते हैं। विपत्ति-काल में भी दोष लग जाने की संभावना रहती है। आपत्ति काल चार प्रकार का होता है—द्रव्यत:, क्षेत्रत:, कालत: और भावत:। प्रासुक द्रव्य का दुर्लभ हो जाना द्रव्य से आपत्ति है। मार्ग मे या स्थान विशेष से होने वाले कष्ट को क्षेत्र से आपत्ति कहा जाता है। गर्मी या अतिदुर्भिक्ष आदि से होने वाली आपत्ति को काल-आपत्ति कहते हैं। रोग आदि से अभिभूत होकर साधना को दूषित कर लेना, भाव से आपत्ति है।

६. शंकित—शंका होने पर दोष लगाना।

७. सहसाकार—अचानक दोष लग जाना, जैसे कि पहले बिना ही देखे आगे कदम बढ़ाया, फिर किसी जीव को देखता हुआ भी उस पांव को उठाने में समर्थ न रहने पर जो दोष लगता है, उसे सहसाकार कहते है।

८. भय—डरकर बिना यतना के भागना या वृक्षादि पर चढ जाना। क्योंकि भय से सभी पापो का प्रवेश हो जाना स्वाभाविक है।

९. प्रद्वेष—किसी पर द्वेष रखने से भी व्रत दूषित हो जाता है।

१०. विमर्श—शिष्य आदि की परीक्षा के लिए दोषो का सेवन करना विमर्श कहलाता है।

माया आदि के कारण से यदि किसी की परीक्षा ली जाए अथवा निर्णय के उद्देश्य से किसी सचित्त आदि वस्तु का अनुसंधान किया जाए तो दोषों की निवृत्ति के लिए गुरु के समीप आलोचना अवश्य करनी चाहिए।

आलोचना वही साधक कर सकता है, जिसमे दोषों के प्रति घृणा है। सत्य को पाने के लिए पहले असत्य की प्रतिष्ठा का उन्मूलन करना जरूरी है। माया से लगे हुए दोषो की निवृत्ति आलोचना से हो सकती है, किन्तु माया-सहित की हुई आलोचना से आत्म-शुद्धि नहीं होती।

साधक दस कारणो से आलोचना करता हुआ भी आराधक नहीं बन सकता, जैसे कि—

१ आकपइत्ता—प्रसन्न होने पर गुरु थोडा प्रायश्चित्त देंगे, यह सोचकर उन्हे सेवा आदि से प्रसन्न करके फिर उनके पास दोषो की आलोचना करना।

२. अणुमाणइत्ता—दोषो का अनुमान करके आलोचना करना, जैसे कि बिल्कुल छोटा अपराध बताने से गुरु थोडा दण्ड देंगे, यह सोचकर अपने अपराध को बहुत छोटा करके बताना।

३. जंदिट्ठं—जिस दोष का सेवन करते हुए गुरु आदि ने देख लिया हो, उसी की आलोचना करना, अन्य की नहीं।

४. **बायरं**—बड़े-बडे दोषो की आलोचना करना, सूक्ष्म की नहीं।

५. **सुहुमं**—छोटे-छोटे दोषो की आलोचना करना, इस के पीछे केवल माया ही रहती है। क्योंकि दूसरे यह समझेगे कि जो छोटे-छोटे दोषो की भी आलोचना करता है, वह बड़े-बड़े दोषो की आलोचना क्यो न करेगा? यह विश्वास उत्पन्न कराने के लिए सूक्ष्म दोषों की ही आलोचना करना बादर दोषों की नही।

६. **छन्नं**—अधिक लज्जा के कारण इस तरह गुनगुनाकर आलोचना करना, जिसे आचार्यादि भली-भाति न सुन सके।

७. **सद्दाउलगं**—जिस आलोचना को अनधिकारी भी सुन सके, इस प्रकार ऊंचे-ऊचे शब्दों से आलोचना करना।

८. **बहुजण**—एक ही दोष की आलोचना बहुत से गुरुओं के पास करना।

९. **अव्वत्त**—जिस को प्रायश्चित्त-विधान का ज्ञान नहीं है, उस के पास आलोचना करना।

१०. **तस्सेवी**—जिस दोष की आलोचना करनी है, उसी दोष का सेवन करने वाले के पास आलोचना करना। यह निश्चित है कि कपट पूर्वक कोई भी धर्म-क्रिया की जाए, वह सदोष मानी जाती है। क्योकि निष्कपट हृदय मे ही धर्म स्थिर रह सकता है।

जाने या अनजाने में लगे हुए दोषो को आचार्य आदि के सामने निवेदन करके उसके लिए उचित प्रायश्चित्त लेना और अपने भीतर दोषों को अच्छी तरह देखना कि कोई दोष आलोचना के बिना रह न जाए, इस प्रकार आलोचना से ही साधनामय जीवन शुद्ध होता है।

दस गुणों से सपन्न अनगार ही अपने दोषो की आलोचना कर सकता है, जैसे कि:—

१. **जाति-संपन्न**—उत्तम जाति वाला साधक सर्वप्रथम बुरा काम करता ही नही है। यदि कभी उसके द्वारा भूल से कोई अपराध हो भी जाए, तो वह उसकी आलोचना निष्कपटता से कर लेता है।

२. **कुल-संपन्न**—उत्तम कुल मे उत्पन्न हुआ व्यक्ति ही लिए हुए प्रायश्चित्त का सम्यक् वहन कर सकता है।

३. **विनय-संपन्न**—विनीत व्रती ही धर्मगुरु की बात हृदय से मान कर आलोचना कर लेता है।

४. **ज्ञान-संपन्न**—मोक्ष-मार्ग के साधक के लिए कौन-कौन से कार्य बाधक है और कौन-कौन से नहीं, इस बात को भली प्रकार जानने वाला ज्ञानी ही आलोचना कर सकता है।

५. **दर्शन-संपन्न**—आलोचना करने से ही आत्म-शुद्धि हो सकती है। ऐसी श्रद्धा

रखते हुए आलोचना करने वाला दर्शन संपन्न कहलाता है।

६ **चारित्र-संपन्न**—चारित्रवान् ही आलोचना कर सकता है।

७. **क्षान्त**—जो गुरु द्वारा भर्त्सना अर्थात् फटकार मिलने पर भी क्रोध नहीं करता, वही क्षमावान् है, वही आलोचना कर सकता है।

८. **दान्त**—इन्द्रियों के विषयों में अनासक्त व्यक्ति कठोर से कठोर प्रायश्चित्त को भी शीघ्र स्वीकार कर लेता है, अत: आलोचना करने वाले का जितेन्द्रिय होना भी आवश्यक है।

९ **अमायी**—माया-रहित व्यक्ति ही आलोचना कर सकता है। अपने पाप को न छिपाना ही सरलता का चिह्न है।

१०. **अपश्चात्तापी**—आलोचना करने के बाद कृत आलोचना का पश्चात्ताप न करे कि मैंने आलोचना क्यो की है। इन दस गुणों से सपन्न व्यक्ति ही शुद्ध आलोचना कर सकता है।

दस गुणो से सपन्न समर्थ व्रती दूसरे की आलोचना सुनने के योग्य होता है। प्रत्येक व्यक्ति के सामने आलोचना नहीं करनी चाहिए। आलोचना वही सुन सकता है जो अन्य सहस्रो गुणों के होते हुए भी दस गुणों से सपन्न हो। वे दस गुण इस प्रकार हैं।

१. **आचारवान्**—ज्ञानादि पंचाचार का पालन करने वाला हो।

२. **अवधारणावान्**—आलोचना के द्वारा बताए हुए अतिचारों को मन मे धारण करने वाला हो।

३. **व्यवहारवान्**—आगम आदि पांच प्रकार के व्यवहारों का जानकार हो।

४. **अपब्रीडक**—जो अपने दोषो को लज्जा के कारण छिपाता हो, मीठे वचनो के द्वारा ऐसे शिष्य की लज्जा दूर करके अच्छी तरह आलोचना कराने वाला हो।

५. **प्रकुर्वक**—आलोचित दोषों का प्रायश्चित्त देकर अतिचारों की शुद्धि कराने मे समर्थ हो।

६. **अपरिश्रावी**—आलोचना करने वाले के दोषो को दूसरे के सामने प्रकट न करने वाला एव गम्भीर स्वाभाव वाला हो।

७. **निर्यापक**—यदि आलोचना करने वाला व्यक्ति दुर्बल हो, किसी कारणवश एक साथ पूरा प्रायश्चित्त करने मे असमर्थ हो तो थोड़े-थोडे प्रायश्चित्त का निर्वाह कराने वाला हो।

८. **अपायदर्शी**—आलोचना नही करने से विराधक को संसार मे क्या-क्या दु:ख भोगने पडते है, इस प्रकार भावी आध्यात्मिक हानि को दर्शाने वाला हो।

९. **प्रियधर्मी**—जिसे धर्म अत्यन्त प्रिय हो।

१०. दृढ़धर्मी—जो आपत्-काल में भी धर्म से विचलित न होता हो वही आलोचना सुन सकता है।

प्रमादवश किसी दोष के लग जाने पर भी, यदि उसे दूर करने के लिए तथा उसे पुन: न करने के लिए जो क्रिया की जाती है, उसे प्रायश्चित्त कहते है। प्रायश्चित्त के दस भेद है—जैसे कि आलोचना के योग्य, प्रतिक्रमण के योग्य, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के योग्य, विवेक के योग्य, कायोत्सर्ग के योग्य, तप के योग्य, छेद के योग्य अर्थात् दीक्षा काल को कम कर देने के योग्य, मूल योग्य—फिर से महाव्रत आरोपणा के योग्य, अनवस्था-प्याई अर्थात् कुछ समय तप आदि करा कर पुन: दीक्षा देना और पाराचिक—जिस महादोष के सेवन करने से दोषी को लिंग, क्षेत्र, काल और तप के कारण गच्छ से बहिष्कृत करके तप आदि क्रियाएं करने पर फिर उसे नई दीक्षा देकर पुन: गच्छ मे लिया जाए, वह पारांचिक प्रायश्चित्त कहलाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र मे दोष हो जाने के कारण, दोषों की आलोचना और आलोचना सुनने योग्य गुरु के गुण बतला कर शास्त्रकार साधनामार्ग की प्रशस्तता पर बल दे रहे है।

मिथ्यात्व-भेद

मूल—दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, तं जहा—अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा, अमग्गे मग्गसण्णा, मग्गे अमग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा ॥३२॥

छाया—दशविधं मिथ्यात्वं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अधर्मेधर्मसंज्ञा, धर्मेऽधर्मसंज्ञा, अमार्गे मार्गसंज्ञा, मार्गेऽमार्गसंज्ञा, अजीवेषु जीवसंज्ञा, जीवेष्वजीवसंज्ञा, असाधुषु साधुसंज्ञा, साधुष्वसाधुसंज्ञा, अमुक्तेषु मुक्तसंज्ञा, मुक्तेष्वमुक्तसंज्ञा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस प्रकार का मिथ्यात्व-वर्णन किया गया है, यथा—अधर्म मे धर्मबुद्धि, धर्म में अधर्म बुद्धि, उन्मार्ग में मार्ग-ज्ञान, सन्मार्ग मे उन्मार्ग ज्ञान, अजीव पदार्थो में जीव-ज्ञान, जीवों में अजीव-ज्ञान, असाधु को साधु जानना, साधु को असाधु समझना, अमुक्त आत्मा को मुक्त समझना और मुक्त आत्मा को अमुक्त समझना।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र के अन्तिमांश में वर्णित पारांचिक प्रायश्चित्त मिथ्यात्व को दूर करने के लिए ही होता है, अत· प्रस्तुत सूत्र में मिथ्यात्व का स्वरूप और उसके भेदो का वर्णन किया गया है।

जैनागमों के अध्ययन से यह निश्चय हो जाता है कि विश्व भर में कोई भी वस्तु मिथ्या नहीं है। यहां इतना अवश्य स्मरणीय है कि अज्ञान और मोहकर्म के उदय से आत्मा के विचार विपरीत हो जाते हैं। जब आत्मा में सम्यक् विचार उत्पन्न होते हैं, तब उसे पदार्थों का बोध और श्रद्धान यथार्थ होता है। उसी बोध को सम्यग्ज्ञान और श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा जाता है। जब मोहनीय कर्म तथा अज्ञान के विविध रूप आत्मा मे विशेष रूप से उत्पन्न होते हैं, तब उस आत्मा के मिथ्या श्रद्धान और तदनुसार पदार्थो का ज्ञान तथ्य से विपरीत ही होता है। अत: इस सूत्र में दस प्रकार के मिथ्या संकल्पों का दिग्दर्शन कराया गया है, जैसे कि—

१. अधर्म को धर्म समझना।

२. धर्म को अधर्म समझना।

हिंसा आदि पाप क्रियाओ को धर्म समझ लेना। जैसे कि "वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति" आदि हिंसा प्रधान मान्यताए मिथ्यात्व की ही पोषिकाएं है।

दया, सत्य आदि धर्म को अधर्म समझना।

अधर्म से निवृत्ति और धर्म मे प्रवृत्ति आगम शास्त्रो के उपदेश से हो सकती है। आगम अपौरुषेय नही होता, क्योकि जो शब्द है, वह अपौरुषेय नहीं पौरुषेय ही होता है, और मुख, कण्ठादि स्थान होने पर ही वर्णो का उच्चारण होता है। मुख आदि स्थान शरीर का एक अवयव है। जिसे हम ईश्वर कहते है, वह अमूर्त अर्थात् देह से रहित होने के कारण उसके मुखादि अवयव भी नही हैं, अत: वह श्रुतज्ञान का उपदेष्टा नही हो सकता। इसलिए अक्षर रूप आगमो को अपौरुषेय मानना केवल मिथ्यात्व ही है।

अपौरुषेय वादियों का कहना है कि जितने भी पुरुष है, वे सब रागादि से युक्त तथा अल्पज्ञ है, क्योकि वे पुरुष हैं, अत: तीर्थकर भी पुरुष होने से रागादि से युक्त एवं अल्पज्ञ सिद्ध होते हैं, वे सर्वज्ञ की कोटि मे नहीं आ पाते। इसलिए वे आप्त नहीं, अपितु अनाप्त है, अत: उनका कथन आगम नहीं हो सकता। आगम के अभाव से अधर्म से निवृत्ति और धर्म मे प्रवृत्ति जीवों की नहीं हो सकती। इस प्रकार के कुतर्को के द्वारा तीर्थंकरोक्त आगमों को भी मिथ्या कहना मिथ्यात्व है।

अश्रुत में धर्मसंज्ञा-आगमबुद्धि और श्रुतधर्म मे अनागमसज्ञा-अधर्मबुद्धि, ये सब मिथ्यात्व के ही रूप हैं। अपौरुषेय को आगम मानना और पौरुषेय को आगम न मानना ही "अधम्मे धम्मसन्ना, धम्मे अधम्मसन्ना" है।

३. कुमार्ग को सन्मार्ग समझना।

४. सन्मार्ग को कुमार्ग समझना।

कुमार्ग ससार का प्रतीक है और सन्मार्ग मोक्ष का। जिन कारणों से जीव चार गति,

चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता है, वही कुमार्ग है, कुमार्ग पर चलता हुआ जीव दु:ख भोगता है। आशातना, अज्ञान और अविरति ये सब कुमार्ग हैं। कुमार्ग ही संसार है और ससार ही दु:ख है। इस से विपरीत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही सन्मार्ग हैं। सन्मार्ग ही मोक्षमार्ग है, वही एकान्त सुख का कारण है।

५. अजीवों को जीव समझना।

६. जीवों को अजीव समझना।

लोक में दोनों तरह के पदार्थ हैं, फिर भी कुछ लोग विश्व को केवल जीव रूप ही मानते हैं। उन की दृष्टि मे चेतनरहित पदार्थ कोई है ही नहीं। कुछ विचारक विश्व को केवल जड़ रूप मानते है। चार्वाक दर्शन आत्मा को नही मानता, उसका कहना है कि देह में जो चेतना प्रतीत होती है, वह भी भौतिक तत्त्वांश है। ससार एक मात्र अजीव तत्त्व है। उक्त दोनो तरह की मान्यताए केवल मिथ्यात्व ही है।

७. कुसाधु को सुसाधु समझना।

८. सुसाधु को कुसाधु समझना।

जो अपना और दूसरे का कल्याण न कर सके, वह कुसाधु और जो अपना और दूसरे का कल्याण करने वाला है, वह सुसाधु है। जो षड् जीवनिकाय से उपरत नही हुआ तथा झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से उपरत नहीं हुआ, इस प्रकार के वेषधारी को एवं धन-स्त्री और भूमि के अभिलाषी को साधु समझना जैसे मिथ्यात्व है, वैसे ही पंच महाव्रती उत्तम साधु को विद्वेष के कारण असाधु समझना भी मिथ्यात्व है। "**अपुत्रस्य गतिर्नास्ति**"— 'पुत्र उत्पन्न किए बिना गति नहीं होती' और 'यह साधु कुमार-प्रव्रजित है, इसलिए यह साधु ही नहीं है, इसकी शुभ गति असम्भव है।' इस तरह की मान्यताएं भी इसी कोटि में आ जाती है।

९. जो संसार से मुक्त नहीं हुआ, उसे मुक्त समझना।

१०. मुक्तात्मा को अमुक्त समझना।

जो आत्मा आठ प्रकार के कर्मों से सर्वथा मुक्त हो गया है, राग-द्वेष आदि १८ प्रकार के दोषो से मुक्त है तथा सर्व प्रकार के बंधनों से मुक्त हो गया है, उसे मुक्त कहते हैं। इससे विपरीत जो राग-द्वेष में लिप्त है, भोग-विलास में फंसे हुए है, कर्मो के बंधन से बद्ध हैं, वे अमुक्त हैं। जैसी वस्तु हो, वैसी दृष्टि न रखकर उससे विपरीत देखना और जानना ही मिथ्यात्व है।

इस सूत्र से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि संसार में कोई भी पदार्थ मिथ्या नहीं है, किन्तु मानने वालों के विचार मिथ्या है। जैसे किसी की मान्यता के अनुसार न कभी धर्म अधर्म हो सकता है और न अधर्म धर्म हो सकता है, इसी प्रकार अन्य सभी के विषय

में जानना चाहिए। व्यक्ति को उसके मिथ्या विचार इस तरह दु:खित करते हैं, जैसे कि चमकते हुए बालु में जल के संकल्प से मृग दु:खित होता है, क्योंकि उसको दूरवर्ती बालु ही जल के रूप मे भासित होने लगती है, अत: वह किसी भी समय इसी विचार से अपने प्राण भी खो बैठता है। यही दशा मिथ्यात्व के संकल्प धारण करने वालो की होती है, अत: पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए सम्यग्दर्शन का होना अनिवार्य है।

क्षमावीर और शूरवीरों की आयु

मूल—चंदप्पभे णं अरहा दस पुव्वसयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे जावप्पहीणे।

धम्मे णमरहा दस वाससयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे जावप्पहीणे।

णमी णमरहा दस वाससहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे जाव पहीणे।

पुरिससीहे णं वासुदेवे दस वाससयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता छट्ठीए तमाए पुढवीए नेरइयत्ताए उववन्ने।

णेमी णं अरहा दस धणूई उड्ढं उच्चत्तेणं, दस य वाससयाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे जावप्पहीणे।

कण्हे णं वासुदेवे दस धणूइं उच्चत्तेणं, दस य वाससयाइं सव्वाउयं पालइत्ता तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवीए नेरइयत्ताए उववन्ने॥ ३३॥

छाया—चन्द्रप्रभोऽर्हन् दशपूर्वशत-सहस्राणि सर्वायुष्कं पालयित्वा सिद्धो यावत्प्रहीण:।

धर्मोऽर्हन् दश वर्षशतसहस्राणि सर्वायुष्कं पालयित्वा सिद्धो यावत्प्रहीण:।

नमिअर्हन् दशवर्षसहस्राणि सर्वायुष्कं, पालयित्वा सिद्धो यावत्प्रहीण:।

पुरुषसिंहो वासुदेवो दश वर्षशतसहस्राणि सर्वायुष्कं पालयित्वा षष्ठ्यां तमायां पृथिव्यां नैरयिकतयोत्पन्न:।

नेमिरर्हन् दश धनूंषि ऊर्ध्वमुच्चत्वेन, दश च वर्षशतानि सर्वायुष्कं पालयित्वा सिद्धो यावत्प्रहीण:।

कृष्णो वासुदेवो दश धनूंषि उच्चत्वेन, दश च वर्षशतानि सर्वायुष्कं पालयित्वा तृतीयायां वालुकाप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकतयोत्पन्न:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चन्द्रप्रभ अरिहन्त दस लाख पूर्व की सर्वायु भोग कर सिद्ध यावत् सब दु:खो से मुक्त हुए।

धर्मनाथ अरिहन्त दश लाख वर्ष की सर्वायु पाल कर सिद्ध यावत् सर्व दु:खविहीन हुए।

नमिनाथ अरिहन्त दश हजार वर्ष की सर्व आयु भोग कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

पुरुषसिंह वासुदेव दश लाख पूर्व की आयु पाल कर तमा नरक में उत्पन्न हुए।

कृष्ण वासुदेव ऊंचाई में दश धनुष के थे तथा एक हजार वर्ष की कुल आयु भोग कर तृतीया बालुकाप्रभा पृथ्वी में नारक रूप में उत्पन्न हुए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे मिथ्यात्व का वर्णन किया गया है। मिथ्यात्व की सत्ता देवाधिदेवो मे नहीं पाई जाती है अत: प्रस्तुत सूत्र मे देवाधिदेवों—मुक्त और अमुक्त, धर्म-पुरुष और कर्म-पुरुष, योगीश्वर और योगेश्वर, क्षमावीर और युद्धवीर पुरुषों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ भगवान १०००००० पूर्व की सर्वायु पाल कर सिद्धत्व को प्राप्त हुए।

पन्द्रहवें तीर्थकर धर्मनाथ भगवान १०००००० वर्ष की सर्वायु पालकर सिद्ध गति को प्राप्त हुए थे।

इक्कीसवे तीर्थंकर नमिनाथ भगवान १०००० वर्ष की सर्व आयु पालकर पचम-गति को प्राप्त हुए थे।

बाईसवें तीर्थकर अरिष्टनेमि की अवगाहना दस धनुष्य की थी और वे १००० वर्ष की सर्व आयु पालकर निर्वाण को प्राप्त हुए।

वासुदेव नौ हुए है। जो प्रतिवासुदेव को जीत कर तीन खड पर शासन करते है, उन राजाधिराजों को वासुदेव कहते है। उन्हें अर्धचक्री भी कहते है। वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौथे आरे मे नौ वासुदेव हुए है। उन मे से पांचवें और नौवे वासुदेव की आयु, अवगाहना और गति का उल्लेख किया गया है। पुरुषसिंह वासुदेव १०००००० वर्ष की सर्व आयु भोग कर छटी तमा पृथ्वी में उत्पन्न हुए। नौवें वासुदेव महाराज कृष्ण की दस धनुष्य की ऊंचाई थी और वे १००० वर्ष की सर्व आयु पालकर तीसरी बालुका प्रभा पृथ्वी मे उत्पन्न हुए। वासुदेव पूर्वभव में निदान करके वहा उत्पन्न होते हैं। निदान के कारण ही वे शुभ गति को प्राप्त नही हो पाते।

भवनवासी देव और उनके चैत्य वृक्ष

मूल—दसविहा भवणवासी देवा पण्णत्ता, तं जहा—असुरकुमार जाव

थणियकुमारा। एएसि णं दसविहाणं भवणवासीणं देवाणं दस चेइयरुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—

आसत्थ, सत्तिवन्ने, सामलि, उंबर, सिरीस, दहिवन्ने।
वंजुल, पलास, वप्पे तए य कणियाररुक्खे॥३४॥

छाया—दशविधा: भवनवासिनो देवा: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—असुरकुमारा यावत्स्तनित-कुमारा:। एतेषां दशविधानां भवनवासिनां देवानां दश चैत्यवृक्षा: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

अश्वत्थ: सप्तपर्ण: शाल्मलिरुदुम्बर:, शिरीषो दधिपर्ण:।
वञ्जुल: पलाशो, वप्रस्ततश्च कणेरवृक्ष:॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दसविध भवनपति देव हैं, जैसे—असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार। इन दश प्रकार के भवनवासी देवों के दश चैत्य वृक्ष हैं, यथा—अश्वत्थ, सप्तपर्ण, शाल्मलि, उदुम्बर, शिरीष, दधिपर्ण, वञ्जुल, पलाश, वप्र और कनेर।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे देवाधिदेवो का वर्णन किया गया है, देवाधिदेवों की पर्युपासना देव भी करते हैं। देवो में भवनवासी भी देवों की एक जाति विशेष है, अत: इस सूत्र में भवनवासी देवो का और उन के चैत्यवृक्षो का नामोल्लेख किया गया है। भवनवासी देवो के नाम इस प्रकार हैं—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार। ये समस्त देव प्राय: भवनो में रहते है, इसलिए ये भवनवासी कहलाते हैं। यह कथन असुरकुमारो की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योकि अधिकतर वे ही भवनो मे रहा करते है। नागकुमार आदि देव तो आवासो में भी रहते है भवनो में भी।

भवन और आवासों में केवल इतना ही अन्तर है कि भवन बाहर से गोल और भीतर से चतुष्कोण होते हैं, उनके नीचे का भाग कमल की कर्णिका के आकार वाला होता है।

परिमाण मे बडे, मणि-रत्नो से जटित शाश्वत दीपको से दस दिशाओं को प्रकाशित करने वाले मण्डपाकार निवास-स्थान आवास कहलाते है। भवनवासी देव भवन और आवास दोनों में रहते है। भवनो की कुल सख्या सात करोड बहत्तर लाख है।

दस भवनपति देवो के दस चैत्यवृक्ष हैं, जैसे कि अश्वत्थ अर्थात् पीपल, सप्तपर्ण, शाल्मली, उदुम्बर, शिरीष, दधिपर्ण, वजुल, पलाश, वप्र और कनेर। ये दस वृक्ष उक्त देवो के कथन किए गए हैं। जिस वृक्ष को देखकर जिस देव की प्रसन्नता का पारावार न रहे, उसे चैत्यवृक्ष कहते हैं, अथवा जिन वृक्षों के नीचे तीर्थंकरों को केवलज्ञान प्राप्त होता है उन्हें भी चैत्यवृक्ष कहा जाता है।

सुख के भेद

मूल—दसविहे सोक्खे पण्णत्ते, तं जहा—
आरोग्गा दीहमाउं, अड्डेज्जं काम भोग संतोसे।
अत्थि सुहभोग निक्खम्ममेव तओ अणाबाहे॥३५॥

छाया—दशविधं सौख्यं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—
आरोग्यं दीर्घमायुः, आढ्यत्वं कामो भोगाः सन्तोषः।
अस्तिः शुभभोगः, निष्क्रम एवं ततोऽनाबाधम्॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस प्रकार का सुख वर्णन किया गया है, आरोग्य, दीर्घ-आयु, आढ्यत्व धन-धान्य आदि समृद्धि, शब्द-रूप-काम, गन्ध-रस-स्पर्शरूप-भोग, सन्तोष, वाञ्छित पदार्थ की प्राप्ति, शुभ भोग, दीक्षा, निर्वाणपद की प्राप्ति।

विवेचनिका—देव सुखानुभव करने वाले होते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र मे दस प्रकार के सुखो का वर्णन किया गया है। सुख का अर्थ होता है—वह अनुकूल तथा प्रिय अनुभव, जिसके सदा होते रहने की इच्छा हो। दुःख का विपरीत ही सुख है। इसके दस भेद है, जैसे कि—

१. **आरोग्य**—शरीर का स्वस्थ रहना, रोग रहित शरीर का होना पहला सुख है, कहा भी है—'पहला सुख नीरोगी काया।' व्यावहारिक सुखों का मूल कारण नीरोगी काया ही है।

२. **शुभ दीर्घ-आयु**—नैरोग्य होने पर शुभ दीर्घायु भी सुख रूप है। सुखो की सामग्री तो प्राप्त है, किन्तु दीर्घायु न हो, तो सुखो का इच्छानुसार उपयोग नही किया जा सकता।

३ **आढ्यत्व**—विपुल धन-संपत्ति का होना, धन-लाभ का होना भी सुख है।

४ **काम**—इन्द्रियो के पांच विषयों मे शब्द और रूप काम कहलाते है, अभीष्ट शब्द और अभीष्ट रूप का प्राप्त होना ही काम-सुख है।

५ **भोग**—गध, रस और स्पर्श इनको भोग कहते है। शुभ गध, शुभ रस और शुभ स्पर्श, इन से प्राप्त होने वाला सुख-भोग सुख है। कारण मे कार्य का उपचार करके इनको सुख रूप माना गया है।

६. **सन्तोष**—इच्छाओ को सीमित करना, सदैव प्रसन्न रहना, किसी बात की कामना न करना चित्त की शान्ति और मन आनन्द का कारण होने से संतोष सुख है। 'जब आए सन्तोष धन सब धन धूल समान।' सतोष से समाधि बनी रहती है। सतोष सब सुखों का सार है।

७. **अस्ति सुख**—जिस समय जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, उस समय उसी पदार्थ का अकस्मात् लाभ हो जाए, वह भी सुख माना जाता है। आवश्यकताओं की पूर्ति ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ा आनन्द है।

८. **शुभभोग**—शालिभद्र की तरह या सुबाहुकुमार की तरह सुख-सामग्री का सदा-सर्वदा जीवन पर्यन्त बने रहना यही शुभभोग सुख है।

९. **निष्क्रमण**—गृहवास का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करना। सासारिक झझटो मे फंसा हुआ प्राणी अपने कल्याण के लिए धर्म-ध्यान के लिए पूरा समय नही निकाल सकता और न वह पूर्णतया आत्मशान्ति ही प्राप्त कर सकता है, अत: सयम स्वीकार करना ही वास्तविक सुख है।

१०. **अनाबाध**—जब जीव कर्मो के बंधनो से सर्वथा छूट जाता है, तब जो दु:ख रहित एकान्त सुख या नि:सीम आनन्द प्राप्त होता है, वह सादि-अनन्त अनाबाध सुख कहलाता है। यह सुख सबसे महान और नि:सीम है।

इनमें संतोष-सुख और निष्क्रमण-सुख तो क्षायोपशमिक है। अनाबाध सुख क्षायिक है। यह कर्मो के क्षय होने पर ही प्रकट होता है। इनसे भिन्न शेष सब सुख औदयिक भाव से संबंधित है। अनाबाध सुख के बराबर अन्य कोई सुख नही है। कहा भी है—

''नवि अत्थि मणुस्साणं तं सोक्खं नवि य सव्वदेवाणं।
ज सिद्धाणं सोक्खं अव्वाबाहं उवगयाणं॥''

जो सुख सिद्धों को प्राप्त है, वह न सब मनुष्यो को प्राप्त है और न देवो को ही प्राप्त हो सकता है।

उपघात और विशोधि

मूल—दसविहे उवघाए पण्णत्ते, तं जहा—उग्गमोवघाए, उप्पायणोवघाए, जह पंचठाणे, जाव परिहरणोवघाए, णाणोवघाए, दंसणोवघाए, चरित्तोवघाए, अचियत्तोवघाए, सारक्खणोवघाए।

दसविहा विसोही पण्णत्ता, तं जहा—उग्गमविसोही, उप्पायणविसोही, जाव सारक्खणविसोही॥३६॥

छाया—दशविध उपघात: प्रज्ञप्तस्तद्यथा—उद्‌गमोपघात:, उत्पादनोपघात:, यथा पञ्चमस्थाने, यावत्परिहरणोपघात:, ज्ञानोपघात:, दर्शनोपघात:, चारित्रोपघात:, अप्रीतिकमुपघात:, संरक्षणोपघात:।

दशविधा विशोधि: प्रज्ञप्ता, तद्यथा—उद्‌गमविशोधि:, उत्पादनविशोधि:, यावत्संरक्षणविशोधि:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दशविध उपघात अर्थात् संयम-विराधना वर्णन की गई है, यथा—उद्गम-उपघात—आधाकर्मिक दूषित का सेवन। उत्पादन-उपघात—धात्री-पिंड आदि दोष सेवन करना, जैसे पञ्चम स्थान में कथन किया गया है, यावत् परिहरणोपघात—वस्त्रादि उपकरण का अयत्नपूर्वक ग्रहण। दर्शनोपघात—सम्यक्त्व में शंकित होना। चारित्रोपघात—चारित्र में दोष लगाना। अप्रीतिकोपघात—विनय आदि का नाश करना। संरक्षणोपघात—शरीरादि में मूर्च्छाभाव रखना।

दश प्रकार की विशुद्धि कथन की गई है, उद्गम-विशोधि, उत्पादन-विशोधि से लेकर संरक्षण-विशोधि तक।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे सुख का विश्लेषण किया गया है। सुख की प्राप्ति सयम-विराधना अर्थात् उपघात से बचने पर तथा चारित्र की विशुद्धि से ही प्राप्त होती है। अत: प्रस्तुत सूत्र मे उपघात एवं विशुद्धि का वर्णन किया गया है। जिस से चारित्र क्षत-विक्षत हो, वह उपघात कहलाता है। चारित्र की शुद्धि के लिए निर्दोष आहारादि की आवश्यकता रहती है जिन क्रियाओ के करने से चारित्र की विराधना हो, वे क्रियाए कदापि नहीं करनी चाहिए। जिस से चारित्र उत्तरोत्तर निर्मल और स्वच्छ हो जाए, वह विशुद्धि है। उपघात दस प्रकार का होता है, जैसे कि—

१. **उद्गमोपघात**—जो दोष गृहस्थ के द्वारा आहार-पानी के निमित्त से साधु को लगता है, उसे उद्गम कहते है। उससे होने वाली चारित्र-विराधना को उद्गमोपघात कहते हैं। साधु का लक्ष्य रख कर बनाए गए आहार को ग्रहण करने से जिन जीवो का वध हुआ है, उन पर दया के अभाव और उनकी रक्षा से विमुखता होने के दोष से बचना पडता है, अत: इस प्रकार के आहारादि पदार्थ साधु के लिए अकल्पनीय है।

२. **उत्पादनोपघात**—उत्पादना के १६ दोष साधु को लगते है, उन दोषो का निमित्त साधु ही है। क्योंकि धात्री आदि १६ दोष साधु अपनी बुद्धि से स्वय आसेवन करता है। उन से भी चारित्र दूषित एवं अप्रशस्त हो जाता है।

३. **एषणोपघात**—शंकितादि दस प्रकार के एषणा दोषों के सेवन करने से भी चारित्र की विराधना हो जाती है।

४. **परिकर्मोपघात**—यह तीन तरह का होता है—वस्त्र, पात्र और वसति रूप। पाच प्रकार के वस्त्रों में से किसी एक फटे हुए वस्त्र को तीन थिगलो से अधिक थिगले लगाना वस्त्र-परिकर्म उपघात है। पात्र टेढ़ा-मेढा हो, टूटा-फूटा हो, उसे तीन बंधन से अधिक बन्धन लगाना या अपलक्षण से पात्र डेढ महीने से अधिक काम मे लेना, पात्र-परि-कर्म-उपघात है। रहने के स्थान को वसति कहते है। साधु के निमित्त जिस स्थान पर लीपा-पोती

कराई गई हो, उसे धूप आदि देकर सुगंधित किया गया हो, जल का छिड़का किया हो, लिंपन आदि क्रिया की गई हो, ऐसी वसति को वसति-परिकर्म-उपघात कहा जाता है। किसी असार पदार्थ के पीछे अमूल्य समय व्यतीत करने से स्वाध्याय आदि शुभ क्रियाओं का उपघात करना बुद्धिमत्ता नही है।

५. **परिहरणोपघात**—जो वस्त्र, पात्र या वसति नवीन भी हो, यदि वे शिथिलाचारी, स्वच्छन्दाचारी, एकलविहारी के द्वारा छोडे हुए हों या मरण के बाद उसके उपकरण पड़े हो, उन्हें लेना अकल्पनीय है। या जो साधु वेष छोड़ कर चला गया हो, उसके छोड़े हुए उपकरणो को लेना परिहरणोपघात है। वह उपकरण मूलोत्तर गुणों का घात करने वाला होता है।

६. **ज्ञानोपघात**—श्रुतज्ञान सीखने में प्रमाद करना या पुनरावृत्ति करने मे प्रमाद करना। नया ज्ञान सीखना नहीं, पुराने सीखे हुए की आवृत्ति न करना, इस से ज्ञान प्रतिक्षण विस्मृत होता जाता है।

७. **दर्शनोपघात**—जिस से सम्यग्दर्शन को हानि पहुंचे। शंका-कांक्षा आदि जो समकित के अतिचार हैं, उन से सम्यक्त्व को दूषित करना दर्शनोपघात है।

८. **चारित्रोपघात**--समिति-गुप्ति का पालन न करना, इस से चारित्र को हानि पहुंचती है।

९ **अप्रीतिकमुपघात**—गुरु आदि मे पूज्यभाव न रखने से, उन की विनय-भक्ति न करने से अप्रीति के कारण विनय आदि गुणों का उपघात होता है।

१०. **संरक्षणोपघात**—परिग्रह से निवृत्त साधु यदि वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों पर तथा शरीर पर ममत्व रखता है तो वह सरक्षणोपघात दोष का भागी होता है। इन दस उपघातो के सेवन से रत्नत्रय की विराधना होती है, अत: मुमुक्षुओ को चाहिए कि वे इन का आसेवन न करें, इस में ही संयमी का भला है।

विशुद्धि—

उपघात का प्रतिपक्षी कर्म विशुद्धि है अर्थात् संयम मे किसी प्रकार का दोष न लगाना विशुद्धि है। वह भी दस प्रकार की होती है, जैसे कि—

१. **उद्गमविशुद्धि**—आधाकर्मादि सोलह दोषो से रहित आहारादि ग्रहण करना।

२. **उत्पादना विशुद्धि**—उत्पादनादि १६ प्रकार के दोषो से रहित आहारादि लेना।

३. **एषणाविशुद्धि**—शकित आदि १० एषणा दोष टाल कर आहार लेना।

४. **परिकर्मविशुद्धि**—निर्दोष वस्त्र-पात्र एवं वसति का उपयोग करना।

५. **परिहरणविशुद्धि**—शास्त्रीय मर्यादानुकूल उपकरण रखना।

६ **ज्ञानविशुद्धि**—स्वाध्याय आदि करते रहना।

७. **दर्शनविशुद्धि**—सम्यग्दर्शन को निर्मल रखना।

८. **चारित्रविशुद्धि**—समिति-गुप्ति का यथाविधि पालन करना।

९. **अप्रीतिविशुद्धि**—विनय आदि धर्म का सम्यक्‌तया पालन करना।

१०. **संरक्षणविशुद्धि**—संयम के लिए उपधि आदि पदार्थों का शास्त्रानुसार यतना पूर्वक ग्रहण करना।

इन विशुद्धियों से आत्म-विकास शीघ्र हो जाता है। कारण कि सूत्रकार शुद्धि मे धर्म की स्थिति स्वीकार करते है। धर्म शुद्ध हृदय में ही ठहरता है "सोही उज्जुभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ" इस आगम पद से स्पष्ट हो जाता है, कि सरलात्मा की शुद्धि होती है। पहली तीन विशुद्धिया आहारादि की शुद्धि के विषय में वर्णन की गई है। परिकर्म और परिहरण ये दो सूत्र वस्त्र, पात्र, वसति, उपकरण आदि के प्रतिपादक हैं। इनकी शुद्धि अवश्य होनी चाहिए। ज्ञान, दर्शन, और चारित्र, ये तीन सूत्र आत्म-शुद्धि के प्रदर्शक हैं। '**अचियत्त**' इस पद से विनय की पुष्टि होती है। '**सारक्खण**' इस पद से शरीर आदि पर ममत्व का परिहार किया गया है।

संक्लेश और असंक्लेश

मूल—दसविहे संकिलेसे पण्णत्ते, तं जहा—उवहिसंकिलेसे, उवस्सय-संकिलेसे, कसायसंकिलेसे, भत्त-पाणसंकिलेसे, मणसंकिलेसे, वइसंकिलेसे, कायसंकिलेसे, णाणसंकिलेसे, दंसणसंकिलेसे, चरित्तसंकिलेसे।

दसविहे असंकिलेसे पण्णत्ते तं जहा—उवहि-असंकिलेसे जाव चरित्त-असंकिलेसे॥३७॥

छाया—दशविधः सक्लेशः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—उपधिसक्लेशः, कषायसक्लेशः, भक्त-पानसंक्लेशः, मनः संक्लेशः, वाक्संक्लेशः, कायसंक्लेशः, ज्ञानसंक्लेशः, दर्शनसंक्लेशः, चारित्रसंक्लेश.।

दशविधोऽसक्लेशः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—उपध्यसंक्लेशो यावच्चारित्रासंक्लेशः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दशविध सक्लेश वर्णन किया गया है, यथा—उपधिसक्लेश, उपाश्रय-संक्लेश, कषायसंक्लेश, भक्त-पानसंक्लेश, मनःसक्लेशः, वचनसंक्लेश, कायसंक्लेश, ज्ञानसक्लेशः, दर्शनसंक्लेश और चारित्रसंक्लेश। दस प्रकार का असंक्लेश कहा गया है, यथा—उपधि-असक्लेश यावत् चारित्र-असंक्लेश।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे उपघात और विशुद्धि का वर्णन किया गया है। उपघात से संक्लेश और विशुद्धि से असंक्लेश होता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में संक्लेश और असंक्लेश का दिग्दर्शन कराया गया है।

सक्लेश शब्द का अर्थ है—मानसिक विक्षोभ एवं मानसिक अस्थिरता। पदार्थो के अनुकूल न मिलने से चित्त मे संक्लेश का संचार होता है। समभाव से सयम का पालन करते हुए किसी समय मुनि के चित्त में जिन कारणों से असमाधि पैदा हो जाती है, वही सक्लेश है। उस के दस कारण हैं, जैसे कि—

१. **उपधि-संक्लेश**—संयम-निर्वाह के लिए उपयोगी वस्त्र-पात्र, पुस्तक आदि उप-करणों के न मिलने से चित्त मे सक्षोभ होता है, क्योकि जब इच्छानुकूल वस्त्रादि उपधि न मिल सके तब चित्त मे खेद उत्पन्न होना स्वाभाविक हो जाता है।

२. **उपाश्रय-संक्लेश**—रहने के लिए वसति के न मिलने से या प्रतिकूल मिलने से चित्त में संक्षोभ उत्पन्न होता है। इस विक्षोभ का निमित्त कारण उपाश्रय है।

३. **कषाय-संक्लेश**—कषाय तो स्वयं क्लेशरूप है। राग-द्वेष आदि विकार जब भी चित्त पर प्रभाव डालते है, तभी क्लेश का अवतरण हो जाता है।

४ **भक्तपान संक्लेश**—संविभाग ठीक न होने से खान-पान के कारण भी कलह आदि उत्पन्न हो जाते है।

५. **मन-संक्लेश**—मानसिक व्यथा, शोक, भय, चिन्ता, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान इत्यादि अनेक कारणों से मन मे संक्लेश उत्पन्न होता है।

६ **वचन-सक्लेश**—वाग्युद्ध एव कलह करना, किसी का वचन सुनकर या किसी को अनुचित वचन कह कर जो सक्लेश होता है, वह वचन-संक्लेश है।

७. **काय-संक्लेश**—शरीर मे रोग उत्पन्न होने से, घाव लग जाने से, रक्तचाप से, विष आदि के सचार से, विद्युत् के लगने से, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि के लगने से जो शरीर पर बुरा प्रभाव पडता है, वह काय-सक्लेश है।

८. **ज्ञान-संक्लेश**—जो विषय समझ मे नही आ रहा, जो पाठ कण्ठस्थ नही हो रहा, जो विद्या जिस क्षेत्र व काल में कार्यसाधिका न हो या जिस ज्ञान से हानि उठानी पड़ रही हो वह ज्ञान सक्लेश है।

९. **दर्शन-संक्लेश**—जो साम्प्रदायिक झगडों और दार्शनिक मान्यताओ के वैपरीत्य से क्लेश खड़ा होता है, वह दर्शन-संक्लेश है।

१०. **चारित्र-संक्लेश**—त्याग-वैराग्य के बिना चारित्र क्लेश का कारण है। विवेकहीन प्राणी के लिए सब व्यवहार क्लेश एव दु:ख के ही कारण है।

जिस साधक के जीवन मे त्याग, वैराग्य, विवेक और समता हो, उसके लिए प्रतिकूल

वातावरण भी समाधि उत्पादक होता है। जो उपधि धर्म में सहायक है, किन्तु राग-द्वेष का कारण नही, वह समाधि की जननी है। जिस उपाश्रय में रहकर स्वाध्याय-ध्यान, कायोत्सर्ग में बाधा न पड़े, वह स्थान भी समाधि का जनक है। जिससे न्याय हो, अहिंसा का सम्यक् पालन हो, संघ में एकता हो, तू-तू मैं-मैं शान्त हो, वह उपशान्त कषाय भी प्रसन्नता की लहर दौड़ाने वाला है। जिससे अन्न-पानी एव लेन-देन मे सविभाग हो, वह भक्त-पान भी प्रसन्नता का उत्पादक है। ध्यान-समाधि मे मन को लगाने से, गुणीजनों की स्तुति करने में या ज्ञान चर्चा करने में वचन को लगाने से, परोपकार, विनय, सेवाभक्ति करने मे काया को लगाने से क्रमश: समाधि उत्पन्न होती है। किसी जटिल विषय को समझने से, शंका दूर होने से, विद्वत्ता प्राप्त करने से जीवन मे जो आनन्द उत्पन्न होता है, वह ज्ञान-असंक्लेश है। सम्यग्दर्शन के होते हुए मन मे जो आनन्द का अनुभव होता है, वही दर्शन-असंक्लेश है। अवस्थित एव वर्धमान परिणामो में चारित्रासंक्लेश होता है। हीयमान परिणामों मे सक्लेश और बढते हुए परिणाम में आत्मा को अपूर्व आनन्द ही अनुभूति होती है।

दशविध बल

मूल—दसविहे बले पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियबले जाव फासिंदियबले, णाणबले, दंसणबले, चरित्तबले, तवबले, वीरियबले॥ ३८॥

छाया—दशविधं बलं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियबल यावत्स्पर्शनेन्द्रियबल, ज्ञानबल, दर्शनबलं, चारित्रबलं, तपोबलं, वीर्यबलम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दश प्रकार का बल है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रियबल से लेकर स्पर्शनेन्द्रियबल तक पांच प्रकार का बल, ज्ञान-बल, दर्शन-बल, चारित्र-बल, तपोबल और वीर्यबल।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे संक्लेश का वर्णन किया गया है। सक्लेश को दूर करने के लिए बल की आवश्यकता होती है, अत: प्रस्तुत सूत्र में दशविध बल का वर्णन किया गया है, जैसे कि—

१. **श्रोत्रेन्द्रिय-बल**—सुनने की पर्याप्त शक्ति।

२. **चक्षुरिन्द्रिय-बल**—शुभ दृष्टि एवं दूरदर्शिता की पर्याप्त शक्ति।

३. **घ्राणेन्द्रिय-बल**—इष्ट-अनिष्ट गन्ध सूंघने की प्रबल शक्ति।

४ **जिह्वेन्द्रिय-बल**—चखने की अनोखी शक्ति।

५. **स्पर्शनेन्द्रिय-बल**—छूने मात्र से ही परोक्ष तथ्य का प्रबल ज्ञान होना। पाच ज्ञानेन्द्रियों से, आत्मा विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है।

६. **ज्ञान-बल**—अतीत-अनागत और वर्तमान काल के पदार्थो को अधिक से अधिक

ज्ञान से जानना, ज्ञानबल कहलाता है। ज्ञानबल से ही चारित्र की सम्यक् आराधना हो सकती है।

७. **दर्शन-बल**—सम्यग्दर्शन की निर्मलता ही दर्शनबल है। दर्शनबल से अतीन्द्रिय एवं अगम्य पदार्थो को प्रत्यक्ष किया जाता है।

८. **चारित्र-बल**—इस बल के द्वारा सभी संगों का त्याग कर जीव अनन्त, अनाबाध, ऐकान्तिक आत्मबल एवं आत्मानन्द को प्राप्त कर सकता है।

९. **तपोबल**—इस बल के सहारे से जीव अनेक भवार्जित निकाचित कर्मग्रन्थियों को भी समूल क्षय कर सकता है।

१०. **वीर्यबल**—मानसिक, वाचिक, कायिक तथा आत्मिक बल को वीर्यबल कहते हैं। इस बल से सभी प्रकार की शुभ क्रियाए की जाती हैं।

इन बलों से युक्त आत्मा अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि एव निर्वाणपद की प्राप्ति कर सकता है। ज्ञानबल, दर्शनबल, चारित्रबल, तपोबल और वीर्यबल ये पाच बल ही सर्वोत्तम बल है।

सत्य, मृषा और मिश्रभाषा

मूल—दसविहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा—

जणवय, सम्मय, ठवणा, नामे, रूवे, पडुच्चसच्चे य।

ववहार, भाव, जोगे, दसमे ओवमसच्चे य॥

दसविहे मोसे पण्णत्ते, तं जहा—

कोहे, माणे, माया, लोहे, पिज्जे, तहेव दोसे य।

हासे, भये, अक्खाइय, अवघाय निस्सिए दसमे॥

दसविहे सच्चामोसे पण्णत्ते, तं जहा—उप्पन्नमीसए, विगयमीसए, उप्पन्नविगयमीसे, जीवमीसए, अजीवमीसए, जीवाजीवमीसए, अणंतमीसए, परित्तमीसए, अद्धामीसए, अद्धद्धामीसए॥ ३९॥

छाया—दशविधं सत्यं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—

जनपदं, सम्मतं, स्थापना, नाम, रूपं, प्रतीत्य सत्यञ्च।

व्यवहारो, भावो, योगो, दशममौपम्यसत्यञ्च॥

दशविधा मृषा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—

क्रोधो, मानो, माया, लोभः, प्रेम, तथैव दोषश्च।

हासो, भयं, आख्यायिका, उपघातनिश्रितं दशमम्॥

दशविधा सत्यमृषा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—उत्पन्नमिश्रकं, विगतमिश्रकम्, उत्पन्न-विगतमिश्रकं, जीवमिश्रकम्, अजीवमिश्रकं, जीवाजीवमिश्रकम्, अनन्तमिश्रकं, परीतमिश्रकम्, अद्धामिश्रकम्, अद्धाद्धामिश्रकम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दश प्रकार का सत्य कथन किया गया है, जैसे—देश की अपेक्षा से कहना, प्रमाणिक मानने से, यथा—दत्तकपुत्र। स्थापना-सत्य-राज्यमुद्रादि, नाम सत्य-कुल-वर्धनादि। रूपसत्य—जैसे द्रव्यलिंगी को साधु मानना आदि। अपेक्षा-सत्य—जैसे बड़े की अपेक्षा छोटा और छोटे की अपेक्षा बडा। व्यवहार सत्य, जैसे—ग्राम आ गया आदि। भावसत्य—अधिकता की अपेक्षा से कहना, जैसे—काला कौआ। योगसत्य—जैसे दण्ड के योग्य से दण्डी आदि। औपम्यसत्य—जैसे चन्द्रसमान मुख आदि।

दस प्रकार का मृषा अर्थात् असत्य कहा गया है, यथा—क्रोध-आश्रित, मान-आश्रित, माया-आश्रित, लोभ-आश्रित, द्वेष-आश्रित, राग-आश्रित, हास्य-आश्रित, भय-आश्रित, आख्यायिका-आश्रित और प्राणी-वध की अपेक्षा से, यथा अचोर को चोर कहना।

दश प्रकार का मिश्र वचन कहा गया है, जैसे—आज अमुक संख्या में बच्चे उत्पन्न अथवा मृत्यु को प्राप्त हुए। आज जितने उत्पन्न हुए उतने ही मर गए। जीवमिश्रित—जैसे तण्डुल आदि की राशि मे सुलसुली देख कर कहना कि 'यह तो सुलसुली ही सुलसुली हैं'। अजीव-मिश्रित, जैसे—गोधूम आदि में मिली शर्करा के लिए 'यह तो शर्करा ही शर्करा है।' जीवाजीवमिश्रित-'जितने चावल हैं, उतनी ही इस में सुलसुली हैं'। अनन्तकाय को प्रत्येक काय कहना। प्रत्येक काय को अनन्तकाय कहना। मेघाच्छन्न दिवस को रात्रि कहना। सूर्योदय के समय को दो प्रहर कहना।

विवेचनिका—सम्यग्दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के बल से युक्त आत्मा ही सत्य भाषण कर सकता है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसे ही बताना सत्य है। सत्य निष्ठा से युक्त व्यवहार चलाने के लिए भगवान ने दस प्रकार का सत्य बतलाया है, जैसे कि—

१. जनपद-सत्य—जिस देश में जो शब्द जिस अर्थ में रूढ है, उसे बोलना जनपद-सत्य कहलाता है। एक देश में एक शब्द जिस अर्थ को बताता है, वही शब्द दूसरे देश मे अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। ऐसी स्थिति में यदि वक्ता की विवक्षा ठीक है तो दोनों अर्थो में वह शब्द सत्य है। जैसे कि 'क्षीर' शब्द मुलतानी भाषा मे संस्कृत के समान दूध का वाचक है, परन्तु अन्य स्थानो पर यह 'क्षीर' नामक पक्वान्न का ही बोध कराता है। गुजरात और कच्छ में लड़की को 'मा' कहा जाता है, जबकि अन्य प्रान्तों में जन्म देने वाली ही मा

कहलाती है। इस प्रकार देशानुकूल शब्दार्थ ग्रहण करना जन-पद-सत्य कहलाता है।

२. **सम्मत-सत्य**—जिस नवीन शब्द को जनता ने स्वीकृत कर लिया है और उसका सर्वत्र प्रचार हो गया है, उसको सम्मत-सत्य कहते हैं। जैसे कृमि और कमल की उत्पत्ति पंक से होती है, फिर भी पकज शब्द से कमल का ही ग्रहण होता है कृमि आदि का नहीं। इस प्रकार के शब्दों को रूढि शब्द कहा जाता है। रूढ़ि शब्दो का अर्थ ही 'सम्मत-सत्य' कहलाता है।

३ **स्थापना-सत्य**—सदृश या विसदृश आकार वाली वस्तु मे किसी की स्थापना करके उसे उसी नाम से कहना, स्थापना-सत्य है। जैसे शतरंज की गोटियों को हाथी, घोडा, बादशाह, वजीर कहना। किसी के चित्र, माडल या नक्शे को देखकर अमुक स्थान या देश, मकान, बाग, तालाब, सूर्य, चन्द्र, वायुयान आदि कहना स्थापना सत्य है, अथवा एक अक के पश्चात् बिन्दु लगाने से दस, एक और बिन्दु लगाने से सौ, एक और लगाने से हजार, १०, १००, १००० इन अको को क्रमशः दस, सौ, हजार कहना स्थापना सत्य है।[१]

जो लोग अपने कार्यो के लिए सकेतो की स्थापना करते हैं, जैसे कि टेलीग्राम, शार्टहेण्ड, अक्षर विन्यास आदि वे सब-स्थापना सत्य ही हैं, क्योकि जिस सकेत से जिस वर्ण या विषय की स्थापना की जाती है, वही लिखा हुआ सकेत स्थापना-सत्य माना जाता है।

४ **नाम-सत्य**—नाम के अनुकूल गुण न होने पर भी किसी व्यक्ति या वस्तुविशेष का वैसा नाम रखकर उस नाम से उसे बुलाना, जैसे कि मरणशील होने पर भी किसी को 'अमर' कहना, रक होते हुए भी 'धनपाल' कहना, मनुष्य होते हुए भी किसी को 'देवेन्द्र' कहना, कुलनाशक होने पर भी 'कुलवर्द्धन' कहना, विद्या न पढने पर और विद्या के न होने पर भी 'विद्यासागर' कहना इत्यादि अनेक उदाहरण नाम सत्य के जानने चाहिएं।

५. **रूप-सत्य**—जैसे किसी ने दीक्षा ग्रहण की और अन्त:करण में धर्म का लेश भी नहीं है, फिर भी उसे वेष के कारण साधु कहा जाता है, यह रूप-सत्य है।

६. **प्रतीत्य-सत्य**—किसी अपेक्षा से वस्तु को छोटी और बडी मानना, जैसे हाथ की अंगुलियां ज्येष्ट-कनिष्ठ नही हैं फिर भी उन्हे छोटी-बडी कहना। इस की अपेक्षा यह लकीर छोटी है और उसकी अपेक्षा बडी है, यह कहना प्रतीत्य-सत्य है।

७. **व्यवहार-सत्य**—जनता में जैसे व्यवहार चलता हो वैसे बोलना। जैसे पर्वत जलता है, छत्त टपकती है, कुआं चलता है, गाव आता है। यद्यपि पर्वत पर तृण आदि पदार्थ जलते

---

१ तथा विधमङ्कादिविन्यास मुद्राविन्यास चोपलभ्य प्रयुज्यते तथा एकक पुरतो बिन्दुद्वयसहितमुपलभ्य शतमिदमिति, बिन्दुत्रयसहित सहस्त्रमिदमिति, तथा तथाविध मुद्राविन्यासमुपलभ्य मृत्तिकादिषु माषोऽय, कार्षापणोऽयमिति।

हैं फिर भी कहते हैं पर्वत जलता है। चलते है बैल, कहते हैं, कुआं चल रहा है। चलते है स्वयं, कहते हैं—ग्राम आ गया है। टपकता है पानी, कहते हैं —छत टपक रही है। व्यवहार में जिन शब्दों की प्रवृत्ति होती है वही भाषण करना व्यवहार-सत्य है।

८. **भाव-सत्य**—निश्चय की अपेक्षा अनेक रंग होने पर भी किसी एक की अपेक्षा से उसमें एक रंग बताना। जैसे तोते में अनेक रंग होते हुए भी उसे हरा कहना, कौए को काला कहना भावसत्य है।

९. **योग-सत्य**—किसी वस्तु के योग से किसी को पुकारना—अरे लाठी वाले। टोपी वाले! साईकल वाले! इत्यादि नामों द्वारा होने वाला भाषा-ज्ञान योग-सत्य होता है।

१०. **उपमा-सत्य**—किसी वस्तु के समान होने पर, एक वस्तु की तुलना दूसरी वस्तु से करना, जैसे 'यह तालाब समुद्र के समान भरा हुआ है'। 'वह सिंह के समान बलवान है'। वह चन्द्र के समान सौम्य है' इत्यादि उदाहरण औपम्य-सत्य के हैं। इस तरह सत्यभाषा का प्रयोग दस प्रकार से किया जाता है।

दस प्रकार का मृषावाद—

मृषावाद का अर्थ होता है—झूठ बोलना। वह कथन जो वास्तविक स्थिति से विपरीत हो, सच का उल्टा हो, वह मृषावाद कहलाता है। मृषावाद दस कारणो से बोला जाता है, जैसे कि—

१ **क्रोध-मृषा**—क्रोध के वशीभूत होकर पुत्र को कहना 'तू मेरा पुत्र नही है'।

२. **मान-मृषा**—मान के वश होकर झूठ बोलना, विद्वान न होते हुए या रंक होते हुए भी यह कहना कि 'मै विद्वान हूं, 'मैं धनवान हू।'

३. **माया-मृषा**—कपट के साथ बोला गया झूठ, जैसे कि—अमानत मे खयानत करना, यथा—'तेरी धरोहर नष्ट हो गई है।' इस प्रकार के सभी बहाने माया-मृषा कहलाते हैं।

४. **लोभ-मृषा**—लोभ के वश मे होकर झूठ बोलना, जैसे कि 'मैने यह वस्तु इतने मे खरीदी है, फिर तुझे सस्ती कहां से दू?' इस प्रकार का असत्य लोभ-मृषा कहलाता है।

५. **प्रेय-मृषा**—प्रेम के वश होकर कहना, जैसे—'मै आप का सेवक हूं।'

६. **द्वेष-मृषा**—द्वेष से निकला हुआ वचन, जैसे—गुणी को गुणहीन कहना।

७ **हास्य-मृषा**—उपहास मे कहा हुआ वचन। हसी-हसी मे किसी ने कोई वस्तु छिपा दी। वस्तु का स्वामी पूछता है—'तूने मेरी वस्तु देखी है'? तो वह कह देता है—कि 'मैंने तेरी वस्तु नहीं देखी।'

८. **भय-मृषा**—भय-भीत होकर कहना—'मैंने यह काम नहीं किया।'

९. **आख्यायिका**—किसी कहानी को या किसी बात को बढा-चढ़ाकर कहना,

नमक-मिर्च लगाकर बात करनी। कहानी सुनाते हुए कहना—'वहां हाथियो का इतना मदजल झरा कि उससे नदी बहने लगी।'

१०. उपघात-मृषा—जिस वचन से किसी की हिंसा हो या हानि हो, वह उपघात वचन कहलाता है। जैसे कि ईमानदार को चोर कहना, सदाचारी को दुराचारी कहना, जिस ने हत्या नहीं की, उसे हत्यारा कहना। ये सब झूठ बोलने के आन्तरिक कारण है। इन दस दोषो के आवेश मे आकर जो असत्य भाषण करता है, शास्त्रीय दृष्टि से वह सब असत्य ही है, क्योंकि उस समय बोलने वाला समाधिस्थ नहीं होता, अत: उक्त दोषो को छोड़कर बोलना चाहिए अन्यथा असत्य के दोष से वक्ता अछूता नहीं रह सकता।

दस प्रकार की मिश्र भाषा—

जिस भाषा में कुछ अश सत्य और कुछ अंश असत्य हो, उसे सत्यमृषा कहते है। यह भाषा सच और झूठ से मिश्रित होती है। इस भाषा से दूसरे को चकमा दिया जाता है। यह भाषा भी सत्यवादियो के लिए असत्य की तरह वर्जनीय है। इस भाषा का प्रयोग दस प्रकार से किया जाता है, जैसे कि—

१. उत्पन्न-मिश्रिता—किसी ग्रामादि को लक्ष्य मे रखकर बिना निश्चय किए यह कह देना कि 'आज इस नगर मे दस बालक उत्पन्न हुए हैं' भले ही एक-दो कम हुए हो या अधिक, फिर भी दस की संख्या पूरी करने के लिए उत्पन्न हुओं के साथ नही उत्पन्न हुओं को मिला देना तथा 'कल दस बजे मै आपको अमुक वस्तु दूगा' ऐसा कहने पर भी नियत समय पर न देना और नियत समय से पहले या बाद मे देना। सारांश इतना ही है कि वस्तु उत्पन्न होने के विषय मे मिश्रित वचन बोलना।

२. विगत-मिश्रिता—बिना ही निश्चय किए कह देना कि 'आज इस नगर मे दस व्यक्तियों का मरण हुआ है।' वस्तु विनाश के विषय में जितनी मिश्रभाषा बोली जा सकती है उन सबका इसमे समावेश हो जाता है।

३ उत्पन्नविगत-मिश्रिता—बिना ही निश्चय किए कह देना कि 'आज इस नगर में दस बालक उत्पन्न हुए और दस वृद्ध चल बसे'। 'जितने पैदा हुए उतनों का ही देहान्त हो गया'। इस प्रकार की भाषा-पद्धति को 'उत्पन्न-विगत-मिश्रिता' भाषा कहते हैं।

४. जीव-मिश्रिता—कृमियों की राशि में कुछ कृमि जीवित और कुछ मृत होते हैं, ऐसा देखकर यह कहना कि 'यह जीवो की राशि है'। वृत्तिकार भी लिखते हैं—**''जीवमीसए'' त्ति जीवविषयंमिश्र सत्यासत्यं जीवमिश्रं यथा जीवन्मृतकृमिराशौ जीवराशिरिति।**

५. अजीवमिश्रिता—उसी जीव-राशि को अजीव राशि कहना भी मिश्र भाषा है—जैसे कि 'कृमियों की राशि में बहुत से कृमि-मृतक हैं' जीवित अल्प है, उनको 'अजीवराशि' कह देना, मिश्रभाषा है।

६. **जीवाजीव-मिश्रिता**—'इस कृमि राशि मे इतने जीवित हैं और इतने मृत है'। ऐसा कहना जीवाजीव-मिश्रिता भाषा है, जिसका प्रयोग श्रेष्ठ व्यक्तियों के लिए वर्ज्य है।

७. **अनन्त-मिश्रिता**—अनन्तकायिक तथा प्रत्येक शरीरी वनस्पति की राशि को देखकर कहना कि 'अनन्तकायिक का ढेर है'। उन सबको अनन्तकाय कहना मिश्रभाषा है।

८. **परित्त-मिश्रिता**—उसी राशि को कहना कि 'यह प्रत्येक वनस्पति का ढेर है।'

९. **अद्धामिश्रिता**—किसी को जगाते हुए कहना, 'उठ दोपहर हो गयी है', तथा शीघ्रता के कारण दिन रहते हुए कहे कि 'आज कार्य करते-करते रात पड गई', रात रहते हुए कहे 'उठो सूर्य निकल आया' इत्यादि कहना अद्धा-मिश्रिता भाषा के उदाहरण हैं।

१०. **अद्धाद्धामिश्रिता**—दिन या रात के एक भाग को अद्धाद्धा कहते हैं। जल्दी में दिन के पहले पहर को 'दोपहर हो गया' ऐसा कहना या आठ-दस बार किसी को संबोधित करके कह देना कि 'मैने तुझे बीस बार बुलाया फिर भी तू बोला ही नहीं', या चलते हुए बिना निश्चय किए कहना कि 'आधा मार्ग तो समाप्त हो गया है।' इस प्रकार के वचन-विन्यास को अद्धाद्धा-मिश्रिता भाषा कहते हैं।

सत्य-व्रत के धारी को मिश्रभाषा का प्रयोग नही करना चाहिए, क्योंकि मिश्रभाषा भी उसी तरह वर्जनीय है, जैसे असत्य। सत्य भाषा और व्यवहारभाषा ही बोलने के योग्य है, शेष सभी भाषाएं त्याज्य हैं।

दृष्टिवाद के सार्थक नाम

मूल—दिट्ठिवायस्स णं दस नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—दिट्ठिवायेइ वा, हेउवायेइ वा, भूयवायेइ वा, तच्चावायेइ वा, सम्मावायेइ वा, धम्मावायेइ वा, भासाविजयेइ वा, पुव्वगयेइ वा, अणुजोगगयेइ वा, सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तसुहावहेइ वा॥४०॥

छाया—दृष्टिवादस्य दश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दृष्टिवाद इति वा, हेतुवाद इति वा, भूतवाद इति वा, तत्त्ववाद इति वा, सम्यग्वाद इति वा, धर्मवाद इति वा, भाषाविचय इति वा, पूर्वगत इति वा, अनुयोगगत इति वा, सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वसुखा-वह इति वा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दृष्टिवाद के दश नाम हैं, जैसे—दृष्टिवाद, हेतुवाद, भूतवाद, तथ्यवाद (तत्ववाद), सम्यग्वाद, धर्मवाद, भाषाविचय, पूर्वगत, अनुयोगगत, सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्व-सुखावह।

विवेचनिका—भाषा का अधिकार होने से इस सूत्र में दृष्टिवाद का वर्णन किया गया है, दृष्टिवाद श्रुत-साहित्य का समुद्र है। जिसमे भिन्न-भिन्न दर्शनों का स्वरूप विभिन्न दृष्टियों से बताया गया है, उसे दृष्टिवाद कहते हैं, अथवा जिसमें सम्यग्दर्शन का वर्णन हो और जिसमें सभी नयों का समवतरण हो उसे दृष्टिपात भी कहा जाता है।[1]

१. **दृष्टिवाद**—बारहवें अंग सूत्र का नाम दृष्टिवाद है।

२. **हेतुवाद**—साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु कहलाता है। साध्य भी अनत हैं और हेतु भी अनंत है। 'वह पर्वत अग्नि वाला है क्योंकि उस पर धुंआ दृष्टिगोचर हो रहा है।' यहां धुंआ रूप साधन अग्निरूप साध्य को सिद्ध करता है। दामिनी मेघ को सिद्ध करती है। साध्य को सिद्ध कराने वाला यदि कोई मुख्य साधन है तो वह हेतु है। जिसमें हेतु का वर्णन किया गया हो, वह हेतुवाद कहलाता है।

३. **भूतवाद**—जिसमे सत्पदार्थों का वर्णन प्राप्त हो, उसे भूतवाद कहते हैं।

४. **तथ्यवाद**—जिसमे नव तत्त्वो का विश्लेषण किया गया हो उसे तथ्यवाद कहा जाता है, अथवा तत्त्व के सत्य स्वरूप को बताने वाला शास्त्र तथ्यवाद माना जाता है।

५. **सम्यग्वाद**—जिसमें पदार्थों का वर्णन सम्यक् प्रकार से किया गया हो अथवा जो सम्यक् प्रकार से पदार्थों का वर्णन करता हो वह सम्यग्वाद है।

६. **धर्मवाद**—वस्तुओ के पर्याय अर्थात् अनेक रूपो को धर्म कहते है, अथवा चारित्र को धर्म कहा जाता है। जो धर्म का स्वरूप बतलाता है वह धर्मवाद है।

७. **भाषाविचय**—जिसमें सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार इन चार प्रकार की भाषाओं का दिग्दर्शन कराया गया हो, अथवा जिसमे विश्व की सभी भाषाओं का समवतार होता हो और जिसमे भाषा की समृद्धि बताई गई हो वह भाषा-विचयवाद है।

८ **पूर्वगत**—जिस में चौदह पूर्वो का ज्ञान गर्भित है, वह पूर्वगत कहलाता है।

९. **अनुयोगगत**—जिसमें प्रथमानुयोग अर्थात् तीर्थकरो के जीवनवृत्त के रूप मे सम्यक्त्व प्राप्ति से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक आद्योपान्त वर्णन हो और तीर्थकाल का भी विवेचन हो, उसे प्रथमानुयोग कहा जाता है। जिसमे चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेवों का आमूलचूल इतिहास हो, वह गंडिकानुयोग है। दोनों अनुयोगों का जिस मे वर्णन हो, वह अनुयोगगत कहलाता है।

१०. **सर्व-प्राणभूत-जीवसत्त्व-सुखावह**—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी प्राणियों के लिए जो आगम अतीव हितकर है, वह 'सर्व-प्राण-भूत-जीव-सत्त्व सुखावह'

---

१ दृष्टयो दर्शनानि वदन वादः, दृष्टीना वादो दृष्टिवादः, दृष्टीना वा पातो यस्मिन्नसौ दृष्टिपात , सर्वनय-दृष्टय इहाख्यायन्त इत्यर्थः।

कहलाता है। इसमें प्राणियों के संयम का प्रतिपादन किया गया है। दृष्टिवाद के जो नाम दिए गए है, वे सब सार्थक है। उन सबका वर्णन दृष्टिवाद में वर्णित है।

शस्त्र, दोष और विशेष-विश्लेषण

मूल—दसविहे सत्थे पण्णत्ते, तं जहा—

सत्थमग्गी विसं लोणं, सिणेहो खारमंबिलं।
दुप्पउत्तो मणो वाया, काया भावो य अविरई॥

दसविहे दोसे पण्णत्ते, तं जहा—

तज्जायदोसे, मतिभंगदोसे, पसत्थारदोसे, परिहरणदोसे।
सलक्खणक्कारण, हेउदोसे, संकामणं, निग्गह, वत्थुदोसे॥

दसविहे विसेसे पण्णत्ते, तं जहा—

वत्थु तज्जातदोसे य, दोसे एगट्ठियेइ य।
कारणे य पडुप्पण्णे, दोसे निच्चे हि अट्ठमे॥

अत्तणा उवणीए य, विसेसेइ य ते दस॥४१॥

छाया—दशविधं शस्त्रं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

शस्त्रमग्निर्विषं लवणः, स्नेहः क्षारोऽम्लम्।
दुष्प्रयुक्तो मनो वाक् काया भावश्चाविरतिः॥

दशविधो दोषः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—

तज्जातदोषो मतिभंगदोषः, प्रशास्तृदोषः परिहारदोषः।
स्वलक्षणं कारणं हेतुदोषः, संक्रामणं निग्रहो वस्तुदोषः॥

दशविधो विशेषः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—

वस्तु तज्जातदोषश्च, दोष एकार्थिक इति च।
कारणं च प्रत्युत्पन्नो, दोषो नित्योऽधिकाष्टमः॥

आत्मनोपनीतञ्च, विशेष इति च ते दश।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—शस्त्र दस प्रकार के वर्णन किए गए हैं, जैसे—अग्नि, विष, लवण, स्नेह अर्थात् तैलादि, क्षार, अम्ल, दुष्प्रयुक्त मन, वचन, काय और भाव से अविरति अर्थात् प्रत्याख्यान आदि न करना।

दोष के दस प्रकार बताए गए हैं, जैसे—तज्जात-दोष, मति-भंग-दोष, प्रशास्तृ-दोष, परिहरण-दोष, स्वलक्षण-दोष, कारण, हेतुभूत, संक्रामण, निग्रह-दोष, वस्तुदोष।

दस प्रकार का विशेष कथन किया गया है, जैसे—वस्तु, तज्जात, एकार्थिक, कारण, प्रत्युत्पन्न, नित्य, दोष, अधिक दृष्टान्त, आत्मकृत-दोष, उपनीत दोष।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में दृष्टिवाद का वर्णन किया गया है। दृष्टिवाद के अनुरूप आचरण हिंसा से बचाता है। हिंसा का साधन शस्त्र है और शस्त्र नाना प्रकार के दोष उत्पन्न करता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में शस्त्र-भेद और दोष-भेद का विस्तृत वर्णन किया गया है। जिससे प्राणियों की हिंसा हो, उसे शस्त्र कहते है।[१] शस्त्र दो प्रकार के होते हैं, जैसे कि द्रव्य-शस्त्र और भाव-शस्त्र। प्रस्तुत सूत्र मे दस प्रकार के शस्त्रों का उल्लेख किया गया है।

१. **अग्नि-शस्त्र**—यह शस्त्र सर्व शस्त्रों से प्रबल है और यह शस्त्र सभी प्राणियो को भस्म कर सकता है। इस शस्त्र से सभी जीव भय-भीत होते हैं। बम, विद्युत् आदि का समावेश भी इसी मे हो जाता है। अपनी जाति से भिन्न विजातीय अग्नि की अपेक्षा से यह स्वकाय शस्त्र है और पृथ्वीकाय, अप्कायादि की अपेक्षा से परकाय-शस्त्र है।

२. **विष**—जगम और स्थावर के भेद से विष दो प्रकार का है। यह भी एक तरह का शस्त्र है, क्योकि विष के द्वारा भी हिंसा होती है।

३. **लवण**—नमक भी प्राणियों के लिए एक प्रकार का घातक शस्त्र है, क्योंकि नमक के कुण्ड में पडा हुआ प्राणी बच नही सकता और अधिक नमक का सेवन अस्थियों के लिए हानिकारक होता है।

४. **स्नेह**—स्निग्ध पदार्थ तेल आदि भी विष ही हैं, क्योंकि इनके अधिक सेवन से चरबी बढ जाती है और शरीर रोगाक्रान्त होकर नष्ट होने लगता है।

५. **क्षार**—सोडा, साबुन, सज्जी, भस्म आदि भी शस्त्र हैं। जैन मुनि भस्म से धोए हुए बर्तन आदि का प्रासुक जल ग्रहण करते है। जो जल भस्म-युक्त होता है, वह इस सूत्रानुसार प्रासुक माना जाता है, क्योंकि क्षार अप्काय जीवो के लिए शस्त्र है, यह शस्त्र जल को जीव-रहित कर देता है। जल मे क्षार रूप शस्त्र का प्रयोग गृहस्थ अपने लिए करता है, साधु के लिए नही, अत: वह जल साधु के लिए निर्दोष हो जाता है।

६. **अम्ल**—खटाई भी शस्त्र है, क्योंकि वह भी जीवो के लिए घातक होती है। अधिक खटाई के सेवन से शरीरगत सूक्ष्म जीवो का विनाश आधुनिक ऐलोपैथी भी स्वीकार करती है। खटाई को पौरुष-विनाशिनी आयुर्वेद भी स्वीकार करता है। काजी आदि भी अम्ल में सम्मिलित हैं। ये छ: भेद द्रव्य-शस्त्र के है। इन से भिन्न सभी द्रव्य-शस्त्रों का समावेश उक्त छ: मे हो जाता है।

---

१ शस्यते हिंस्यतेऽनेनेति शस्त्रम्।

७. मन:दुष्प्रणिधान—मन की हिंसा आदि पापों मे प्रवृत्ति भी मनुष्य के लिए शस्त्र है।

८. वचन-दुष्प्रणिधान—वचन से हिंसा करना, कराना और हिंसा की अनुमोदना करना भी शस्त्र है। इसीलिए घातक वाणी के लिए ''वचन-बाण'' शब्द का प्रयोग किया जाता है। वाक्य-बाण से आहत की उक्ति भी प्रसिद्ध है।[१]

९. काय-दुष्प्रणिधान—यद्यपि मानव-शरीर को धर्म-साधन माना गया है, परन्तु उसी दशा में यदि शारीरिक क्रियाएं जीव-मात्र के लिए हित-साधिका हों। यदि शारीरिक क्रियाए पाप मे प्रवृत्त हो जाती हैं तो शरीर भी एक शस्त्र बन जाता है, लात मारना, घूसा लगाना, चाटा जडना, दातो से काटना, नाखुनों से नोचना आदि काय-दुष्प्रणिधान ही तो है।

१०. अविरति—साधक के जीवन मे किसी भी प्रत्याख्यान का न होना, अविरति है। धर्म मे प्रवृत्ति का न होना और पाप से निवृत्ति का न होना परम शस्त्र है, अत: साधक को चाहिए कि वह इन द्रव्य-शस्त्रो और भाव-शस्त्रो को छोडकर अशस्त्ररूप संयम के आश्रित होकर निर्वाणपद की प्राप्ति के लिए यत्नशील बने।

वाद के दस दोष—

गुरु-शिष्य या वादी-प्रतिवादी द्वारा किया जाने वाला पारस्परिक शास्त्रार्थ वाद कहलाता है। उसके निम्नलिखित दस दोष है, जैसे कि—

१. तज्जात-दोष—गुरु या प्रतिवादी के जन्म, कुल, जाति, कर्म आदि वैयक्तिक दोषो को प्रकट करना, व्यक्तिगत आक्षेप करना, प्रतिवादी के द्वारा किया गया मुख-स्तभन आदि दोष, जिससे बोलते-बोलते दूसरे की वाणी बद हो जाए इत्यादि दोष तज्जात दोष कहलाते हैं।

२. मति-भंगदोष—समय पर अपनी ही बुद्धि का भग हो जाना, समय पर जवाब न सूझना, जानी हुई बात को भूल जाना, विस्मृति आदि कारणो से सभा मे जय प्राप्त न कर सकना, मति-भगदोष के ही अनेक रूप है।

३. प्रशास्तृ-दोष—किसी प्रभावशाली सभापति या सभ्य के द्वारा पक्षपात के कारण प्रतिवादी को विजयी बना देना, वादी और प्रतिवादी के विषय को सुनकर भी विस्मृत होने से पूर्णतया न्याय न कर पाना, जय-पक्ष की उपेक्षा कर विकल-पक्ष का समर्थन करना आदि प्रशास्तृदोष कहलाते हैं।

४. परिहरण-दोष—अपनी मान्यता के अनुसार या लोकरूढि के अनुसार जिस बात को नहीं कहना चाहिए, उसी बात को कहना परिहरण दोष है। सभा के नियमानुसार जो बात कहनी जरूरी है उसे न कहना, वादी के द्वारा दिए गए दोष का निराकरण किए बिना उत्तर देना, उक्त दोष माना जाता है। जैसे कि किसी बौद्ध वादी ने कहा है कि ''शब्द कृतकत्व

होने से अनित्य है, जैसे घट कृतक है इसलिए वह अनित्य भी है इसी तरह शब्द भी अनित्य है।''

उसी के विषय मे शब्द को नित्य मानने वाला मीमांसक कहता है, 'जो तुम शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिए कृतकत्व हेतु देते हो, यह हेतु घट में रहा हुआ है या शब्द में? यदि वह घट-गत है तो वह कृतकत्व शब्द मे नही है, अत: पक्ष में हेतु न रहने से असिद्ध हो जाएगा। यदि वह कृतकत्व हेतु शब्द-गत है तो उसके साथ अनित्यत्व की व्याप्ति नही, अत: साध्य के साथ अविनाभाव न होने से साधारणानैकान्तिक हेत्वाभास हो जाएगा।'

वास्तव में मीमांसक का यह उत्तर ठीक नही है, क्योंकि इस तरह मानने से तो कोई भी अनुमान नहीं बन सकेगा। धुएं से अग्नि का अनुमान भी नही बन सकेगा। ''पर्वत मे अग्नि है। क्योंकि धुआं है, जैसे रसोईघर मे।'' इस अनुमान में भी विकल्प किए जा सकते हैं। अग्नि को सिद्ध करने के लिए दिए गए धूम रूप हेतु में कौन-सा धूम विवक्षित है? पर्वत में रहा हुआ धूम या रसोई मे रहा हुआ धूम? यदि पर्वत वाला है, तो उसकी व्याप्ति अग्नि के साथ गृहीत नही होती, यदि वह हेतु रसोई वाला है, तो वह असिद्ध है, क्योंकि वह धुआ पर्वत मे नहीं है। हेतु मे इस तरह के दोष देना परिहरण दोष कहलाता है।

५ **स्व-लक्षणदोष**—बहुत से पदार्थो से किसी एक पदार्थ को अलग करने वाली परिभाषा लक्षण कहलाती है, अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु के लक्षण जाने जाए उसको लक्षण कहते है।

लक्षण के दो भेद माने गए है—आत्मभूत और अनात्मभूत। दण्ड-युक्त पुरुष को दंडी कहना, बाहर की वस्तु के योग से किसी पुरुष को पहचानना अनात्मभूत लक्षण है। जीव का लक्षण उपयोग है, क्योंकि ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक लक्षण है। अग्नि का लक्षण उष्णत्व और प्रकाशकत्व है।

लक्षण वह होता है, जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असभव इन तीन दोषों से रहित हो। लक्षण यदि लक्ष्य के एक देश मे रहे और एक देश में न रहे, उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं, जैसे ''कालापन गौ का लक्षण है'' गौ का यह लक्षण एक काली गौ मे घट जाने पर भी सफेद गौ मे नही घटता, अत: एक-देश-व्यापी होने से यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है।

लक्षण का लक्ष्य और अलक्ष्य दोनो मे रहना अतिव्याप्ति दोष है, जैसे ''सींगो वाले पशु को गौ कहते है।'' गौ का यह लक्षण गौ जाति मे तो घट जाता है, किन्तु भैंस, बकरी आदि भी तो सीगो वाले पशु हैं, अत: यह लक्षण गौ के अतिरिक्त अलक्ष्य भैस, बकरी आदि में भी पाया जाता है, अत: यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से युक्त है।

जो लक्षण लक्ष्य में बिल्कुल भी न पाया जाता हो, उसे असंभव दोष कहा जाता है,

जैसे "जिसका एक खुर हो अर्थात् बीच से फटा न हो, वह गौ है।" गौ का यह लक्षण गौ जाति में घटना असंभव है।

इन तीनो दोषो से रहित लक्षण को ही वास्तविक लक्षण कहते हैं। वही लक्षण लक्ष्य को अन्य द्रव्य से भिन्न कराने वाला होता है। अपने लक्षण का यथार्थ वर्णन न करना "स्वलक्षण-दोष" कहलाता है।

६. **कारणदोष**—जो कर्त्ता है, उसे ही कारण कहते है (**करोतीति कारणम्**) तथा जिस हेतु के लिए कोई दृष्टान्त न हो, उसे कारण कहते है, जैसे कि "सिद्ध भगवान् निरुपम सुख वाले होते है, क्योंकि उनके ज्ञानदर्शन आदि सभी गुण अनाबाध और अनन्तानन्त होते हैं।" यहां पर साध्य और साधन दोनों से युक्त लोकप्रसिद्ध कोई दृष्टान्त नही है, इसलिए इसको उपपत्ति कहते है। दृष्टान्त होने पर यही हेतु कहलाता है।

साध्य के बिना भी कारण का रह जाना कारण-दोष है, जैसे किसी ने कहा "वेद अपौरुषेय है, क्योंकि वेद का कोई कारण नहीं सुना जाता। कारण का सुनाई न देना अपौरुषेय को छोड़ कर अन्य कारणो से भी हो सकता है।" यहां कारण से तात्पर्य कर्ता से ही है।

७. **हेतुदोष**—जो साध्य के होने पर तो हो और उस के बिना न हो, जो अपने अस्तित्व से साध्य का ज्ञान कराए वह हेतु है। हेत्वाभास को हेतुदोष कहते है।

हेतुदोष तीन तरह का होता है असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। पक्ष मे हेतु का रहना—यदि वादी-प्रतिवादी दोनो के लिए असिद्ध हो तो वह असिद्ध दोष है। 'शब्द नित्य है, चक्षुग्राह्य होने से', परन्तु शब्द का चक्षुग्राह्य होना किसी भी तरह से सिद्ध नही हो सकता, अत· यह लक्षण असिद्ध ही माना जाता है।

जो हेतु साध्य के साथ न घट सके, अपितु साध्य से विपरीत हो, वह विरुद्ध कहलाता है। जैसे 'शब्द नित्य है कृतकत्व होने से, घट की तरह।' यहां घट का कृतकत्व घट को ही अनित्य सिद्ध करता है, तो वह शब्द को नित्य कैसे सिद्ध कर सकता है?

जो हेतु साध्य के साथ तथा उस के बिना भी रहे वह अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है; जैसे 'शब्द नित्य है, प्रमेय होने से, आकाश के समान।' यहा प्रमेयत्व हेतु नित्य और अनित्य सभी पदार्थो मे रहता है, इसलिए वह नित्यत्व को सिद्ध नही कर सकता है। हेत्वाभास ही हेतुदोष है। हेतु-दोष का निराकरण किए बिना वाद में प्रवृत्ति नही करनी चाहिए।

८. **संक्रामण**—प्रस्तुत विषय को छोड कर अप्रस्तुत विषय मे चले जाना या अपनी मान्यता को छोड कर प्रतिवादी की मान्यता को स्वीकार कर लेना, उसकी मान्यता का प्रतिपादन करने लग जाना, सक्रामण दोष है।

९. **निग्रह**—छल आदि से दूसरे को पराजित करना निग्रह है।

१०. वस्तुदोष—जहां साधन और साध्य दोनों पाए जाएं, उसे वस्तु कहते हैं। पक्ष के दोषों को वस्तुदोष कहा जाता है। किसी के द्वारा विरचित गाथा एवं श्लोक, काव्य आदि में दोष निकालना अथवा वादी द्वारा स्थापित पक्ष मे दोष निकालना आदि वस्तुदोष माना जाता है। सूत्रकार ने सामान्यतया दस दोषों का वर्णन किया है। इन दोषों से यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि साहित्य, न्याय, व्याकरण, नीति-धर्मकथा आदि का प्रयोग ज्ञान-परिवर्धन के लिए करना चाहिए। यदि वादी को पराजित करने के लिए निग्रहस्थानादि का प्रयोग किया जाए, तो वे सब प्रयोग दोष ही माने जाएगे। न्यायशास्त्र का लक्ष्य सत्य की रक्षा और असत्य का निराकरण है, किसी को पराजित करना नही।

दस विशेष दोष—

जिस गुण विशेष के द्वारा सामान्यरूप से सामने स्थित वस्तु या व्यक्ति में से किसी व्यक्ति विशेष को पहचाना जाए, उसे विशेष कहते है। विशेष का अर्थ है विभेदक—व्यावर्त्तक। पहले सामान्य रूप से वाद के दस दोष बताए गए हैं। अब वाद के विशेष दोषो का परिचय दिया जाता है, जैसे कि—

१. वस्तु-विशेष दोष—सामान्य दोष की अपेक्षा जो वस्तु या व्यक्ति मे विशेष दोष पाया जाए वह वस्तुविशेष दोष कहलाता है। पक्ष में भी प्रत्यक्ष निराकृत आदि अनेक दोष होते है। उनके उदाहरण निम्नलिखित है·—

जो पक्ष प्रत्यक्ष-बाधित हो, उसे प्रत्यक्ष-निराकृत कहते हैं, जैसे कि कोई कहता है ''शब्द श्रवण का विषय नही है।'' यहा शब्द को श्रवण का विषय न मानना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है।

जो पक्ष अनुमान से बाधित हो, उसे अनुमान-निराकृत कहते है, जैसे कि कोई कहता है कि ''शब्द आकाश की तरह नित्य है'। यहां शब्द की नित्यता अनुमान से बाधित है।

जो पक्ष अपने ही वचनो से बाधित हो उसे ''स्ववचन-निराकृत'' कहते है, जैसे कि 'जो कुछ मै कहता हू, वह असत्य है।'

जो पक्ष लोक-व्यवहार से बाधित हो, वह 'लोकरूढि-निराकृत'' कहलाता है, जैसे कि ''मनुष्य की खोपड़ी पवित्र है'। इत्यादि सब उदाहरण पक्ष बाधित के कहे जा सकते हैं।

२. तज्जात विशेष दोष—प्रतिवादी की जाति, कुल आदि को लेकर दोष देना तज्जात दोष है। वह भी सामान्य दोष की अपेक्षा विशेष है। कर्म, मर्म, जन्म, कुल आदि की दृष्टि से इसके अनेक भेद हैं। जैसे कि कहा भी है—

''कच्छुल्लयाए घोडीए जाओ जो गद्दहेण छूढेण।
तस्स महायणमज्झे आयारा पायडा होंति॥''

अर्थात् कडूयन रोग वाली घोडी में गर्दभ के सयोग से जो संतान उत्पन्न होती है, उसके आकार मे भेद होता है। उसका वह आकार महाजनो के बीच मे प्रकट होता है, छिपता नहीं है। इसका भाव यही है कि वर्णसंकर छिपा नही रहता। इसी तरह मर्म, कर्म के विषय मे अपनी बुद्धि से समझ लेना चाहिए।

३. **एकार्थिकदोष**—एक अर्थ वाले शब्दों का एक साथ प्रयोग (जैसे घट शब्द एकार्थक है और गौ शब्द अनेकार्थक है), अथवा समान अर्थ वाले शब्दों में समभिरूढ और एवंभूत नय के अनुसार भेद डाल देना एकार्थक दोष विशेष है "**घटमानय**" ऐसा न कहकर "**घट-कुंभं-कलशमान्य**"—घडा, कुम्भ, कलश लाओ, यहा पर एक अर्थ वाले अनेक शब्दो का प्रयोग करना एकार्थिकदोष है। इसी तरह अन्यान्य अर्थो के विषय में भी जानना चाहिए।

४. **कारण**—कार्य मे कारण की विशेषता रहती है। घट का उपादान कारण मृत्तिका है। दण्ड, चक्र, चीवर, कुलालादि उसके निमित्त कारण है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्यथा-सिद्ध कारण कहलाते है, जैसे दिशा, देश, काल, आकाश, कुलाल-पिता और गर्दभ आदि। उपादान और निमित्त के बिना अन्यथासिद्ध को कारण मानना अथवा रेत को घट का उपादान और जुलाहे को उसका निमित्त कारण कहना, उडती हुई भांप को देख कर अग्नि कहना 'कारण-दोष' माना जाता है।

५ **प्रत्युत्पन्न दोष**—अतीत और भविष्यत्काल को छोडकर जिस दोष का सम्बन्ध केवल वर्तमान से ही हो वह प्रत्युत्पन्नदोष कहलाता है। स्वीकार की हुई वस्तु मे दिए जाने वाले अकृताभ्यागम और कृतविप्रणाश आदि दोष प्रत्युत्पन्न है। जैसे बौद्धमत के क्षणिकवाद को स्वीकार करने से अकृतागम और कृतविनाश ये दोनों दोष सिद्ध होते हैं। यदि आत्मा को क्षणिक माना जाए तो कृतविनाश और अकृताभ्यागम इन दोषों से किसी तरह भी बचाव नहीं हो सकता।

६. **दोष**—पूर्व कहे हुए मतिभंग आदि शेष आठ दोषो को सामान्यरूप से न लेकर विशेष रूप से लेने पर यह विशेष दोष है, अथवा दोषो के अनेक प्रकार यहा दोष विशेष के रूप में लिए गए है।

७. **नित्यदोष**—जो त्रैकालिक दोष हैं, उन्हे नित्यदोष कहा जाता है। जैसे वस्तु को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य मानने से जो सिद्धान्त दूषित होता है या अभव्य जीवो के जैसे मिथ्यात्वादि दोष हैं, वे सब नित्य दोष है। 'जहां अग्नि है, वहा धूम है', यह अन्वय-व्याप्ति है और जहां धुआं नहीं, वहां अग्नि भी नही यह व्यतिरेक व्याप्ति है, ये दोनो व्याप्तियां सदा-सर्वदा दूषित हैं।

८. **अधिक दोष**—दूसरे को समझाने के लिए प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और

निगमन इन पंचावयवों का प्रयोग उतना ही करना चाहिए, जितनी आवश्यकता हो। आवश्यकता से अधिक कहना, अधिक दोष माना जाता है। सारांश यह है कि जिन-वचन स्वय सिद्ध होने पर भी श्रोताओ की योग्यता अनुसार जितनी आवश्यकता है, उतने अवयवों के देने में निषेध नहीं है, किन्तु आवश्यकता से अधिक हेतु या उदाहरण देना दोषरूप हो जाता है। जैसे एक भाजन मे दस सेर अन्न पकाया जा सकता है, उसमें १२-१३ सेर अन्न पकाने से अन्न और भाजन दोनों सुरक्षित नहीं रह सकते, यही दोष 'अधिक-दोष' मे है।

९. **आत्मकृत**—जो दोष स्वय किया गया हो, उसे आत्मकृत कहते हैं।

१०. **उपनीत**—जो दोष दूसरे के द्वारा दूषित किया गया हो, वह उपनीत दोष कहलाता है। इन दोनो अन्तिम दोषों का भाव यह है कि जब वादी वादकला की रीति-नीति का ठीक तरह से प्रयोग नहीं करता हो तो वह आत्मकृत दोष का विधायक होता है। यदि वादी अपनी कला की रीति-नीति को छोडकर दूसरे की बताई हुई रीति जो कि वास्तव मे उस समय के अनुसार गलत है, उसके सकेतानुसार वाद करने से जो अपनी पराजय होती है, वह उपनीत दोष कहलाता है।

ये दस विशेष दोष सामान्य की अपेक्षा जानने चाहिए। इनकी विशेष व्याख्या न्याय साहित्य कोषादि ग्रन्थो से जाननी चाहिए। आचार्य अभयदेव कहते हैं कि ''जिस प्रति से मैने वृत्ति लिखनी आरम्भ की है, उसमे '**निच्चेऽहि अट्ठमे**'—यह पाठ देखा गया है और उसके अनुसार ही अर्थ किया गया है।'' इससे सिद्ध होता है कि प्रतिभेद के कारण पाठ-भेद हो जाता है।

शुद्धवचन-अनुयोग

मूल—दसविहे सुद्धावायाणुओगे पण्णत्ते, तं जहा—चंकारे, मंकारे, पिंकारे, सेयंकारे, सायंकारे, एगत्ते, पुहत्ते, संजूहे, संकामिए, भिन्ने॥ ४२॥

छाया—दशविधः शुद्धवाचानुयोगः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—चकारः, मकारः, अपिकारः, सेकारः, (श्रेयस्कारः), सायंकारः, एकत्वं, पृथक्त्वं, संयूथं, संक्रामितं, भिन्नम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस प्रकार का शुद्ध वागनुयोग वर्णन किया गया है, जैसे—चं-कार, म-कार, अपि-कार, से-कार, सायं-कार, एकत्व, पृथक्त्व, सयूथ, संक्रामित और भिन्न।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में विशेष गुण दोषो का वर्णन किया गया है। विशेष गुण और दोष अनुयोग-गम्य होते हैं, अतः इस सूत्र में शुद्ध वचनानुयोग का वर्णन किया गया है।

अनुयोग का अर्थ है व्याख्या। अनुयोग अर्थ और वचन दो प्रकार का होता है। वाक्य

मे आए हुए जिन पदों का वाक्यार्थ से कोई विशेष संबध नही होता, उन्हें शुद्ध वाक्यानुयोग कहते है। चकार आदि के बिना वाक्य का अर्थ करने मे कोई विशेष बाधा नही पड़ती, क्योंकि वे वाक्य के अर्थ को व्यवस्थित मात्र ही करते हैं, जैसे कि—

१. **चंकार**—प्राकृत भाषा में 'च' की जगह 'य' का प्रयोग अधिक होता है। इसका प्रयोग साहित्य में समाहार, इतरेतरयोग, समुच्चय, अन्वाचय, अवधारण, पाद-पूरण और अधिक-वचन इत्यादि अर्थो मे किया जाता है, जैसे कि **'इत्थीओ वयणाणि य'** इस पद में चकार (य) शब्द समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त है जो कि स्त्रियो और शयन के अपरिभोग मे तुल्यता दिखाने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। जहां-जहां चकार का प्रयोग होता है, वहां-वहां प्रकरणानुसार ही उसका अर्थ किया जाता है।

२. **मंकार**—'मा' या 'म' का प्रयोग जिस स्थल पर किया जाता है, उसका अर्थ प्रकरण के अनुसार ही निकलता है, क्योकि यह भी अनेकार्थक शब्द है। जैसे कि **'समणं वा माहणं वा'**—यहा 'माहण' शब्द मे मकार निषेध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् 'मत हनन कर' इस तरह उपदेश करने वाले साधु को 'माहन' कहते हैं। **''जेणामेव समणे भगवं महावीरे तेणामेव''**—इन दो पदो मे मकार का प्रयोग सुन्दरता के लिए ही किया गया है। **'जेणेव'**—कहने से भी वही अर्थ निकलता है जो कि **'जेणामेव'** से निकलता है। इस पद में मकार आगमिक है।

३ **पिंकार**—श्रुत-साहित्य में अपि उपसर्ग का प्रयोग निम्नलिखित अर्थो में किया जाता है, जैसे कि सभावना, अनिवृत्ति, अपेक्षा, समुच्चय, गर्हा, शिष्यामर्षण, भूषण और प्रश्न। जैसे कि—**''एवं पि एगे आसासे''**—यहां पर 'अपि' शब्द समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जो यह बताता है कि इस प्रकार भी और दूसरी तरह भी। प्राकृत मे 'पि' और 'वि' का प्रयोग अपि अर्थ मे होता है, जैसे कि **''चउविसं पि केवली''** तथा **''देवा वि तं नमंसंति''**। अपि, उपसर्ग जिन-जिन वाक्यो में आता है, उनका अर्थ भी प्रसंगानुसार ही करना चाहिए।

४ **सेयंकार**—''से'' शब्द का प्रयोग आगमो मे 'अथ' के लिए किया गया है। 'अथ' शब्द के संशय, अधिकार, मंगल, विकल्प, अनन्तर, प्रश्न, प्रतिवचन, कार्त्स्न्य, आरम्भ और समुच्चय आदि अनेक अर्थ हैं। जैसे कि **''से किं तं नाणे'', से भिक्खू वा भिक्खुणी वा।** 'तस्य' और 'स:' अर्थ मे भी 'से' का प्रयोग होता है।

अर्धमागधी भाषा मे अर्थ शब्द के उपलक्षण में 'से' शब्द का प्रयोग होता है। कहीं-कही पर इसका फलितार्थ 'असौ' भी होता है। 'सेयकार' का रूप 'सेकार' बनता है। अथवा 'सेयंकार' का संस्कृत में 'श्रेय-स्कार' बनता है। 'श्रेय' का प्रयोग आगम में मिलता है जैसे कि **''सेयं मे अहिज्जिउ अज्झयणं धम्मपण्णती''** यह अध्ययन पठन करना मेरे लिए

श्रेयस्कर है 'अथवा' ''सेयंकार'' में 'सेय' शब्द का अर्थ भविष्यत्काल भी होता है जैसे **''सेयंकाले अकम्मं वा वि भवइ''।**

५. **सायंकार**—में 'साय' शब्द निपात है। इसका प्रयोग सत्य वचन, सद्भाव और प्रश्न अर्थ में किया जाता है। सत्यंकार ही 'सायंकार' है।

जिस शब्द के साथ 'कार' की योजना होती है, उस शब्द से केवल उसी शब्द का ग्रहण होता है, जैसे कि 'अकार', 'चकार' इत्यादि। जिस शब्द के साथ 'वर्ण' शब्द का योग होता है, उस शब्द से सवर्ण वर्ण का ग्रहण होता है जैसे कि 'अवर्ण' 'इवर्ण' आदि **(कारग्रहणे केवलग्रहणं, वर्णग्रहणे सवर्णग्रहणम्)**। जितने चकारादि अव्यय हैं, वे सब निपात हैं। पाठक को सब का ज्ञान होना चाहिए, तभी सूत्रो का अर्थ तथा शुद्ध पठन किया जा सकता है। चकार, मकार, पिंकार, सेयकार और सायंकार इन पदों में अनुस्वार लाक्षणिक है। इन पांच निपातो के उदाहरणों से शेष निपातो का विषय भी उपलक्षण से जान लेना चाहिए। इनका ज्ञान होने पर ही शुद्ध वचनानुयोग होता है।

६. **एकत्व**—बहुत सी बातें जहा मिलकर किसी एक वस्तु के प्रति कारण हो, वहा एकवचन का प्रयोग होता है, जैसे कि—**''सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः''** इस सूत्र में एक मोक्ष मार्ग को प्रकट करने के लिए तीन साधनों के पश्चात् मोक्ष-मार्ग पद एक वचनान्त दिया गया है। यदि ''मार्गाः'' यह बहुवचन कर दिया जाता, तो इस का अर्थ हो जाता-ज्ञान, दर्शन और चारित्र, ये अलग-अलग मोक्ष के मार्ग हैं, परन्तु ये तीन अलग-अलग मोक्ष के मार्ग नहीं हैं। यही बताने के लिए मार्ग शब्द एक वचनान्त रूप रखा गया है।

७. **पृथक्त्व**—एकत्व का प्रतिपक्ष पृथक्त्व है। यह द्विवचन और बहुवचन का भेद करके दिखाता है। इसका अनुयोग ऐसे किया जाता है—**''धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायदेसे, धम्मत्थिकाय-पदेसा''** इस सूत्र-पद में धर्मास्तिकाय के प्रदेश बहुवचन से प्रकट किए गए है। यह बहुवचनान्त पद धर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश सिद्ध कर रहा है। व्यवहारनय का आश्रय लेकर जिन-जिन पदार्थो का भेद बतलाना हो, उनके अनुसार वचन व क्रिया का प्रयोग करना चाहिए।

८. **संयूथ**—एकत्र किए हुए पदो को या समस्त पदों को 'सयूथ' कहते हैं। जो पद परस्पर अर्थ की संगति ठीक कर सकते हों, उन्हीं को सूत्रकार संयूथ के नाम से कथन करते हैं। उसका अनुयोग ऐसे किया जाता है कि जैसे कि **''सम्यग्दर्शनशुद्धम्''** इस शब्द का अर्थ है—**सम्यग्दर्शनेन, सम्यग्दर्शनाय, सम्यग्दर्शनाद्वा शुद्धं सम्यग्दर्शनशुद्धम्।**

९. **संक्रामित**—विभक्ति या वचन को जहां बदलकर वाक्य का अर्थ किया जाता है, जैसे कि—**''साहूणं वंदणेणं णासइ पावं असंकिया भावा साहूणं''** यहा षष्ठी विभक्ति को **'साधुभ्यः'** इस पंचमी में बदल कर फिर अर्थ किया जाता है, जैसे —साधुओं को वन्दन

करने से पाप नष्ट होते है और साधुओ से भाव अशकित होते हैं। "**अच्छंदा जे न भुञ्जन्ति, न से चाइ त्ति वुच्चइ**"—जो वस्तुओं का उपभोग स्वच्छन्दता से नहीं करते 'वे त्यागी नही होते'। यहा 'वह त्यागी नही होता' इस एक वचन को बदलकर बहुवचन किया गया है, 'वे त्यागी नही कहे जाते'। इस तरह विभक्ति और वचन संक्रामित होते हैं।

१०. **भिन्न**—क्रम और कालादि से भिन्न-विसदृश जैसे कि "**तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं**"—तीन करण और तीन योग से त्याग होता है। मन, वचन और कायरूप तीन योगो का करना, कराना और अनुमोदन रूप तीन करणों के साथ क्रम रखने से करना, वचन से कराना और काय से अनुमोदन करना, यह अर्थ हो जाता है। अत: यह क्रम छोड़कर तीनों करणो का सबंध प्रत्येक योग के साथ होता है 'मन से करना, मन से कराना, मन से अनुमोदन करना', इसी तरह वचन और काय के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

कभी-कभी काल-भेद के रूप में अतीतादि का निर्देश प्राप्त होने पर भी वर्तमान आदि का निर्देश किया जाता है, जैसे कि जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में ऋषभ स्वामी का आश्रयण करके "**सक्के देविंदे देवराया वंदइ नमंसइ**"—इस सूत्र रूप मे वर्तमान क्रिया का निर्देश किया गया है। वह वर्तमान कालिक निर्देश त्रिकाल में होने वाले सभी तीर्थंकरों के विषय मे जीताचार दिखाने के लिए प्रदर्शित किया गया है तथा वृत्तिकार भी लिखते है—"**इदं च दोषादि: सूत्रत्रयमन्यथापि विमर्शनीयो गंभीरत्वादस्येति**" अर्थात् उक्त दोषादि तीन सूत्र अन्य प्रकार से भी विचार करने योग्य है, क्योंकि यह विषय गभीर है। श्रुतसपन्न गुरु से इन तीन सूत्रो की विचित्र प्रकार की व्याख्या सुनकर ज्ञान अधिगत करना चाहिए।

दान और गति

मूल— दसविहे दाणे पण्णत्ते, तं जहा—

अणुकंपा संगहे चेव, भये कालुणिएइ य।

लज्जाए गारवेणं य, अहम्मे उण सत्तमे।

धम्मे य अट्ठमे वुत्ते, काहीइ य कयंइ य।

दसविहा गई पण्णत्ता, तं जहा—निरयगई, निरयविग्गहगई, तिरियगई, तिरियविग्गहगई, एवं जाव सिद्धिगई, सिद्धिविग्गहगई ॥४३॥

छाया—दशविधं दानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

अनुकम्पा, संग्रहश्चैव, भयं, कारुण्यकमिति च।

लज्जया, गौरवेण च, अधर्म: पुन: सप्तमम्।

धर्मश्चाष्टममुक्तं, करिष्यतीति च, कृतमिति च।

दशविधा गतिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—निरयगतिः, निरयविग्रहगतिः, तिर्यग्गतिः, तिर्यग्विग्रहगतिः। एवं यावत् सिद्धिगतिः, सिद्धिविग्रहगतिः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस प्रकार का दान कहा गया है जो इस प्रकार है—दीन, अनाथादि दु:खियों को देना, अनुकम्पा-दान है। विपत्ति आदि के समय पीड़ितो की सहायता करना सग्रह-दान है। अपने इष्टजन के वियोग से दु:खित होकर अमुक को परलोक मे सुख होगा, इस आशय से देना कारुण्यदान है। किसी भय से देना भयदान है। लज्जावश देना। गर्व से देना। जिस से अधर्म की वृद्धि हो वह अधर्मदान। धर्मार्थ देना धर्मदान। इस दान से यह अमुक मेरा उपकार करेगा, इस बुद्धि से देना। अमुक ने मेरा यह उपकार किया है, इस भावना से देना।

दस प्रकार की गति कही गई है, जैसे—नरकगति, नरकविग्रहगति, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चविग्रहगति, इसी प्रकार यावत् सिद्धगति, सिद्धविग्रहगति।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वचनानुयोग का वर्णन किया गया है। वचनानुयोग के बाद अर्थानुयोग की प्रवृत्ति होती है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे अर्थानुयोग के रूप में दान और उस के भेदों का उल्लेख किया गया है। दान का अर्थ है—न्यायपूर्वक प्राप्त हुई वस्तु को दूसरे के लिए अर्पित करना। यह अर्पण उसके कर्त्ता और स्वीकार करने वाला दोनो का उपकारक होना चाहिए। अर्पण करने वाले का मुख्य उपकार तो यह है कि उस वस्तु पर से उसकी ममता हट जाए और इस तरह से उसे सन्तोष एव समभाव की प्राप्ति हो। स्वीकार करने वाले का उपकार यह है कि उस वस्तु से उसकी जीवन-यात्रा में सहायता मिले तथा सद्‌गुणो का विकास हो। देने वाले की जैसी भावना होती है, उसी के अनुसार दान के भेद बन जाते हैं। दान के दस भेद हैं, जैसे कि—

१. अनुकम्पा-दान—जो अनुकम्पा से दान दिया जाता है, उसे अनुकम्पा दान कहते है। पूज्यपाद उमास्वाति ने अनुकम्पादान के विषय में कहा है—

"कृपणेऽनाथदरिद्रे व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते।
यद्दीयते कृपार्थात् अनुकम्पा तद्भवेद् दानम्॥"

अर्थात् दीन, अनाथ, रक, आपत्तिग्रस्त, रोगशोक से परिव्याप्त इन को जो दया-बुद्धि से दिया जाता है, वह अनुकम्पा दान है। इस दान का श्री भगवान ने कहीं पर भी निषेध नहीं किया। अहिंसा के भावो से ही दयापात्रो की रक्षा की जा सकती है। अभयदान का समावेश भी इसी मे हो जाता है। हृदय मे अनुकम्पा का होना सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। जैनधर्म का सर्वस्व अहिंसा है। यदि अनुकम्पा का निषेध किया जाए तो उसके साथ ही जैन-धर्म का भी स्वत: निषेध हो जाएगा, क्योंकि अहिंसाधर्म का प्रधान लक्षण अनुकम्पा ही है।

२. **संग्रह-दान**—बाढ़, दुर्भिक्ष, रोग, भूकम्प आदि उपद्रवो से पीड़ित जनता को सहायता देना सग्रहदान है। यह दान अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए होता है। यह दान मोक्ष का कारण नही है। कहा भी है—

''अभ्युदये व्यसने वा यद्किंचिद् दीयते सहायतार्थम्।
तत्संग्रहतोऽभिमतं मुनिभिर्दानं न मोक्षाय॥''

अर्थात् अभ्युदय में या आपत्ति आने पर दूसरे की सहायता प्राप्त करने के लिए जो कुछ दिया जाता है, वह संग्रह-दान है।

३. **भय-दान**—राक्षस, पिशाच, राजा, मन्त्री, कोतवाल आदि के भय से जो दिया जाता है, वह भय-दान है।

४. **कारुण्य-दान**—पुत्रादि के वियोग के कारण होने वाला शोक कारुण्य कहलाता है। शोकवश पितरों आदि के नाम से दान देना कारुण्यदान है। यद्यपि इस प्रकार के विचार से किया हुआ दान अज्ञान और मिथ्यात्व से ही हुआ करता है तथापि जो उसने दिया है वह कारुण्यभाव से दिया है। शोकाकुल व्यक्ति के भाव ये होते है कि दिए हुए दान से वह मृतक जन्मान्तर में सुखी होगा। इस प्रकार की बुद्धि से जो कुछ दिया जाता है, वह कारुण्य-दान कहलाता है, क्योंकि करुणा के भाव को ही कारुण्य कहते है।

५. **लज्जा-दान**—जो दान लज्जा के वशीभूत होकर किसी को दिया जाए, वह लज्जादान है। जैसे सभा में बैठे हुए किसी ने दान के लिए प्रार्थना की, तब उपस्थित जनता मे से कुछ एक लोग इच्छा न होते हुए भी लज्जावश दान देने लग जाते हैं, इसी को लज्जादान कहते हैं।

६. **गौरव-दान**—जो दान अहंकार के वश होकर दिया जाए, वह गौरव-दान है। इसमे दाता की भावना यश, कीर्ति या प्रशसा प्राप्त करने की होती है, कहा भी है—

''नटनर्त्तकमुष्टिकेभ्यो दानं, संबन्धिबन्धुमित्रेभ्यः।
यद्दीयते यशोऽर्थ, गर्वेण तु तद्भवेद्दानम्॥''

अर्थात् नट, नर्त्तक, पहलवान, सगे-सबन्धी या मित्रों को यश-प्राप्ति के लिए दिया जा रहा दान गर्व-दान है।

७. **अधर्म-दान**—जिन व्यक्तियों को देने से अधर्म की पोषणा और वृद्धि हो, ऐसे लोगों को दान देना अधर्म-दान है। कहा भी है—

''हिंसानृत-चौर्योद्यत-परदार-परिग्रह-प्रसक्तेभ्यः।
यद्दीयते हि तेषां, तज्जानीयादधर्माय॥''

अर्थात् जो व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री तथा परिग्रह में आसक्त हैं, ऐसे लोगों को

दान देना अधर्म-दान है। जिस दान के देने से दूसरा व्यक्ति अधर्म मे प्रवृत्ति करने लग जाए अथवा अधर्म भावना से दिया जाने वाला दान अधर्म-दान कहलाता है।

८. **धर्म-दान**—धर्मभावना से दिया जाने वाला दान धर्मदान है। जो श्रुत और चारित्र रूप धर्म की पोषणा एवं वृद्धि के लिए दिया जाता है, वह धर्मदान है। जैसे कहा भी है—

"समतृणमणिमुक्तेभ्यो यद्दानं दीयते सुपात्रेभ्यः।
अक्षयमतुलमनन्तं तद्दानं भवति धर्माय॥"

अर्थात् जो दान सुपात्र को दिया जाता है, वह अक्षय, अतुल एवं अनंत सुख का कारण होने से धर्म-दान कहा जाता है। उसी दान मे धार्मिक संस्थाए भी गर्भित हो जाती हैं, क्योंकि श्रुतदान करने वाले का प्रत्युपकार किसी प्रकार से भी नही दिया जा सकता। हा, श्रुत-श्रान देने वालों की आज्ञा के पालन से उऋण हुआ जा सकता है।

९. **काहीदान**—"कभी यह मेरे पर उपकार करेगा।" इस भावना से दिया जाने वाला दान।

१०. **कृत-दान**—पहले किए हुए उपकार के बदले मे जो कुछ किया जाता है, उसे कृतदान कहते हैं। जैसे कि "इस ने मेरे पर सैकडों उपकार किए हैं, हजारों बार दान भी दिया है, अतः मैं भी प्रत्युपकार के लिए कुछ देता हू" इस बुद्धि से दिया गया दान कृत-दान है।

इन दस प्रकार के दानो में से दो तरह के दान तो अपनी सर्वथा प्रधानता रखते है, जैसे कि अधर्मदान और धर्मदान। जैसे एक मास की ३० रात्रिया होती हैं, उनमें अमावस्या और पूर्णमासी ये दो रातें अपने गुण मे प्रधान होती है, कारण कि अमावस्या मे प्रकाश का सर्वथा अभाव होता है और पूर्णमासी में प्रकाश का विस्तार होता है, शेष रातें अधकार और प्रकाश के तारतम्य भाव को धारण करती हैं। इसी तरह शेष आठ दानों मे से किसी दान में पाप कम और पुण्य अधिक तथा किसी दान में पाप अधिक और पुण्य कम होता है। ये सब देने वाले के भावो पर ही निर्भर हुआ करता है, अतः विचारशील धर्मदान और अनुकपादान मे दत्तचित्त होते हुए निर्वाण-पद के अधिकारी हो जाते है।

दानधर्म से शुभाशुभ गति की प्राप्ति होती है, अतः दान के अनन्तर सूत्रकार ने दस प्रकार की गतियों का वर्णन किया है। जो शुभ भाव से रहित है अथवा शुभपर्याय से रहित है, उसे निरय कहते हैं। नरकगति-नाम-कर्म के उदय से नरक-पर्याय की प्राप्ति होना, नरक-गति कहलाती है। नरकगति को निरय-गति भी कहते है। गति शब्द से यहां पर्याय-विशेष से तात्पर्य है। जीव जिस पर्याय-विशेष मे रहा हुआ है, उसे गति शब्द से अभिलक्षित किया जाता है। नरक में रहा हुआ जीव नरकगति और तिर्यञ्चगति में रहा हुआ जीव तिर्यञ्चगति से अभिव्यक्त किया जाता है। इसी तरह मनुष्य, देव और सिद्धिगति के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

विग्रह शब्द से देह एवं वक्र अर्थ ग्रहण किया जाता है तथा तीसरा अर्थ है—आकाश-विभाग का अतिक्रमण रूप गमन। नरक-विग्रहगति—नरकदेह धारण के लिए जीव जो गति करता है अथवा एक या दो मोड करके जो जीव परभव के लिए गति करता है, उसे नरक-विग्रहगति कहते हैं तथा नरक के लिए जो जीव वर्तमान में गति कर रहा है, उसे नरक विग्रहगति कहते हैं। इसी तरह तिर्यञ्च-विग्रह गति, मनुष्य-विग्रहगति, देवविग्रह-गति के विषय में समझना चाहिए।

यहां शका हो सकती है कि ससारी जीव परभव को जाते हुए ऋजुगति और विग्रहगति दोनो तरह की गति करते है, किन्तु मुक्तात्मा जब लोकाग्र मे पहुचता है, वह केवल ऋजुगति से ही पहुंचता है और वह गति एक सामयिक होती है। विग्रहगति सिद्धो में बिल्कुल नहीं होती, फिर सिद्धविग्रह-गति लिखने का क्या अभिप्राय है?

इस शंका के समाधान मे कहा जा सकता है कि इस पद में विग्रह पद का अर्थ देह और वक्र अर्थ को छोड़कर "**आकाश-विभाग-उल्लंघन-रूपक्रिया**" ही किया जाता है, अत: यहां गति की सार्थकता सिद्ध होती है।

सिद्धि-विग्रहगति का एक दूसरा अर्थ अकार का प्रश्लेष निकालने की अपेक्षा से सार्थक होती है, जैसे कि **सिद्धि-अविग्रहगति** को संस्कृत भाषा मे **सिद्धयविग्रह-गति** ऐसा लिखा जाता है अर्थात् सिद्धगति विग्रह-रहित होती है।

'**सिद्धिगति**' इस पद से तो सामान्य गति कही गई है और '**सिद्धिविग्गहगई**' इस पद से '**सिद्धयविग्रहगति**' कही गई है, क्योंकि इसकी छाया "**सिद्धयविग्रहगति·**" ही होती है। सिद्धि में—लोकाग्रभाग में बिना मोड किए जो सिद्धात्मा का गमन है, वह सिद्धि-अविग्रहगति है। इससे यह सिद्धात्मा की विशेष गति कही गई है। इस तरह सामान्य और विशेष की अपेक्षा से ही दो पदों का भेद जानना चाहिए।

मुण्ड-भेद

मूल—दसमुंडा पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदियमुंडे जाव फासिंदियमुंडे, कोहमुंडे जाव लोभमुंडे, दसमे सिरमुंडे ॥४४॥

छाया—दशविधा मुण्डाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियमुण्डो यावत्स्पर्शनेन्द्रियमुण्डः, क्रोधमुण्डो यावल्लोभमुण्डो दशमः शिरोमुण्डः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस मुण्डित कहे गए है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय-मुण्डित यावत् स्पर्शनेन्द्रिय-मुण्डित, क्रोध-मुण्डित यावत् लोभ-मुण्डित एव शिरोमुण्डित।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में दान का वर्णन किया गया है। दानशील व्यक्ति मे ही

मुण्डित होने की भावना जागृत होती है और आत्मविकास के लिए मुण्डित होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण प्रस्तुत सूत्र में दस प्रकार के मुण्डों का वर्णन किया गया है। मुण्ड शब्द का अर्थ है **"मुण्डयति"—अपनयतीति मुण्डः"** अर्थात् अवगुणों को दूर करना ही 'मुण्ड' कहलाता है। जिसने उन अवगुणों को दूर कर दिया, उसे मुण्डित कहते हैं। पाच इन्द्रियों के विषयों पर राग और द्वेष न करना तथा क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार कषायों को उदित न होने देना और उदय होने पर उन्हें निष्फल कर देना एवं इन के हट जाने पर फिर दसवां शिरोमुण्डन करना रूप दस प्रकार का मुण्डन होने पर ही वस्तुतः साधक मुण्डित कहलाता है।

यहां विचारणीय बात यह है कि पाच इन्द्रियों और चार कषायो को वश मे किए बिना केवल सिर को मुण्डित करने से आत्मविकास नहीं हो सकता, अतः यह निश्चित है कि दस प्रकार का मुण्डन हो जाने पर ही सिर का मुण्डित होना सफल हो सकता है।

संख्यान-भेद

मूल—दसविहे संखाणे पण्णत्ते, तं जहा—

परिकम्म ववहारो, रज्जू रासी कलासवन्ने य।
जावनावति वग्गो घणो य तह वग्ग वग्गो वि॥
कप्पो य ॥४५॥

छाया—दशविधं संख्यानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

परिकर्म, व्यवहारः, रज्जुः, राशिः, कलासवर्णश्च।
यावत्तावद् वर्गो घनश्च तथा वर्गवर्गोऽपि॥
कल्पश्च।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—संख्या दस प्रकार की कथन की गई है, यथा—परिकर्म, व्यवहार, रज्जु, राशि, कलासवर्ण, यावत्तावत्, वर्ण, घन, वर्गवर्ग और कल्प।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे दस प्रकार के मुण्डों का वर्णन किया गया है। मुण्डित होने वाले साधक का पहला कर्तव्य है कि वह तत्त्वों आदि की संख्या को जाने, अतः प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने संख्या का वर्णन किया है। जिस उपाय से किसी वस्तु की संख्या या परिमाण का ज्ञान हो उसे संख्यान कहते हैं। संख्यान के दस भेद हैं, जैसे कि—

१. **परिकर्म**—पहाडे, जोड़, गुणा, भाग, लब्ध इत्यादि संख्याविधाओं को परिकर्म कहते हैं।

२. **व्यवहार**—जो हिसाब वाणिज्य-व्यापार आदि में प्रयोग किया जाता है, उसे व्यवहार

कहते है। जैसे कि सवाया, ड्योढ़ा, ढाया इत्यादि। अथवा ६ की सख्या को आधी दर्जन, १२ की संख्या को दर्जन, १२ दर्जनों को गुरस आदि कहते है, तथा २० की संख्या वाली वस्तु को कोडी के नाम से पुकारा जाता है। ये सब व्यवहार-संख्यान के ही भेद हैं।

३. रज्जु—सेंटीमीटर, इच, फुट, फीता, रस्सी, अंगुल, बिलांत आदि से नापकर लम्बाई-चौड़ाई आदि का पता लगाना, रज्जु-सख्यान है। इसमे ज्यामिति का भी समावेश हो जाता है।

४. राशि—धान्य आदि के ढेर को नापकर या तोलकर वस्तु के परिमाण को जानना राशि-संख्यान है। इसके आश्रय से ढेरी के हिसाब से दूसरे का हिसाब चुकाया जाता है।

५. कला-सवर्ण—वस्तु के अंशो को बराबर करके जो हिसाब किया जाता है उसे कला-सवर्ण कहते हैं। मात्रा के अनुसार अनेक वस्तुओ का एकीकरण करना तथा औषधियों आदि के निर्माण के समय रासायनिक द्रव्यों की मात्रा निश्चित करना आदि का समावेश कला-सवर्ण में ही हो जाता है।

६. यावत्तावत्—गुणाकार को यावत्तावत् कहते हैं। इसके द्वारा कही से भी यथेष्ट गुणाकार से यथेष्ट सकलित आदि लाया जाता है। किसी संख्या का एक से लेकर अनेक अंकों का जोड़ निकालने के लिए गुणा आदि करना यावत्-तावत् संख्यान कहलाता है।

इसका क्रम निम्नलिखित है—एक से लेकर किसी अमुक संख्या तक यदि जोड करना हो, तो उसे अपनी इच्छा के अनुसार किसी संख्या से गुणा करे, गुणनफल मे जिस सख्या से गुणा किया गया है, उसे जोड दे। इससे प्राप्त संख्या को जोड की जाने वाली संख्या से गुणा करे—उदाहरण स्वरूप—जिस सख्या को सर्व प्रथम गुणा किया जाता है, उसे गच्छ कहते हैं। जिस संख्या से पहले-पहल गुणा किया जाता है, उसे वाछा कहते है। जैसे कि दस को गच्छ और आठ को वाछा। १० को ८ से गुणा किया तो ८० हुए। फिर वाछा ८ को गुणनफल मे मिला देने से ८८ हुए। ८८ को फिर गच्छ से गुणा किया जाए तो गुणनफल ८८० हुए। इसके बाद ८ वाछा को दुगुणा १६ करके ८८० पर भाग देने से ५५ निकल आए। यही एक से लेकर दस तक की संख्याओ का योगफल है।[1]

७. वर्ग—किसी भी सख्या को उसी से गुणा करना वर्ग सख्यान है। जैसे चार को चार से गुणा करने पर १६ होते हैं।

---

१ गच्छो वाञ्छाभ्यस्तो वाञ्छायुतो गच्छसगुण कार्य ।
द्विगुणीकृतवाञ्छाहृते वदन्ति मकलितमाचार्या· ।।
अत्र किल गच्छो दश १०, ते च वाञ्छया यादृच्छिकगुणकारेणाष्टकेनाभ्यस्ता. जाताऽशीति., ततो वाञ्छायुतास्तेऽष्टाशीति· ८८, पुनर्गच्छेन दशभि. सड्गुणिता अष्टौ शतान्यधिकानि जातानि ८८०, ततोद्विगुणीकृतेन यादृच्छिकगुणाकारेण षोडशभिर्भागे हृते यल्लभ्यते तद्दशानाँ सड्कलितमिति ५५, इद च पाटीगणित·, श्रूयते इति। इतिवृत्तिकार।

८. **घन**—एक सदृश अनेक संख्याएं रखकर उन्हे उत्तरोत्तर गुणा करना घन-संख्यान है, जैसे कि ५×५×५। यहां ५ को ५ से गुणा करने पर २५ हुए, २५ को ५ से गुणा करने पर १२५ हुए।

९. **वर्गवर्ग**—पहली संख्या के गुणनफल को उसी वर्ग से गुणा करना वर्गवर्ग सख्यान है, जैसे २ का वर्ग हुआ ४, ४ का वर्ग हुआ १६, १६ संख्या ३ का वर्गवर्ग है।

१०. **कल्प**—कल्प शब्द छेदन अर्थ में प्रयुक्त हुआ। जिस हिसाब से काष्ठ आदि का छेदन किया जाता है, उसे कल्प कहते हैं।

इनकी पूर्ण व्याख्या गणितशास्त्र से जाननी चाहिए। ७२ कलाओं में गणित कला का दूसरा स्थान है। गणित-शास्त्र का विषय अतिविस्तृत होने से इसकी पूर्ण व्याख्या नहीं दिखाई गई।

उत्तरगुण दशविध प्रत्याख्यान

मूल—दसविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा—
अणागयमतिक्कंतं, कोडीसहियं नियंटियं चेव।
सागारमणागारं परिमाणकडं निरवसेसं।
संकेयं चेव अद्धाए, पच्चक्खाणं दसविहं तु॥४६॥

छाया—दशविधं प्रत्याख्यानं प्रज्ञप्तस्तद्यथा—
अनागतमतिक्रान्तं, कोटिसहितं, नियंत्रितञ्च।
साकारमनाकारं, परिमाणकृते निरवशेषम्॥
संकेतञ्चैव अद्धायाः, प्रत्याख्यानं दशविधं तु।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—प्रत्याख्यान दश प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे—अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, नियन्त्रित, साकार, अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, संकेत, अद्धा-प्रहर आति तप।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में संख्यान का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार तत्वादि संख्यान प्रकारों के ज्ञाता साधक के लिए महान् कर्त्तव्य रूप प्रत्याख्यान का वर्णन करते है।

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से सर्वथा निवृत्त होना मूल गुण है और दस प्रकार के प्रत्याख्यानो में से यदा-कदा किसी एक का पच्चक्खाण तपश्चर्या करना ही साधु का उत्तरगुण है। किसी अभीष्ट समय के लिए आहारादि किसी वस्तु के त्याग कर देने को प्रत्याख्यान कहते हैं। इसके उत्तरभेद दस हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. अनागत—किसी आने वाले पर्व पर निश्चित किए हुए पच्चक्खाण मे बाधा पडती देखकर उस तप को निश्चित समय से पहले ही कर लेना—जैसे पर्युपशमना के दिनो में यदि किसी ने अट्ठाई आदि तप करना हो साथ ही उन दिनों मे आचार्य, ग्लान तथा तपस्वी आदि की सेवा-सुश्रूषा करने का कारण बन रहा हो, तो उनकी सेवा मे अंतराय अर्थात् विघ्न न पड़े, इस बात को देखकर आगे किए जाने वाली तपस्या को पहले ही कर लेना "अनागत" प्रत्याख्यान है।

२. अतिक्रान्त—यदि किसी साधक ने पर्युपशमना आदि पर्व के उपस्थित हो जाने पर कोई विशेष तप करना है, किन्तु अपनी अस्वस्थता से या गुरु, तपस्वी, ग्लान आदि की सेवा में संलग्न रहने से जो उन दिनो मे तपस्या नहीं कर सका, यदि वही व्यक्ति धारण की हुई भावना को बाद मे पूर्ण करे तो उसे "अतिक्रान्त-प्रत्याख्यान" कहते है, क्योंकि जो तप पहले करना था उसे बाद मे किया गया है।

३. कोटि-सहित—एक तपस्या समाप्त होते ही दूसरी तपस्या का प्रारम्भ उसी दिन किया जाए अथवा आरम्भ और समाप्ति में एक ही प्रकार की तपस्या हो। जैसे कि "यव-मध्य-चन्द्र-प्रतिमा" तथा "वज्र-मध्य-चन्द्रप्रतिमा"। पहली तपस्या का जो अन्त है, वह एक कोटि है और दूसरी तपस्या का जो प्रारम्भ है वह दूसरी कोटि है। इस तरह पहली और दूसरी कोटि का तप एक सदृश होने से इसे "कोटि-सहित" प्रत्याख्यान कहते हैं।

४. नियन्त्रित—जो तप अनेक तरह की विघ्न-बाधाओ के उपस्थित होने पर भी नियमित रूप से किया जाता है, बीच मे यदि सेवा की नियति भी लग जाए तथा शरीर मे किसी प्रकार की पीडा उत्पन्न हो जाए, तब भी प्रारम्भ की हुई तपस्या को पूर्ण किए बिना बीच मे न छोडना। जब तक मेरे अन्दर सास है, तब तक चाहे स्वस्थ होऊ या अस्वस्थ, किसी भी अवस्था में क्यों न होऊं, अमुक महीने में या अमुक दिन तक इतनी तपस्या तो अवश्य ही करूगा। इस तरह के नियम से बद्ध होकर जो मुनिवर तपस्या करते हैं, उसे "नियन्त्रित" प्रत्याख्यान कहते हैं। यह प्रत्याख्यान १४ पूर्वधर, जिनकल्पी, वज्रऋषभ-नाराच सहनन वालों के लिए ही होता है।

५. सागार—आगार सहित पच्चक्खाण को सागार कहते है, जिस आहारादि के त्याग में अपवादमार्ग का अवलम्बन लेकर अनाभोग आदि आगारो में से किसी विकट परिस्थिति के उपस्थित होने पर त्यागी हुई वस्तु यदि सेवन कर ली जाए तो भी किया हुआ पच्चक्खाण नही टूटता, जैसे नवकारसी, पोरसी आदि पच्चक्खाणो में अनाभोग आदि आगार होते हैं।

६. अणागार—जिस पच्चक्खाण में महत्तरागार आदि आगार बिल्कुल न हो उसे "अणागार" प्रत्याख्यान कहते हैं। अनाभोग और सहसाकार ये आगार तो इस में भी होते है, क्योकि मुह में यदि कोई वस्तु अनजाने बिना उपयोग के अकस्मात् पड़ जाए तो आगार न होने पर पच्चक्खाण के भग का भय रहता है।

७. **परिमाणकृत**—जिस प्रत्याख्यान में दत्ति, कवल, गृह, भिक्षा तथा भोजन के द्रव्यों की मर्यादाएं रखी जाए, उसे ''परिमाणकृत'' पच्चक्खाण कहते है। कहा भी है—

''दत्तीहिं व कवलेहिं व घरेहिं भिक्खाहिं अहव दव्वेहिं।
जो भत्तपरिच्चायं करेइ परिमाणकडमेयं॥''

८. **निरवशेष**—जिस पच्चक्खाण में सब तरह के आहार-पानी आदि का त्याग हो, उसे ''निरवशेष'' प्रत्याख्यान कहते है।

९. **संकेत**—जिस त्याग मे अगूठी, मुट्ठी, गांठ इत्यादि के सकेत को लेकर त्याग किया जाता है, जैसे अगूठी आदि का एक अगुली से परिवर्तन करके आहार आदि करने के बाद फिर उसी अंगुली मे अगूठी डाल देना। इसी तरह विविध अभिग्रह धारण करना ''सकेत'' प्रत्याख्यान है।

१०. **अद्धा**—नवकारसी, पौरुषी काल को लक्ष्य में रखकर जो भी आहारादि का त्याग किया जाता है, उसे ''श्रद्धा'' प्रत्याख्यान कहते है।

इस प्रकार सूत्रकार ने प्रत्याख्यानो के भेदो का दिग्दर्शन कराया है। मूल गाथा मे 'तु' शब्द 'एवकार' अर्थ में है। 'च' शब्द 'पुन:' अर्थ मे और 'एव' शब्द 'अवधारण' अर्थ मे है। अत: इस में पुनरुक्ति दोष की आशका नही करनी चाहिए।

जिस साधक की जैसी शक्ति हो उसे वैसा ही पच्चक्खाण करना चाहिए। अच्छे कार्य मे अपनी शक्ति को लगाने से न छिपाना ही साधुता है एव मानवता है।

समाचारी-भेद

मूल—दसविहा समायारी पण्णत्ता, तं जहा—
इच्छा, मिच्छा, तहक्कारो, आवस्सिया निसीहिया।
आपुच्छणा य पडिपुच्छा, छंदणा य निमंतणा॥
उवसंपया य काले समायारी भवे दसविहा उ॥४७॥

छाया—दशविधा समाचारी प्रज्ञप्ता, तद्यथा—
इच्छा, मिथ्या, तथाकारः, आवश्यकी, नैषेधिकी।
आपृच्छना च प्रतिपृच्छा, छन्दना च निमन्त्रणा॥
उपसम्पदा च काले, समाचारी भवेद् दशविधा तु।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—समाचारी दश प्रकार की प्रतिपादन की गई है, यथा—इच्छा समाचारी, मिथ्या समाचारी, तथाकार, आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छना, प्रतिपृच्छना, छन्दना, आमन्त्रणा और उपसम्पत्।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे प्रत्याख्यान का वर्णन किया गया है। प्रत्याख्यान सामाचारी का ही एक अंग है। अत: इस सूत्र मे सामाचारी का वर्णन किया गया है।

साधु के समान आचरण को या श्रेष्ठ आचरण को सामाचारी कहते हैं। अपने सभी शुभ क्रियाकलापों का नियमबद्ध आचरण ही सामाचारी है। उसके दस भेदों का विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. **इच्छाकार**—एक साधु दूसरे साधु से किसी कार्य के लिए प्रार्थना करता है कि 'यदि आप की इच्छा हो तो आपका यह कार्य मैं करूं?' अथवा 'आपकी इच्छा हो तो मैं अपना अमुक कार्य करू' इस प्रकार पूछने की पद्धति को इच्छाकार कहते है। दूसरा साधु यदि उस कार्य को स्वय करे तो उसमे कहना चाहिए, 'जैसे आपकी इच्छा।' इस समाचारी से सिद्ध होता है कि किसी भी कार्य मे किसी की जबरदस्ती नहीं रहती। जहां कोई भी वस्तु इच्छा के अभाव मे बलात् ग्रहण कराई जाती है, वहां संक्लेशपरिणाम होने के कारण जीव को सन्ताप होता है, जबकि इच्छाकार मे साधक स्वय हार्दिक इच्छा प्रकट करता है।

२. **मिथ्याकार**—जब साधक साधुत्व की मर्यादा से स्खलित हो गया हो, संयम की आराधना करते हुए उससे कोई विपरीत आचरण हो गया हो, किसी स्थान पर दोष लग गया हो, तब वह अपनी दूषित आत्मा की निन्दा करे, अपनी भूल स्वीकार करे और उस भूल के लिए पश्चात्ताप करे। उस समय यह कहे—"**तस्स मिच्छा मि दुक्कडं**" अर्थात् मेरा दुष्कृत—पाप निष्फल हो। इसे मिथ्याकार सामाचारी कहते हैं। वह अपने आप को सम्भालने के लिए मिथ्यादुष्कृत देता है।

३. **तथाकार**—किसी प्रकार का दोष लग जाने पर गुरु के समीप आलोचनार्थ जाना, वे प्रायश्चित्त के विषय में जो वचन कहे, उन्हे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना, या आगमवाचना के समय गुरु से कुछ पूछने पर जब गुरु उत्तर दे, या जो गुरु आज्ञा दें तब "**तहत्ति**"—'जैसा आप कहते है, वह सत्य है ऐसा कहना, तथाकार है। 'तथाकार' या 'तहत्ति' कहने से गुरु-वचन विनयपूर्वक स्वीकृत होते है।

४ **आवश्यकी**—सुशिष्य जब से दीक्षा ग्रहण करता है, तब से लेकर आयुपर्यन्त गुरुजनों की आज्ञा में ही रहता है, आशातना के भय से कोई भी काम गुरुजनों की आज्ञा के बिना नही करता। यदि किसी कार्य के उद्देश्य से उपाश्रय से बाहर अन्यत्र कही जाना पड़े, तब गुरुजनों की आज्ञा लेकर उपाश्रय से बाहर निकले और उस समय "आवस्सही" शब्द कह कर निकलना चाहिए, चुपचाप नही जाना चाहिए। यही आवश्यकी सामाचारी है।

५. **नैषेधिकी**—बाहर से वापिस आकर उपाश्रय मे प्रवेश करते समय "निसही" शब्द कहकर प्रवेश करना, अर्थात् अब मुझे बाहर जाने का कोई काम नहीं है, यही नैषेधिकी समाचारी है।

६. **आपृच्छना**—आहार-विहार आदि क्रियाओ मे गुरुजनों को पूछ कर फिर प्रवृत्ति करना, प्रत्येक क्रिया-कलाप को करने से पहले गुरु से पूछना शिष्य का परम कर्त्तव्य है। अनुशासन में रहना ही शिष्य का धर्म है। यही आपृच्छना समाचारी है।

७. **प्रतिपृच्छना**—एक बार किसी कार्य के लिए गुरु से पूछ लिया, किन्तु यदि कोई उसमें और क्रिया करने की आवश्यकता पड़े अथवा अन्य साधु किसी कार्य के लिए कहे तो फिर गुरुजनो से पूछने का नाम प्रतिपृच्छा है, अथवा गुरु ने जिस कार्य करने का निषेध कर दिया है, उसी कार्य मे यदि प्रवृत्त होना आवश्यक हो, तो गुरु से पूछना कि 'गुरुदेव। इस कार्य के लिए आप ने पहले मना किया था, किन्तु समयानुसार यह काम करना जरूरी है यदि आप आज्ञा दें तो करू। इसी को प्रतिपृच्छना कहते है।

८. **छन्दना**—लाए हुए आहार में से सविभाग करके गुरुजनो को जो आहार दे दिया है, शेष आहार अपने हिस्से में से अन्य मुनिवरो को निमन्त्रण करना—'यदि आप के उपयोग में आ सके तो यह आहार ग्रहण कीजिए', इस तरह की प्रार्थना करना 'छन्दना सामाचारी' है।

९. **निमन्त्रणा**—आहारादि वस्तु लाने के लिए साधु को निमन्त्रण देना या पूछना, जैसे कि 'क्या आप के लिए आहारादि लाऊं?' इस तरह पदार्थ-प्राप्ति के पहले ही साधुजनों को आमन्त्रण करना 'निमन्त्रणा' है।

१०. **उपसंपद्**—ज्ञानादि के ग्रहणार्थ अपने गुरुजनो की आज्ञा लेकर अपने गच्छ को छोड कर अन्य गच्छ में रहे हुए किसी विशेष ज्ञान वाले गुरु का आश्रयण करके रहना, विनय एव सुश्रूषापूर्वक श्रुतसाहित्य का अध्ययन करना उपसम्पत् कहलाता है। इस कथन से ज्ञानविषयक उत्सुकता तथा गच्छान्तर के प्रति प्रीतिभाव रखना सिद्ध होता है। कारण कि प्रत्येक गच्छ के साथ जब प्रीति भाव होगा, तभी ज्ञानादि ग्रहणार्थ वहा जाने की उत्कण्ठा उत्पन्न होगी। इस प्रकार साधुओं की सामाचारी के दस भेद तीर्थकर भगवान ने प्रतिपादित किए हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र मे भी दस प्रकार की सामाचारी का क्रम उक्त प्रकार से ही रखा गया है, किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र के २६ वें अध्ययन में समाचारी का क्रम इस प्रकार है जैसे कि—आवस्सिया, निसीहिया, आपुच्छणा, पडिपुच्छणा, छन्दणा, इच्छाकार, मिच्छाकार, तहक्कार, अब्भुट्ठाण, उपसंपया। क्रम मे यह अन्तर क्यो है, यह विषय विचारणीय है।

दूसरी विशेषता यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र मे निमन्त्रणा सामाचारी के स्थान में अभ्युत्थान सामाचारी का उल्लेख हुआ है। इस का भाव यह है कि करणीय कार्यो के लिए सदैव उद्यत रहना अर्थात् गुरुजनों की पूजा में तथा बाल, वृद्ध, ग्लानादि की सेवा में तत्पर रहना अभ्युत्थान कहलाता है।

सामाचारी के पालन करने से साधक मे विनय, प्रीति, वात्सल्य, रत्नत्रय की वृद्धि, दोष-भीरुता, सन्तोष, सेवाभाव इत्यादि गुणो की पोषणा होती है।

भगवान महावीर के दस महास्वप्न

मूल—समणे भगवं महावीरे छउमत्थकालियाए अंतिमराइयंसी इमे दस महासुमिणे पासित्ताणं पडिबुद्धे, तं जहा—

एगं च णं महाघोररूव दित्तधरं तालपिसायं सुमिणे पराजियं पासित्ता णं पडिबुद्धे।

एगं च णं मह सुक्किलविचित्त पक्खगं पुंसकोइलगं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।

एगं च ण महं चित्तविचित्तपक्खगं पुंसकोइलगं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।

एगं च णं महं दामदुगं सव्वरयणामयं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।

एगं च णं महं सेयं गोवग्गं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।

एगं च णं महं पउमसरं सव्वओ समंता कुसुमियं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।

एगं च णं महासागरं उम्मीवीचीसहस्सकलियं भुयाहिं तिण्णं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।

एगं च णं महं दिणयरं तेयसा जलंतं सुमिणे पासित्ताणं पडिबुद्धे।

एगं च णं महं हरिवेरुलिपवन्नाभेणं नियेयेणमंतेणं माणुसुत्तरं पव्वयं सव्वओ समंता आवेढियं परिवेढियं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।

एगं च णं महं मंदरे पव्वए मंदरचूलियाओ उवरिं सीहासणवरगयमत्ताणं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे॥४८॥

छाया—श्रमणो भगवान् महावीरश्च्छद्मस्थकालिकायामन्तिमरात्रौ इमान् दश महास्वप्नान् दृष्टवा प्रतिबुद्धः, तद्यथा—एकञ्च महान्तं घोरदीप्तरूपधरं तालपिशाचं स्वप्ने पराजितं दृष्टवा प्रतिबुद्धः।

एकञ्च महान्तं शुक्लपक्षकं पुंस्कोकिलं स्वप्ने दृष्टवा प्रतिबुद्धः।

एकञ्च महान्तं चित्रविचित्रपक्षकं पुंस्कोकिलं स्वप्ने दृष्टवा प्रतिबुद्धः।

एकं च महद् दामद्विकं सर्वरत्नमयं स्वप्ने दृष्टवा प्रतिबुद्धः।

एकञ्च महान्तं श्वेतगोवर्गं स्वप्ने दृष्टवा प्रतिबुद्धः।

एकञ्च महत् पद्मसरः सर्वतः समन्तात् कुसुमितं स्वप्ने दृष्टवा प्रतिबुद्धः।

एकञ्च महासागरमूर्मिवीचिसहस्त्रकलितं भुजाभ्यां तीर्णं स्वप्ने दृष्टवा प्रतिबुद्धः।

एकञ्च महान्तं दिनकरं तेजसा ज्वलन्तं स्वप्ने दृष्टवा प्रतिबुद्धः।

एकञ्च महान्तं हरिवैडूर्यवर्णाभेण निजकेनान्त्रेण मानुषोत्तरं पर्वतं सर्वतः समन्तादावेष्टितंपरिवेष्टित स्वप्ने दृष्टवा प्रतिबुद्धः।

एकञ्च महति मन्दरे पर्वते मन्दरचूलिकायामुपरि सिंहासनवरगतमात्मानं स्वप्ने दृष्टवा प्रतिबुद्धः।

शब्दार्थ—समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर, **छउमत्थकालियाए**—छद्मस्थ काल की, **अंतिमराइयंसी**—अन्तिम रात्रि मे, **इमे दस**—इन दस, **महासुमिणे**—महास्वप्नो को, **पासित्ता णं पडिबुद्धे**—देख कर जागे, **तं जहा**—जैसे।

एगं च णं—एक, **महाघोररूवदित्तधरं**—महान् भयानक दीप्तिधर, **तालपिसायं**—ताल वृक्ष समान पिशाच को, **सुमिणे पराजियं**—स्वप्न में पराजित किए हुए को, **पासित्ताणं पडिबुद्धे**—देख कर जागे।

एगं च णं महं—एक महान्, **सुक्किलपक्खगं**—शुक्ल पक्ष वाले, **पुंसकोइलगं**—पुस्कोकिल को, **सुपिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे**—स्वप्न में देख कर जागे।

एगं च ण महं—एक महान्, **चित्तविचित्तपक्खगं**—चित्र-विचित्र पक्षों वाले, **पुसकोइलगं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे**—पुरुष कोकिल को स्वप्न मे देख कर जागे।

एगं च णं महं दामदुगं—एक महान् माला-युगल जो, **सव्वरयणामयं**—सर्वरत्नमय था, उसे, **सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे**—स्वप्न में देख कर जागे।

एगं च णं महं—एक महान्, **सेयं गोवग्गं**—श्वेत गोवर्ग को, **सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे**—स्वप्न में देख कर जागे।

एगं च णं महं—एक महान्, **सव्वओ समंता**—सर्वतः समन्तात्, **कुसुमियं**—कुसुमित, **पउमसरं**—पद्मसागर को, **सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे**—स्वप्न में देख कर जागे।

एगं च णं महासागरं—एक महान् सागर को जो, **उम्मीवीची सहस्सकलियं**—सहस्त्रों ऊर्मियो से युक्त था, **भुयाहिं तिण्णं**—भुजाओं द्वारा तीरित किए हुए को, **सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे**—स्वप्न मे देख कर जागे।

एगं च णं महं दिणयरं—एक महान् सूर्य, जो, **तेयसा जलंतं**—तेज से ज्वलन्त था, **सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे**—स्वप्न में देखकर जागे।

एगं च णं महं—एक महान्, **हरिवेरुलियवन्नाभेणं**—हरित-पिंग वैडूर्यमणियों की

तरह आभा वाली, **नियएणं अंतएणं**—अपनी आन्त्र से, **माणुसुत्तरं पव्वयं**—मानुषोत्तरपर्वत को, **सव्वओ समंता**—चारो ओर से चारों दिशाओं मे, **आवेढियं परिवेढियं**—आवेष्टित, परिवेष्टित, **सुमिणे पासित्ता ण पडिबुद्धे**—स्वप्न मे देख कर जागे।

एगं च णं महं—एक महान् मन्दर पर्वत पर, **मंदरचूलियाओ उवरिं**—मंदर चूलिका के ऊपर, **सीहासणवरगयं अत्ताणं**—सुन्दर सिंहासन पर अवस्थित अपने को, **सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे**—स्वप्न में देख कर जागे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान् महावीर छद्मस्थ काल की अन्तिम रात्रि में निम्नोक्त स्वप्नों को देखकर जागृत हुए, यथा—

एक महाघोर दीप्तरूप तालसदृश ऊंचे पिशाच को स्वप्न में पराजित कर प्रतिबुद्ध हुए।

एक महान् श्वेत पंखो वाले पुस्कोकिल को स्वप्न में देख कर प्रतिबुद्ध हुए।

एक बहुत बडे चित्र-विचित्र पक्षों वाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखकर जागृत हुए।

एक विशाल रत्नमाला-युगल जो सर्वरत्नमय था, उसे स्वप्न में देख कर जागृत हुए।

एक विशाल श्वेत गोवर्ग स्वप्न मे देखा, तदनन्तर प्रतिबुद्ध हुए।

चारो दिशाओ में विस्तृत एव कुसुमित पुष्प पद्मसरोवर को स्वप्न मे देखा और जागृत हुए।

सहस्त्रों ऊर्मियो से तरगित एक महान् सागर को भुजाओ से तीर्ण देखकर जागे।

महान् तेज से जाज्वल्यमान दिनकर को स्वप्न में देखकर जागे।

हरिपिङ्गवर्ण वैडूर्य मणियों की आभा समान अपने आन्त्र से मानुषोत्तर पर्वत को चारो ओर से आवेष्टित-परिवेष्टित देख कर जागृत हुए।

एक महान् मन्दर पर्वत की चूलिका के ऊपर अपने आप को सिहासन पर बैठे हुए देखा और जाग गए।

विवेचनिका—समाचारी का वर्णन श्री महावीर स्वामी ने किया है। अत: इस सूत्र में दस महास्वप्न देखने का वर्णन किया गया है। श्री श्रमण भगवान महावीर छद्मस्थ अवस्था की अतिम रात्रि में दस महास्वप्नों को देखकर जागृत हुए। उन महास्वप्नो का विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. पहले स्वप्न मे ताडवृक्ष के समान एक अतिविशालकाय भयंकर और तेजस्वी पिशाच को अपनी शक्ति से पराजित किया।

२. दूसरे स्वप्न में एक पुंस्कोकिल को देखा, जो कि सफेद पंखों वाला था। कोयल के पंख काले होते हैं, किन्तु भगवान ने स्वप्न मे सफेद पंखों वाले कोयल को देखा।

३. तीसरे स्वप्न में एक पुस्कोयल को देखा, जिसके पंख चित्र-विचित्र रंगों वाले थे।

४. चौथे स्वप्न मे एक विशाल माला-युगल को देखा जो कि उत्तम-उत्तम सब प्रकार के रत्नों से जड़ित था।

५ पाचवे स्वप्न मे शुभ्रवर्ण वाला एक गोवर्ग देखा। गायो के समूह को गोवर्ग कहते हैं।

६. छट्ठे स्वप्न मे कमलो से सुशोभित विशाल पद्मसरोवर देखा।

७. सातवें स्वप्न में तरंगो और कल्लोलो से युक्त महासागर को अपने भुजा-बल से तैर कर पार पहुचे हुए स्वयं को देखा।

८ आठवे स्वप्न में तेजपुज से प्रकाशमान सूर्य को देखा।

९ नौवे स्वप्न में मानुषोत्तर पर्वत को नील वैडूर्यमणि के समान अपनी आन्तों से सब ओर से आवेष्टित-परिवेष्टित देखा।

१० दसवे स्वप्न मे मेरुपर्वत की चूलिका पर श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठे हुए अपने को देखा।

भगवान महावीर स्वामी ने ये दस महास्वप्न किस रात्रि मे देखे थे? इस विषय में दो धारणाए प्रचलित है— एक मान्यता यह है कि छद्मस्थ काल की अतिम रात्रि में अर्थात् जिस रात्रि में ये महास्वप्न देखे, उसके दूसरे दिन ही भगवान को केवल-ज्ञान हो गया था। ऐसा सूत्र पद से ध्वनित होता है, जैसे कि—"**समणे भगवं महावीरे छउमत्थकालियाए अंतिमराइयंसी इमे दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे**" श्रमण भगवान महावीर छद्मस्थ काल की अन्तिम रात्रि मे ये दस महास्वप्न देखकर जागृत हुए। यही हमारी धारणा है। वृत्तिकार 'अथवा' शब्द से आगे जो कुछ लिखते हैं, उससे हमारी मान्यता की पुष्टि होती है, जैसे कि—**अथवा छद्मस्थकाले भवा अवस्था छद्मस्थकालिकी, तस्यां अंतिमराइयंसित्ति-अन्तिमा अन्तिमभागरूपा अवयवे समुदायोपचारात् सा चासौ रात्रिका चान्तिमरात्रिका, तस्यां रात्रेरवसान इत्यर्थः**। ये दस स्वप्न उन्होने रात्रि के अवसान काल में देखे थे। रात भर साधना में तल्लीन रहते हुए उषाकाल मे उन्हे अन्तर्मुहूर्तकाल के लिए निद्रा आई थी, उस समय ये दस स्वप्न देखे। देखकर तुरन्त जागकर वे अपनी अन्तः साधना में सलग्न हो गए। इनका फल क्या प्राप्त हुआ? उसका वर्णन इस से आगे के सूत्र मे दिया जा रहा है।

दूसरी धारणा कुछ आचार्यो की कह रही है कि भगवान महावीर स्वामी दीक्षा ग्रहण करने के अनन्तर अस्थिक ग्राम के बाहर शूलपाणि यक्ष के मन्दिर में पहले ही वर्ष चातुर्मास यापन के लिए ठहरे। किसी एक रात्रि में भगवान महावीर स्वामी को कष्ट देने के लिए

शूलपाणि यक्ष ने अनेक प्रकार के उपसर्ग दिए और उन्हे ध्यान से विचलित करने के लिए बहुत ही प्रयत्न किए। किन्तु, जैसे प्रचण्ड पवन से मेरुपर्वत चलायमान नहीं होता, वैसे ही उस यक्ष के द्वारा दिए गए उपसर्गों से भगवान विचलित नहीं हुए। अपने ध्यान में अडोल देखकर भगवान को वन्दना करके यक्ष कहने लगा—'क्षमावीर! मुझे क्षमा कीजिए मैं आपका बहुत बड़ा अपराधी हू।' इतने में सिद्धार्थ नाम के व्यंतरदेव ने उस यक्ष को दण्डित करने के लिए ललकार कर कहा—'अरे शूलपाणियक्ष! तुझे मालूम नहीं है, ये कौन हैं? ये महाराज सिद्धार्थ के सुपुत्र, जोकि अखिल जगत-जीवो के हित के लिए दीक्षित हुए हैं, सुर-असुर, इन्द्र, नरेन्द्र द्वारा वन्दित एवं पूज्य हैं। यदि तेरी इस दुष्टता का पता शक्रेन्द्र को लग जाए, तो वे तुझे अति कठोर दण्ड देंगे। सिद्धार्थ व्यन्तर देव के वचन सुनकर वह यक्ष अति भयभीत हुआ और भगवान पौने चार पहर तक उस यक्ष द्वारा दिए गए उपसर्गों को समभाव से सहन करते रहे। प्रात: जब रात्रि एक मुहूर्त मात्र शेष रह गई थी, तब भगवान को कुछ क्षणों के लिए निद्रा आ गई। उस समय उन्होने ये दस महास्वप्न देखे।

इस तरह वृत्तिकार तथा कल्पसूत्र की वृत्ति लिखने वाले लिखते हैं। किन्तु, सूत्र की दृष्टि से उनका यह कथन सगत प्रतीत नही होता, क्योकि प्रात: काल के स्वप्नों का फल वर्षो के बाद प्राप्त नहीं होता, क्योंकि भगवान साढे १२ वर्ष पर्यन्त छद्मस्थावस्था मे रहे और वृत्तिकार के लिखितानुसार ये दस स्वप्न पहले चातुर्मास के अन्तर्गत ही आए है। स्वप्नशास्त्र के नियमानुसार भी उक्त मान्यता का समन्वय नहीं होता। अत: सिद्ध हुआ कि छद्मस्थावस्था की अन्तिम रात्रि, उसके भी अन्तिम पहर और अन्तिम मुहूर्त में स्वप्न देखे गए है, जिनका फल निकटतम भविष्य मे मिलना प्रारम्भ हो गया।

दस महास्वप्नों का फल

मूल—जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं घोररूवदित्तधरं तालपिसायं सुमिणे पराइयं पासित्ता णं पडिबुद्धे, तन्नं समणेणं भगवया महावीरेणं मोहणिज्जे कम्मे मूलाओ उग्घाइए।

जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं सुक्किलपक्खगं जाव पडिबुद्धे, तं णं समणे भगवं महावीरे सुक्कज्झाणोवगए विहरइ।

जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं चित्तविचित्तपक्खगं जाव पडिबुद्धे, तं णं समणे भगवं महावीरे ससमयपरसमयियं चित्तविचित्तं दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेइ, पण्णवेइ, परूवेइ, दंसेइ, निदंसेइ, उवदंसेइ, तं जहा आयारं जाव दिट्ठिवायं।

जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं दामदुगं सव्वरयणा मयं जाव

पडिबुद्धे, तं णं समणे भगवं महावीरे दुविहं धम्मं पण्णवेइ, तं जहा—अगारधम्मं च, अणगारधम्मं च।

जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं सेयं गोवग्गं सुमिणे जाव पडिबुद्धे, तं णं समणस्स भगवओ महावीरस्स चाउव्वणाइण्णे संघे, तं जहा—समणा, समणीओ, सावगा, सावियाओ।

जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं पउमसरं जाव पडिबुद्धे, तं णं समणे भगवं महावीरे चउव्विहे देवे पण्णवेइ, तं जहा—भवणवासी, वाणमंतरा, जोइसवासी, वेमाणवासी।

जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं उम्मीवीची जाव पडिबुद्धे, तं णं समणेणं भगवया महावीरेणं अणाईए अणवदग्गे दीहमद्धे चाउरंत-संसारकंतारे तिन्ने।

जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं दिणयरं जाव पडिबुद्धे, तन्नं समणस्स भगवओ महावीरस्स अणंते अणुत्तरे जाव समुप्पन्ने।

जण्णं समणे भगवं एगं महं हरिवेरुलिय जाव पडिबुद्धे, तण्णं समणस्स भगवओ महावीरस्स सदेवमणुयासुरे लोगे उराला कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगा परिगुव्वंति, इइ खलु समणे भगवं महावीरे, इइ०।

जण्णं समणे भगवं महावीरे मंदरे पव्वए मंदरचूलियाए उवरिं जाव पडिबुद्धे, तं णं समणे भगवं महावीरे सदेवमणुयासुराए परिसाए मज्झगए केवलिपण्णत्तं धम्मं आघवेइ, पण्णवेइ जाव उवदंसेइ ॥४९॥

छाया—यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एकं महान्तं घोरदीप्तरूपधरं तालपिशाचं स्वप्ने पराजितं दृष्ट्वा प्रतिबुद्धस्तत् श्रमणेन भगवता महावीरेण मोहनीयं कर्म मूलादुद्घातितम्।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एकं महान्तं शुक्लपक्षकं यावत्प्रतिबुद्धस्तच्छ्रमणो भगवान् महावीरः शुक्लध्यानोपगतो विहरति।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एकं महान्तं चित्रविचित्रपक्षकं यावत्प्रतिबुद्धः, तच्छ्रमणो भगवान् महावीरः स्वसमयपरसमयिकं चित्रविचित्रं द्वादशाङ्ग गणिपिटक-माख्यापयति, प्रज्ञापयति, प्ररूपयति, दर्शयति, निदर्शयति, उपदर्शयति, तद्यथा—आचारं यावद् दृष्टिवादम्।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एकं महान्तं दामद्विकं सर्वरत्नमयं यावत्प्रतिबुद्धः,

तच्छ्रमणो भगवान् महावीरो द्विविधं धर्मं प्रज्ञापयति, तद्यथा—अगारधर्मञ्च, अनगारधर्मञ्च।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एकं श्वेतं गोवर्गं स्वप्ने यावत्प्रतिबुद्धस्तच्छ्रमणस्य भगवतो महावीरस्य चातुर्वर्ण्याकीर्णः संघः, तद्यथा—श्रमणाः, श्रमण्यः, श्रावकाः, श्राविकाः।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एकं महत् पद्मसरो यावत् प्रतिबद्धः, तच्छ्रमणो भगवान महावीरश्चतुर्विधान् देवान् प्रज्ञापयति, तद्यथा—भवनवासिनः, व्यन्तरान्, ज्योतिर्वासिनः, विमानवासिनः।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एकं महान्तमूर्मिवीचिर्यावत् प्रतिबुद्धः, तच्छ्रमणेन भगवता महावीरेण अनादिकमनवदग्रं दीर्घाध्वानं चातुरन्तसंसारकान्ता तीर्णम्।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एकं महान्तं दिनकरं यावत्प्रतिबुद्धः, तच्छ्रमणस्य भगवतो महावीरस्यानन्तमनुत्तरं यावत्समुत्पन्नम्।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एकं महान्तं हरिवैडूर्य यावत्प्रतिबुद्धः, तच्छ्रमणस्य भगवतो महावीरस्य सदेवमनुजासुरे लोके उदाराः कीर्तिवर्णशब्दश्लोकाः परिगीयन्ते—इति खलु श्रमणो भगवान् महावीरः इति।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीरः सदेवमनुजासुरायां परिषदि मध्यगतः केवलिप्रज्ञप्तं धर्ममाख्यापयति प्रज्ञापयति यावदुपदर्शयति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जो कि श्रमण भगवान महावीर अपने आपको घोर दीप्त-रूप ताल-सदृश पिशाच को पराजित करते हुए देख कर जागे, उसका फल था कि उन्होंने अब मोहनीय कर्म का मूल से उच्छेद कर दिया है।

शुक्ल पक्षों वाले पुंस्कोकिल को देखने के फलस्वरूप भगवान शुक्लध्यान युक्त होकर विचरने लगे।

चित्र-विचित्र पंखों वाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखने का सुपरिणाम यह हुआ कि भगवान ने स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त से संयुक्त चित्रविचित्र स्वरूप का वर्णन करने वाले आचाराङ्ग यावत् दृष्टिवाद रूप द्वादशाङ्गी वाणी का प्ररूपण किया।

रत्नमय माला-युगल को देखने के फलस्वरूप भगवान ने गृहस्थ-धर्म और मुनि-धर्म का निरूपण किया।

श्वेत गोवर्ग को देखकर जागने का फलादेश यह हुआ कि श्रमण, श्रमणी,

श्रावक और श्राविका रूप चतुर्वर्ण गुणाकीर्ण संघ की स्थापना की।

पद्मसरोवर को स्वप्न में देखने का फल यह हुआ कि भगवान् ने भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक इन चार प्रकार के देवों का वर्णन किया।

स्वप्न में भुजाओं द्वारा महान् सागर को पार करने के फलस्वरूप भगवान ने अनादि-अनन्त दीर्घ मार्ग वाले संसार रूप कान्तार को पार किया।

स्वप्न में तेजस्वी एव महान् सूर्य को देखने के परिणामस्वरूप भगवान को केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई।

हरितवर्ण की वैडूर्यमणियो जैसी आभा वाली अपनी आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को आवेष्टित-परिवेष्टित देखने के परिणामस्वरूप भगवान की देव, मनुष्य और असुरलोक में महती कीर्ति, यश, शब्द और श्लोक गाए गए कि भगवान महावीर ऐसे यशस्वी हैं।

मेरुपर्वत की मेरु चूलिका पर श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान होने के फल-स्वरूप भगवान ने देव, मनुष्य और असुरों की परिषद् मे बैठकर केवलि-भाषित धर्म की प्ररूपणा की।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में भगवान महावीर के दस स्वप्नो का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में उन दस महास्वप्नों के फलादेश का वर्णन करते हैं। जागृत अवस्था मे मन और इन्द्रिया दोनो जागृत रहते है, सुषुप्तिकाल मे इन्द्रियां और मन दोनों ही सो जाते है, परन्तु स्वप्न दशा में मन जागृत रहता है। जिसका जीवन जागृत दशा में सत्य की ओर प्रगतिशील रहता है, उसके देखे हुए स्वप्न प्राय: सत्य ही होते है। सत्य मनोयोग की उपज भी सत्य ही होती है। पूर्ण विरक्त महान् आत्मा को जब कभी स्वप्नदर्शन होता है, तब वह गलत नही होता, अपितु सत्य ही होता है, भले ही वह स्वप्न अच्छा हो या बुरा, इष्ट हो या अनिष्ट, वह भविष्यत् काल मे आने वाले शुभ और अशुभ फल का सूचक होता है। जब किसी जीव का भविष्य उज्ज्वल-समुज्ज्वल, अत्युज्ज्वल होता है, तब स्वप्न भी अत्युत्तम एव लोकोत्तरिक देखने में आते है। भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था की अतिम रात्रि के अंतिम मुहूर्त में क्रमश: दस स्वप्न देखे थे। जिनका फलादेश निम्नलिखित है—

१ पहले स्वप्न में जो ताडवृक्ष के समान विशालकाय वाले भयंकर पिशाच को पराजित किया था, उनकी वह विजय सिद्ध करती है कि आप निकटतम भविष्य में मोहनीय कर्म को समूल नष्ट करेगे। यहा मोहकर्म को पिशाच की उपमा से उपमित किया गया है। पिशाच और मोहनीयकर्म दोनो को पछाड़ना वीरता ही नही, अपितु महावीरता को सिद्ध करता है।

२. श्वेत पंखों वाले पुस्कोकिल को स्वप्न मे देखना, यह सिद्ध करता है कि अभी तक

तो भगवान् धर्मध्यान में रहे, किन्तु निकटतम भविष्य में शुक्लध्यान में प्रवेश होने का समय आ रहा है। क्योंकि क्षपक श्रेणि आरूढ होने पर ही चरमशरीरी जीव का शुक्लध्यान में प्रवेश होता है। यथाख्यात चारित्र में ही शुक्लध्यान पाया जाता है।

३. स्वप्न में चित्र-विचित्र पंख वाले पुस्कोकिल को देखना, यह सिद्ध करता है कि आप निकटतम भविष्य में स्वदर्शन-परदर्शन, निश्चय-व्यवहार, उत्सर्ग-अपवाद, उपदेश-शिक्षा बतलाने वाले द्वादशाङ्गी गणिपिटक का कथन करने वाले होंगे।

४. स्वप्न मे सर्वरत्नमयी दो मालाओं का दर्शन यह सिद्ध करता है कि भगवान आने वाले समय में दो प्रकार के धर्म की प्ररूपणा करने वाले होंगे, जैसे कि अगारधर्म—गृहस्थ धर्म और अनगार धर्म—साधु धर्म। इससे सिद्ध होता है कि गृहस्थ-धर्म भी रत्नमय माला के तुल्य उपादेय है।

५ श्वेत गायो के झुण्ड को देखने का फल यह है कि भगवान महावीर साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चार प्रकार का समुज्ज्वल सघ स्थापित करने वाले होंगे, जैसे गाय भद्र और दूध देने वाली होती है, वैसे ही श्री संघ भी भद्र एव ज्ञानरूपी दुग्ध का प्रदाता होता है।

६ जो स्वप्न में पद्म एव कमलो से सुशोभित सरोवर देखा, उसका फलादेश यह है कि—आप भवनपति, वानव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक इन चार प्रकार के देवों का प्रत्यक्ष-दर्शी वर्णन करने वाले होगे तथा उन से परिवृत होकर धर्म-उपदेश करेगे।

७. जो स्वप्न में मच्छ-कच्छप आदि जलजंतुओं से आकीर्ण महासमुद्र को अपने भुजाबल से तैर कर पार किया हुआ देखा, इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि आप अनादि-अनन्त रूप संसार अटवी को पार करने वाले होगे अथवा अनत संसार-समुद्र को पार कर निर्वाण पद प्राप्त करने वाले होगे।

८. तेजस्वी सूर्य को देखना सिद्ध करता है—आप निकटतम भविष्य में अनंत, अनुत्तर, निरावरण, अखड, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करेगे। भगवान ने स्वप्न मे जगमगाते हुए सूर्य को देखा और दिन के तीसरे पहर में ध्यानस्थ दशा में उन्हे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है।

९. उन्होंने स्वप्न मे नीले रग की एव वैडूर्यमणि के समान आभा वाली अपनी आन्तो से मानुषोत्तर पर्वत को आवेष्टित एव परिवेष्टित किए हुए देखा, इस का फलादेश भगवान को यह प्राप्त होगा कि उन्हें देवलोक, मनुष्यलोक और असुरलोक नामक तीनो लोकों में ख्याति प्राप्त होगी। सूत्र में आए हुए कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक इन चार पदों का भाव यह है कि—जो सर्व दिग्व्यापी है, उसे कीर्ति कहा जाता है, जो एक दिग्व्यापी है, उसे वर्ण कहा जाता है, जो अर्द्ध दिग्व्यापी है, उसे शब्द कहा जाता है। अमृत के समान मधुर, प्रिय एवं आकर्षक प्रशस्ति को श्लोक कहते हैं। इस प्रकार उनकी तीनलोक में उदार कीर्ति, शब्दों से स्तुति, मन

मे सम्मान और व्यवहार में उनके प्रति आकर्षण इन से वे विश्वमान्य बनेंगे।

१०. उन्होंने दसवें महास्वप्न में मंदरपर्वत के शिखर पर सर्वोत्तम सिंहासन पर आसीन हुए अपने को देखा, इसके फलस्वरूप श्रमण भगवान महावीर देव, मनुष्य और असुरो की परिषद् के मध्य में बैठकर धर्मोपदेश किया करेगे।

प्रश्न हो सकता है कि—जैसे भगवान महावीर ने साधना की अन्तिम रात्रि में दस महास्वप्न देखे और उनका फल उन्होने दस रूपों में प्राप्त किया, इसी तरह क्या सभी तीर्थंकर साधना की अन्तिम रात्रि मे दस महास्वप्न देखते है या केवल भगवान महावीर ने ही दस महास्वप्न देखे थे अन्य किसी ने नहीं ? फिर फल बराबर क्यों ? दस महास्वप्नों का इस प्रकार का फल जैसे भगवान महावीर को प्राप्त हुआ, वैसे ही अतिशय सभी तीर्थंकरो में होते हैं, फिर दस महास्वप्न देखने का विशेष महत्त्व क्या रहा है ?

इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि अन्य २३ तीर्थकरों ने भी महावीर की तरह दस महास्वप्न देखे या नही, इस बात का उल्लेख किसी भी आगम में नहीं है। जैसे किसी को महास्वप्न देखने से भी राजतिलक मिलता है और किसी को बिना स्वप्न देखे भी मिल जाता है, उसी प्रकार तीर्थकरत्व-प्राप्ति रूप फल के लिए प्रबल पुण्योदय का होना अनिवार्य है, स्वप्न देखना अनिवार्य नहीं है। जैसे तीर्थंकर नामकर्म की सहचारिणी सभी पुण्यप्रकृतियों का उदय होना अनिवार्य है और साथ ही घनघाती कर्मो का क्षय होना भी जरूरी है, वैसे ही दस स्वप्नो को देखना तीर्थकर बनने के लिए जरूरी नहीं है। स्वप्न तो केवल सूचना ही देते है कि स्वप्न-द्रष्टा का भावी जीवन इस तरह का व्यतीत होगा। जैसे आकाशी लक्षणो से तथा शकुनादि से निकट भविष्य के फलादेश जाने जाते है, शुभ या अशुभ कर्मो के उदय से जीव को क्या-क्या फल मिलने वाले होते हैं, उनके सकेत स्वप्न के द्वारा भी मिल सकते हैं और अन्य रीतियों से भी, अत: सिद्ध हुआ कि स्वप्न तो केवल सूचक हैं, फल तो पुण्य प्रकृतियों ने ही देना होता है।

इन दस स्वप्नों का वर्णन भगवती सूत्र के १६ वे शतक के छट्ठे उद्देशक मे ७२ प्रकार के स्वप्नो के अन्तर्गत भी किया गया है तथा अन्य ऐसे स्वप्नो का भी वर्णन है जिनसे बोधि-लाभ तथा निर्वाण-पद की प्राप्ति की सूचना मिलती है। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि जिस स्वप्न का फल सावद्यरूप न हो, उसका फल साधु बतला सकता है। अन्य सावद्य स्वप्नों का फल साधु को नही बताना चाहिए।

सराग सम्यग्दर्शन

मूल—दसविहे सरागसम्मद्दंसणे पण्णत्ते, तं जहा—

निसग्गोवएसरुई, आणरुई सुत्त बीयरुइमेव।
अभिगम वित्थाररुई, किरिया संखेव धम्मरुई॥५०॥

छाया—दशविधं सरागसम्यग्दर्शनं प्रज्ञप्तस्तद्यथा—

निसर्गोपदेशरुचिः आज्ञारुचिः सूत्र-बीजरुचिरेव।
अभिगमो विस्ताररुचिः, क्रियाः संक्षेपो धर्मरुचिः॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस प्रकार का सरागसम्यग्दर्शन वर्णन किया गया है, जैसे—निसर्गरुचि, उपदेश-रुचि, आज्ञा-रुचि, सूत्र-रुचि, बीज-रुचि, अभिगम-रुचि, विस्तार रुचि, क्रिया-रुचि, सक्षेप-रुचि और धर्म-रुचि।

विवेचनिका—श्री भगवान को जब स्वप्नदर्शन हुए थे, तब वे सराग सम्यग्दर्शन वाले थे, अतः प्रस्तुत सूत्र में सराग सम्यग्दर्शन का वर्णन किया गया है। जीव आदि पदार्थो के वास्तविक स्वरूप पर श्रद्धा रखने को सम्यग्दर्शन कहते है। जब तक साधक का मोह सर्वथा क्षीण नहीं हो जाता, उस अवस्था तक जो तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन होता है, उसे सराग सम्यग्दर्शन कहते हैं। जीवों के स्वभाव एवं विभावभेद के अनुसार इस का लाभ दस प्रकार से होता है।

१. निसर्गरुचि—मिथ्यात्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियो के क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से गुरु आदि के उपदेश के बिना स्वयमेव जाति-स्मरण आदि ज्ञान द्वारा जीवादि पदार्थो का स्वरूप नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपो के द्वारा जानना अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव जानकर तत्त्वों पर स्वतः श्रद्धा का उत्पन्न होना, तत्त्वो के प्रति आकर्षण एवं रुचि का होना तथा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित जीवादि तत्त्व सत्य है, इस तरह श्रद्धान का होना ही निसर्गरुचि है। कहा भी है—

''जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव।
एमेवनन्नहत्ति य, निसग्गरुइ त्ति नायव्वो॥''

२. उपदेशरुचि—केवली भगवान से अथवा उनका अनुसरण करने वाले गुरु आदि के मुखारविन्द से उपदेश सुनकर जीवादि तत्त्वो पर दृढ निष्ठा रखना, उपदेश-रुचि है।

''एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सद्दहइ।
छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुई मुणेयव्वो॥''

जिस जीव को तीर्थकर, गणधर और गुरु आदि आप्त पुरुषों के वचन से जीवादि पदार्थो को जानने की रुचि उत्पन्न होती है, वह उपदेश-रुचि कहलाती है।

३. आज्ञा-रुचि—जिसके राग-द्वेषादि विकार मन्द हो गए हैं अथवा जो विकारो से सर्वथा रहित है, ऐसे गुरु ही आज्ञा मे तत्त्वो पर श्रद्धान करना, आज्ञारुचि है। कहा भी है—

''रागो दोषो मोहो अन्नाणं, जस्स अवगयं होइ।
आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई होइ॥''

जिस जीव के मिथ्यात्व और कषायों का विलय हो गया है, उसे आचार्यादि की आज्ञामात्र से जीवादि पदार्थो पर जो श्रद्धा होती है, जैसे कि माषतुष को हुई, उसी प्रक्रिया को आज्ञारुचि कहते हैं।

४. **सूत्र-रुचि**—सूत्रो के अध्ययन करने से जो तत्त्वों पर श्रद्धान व सम्यक्त्व लाभ होता है, उसको सूत्ररुचि कहते हैं। सूत्र-साहित्य दो भागो में विभक्त है जैसे कि अङ्ग-प्रविष्ट और अङ्ग-बाह्य। इनमें से किसी भी ओर अभिरुचि का होना सूत्ररुचि है। जैसे कि कहा भी है—

"जो सुत्तमहिज्जंतो, सुएण ओगाहइ उ सम्मत्तं।
अंगेण बाहिरेण व, सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो॥"

श्रुतसाहित्य का अध्ययन करते-करते जिस को अग-प्रविष्ट श्रुत या अगबाह्य श्रुत से सम्यक्त्व लाभ हुआ है, वह जीव सूत्ररुचि वाला होता है।

५. **बीज-रुचि**—जैसे छोटा-सा बीज बाह्य निमित्त को पा कर वृद्धि पाता हुआ बहुत बड़े वृक्ष का रूप धारण कर पत्र-पुष्प तथा अनेक प्रकार के फलों के देने वाला हो जाता है, वैसे ही एक पद के द्वारा अनेक अर्थो का बोध होना तथा एक वचन से अनेक अर्थां का प्रतिबोध हो जाना तथा एक जीवादि पद से अनेक पदो मे रुचि का उत्पन्न होना ही बीज-रुचि कहलाता है। कहा भी है—

"एगपए णेगाइं पयाइं, जो पसरइ उ सम्मत्ते।
उदए व्व तिल्लबिंदू, सो बीयरुइ त्ति नायव्वो॥"

जिस तरह तैल की बूद पानी में डालने पर सर्वत्र फैल जाती है, उसी तरह जो जीव आगम के एक पद को जानकर उससे सबधित अन्य सभी विषयों को जान लेता है, वही बीजरुचि सम्यग्दर्शन वाला है।

६. **अभिगमरुचि**—अभिगम का अर्थ होता है ज्ञान। जो जीव पहले ग्यारह अगो का अध्ययन करके अर्थ का वेत्ता होता है अथवा ज्ञान ग्रहण करने मे जिस की अभिरुचि हो, इस प्रकार के दर्शन को अभिगम-रुचि कहते है। जैसे कि कहा भी है—

"सो होइ अभिगमरुई, सुयनाणे जस्स अत्थओ दिट्ठं।
एक्कारस अंगाइं, पइन्नयं दिट्ठिवाओ य॥"

जो जीव पहले आचाराग आदि सूत्रो का ज्ञाता होकर फिर श्रद्धावान् बनता है, इस तरह का जीव अभिगम-रुचि वाला होता है।

७. **विस्तार-रुचि**—द्रव्यों के सभी भावो को लक्षण, प्रमाण, नय-निक्षेप और अनुयोगो के द्वारा जानने के बाद श्रद्धा का होना, विस्ताररुचि है। जैसे कि कहा भी है—

"दव्वाण सव्वभावा सव्व पमाणेहि जस्स उवलद्धा।
सव्वाहिं नयविहीहिं, वित्थाररुई मुणेयव्वो॥"

द्रव्यों के सर्वपर्यायो को अनेक प्रमाणों के द्वारा तथा सर्व नयों के द्वारा जिसने जान लिया है, किसी भी विषय को विस्तारपूर्वक जानने के बाद जिस को सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उसे विस्तार रुचि वाला कहा जाता है।

८. **क्रिया-रुचि**—विनय, चारित्र, तप, पांच समितियों तथा तीन गुप्तियो का शुद्ध रूप से पालन करते हुए सम्यक्त्व का प्राप्त होना, क्रिया-रुचि है। इस विषय को एक गाथा इस प्रकार प्रदर्शित करती है—

''नाणेण दंसणेण य, तवे चरित्ते य समिइ-गुत्तीसु।
जो किरिया भावरुई, सो खलु किरियारुई होइ॥''

आत्म-कल्याण के सभी साधनो मे तथा उन्हें पालन मे जो विशेष रुचि है, या क्रिया करते हुए सम्यग्दर्शन में जो रुचि हो, उसे क्रिया-रुचि कहा जाता है।

९ **संक्षेप-रुचि**—जिस ने अन्य मत-मतान्तरो की मान्यताओ एवं अभिमतो को ग्रहण नही किया और जो जिन-प्रवचन का विशेष ज्ञाता भी नहीं है, संक्षेप से ही उपशमादि पद त्रय से तत्त्वरुचि रखता है, ऐसे श्रद्धान को संक्षेप-रुचि कहते है, अधिक पढा-लिखा न होने पर भी सम्यक् श्रद्धा का होना-संक्षेप-रुचि है। जैसे कि कहा भी है—

''अणभिग्गहिय कुदिट्ठी, संखेवरुइ त्ति होई नायव्वो।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु॥''

आज के युग मे प्राय: संक्षेप-रुचि वाले विशेष देखने मे आते है, क्योंकि जिसने परमत की मान्यता को माना नहीं और जिनमत की मान्यता से अभिज्ञ नही है, फिर भी उसका झुकाव निर्ग्रन्थ-प्रवचन की ओर है, इस प्रकार के सम्यग्-दर्शन को सक्षेपरुचि कहते है।

१०. **धर्म-रुचि**—श्रुत और चारित्र मे रुचि का होना, धर्मरुचि है। कहा भी है—

''जो अत्थिकाय धर्म्म, सुयधम्म खलु चरित्तधम्म च।
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो॥''

जिसकी श्रद्धा-रुचि धर्मास्तिकाय, श्रुतधर्म और चारित्रधर्म पर है, उसको धर्मरुचि वाला कहा जाता है।[1]

इस सूत्र से यह स्पष्ट है कि—सराग-सम्यग्दर्शन प्राप्ति के दस कारण हैं, न्यूनाधिक नही। यद्यपि ये सभी कारण अपने-अपने स्थान पर प्रधानता रखते हैं, किन्तु इन में उपदेश, आज्ञा और सूत्राध्ययन ये तीन कारण प्रधानतम है यथा—उपदेश का सुनना, आज्ञा के

---

१ इस विषय का विस्तृत वर्णन उत्तराध्ययनसूत्र के २८ वे अध्ययन मे तथा प्रज्ञापनासूत्र के पहले पद मे देखना चाहिए।

अनुसार आचरण करना और शास्त्रो का अध्ययन करना सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के मुख्य कारण हैं।

संज्ञा-भेद

मूल—दस सण्णाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आहारसण्णा जाव परिग्गहसण्णा, कोहसण्णा जाव लोभसण्णा, लोगसण्णा, ओहसण्णा।

नेरइयाणं दस सण्णाओ एवं चेव। एवं निरंतरं जाव वेमाणियाणं ॥५१॥

छाया—दश संज्ञाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आहारसंज्ञा यावत् परिग्रहसंज्ञा, क्रोधसंज्ञा यावल्लोभसंज्ञा, लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा।

नैरयिकानां दश संज्ञा एवमेव। एवं निरन्तरं यावद्वैमानिकानाम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—संज्ञा दस प्रकार की वर्णन की गई है, जैसे—आहारसंज्ञा यावत् परिग्रह संज्ञा, क्रोधसज्ञा यावत् लोभसंज्ञा, लोकसज्ञा और ओघसज्ञा।

नारकीय जीवों की भी इसी प्रकार दश सज्ञाए वर्णन की गई हैं। इसी प्रकार निरन्तर वैमानिक देवों तक दश सज्ञाए जाननी चाहिएं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सराग-सम्यग्दर्शन का वर्णन किया गया है। सराग-सम्यग्दृष्टि जीव ही उन दस संज्ञाओं का क्रमशः व्यवच्छेद करते है, जिनका वर्णन प्रस्तुत-सूत्र मे किया गया है।

सज्ञा का अर्थ है—**संज्ञानं सज्ञा आभोग इत्यर्थः, मनो विज्ञानमित्यन्ये, संज्ञावते वा आहाराद्यर्थी जीवोऽनयेति सज्ञा—वेदनीयमोहनीयोदयाश्रया ज्ञानदर्शनावरण-क्षयोपशमाश्रया च विचित्रा आहारादिप्राप्तये क्रियेवेत्यर्थः, सा चोपाधिभेदाद् भिद्यमाना दस प्रकारा भवतीति**—अर्थात् सज्ञान को सज्ञा कहते है। कुछ विद्वान् मनोविज्ञान को संज्ञा कहते है। वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से तथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मो के क्षयोपशम से आहारादि की प्राप्ति के लिए उत्पन्न होने वाली आत्मा की विशेष क्रिया को संज्ञा कहते हैं। अथवा जिन बातों से यह जाना जाए कि जीव आहारादि को चाहता है, वही संज्ञा है। हम यह भी कह सकते है कि जीव का आहारादि विषयक चिन्तन ही संज्ञा है। इसके दस भेद है, जैसे कि—

१. आहार-संज्ञा—क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से आहार के लिए जो पुद्गल ग्रहण करने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है, वह आहार-सज्ञा कहलाती है।

२. भयसंज्ञा—भय-मोहनीय कर्म के उदय से आकुल-व्याकुल होना, दृष्टि मे विकार का होना, घबराना, रोमांचित होना, शरीर का कापना इत्यादि क्रियाओं से भय-संज्ञा जानी जाती है।

३. मैथुन-संज्ञा—कामराग से किसी को देखना, छूने की इच्छा करना, अंगोपांगों को छूने से शरीर में कम्पनादि का होना, मैथुन-संज्ञा से ही ऐसी क्रियाए की जाती हैं, क्योंकि मैथुन की तीव्र इच्छा ही मैथुन-संज्ञा है।

४. परिग्रह-संज्ञा—लोभमोहनीय कर्म के उदय से नानाविध सांसारिक पदार्थों को पाने की इच्छा करना, मिलने पर उनका अधिकाधिक संग्रह करना, मिली हुई वस्तु पर आसक्ति रखना ही परिग्रह-संज्ञा है।

५. क्रोध-संज्ञा—क्रोध के आवेश में भर जाना, मुंह का सूख जाना, नेत्रों का लाल हो जाना, कांपना, मस्तक पर त्रिवली पड़ना, होठों का फरकना ये सब क्रोधसंज्ञा के चिह्न हैं।

६. मान-सज्ञा—मान-कषाय के उदय से अपने को उच्च और दूसरे को नीच समझना। इस के उदय से जीव दूसरो के सद्गुण और अभ्युदय सहन नहीं कर सकता। मात्सर्य एवं ईर्ष्या इसी संज्ञा के अपर नाम हैं।

७. माया-संज्ञा—माया कषाय के उदय से दूसरे को ठगना, झूठ बोलना, पाप करते हुए दूसरों की आंखो मे धूल डालना माया-संज्ञा है।

८. लोभ-संज्ञा—लोभ-कषाय के उदय से सचित्त और अचित्त पदार्थो को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा करना, ज्यों-ज्यो लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढता ही जाता है। अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की चाह ही तृष्णा है और प्राप्त वस्तुओं को वृद्धि करना लोभ है। अनावश्यक पदार्थ का परित्याग न करना, त्यागने पर भी उस पर ममत्व रखना परिग्रह सज्ञा है।

९. ओघ-संज्ञा—मतिज्ञानावरणीय आदि कर्म-प्रकृतियो के क्षयोपशम से होने वाले व्यावहारिक एवं सामान्य ज्ञान को ओघ-संज्ञा कहते हैं।

१०. लोक-संज्ञा—सामान्य रूप से जाने हुए विषय को विशेष रूप से जानना लोक-सज्ञा है। अथवा जीव की सामान्य प्रवृत्ति को ओघ सज्ञा और विशेष प्रवृत्ति को लोकसंज्ञा कहा जाता है नारकियों से लेकर वैमानिक देवों तक २४ दण्डको में उक्त दस सज्ञाए पाई जाती है।[1]

नैरयिक-वेदना

मूल—नेरइया णं दसविहं वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति, तं जहा—सीयं, उसिणं, खुहं, पिवासं, कंडुं, परज्झं, भयं, सोगं, जरं, वाहिं॥५२॥

छाया—नैरयिकाः दशविधां वेदनां प्रत्यनुभवमाना विहरन्ति, तद्यथा—शीतां,

---

१ विशेष विवरण के लिए देखिए प्रज्ञापनासूत्र का सज्ञा-पद।

उष्णां, क्षुधां, पिपासां, कण्डूं, परतन्त्रतां, भयं, शोकं, जरां, व्याधिम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नारक दस प्रकार की वेदनाएं अनुभव करते हुए विचरण करते है, जैसे—शीत, उष्णता, क्षुधा, प्यास, खुजली, परवशता, भय, शोक, बुढ़ापा और व्याधि।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे दस प्रकार की संज्ञाओं का वर्णन किया गया है, उन संज्ञाओ की अनुभूति करने वालों का परिचय देते हुए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में नारकियों को जिन वेदनाओं की अनुभूति होती है, उनका वर्णन किया है।

इस प्रसंग में वेदना शब्द पीडा का बोधक है, जैसे कि शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, खुजली, पराधीनता, भय, शोक, बुढ़ापा और व्याधि। यद्यपि ये दस प्रकार की पीड़ाएं प्राय: सभी जीवो में होती हैं, तथापि इन दस वेदनाओ की अनुभूति अन्य प्राणियो की अपेक्षा नारकियो को अनन्त गुणा अधिक हुआ करती हैं।

जिन नरकों में शीत वेदना है, वहां सदा-सर्वदा शीत-वेदना ही होती है और जिन में उष्ण वेदना है, वहा सदैव उष्ण वेदना ही भोगनी पड़ती है। दोनो मे से एक वेदना ही जीवन भर भोगी जाती है दोनो नहीं। यह कथन नरक और नरकवासियो की अपेक्षा से समझना चाहिए। एक नारकी एक भव मे एक ही वेदना पाता है, जैसे कि शीत या उष्ण।

यद्यपि ये दस वेदनाएं सूत्रकार ने नारकियो की बतलाई हैं तथापि उपलक्षण से इनका सबध मनुष्य आदि जीवों से भी है, क्योकि सामान्य रूप से अशुभ कर्मो से पीडित हुआ मनुष्य शीत-उष्ण, भूख-प्यास, कण्डू, पराधीनता, भय-शोक, ज्वर या जरा—बुढ़ापा, व्याधि से पीड़ित हो ही जाता है। इसी तरह पशु आदि भी इन पीड़ाओ से पीडित होते देखे जाते हैं। ये सब अशुभ कर्मो का फल है, जो सामान्यत: जन्म लेने वाले सभी प्रणियों को भोगना पडता है। इन दु:खों से विमुक्ति सवर और निर्जरा से ही हो सकती है।

छद्मस्थ किन बातों को नहीं देख सकता

मूल—दस ठाणाइं छउमत्थे णं सव्वभावेणं न जाणइ ण पासइ, तं जहा—धम्मत्थिकायं जाव वायं। अयं जिणे भविस्सइ वा ण वा भविस्सइ, अयं सव्वदुक्खाणमंतं करेस्सइ वा ण वा करेस्सइ। एयाणि चेव उप्पन्न-नाणदंसणधरे (अरहा) जाव अयं सव्वदुक्खाणमंतं करेस्सइ वा ण वा करेस्सइ ॥५३॥

छाया—दश स्थानानि छद्मस्थ: सर्वभावेन न जानाति न पश्यति, तद्यथा—धर्मास्तिकायं यावत् वातम्। अयं जिनो भविष्यति वा न वा भविष्यति। अयं सर्वदु:खाना-

मन्तं करिष्यति वा न वा करिष्यति। एतान्येवोत्पन्नज्ञानदर्शधरो (अर्हन्) यावदयं सर्वदु:खानामन्तं करिष्यति वा न वा करष्यिति।

शब्दार्थ—दस ठाणाइं छउमत्थे णं सव्वभावेणं—दस स्थानों को छद्मस्थ सर्वभाव से सम्पूर्णतया, **न जाणइ**—नही जानता है, **ण पासइ**—न ही देखता है, **तं जहा**—यथा, **धम्मत्थिकायं जाव वायं**—धर्मास्तिकाय यावत् वायु को, **अयं जिणे भविस्सइ**—यह जिन होगा, **वा ण वा भविस्सइ**—अथवा नही होगा, **अयं सव्वदुक्खाणमंतं करेस्सइ**—यह सर्वदु:खों का अन्त करेगा, **वा ण वा करेस्सइ**—अथवा नहीं करेगा। **एयाणि चेव**—इन दस स्थानों को, **उप्पन्ननाणदंसणधरे (अरहा)**—उत्पन्न ज्ञान, दर्शन के धारण करने वाले अर्हन्, (जानते है) **जाव अयं सव्वदुक्खाणमंतं करेस्सइ**—यावत् यह सर्व दु:खो का अन्त करेगा, **वा ण वा करेस्सइ**—अथवा नही करेगा?

मूलार्थ—दस स्थानो को छद्मस्थ आत्मा सर्वतोभावेन न जानता है और न ही देखता है, यथा—धर्मास्तिकाय से लेकर वायु तक आठ पदार्थो को और यह महासाधक राग-द्वेष को जीतने वाला होगा अथवा नहीं होगा, यह सब दु:खों का अन्त करेगा अथवा नहीं करेगा।

इन्ही दश स्थानों को उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक अर्हन् यावत् यह सब दु:खों का अन्त करेगा अथवा नहीं करेगा, आदि बातों को जानते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वेदना आदि का वर्णन किया गया है। वेदनादि अमूर्त पदार्थो को जिन भगवान ही जानते हैं, छद्मस्थ नहीं। अत: प्रस्तुत सूत्र मे जिन बातों को छद्मस्थ सर्वतोभावेन नही जानता, उनका उल्लेख किया गया है। छद्मस्थ जीव निम्नलिखित तत्त्वो को सर्व प्रकार से न तो जान पाता है और न ही देख सकता है, जैसे कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, शरीर-रहित जीव, परमाणु पुद्गल, शब्द, गध और वायु को इतना ही नही, वह यह भी नहीं जान सकता कि यह प्रत्यक्षवर्ती जीव जिन होगा या नही, यह सब दु:खो का अन्त करेगा या नही। छद्मस्थ-पद से यहां परमावधिज्ञान-वर्जित मुनि की ओर संकेत है।

इन बातों को केवल-ज्ञानी और केवलदर्शनी सर्वभाव से प्रत्यक्षरूप से जानते व देखते है।

दश अध्ययनों वाले दश आगम

मूल—दस दसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—कम्मविवागदसाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, आयारदसाओ, पण्हावागरणदसाओ, बंधदसाओ, दोगिद्धिदसाओ, दीहदसाओ, संखेविय-दसाओ।

कम्मविवागदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

मियापुत्ते, य गोत्तासे, अंडे सगडेइ यावरे।
माहणे, णंदिसेणे य, सोरियत्ति उदुंबरे॥
सहस्सुद्दाहे आमलए, कुमारे लेच्छइ॥

उवासगदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

आणंदे कामदेवे अ, गाहावइ चूलणीपिया।
सुरादेवे चुल्लसयए, गाहावइ कुंडकोलिए॥
सद्दालपुत्ते महासयए, णंदिणीपिया सालइयापिया॥

अंतगडदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

णमि मायंगे सोमिले, रामगुते सुदंसणे चेव।
जमाली य भगाली य, किंकमे, पल्लएइ य॥
फाले अंबडपुत्ते य, एमेए दस आहिया॥

अणुत्तरोववाइयदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

ईसिदासे य धण्णे य, सुणक्खत्ते य काइए (ति य)।
सट्ठाणे सालिभद्दे य, आणंदे तेतलिति य॥
दसन्नभद्दे अइमुत्ते, एमेए दस आहिया॥

आयारदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

वीसं असमाहिट्ठाणा, एगवीसं सबला, तेत्तीसं आसायणाओ, अट्ठविहा गणिसंपया, दस चित्तसमाहिट्ठाणा, एगारस उवासगपडिमाओ, बारस भिक्खुपडिमाओ, पज्जोसवणा कप्पो, तीसं मोहणिज्जट्ठाणा, आजाइट्ठाणं।

पण्हावागरणदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

उवमा, संखा, इसिभासियाइं, आयरियभासियाइं, महावीरभासिआइं, खोमगपसिणाइं, कोमलपसिणाइं, अद्दागपसिणाइं, अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं।

बंधदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

बंधे य, मोक्खे य, देवद्धि, दसारमंडले वि य, आयरियविप्पडिवत्ती,

उवज्झायविप्पडिवत्ती, भावणा, विमुत्ती, साओ, कम्मे।

दोगेद्धिदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

वाए, विवाए, उववाए, सुक्खित्ते कसिणे, बायालीसं सुमिणे, तीसं महासुमिणे, बावत्तरि सव्वसुमिणा, हारे, रामे, गुत्ते, एमेए दस आहिया।

दीहदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

चंदे, सूरए, सुक्के य, सिरिदेवी, पभावई, दीवसमुद्दोववत्ती, बहुपुत्ती, मंदरेइ य, थेरे संभूयविजए, पम्हउसासनीसासे।

संखेवियदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

खुड्डिया-विमाणपविभत्ती, महल्लिया-विमाणपविभत्ती, अंगचूलिया, वग्गचूलिया, विवाहचूलिया, अरुणोववाए, वरुणोववाए, गरुलोववाए, वेलंधरोववाए, वेसमणोववाए॥५४॥

छाया—दश दशाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कर्मविपाकदशा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशाः, अनुत्तरौपपातिकदशाः, आचारदशाः, प्रश्नव्याकरणदशाः, बन्धदशाः, द्विगृद्धिदशा., दीर्घदशाः, संक्षेपिकदशाः।

कर्मविपाकदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

मृगापुत्रः गोत्रासः अण्ड·, शकटमिति चापरम्।
ब्राह्मणः नन्दिषेणश्च, शौरिक इति उदुम्बरः॥
सहस्त्रोद्दाह आमरकः, कुमारान् लिप्सूंश्चेति॥

उपासकशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

आनन्दः कामदेवश्च, गाथापतिश्चूलनिपिता।
सुरादेवश्चुल्लशतकः, गाथापतिः कुण्डकोलिकः॥
सद्दालपुत्रो महाशतको, नन्दिनीपिता शालेयिकापिता॥

अन्तकृद्दशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

नमिः मातङ्गः सोमिल·, रामगुप्त· सुदर्शनश्चैव।
जमालिश्च भगालिश्च किङ्कमः पल्लत इति च॥
फालोऽम्बडपुत्रश्च, एवमेते दश आख्याताः॥

अनुत्तरौपपातिकदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

ऋषिदासश्च धन्यश्च, सुनक्षत्रश्च कार्तिकः (इति च)।

स्थाणुः शालिभद्रश्च, आनन्दः तैतलीति च।
दशार्णभद्रोऽतिमुक्तः, एवमेते दश आख्याताः॥

आचारदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

विंशतिरसमाधिस्थानानि, एकविंशतिः शबला., त्रयस्त्रिंशत् आशातनाः, अष्टविधा गणिसम्पत्, दश चित्तसमाधिस्थानानि, एकादश उपासकप्रतिमाः, द्वादशभिक्षुप्रतिमाः, पर्युषणाकल्पः, त्रिंशत् मोहनीयस्थानानि, आयतिस्थानानि।

प्रश्नव्याकरणदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

उपमा, संख्या, ऋषिभाषितानि, आचार्यभाषितानि, महावीरभाषितानि, क्षौमकप्रश्नाः, कोमलप्रश्नाः, आदर्शप्रश्नाः, अंगुष्ठप्रश्नाः, बाहुप्रश्नाः।

बन्धदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—बन्धश्च, मोक्षश्च, देवर्द्धिः, दशारमण्डलमपि च, आचार्यविप्रतिपत्ति·, उपाध्यायविप्रतिपत्तिः, भावना, विमुक्ति, सातं, कर्म।

द्विगृद्धिदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

वातः विवातः, उपवातः, सुक्षेत्र, कृत्स्नम्, द्विचत्वारिंशत् स्वप्ना, द्वासप्ततिः सर्वस्वप्नाः, हार., राम., गुप्तः, एवमेते दश आख्याताः।

दीर्घदशानां दस अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

चन्द्रः, सूर्यः, शुक्रश्च, श्रीदेवी, प्रभावती, द्वीपसमुद्रोपपत्तिः, बहुपुत्री, मन्दर इति च, स्थविरः सम्भूतविजय·, पक्ष्मोच्छ्वासनिश्वासः।

संक्षेपिकदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—क्षुद्रिका विमानप्रविभक्तिः, महतीविमानप्रविभक्तिः अङ्गचूलिका, वर्गचूलिका, विवाहचूलिका, अरुणोपपातः, वरुणोपपातः, गरुडोपपातः, वेलन्धरोपपातः, वैश्रमणोपपातः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दश दशा प्रतिपादन की गई है, जैसे—कर्मविपाकदशा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, आचारदशा, प्रश्नव्याकरणदशा, बन्धदशा, द्विगृद्धिदशा, दीर्घदशा, संक्षेपिकदशा।

कर्मविपाकदशा के दश अध्ययन वर्णन किए हैं, जैसे—मृगापुत्र, गोत्रास, अण्ड, शकट, ब्राह्मण, नन्दिषेण, शौरिक, उदुम्बर, सहसोद्दाह आमरक, कुमारलंपटी।

उपासकदशा के दश अध्ययन वर्णन किए गए हैं, जैसे—आनन्द, कामदेव, गाथापति चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, गाथापति कुण्डकौलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता, शालयिकीपिता।

अन्तकृद्दशा के दश अध्ययन वर्णन किए गए हैं, जैसे—नमि, मातड्‌ग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, जमालि, भगालि, पल्लत, फाल अम्बडपुत्र।

अनुत्तरौपपातिक दशा के दश अध्ययन वर्णन किए गए हैं, जैसे—ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, स्थाणु, शालिभद्र, आनन्द, तेतिल, दशार्णभद्र, अतिमुक्त।

आचारदशा के दश अध्ययन वर्णन किए गए हैं, जैसे—बीस असमाधिस्थान, इक्कीस शबलदोष, तेतीस आशातना, अष्टविध गणिसम्पदा, दश चित्तसमाधिस्थान, ग्यारह श्रावकप्रतिमा, बारह भिक्षुप्रतिमा, पर्युषणाकल्प, तीस मोहनीयस्थान, आयतिस्थान।

प्रश्नव्याकरण दशा के दश अध्ययन वर्णन किए गए हैं, जैसे—उपमा, संख्या, ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित, क्षौमकप्रश्न, कोमलप्रश्न, आदर्शप्रश्न, अंगुष्ठ-प्रश्न, बाहुप्रश्न।

बन्धदशा के दश अध्ययन प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—बन्ध, मोक्ष, देवर्द्धि, दशारमण्डल, आचार्य-विप्रतिपत्ति, उपाध्याय-विप्रतिपत्ति, भावना, विमुक्ति, साता, कर्म।

द्विगृद्धि दशा के दश अध्ययन वर्णन किए गए हैं, जैसे—वात, विवात, उपपात, सुक्षेत्रकृत्स्न, बयालीस स्वप्न, तीस महास्वप्न, बहत्तर सर्व स्वप्न, हार, राम, गुप्त।

दीर्घदशा के दश अध्ययन वर्णन किए गए हैं, जैसे—चन्द्र, सूर्य, शुक्र, श्रीदेवी, प्रभावती, द्वीपसमुद्रोपपत्ति, बहुपुत्री, मन्दर, स्थविर सम्भूतविजय और पक्ष्म उच्छ्‌वास-निश्वास।

संक्षेपिकदशा के दश अध्ययन वर्णन किए गए हैं, जैसे—क्षुद्रिका विमान-प्रविभक्ति, महतीविमान-प्रविभक्ति, अंग-चूलिका, वर्ग-चूलिका, व्याख्याचूलिका, अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुडोपपात, वेलंधरोपपात, वैश्रमणोपपात।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र के अन्तिमांश में सर्वज्ञ-ज्ञेय पदार्थो का वर्णन किया गया है, श्रुत-विशेष को भी पूर्णत: सर्वज्ञ भगवान ही जानते है। अत: प्रस्तुत सूत्र मे श्रुत-विशेष की अगभूत दस दशाओं का वर्णन किया गया है।

''दशा'' शब्द द्वारा यहां शास्त्र विशेष का ही ग्रहण किया गया है। जो-जो सूत्र दश अध्ययनों से युक्त हैं और दशा अर्थात् विशेष अवस्थाओं के प्रतिपादक है, उन सूत्रो को 'दशा' कहा जाता है। जिस-जिस शास्त्र मे दस-दस अधिकारो का वर्णन है, उस-उस शास्त्र का नाम ही दशा प्रसिद्ध हो गया है। दश सख्या बहुवचनान्त होने से दशा शब्द भी बहुवचनान्त ही दिया गया है। दश दशाओ के नाम इस प्रकार हैं, जैसे कि—

कर्म-विपाकदशा, उपासकदशा, अंतकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, आचारदशा, प्रश्नव्याकरणदशा, बधदशा, द्विगृद्धिदशा, दीर्घदशा और संक्षिप्त दशा। प्रत्येक दशा में १०-१० अध्ययन प्रतिपादन किए गए है। उनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. कर्म-विपाक-दशा—विपाकश्रुत के पहले श्रुतस्कन्ध में दस अध्ययन हैं, वे सब अशुभ कर्मों का फल बतलाने वाले हैं, यद्यपि दूसरे श्रुतस्कन्ध के भी दस अध्ययन है तथापि सूत्रकार का आशय अशुभ फल दिखाने का ही है। इस कारण इस दशा को "कर्म-विपाक-दशा" कहते हैं। उन दस अध्ययनों का सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है, जैसे कि—

(क) मृगापुत्र—पहले अध्ययन में मृगापुत्र का वर्णन है। दूसरे शब्दो मे मृगापुत्र को मृगालोढा भी कहते हैं। उसका जन्म राजघराने में हुआ था। वह दुष्कर्म के प्रकोप से इन्द्रिय-विकल, जन्मान्ध, भस्मक आदि अनेक व्याधियों से परिपीडित था। पूर्व जन्म में वह किसी एक प्रान्त का प्रशासक था, किन्तु निर्दयी, आततायी, लोलुपी बन कर उसने अनेका-अनेक कुकृत्यों से अपनी आत्मा का पतन कर डाला, जिसके कारण वह नरकगति को प्राप्त हुआ। वहां से निकल कर मृगालोढा बना, और उसने अति-भीषण विपत्तियां भोगी तथा संसार-चक्र का संवर्धन किया।

(ख) उज्झितक—वह विजयमित्र नामक सार्थवाह का पुत्र था। उसने गोत्रासक भव मे गाय-बैल आदि पशुओ के मासाहार तथा मद्यपान आदि निन्दनीय पाप-कर्मो से अपने जीवन को दु:ख के गर्त्त में गिरा डाला। उन्ही दुष्ट कर्मो के परिणाम स्वरूप उसे दुसह्य कष्टों को भोगना पड़ा और उसने अनन्त ससार की वृद्धि की। इस अध्ययन में गोमास-भक्षण का दुष्परिणाम बतलाया गया है।

(ग) अभग्नसेन—वह विजय नामक चोर सेनापति का कुख्यात पुत्र था। उसने पूर्वभव मे अण्डो का व्यापार किया था। वह अपने युग में सब से बड़ा अण्डो का व्यापारी था। स्वय भी अण्डे खाने का लोलुपी था। इस प्रकार की दुष्प्रवृत्तियो से वह जीवन-यापन कर नरक में उत्पन्न हुआ। वहा से निकल कर अभग्नसेन चोर सेनापति बना। वह पुरिमताल नगरवासियों को तथा आस-पास के जनपदों को क्रूरतापूर्वक लूटने लगा। तब राजा ने उसे और उस के परिवार को तिल-तिल करके कटवा कर मौत के घाट उतार दिया। इस अध्ययन मे चोरी, हिंसा आदि कुकृत्यो के दुष्परिणाम बतलाए गए है।

(घ) शकट—इस अध्ययन मे शकट नामक पुण्यहीन पुरुष का वर्णन है। वह एक सार्थवाह का पुत्र था। वह पहले भव मे कसाई का धन्दा किया करता था। वह स्वय मास-प्रिय था, और अपने युग मे बहुत बड़ा कसाई था। वेश्यागमन आदि कुव्यसनो के अपराधों के कारण सुसेन नामक महामन्त्री ने उसे बहुत बुरी मौत से मरवा दिया। इस अध्ययन में बतलाया गया है कि मासभक्षण करने से, पंचेन्द्रिय जीवों के वध करने से तथा वेश्या-गमन से शकट दुर्गति को प्राप्त हुआ और उसने अनन्तकाल के लिए दु:ख की

परम्परा बढ़ा ली।

(ङ) बृहस्पति—पांचवें अध्ययन में बृहस्पति नामक राजपुरोहित का वर्णन है। कौशांबी नगरी में दत्त नाम वाला एक ब्राह्मण रहता था। वह राजा की रानी के साथ दुराचार करता हुआ रगे हाथ पकडा गया। उदयन राजा ने उसे मौत के घाट उतार दिया। वह मर कर नरक में गया, वहा से निकल कर दत्त का जीव बृहस्पति राजपुरोहित बना। वह जितशत्रु राजा के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन चार वर्णों के एक-एक बालक का हवन किया करता था। अष्टमी आदि पर्व मे दो-दो, चातुर्मासी में चार-चार, छः महीने में आठ-आठ और वर्ष में सोलह-सोलह बालकों का हवन किया करता था। जब कभी प्रतिद्वन्द्वी आक्रमण करता था, तब १०८-१०८ बालकों का हवनकुण्ड में हवन किया करता था। इस तरह पाप-कर्म करके उसने अपने भविष्य को अन्धकारपूर्ण बना डाला। जिससे उसने अपने लिए अनन्त दुःखों की परम्परा बढ़ा दी।

(च) नन्दीवर्धन—यह मथुरा नगरी के राजा श्रीदाम का पुत्र था। राजद्रोह के कारण राजा की आज्ञा से नगर के चौराहे में उसे तप्त लोह के जल से स्नान करवा कर तप्त लौह के सिंहासन पर बैठाकर क्षार तेल से भरे कलशो से राज्याभिषेक कराकर बुरी मौत से मरवाया गया। वह मर कर नरक में गया। वहां की अशुभ दीर्घायु को पूरी करके उसने सिंहपुर नगर मे जन्म लिया। आगे चलकर वही दुर्योधन नामक कारागृह का स्वामी बना। वह कैदियों के साथ अत्यन्त निर्दयतापूर्ण व्यवहार करता था। इस अध्ययन मे बतलाया गया है कि जो कारागृह के स्वामी बन्दियों के साथ अन्याय से बर्ताव करते है और उन्हे अनुचित दण्ड देते है तथा नाना प्रकार के दुर्वचन एवं मिथ्या प्रलापो से उन्हें विश्वास देकर फिर अन्यायपूर्वक दण्डित करते हैं, उनको भावी जन्मों मे कैसा फल मिलता है। इसी बात का सविस्तर वर्णन इस अध्ययन मे किया गया है।

(छ) उदुम्बर—यह सागरदत्त सार्थवाह का पुत्र था और १६ रोगों से पीड़ित होता हुआ दीर्घकाल तक महाकष्टों का अनुभव करके नरक में गया। वैद्य धन्वन्तरी के भव मे वह रोगियों को तरह-तरह के मास खाने का उपदेश दिया करता था और स्वय भी मांस-प्रिय था। मांस का प्रचार करने से उसके जीव को अनन्त संसार चक्र में परिभ्रमण करते हुए दुखानुभूति करनी पडी। इसमे मास-भक्षण के भीषण परिणामो का उल्लेख किया गया है। जो वैद्य मास, मदिरादि सेवन करने का उपदेश देते है और स्वय भी मास-भक्षण करते हैं, उन्हें जन्मान्तरों तक भयंकर परिणाम भोगने पड़ते हैं। औषधिदान से तो आत्मा ससार को परित्त भी करता है, जैसे आनंद वैद्य ने साधु को औषधिदान से तथा उपचार से संसार परित्त किया, किन्तु औषधि आर्य सस्कृति के अनुकूल हो, तभी ऐसा हो सकता है। इस मे आयुर्वेद सीखने का या ज्ञान पाने का निषेध नहीं किया गया, किन्तु अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करने और कराने से जीव को कैसा फल भोगना पडता है इस अध्ययन मे यही

बतलाया गया है। सुश्रुत आदि ग्रन्थों के निर्माता धन्वन्तरि वैद्य संभव है अन्य हों, क्योकि काल और सख्या के प्रमाण न मिलने से ये अन्य ही सिद्ध होते हैं।

(ज) शौरिकदत्त—यह समुद्रदत्त नामक मछुए का पुत्र था। उसे मत्स्य-मांस बहुत प्रिय था। एक बार गले मे मत्स्य का कटक बुरी तरह लगने से महाकष्ट पा कर वह दुर्गति को प्राप्त हुआ। जन्मान्तर में वह नंदीपुर नगर के मित्र नामक राजा का श्री नाम वाला रसोइया बना। वह जीवघात से और मास खाने से पुन: नरक का अतिथि बना तथा भविष्य मे अनन्त जन्म-मरण के चक्र में पड़ा। इस अध्ययन मे मत्स्य-मांस भक्षण का दुष्परिणाम बतलाया गया है।

(झ) देवदत्ता—यह रोहितक नगर में दत्त सार्थवाह की पुत्री और पुष्पनन्दी राजा की पट्टरानी थी। इस ने सिंहसेन के भव में अपनी प्रिया श्यामा के मोह मे फंसकर अपनी ४९९ रानियों को तथा उनकी ४९९ धाय माताओ को अग्नि मे जला कर भस्मसात् कर दिया। उसके बाद वह राजा काल करके छट्ठी नरक का अतिथि बना। वहां से निकलकर उसके जीव ने देवदत्ता पट्टरानी का शरीर धारण किया और उपार्जित किए हुए उस पापकर्म के प्रभाव से उसने भोग मे विघ्नकारिणी जानकर अपनी सास के गुह्य अंग में संतप्तलोह दण्ड प्रविष्ट करके उसके जीवन का अत कर दिया। मातृ-भक्त राजा ने देवदत्ता को विविध पीडाओ से पीड़ित कर प्राण-दड से दण्डित किया। इस अध्ययन मे जो पति अपनी विवाहित स्त्रियों की न्याय पूर्वक रक्षा नहीं करता, बल्कि उन्हे अन्याय पूर्वक कठोर दड देता है, उसका कुफल बतलाया गया है।

(ञ) अंजू—यह महाराजा विजयमित्र की रानी थी। इस ने पूर्व-भव में वेश्या-वृत्ति अपना कर सदाचार की मर्यादाओ को भग किया। बहुत से राजकुमारों एव वणिक्पुत्रों को मंत्र, चूर्णादि से वश मे कर उनके साथ भोग करती हुई दुर्गति को प्राप्त हुई। वहां से निकलकर वह बहुमान नगर मे धनदेव सार्थवाह की पुत्री हुई। उसका विवाह विजयमित्र राजा के साथ हुआ। कालान्तर मे योनिशूल रोग होने से महाकष्ट पाकर उसका जीव नरकगामी बना। इस प्रकार इस अध्ययन में अति काम-वासना का फल बतलाया गया है। इसी कारण श्रावक के स्वदार संतोष-व्रत मे '**कामभोगतिव्वभिलासे**' नामक अतिचार का कथन किया गया है। स्वपति के साथ भी स्त्री मे काम-वासना की अति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जैसे परिमाण-पूर्वक और समयानुकूल भोजन शरीर-रक्षा के लिए सुख-प्रद हो सकता है, इस से विपरीत भोजन दुख-प्रद ही होता है, इसी प्रकार वासना-सुख भी सीमित न होने पर दु:ख-प्रद बन जाता है। पूर्वोक्त व्यक्तियों ने पूर्व-भव में किस-किस प्रकार और कैसे-कैसे पाप-कर्म उपार्जित किए और उन्हें आगामी भवों में किस प्रकार दुखी होना पड़ा, पाप-कर्म करते समय अज्ञान-वश जीव प्रसन्न होता है, उस समय वे कृतपाप-कार्य सुखदायी प्रतीत होते है, किन्तु उनका परिणाम कितना दु:खप्रद होता है और जीव को

कितने दु:ख उठाने पडते हैं, इन सब बातो का साक्षात् चित्र कर्म-विपाकदशा में विभिन्न कथाओं के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

२. उपासक-दशा—यह सातवें अंगसूत्र का नाम है। साधुओ की सेवा करने वाले व्यक्ति उपासक कहे जाते हैं। इस सूत्र में दस श्रावकों का जीवन परिचय समान रूप से वर्णित होने से इस को उपासकदशा कहते है। इसके प्रत्येक अध्ययन में एक-एक श्रावक की जीवन-कथा का वर्णन है, जैसे कि—

(क) आनन्द गाथापति—पहले अध्ययन मे आनन्द नामक गृहपति का वर्णन है। वाणिज्यग्राम नगर के रहने वाले धनिकों एवं यशस्वी लोगों में आनन्द का स्थान अग्रगण्य था। भगवान महावीर के उपदेशो से प्रभावित होकर उसने श्रावक के बारह व्रत धारण किए। ग्यारह प्रतिमाओ की आराधना की। एक महीने का संथारा ग्रहण किया और उसके मध्य में अवधि-ज्ञान प्राप्त किया। समाधि-पूर्वक उसका मरण हुआ और वह सौधर्म देवलोक में देव रूप मे उत्पन्न हुआ। वहां से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा। इस अध्ययन से श्रावकों के व्रतो का एवं ग्यारह प्रतिमाओं का भली-भाति बोध हो सकता है। गृहस्थ किस तरह अपना जीवन समुन्नत बना सकता है, इस विषय का भी विस्तृत दिग्दर्शन कराया गया है।

(ख) कामदेव गाथापति—इसने भी भगवान महावीर के दर्शन किए और उनके उपदेशो से प्रभावित होकर आनन्द श्रावक की तरह २० वर्ष पर्यन्त श्रावक-वृत्ति का पालन किया। आनन्द गाथापति के जीवन से भिन्न इसके जीवन में यह एक विशेषता थी कि एक मिथ्यादृष्टि देव ने इसे धर्म से विचलित करने के लिए तीन उपसर्ग दिए, परन्तु भयकर कष्ट सहन करके भी वह धर्म से विचलित नही हुआ। परिणामस्वरूप देव ने अपनी भूल एवं अपराध को स्वीकार करके कामदेव से क्षमा मागी और चरण-वन्दना करके वापिस लौट गया। जीवन का शेषकाल उसने भी गृहवास से अलग होकर ग्यारह प्रतिमाओ की आराधना में बिताया। सलेखना सहित मरण को स्वीकार किया और पहले देवलोक मे देव के रूप मे उत्पन्न हुआ तथा अपने भविष्य को समुज्ज्वल बनाया। इस अध्ययन से प्राणनाशक कष्ट होने पर भी धर्म मे दृढ़ रहने की शिक्षा मिलती है।

(ग) चुलनीपिता गाथापति—उपासकदशासूत्र के तीसरे अध्ययन में चुलनीपिता श्रावक का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसका जीवन-वृत्त आनन्द श्रावक से मिलता-जुलता है। विशेषता केवल इतनी ही है कि मातृमोह के वशीभूत होकर धर्मपथ से विचलित होते हुए अपने पुत्र चुलनीपिता को माता ने पुन: धर्म में दृढ कर दिया। उस ने भी आलोचनादि से अपने द्वारा की हुई भूल का प्रायश्चित्त किया। चुलनीपिता के जीवन से यह शिक्षा मिलती है कि देव-गुरु समान जननी का कर्त्तव्य है कि धर्म से विमुख होते हुए अपने बच्चों को धर्म में स्थिर करे।

(घ) सुरादेव गाथापति—चौथे अध्ययन मे वाराणसी नगरी के रहने वाले सुरादेव श्रावक का वर्णन किया गया है। धर्म से विचलित करने के लिए किसी व्यतर देव ने इसे तीन उपसर्ग दिए, परन्तु वह कष्टों में भी धर्म पर दृढ रहा। चौथे उपसर्ग देने से पहले देव ने इससे कहा—''यदि तू धर्म से विचलित नहीं होगा, तो मै तेरे शरीर में १६ रोगों का प्रक्षेप कर दूंगा, जिससे शारीरिक एवं मानसिक दु:ख से पीडित होकर अकाल में ही तेरा देहान्त हो जाएगा।'' इतनी बात सुनकर वह क्रोधावेश में आ गया और उसे दंडित करने के लिए उसने अयतना से रात्रि में उसका पीछा किया। देव तिरोधान हो गया और सुरादेव कोलाहल मचाने लगा। सारी बात जानकर धन्या भार्या ने कहा—स्वामिन्! ये सब देवकृत उपसर्ग था। पौषधोपवास मे शरीर पर इतना मोह नहीं करना चाहिए। क्रोधावेश मे आना, बिना यतना के चलना तथा किसी को पकड़कर मारने का सकल्प करना निषिद्ध है। आपने समता का उल्लंघन किया है, इसलिए आलोचना-प्रायश्चित्त आदि करके आत्मा को शुद्ध करो। भार्या के इस शिक्षा वचन को सुनकर सुरादेव प्रायश्चित्त करके समता मे तल्लीन हो गया। इसका शेष जीवन-वृत्त पूर्व वर्णित श्रावकों जैसा ही था।

इस अध्ययन से पता चलता है कि शरीर में रोग पूर्व कर्म के उदय से भी उत्पन्न हो सकते हैं और बाहिर के निमित्तों द्वारा भी शरीर मे नूतन रोग उत्पन्न किए जा सकते हैं। परन्तु साधनाशील को शरीरासक्ति से दूर रह कर साधना मे दृढ़ रहना चाहिए।

(ङ) चुल्लशतक गाथापति—यह आलभिका नगरी निवासी एक सेठ था। यह १८ करोड की सपत्ति का स्वामी था। इसने भी आनद श्रावक की तरह भगवान महावीर स्वामी से गृहस्थ के १२ व्रतों को धारण कर उनकी आराधना-पालना प्रारभ की।

एक बार धर्म जागरण करते हुए आधी रात के समय उसके पास एक मिथ्यादृष्टि देवता आया और उसने इसकी परीक्षा लेनी प्रारभ की और कहा—''रे चुल्लशतक! यदि तू इस निर्ग्रन्थ प्रवचन को न छोड़ेगा, तो मैं तेरी १८ करोड़ की संपत्ति को इस नगरी के अंदर और बाहर बिखेर दूगा, जिस से तू मानसिक दु:ख से पीड़ित होकर अकाल में ही मर जाएगा।''

उपसर्ग करने वाले देव के द्वारा अपने द्रव्य का अपहरण देखकर उसके हृदय मे क्रोध की अग्नि भड़क उठी और वह उसे मारने के लिए भागा। देव तुरन्त अदृश्य हो गया और चुल्लशतक अधेरे में खभा पकडकर कोलाहल करने लगा। उसकी भार्या बहुला उसके पास आई और पूछने पर पता लगा कि यह सब कुछ देवकृत उपसर्ग ही था।

बहुला गृहणी भी शास्त्रो की ज्ञाता थी। उसने कहा—''आपने धर्म-प्रेम के स्थान पर धन प्रेम किया है, आपके हृदय में क्रोधवश उसे वध करने के सकल्प उत्पन्न हुए, अत: इस दोष का प्रायश्चित्त कीजिए।''

श्रावक ने अपनी भूल को स्वीकार करके प्रायश्चित्त किया। इसका शेष जीवन-वृत्त

सुरादेव के समान ही था। महाशतक की अपेक्षा इस का नाम लघुशतक या चुल्लशतक रहा है।

इस अध्ययन से पता चलता है कि धन पर ममत्व भाव रखने वाले प्राणी आपत्तिकाल मे धर्म से कुछ स्खलित हो ही जाया करते हैं।

(च) कुण्डकोलिक गाथापति—यह कांपिल्यपुरवासी प्रमुख गाथापति हुआ है। इसने भी भगवान् महावीर के उपदेशो से श्रावक जीवन अपनाया। १२ व्रतो की आराधना करते हुए जीवन-यात्रा सुखपूर्वक चल रही थी।

एक बार वह अशोकवाटिका में रहते हुए धर्म-चिन्तन कर रहा था। इतने में गोशालक मतानुयायी एक देव प्रकट हुआ। उसने उत्तरीय वस्त्र और अंगूठी जोकि चौंकी पर रखी हुई थी, उठा कर आकाशस्थ हो श्रावक से कहा ''गोशालक का धर्म सर्वश्रेष्ठ है, जिसमें पुरुषार्थ करने की जरूरत ही नही है। सभी पदार्थ होनहार—नियति पर निर्भर है, जब कि महावीर का धर्मकथन सुन्दर नही है, क्योंकि वहां पुरुषार्थ की मुख्यता है।'' इस तरह देव के द्वारा की गई महावीर के सिद्धान्त की निन्दा और गोशालक के सिद्धान्त की प्रशसा सुनकर उस श्रावक ने पूछा—''यदि ऐसा ही है, तो सभी प्राणी तुम्हारे सरीखे देव क्यो नही बन गए? प्राणियों के जीवन में परस्पर भेद क्यों है? कोई सुखी, कोई दु:खी, कोई बलहीन, कोई बलवान्, कोई सम्पन्न, कोई दरिद्री क्यों है? इस विषमता का एकमात्र कारण यही है कि जिसने जैसा पुरुषार्थ किया है, उसने उसके अनुसार फल प्राप्त किया है।'' पुरुषार्थ के आधार पर श्रावक ने कर्मवाद की ओर सकेत करते हुए यह भी कहा कि ''जिसने पुरुषार्थ के बल से दान, शील, तप और शुभ भावो का प्रयोग किया है, वही देव बनता है। तूने पूर्व भव में तपश्चर्या की, तो देव बना, किन्तु जिस ने शुभ कर्म नहीं किया, वह देव क्यो नहीं बन गया? अत: तेरा मत निकृष्ट है और महावीर का सिद्धान्त उत्कृष्ट है।'' कुण्डकोलिक के इस उत्तर से देव निरुत्तर हो उत्तरीय और अंगूठी को उसी चौकी पर रखकर तिरोधान हो गया। इस का शेष जीवन-वृत्त आनन्द श्रावक के समान ही है।

इस अध्ययन से यह शिक्षा मिलती है कि साधु हो या श्रावक, जो प्रतिवादी को निरुत्तर करके उसे जैन धर्म में आस्थावान् बना दे, वही धन्यवाद का पात्र है। भगवान महावीर ने समवसरण में कुण्डकोलिक श्रावक को धन्यवाद दिया है।

(छ) सद्दालपुत्र—यह पोलासपुर नगर का धनी-मानी कुम्भकार था जोकि गोशालक का विशेष उपासक था। भगवान महावीर का पोलासपुर मे पधारना हुआ। सद्दाल का दर्शनार्थ जाना, उसके द्वारा विनति का होना, भगवान का उस की दुकान पर पधारना, वार्तालाप का प्रारम्भ होना, उसी के तर्कों से उसे निरुत्तर करना, सम्बुद्ध होकर सद्दालपुत्र का धर्मोपदेश ग्रहण करना और बारह व्रतों को धारण करना आदि बातों का वर्णन विस्तार-पूर्वक इस अध्ययन मे विद्यमान है।

अन्य किसी समय गोशालक ने सद्दालपुत्र को अपने मत में लौटा लाने के लिए अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर किए, किन्तु वह बिल्कुल भी धर्म से विचलित नहीं हुआ और न कभी उसने जीवन भर नियतिवाद का समर्थन किया।

एक बार पौषधोपवास में धर्म जागरणा करते हुए आधी रात के समय एक देव उसकी कठोर परीक्षा लेते हुए कहने लगा "यदि तू धर्म नहीं छोड़ेगा, तो मैं तेरी अग्निमित्रा भार्या, जोकि तेरे दु:ख-सुख में सदैव सहायक रहती है और धर्म में भी, उसे यहा तेरे सामने तलवार से टुकड़े-टुकड़े करके, उसके रक्त और मांस से तेरे शरीर को सीचूगा।" देव के दो बार तीन बार यही बात कहने पर सद्दालपुत्र श्रावक के मन मे विचार आया कि— "यह कोई अनार्यपुरुष है इसे पकड लेना ही अच्छा है।" किन्तु उसे पकड़ने के लिए ज्यों ही सद्दालपुत्र कोलाहल करता हुआ उठा, त्यो ही देव तो अन्तर्धान हो गया, पर उसके हाथ मे खम्भा आ गया। उस का कोलाहल सुनकर उसकी भार्या अग्निमित्रा वहां आ पहुची। कोलाहल का कारण पूछा, सारा वृत्तान्त सुन कर उसने सद्दालपुत्र श्रावक से प्रायश्चित्त लेने के लिए कहा। तदनुसार सद्दालपुत्र श्रावक ने प्रायश्चित्त लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध किया।

सद्दालपुत्र अन्तिम समय संलेखना द्वारा समाधि पूर्वक काल करके सौधर्म देवलोक के अरुणभूत विमान में देव के रूप में उत्पन्न हुआ। चार पल्योपम की स्थिति पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र मे मनुष्य के रूप में जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

इस अध्ययन मे पति और पत्नी के धार्मिक सम्बन्धो का दिग्दर्शन कराया गया है। यदि किसी कारण पति अपनी प्रतिज्ञा मे स्खलित हो जाए, तो पत्नी का कर्त्तव्य हो जाता है कि उसे पुन: धर्म में स्थिर करे। क्योंकि पति का सच्चा मित्र पत्नी है।

(ज) महाशतक गृहपति—राजगृह नगर मे जब श्रेणिक राजा राज्य करता था, तब उसी नगर में महाशतक नामक एक गृहपति भी रहा करता था। वह भी आनन्द गृहपति की तरह नगरमान्य एव प्रतिष्ठित था। वह चौबीस करोड सम्पत्ति का स्वामी था। शेष सब वर्णन आनन्द की तरह जान लेना चाहिए। एक बार भगवान महावीर स्वामी का नगर मे पधारना हुआ। दर्शनार्थ महाशतक भी गया, उपदेश सुना और बारह व्रत धारण किए।

श्रावक के व्रत-नियमों का भली-भान्ति पालन करते हुए जब महाशतक को चौदह वर्ष बीत गए, तब पन्द्रहवे वर्ष मे उसने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं धारण कीं। सूत्रोक्त विधि से उनका यथावत् पालन किया। कठिन और दुष्कर तप करने से महाशतक का शरीर अतिकृश हो गया। भावों की विशुद्धि से संलेखना के अन्तर्गत महाशतक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। महाशतक ने बीस वर्ष पर्यन्त श्रावक पर्याय का पालन किया। तदनन्तर पंडितमरण से सौधर्म देवलोक में देव के रूप में चार पल्योपम की स्थिति वाला अरुणावतस विमान में उत्पन्न हुआ। वहां से च्यव कर महाविदेह मे निर्वाणपद को प्राप्त करेगा।

इस अध्ययन से यह विषय स्पष्ट हो जाता है कि जो भगवान के अनन्य उपासक होते हैं, उनकी रक्षा भगवान भी करते हैं।

(झ) नंदिनीपिता—यह श्रावक श्रावस्ती नगरी का रहने वाला था।

(ञ) सालेयिकापिता—यह श्रावक भी श्रावस्ती नगरी का निवासी था। इन दोनों गाथापतियों ने धर्मलाभ भगवान् महावीर से ही प्राप्त किया था। इन का जीवन-वृत्त भी आनन्द श्रावक की तरह ही था।

ये दस श्रावक भगवान महावीर के अनन्य उपासक थे। जिन-वाणी सुनना, दान देना, कर्मक्षय करने के लिए प्रयत्न करना, १२ व्रतों की आराधना-पालना करना, इन सब का परमलक्ष्य बना हुआ था। इन्होंने चौदह वर्ष पूरे करके १५ वें वर्ष मे कुटुम्ब का भार अपने ज्येष्ठ पुत्रों को सम्भाल दिया और स्वयं धर्म की विशेष साधना में संलग्न हो गए। सभी २० वर्ष तक श्रावक धर्म का पालन कर सौधर्म देवलोक को प्राप्त हुए। उपासक-दशा सूत्र मे गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों का विशद वर्णन किया गया है।

३. अन्तकृद्दशा—जिन महासाधकों ने आयु के अन्त समय में केवलज्ञान को प्राप्त करके धर्म देशना दिए बिना ही कर्मो का क्षय कर निर्वाणपद प्राप्त किया, उनके चरित्र का प्रतिपादन करने वाली दशा अन्तकृत् दशा कहलाती है। इस दशा मे दस अन्तकृत् केवलियो के तपोमय जीवन का वर्णन किया गया है। जैसे कि नमि, मातग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, जमाली, भगाली, किंकम, पल्यकस्फाल और अम्बडपुत्र। ये दस अध्ययन वर्तमान अन्तकृद्दशा मे उपलब्ध नहीं हैं। यह कथन वाचनान्तर की अपेक्षा से प्रतीत होता है और ये नाम पूर्वजन्म के भी प्रतीत नही होते, क्योकि यहा पूर्वजन्म का विषय ही नही है। अत: वाचनान्तर ही मानना युक्तिसगत लगता है। वृत्तिकार भी इस विषय मे लिखते है—

''अन्तगड'' इत्यादि, इह चाष्टौ वर्गास्तत्र प्रथमवर्गे दशाध्ययनानि, तानि चामूनि—नमीत्यादिसार्द्धरूपकमेतानि च नमीत्यादिकान्यन्तकृत्साधुनामानि अन्तकृद्दशाङ्ग-प्रथमवर्गेऽध्ययनसंग्रहे नोपलभ्यन्ते, यतस्तत्राभिधीयते—

गोयम, समुद्द, सागर, गंभीरे, चेव होइ थिमिए य।
अयले, कंपिल्ले, खलु अक्खोभ, पसेणई, विण्हू॥''

अन्तगड अगसूत्रो में ८ वां है। इस मे एक श्रुतस्कन्ध है। वर्तमान काल मे जो सूत्र प्राप्त है, उस मे ८ वर्ग है। उसके आदि और अन्त के दोनो वर्गो मे दस-दस अध्ययन है। पहले वर्ग मे सभी अधिकार अतकृत साधुओ के है और आठवे वर्ग मे सभी अधिकार अन्तकृत् साध्वियो के हैं। किंकम गाथापति का अधिकार छट्ठे वर्ग के दूसरे अध्ययन में उपलब्ध है। यह किंकम वही है या अन्य, यह केवली-गम्य है।

४. अनुत्तरौपपातिकदशा—जिनका जन्म सर्व-श्रेष्ठ देवलोकों मे हुआ, वे अनुत्तरौप-पातिक देव कहलाते हैं। इस दशा में ऐसे उच्च साधकों का वर्णन है, जिन्होंने तप-सयम

आदि शुभ क्रियाओं का आचरण उत्कृष्ट रूप से करके अनुत्तर विमानो में जन्म लिया और वहा से च्यवकर उत्तम कुलो मे जन्म लेगे तथा उसी जन्म मे मोक्ष प्राप्त करेगे।

इस दशा के दश अध्ययन हैं। उन दस अध्ययनो मे दस महापुरुषों की जीवनचर्या का वर्णन है, जैसे कि—ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, स्थाणु, शालिभद्र, आनन्द, तेतली, दशार्णभद्र और अतिमुक्त। किन्तु जो अनुत्तरौपपातिक सूत्र वर्तमान मे विद्यमान है, उसके तीन वर्ग हैं—पहले वर्ग में दस अध्ययन, दूसरे वर्ग मे तेरह अध्ययन और तीसरे वर्ग मे दस अध्ययन हैं। तीसरे वर्ग में दृश्यमान अध्ययनों के साथ कुछ एक अध्ययनो की साम्यता है न कि सभी अध्ययनो की। उनमें भी पहले तीन अध्ययनो के चरित्तनायकों के नाम मिलते है। अत: यहां पर भी वाचनान्तर की अपेक्षा अध्ययनविभाग किए गए प्रतीत होते हैं, न कि उपलभ्यमान वाचना की अपेक्षा से। वृत्तिकार भी इस विषय मे लिखते हैं—"**तदेवमिहापि वाचनान्तरापेक्षयाऽध्ययनविभाग उक्तो न पुनरुपलभ्यमानवाचनापेक्षयति।**"।

ऋषिदास, धन्य और सुनक्षत्र, इनका जीवनवृत्त वाचनान्तर और उपलभ्यमान दोनों वाचनाओ में पाया जाता है। शालिभद्र और दशार्णभद्र का इतिहास आज भी जीवित है। जिस कार्तिक सेठ ने मुनिसुव्रत भगवान के शासन में दीक्षा ली थी, वह पहले देवलोक का इन्द्र बना, जिसका नाम शक्र है। प्रस्तुत सूत्र की दशा मे चौथा नाम जिस सेठ का है, वह अनुत्तरविमान में उत्पन्न हुआ। इससे जाना जाता है कि यह कार्तिक अन्य है, वह नहीं।

जिम अतिमुक्त कुमार ने पानी मे पात्री तैराई थी, वह निर्वाण को प्राप्त हो गया था, अत: यह अतिमुक्त कुमार भी अन्य है, क्योकि इसका जन्म अनुत्तरविमान मे हुआ है। वैसे तो भगवान महावीर के शासन में ८०० साधक अनुत्तरविमानों में उत्पन्न हुए थे, तो भी वर्तमान मे उपलब्ध अनुत्तरौपपातिक सूत्र में कुल ३३ महापुरुषो का ही उल्लेख है।

५. **आचारदशा**—इसका दूसरा नाम दशाश्रुतस्कन्ध है। इसके दस अध्ययन है। पहली दशा में उन बीस असमाधि स्थानो का वर्णन किया गया है, जिनके सेवन करने से आत्म-विराधना और सयम-विराधना अवश्यमेव हो जाती है, अत. उनका सेवन कभी नही करना चाहिए।

दूसरी दशा मे उन इक्कीस शबलदोषों का वर्णन किया गया है, जिन के सेवन से सयम क्षत-विक्षत हो जाता है, अत: वे दोष भी संयमियो के लिए सर्वथा त्याज्य है।

तीसरी दशा मे ३३ आशातनाओ का वर्णन है। आशातना उसे कहा जाता है, जिसके करने से विनयधर्म लुप्त हो जाए। गुरुजनो एव पूज्यजनो की अविनय करना ही आशातना है। आशातना भी साधना-प्रगति मे प्रबल बाधक होती है।

चौथी दशा मे आचार्य या गणी की आठ सपदाए बतलाई गई हैं। उनके भेद-प्रभेदो का भी इस दशा में विस्तृत वर्णन किया गया है।

पांचवीं दशा मे चित्त-समाधि के दस स्थान बतलाए गए है।

छट्ठी दशा में उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का सागोपाग वर्णन प्राप्त होता है।

सातवीं दशा में भिक्षु की १२ प्रतिमाओं का विस्तृत वर्णन है।

आठवी दशा में पर्युषणाकल्प का वर्णन है। चातुर्मास की मर्यादा तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखकर किसी क्षेत्र में चातुर्मास करना पर्युषणाकल्प है। इस दशा में क्रोधादि अप्रशस्त भावों से निवृत्त होकर क्षमायाचना करने के विषय में सविस्तर वर्णन है और साथ ही भगवान महावीर के पञ्च कल्याणकों के नक्षत्रो का भी वर्णन है।

नवमी दशा में महामोहनीय कर्म बंध के तीस स्थान बतलाए गए हैं।

दसवी दशा मे नौ निदानों का वर्णन है। इन सब बातों का विस्तृत वर्णन देखने के लिए दशाश्रुत-स्कन्ध सूत्र की "गणपति गुणप्रकाशिका" नामक हिंदी टीका विशेष उपयोगी है।

६. **प्रश्न व्याकरण दशा**—इसमे प्रश्न और उत्तर, इन दोनों का कथन करने वाली दशाएं हैं, अत: इसे प्रश्नव्याकरण दशा कहा गया है। इस दशा का जो परिचय सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे दिया है, वह भी वाचनान्तर की अपेक्षा से जानना चाहिए। वह परिचय भी वर्तमान मे उपलब्ध नहीं है। जो दशाएं वर्तमान में उपलब्ध है, उन में पाच आश्रवो और पाच संवरो का ही विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

७. **बंधदशा**—बन्ध एव मोक्ष आदि को बतलाने वाली जो दशाए हैं, वे बंधदशा कहलाती हैं। इस दशा का जो परिचय सूत्रकार ने दिया है, वह दशा वर्तमान में अनुपलब्ध है, किन्तु भावना और विमुक्ति आचाराग सूत्र के २४ वे और २५ वें अध्ययन का नाम है। उनका स्वरूप और विषय गुरु परम्परागत से जानना चाहिए।

८ **द्विगृद्धिदशा**—इस दशा का जो सूत्रकार ने परिचय दिया है, वह दशा भी वर्तमान में अनुपलब्ध है, किन्तु भगवती सूत्र के १६ वें शतक मे एक स्वप्न उद्देशक देखा जाता है। उसमे स्वप्नो का विस्तृत वर्णन किया गया है।

९ **दीर्घदशा**—यह दशा भी स्वरूप से अवगत नही है। फिर भी इसके कितनेक अध्ययन उपांग सूत्रो मे देखने को मिलते है, जैसे कि—चन्द्र, सूर्य, शुक्र और बहुपुत्रिका। ये चार अध्ययन पुष्पिता नामक सूत्र के तीसरे वर्ग मे देखे जाते है। श्री देवी नाम का अध्ययन पुष्पचूलिका नामक चौथे वर्ग में देखा जाता है। शेष अध्ययन कही पर भी उपलब्ध नही हैं।

१०. **सक्षेपिक दशा**—यह दशा भी वर्तमान मे अनुपलब्ध है, फिर भी उसके अध्ययनों का यह अर्थ जानना चाहिए—

क्षुल्लिका विमान-प्रविभक्ति मे आवलिका-प्रविष्ट विमानो तथा पुष्पावकीर्ण लघु विमानो का विस्तृत वर्णन है। महती विमान-प्रविभक्ति मे आवलिका प्रविष्ट बड़े विमानों का वर्णन है। अंग सूत्रों पर जो चूलिकाएं है, उनका वर्णन जिस अंग में है, वह अंगचूलिका

कहलाता है, जैसे कि आचारांगचूलिका इत्यादि। जिसमें वर्गों का वर्णन हो, उसे वर्गचूलिका कहते हैं, जैसे कि ज्ञाता धर्म-कथा के दूसरे श्रुतस्कन्ध में वर्ग हैं। अध्ययनों के समूह को वर्ग कहते हैं। व्याख्याचूलिका यह भगवती सूत्र की चूलिका है।

अरुणोपपात मे अरुण नामक देव के उपपात का वर्णन है। जब कोई साधु इस सूत्र का अध्ययन उपयोग पूर्वक करता है, तब अरुण देव अपने अवधिज्ञान से देखकर अपनी विभूति के साथ उस मुनि के पास आकर वंदना करके, उस अध्ययन को सुनता है। अध्ययन की समाप्ति पर वह कहता है आप ने बहुत अच्छा स्वाध्याय किया है, और साथ ही यह भी कहता है—"हे मुने! आप मुझ से कोई वर मागो।" इसके उत्तर में मुनि कहता है "मुझे मुक्ति के बिना अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं है।" इतना उत्तर सुनकर वह देव मुनि को वदन करके अपने स्थान मे चला जाता है। इसी तरह वरुणोपपात, गरुलोपपात, वेलधरोपपात और वैश्रवणोपपात देवो के विषय में जानना चाहिए। चूर्णिकार का आश्रय लेकर नन्दीसूत्र के वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि ने अपनी वृत्ति मे इस विषय की बहुत अच्छे प्रकार से व्याख्या की है जिसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है।

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-काल-मान

मूल—दस सागरोवमकोडाकोडीओ कालो उस्सप्पिणीए, दस सागरोवम-कोडाकोडीओ कालो ओसप्पिणीए॥५५॥

छाया—दश सागरोपम-कोटाकोट्यः काल उत्सर्पिण्याः, दश सागरोपम-कोटाकोट्यः काल अवसर्पिण्या.।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—उत्सर्पिणी काल का परिमाण दश सागरोपम कोटाकोटी होता है और अवसर्पिणी काल का परिमाण भी दश सागरोपम कोटाकोटी का वर्णन किया गया है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे वर्णित श्रुत का अध्ययन काल विशेष मे ही होता है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे काल का दिग्दर्शन कराया गया है। पांच भरत और पाच ऐरावत, इन दस क्षेत्रो मे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का अस्तित्व पाया जाता है। जिस काल मे निकृष्ट पदार्थ क्षीण हो और उत्कृष्ट एवं श्रेयस्कारी पदार्थो की उत्पत्ति विशेष हो एव भाव-विशुद्धि की प्रधानता हो, उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं और जिस काल में अच्छे पदार्थो का ह्रास होता हो और निकृष्ट पदार्थों की उत्पत्ति विशेष हो एव प्राणियो की भावनाएं भी प्राय: समुन्नत न हों, उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं।

प्रत्येक काल के छ:-छ: आरक होते है। प्रत्येक काल दस कोडा-कोड़ी[१] सागरोपम

१ करोड की सख्या को करोड की सख्या से गुणा करने पर प्राप्त होने वाला गुणनफल।

परिमाण वाला होता है, दोनों कालो को मिलाकर एक कालचक्र बनता है। अतीत में जीव को दुर्गतियों मे परिभ्रमण करते हुए ऐसे अनन्त काल चक्र बीत चुके हैं और अनागत काल मे धर्म के बिना अनत बीत जाएंगे। इनका सविस्तर वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र के काल अधिकार में किया गया है।

दशविध नैरयिकादि और उनका स्थितिकाल

मूल—दसविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—अणंतरोववन्ना, परंपरोववन्ना, अणंतरावगाढा, परंपरावगाढा, अणंतराहारगा, परंपराहारगा, अणंतरपज्जत्ता, परंपरपज्जत्ता, चरिमा, अचरिमा। एवं निरंतरं जाव वेमाणिया।

चउत्थीए णं पंकप्पभाए पुढवीए दस निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता।

रयणप्पभाए पुढवीए जहन्नेणं नेरइयाणं दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता।

चउत्थीए णं पंकप्पभाए पुढवीए उक्कोसेणं नेरइयाणं दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।

पंचमाए णं धूमप्पभाए पुढवीए जहन्नेणं नेरइयाणं दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।

असुरकुमाराणं जहन्नेण दस वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता। एवं जाव थणियकुमाराणं।

बायरवणस्सइकाइयाणं उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता।

वाणमंतरदेवाणं जहन्नेणं दस वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता।

बंभलोए कप्पे उक्कोसेणं देवाणं दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।

लंतए कप्पे देवाणं जहण्णेणं दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता॥५६॥

छाया—दशविधा नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अनन्तरोपपन्नकाः, परम्परोपपन्नकाः, अनन्तरावगाढाः, परम्परावगाढाः, अनन्तराहारकाः, परम्पराहारकाः, अनन्तरपर्याप्ताः, परम्परपर्याप्ताः, चरमाः, अचरमाः। एव निरन्तरं यावद्वैमानिकाः।

चतुर्थ्यां पङ्कप्रभायां पृथिव्यां दश नैरयिका-वास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि।

रत्नप्रभायां पृथिव्यां जघन्येन नैरयिकाणां दशवर्षसहस्राणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

चतुर्थ्यां पङ्कप्रभायां पृथिव्यामुत्कर्षेण नैरयिकाणां दश सागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

पञ्चमायां धूमप्रभायां पृथिव्यां जघन्येन नैरयिकाणां दशसागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

असुरकुमाराणां जघन्येन दशवर्षसहस्राणि स्थितिः प्रज्ञप्ता। एवं यावत् स्तनित-कुमाराणाम्।

बादरवनस्पतिकायिकानामुत्कर्षेण दशवर्षसहस्राणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

व्यन्तरदेवानां जघन्येन दशवर्षसहस्राणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

ब्रह्मलोके कल्पे उत्कर्षेण देवानां दशसागरोपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

लान्तके कल्पे देवानां जघन्येन दशसागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दश प्रकार के नारकी कहे गए हैं, यथा—अनन्तरोपपन्न, परम्परोपपन्न, अनन्तरावगाढ़, परम्परावगाढ़, अनन्तराहारक, परम्पराहारक, अनन्तरपर्याप्त, परम्पर-पर्याप्त, चरम और अचरम। इसी प्रकार वैमानिकों पर्यन्त निरन्तर कहना चाहिए।

चौथी पंकप्रभा पृथ्वी मे दस लाख नरकावास हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी मे नारकों की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष है।

चौथी पंकप्रभा पृथ्वी मे नारको की उत्कृष्ट स्थिति दश सागरोपम है।

पाचवी धूमप्रभा पृथ्वी में नारकों की जघन्य स्थिति दश सागरोपम है।

असुरकुमारों की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष है। इसी प्रकार स्तनितकुमारों पर्यन्त समझना चाहिए।

बादर वनस्पतिकाय के जीवो की उत्कृष्ट स्थिति दश हजार वर्ष है।

व्यन्तर देवों की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष है।

ब्रह्मलोक में देवो की उत्कृष्ट स्थिति दश सागरोपम है।

लान्तक देवलोक में देवो की जघन्य स्थिति दश सागरोपम है।

विवेचनिका—देवों की सभी पर्यायें कालद्रव्य पर निर्भर है, अतः इस सूत्र में जीवद्रव्य का वर्णन किया गया है। जब अत्यन्त पाप-कर्म के उदय से जीव नरकगति को प्राप्त करता है, तब वहा अपने द्वारा उपार्जित किए हुए अशुभ कर्मो का फल भोगता है। तीसरे नरक तक नारकी दुःखों का अनुभव प्रायः यम के द्वारा करते है, किन्तु चौथी नरक से लेकर सातवी नरक तक नारकी जीव परस्पर वेदना की उदीरणा करके दुःख भोगते है। समय और क्षेत्र के व्यवधान और अव्यवधान आदि की अपेक्षा नारकी जीवों के दस भेदो का कथन इस प्रकार है—

१. अनन्तरोपपन्नक—जिन की उत्पत्ति मे अभी एक समय का भी व्यवधान-अन्तर नही पड़ा है, वे नारकी अनन्तरोपपन्नक है।

२. परम्परोपपन्नक—जिन नारकी जीवो को उत्पन्न हुए दो, तीन आदि समय बीत गए हैं, वे परंपरोपपन्नक नारकी कहलाते हैं। ये दोनो भेद काल की अपेक्षा से जानने चाहिएं।

३. अनन्तरावगाढ—अव्यवहित आकाश प्रदेशो के अन्दर उत्पन्न होने वाले नारकी जीव अनन्तरावगाढ कहलाते हैं।

४. परंपरावगाढ—विवक्षित प्रदेश की अपेक्षा व्यवधान से उत्पन्न होने वाले नारकी परम्परावगाढ कहलाते हैं। ये दोनो भेद क्षेत्र की अपेक्षा से समझने चाहिएं।

५. अनन्तराहारक—उत्पत्ति के पहले समय में आहार ग्रहण करने वाले जीव अनन्तराहारक कहलाते है।

६. परम्पराहारक—जो नारकी जीव पूर्व-व्यवहित स्वक्षेत्र मे आए हुए पुद्गलों का आहार करते है, वे परम्पराहारक है अथवा पहले समय मे आहार करने वाले अनन्तराहारक और दो आदि समय बीतने पर आहार करने वाले परम्पराहारक होते हैं।

७. अनन्तरपर्याप्तक—जिन के पर्याप्त होने मे एक समय का भी अन्तर नही पडा, वे अनन्तरपर्याप्तक हैं।

८. परंपरपर्याप्तक—उत्पत्ति काल से दो-तीन समय के बाद पर्याप्तक होने वाले परंपरापर्याप्तक जीव कहलाते है। ये दोनो भेद भाव की अपेक्षा से कहे गए है।

९ चरम—नारकी भव समाप्त हो जाने के बाद पुन. कभी भी नारकी भव नही प्राप्त करने वाले अन्तिम-भव नारक कहलाते है।

१०. अचरम—जो नारकी-भव समाप्त होने के बाद फिर कालान्तर मे कभी पुन: नारक-भव प्राप्त करने वाले हैं, ऐसे नारक अचरम कहलाते हैं। ये दोनो भेद भी भाव की अपेक्षा से जानने चाहिएं।

जिस तरह नारकी जीवो के दस भेद होते हैं, वैसे ही २३ दण्डको के जीवों के विषय मे भी दस भेद समझ लेने चाहिए।

१. चौथी पकप्रभा पृथ्वी मे दस लाख नारकावास है।

२ रत्नप्रभा पृथ्वी में नारकियो की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है।

३. चौथी पकप्रभा पृथ्वी में नारकियो की उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम की है।

४ पांचवी धूमप्रभा पृथ्वी में नारकियो की कम से कम दस सागरोपम की स्थिति है।

५. असुरकुमारों की जघन्य स्थिति दस सागरोपम की है। इसी तरह शेष नव निकाय भवनपति देवो के विषय मे भी जानना।

६ बादर वनस्पतिकायिक जीवों की अधिक से अधिक दस हजार वर्ष की स्थिति है।

७. वानव्यतर देवों को भी कम से कम दस हजार वर्ष की स्थिति है।

८ ब्रह्मदेवलोक मे देवों की अधिकाधिक दस सागरोपम की स्थिति है।

९. लांतक देवलोक में देवों की स्थिति कम से कम दस सागरोपम की है।

इस सूत्र में शुभ, अशुभ और शुभाशुभ कर्मो का दिग्दर्शन कराया गया है, क्योंकि नारकी जीव प्राय: अशुभ कर्मो का फल भोगते है, देव प्राय: शुभ कर्मों का और बादरवनस्पति काय के जीव शुभाशुभ कर्मो के फल भोगने वाले होते है। कर्मो के फल स्थिति द्वारा ही भोगे जा सकते है, इसी कारण सूत्रकार ने स्थिति का वर्णन किया है।

कल्याणकारी कर्मोपार्जन के कारण

मूल—दसहिं ठाणेहिं जीवा आगमेसि भद्दत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—अणिदाणयाए, दिट्ठिसंपन्नयाए, जोगवाहियत्ताए, खंतिखमणयाए, जिइंदियत्ताए, अमाइल्लयाए, अपासत्थयाए, सुसामण्णयाए, पवयणवच्छ-ल्लयाए, पवयणउब्भावणयाए॥५७॥

छाया—दशभिः स्थानैर्जीवा आगमिष्यद्भद्रतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—अनि-दानतया, दृष्टि-सम्पन्नतया, योगवाहिकतया, क्षान्तिक्षमणतया, जितेन्द्रियतया, अमायिकतया, अपार्श्वस्थतया, सुश्रामण्यतया, प्रवचनवत्सलतया, प्रवचनोद्भावनतया।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जीवात्मा दश प्रकार से आगामी काल मे भद्रता के लिए कर्म उपार्जन करते हैं, जैसे कि निदान न करने से, सम्यग्दृष्टि होने से, उपधान तप करने से, क्षमा करने से, जितेन्द्रिय होने से, निष्कपट होने से, शिथिलवृत्ति त्यागने से, शुद्ध सयम पालने से, प्रवचन की वत्सलता से, प्रवचन की प्रभावना करने से।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वर्णित नरक-स्थिति का अवरोध और देवलोको मे अवस्थान भद्र-कर्म करने से ही होता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में भद्र कर्मो का नामोल्लेख किया गया है। भद्र कर्म करने से सुगति की प्राप्ति होती है। इस सूत्र में बतलाया गया है कि आगामी काल में सुख देने वाले कर्म दस कारणों से बांधे जाते हैं। इस भव मे शुभ कर्म करने से सर्वोत्तम देवगति प्राप्त होती है। देवलोकों से चवने के बाद मनुष्य भव मे उत्तम कुल की प्राप्ति होती है और फिर परमपद की प्राप्ति हो जाती है। वे दस भद्र-कर्म इस प्रकार हैं, जैसे कि—

१. अनिदानता—मनुष्य-भव मे उपार्जन किए हुए संयम, तप आदि शुभ क्रियाओं के फलस्वरूप देवेन्द्रादि की ऋद्धि-ऐश्वर्य और भौतिक सुख पाने की प्रबल इच्छा करना और

अपनी करणी को नश्वर एवं तुच्छ सुख-भोग के बदले मे बेच देना निदान है। निदान न करना ही अनिदानता है। निदान से ज्ञानादि आराधना रूप लता काट दी जाती है, तथा निदान वह परशु है, जिसके द्वारा परमानन्दरसरूप मोक्ष-फल को छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है।[१] संयम-तप करके निदान न करने से आगामी-भव मे सुख देने वाले शुभ कर्मों का बंध होता है। अनिदानता को वैदिक संस्कृति निष्काम साधना कहती है।

२. दृष्टिसम्पन्नता—सम्यक्त्व में दृढ रहना, सच्चे देव, गुरु-धर्म और शास्त्र पर दृढ श्रद्धा का होना तथा नव तत्त्वो पर श्रद्धान करना ही दृष्टि-सपन्नता है। इस से भी साधक आगामी भव को समुज्ज्वल बनाता है।

३ योगवाहिता—सांसारिक पदार्थो मे उत्सुकता का न होना। दूसरे शब्दों मे समाधि की स्थिति ही 'योगवाहिता है'। आगमों के अध्ययन-अध्यापन मे लगे रहना, अनुप्रेक्षा, निदिध्यासन करना भी योगवाहिता है। इससे भी साधक आगामी भव को कल्याणकारी बनाता है।

४. क्षान्ति-क्षमणता—यहा क्षान्ति शब्द असमर्थता के व्यवच्छेद के लिए दिया गया है। बदला लेने की शक्ति होते हुए भी शान्ति पूर्वक उसे सहन कर लेना, अपने में उसका प्रतीकार करने की भावना तक न रखना ही ''क्षान्ति-क्षमणता'' है। इससे भी जीव अपना भविष्य उज्ज्वल कर लेता है।

५. जितेन्द्रियता—अपनी इन्द्रियो को वासनाओं से हटाकर, उन्हे आत्मोत्थान की साधना मे लगाना, जितेन्द्रियता है। इससे भी भावी जन्म सुखप्रद बन जाता है।

६. अमायाविता—चारित्र एवं तप में किसी प्रकार की माया अर्थात् छल-कपट न करना, ससार से निवृत्त होकर मोक्ष के अभिमुख होना ही अमायाविता है। माया के न करने से आत्मा परलोक के लिए शुभ कर्मो का संचय कर लेता है, जिससे वे शुभ कर्म उसके आत्म-विकास के लिए सहायक हो जाते है।

७. अपार्श्वस्थता—शिथिलाचारी साधु को पार्श्वस्थ और उग्रविहारी साधु को अपार्श्वस्थ कहते है। इसके दो भेद है—सर्वपार्श्वस्थ और देशपार्श्वस्थ। रत्नत्रय की विराधना करने वाला सर्वपार्श्वस्थ है। बिना ही कारण शय्यातर-पिड, अभिहतपिंड, नित्य-पिण्ड, नियत-पिंड और अग्रपिंड, इनको भोगने वाला साधु देशपार्श्वस्थ कहलाता है।

जिस गृहस्थ के मकान मे साधु ठहरे हुए हो, उस के घर से आहार लेना **''शय्यातर-पिंड''** है। साधु के उद्देश्य से गृहस्थ के द्वारा उपाश्रय मे लाया हुआ आहार **''अभिहृतपिंड''** है। प्रतिदिन एक घर से ही आहार लेना **''नित्यपिंड''** है। साधु को देने के लिए पहले ही

---

१. निदायते-लूयते ज्ञानाद्याराधना लता, आनदरसोपेतमोक्षफला येन पर्शुनैव देवेन्द्रादिगुणर्द्धिप्रार्थनाध्यावसानेन तन्निदान, अविद्यमान तद्यस्या सोऽनिदानस्तद्भावस्तता, तया हेतुभूतया निरुक्ततयेत्यर्थ ।

निकालकर रखा हुआ भोजन "**अग्रपिंड**" कहलाता है। 'मैं इतना आहार आपको रोजाना देता रहूंगा' दाता के ऐसा कहने पर रोजाना उतना आहार लाना "**नियतपिंड**" है। उक्त पांच प्रकार का आहार ग्रहण करना साधु के लिए निषिद्ध है। इनमें से किसी एक का सेवन करने वाला साधु देश-पार्श्वस्थ कहलाता है।

८. सुश्रामण्यता—मूलगुण और उत्तरगुणरूप सयम का सम्यक्तया पालन करने वाला श्रमण कहलाता है। निरतिचार गुणों की आराधना करने से ही सुश्रमणता हो सकती है अर्थात् सुसाधुता से आगामी भव सुखमय बन जाता है।

९. प्रवचनवत्सलता—द्वादशाग वाणी को प्रवचन कहते है। प्रवचन का धारक चतुर्विध श्रीसंघ होता है। श्री सघ पर वात्सल्य भाव रखना, हितैषी बनकर रहना प्रवचन-वत्सलता है। शास्त्र और सघ की वत्सलता करने से जीव भावी जन्म को सफल करता है। प्रवचन या सघ के जो प्रत्यनीक हैं, उनका निराकरण करना, प्रवचन या सघ की रक्षा करना, इन सत् क्रियाओं से जीव बड़ी सरलता से आत्मोत्थान कर सकता है।

१०. प्रवचन-उद्भावनता—आगम और संघ का गुणकीर्तन करना, धर्मकथा तथा वादादि लब्धियों से प्रवचन का वर्णवाद करना, जिस तरह से लोगो के मानस-पटल पर सर्वज्ञोक्त धर्म की छाप पड जाए, वैसा प्रयत्न करना, इस तरह से भी जीव अपना कल्याण कर सकता है।

इन दस बातो से जीव आगामी भव के लिए भद्रकारी, सुखकारी और कल्याणकारी शुभ प्रकृतियों का बध करता है। अत: इनकी आराधना की ओर प्रत्येक प्राणी को ध्यान देना चाहिए।

दृष्टिसम्पन्नता सम्यग्दर्शन का पर्यायवाची शब्द है। प्रवचन-वत्सलता और प्रवचनोद्-भावना ये दो सम्यग्ज्ञान से सबध रखते है। योगवाहिता तप से संबध रखती है, शेष बोल सम्यक्चारित्र से सबंध रखने वाले है, अत: इन दस बोलों का अतर्भाव ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में हो जाता है।

आशंसा-प्रयोग

मूल—दसविहे आसंसप्पओगे पण्णत्ते, तं जहा—इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, दुहआलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणा-संसप्पओगे, कामासंसप्पओगे, भोगासंसप्पओगे, लाभासंसप्पओगे, पूया-संसप्पओगे, सक्कारसंसप्पओगे॥ ५८॥

छाया—दशविध आशंसाप्रयोग: प्रज्ञप्तस्तद्यथा—इहलोकाशंसाप्रयोग:, परलोका-शंसाप्रयोग:, द्विधातोलोकाशंसाप्रयोग:, जीविताशंसाप्रयोग:, मरणाशंसाप्रयोग:,

कामाशंसाप्रयोगः, भोगाशंसाप्रयोगः, लाभाशंसाप्रयोगः, पूजाशंसाप्रयोगः, सत्काराशंसाप्रयोगः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दश प्रकार के इच्छारूप व्यापार का वर्णन किया गया है, जैसे—इहलोकाशंसाप्रयोग, परलोकाशंसाप्रयोग, उभयलोकाशंसाप्रयोग, जीविताशंसाप्रयोग, मरणाशंसाप्रयोग, कामाशंसाप्रयोग, भोगाशंसाप्रयोग, लाभाशंसाप्रयोग, पूजाशंसाप्रयोग, सत्काराशंसाप्रयोग।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वर्णित तप-संयम की आराधना करते हए साधक को इच्छा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। आत्मविकास वा निर्वाणपद की प्राप्ति में जो इच्छाएं विघ्नकारी हैं, प्रस्तुत सूत्र में उन्हीं इच्छाओ का निर्देश किया गया है। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. इहलोकाशंसाप्रयोग—आशंसा इच्छा का पर्यायवाची शब्द है। मेरी तपस्या आदि के फलस्वरूप—'मै इस लोक में चक्रवर्ती राजा बनू', इस तरह की इच्छा करना ''इहलोकाशंसा'' है।

२. परलोकाशंसाप्रयोग—इस लोक में तपस्यादि के फलस्वरूप 'मै इन्द्र, सामानिक, त्रायत्रिंश, लोकपाल आदि देव बनू।' इस तरह परलोक मे इन्द्रादि पद की इच्छा करना ''परलोकाशंसाप्रयोग'' है। सूत्रकार ने जो इह और पर पद ग्रहण किए हैं, इन का भाव यह है कि जो मनुष्यपर्याय मे वर्त रहा है और फिर भी मनुष्य बनने की आशा रखता है, उसी को इहलोकाशंसाप्रयोग कहते हैं। मनुष्य से भिन्न परलोक कहा जाता है। जैसे देश और विदेश ये दोनों शब्द अपेक्षा से कहे जाते है—अपने-अपने देश की अपेक्षा से सभी मनुष्य स्वदेशी हैं। पर देश की अपेक्षा से सभी विदेशी कहे जाते है। इसी तरह सूत्र मे चार लोक प्रतिपादन किए गए है, जैसे—नरक लोक, तिर्यञ्चलोक, मनुष्यलोक और देवलोक। ये अपनी-अपनी अपेक्षा से इहलोक है और पर की अपेक्षा से परलोक हैं। जैसे किसी मनुष्य की मृत्यु हो गई है, कहने मे यही आता है 'वह परलोक चला गया।' इसी तरह परस्पर की अपेक्षा से चारो ही लोक है और चारो ही परलोक है।

३. उभयलोकाशंसाप्रयोग—इस लोक में किए गए तपश्चर्यादि के फलस्वरूप परलोक में 'मै देवेन्द्र बनू और वहा से च्यव कर फिर इस लोक में मैं चक्रवर्त्ती आदि राजा बनूं।' इस तरह इहलोक और परलोक दोनो मे इन्द्रादि पद की इच्छा करना ''द्विधालोकाशंसाप्रयोग'' है। सामान्य रूप से यदि देखा जाए तो उक्त तीन ही आशंसा प्रयोग है, किन्तु विशेष विवक्षा से सात भेद और होते है, जो इस प्रकार है—

४. जीविताशंसाप्रयोग—'मेरी आयु लम्बी हो, मेरा जीवन चिरस्थायी हो'। 'मैं चिरकाल तक सुखी बना रहू', यही इच्छा ''जीविताशसाप्रयोग'' है।

५. मरणाशंसाप्रयोग—दु:ख, संकट से घबरा कर ऐसी इच्छा करना—'मेरा मरण शीघ्र हो जाए', इसे ''मरणाशंसाप्रयोग'' कहते हैं। साधक के लिए ऐसा सोचना भी निषिद्ध है।

६. कामाशंसाप्रयोग—'मुझे प्रिय शब्द और इष्ट रूप प्राप्त हों'। शब्द और रूप की काम संज्ञा है। अच्छे-अच्छे शब्द सुनने को मिले और अच्छे-अच्छे रूप देखने को मिले, इसे ''कामाशसाप्रयोग'' कहते हैं।

७. भोगाशंसाप्रयोग—गन्ध, रस और स्पर्श इनकी भोग संज्ञा है। 'अभीष्ट गन्ध, रस और स्पर्श मुझे प्राप्त हो', ऐसी इच्छा करना ''भोगाशसाप्रयोग'' है।

८. लाभाशंसाप्रयोग—'मुझे धन, सत्ता, पुत्र-स्त्री आदि भौतिक सुख साधन प्राप्त हो', ऐसी कामना करना ''लाभाशसाप्रयोग'' है।

९. पूजाशंसाप्रयोग—'मेरी सब से बढकर कीर्ति, यश, पूजा, प्रतिष्ठा हो', ऐसी इच्छा करना ''पूजाशसाप्रयोग'' है।

१०. सत्काराशंसाप्रयोग—'लोग मेरा वस्त्र-आभूषण आदि से आदर-सत्कार करें', 'मानपत्र दे कर मुझे सम्मानित करे', 'मुझे राजकीय पारितोषिक प्राप्त हों', ऐसी इच्छा करना ''सत्काराशंसाप्रयोग'' है। ये १० प्रकार की आशाएं सूत्रकार ने वर्णित की हैं। मुमुक्षु के लिए तो ये आत्मविकास में विघ्नरूप ही है, किन्तु ससारी जीव भी इन मे फसकर संसारचक्र में दु:खों का अनुभव कर रहे है, अत: ये आशाएं दु:खो से बचने के लिए और सुखो की वृद्धि के लिए सर्वथा त्याज्य है।

ज्ञान मार्ग मे इनका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—

१ इस लोक की भावना—श्रेष्ठ व्यक्तियो की सगति एव सेवा में रहने की इच्छा रखना, जिससे जीवन कल्याण की ओर अग्रसर हो।

२. परलोक की भावना—महापुरुषो का गुण-कीर्तन एवं भक्ति का अवसर परलोक मे भी प्राप्त हो, ऐसी भावना रखना।

३. उभयलोक की भावना—मेरा जिस किसी गति मे भी जन्म हो, वीतराग भगवान की भक्ति में ही अनुरक्त रहूं, अथवा परोपकार से अपना जीवन-यापन करू इत्यादि।

४. जीने की भावना—सयम-जीवन की आकांक्षा रखना।

५. मरने की भावना—मेरा मरण सलेखना एवं संथारे के साथ समाधिपूर्वक हो, जिससे मेरा पण्डित-मरण हो, ऐसी भावना रखना।

६. काम की भावना—वह दिन धन्य होगा, जब मुझे साक्षात् संतों की वाणी, जिन-वाणी सुनने का अवसर प्राप्त होगा, तथा आत्मार्थी मुनिराजो के पवित्र दर्शन करूगा, ऐसी भावना रखना।

७. **भोग की भावना**—वह दिन धन्य होगा, जिस गध आदि से मेरी धर्म की भावना उत्तेजित हो जाए, निर्दोष आहार-पानी का समता से उपभोग करू, संयम और तप की आराधना करूं तथा आए हुए परीषह-उपसर्गो को समता से सहन करू। इस तरह गंध, रस और स्पर्श के उपभोग की भावना रखना।

८. **लाभ की भावना**—जो-जो आत्मोन्नति में परम सहायक हैं, उन-उन साधनों को पाने की भावना रखना।

९. **पूजा की भावना**—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य आदि की स्तुति, कीर्ति, गुणोत्कीर्तन करना, अपनी पूजा की भावना नही, किन्तु गुणीजनों की पूजा-स्तुति आदि की भावना करना हितकर है।

१०. **सत्कार की भावना**—गुणीजन साधु या साध्वी का बहुमान करना, वस्त्र-पात्र, मकान, आहार-पानी आदि देकर उनका सत्कार करना, इस तरह सत्कार की भावना रखना। इस प्रकार ये दस शुभ भावनाएं उपादेय भी हो सकती है।

पूर्व प्रकार के ''आशंसा-प्रयोग'' ही एक प्रकार से 'निदान' माने जाते हैं। इच्छा-निरोध रूप तप ही निदान भावना पर नियन्त्रण कर सकता है और निदान-नियन्त्रण होने पर ही साधनापथ पर अग्रसर हुआ जा सकता है। क्योंकि इच्छारूप व्यापार से आत्मा का पतन होता है और सद्भावना से उत्थान हुआ करता है।

दशविध धर्म

मूल—दसविहे धम्मे पण्णत्ते, तं जहा—गामधम्मे, नगरधम्मे, रट्ठधम्मे, पासंडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे, चारित्तधम्मे, अत्थि-कायधम्मे॥५९॥

छाया—दशविधो धर्मः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ग्रामधर्मः, नगरधर्म., राष्ट्रधर्म., पाषण्ड-धर्मः, कुलधर्मः, गणधर्मः, संघधर्मः, श्रुतधर्मः, चारित्रधर्मः, अस्तिकायधर्मः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस प्रकार का धर्म वर्णन किया गया है, जैसे—ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म, पाखण्ड-धर्म, कुल-धर्म, गण-धर्म अर्थात् समाचारी, सघ-धर्म, श्रुत-धर्म, चारित्र-धर्म और अस्तिकाय-धर्म।

विवेचनिका—जिन इच्छाओ का उल्लेख पहले सूत्र मे किया जा चुका है, उनके स्थान मे किसी जीव के हृदय में धर्म-भावना भी हो सकती है। अत: प्रस्तुत सूत्र में दस प्रकार के धर्मो का उल्लेख किया गया है।

धर्म शब्द अनेक अर्थों मे व्यवहृत होता है, जिस वस्तु का जो स्वभाव है, वही उसका

धर्म है। जिस वस्तु या व्यक्ति की वह वृत्ति जो कभी भी उससे अलग न हो, जैसे पानी मे शीतत्व, अग्नि में उष्णत्व, आत्मा में चेतनत्व, ये सब उनके सदाकालभावी धर्म हैं।

धर्म का दूसरा अर्थ है—वह कर्त्तव्य जिसका करना किसी सम्बन्ध, स्थिति, तथा गुण विशेष के विचार से उचित और आवश्यक हो। किसी जाति, वर्ण, पद आदि के लिए निश्चित किया हुआ कार्य-व्यवहार भी धर्म है, जैसे कि ब्राह्मण का धर्म, शूद्र का धर्म इत्यादि।

धर्म का तीसरा अर्थ है—वह वृत्ति या आचरण जो लोक या समाज की स्थिति के लिए आवश्यक हो, अथवा वह आचार जिसके द्वारा समाज की रक्षा एवं सुख-शान्ति की वृद्धि हो और परलोक में भी उत्तम गति प्राप्त हो।

धर्म का चौथा अर्थ है—उन आपसी व्यवहार संबंधी नियमो का पालन जो किसी राष्ट्र या आचार्य आदि युग-प्रवर्तक नेता या मध्यस्थ आदि के द्वारा स्थापित किए गए हों।

धर्म का पाचवां अर्थ है—उचित-अनुचित का विचार करने वाली चित्तवृत्ति, जैसे कि मानवता।

धर्म का छटा अर्थ है—किसी आचार्य आदि द्वारा प्रवर्त्तित ईश्वर, परलोक आदि के सम्बन्ध में विशेषरूप का विश्वास एव आराधना की विशेष प्रणाली, पथ, सम्प्रदाय, मत आदि। धर्म के इन सभी अर्थों का ग्रहण यथासभव किया जा सकता है। ग्राम धर्म आदि दस प्रकार के धर्मों का विवरण निम्नलिखित है—

१. ग्राम-धर्म—प्रत्येक ग्राम का भिन्न-भिन्न आचार, रीति-रिवाज एवं व्यवस्था आदि जो भी होती है, वह ग्राम धर्म है। धर्म शब्द इस स्थान पर व्यवस्था का वाचक है। यदि उन आचारों एवं व्यवस्थाओं में किसी प्रकार की न्यूनता हो जाए, तो उसे ठीक करना, तथा ग्राम-प्रमुख आदि ग्राम को सुधारने के लिए जिस व्यवस्था और नीति का निर्धारण करते हैं वही सुव्यवस्था ग्राम-धर्म है। यदि ग्राम मे आहार, व्यवहार, व्यापार, क्रियानुष्ठान आदि न्याय-पूर्वक होते हों, तो ग्राम उन्नति के शिखर पर पहुंच जाता है।

२. नगर-धर्म—प्रत्येक नगर का देश की प्रकृति के अनुकूल आचार-विचार भिन्न-भिन्न होता है, इसी कारण उनकी व्यवस्था भी अलग-अलग होती है। वह व्यवस्था यदि न्याय-पूर्वक हो तो किसी प्रकार से भी नगरवासियो को हानि नही उठानी पडती। व्यवस्था में कमी आ जाने से लोग उच्छृंखल एव उद्दण्ड हो जाते है। उनकी सुव्यवस्था आहार, व्यवहार, व्यापार, वेष-भूषा, आचार आदि विधि-विधान पर ही निर्भर हुआ करती है। अत: नगर की सुव्यवस्था ही नगरधर्म है।

३ राष्ट्र-धर्म—देश की व्यवस्था का विधि-विधान न्याय-पूर्वक होना ही राष्ट्रधर्म है, क्योंकि जब देश की व्यवस्था नियम पूर्वक होती है, तब देश सब तरह से समृद्ध होता

है। जब देश मे दुर्व्यवस्था होती है, तब देशवासियो को अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। न्याय पूर्वक चलने से ही देश दु:खों से विमुक्त हो सकता है। आहार, व्यवहार, व्यापार, भाषा, वेष, शिक्षणरक्षण की पद्धति यदि न्याय-पूर्वक होगी, तभी देश की स्वतत्रता सुरक्षित रह सकती है। न्याय-नीति के बिना देश की वही दशा होती है जो धन-रहित ऋणी पुरुष ही होती है।

४. पाषण्ड-धर्म—पाषण्ड शब्द का अर्थ धर्म का ढोंग, मिथ्यादर्शन, व्रत, चरकतापस आदि होता है। पाषण्डियों द्वारा ग्रहण किए हुए व्यवहार विशेष को पाषड-धर्म कहा जाता है। स्थूल एवं सूक्ष्म सब तरह के पापों तथा दोषो से निवृत्त होना चारित्र है। स्थूल पापो से निवृत्त होना, सूक्ष्म से नही, वह देशचारित्र है। जिसका त्याग गजस्नान की तरह हो, उसे भी पाषण्ड-धर्म ही कहा जाता है। विविध संप्रदाय वालों का आचार इसी में गर्भित है।

५. कुल-धर्म—लोक पक्ष में एक जाति, एक गोत्र और एक परिवार मे जो आहार, व्यवहार एव आचार विशेष निर्धारित होता है, उसे कुल-धर्म कहा जाता है। धर्म पक्ष में एक गच्छ की जो सामाचारी है, वही कुल-धर्म है।

६. गण-धर्म—कुलो के समुदाय को गण कहते हैं। गण चाहे सांसारिक हो या धार्मिक, उनका जो भी आचार विशेष है, या साधु समाचारी है, उसे गण-धर्म कहते हैं। गण शब्द समूहवाची है, इसी को आजकल बिरादरी कहते है। उस समाज की बनाई हुई व्यवस्था के पालन को गण-धर्म कहा जाता है।

७. सघ-धर्म—जिस मे कुलो और गणों का समूह एकत्रित हो, उसे संघ कहते हैं। जैसे राष्ट्रीय सघ, चतुर्विध सघ आदि। चतुर्विध श्रीसंघ की बनाई हुई सामाचारी सघ-धर्म है। सामाचारी का वास्तविक अर्थो मे पालन करना सघ-धर्म है।

८ श्रुत-धर्म—आचारागादि श्रुत-साहित्य का विधि पूर्वक अध्ययन-अध्यापन करना श्रुत-धर्म है, अथवा जो दुर्गति में गिरते हुए जीव को सुगति में पहुचाए, उसे श्रुत-धर्म कहते है। श्रुत-धर्म से यहां सम्यक् श्रुत का ग्रहण किया गया है। जिस श्रुत में धर्म का वर्णन किया गया है वह भी श्रुत-धर्म है अथवा जिस श्रुत से धर्म का प्रवाह निकला है, उसे भी श्रुत-धर्म कहते हैं अथवा जिस धर्म की आराधना श्रुत के अनुसार की जाए, वह श्रुत-धर्म है।

९. चारित्र-धर्म—जिस से कर्मसमूह आत्मा से अलग हो जाए, वह चारित्र है अथवा जिन उपायो द्वारा आत्मा को संचित कर्मो से मुक्त किया जा सकता है उसी को चारित्र धर्म कहा जाता है। पांच महाव्रत, पाच समितियां, तीन गुप्तियां, १० प्रकार का श्रमण-धर्म, बारह भिक्षु प्रतिमाए, पिंड-विशुद्धि इत्यादि जितने भी क्रियानुष्ठान हैं, उन सब का अन्तर्भाव चारित्र-धर्म में हो जाता है।

१०. अस्तिकाय-धर्म—अस्ति शब्द प्रदेशों का वाची है और काय शब्द राशि का।

जीव और पुद्गल की गति में सहायक यदि कोई द्रव्य है तो वह धर्मास्तिकाय है। जैसे मत्स्य की गति में जल सहायक है और पक्षी की गति में आकाश सहायक है, वैसे ही जीव और पुद्गल की गति में धर्मास्तिकाय सहायक होता है।[1]

दस प्रकार के स्थविर

मूल—दस थेरा पण्णत्ता, तं जहा—गामथेरा, नगरथेरा, रट्ठथेरा, पसत्थारथेरा, कुलथेरा, गणथेरा, संघथेरा, जाइथेरा, सुअथेरा, परियाय-थेरा॥६०॥

छाया—दश स्थविराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ग्राम-स्थविराः, नगर-स्थविराः, राष्ट्र-स्थविराः, प्रशास्तृ-स्थविराः, कुल-स्थविराः, गण-स्थविराः, संघ-स्थविराः, जाति-स्थविराः, श्रुत-स्थविराः, पर्याय-स्थविराः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दश प्रकार के स्थविर वर्णन किए गए हैं, जैसे—ग्राम-स्थविर, नगर-स्थविर, राष्ट्र-स्थविर, प्रशास्ता-स्थविर, कुल-स्थविर, गण-स्थविर, संघ-स्थविर, जाति-स्थविर, श्रुत-स्थविर और पर्याय-स्थविर।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे ग्रामादि धर्मो का वर्णन किया गया है, ग्रामादि धर्म स्थविरकृत होते है, अतः इस सूत्र मे दस स्थविरो का वर्णन किया गया है। उन्मार्ग मे प्रवृत्त मनुष्य को जो सन्मार्ग में स्थिर करे, उसे स्थविर कहते है। स्थविर दस तरह के होते है—

१. ग्राम-स्थविर—गांव की व्यवस्था करने वाला बुद्धिमान तथा प्रभावशाली व्यक्ति जिसका वचन सभी मानते हों, वह ग्राम-स्थविर कहलाता है। ग्राम की व्यवस्था पंचायत करती है और सरपच ग्राम का सबसे बडा स्थविर माना जाता है।

२. नगर-स्थविर—नगरपालिका मे जो विधान बनता है, वह नगर की रक्षा के लिए होता है। नगरपालिका के जितने सदस्य होते हैं, वे सब स्थविर हैं। उनमे जो प्रधान है, वह प्रधान-स्थविर है। बहुत बडे नगरो में कार्पोरेशन होता है, उसका प्रधान मेयर होता है, वह भी स्थविर कहलाता है। प्रान्त के रक्षक एवं व्यवस्थापक विधान सभा के सदस्य होते है, मुख्यमंत्री तथा उन सबमें मुख्य राज्यपाल होता है। उपर्युक्त सभी ग्रामादि प्रमुख स्थविर ही कहलाते हैं।

३. राष्ट्र-स्थविर—राष्ट्र के माननीय एव प्रभावशाली नेता राष्ट्र-स्थविर है। अनेक प्रान्तो के समुदाय को राष्ट्र कहते है। उसकी व्यवस्था, रक्षण, शिक्षण एव पोषण का दायित्व लोकसभा के सदस्यो, प्रधान-मन्त्री एव राष्ट्रपति पर होता है। ये सब राष्ट्र-स्थविर

१. दस प्रकार के धर्म की व्याख्या के लिए देखिए "जैन-तत्त्व-कलिका-विकास" नामक ग्रन्थ।

ही कहलाते हैं तथा इन्हे मार्गसकेत करने वाले भी इसी कोटि के माने जाते है। राजनीति के द्वारा जनता की देख-भाल, रहन-सहन, खान-पान इत्यादि व्यवस्था करने वाले सभी राष्ट्रस्थविर है।

४. **प्रशास्तृ-स्थविर**—धर्मोपदेश देने वाले महामानव प्रशास्तृ स्थविर कहलाते हैं। कहा भी है "**प्रशासति—शिक्षयन्ति ये, ते प्रशास्तारः, धर्मोपदेशकास्ते च ते स्थिरीकरणात् स्थविराश्चेति प्रशास्तृ-स्थविरः**"। धर्मोपदेशक तथा शिक्षा देने वाले सभी इसी कोटि मे माने जाते हैं।

५. **कुल-स्थविर**—लौकिक तथा लोकोत्तरिक कुल की व्यवस्था करने वाले जो व्यवस्थापक है, और उस व्यवस्था को तोडने वाले व्यक्ति को दंडित करना यह कुल-स्थविर का कर्त्तव्य है।

६ **गण-स्थविर**—सज्जनों की रक्षा, दुष्टो को दड, इस तरह की नीति जिस समुदाय मे हो उसे गण कहते हैं। गण की व्यवस्था करने वाले गण-स्थविर कहलाते हैं। बिरादरी की कार्यकारिणी समिति के प्रधान, गणी और प्रवर्त्तक, ये सब गणस्थविर ही होते हैं।

७ **संघ-स्थविर**—बहुत बडे सघ की व्यवस्था करने वाला व्यक्ति सघस्थविर कहलाता है। उसे दूसरे शब्दो में संघपति भी कह सकते है। संघ का रक्षण-शिक्षण एव पोषण करने वाले आचार्य इसी कोटि में आ जाते है।

८. **जाति-स्थविर**—जिसकी आयु ६० वर्ष से अधिक हो और जो सघ व्यवस्था मे कुशल हो, वह जाति-स्थविर माना जाता है।

९ **श्रुत-स्थविर**—स्थानाग और समवायांग सूत्रों के ज्ञाता श्रुतस्थविर कहलाते है।

१०. **पर्यायस्थविर**—बीस वर्ष से अधिक दीक्षा पर्याय वाला पर्यायस्थविर कहलाता है।

ये दस स्थविर देश, काल और धर्म को लक्ष्य मे रखकर ग्रामादि की रक्षा के लिए नियमो का निर्माण करने वाले होते हैं। कवि, पण्डित, नेता और साधु ये समाज को जिधर भी ले जाना चाहे ले जा सकते है। धर्म-स्थविर समाज को सुसगठित और सुव्यवस्थित बनाता है। उसके विधान के अनुसार सदाचार का आचरण ही धर्म है।

दस प्रकार के पुत्र

मूल—दस पुत्ता पण्णत्ता, तं जहा—अत्तए, खेत्तए, दिन्नए, विण्णए, उरसे, मोहरे, सोंडीरे, संबुद्धे, उवयाइए, धम्मंतेवासी॥६१॥

छाया—दश पुत्राः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आत्मज , क्षेत्रजः, दत्तकः, विनयितः, औरसः, मौखरः, शौण्डीरः, संवर्द्धितः, औपयाचितकः, धर्मान्तेवासी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस प्रकार के पुत्र होते हैं, जैसे—आत्मज, क्षेत्रज, दत्तक, विनयित, औरस, मौखर, शौण्डीर, संवर्द्धित, उपयाचित और धर्मान्तेवासी अर्थात् शिष्य।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में स्थविरो का परिचय दिया गया है, वे स्थविर ही अपने आश्रितजनों को पुत्र की तरह शिक्षित करते हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र में दस प्रकार के पुत्रो का वर्णन किया गया है। अपने वंश की मर्यादाओं की रक्षा करने वाली सन्तति ही पुत्र कहलाती है, अथवा अपने कुल को पवित्र करने वाला पुत्र होता है। "**पुनाति पितर पाति वा पितृमर्यादामिति पुत्र:**"। पुत्र के दस भेदो का विवरण निम्नलिखित है—

१. आत्मज—जो पुत्र पिता के नाम से प्रसिद्ध हो, उसे आत्मज कहते है। जो पिता के शरीर से उत्पन्न हुआ है, उसको भी आत्मज कहते हैं, क्योकि अस्थि, मिंजी, केश, नख आदि शरीर के तत्त्व पिता के वीर्य से उत्पन्न होते है। मास, रुधिर और मस्तिष्क, ये माता के रुधिर तत्त्व से उत्पन्न होते हैं। इस स्थान पर इस बात का विधान है कि "**आत्मन अर्थात् पितृशरीराज्जात:**"—पिता के शरीर से उत्पन्न हुआ, जैसे भरत का पुत्र आदित्ययश। "आत्मा वै जायते पुत्र:" इस उक्ति के अनुसार पिता की आत्मा ही पुत्र के रूप में अवतरित होती है, और प्रथम पुत्र में पिता के शारीरिक तत्त्व अधिक रहते हैं। यही कारण है कि हमारे देश में ज्येष्ठ पुत्र को ही पारिवारिक दायित्व समर्पित किए जाते है।

२. क्षेत्रज—इस स्थान पर क्षेत्र शब्द का अर्थ भार्या है, उससे उत्पन्न होने वाले पुत्र को क्षेत्रज कहते हैं। अथवा जो किसी रोगी, असमर्थ या अयोग्य व्यक्ति की बिना सतान वाली स्त्री या मृत पुरुष की बिना सतान वाली विधवा से दूसरे पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ हो, वह पुत्र भी क्षेत्रज कहलाता है।[१] अथवा जो पुत्र माता के नाम से प्रसिद्ध हो, वह भी क्षेत्रज कहलाता है।

३. दत्तक—जो दूसरे को दे दिया जाए, वह दत्तक कहलाता है। अर्थात् जो गोद लिया पुत्र हो, वही दत्तक है।

४. विनयित—जो अध्यापक अपने छात्रों को पुत्र तुल्य समझता है, और अक्षर-ज्ञान या धार्मिक ज्ञान देते समय जो गुरु शिष्य को पुत्र की तरह मानता है, ऐसे पुत्र व शिष्य को विनयित कहते हैं।

५. औरस—समान जाति की विवाहिता स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र अथवा जिस बच्चे को किसी व्यक्ति पर अपने पिता के समान स्नेह पैदा हो गया हो, वह बच्चा भी औरस पुत्र कहलाता है।

---

१ क्षेत्रं–भार्या तस्या: जात क्षेत्रजो यथा पण्डो· पाण्डवा·, लोकरूढ्या तद्भार्याया: कुन्त्या एव तेषा पुत्रत्वात्, न तु पण्डो: धर्मादिभिर्जनितत्वादिति। –इति वृत्तिकार ।

६. **मौखर**—जो किसी की स्तुति-चापलूसी एव खुशामद करके अपने आपको किसी का पुत्र कहाता है, इस दृष्टि से स्तुति-पाठक या खुशामदी व्यक्ति भी मौखर पुत्र कहलाता है।

७. **शौंडीर**—रणांगण में कोई शूर पुरुष किसी दूसरे पुरुष को अपने अधीन कर लेता है, तब वह अधीन किया हुआ पुरुष यदि अपने को उसका पुत्र मानने लग जाए, तो वह शौण्डीर पुत्र कहलाता है। विजय किए हुए देशवासियो को भी शौण्डीर पुत्र कहा जा सकता है। इसी से राजा को राष्ट्रपिता माना जाता है।

८. **संवर्द्धित**—भोजन आदि देकर जिस अनाथ बालक को पाला-पोसा जाए, उसे संवर्द्धित पुत्र कहा जाता है।

९. **उपयाचित**—देव या देवी की आराधना करने से जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे उपयाचित पुत्र कहते हैं। जैसे अंतकृत् दशा में बताया है कि सुलसा सेठानी के ६ पुत्र थे तथा गजसुकुमारादि देव-आराधना से प्राप्त हुए थे।

१०. **अतेवासी**—जो गुरु के समीप रहे, उसे अतेवासी कहते है। धर्म उपार्जन के लिए या सयमी जीवन का निर्वाह करने के लिए जो धर्म-गुरु के समीप रहता है या विनय-भक्ति से गुरु के हृदय में निवास करता है, उसे अंतेवासी-शिष्य कहते हैं। शिष्य भी धर्म-शिक्षा की अपेक्षा से अतेवासी पुत्र कहलाता है। उत्तराध्ययन सूत्र के पहले अध्ययन मे "**बुद्धपुत्त नियागट्ठी**" के रूप मे मोक्षार्थी शिष्य को आचार्य का पुत्र माना गया है। आचार्य के अंतेवासी को सूत्रकार ने पुत्र कहा है। पुत्रवत् स्नेह होन के कारण व्यवहार नय के मत से पुत्र दस प्रकार के कहे है।

केवली के दस अनुत्तर

मूल—केवलिस्स णं दस अणुत्तरा पण्णत्ता, तं जहा—अणुत्तरे णाणे, अणुत्तरे दंसणे, अणुत्तरे तवे, अणुत्तरे चरित्ते, अणुत्तरे वीरिए, अणुत्तरा खंती, अणुत्तरामुत्ती, अणुत्तरे अज्जवे, अणुत्तरे मद्दवे, अणुत्तरे लाघवे॥६२॥

छाया—केवलिनो दश अनुत्तराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अनुत्तरं ज्ञानम्, अनुत्तरं दर्शनम्, अनुत्तरं तपः, अनुत्तरं चारित्रम्, अनुत्तरं वीर्यम्, अनुत्तरा क्षान्तिः, अनुत्तरा मुक्तिः, अनुत्तरं मार्जवम्, अनुत्तरं मार्दवम्, अनुत्तरं लाघवम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—केवली के दश अनुत्तर अर्थात् प्रधान वर्णन किए गए हैं, जैसे—प्रधानज्ञान, प्रधान दर्शन, प्रधान चारित्र, प्रधान तप, प्रधान शक्ति, प्रधान क्षमा, प्रधान निर्लोभता, प्रधान सरलता, प्रधान कोमलता और प्रधान लाघव।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे दस प्रकार के पुत्रो का वर्णन किया गया है। उनमें से अन्तिम पुत्र धर्मान्तेवासी बताया गया है। धर्मान्तेवासी अर्थात् साधना-सम्पन्न शिष्य ही केवली होने के प्रत्याशी होते हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र में केवली भगवान के दस अनुत्तर गुणों का वर्णन किया गया है। जिससे कोई गुण अन्य वस्तु प्रधान न हो, अथवा जो गुण या वस्तु सबसे उत्तम हो, उसे अनुत्तर कहते हैं।[1]

केवली मे जो दस अनुत्तर अर्थात् विशेषतम गुण होते हैं, उनका विवरण इस प्रकार है—

१. **अनुत्तर ज्ञान**—ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय कर देने के कारण केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। केवल ज्ञान से बढ़कर दूसरा कोई ज्ञान नही है। इस कारण केवली भगवान का ज्ञान अनुत्तर माना जाता है।

२. **अनुत्तर दर्शन**—दर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय कर देने से उन्हे केवल दर्शन उत्पन्न होता है। चार दर्शनों में केवलदर्शन प्रधानतम दर्शन है और वह केवली में होता है।

३. **अनुत्तर चारित्र**—जैसे पांच ज्ञानो मे केवल ज्ञान और चार दर्शनों मे केवलदर्शन की प्रधानता है, वैसे ही पाच चारित्रो मे यथाख्यात चारित्र की प्रधानता है। मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय करने से अनुत्तर चारित्र उत्पन्न होता है, यह अनुत्तर चारित्र भी केवली में ही हुआ करता है।

४. **अनुत्तरतप**—केवली के द्वारा जो शुक्ल ध्यानादि रूप तप किया जाता है, वह तप भी अनुत्तर तप होता है।

५ **अनुत्तरवीर्य**—अन्तराय कर्म के आत्यन्तिक क्षय करने से आत्मा में अनन्त शक्तियां उत्पन्न होती है। जिस शक्ति से बढ़कर अन्य कोई शक्ति न हो, उसे अनुत्तरवीर्य कहते है। यह शक्ति भी केवली में ही होती है।

६. **अनुत्तर क्षान्ति**—जब तक आत्मा में क्रोध, ईर्ष्या और द्वेष की सत्ता है, तब तक क्षमा या शान्ति ससीम रहती है। उन प्रकृतियों के सर्वथा क्षय करने से ही नि:सीम क्षमा एव शान्ति का केवली में आविर्भाव होता है।

७. **अनुत्तर मुक्ति**—लोभ की मंदता मे भी सतोष की सीमा बनी ही रहती है। लोभ प्रकृति के सर्वथा विलय होने पर लोभ और परिग्रह से छुटकारा पाना ही मुक्ति है, जिस को दूसरे शब्दों मे परम-सतोष कह सकते है। इस प्रकार का अनुत्तर-सतोष भी केवली मे ही पाया जाता है।

८. **अनुत्तर-आर्जव**—माया-ममता से सर्वथा विलग होने पर ही सोलह कला पूर्ण आर्जव गुण केवली भगवान मे ही उत्पन्न होता है।

---

१ नास्त्युत्तर प्रधानतर येभ्यस्तान्युत्तराणि, इति वृत्तिकार

९. **अनुत्तर-मार्दव**—आत्मा में कठोरता उत्पन्न करने वाला अवगुण मान है। उस से सदा के लिए सर्वथा निवृत्त हो जाना ही अनुत्तर-मार्दव गुण है, वह भी केवली में उत्पन्न होता है।

१०. **अनुत्तर लाघव**—घाति कर्मो के क्षय होने पर केवली के हृदय पर किसी भी प्रकार का सांसारिक बोझ नहीं रह जाता, केवली मे यह गुण अनुपम ही होता है। क्षान्ति आदि पाचों यथाख्यात चारित्र के ही भेद हैं और वे चारित्र मोहनीयकर्म के क्षय से ही उत्पन्न होते है। सामान्य मुनि इनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न-शील रहते हैं।

अनुत्तर-ज्ञान और अनुत्तर-दर्शन, ये दो साध्य है, शेष आठ गुण साधन है। साधन के बिना साध्य का ज्ञान नहीं हो सकता है और ज्ञानाभाव मे उसकी प्राप्ति असम्भव ही हो जाती है। ये दस अनुत्तर-गुण प्रत्येक साधक के लिए साध्य-रूप है, अत: इन्हे मनुष्य-जीवन का ध्येय माना जा सकता है।

मनुष्यलोक में सर्वोत्तम भोग भूमि

मूल—समयखेत्ते णं दस कुराओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पंचदेवकुराओ, पंच उत्तरकुराओ। तत्थ णं दस महइमाहल्लया महद्दुमा पण्णत्ता, तं जहा—जंबू सुदंसणे, धायइरुक्खे, महाधायइरुक्खे, पउमरुक्खे, महापउम-रुक्खे। पंच कूडसामलीओ। तत्थ णं दस देवा महिड्ढिया जाव परिवसंति, तं जहा—अणाढिए जंबुद्दीवाहिवई सुदंसणे, वियदंसणे, पोंडरीए, महा-पोंडरीए। पंच गरुला वेणुदेवा॥६३॥

छाया—समयक्षेत्रे दश कुरवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पञ्चदेवकुरवः, पञ्च उत्तरकुरवः। तत्र दश महातिमहालया महावृक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जम्बूसुदर्शनः, धातकीवृक्षः, महाधातकीवृक्षः, पद्मवृक्षः, महापद्मवृक्षः। पञ्च कूटशाल्मलयः। तत्र दश देवा महर्द्धिका यावत् परिवसन्ति, तद्यथा—अनादृतो जम्बूद्वीपाधिपतिः सुदर्शनः, प्रियदर्शनः, पुण्डरीकः, महापुण्डरीकः। पञ्च गरुडा वेणुदेवाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—समयक्षेत्र-ढाई द्वीप परिमाण मनुष्य क्षेत्र मे दश कुरु वर्णन किए गए हैं, जैसे—पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु। वहां पर अतिविस्तार वाले दस महावृक्ष कहे गए हैं, यथा—जम्बूसुदर्शन, धातकीवृक्ष, महाधातकीवृक्ष, पद्मवृक्ष और महापद्मवृक्ष। पाच कूट शाल्मलि वृक्ष है। वहा दश महान् ऋद्धि वाले दश देव यावत् निवास करते है, जैसे—अनादृत जम्बूद्वीपाधिपति, सुदर्शन, प्रियदर्शन, पुण्डरीक, महापुण्डरीक तथा पांच गरुडवेणुदेव।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में दस अनुत्तरों का वर्णन किया गया है, अनुत्तर-ज्ञान दर्शनादि से सम्पन्न केवली ही विशाल लोक का परिचय दे सकते हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र में विशाल समय क्षेत्र का वर्णन किया गया है।

चन्द्रमा एवं सूर्य की गति से व्यावहारिक काल माना जाता है। चन्द्र-सूर्य की गति अढाई द्वीप के अन्तर्गत ही है। इसी कारण ढाई द्वीप को समयक्षेत्र कहते हं। उसमे एक देवकुरु और एक उत्तरकुरु जंबूद्वीप में, दो देवकुरु और दो उत्तरकुरु, धातकी खण्ड मे, इसी तरह दो देवकुरु और दो उत्तरकुरु पुष्करार्द्धद्वीप मे है। समयक्षेत्र मे कुल पाच देवकुरु है और पांच उत्तरकुरु हैं। इन पाच उत्तरकुरुओं मे पाच महावृक्ष है, जिनके नाम हैं—जम्बू-सुदर्शन, धातकी वृक्ष, महाधातकी वृक्ष, पद्मवृक्ष और महापद्म वृक्ष। ये वृक्ष अति विशाल एव सदाकाल भावी हैं। पांच देवकुरुओं मे पांच कूटशाल्मली वृक्ष है, वे वृक्ष भी अतिविशाल एव सदाकाल भावी हैं।

सुदर्शन नामक जंबूवृक्ष पर अनादृत नाम का देव रहता है, जिसका आधिपत्य इस जबूद्वीप पर है। शेष चार वृक्षो पर क्रमश: सुदर्शन, प्रियदर्शन, पौंडरीक और महापौडरीक नामक देवों का आधिपत्य है।

पाच कूटशाल्मली वृक्षो पर पाच गरुडवेणुदेवो का निवास है। इनका पूर्ण विवरण जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति तथा जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति मे प्राप्त होता है।

अवगाढ दु:षम और सुषम काल के लक्षण

मूल—दसहिं ठाणेहिं ओगाढं दुस्समं जाणेज्जा, तं जहा—अकालेवरिसइ, काले न वरिसइ, असाहू पूइज्जंति, साहू ण पूइज्जंति, गुरुसु जणो मिच्छं पडिवन्नो, अमणुण्णा सद्दा जाव फासा।

दसहिं ठाणेहिं ओगाढं सुसमं जाणेज्जा, तं जहा—अकाले न वरिसइ, तं चेव विवरीयं जाव मणुण्णा फासा ॥६४॥

छाया—दशभि: स्थानैरवगाढां दुष्षमां जानीयात्, तद्यथा—अकाले वर्षति, काले न वर्षति, असाधव: पूज्यन्ते, साधवो न पूज्यन्ते, गुरुषु जनो मिथ्यां प्रतिपन्न:, अमनोज्ञा: शब्दा:, यावत्स्पर्शा:।

दशभि: स्थानैरवगाढां सुषमां जानीयात्, तद्यथा—अकाले न वर्षति, तदेव विपरीतं यावन्मनोज्ञा: स्पर्शा:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस कारणों से विषम समय जाना जाता है, जैसे—बिना समय वर्षा होती है, समय पर वर्षा नहीं होती, असाधुजन पूजा प्राप्त करते हैं, साधुजनों की

पूजा नही होती, अपने गुरुजनों पर मिथ्याभाव का होना, अमनोज्ञ शब्द यावत् अमनोज्ञ स्पर्श का होना।

दश कारणो से सुषम समय का ज्ञान होता है, जैसे—अकाल में नहीं बरसता, वही उपर्युक्त सभी कारण विपरीत हो यावत् मनोज्ञ स्पर्श जानने चाहिएं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे समयक्षेत्र का वर्णन किया गया है। वह समय-क्षेत्र विभिन्न समयों में दु:षम-सुषम कालो से व्याप्त होता है। अत: प्रस्तुत सूत्र मे अतीव दु:षम और सुषम काल को जानने के लक्षण बतलाए गए हैं। दस कारणो से दुषम काल की पहचान की जा सकती है, जैसे कि—

१. अकाल मे वृष्टि का होना। २ काल मे वृष्टि का न होना।

३. असाधुओं की पूजा का होना। ४ साधुओ की पूजा का न होना।

५. मान्य पुरुषो की विनय-भक्ति और आज्ञा पालन का अभाव हो जाना।

६. अमनोज्ञ शब्दो का होना। ७. अमनोज्ञ रूप का होना।

८. अमनोज्ञ गध का होना। ९ अमनोज्ञ रस का होना।

१०. अमनोज्ञ स्पर्श का होना।

सुनने के लिए भयावने एव अनिष्ट शब्द, देखने के लिए भयावह रूप, सूंघने के लिए दूषित वायु, चखने के लिए या खाने-पीने के लिए अनिष्ट रस, अनिष्ट खान-पान रोगादि वर्धक, अनिष्ट वायु का प्रकोप। जब ये सब बाते समुच्चय रूप से किसी क्षेत्र में व्याप्त हों, तब उक्त दस लक्षणो के द्वारा दु:षम काल का अवतरण जान लेना चाहिए।

अतीव सुषम काल के दस लक्षण

१. उचित समय पर वर्षा का होना।

२ अनावश्यक वर्षा का न होना अर्थात् अतिवृष्टि और अनावृष्टि का न होना।

३ असाधुओ की पूजा का न होना।

४. साधुजनो की पूजा प्रतिष्ठा का होना। इन लक्षणो से भी सुषमकाल की परख होती है।

५. जब माननीय लोगो का मान-सम्मान, विनय, भक्ति, आज्ञापालन सम्यक्तया हो रहा हो, तब यह लक्षण भी सुकाल का माना जाता है।

६. सुनने को मधुर शब्द प्राप्त होते हों।

७ देखने के लिए मनोहारी दृश्य मिलते हो।

८. सूघने के लिए सुरभित पदार्थ सुलभ हो।

९ खान-पान के लिए सरस पदार्थ सुलभ हो।

१०. छूने के लिए मन भाते पदार्थ सुलभ हो।

इन दस लक्षणों से जाना जाता है कि यह समय सुखप्रद है, क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र और काल भी सुख-दु:ख की अनुभूति में निमित्त कारण होते है।

सुषम-सुषमा काल के कल्पवृक्ष

मूल—सुसमसुसमाए णं समाए दसविहा रुक्खा उवभोगत्ताए हव्वमा-गच्छंति, तं जहा—

मत्तंगा य भिंगा तुडियंगा दीव जोइ चित्तंगा।
चित्तरसा मणियंगा गेहागारा अणियणा य॥६५॥

छाया—सुषमसुषमायां समायां दशविधा वृक्षा उपभोग्यतया हव्यमागच्छन्ति, तद्यथा—

मत्तङ्गाश्च भृताङ्गास्त्रुटिताङ्गा दीप-ज्योति-श्चित्राङ्गा।
चित्ररसाः मण्यङ्गा गेहाकारा अनग्नाश्च॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सुषमसुषमा काल मे दश प्रकार के वृक्ष (कल्पवृक्ष) मनुष्यों के उपभोग के लिए उपस्थित होते है, जैसे—मत्तगक, भृंगक, त्रुटितांग, दीप, ज्योति, चित्राङ्ग, चित्ररस, मण्यङ्ग, गृहाकार और अनग्न।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में दु:षम एवं सुषमकाल के लक्षणों का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार काल वर्णन की उसी परम्परा मे सुषम-सुषमा काल के कल्पवृक्षों का वर्णन करते हैं। पाच भरत और पाच ऐरावत, इन दस क्षेत्रो मे अनादि काल से क्रमश· उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दो काल समय-समय पर आते और जाते रहते है। प्रत्येक काल के छ:-छ: विभाग अर्थात् आरक होते है। उत्पसर्पिणी काल मे उत्तम और शुभ पदार्थो की उत्पत्ति तथा निकृष्ट एवं अशुभ पदार्थो का ह्रास क्रमश. होता जाता है। अवसर्पिणीकाल मे इससे विपरीत होता है।

अवसर्पिणीकाल के पहले आरे मे और उत्सर्पिणी काल के छठे आरे मे तथा देवकुरु एव उत्तरकुरु अकर्मभूमि में उत्पन्न होने वाले योगलिक मनुष्यों की आवश्यकताओं को पूरी करने वाले वृक्ष कल्पवृक्ष कहलाते है। वे कल्पवृक्ष दस प्रकार के होते है, जैसे कि—

१. **मत्तंगा**—शरीर के लिए पौष्टिक रस देने वाले।

२. **भृताङ्गा**—आवश्यकतानुसार भोजनादि देने वाले।

३. **त्रुटिताङ्गा**—मनोरजन के लिए वादिंत्रादि देने वाले।

४. **दीपाङ्गा**—दीपक का काम देने वाले, जैसे खद्योत के पख प्रकाशक होते हैं, वैसे ही वृक्ष के सभी अवयव प्रकाशक होते हैं।

५. **ज्योतिरंगा**—सूर्य के समान प्रकाश करने वाले कल्पवृक्ष। वैसे तो अग्नि को भी ज्योति कहते है, किन्तु उस काल मे वहा अग्नि का अभाव होता है।

६. **चित्रांगा**—नाना प्रकार के फूल और फूलमालाए देने वाले।

७. **चित्ररसा**—नाना प्रकार के रसीले भोजन देने वाले।

८. **मण्यगा**—सब तरह के आभूषण देने वाले।

९. **गेहाकारा**—मकान की तरह आश्रय देने वाले।

१०. **अनग्ना**—सब तरह के वस्त्र देने वाले। इन वृक्षो का विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति में प्राप्त होता है।

अतीत एवं भावी उत्सर्पिणी के कुलकर

मूल—जंबूदीवे दीवे भरहे वासे तीयाए उस्सप्पिणीए दस कुलगरा हुत्था, तं जहा—

सयज्जले सयाऊ य, अणंतसेणे य अमियसेणे।
तक्कसेणे भीमसेणे, महाभीमसेणे य सत्तमे॥
दढरहे दसरहे सयरहे।

जंबूदीवे दीवे भारहे वासे आगमीसाए उस्सप्पिणीए दस कुलगरा भविस्संति, तं जहा—

सीमंकरे, सीमंधरे, खेमंकरे, खेमंधरे, विमलवाहणे, संमुई, पडिसुए, दढ़धणू, दसधणू, सयधणू॥ ६६॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां दश कुलकरा अभवन्, तद्यथा—

शतज्वलः शतायुश्च, अनन्तसेनश्च, अमितसेनः।
तर्कसेनो भीमसेनः, महाभीमसेनश्च सप्तमः॥
दृढ़रथो दशरथः शतरथः।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भारतेवर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां दश कुलकरा भविष्यन्ति, तद्यथा—सीमङ्करः, सीमन्धरः, क्षेमङ्करः, क्षेमन्धरः, विमलवाहनः, संमुचिः, प्रतिश्रुतः, दृढ़धनुः, दशधनुः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष नामक क्षेत्र में अतीत उत्सर्पिणी काल मे दस कुलकर हुए, जैसे शतज्वल, शतायु, अनन्तसेन, अमितसेन, तर्कसेन, भीमसेन, महाभीमसेन, दृढ़रथ, दशरथ, शतरथ।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भारतवर्ष क्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी में दश कुलकर होंगे, जैसे—सीमंकर, सीमधर, क्षेमकर, क्षेमंधर, विमलवाहन, सर्मुचि, प्रतिश्रुत, दृढ़धनु, दशधनु, शतधनु।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सुषम-सुषमा काल के कल्पवृक्षों का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उसी परम्परा के अन्तर्गत उत्सर्पिणी काल मे भूतकालीन एवं भावी कुलकरो का परिचय देते हैं।

कुलकर का अर्थ है विशिष्ट बुद्धि संपन्न, कुल व्यवस्थापक पुरुष विशेष।[१] युगादि मे लोकव्यवस्था, राजनीति व्यवस्था और कुलव्यवस्था करने वाले कुलकर ही होते है। इन्हें ही वैदिक परम्परा में मनु कहा गया है। गत उत्सर्पिणी काल मे भरत क्षेत्र मे दस कुलकर हुए है, जैसे कि—शतज्वल, शतायु, अनंतसेन, अमितसेन, तर्कसेन, भीमसेन, महाभीमसेन, दृढरथ, दशरथ और शतरथ।

आने वाले उत्सर्पिणी काल मे भी दस कुलकर होंगे, उनके नाम इस प्रकार होगे—सीमकर, सीमंधर, क्षेमंकर, क्षेमधर, विमलवाहन, समुचि, प्रतिश्रुत, दृढधनु, दशधनु और शतधनु।

इन कुलकरों का पूर्ण विवरण काल चक्र के अनुसार जानना चाहिए। इस प्रकरण मे वर्तमान अवसर्पिणी काल मे होने वाले कुलकरो के नामों का उल्लेख इसलिए नही किया गया क्योंकि इस अवसर्पिणी में कही पर सात कुलकरो का और कही पर पन्द्रह कुलकरो का उल्लेख प्राप्त होता है, दस का नही।

वक्षस्कार पर्वत

मूल—जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं सीताए महाणईए उभओ कूले दस वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—मालवंते, चित्तकूडे, विचित्तकूडे, बंभकूडे, जाव सोमणसे।

जंबुमंदरपच्चत्थिमेणं सीओयाए महानईए उभओकूले दस वक्खार-पव्वया पण्णत्ता, तं जहा—विज्जुप्पभे, जाव गंधमायणे।

एवं धायइसंडपुरच्छिमद्धे वि वक्खारा भाणियव्वा जाव पुक्खर-वरदीवद्धपच्चत्थिमद्धे॥६७॥

१ कुलकरणशीलकुलकरा विशिष्टबुद्ध्या लोकव्यवस्थाकारिण., पुरुष विशेष ।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्ये शीताया महानद्या उभयतः कूले दश वक्षस्कार पर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—माल्यवान्, चित्रकूटः, विचित्रकूटः, ब्रह्मकूटः यावत् सौमनसः।

जम्बूमन्दरपाश्चात्ये शीतोदायाः महानद्या उभयतः कूले दश वक्षस्कार पर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—विद्युत्प्रभो यावद् गन्धमादनः।

एवं धातकीषण्ड पौरस्त्यार्द्धेऽपि वक्षस्कारा भणितव्या यावत्पुष्करवर-द्वीपार्द्धपाश्चात्यार्द्धे।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर पर्वत के पूर्व में शीता महानदी के दोनों किनारों पर दस वक्षस्कार पर्वत वर्णन किए गए है, जैसे—माल्यवान्, चित्रकूट, विचित्रकूट, ब्रह्मकूट से लेकर सौमनस तक।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर पर्वत के पश्चिम में शीतोदा महानदी के दोनों तटों पर दश वक्षस्कार पर्वत वर्णन किए हैं, जैसे—विद्युत्प्रभ से लेकर गन्धमादन तक।

इसी प्रकार धातकीषण्डद्वीप के पूर्वार्द्ध में भी वक्षस्कार कथन करने चाहिएं यावत् पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पश्चिम में जानने चाहिएं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में भरत क्षेत्र के कुलकरो का वर्णन किया गया है। महाविदेह क्षेत्र भी जम्बूद्वीप का एक अंग है, अतः अब सूत्रकार जम्बूद्वीप के अगभूत बीस वक्षस्कार पर्वतों का वर्णन करते है। जिन पर्वतों की ऊचाई गहराई एवं परिधि आदि सम हो, जिनका सौन्दर्य और सौरभ्य भी सम हो वे सब वक्षस्कार कहलाते हैं। जम्बूद्वीप के मन्दर पर्वत से पूर्व की ओर शीता नामक महानदी बहती है जो कि पूर्व महाविदेह को दो भागो में विभक्त करती हुई लवण समुद्र मे मिल जाती है। इसी तरह मदर पर्वत से पश्चिम की ओर एक शीतोदा महानदी पश्चिम महाविदेह को दो हिस्सो में विभाजन करती हुई पश्चिम समुद्र में जा मिलती है। दोनो महानदियो के उत्तर और दक्षिण दोनो तटों पर दस-दस वक्षस्कार पर्वत है। शीता महानदी के उत्तरी तट पर पांच वक्षस्कार पर्वत है, उनमे माल्यवंत वक्षस्कार पर्वत उत्तरकुरु में है। शेष क्रमशः कच्छ, महाकच्छ, आवर्त्त और पुष्कर इन चार विजयों में एक-एक वक्षस्कार पर्वत है।

शीता महानदी के दक्षिण तट पर पांच वक्षस्कार पर्वत हैं। उनमें से एक वत्स विजय में है, दूसरा महावत्स में, तीसरा वत्सक मे और चौथा रमणीय विजय में है, किन्तु सौमनस वक्षस्कार पर्वत देवकुरु क्षेत्र मे गजदंताकार है।

इसी प्रकार दस वक्षस्कार पर्वत शीतोदा महानदी के दक्षिणी और उत्तरी तट पर हैं। उनमें विद्युत्प्रभ देवकुरु में है और गंधमादन उत्तरकुरु मे है। शेष आठ चक्रवर्ती विजयों में हैं।

इसी तरह धातकीखड और अर्द्धपुष्कर द्वीप के वक्षस्कार पर्वतो का वर्णन भी जान लेना चाहिए। 'वक्खार' के संस्कृत रूप वक्षस्कार और वक्षार दोनो तरह के मिलते हैं।

इन्द्राधिष्ठित कल्प और इन्द्र

मूल—दस कप्पा इंदाहिट्ठिया पण्णत्ता, तं जहा—सोहम्मे जाव सहस्सारे, पाणे, अच्चुए।

एएसु णं दससु कप्पेसु दस इंदा पण्णत्ता, तं जहा—सक्के, ईसाणे जाव अच्चुए।

एएसु णं दसण्हं इंदाणं दस परिजाणियविमाणा पण्णत्ता, तं जहा—पाले, पुप्फए जाव विमलवरे, सव्वओभद्दे॥६८॥

छाया—दश कल्पा इन्द्राधिष्ठिता· प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सौधर्मो यावत्सहस्त्रार:, प्राणत:, अच्युत:।

एतेषु दशसु कल्पेषु दश इन्द्रा., प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शक्र: ईशानो यावदच्युत:।

एतेषु दशानामिन्द्राणां दश पारियानिकविमानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पालक., पुष्पको यावद् विमलवर:, सर्वतोभद्र:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दश कल्पदेवलोक इन्द्राधिष्ठित कहे गए हैं, जैसे कि सौधर्म यावत् सहस्त्रार, प्राणत और अच्युत।

इन दोष कल्पों मे दस इन्द्र कहे गए है, यथा—शक्र, ईशान यावत् अच्युत।

इन दस कल्पों में दस इन्द्रो के दस पारियानिक विमान कहे गए है, जैसे—पालक, पुष्पक यावत् विमलवर तथा सर्वतोभद्र।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे मध्य लोक का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उसी परम्परा मे ऊर्ध्वलोक का वर्णन करते हैं। दस वैमानिक देवलोक इन्द्राधिष्ठित है। इन्द्र पद सबसे बड़ा देव पद है और छोटा देव पद आभियोगिक देवो का होता है। मध्य मे जितने भी देवपद हैं, उन सबका ग्रहण इन्द्र पद से हो जाता है। जहां राजनीति होती है, वहीं छोटे-बड़े का व्यवहार होता है। इस सूत्र से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि देवलोकों मे भी राजा-प्रजा, शास्य-शासक, उच्चतर एव निम्नतर अधिकारी हुआ करते है। पहले देवलोक से लेकर

आठवें देवलोक तक तो क्रमशः आठ इन्द्र हैं। दसवे और बारहवें देवलोक में दो इन्द्रों का निवास है। नौवें और ग्यारहवे देवलोक में इन्द्र तो नहीं है, किन्तु उन पर क्रमश १० वें १२ वें देवलोक के इन्द्रो का आधिपत्य है। इन्द्रों की अपेक्षा से दस कल्प इन्द्राधिष्ठित कथन किए गए हैं। इन दस इन्द्रों के दस पारियानिक विमान है। जब ये इन्द्र देशान्तर मे गमन करते हैं, तब आभियोगिक देव अपनी वैक्रिय शक्तियो द्वारा विमान तैयार करते हैं। ये विमान शाश्वत नहीं है। किन्तु विमानों के नाम शाश्वत हैं, उनके नाम हैं—पालक, पुष्पक, सौमनस, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, कामकम, प्रीतिगम, मनोरम, विमलवर और सर्वतोभद्र।

जिस देवलोक का जो नाम है इन्द्र का भी वही नाम है। जैसे सौधर्मेन्द्र, अच्युतेन्द्र आदि। सौधर्मेन्द्र को जब कहीं जाना होता है, तब वह पालक नाम के आभियोगिक अनुचर को विमान बनाने के लिए आज्ञा देता है। इसी तरह यह कार्य-विभाग जिसके आधीन है, वही विमान बनाता है, अन्य नही। जो अनुचर का नाम है, वही पारियानिक विमान का भी नाम है।[1]

दश-दशमिका-भिक्षु प्रतिमा

मूल—दसदसमिया णं भिक्खुपडिमा णं एगेण राइंदियसएणं अद्ध-छट्ठेहिं य भिक्खासएहिं अहासुत्ता जाव आराहियावि भवइ॥६९॥

छाया—दशदशमिका खलु भिक्षुप्रतिमा एकेन रात्रिन्दिवशतेन अर्द्धषष्ठैश्च भिक्षाशतैर्यथासूत्रं यावदराधिताऽपि भवति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दश-दशमिका भिक्षुप्रतिमा एक सौ रात्रि दिनों में तथा साढे पांच सौ भिक्षाओं से सूत्रानुसार यावत् आराधना की जाती है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे इन्द्राधिष्ठित देवलोको आदि का वर्णन किया गया है। वे इन्द्र आदि वरिष्ठाधिकार सम्पन्न देव प्रतिमादि तप करने से ही उन विमानों में उत्पन्न होते हैं, अतः इस सूत्र में भिक्षु की दश-दशमिका प्रतिमा का वर्णन किया गया है। इस प्रतिमा की आराधना में १०० दिन लगते हैं और यह प्रतिमा ५५० भिक्षा की दत्तियों से सम्पन्न होती है। पहली दशमिका मे कुल दश दत्ति अन्न की और दस दत्ति पानी की। इस तरह दूसरी दशमिका में बीस दत्ति अन्न की और बीस दत्ति पानी की। इसी क्रम से दसवीं दशा में १०० दत्ति अन्न की और १०० दत्ति पानी की ग्रहण की जाती है। इसमें दत्तियो की कुल संख्या ५५० होती है।

---

१ इन कल्प देवलोको और इन्द्रो का विस्तृत स्वरूप प्रज्ञापना सूत्र के पहले पद मे तथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगमो से जानना चाहिए।

दसदसमिया भिक्खु पडिमा										
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१०
२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२०
३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३०
४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४०
५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५०
६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६०
७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७०
८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८०
९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९०
१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१००
१०० दिवसा ✷ ५५० दत्तिओ										

अभिग्रह विशेष को प्रतिमा कहते हैं। यहा **'जाव'** पद से **'अहाकप्पं', अहामग्गं, अहातच्चं, अहासम्मं, काएणं, फासिया, पालिया, सोहिया, तीरिया, किट्टिया'** इन पदों का संग्रह किया जाता है। स्थविर कल्प के अनुसार प्रतिमा की आराधना करना यथाकल्प है। रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का या क्षयो-पशमभाव का उल्लंघन न करना यथामार्ग है। तत्त्व के अनुसार या सत्य के अनुकूल पालन करना यथातत्त्व या यथातथ्य है। समता से पालन करना यथासाम्य है। काय से स्पर्श करना, न कि मनोरथमात्र से, उसे कायस्पृष्टा कहते हैं। निरन्तर सावधानी से पालन करना, पालिता है। पारने के दिन गुरु आदि द्वारा दिए गए अवशिष्ट भोजन से अथवा अतिचाररूप कीचड़ के प्रक्षालन करने के अनन्तर पारणा करना, शोधिता है। प्रतिमा का कालमान पूरा होने पर भी कुछ समय तक और उस मे अवस्थित रहना तीरिता है। ''अब मै पूर्णरूप से आराधित-प्रतिमा वाला हो चुका हूं'' इस तरह गुरु के समक्ष कहना, कीर्तित है। इस तरह सर्वपद मिलने से उक्त प्रतिमा की आराधना की जाती है।

संसार-समापन्नक जीव

मूल—दसविहा संसार-समावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—पढमसमय एगिंदिया, अपढमसमय एगिंदिया। एवं जाव अपढमसमय-पंचिंदिया।

दसविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया जाव वणस्सइ-काइया, बेंदिया जाव पंचेंदिया, अणिंदिया।

अहवा दसविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—पढमसमय-नेरइया, अपढमसमय-नेरइया जाव अपढमसमय देवा, पढमसमय-सिद्धा, अपढम-समय-सिद्धा ॥७०॥

छाया—दशविधाः संसारसमापन्नका जीवा. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रथमसमयैकेन्द्रियाः, अप्रथमसमयैकेन्द्रियाः। एवं यावद् अप्रथमसमय-पञ्चेन्द्रियाः।

दशविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिका यावद्वनस्पतिकायिकाः, द्वीन्द्रिय जाव पञ्चेन्द्रियः, अनिन्द्रियाः।

अथवा दशविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रथमसमयनैरयिकाः, अप्रथम-समयनैरयिकाः यावद् अप्रथमसमयदेवाः, प्रथमसमयसिद्धाः, अप्रथमसमयसिद्धाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दशविध संसार-समापन्नक जीव वर्णन किए गए हैं, जैसे—प्रथम समय के एकेन्द्रिय, अप्रथम समय के एकेन्द्रिय, इसी तरह यावत् अप्रथमसमय के पञ्चेन्द्रिय।

दशविध जीव वर्णन किए गए हैं, जैसे—पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय यावत् पञ्चेन्द्रिय और इन्द्रिय-रहित।

अथवा दस प्रकार के सब जीव हैं, यथा—प्रथम समय के नारकी, अप्रथमसमय के नारकी यावत् अप्रथम समय के देव, प्रथम समय के सिद्ध और अप्रथम समय के सिद्ध।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे वर्णित प्रतिमाभ्यास संसारी जीवो की रक्षा के लिए ही किया जाता है, अतः इस सूत्र में ससारी जीवो का वर्णन किया गया है। ससारी जीव दस प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

१ एकेन्द्रिय पर्याय मे आए हुए वे जीव, जिन्हे अभी पहला ही समय हुआ है।

२. एकेन्द्रिय पर्याय में आए हुए वे जीव, जिन्हें उत्पन्न हुए अनेक समय हो गए है।

३. द्वीन्द्रिय पर्याय में आए हुए वे जीव, जिन्हे उत्पन्न हुए अभी एक ममय ही हुआ है।

४. द्वीन्द्रिय पर्याय मे उत्पन्न हुए वे जीव, जिन्हें अनेक समय हो गए हैं।

५ त्रीन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न हुए वे जीव, जिन्हे अभी उत्पन्न हुए एक समय हुआ है।

६ त्रीन्द्रिय पर्याय मे उत्पन्न हुए वे जीव, जिन्हे अनेक समय हो गए है।

७ चतुरिन्द्रिय पर्याय मे आए हुए वे जीव, जिन्हे अभी उत्पन्न हुए एक समय हुआ है।

८ चतुरिन्द्रिय पर्याय मे उत्पन्न हुए वे जीव, जिन्हें उत्पन्न हुए अनेक समय हो गए हैं।

९. पचेन्द्रिय पर्याय में आए हुए वे जीव, जिन्हे अभी उत्पन्न हुए एक समय हुआ है।

१० पचेन्द्रिय पर्याय मे उत्पन्न हुए वे जीव, जिन्हें उत्पन्न हुए अनेक समय हो गए हैं।

आगे के दो सूत्रों मे सूत्रकार ने उन सभी जीवों का परिचय दिया है जो कि ससारी और मुक्त, इन दो भेदों मे समाविष्ट हो जाते है। ससारी जीवों पर दया और मुक्तात्माओं के प्रति श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिए। वह तभी हो सकती है जबकि उनका ज्ञान होगा, अतः जीवों का ज्ञान होना आवश्यक है। वे सब जीव इस प्रकार से हैं, जैसे कि—

पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय,

त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय। अनिन्द्रिय पद से सिद्ध भगवान, अपर्याप्त जीव तथा इन्द्रिय उपयोग रहित केवली भगवान गृहीत किए जाते हैं।

दस प्रकार के सर्व जीव निम्न प्रकार से भी होते हैं—जिन नारकियों को उत्पन्न हुए एक ही समय हुआ है, उन्हें प्रथम समय नैरयिक कहते हैं, जिनको उत्पन्न हुए अनेक समय हो गए हैं, उन्हें अप्रथम समय नैरयिक कहते हैं। इसी तरह तिर्यच, मनुष्य, देव और सिद्ध, इन पांच गतिक जीवों के प्रथमसामयिक और अप्रथमसामयिक इस प्रकार दो-दो भेद करने से दस भेद हो जाते हैं।

इस प्रकार अहिंसा की आराधना के लिए यहा जीवों के विविध रूपों का परिचय दिया गया है।

शतायु-पुरुष की दस दशाएं

मूल—वाससयाउस्स णं पुरिसस्स दस दसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

बाला किड्डा य मंदा य, बला पन्ना य हायणी।

पवंचा पब्भारा य, मुंमुही सावणी तहा॥७१॥

छाया—वर्षशतायुष्कस्य पुरुषस्य दश दशाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

बाला क्रीडा च मन्दा च, बला प्रज्ञा च हायनी।

प्रपञ्चा प्राग्भारा, मुङ्मुखी शायनी तहा॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जिस पुरुष की आयु सौ वर्ष की हो, उसकी दस अवस्थाएं होती हैं, जैसे—बाला, क्रीडा, मन्दा, बला, प्रज्ञा, हायनी, प्रपञ्चा, प्राग्भारा, मुङ्मुखी और शायनी।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे संसारी जीवों का वर्णन किया गया है। उन ससारी जीवों मे विभिन्न दशाए पाई जाती हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र मे शतायुष्क पुरुष की दस दशाओ का वर्णन किया गया है।

दशा के अनेक अर्थ होते है, जैसे कि—अवस्था-विशेष, स्थिति का प्रकार, दीपक की बत्ती, कपड़े का छोर आदि। मनुष्य के जीवन की दस अवस्थाए मानी गई है, जैसे कि गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगंड—१६ वर्ष की वय तक का बालक, यौवन, बुढ़ापा, प्राणरोध और नाश।

इस तरह अन्य-अन्य अर्थों में दशा शब्द का प्रयोग होता है। यहा सूत्रकार का अभिप्राय शरीर में होने वाली कालकृत अवस्था विशेष से है। यहां पर सौ वर्ष की आयु मानकर ये दस अवस्थाएं बतलाई गई हैं। दस-दस वर्ष की एक-एक अवस्था होती है।

इससे अधिक आयु वाले पुरुष की अवस्था जानने की विधि यह है कि जिस युग में प्राय: जितनी आयु मनुष्यो की पाई जाती है, उसके दस भाग बनाने चाहिएं। कल्पना कीजिए कि किसी की आयु एक हजार वर्ष की है। उस की १००-१०० वर्ष की एक दशा होगी। यदि किसी की आयु एक लाख वर्ष की है, तो उसकी दशा १००००-१०००० वर्ष की दस दशाएं बनेगी। इन दशाओ का स्वरूप इस प्रकार है।

१. बालदशा—जन्मकाल से लेकर दस वर्ष की अवस्था को बालदशा कहते है। इस दशा मे लाभ-हानि का, आजीविकादि का और सांसारिक सुख-दु:ख आदि का विशेष ज्ञान नही होता। तदुल वैचारिक प्रकीर्णक में इस दशा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"जायमेत्तस्स जंतुस्स जा सा पढमिया दसा।
न तत्थ सुह दुक्खाइं बहुं जाणंति बालया॥"

२. क्रीड़ादशा—इस दशा में विद्याध्ययन और तरह-तरह की क्रीडाए प्रधान होती हैं। इस अवस्था को पाकर प्राणी अनेक प्रकार की क्रीडाएं करता है, किन्तु काम-भोगादि विषयों की ओर उस का खिंचाव अधिक नही होता है। कहा भी है—

"विइयं च दसं पत्तो नाणा कीडाहिं कीडइ।
न तत्थ कामभोगेहिं तिव्वा उप्पज्जए मई॥"

इस दशा मे क्रीडा और विद्या की प्रधानता होती है, यह अपरिपक्व दशा प्राय· मैथुन-क्रीडा के योग्य नही होती।

३. मन्दा दशा—इस दशा में विशिष्ट बल-बुद्धि आदि कार्यो के दिखलाने मे समर्थ होने पर भी व्यक्ति असमर्थ हो जाता है, कारण कि विषयासक्ति बढ जाती है, इसीलिए इस दशा को मंदा कहते है। इस अवस्था को पाकर मनुष्य अपने घर मे विद्यमान भोगोपभोगो की सामग्री को भोगने में समर्थ होता है, किन्तु नए भोगादि सामग्री के उपार्जन करने मे असमर्थ होता है। कहा भी है—

"तइयं य दसं पत्तो आणुपुव्वीए जो नरो।
समत्थो भुंजिउं भोए जइ से अत्थि घरे धुवा॥"

अर्थात् इस दशा मे यद्यपि अर्थोपार्जन की क्रियाएं विशेष देखी जाती है, तथापि इसमें विशेष आसक्ति मैथुन-क्रीडा मे रहती है। उसकी प्राप्ति के लिए ही अर्थोपार्जन किया जाता है।

४. बाला—स्वस्थ व्यक्ति जब इस दशा में पहुच जाता है, तब वह अपना बल दिखाने में समर्थ हो जाता है। विकारो में भावना मद हो जाती है। अपने बल तथा शक्ति विशेष की वृद्धि होने से जनता को अपना बल-पराक्रम दिखाने मे विशेष रुचि रखता है। जैसे कि कहा भी है—

"चउत्थी य बला नाम जं नरो दसमस्सिओ।
समत्थो बलं दरिसेउं जइ होइ निरुवद्दवो॥"

५. प्रज्ञा—पांचवी दशा मे पहुंचने पर बुद्धि विकसित होती है। इस अवस्था के प्राप्त होने पर व्यक्ति में इच्छितार्थ को संपादन करने की तथा कुटुम्ब-वृद्धि की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। व्यापार में विशेष रुचि रहती है। धनवृद्धि के उपायों का चिन्तन विशेष उभर आता है और नेत्रो में कुछ निर्बलता आने लग जाती है, जैसे कि कहा भी है—

"पंचमिं च दसं पत्तो आणुपुव्वीए जो नरो।
इच्छियत्थं विचिंतेइ कुटुम्बं चाभिकंखई॥"

अर्थात् इस दशा मे धन-चिंता, कुटुंब-चिंता तथा अभीष्ट पदार्थो की चिंता विशेष रहती है।

६. हायनी—इस छठी दशा को प्राप्त होने पर मनुष्य की इन्द्रिया प्राय: अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में किंचित् हीनता को प्राप्त हो जाती हैं, शरीर भी क्षीण होने लग जाता है और काम की रुचि भी क्षीण हो जाती है, कहा भी है—

"छट्ठी उ हायणी नाम जं नरो दसमस्सिओ।
विरज्जइ य कामेसु इंदिएसु य हायइ॥"

अर्थात् इस दशा मे इन्द्रियो की हीनता और विषयों में अनासक्ति स्वाभाविकता से हो जाती है।

७ प्रपंचा—यह सातवीं दशा वृद्धता को प्रकट करती है। यह श्लेष्म, कफ-खासी आदि रोगों का विस्तार करती है, अत: शरीर निर्बल एव रोगाक्रान्त रहने लगता है। जैसे कि कहा भी है—

"सत्तमिं च दसं पत्तो आणुपुव्वीए जो नरो।
निच्छूहइ चिक्कणं खेलं खासइ य अभिक्खणं॥"

८. प्राग्भारा—इस दशा मे शरीर का सकुचित हो जाना और उसका अवनत हो जाना, स्त्रियों को भी प्रिय न लगना, जरा से पीडित होना, इन्द्रियों का शिथिल होना, बुढापे का घिर आना ये सब क्रियाए इस दशा को पाकर अपना प्रभाव दिखाती हैं। कहा भी है—

"संकुचिय बलीचम्मो संपत्तो अट्ठमिं दसं।
नारीणमणभिप्पेओ जराए परिणामिओ॥"

९. मुंमुही—इस दशा में शरीर बुढ़ापे से पूर्णतया घिर जाता है, मुह से आवाज भी अच्छी तरह नहीं निकलती, उसके लिए जीवन भी भारभूत बन जाता है, मृत्यु की आकाक्षा बढ जाती है। जैसे कि कहा भी है—

**"नवमी मुमुही नाम जं नरो दसमस्सिओ।
जराधरे विणस्संते जीवो वसइ अकामओ॥"**

१०. शायनी—इस अवस्था को प्राप्त मनुष्य अधिक निद्रालु बन जाता है। उसकी आवाज हीन-दीन और विकृत होने लग जाती है, वह अति दुर्बल एवं अति दुखित हो जाता है। इस दशा को प्राप्त जीव की वह हालत होती है जो सद्योजात बालक की होती है। वह अपनी इच्छा से हिल-डुल भी नहीं सकता, करवट भी नहीं बदल पाता, नीद एवं बेहोशी मे पडा रहता है, जीवन से लाचार हो जाता है, जैसे कि कहा भी है—

**"हीण भिन्नस्सरो दीणो, विवरीओ विचित्तओ।
दुब्बलो दुक्खिओ वसइ संपत्तो दसमिं दसं॥"**

दस दशाओ के दस सूत्र निम्नलिखित है, जिनका सक्षिप्त विवरण मननीय है, जैसे कि—

१. दसगस्स उवक्खेवो—बाल अवस्था के दस वर्ष मुण्डन आदि कई प्रकार के संस्कारो में व्यतीत हो जाते है।

२. वीसइ वरिसो उ गिण्हइविज्जं—बीस वर्ष तक विद्या-अध्ययन की ओर अधिक प्रवृत्ति होती है।

३. भोगा य तीसगस्स—तीस वर्ष तक भोग-विलास की ओर अधिक रुचि रहती है।

४. चत्तालीसस्स विन्नाणं—चालीस वर्ष तक बल और विज्ञान की वृद्धि होती है।

५. पण्णासगस्स चक्खू हायइ—पचास वर्ष के मध्यकालीन समयो मे नेत्रो की ज्योति घटने लग जाती है।

६. सट्ठिक्कस्स बाहुबलं—साठ वर्ष के आस-पास मनुष्य का बाहुबल भी क्षीण हो जाता है।

७. भोगा सत्तरिस्स य—सत्तर वर्ष की आयु मे भोगो की कामना भी क्षीण हो जाती है।

८. असीइगस्स य विन्नाणं—अस्सी वर्ष की आयु में विज्ञान भी मन्द पड़ जाता है।

९. नउइ नमइ सरीरं—नब्बे वर्ष की आयु में शरीर झुक जाता है।

१०. वाससए जीविय चयइ—सौ वर्ष की आयु पूरी होने पर मनुष्य अपने जीवन की आशा भी छोड़ देता है।

यह जीवन का दस सूत्री विकास एव ह्रास है। वस्तुत: प्रथम विकास भी अन्तिम ह्रास का ही बीज है, क्योकि उस विकास ने ह्रास के रूप में ही परिणत होना होता है। अत: साधक को इस जीवन-चर्या को लक्ष्य मे रखकर जीवन की विनाशशीलता को जानते हुए

ऐसा आचरण करना चाहिए, जिससे कि जीवन उस शाश्वत आत्म-तत्व की उपलब्धि कर सके, जिससे जन्म-जरा के कष्टों से मुक्ति प्राप्त हो।

तृण-वनस्पतिकाय

मूल—दसविहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता, तं जहा—मूले, कंदे, जाव, पुप्फे, फले, बीये ॥७२॥

छाया—दशविधास्तृणवनस्पतिकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मूलं, कन्दो यावत्पुष्पं, फलं, बीजम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस प्रकार के तृणवनस्पतिकायिक कथन किए गए है, यथा—मूल, कन्द, यावत्, पुष्प, फल और बीज।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे मानव-जीवन की दस दशाओं का वर्णन किया गया है। दस दशाओ में आत्मोत्थान करने के लिए प्रयत्नशील न होने वाले मरणधर्मा व्यक्ति तृण-वनस्पतिकायिक आदि मे जन्म लेकर नानाविध दु.खो को प्राप्त करते है, अत· प्रस्तुत सूत्र में तृणवनस्पति आदि के भेदो का निरूपण किया गया है।

तृण शब्द इस लिए ग्रहण किया गया है कि तृण- बादर वनस्पतिकाय के ही दस भेद होते हैं, सूक्ष्म के नहीं।

१. **मूल**—जड-जटादि, २. **कद**—स्कन्ध से नीचे का भाग, ३. **स्कन्ध**—जहां से शाखाए फूटती हैं, ४. **त्वक्**—वल्कल छाल आदि, ५. **शाखा**—धड़ या तने से इधर-उधर निकले हुए अंग डालियां आदि। ६. **प्रवाल**—अंकुर कोपले आदि, ७ **पत्र**, ८ **पुष्प**, ९. **फल** और १०. **बीज**। फूल वाले पौधो या अनाजो के वे दाने अथवा फलों की वह गुठलिया, जिनसे वैसे ही नए पौधे, अनाज या वृक्ष उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कोई प्रत्येक वनस्पतिकाय नहीं है।

विद्याधर श्रेणियां और आभियोगिक श्रेणियां

मूल—सव्वओवि णं विज्जाहरसेढीओ दस-दस जोयणाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते।

सव्वओवि णं आभिओगसेढीओ दस-दस जोयणाइं विक्खंभेणं पण्णत्ताओ ॥७३॥

छाया—सर्वा अपि विद्याधरश्रेण्यो दश-दश योजनानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः।

सर्वा अपि आभियोगिकश्रेण्यो दश-दशयोजनानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—विद्याधरों की सभी श्रेणियां दश-दश योजन विष्कम्भ की अपेक्षा से कही गई हैं। आभियोगिक देवों की सभी श्रेणियां विष्कम्भ की दृष्टि से दश-दश योजन की वर्णन की गई हैं।

विवेचनिका—बादर वनस्पति काय वैताढ्य पर्वत पर भी है, अतः इस सूत्र में दीर्घ वैताढ्य पर्वतो पर विद्याधर एवं अभियोगिक श्रेणियों की चौडाई का वर्णन किया गया है। जितने भी दीर्घवैताढ्य पर्वत हैं वे सब २४ योजन ऊचे हैं, पृथ्वी पर उनकी चौड़ाई ५० योजन की है। धरातल से दस योजन ऊपर जाकर दक्षिण और उत्तर दोनों ओर समतल भूमि भाग हैं, जिन की चौड़ाई दस-दस योजन की है। दक्षिण की ओर विद्याधरों के ५० नगर हैं और उत्तर की ओर ६० नगर हैं। ऐरवत क्षेत्र मे दीर्घवैताढ्य पर नगर-सख्या उक्त संख्या से विपरीत है। दक्षिण की ओर ६० और उत्तर की ओर ५० है, किन्तु महाविदेह क्षेत्र के ३२ विजयो मे एक-एक दीर्घवैताढ्य पर्वत है। प्रत्येक पर्वत पर दोनों ओर ५५-५५ विद्याधरो के नगर है। उस भूमि भाग से दस योजन ऊपर जाकर दस योजन चौडाई वाली दोनो ओर आभियोगिक देवो की दो श्रेणिया है। आभियोगिक देव उन्हे कहते हैं, जो शक्रेन्द्रादि इन्द्रों की और उनके लोकपाल—सोम, यम, वरुण और वैश्रवण की आज्ञा पालन करते है वैताढ्य पर्वत पर उनका निवास स्थान है।

आभियोगिक श्रेणियो के ऊपर का पर्वतीय भाग पाच योजन ऊंचा है और वह दस योजन चौड़ा है, वहा पर भी देवो का निवास है।

इन का विस्तृत स्वरूप जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति से जानना चाहिए। जंबूद्वीप मे दीर्घवैताढ्य पर्वतो की कुल सख्या ३४ है।

ग्रैवेयक विमानों की उच्चता

मूल—गेविज्जविमाणा णं दस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता ॥७४॥

छाया—ग्रैवेयकविमानानि दश योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—ग्रैवेयक विमान ऊंचाई की अपेक्षा से एक हजार योजन ऊंचे प्रतिपादन किए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वर्णित आभियोगिक श्रेणियां देवों के आवास-विशेष है और ग्रैवेयक विमान अहमिन्द्र देवो के आवास हैं। अब सूत्रकार आवास रूप उन ग्रैवेयक विमानो की ऊचाई का वर्णन करते हैं।

तेरहवें देवलोक से लेकर इक्कीसवें देवलोक तक देवलोको को ग्रैवेयक कहा जाता है। वे लोक-पुरुष के ग्रीवास्थानीय होने से ग्रैवेयक कहे जाते हैं। उन नौ देवलोको में जितने भी विमान हैं, वे सब हजार-हजार योजन ऊचे है। उनमे रहने वाले देवों मे परस्पर स्वामी-सेवक का सम्बन्ध नही है, इसी कारण उन देवो को अहमिन्द्र कहा जाता है।

तेजोलेश्या द्वारा भस्म करने की भिन्न शक्तियां

मूल—दसहिं ठाणेहिं सहतेयसा भासं कुज्जा, तं जहा—केइ तहारूवं समणं वा, माहणं वा अच्चासाएज्जा, से य अच्चासाइए समाणे, परिकुविए, तस्स तेयं निसिरेज्जा, से तं परितावेइ, से तं परितावेत्ता तामेव सह तेयसा भासं कुज्जा।

केइ तहारूवं समणं वा, माहणं वा अच्चासाएज्जा, से य अच्चासाइए समाणे देवे परिकुविए, तस्स तेयं निसिरेज्जा, से तं परितावेइ, से तं तमेव सह तेयसा भासं कुज्जा।

केइ तहारूवं समणं वा, माहणं वा अच्चासाएज्जा, से य अच्चासाइए समाणे परिकुविए, देवे य परिकुविए, दुहओ पडिण्णा, तस्स तेयं निसिरेज्जा, ते तं परितावेंति, ते तं परितावेत्ता सह तेयसा भासं कुज्जा।

केइ तहारूवं समाणं वा, माहणं वा अच्चासाएज्जा, से य अच्चासाइए परिकुविए, तस्स तेयं निसिरेज्जा, तत्थ फोडा संमुच्छंति, ते फोडा भिज्जंति, ते फोडा भिन्ना समाणा तामेव सह तेयसा भासं कुज्जा।

केइ तहारूवं समणं वा, माहणं वा अच्चासाएज्जा, से य अच्चासाइए देवे परिकुविए, तस्स तेयं निसिरेज्जा, तत्थ फोडा संमुच्छंति, ते फोडा भिज्जंति, ते फोडा भिन्ना समाणा तमेव सह तेयसा भासं कुज्जा।

केइ तहारूवं समणं वा, माहणं वा अच्चासाएज्जा, से य अच्चासाइए परिकुविए, देवेवि य परिकुविए, ते दुहओ पडिण्णा, ते तस्स तेयं निसिरेज्जा, तत्थ फोडा संमुच्छंति, सेसं तहेव जाव भासं कुज्जा।

केइ तहारूवं समणं वा, माहणं वा अच्चासाएज्जा, से य अच्चासाइए, परिकुविए, तस्स तेयं निसिरेज्जा, तत्थ फोडा संमुच्छंति, ते फोडा भिज्जंति, तत्थ पुला संमुच्छंति, ते पुला भिज्जंति, ते पुला भिन्ना समाणा तामेव सह तेयसा भासं कुज्जा।

एए तिन्नि आलावगा भाणियव्वा।

केइ तहारूवं समणं वा, माहणं वा अच्चासाए समाणे तेयं निसिरेज्जा, से य तत्थ णो कम्मइ, णो पकम्मइ, अंचियं-अंचियं करेति, करेत्ता आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता, उड्ढं वेहासं उप्पयइ, उप्पइत्ता से णं तओ पडिहए पडिणियत्तइ, पडिणित्तइत्ता, तमेव सरीरगमणुदहमाणे-अणुदहमाणे सह तेयसा भासं कुज्जा, जहा वा गोसालगस्स मंखलिपुत्तस्स तवेतेए॥७५॥

छाया—दशभि: स्थानै: सह तेजसा भस्म कुर्यात्, तद्यथा—कश्चित् तथारूपं श्रमणं वा, माहनं (ब्राह्मणं) वा अत्याशातयेत्, स चात्याशातित: सन्, परिकुपित:, तस्य तेजो निसृजेत्, स तं परितापयति, स तं परिताप्य तमेव सह तेजसा भस्म कुर्यात्।

कश्चित् तथारूपं श्रमणं वा, माहनं वात्याशातयेत्, स चात्याशातित: सन् देव: परिकुपित:, तस्य तेजो निसृजेत्, तत्तं परितापयति, तत्तं परिताप्य तमेव सह तेजसा भस्म कुर्यात्।

कश्चित् तथारूपं श्रमणं वा, माहनं वात्याशातयेत्, स चात्याशातित: सन् परिकुपितो देवश्च परिकुपित:, उभौ प्रतिज्ञौ तस्य तेजो निसृजेताम्, तौ तं परितापयत., तौ तं परिताप्य तमेव सह तेजसा भस्म कुर्यात्।

कश्चित् तथारूपं श्रमणं वा, माहनं वात्याशातयेत्, स चात्याशातित: सन्, तस्य तेजो निसृजेत्, तत्र स्फोटा: संमूर्च्छन्ति, ते स्फोटका भिद्यन्ते, ते स्फोटका भिन्ना समाना: तमेव सह तेजसा भस्म कुर्यु:।

कश्चित् तथारूपं श्रमणं वा, माहनं वात्याशातयेत्, स चात्याशातितो देव: प्रकुपित:, तस्य तेजो निसृजेत्, तत्र स्फोटका: सम्मूर्च्छन्ति, ते स्फोटका भिद्यन्ते, ते स्फोटका भिन्ना समानास्तमेव सह तेजसा भस्म कुर्यात्।

कश्चित् तथारूपं श्रमणं वा, माहनं वात्याशातयेत्, स चात्याशातित: परिकुपितो देवोऽपि च परिकुपित:, तौ उभौ प्रतिज्ञौ तस्य तेजो निसृजेत्, तत्र स्फोटका: सम्मूर्च्छन्ति, शेषं तथैव यावद् भस्म कुर्यात्।

कश्चित् तथारूपं श्रमणं वा, माहनं वात्याशातयेत्, स चात्याशातित: परिकुपित:, तस्य तेजो निसृजेत्, तत्र स्फोटका: सम्मूर्च्छन्ति, ते स्फोटका भिद्यन्ते, तत्र पुला: सम्मूर्च्छन्ति, ते पुला भिद्यन्ते, ते पुला भिन्ना: समानास्तमेव सह तेजसा भस्म कुर्यु:।

एते त्रय आलापका भणितव्या:।

कश्चित् तथारूपं श्रमणं वा, माहनं वात्याशातमानस्तेजो निसृजेत्, तच्च तत्र नो क्रमते, नो प्रक्रमते, अञ्चिताञ्चितं करोति, कृत्वा आदक्षिणे प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा

ऊर्ध्वं विहायोत्पतति, उत्पत्य तत् ततः प्रतिहतं प्रतिनिवर्तते, प्रतिनिवृत्य, तमेव शरीरकमनुदहन्-अनुदहन् सह तेजसा भस्म कुर्यात्, यथा वा गोशालकस्य मङ्खलि-पुत्रस्य तपस्तेजः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तेजोलेश्या के द्वारा भस्म करने के दस कारण बतलाए गए हैं, जैसे—

१. कोई व्यक्ति तथारूप श्रमण अथवा तथारूप माहन की अवहेलना करता है, उसके कारण जब वह तथारूप श्रमण अथवा माहन कुपित हो जाता है, तब वह कुपित आत्मा उस व्यक्ति पर तेज छोड़ता है, तत्पश्चात् वह तेज उसे पीडित एव दु:खित करके भस्म कर डालता है।

२. दूसरे कारण में उस तथारूप श्रमण व माहन का अधिष्ठित देव कुपित होकर तेज छोड़ता है और उसे भस्म कर देता है।

३. तीसरे कारण में वह श्रमण तथा उसका अधिष्ठित देव दोनो ही कुपित हो जाते हैं। शेष भस्म करने का वर्णन पूर्वोक्त समझना चाहिए।

४. कोई व्यक्ति तथारूप श्रमण व माहन का निरादर करता है, उसके फलस्वरूप वह तिरस्कृत श्रमण प्रकुपित हो उस व्यक्ति पर तेज फैकता है। उस तेज से उसके शरीर में स्फोटक उत्पन्न हो जाते हैं, वे स्फोटक भेद को प्राप्त होने पर उसे भस्म कर देते हैं।

५. पांचवें कारण में उस श्रमण का सेवक देव कुपित होकर तेज छोड़ता है और उसे भस्म कर देता है।

६. छठे कारण में तथारूप श्रमण अथवा माहन और उसका अधिष्ठित देव दोनो कुपित हो जाते है और तेज छोड़कर उस व्यक्ति के शरीर पर स्फोटक कर डालते हैं, वे स्फोटक फूट जाने पर उसे भस्म कर देते हैं।

७ सातवें कारण में तेज फैंकने से शरीर मे पुला—छोटे-छोटे फोडे उत्पन्न होते है और उनके फूट जाने पर वे उसे भस्म कर डालते है।

८ आठवें कारण में तथारूप श्रमण-माहन का उपासक देव कुपित होकर तेज छोड़ता है और शरीर में पुला उत्पन्न हो जाते हैं। पुलाओं के फूटने पर वह व्यक्ति भस्म हो जाता है।

९. वे दोनों कुपित होकर तेज छोड़ते हैं, शेष सभी वर्णन पूर्ववत् ही समझने चाहिए।

१०. कोई व्यक्ति तथारूप श्रमण अथवा माहन की आशातना करता है, जब वह उस पर तेज छोड़ता है, तब वह छोडा हुआ तेज उस शान्त अनगार पर आक्रमण

नही करता, किन्तु ऊपर-नीचे आता-जाता रहता है और आदक्षिणा, प्रदक्षिणा करके आकाश में जाता है। वहां से लौट कर वह तेज छोड़ने वाले उसी व्यक्ति के शरीर को पीड़ित करता हुआ भस्म कर देता है, जैसे कि गोशालक मंखलिपुत्र का तपस्तेज।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे ग्रैवेयक विमानों की ऊचाई का वर्णन किया गया है, उन विमानों के निवासी देव महर्द्धिक होते हैं, उन देवों से भी अधिक महर्द्धिक श्रमण और माहन होते हैं। उन मुनियों की महर्द्धिकता को दिखाने के लिए प्रस्तुत सूत्र में मुनीश्वरो की तेजोलब्धि का वर्णन किया गया है। तेजोलब्धि से यहा तात्पर्य विशिष्ट तप के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली दाहक शक्ति से है जोकि दूसरे को जलाकर भस्म कर देती है। वह लब्धि तथारूप श्रमण या माहन को ही प्राप्त हो सकती है।

श्रमण का अर्थ होता है तप:-प्रधान संयमित जीवन-यापन करने वाला और माहन का अर्थ है अहिंसा-प्रधान संयम पालन करने वाला। तेजोलब्धि सम्यग्दृष्टि साधक को भी प्राप्त हो सकती है और मिथ्यादृष्टि साधक को भी। तथारूप श्रमण या माहन सम्यग्दृष्टि ही हुआ करते हैं। मिथ्यादृष्टि श्रमण या माहन के साथ तथारूप विशेषण नहीं जोड़ा जाता।

तेजोलब्धि का प्रयोग कोपावेश में किया जाता है। यह लब्धि मारक होती है। उपकारक लब्धि का प्रयोग शान्त और हर्षोल्लसित चित्त से किया जाता है, किन्तु मारक लब्धि का प्रयोग क्रोध और द्वेष की प्रबलता से किया जाता है। इस तेजोलब्धि से कम से कम एक व्यक्ति को भस्म किया जाता है और अधिक से अधिक सोलह जनपदो को भस्म करके मौत के घाट उतारा जा सकता है। साधारण बम से लेकर उद्जन बम जैसे बमो के अनक भेद है और उनकी शक्ति भी अलग-अलग है। वैसे ही तेजोलब्धि भी अनेक प्रकार की है और वह भी अलग-अलग शक्ति रखती है। उसका प्रयोग दस कारणों से किया जाता है और छोडी हुई तेजोलब्धि भी दस प्रकार से अपना प्रभाव दिखलाती है, जैसे कि—

१ यदि कोई अनाडी पुरुष तेजोलब्धिसंपन्न किसी श्रमण या माहन की अवहेलना करता है। असह्य अवहेलना से श्रमण या माहन जब गुस्से से भरकर उस पर तेजोलब्धि का प्रयोग करता है, तब उस तेज से वह अनाड़ी पुरुष संतप्त होकर भस्म हा जाता है।

२. यदि कोई अनाड़ी पुरुष किसी शान्तिप्रधान श्रमण या माहन की अवहेलना करता है, तो उस श्रमण माहन की सेवा मे रहा हुआ कोई देव उस अवहेलना करने वाले अनाडी पुरुष पर कुपित होकर तेज छोड़ता है। जिससे वह आकुल-व्याकुल होकर बहुत ही शीघ्र भस्मीभूत हो जाता है।

३. किसी आततायी पुरुष द्वारा तेजोलब्धिसम्पन्न किसी श्रमण या माहन की असह्य अवहेलना करने पर श्रमण या माहन और उनकी सेवा में रहने वाला कोई देव यदि दोनो ही कृत निश्चय वाले हो जाते है, तो एक साथ दोनो के छोड़े हुए तेज से परिपीड़ित होकर वह भस्म हो जाता है।

४. कोई अज्ञानी पुरुष तेजोलब्धिसपन्न किसी श्रमण या माहन की अवहेलना करता है। उस अवहेलना को न सहन करता हुआ श्रमण या माहन क्रुद्ध होकर उपसर्ग करने वाले पर तेज छोडता है, जिससे उसके शरीर मे बडे-बड़े फोडे उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ समय बाद वे फोड़े या छाले स्वयं फूट जाते हैं। उससे वह भस्मीभूत हो जाता है।

५. कोई अज्ञानी पुरुष क्षमाप्रधान किसी श्रमण या माहन की अवहेलना करता है। उस दुष्ट प्रवृत्ति से कुपित होकर उसका अनुचर देव इस तरह का अपना तेज छोड़ता है जिससे उसके शरीर में सैकडों फोड़े पैदा हो जाते है, उनके फूट जाने से वह भस्मसात् हो जाता है।

६. कोई अज्ञानी पुरुष तेजोलब्धिसपन्न किसी श्रमण या माहन की जब अवहेलना करता है, तब उससे श्रमण या माहन तथा उनकी सेवा मे रहा हुआ कोई देव दोनो ही उस अवहेलना को न सहन करते हुए कृतनिश्चय होकर उस पर तेज छोड़ते है। जिससे उसके शरीर में सैकड़ों फोडे—गूबड छाले पैदा हो जाते हैं, उनके फूट जाने पर वह अतीव परिपीडित होकर उस तेज से भस्म हो जाता है।

७ कोई अज्ञानी पुरुष तेजोलब्धि सम्पन्न किसी श्रमण या माहन को उपसर्ग देता है, उससे कुपित होकर जब वह तेज छोड़ता है तब उससे उसके शरीर मे छोटी-छोटी फुन्सिया पेदा हो जाती है और उनके फूट जाने से वह तुरन्त भस्म हो जाता हे।

८ कोई आततायी पुरुष जब क्षमाप्रधान किसी श्रमण या माहन की आशातना करता है तब उसकी इस दुष्प्रवृत्ति से उनकी सेवा मे रहा हुआ देव परिकुपित होकर उस पर तेज छोड़ देता है। जिससे उसके शरीर में अगणित छोटे-छोटे फोडे-छाले उत्पन्न हो जात हैं। उनके फूट जाने पर वह उसी तेज मे जलकर भस्म हो जाता है।

९ किसी आततायी पुरुष द्वारा तेजोलब्धिसम्पन्न किसी श्रमण या माहन की आशातना करने पर साधु और देव दोनो एक साथ परिकुपित होकर कृतनिश्चय हो जाते है तथा दोनो ही उस पर तेज छोडते है। जिस से उस के शरीर में अगणित गुम्बडिया उत्पन्न हो जाती हैं। उन के फूट जाने पर वह उस तेज से जलकर तुरन्त भस्म हो जाता है।

१० तेजोलेश्या वाला अनार्य पुरुष जब कभी वीतराग श्रमण या माहन को उपसर्ग से पीडित करता है, प्रबल आशातना करके उन पर तेज छोडता है, तब वह तेज उस श्रमण या माहन पर कुछ भी प्रभाव नहीं दिखला सकता, केवल वह तेज उनके आस-पास ही आता-जाता रहता है, ऊचा-नीचा होकर उनकी दाई ओर से प्रदक्षिणा करके वीतराग के माहात्म्य से एक-दम ऊपर जाकर फिर उसी अनार्य पुरुष पर आ कर गिर जाता है और उसी तेज से वह भस्मसात् हो जाता है जैसे मखलीपुत्र गोशालक ने श्रमण भगवान महावीर के ऊपर तेज छोडा था, किन्तु भगवान के माहात्म्य से वह तेज प्रतिहत होकर वापिस गोशालक के शरीर मे प्रविष्ट हो जाने पर वह अपने ही तेज से भस्म हो गया। इस दसवे तेज का विस्तृत वर्णन व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के १५ वें शतक मे मिलता है।

सूत्रकर्त्ता ने **'अच्चासाएज्जा'**—पद दिया है, इस का भाव यह है—अत्यन्त आशातना करने से किसी तेजोलब्धि संपन्न मुनि को क्रोध उत्पन्न हो जाना संभव है। **'दुहओ पडिण्णा'**—इस पद की वृत्ति इस प्रकार है—**ते दुहओ त्ति, तौ द्वौ मुनिदेवौ, पडिण्ण त्ति—उपसर्गकारिणो भस्मकरणं प्रति प्रतिज्ञा योगात् प्रतिज्ञौ कृत-प्रतिज्ञौ हन्तव्योऽयमित्यभ्युपगताविति यावदिति तृतीयं। परिकुविए परिकुपितः**—इस पद का भाव है—''सर्व प्रकार से क्रुद्ध होता हुआ''। इस से यह ध्वनित होता है कि प्रबल क्रोध से ही तेजोलब्धि का प्रयोग किया जाता है।

इस सूत्र में तेजशक्ति छोड़ने के दस कारण बतलाए गए हैं। पहले के नौ कारण तो साधु और देव से सम्बन्धित हैं और दसवा कारण है वीतराग भगवान के माहात्म्य से तेजोलेश्या गिराने वाला स्वयं ही अपने तेज से भस्म हो जाता है। जो सूर्य पर थूकता है वह थूक वापिस थूकने वाले के मुह पर आकर गिर जाता है। तथारूप श्रमण माहन की आशातना करने से जीव अपनी अनन्त दुःख परम्परा बढ़ाता है।

दस आश्चर्य

मूल—दस अच्छेरगा पण्णत्ता, तं जहा—

उवसग्ग गब्भहरणं, इत्थीतित्थं अभाविया परिसा।
कण्हस्स अवरकंका, उत्तरणं चंदसूराणं॥
हरिवंसकुलुप्पत्ती, चमरुप्पातो य अट्ठसयसिद्धा।
असंजएसु पूआ, दसवि अणंतेण कालेण॥७६॥

छाया—दश आश्चर्याणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

उपसर्गो, गर्भहरणं, स्त्रीतीर्थम् अभाविता परिषत्।
कृष्णस्य अपरकङ्का, अवतरणं चन्द्रसूर्ययोः॥
हरिवंशकुलोत्पत्ति श्चमरोत्पातश्च अष्टशतसिद्धाः।
असंयतेषु पूजा, दशापि अनन्तेन कालेन॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दस आश्चर्य प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—उपसर्ग होना, गर्भ-हरण, स्त्रीतीर्थ, अभावित परिषद्, कृष्ण वासुदेव का अपरकंका में गमन, चन्द्र-सूर्य का मूल शरीर में अवतरण, हरिवंश कुल की उत्पत्ति, चमरेन्द्र का प्रथम देवलोक में जाना, एक समय में १०८ सिद्ध और असंयतो की पूजा। ये दश आश्चर्य अनन्त काल के पश्चात् होते है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में तेजोलेश्या की शक्ति विशेष का वर्णन किया गया है।

तेजोलेश्या जैसी लब्धि से सम्पन्न महापुरुषो के जीवन मे ही आश्चर्यकारी घटनाएं घटित होती हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र में दस आश्चर्यकारी घटनाओं का वर्णन किया गया है। इन्द्र-नरेन्द्र आदि तीर्थंकरों के चरणयुगल की सेवा में तत्पर रहते है, इस दृष्टि से भगवान त्रिभुवन गुरु एवं पूज्य होते हैं। जिन के अमित प्रभाव से चारों ओर २५-२५ योजन पर्यन्त महामारी आदि रोग, स्वचक्र-परचक्र आदि भय एवं उपसर्ग नही होते। उनके निर्मल तथा स्वच्छ गुणों से प्रभावित हुआ लोकसमुदाय और हजारों शिष्य उनके चारो ओर विद्यमान रहते है। ३४ अतिशयो और ३५ वाणी इत्यादि के दिव्य गुणो से युक्त भगवान महावीर को भी उनके कुशिष्य गोशालक ने उपसर्ग दिए, ऐसा होना एक प्रकार का आश्चर्य है। जो बात लोक में विस्मय और आश्चर्य की दृष्टि से देखी जाती हो उसे आश्चर्य कहते है। जो घटना कभी भी घटित नहीं हुई हो, उसे अच्छेरा नही कहा जाता, किन्तु जो घटना अनन्तकाल बीतने के बाद हो सकती है, उसे अच्छेरा कहते है। अनादि-अनन्त काल-चक्र मे जो क्रियाए यदा-कदा होती रहती हैं, वे आश्चर्य का विषय नहीं, किन्तु जो क्रियाए चिरकाल से न हुई हों फिर भी वे किसी समय में हो जाएं, उन्हें जनता विस्मयरूप मानती है। इस अवसर्पिणी काल मे दस अच्छेरे हुए है। उनका विवरण इस प्रकार है, जैसे कि—

१. **उपसर्ग**—जिस भयकर कष्ट के द्वारा प्राणी अपने धर्म से विचलित हो जाए, वह उपसर्ग है। देवों के द्वारा, मनुष्यो के द्वारा या तिर्यञ्च के द्वारा जो उपद्रव किए जाते हैं, जो बाधाएं पहुंचाई जाती हे, धर्म मे विचलित करने के लिए विघ्न उपस्थित किए जाते है, उन्हे उपसर्ग कहते हैं। उपसर्गो का होना छद्मस्थ काल मे तो होता ही है, किन्तु कवली अवस्था में नही होता। तीर्थकर पद की प्राप्ति होने पर उत्कर्ष पुण्य के प्रभाव से उपसर्ग नहीं हो सकते। तीर्थकर भगवान का यह अतिशय होता है कि वे जहा विराजते हैं, उस भूमि के चारो ओर १००-१०० योजन के अन्दर किसी प्रकार का वैर-भाव, रोग, मरी, दुर्भिक्ष आदि का उपद्रव नही होता, किन्तु भगवान महावीर के समवसरण मे गोशालक के द्वारा तेजोलेश्या छोडी गई, उससे सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि जल गए। अन्त मे उसने श्री भगवान पर भी तेजोलेश्या छोडी, भगवान को भी यत् किंचित् उपसर्ग हुआ। यह घटना लोक मे आश्चर्यजनक हुई है।

२. **गर्भ-हरण**—तीर्थकर का गर्भ सक्रमण नही होता। एक स्त्री की कुक्षि में उत्पन्न जीव को अन्य स्त्री की कुक्षि मे रख देना गर्भ-हरण है। गर्भ हरण का होना कोई अचम्भा नही है, किन्तु बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्त्ती और तीर्थकर, ऐसी उत्तम पदवी जिस जीव ने प्राप्त करनी हो, वह राजकुल में जन्म लेता है, प्रजा-कुल मे नहीं। भगवान महावीर का जीव जब मरीचि के भव में था, तब जातिमद और कुलमद के कारण उसने ऐसे गोत्र का बंध कर लिया था जिससे उसके फलस्वरूप प्राणत देवलोक के पुष्पोत्तर नामक विमान से च्यवकर आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन ब्राह्मणकुण्ड ग्राम मे ऋषभदत्त ब्राह्मण की धर्मपत्नी देवानन्दा की कुक्षि में अवतरित होना पडा। वहां पर ८२ दिन बीत जाने पर जब शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान से इस रहस्य को जाना, तब शक्रेन्द्र ने विचार किया कि सर्वलोक मे उत्तम पुरुष

तीर्थकर भगवान का जन्म ब्राह्मण कुल में नहीं होता, प्रत्युत क्षत्रिय राजघराने में ही हुआ करता है। ऐसा विचार कर इन्द्र ने हरिणैगमेषी देव को बुलाकर कहा—''चरम तीर्थंकर का जीव इस समय पूर्वोपार्जित कर्म के कारण देवानदा ब्राह्मणी के गर्भ मे है। तुम वहां जाओ और देवानंदा ब्राह्मणी के गर्भ से उस जीव का हरण कर क्षत्रियकुण्ड ग्राम के महाराज सिद्धार्थ की धर्मपत्नी त्रिशला महारानी के गर्भ में स्थापित कर दो।'' इन्द्र की आज्ञा को शिरोधार्य कर स्वयं हरिणैगमेषी देव ने आश्विन कृष्णा त्रयोदशी की मध्यरात्रि में सुख पूर्वक इद्र की आज्ञा का पालन किया और वह निज धाम में चला गया। यह दूसरा आश्चर्य है।

३. स्त्रीतीर्थ—तीर्थकर पद पुरुष को ही प्राप्त होता है, स्त्री को नही। किन्तु स्त्री का तीर्थंकर होना अचम्भा है। गणधर, द्वादशागीवाणी और चतुर्विध श्रीसंघ, इनको तीर्थ कहते है। इसका प्रवर्त्तन या स्थापन करने वाला ही तीर्थकर कहलाता है। तीन लोक में निरुपम अतिशय और अनन्त महिमा को धारण करने वाले पुरुष ही तीर्थ की स्थापना किया करते है, स्त्री नही, किन्तु इस अवसर्पिणी काल मे १९ वे तीर्थकर भगवान मल्लिनाथ जी स्त्रीरूप में अवतीर्ण हुए। यह तीसरा अच्छेरा हुआ है।

४ अभाविता परिषद्—विरति ग्रहण के अयोग्य परिषद् को अभाविता-परिषद् कहते हैं। तीर्थकर भगवान का कोई भी उपदेश निष्फल नहीं जाता, क्योंकि बहुत से जीव उस धर्मोपदेश को सुनकर चारित्र-धर्म ग्रहण कर ही लेते हैं, किन्तु भगवान महावीर स्वामी के विषय में ऐसा नहीं हुआ। जृंभिकग्राम के बाहर जब भगवान महावीर ने वैशाख शुक्ला दशमी के दिन केवलज्ञान प्राप्त किया, तब वहां देवो ने समवसरण की रचना की, उस समवसरण के मध्य मे बैठकर भगवान ने आए हुए देव-देवियों को धर्मकथा सुनाई, किन्तु किसी भी श्रोता ने चारित्र ग्रहण नही किया, अर्थात् तीर्थ की स्थापना नही हुई। तीर्थकर भगवान की वाणी कभी भी निष्फल नही जाती, यह भी एक आश्चर्यकारी घटना घटी, जोकि पहले उपदेश मे तीर्थ की स्थापना नहीं हो सकी।

५ श्री कृष्ण का अपरकंका राजधानी में जाना—अपरकंका राजधानी धातकीखण्ड मे है। एक वासुदेव दूसरे वासुदेव के क्षत्र मे कभी भी नही जाता, किन्तु नौवें वासुदेव श्री कृष्ण को पद्मनाभ राजा के पंजे से पाण्डवो की पत्नी द्रौपदी को छुडाने के लिए पाण्डवों समेत सुस्थित देव के सहयोग से दो लाख योजन चौड़े लवण समुद्र को पार कर अपरकंका राजधानी मे जाना पडा। वह क्षेत्र कपिल वासुदेव की अधीनता में था। श्री कृष्ण ने युद्ध मे पद्मनाभ राजा को पराजित किया और अपने उद्देश्यो को पूर्णकर वापिस आते हुए लवण समुद्र में कृष्ण वासुदेव और कपिल वासुदेव का पांचजन्यशख की ध्वनि के माध्यम से दोनो वासुदेवों का मिलाप हुआ। द्रौपदी-हरण का विस्तृत वर्णन यहा नहीं दिया जा रहा। एक वासुदेव को दूसरे वासुदेव की भूमि मे विशेष कारण से जाना पड़ा, यह भी एक बहुत बड़ा आश्चर्य है।

६. चन्द्र सूर्यावतरण—एक बार श्रमण भगवान महावीर स्वामी कौशांबी नगरी मे

विराज रहे थे। वहां समवसरण में चन्द्र और सूर्य विमान के दो इन्द्र भवधारणीय शरीर के साथ भगवान के दर्शनार्थ आए। यह भी एक अचंभा ही हुआ है। नही तो इस भूमि पर कोई भी देव या इद्र भवधारणीय शरीर के साथ नही आता, उत्तर वैक्रिय शरीर सहित ही आता है। वृत्तिकार का कहना है कि चन्द्र और सूर्य दोनों देव अपने-अपने शाश्वत विमान में बैठकर एक साथ भगवान के दर्शनार्थ आए। उनके शब्द निम्नलिखित हैं—"**तथा भगवतो महावीरस्य वन्दनार्थमवतरणमाकाशात् समवसरणभूम्यां चन्द्रसूर्ययो: शाश्वत-विमानोपेतयोर्बभूवेदमप्याश्चर्यमेवेति**" मूल सूत्र मे "**उत्तरण चन्दसूराणं**" है किन्तु शाश्वत विमानों का नाम नही है।

वृत्तिकार का यह कथन उचित नही जान पड़ता, क्योकि समवसरणभूमि मे चन्द्र-सूर्य के विमानो को उतारने के लिए जगह ही कौन सी थी ? इससे अनादि काल से आने वाली व्यावहारिक काल-गणना भी नष्ट हो जाती है। शाश्वत विमान के द्वारा ही व्यावहारिक काल और मास, ऋतु आदि प्रवृत्त होते है, अत: वृत्तिकार के शब्द युक्ति-सगत प्रतीत नही होते।

७. हरिवश कुलोत्पत्ति—भरत क्षेत्र से उत्तर की ओर तीसरा क्षेत्र हरिवर्ष है। उसमे दो पल्योपम की स्थिति वाले युगलिए रहते है। आयु भर मे दपंति का एक जोडा पैदा होता है, इससे न कम और न अधिक ही। वह भी आयु समाप्ति स दो महीने पहले उत्पन्न होता है। यौगलिक दम्पति की आयु बराबर ही होती हैं। आगे चलकर उन दोनों मे दम्पति का व्यवहार हो जाता है। वे बड़े ही भद्रिक हाते हैं। कल्पवृक्षो से अभीष्ट फलादि को प्राप्त करते हुए बहुत समय तक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते है, इसलिए वे असि-मसि, कृषि, वाणिज्य, राजनीति आदि क्रियाओं से रहित होते है, मद कषायिक होने से वे देवलोक के अतिथि बनते हैं। उस हरिवर्ष क्षेत्र मे से कोई पूर्व विराधी देव हरि और हरिणी दम्पति के रूप मे दोनो को भरत क्षेत्र की चम्पानगरी मे उठा लाया। उस नगरी का राजा इक्ष्वाकुवशज चन्द्रकीर्ति बिना ही सन्तान के तत्क्षण चल बसा। इतने मे वह देव आकाश मे स्थित होकर कहने लगा—'हे प्रजाजनो! मैं हरिवर्ष क्षेत्र से हरि और हरिणी नामक एक जोडा लाया हू, तुम इसको राजा बनाओ। पुण्यानुभाव से वह हरि राज्य को प्राप्त हुआ। उससे हरिवश कुल उत्पन्न हुआ है। युगलिए का कर्मभूमि मे राज्य करना और उसका वश चलना, यह सातवा अच्छेरा हुआ है।[१]

८. चमरोत्पात—चमरेन्द्र दक्षिण असुर कुमारो का इन्द्र है, वह सौधर्म देवलोक तक जाने की शक्ति रखता है, किन्तु चमरेन्द्र का सौधर्म देवलोक मे पहुचना, वहा उपद्रव मचाना, शक्रेन्द्र के वज्र के भय स दबे पावो भगवान महावीर की शरण मे वापिस आना, यह अघटित घटना है। चमरेन्द्र कभी भी सौधर्म देवलोक मे नही जाता है, उसका वहां जाना भी आठवां अच्छेरा माना जाता है।

१ इसका विस्तृत विवरण त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र मे देखना चाहिए।

९. अष्टोत्तरशतसिद्ध—उत्कृष्ट अवगाहना वाले एक समय में १०८ सिद्ध नहीं होते। उत्कृष्ट अवगाहना से एक समय में केवल दो जीव ही सिद्ध होते हैं, अधिक नहीं।[१]

मध्यम अवगाहना वाले एक समय में यदि १०८ सिद्ध हो, तो यह अच्छेरा नही है। उत्कृष्ट अवगाहना वाले अधिक से अधिक एक समय में दो ही सिद्ध हो सकते है, यदि वे १०८ सिद्ध हो जाए, तो यह अच्छेरा माना जाता है। इस अवसर्पिणीकाल के तीसरे आरे में उत्कृष्ट अवगाहना वाले १०८ जीव एक समय मे सिद्ध हुए हैं। भगवान ऋषभदेव के शासन काल में यह नौवा अच्छेरा हुआ।

१०. असंयत-पूजा—जो इन्द्रियों के दास हैं, मन के किंकर है, आरम्भ और परिग्रह में आसक्त है, भोग-विलास में निमग्न है, फिर भी अपने को जगद्गुरु मानते है उन्हे असंयत कहते हैं। उनकी जनता के द्वारा अधिक पूजा-प्रतिष्ठा का बढ़ जाना भी अच्छेरा है। कारण कि सदैव साधु पुरुषो का ही आदर-सत्कार हुआ करता है, किन्तु इस अवसर्पिणी काल में असाधुओं का सत्कार-बहुमान बढ़ा और बढ़ रहा है।

सयत एव गुणीजनो की पूजा छोड़कर पाखंडियो की पूजा बढ़ गई, यह भी एक आश्चर्य हुआ है। इसको लोक-भाषा मे अनहोनी भी कहते हैं। अनहोनी भी दो तरह की होती है—अत्यन्ताभाव के रूप में और अच्छेरे के रूप मे। यहा अनहोनी से तात्पर्य अच्छेरे से है। इस प्रकार से अच्छेरे अनन्त काल के बाद हुआ करते हैं। सूत्रकार ने भी लिखा है—**दस वि अणंतेणं कालेणं।** दस अच्छेरे होने के कारण इस काल को हुंडावसर्पिणी काल कहते है। इसका अवतरण अनत काल के बाद हुआ करता है। ज्येष्ठ मास मे गर्मी का जोर होता है, किन्तु उस मास में यदि जोरदार सर्दी पडे, तो लोगों के लिए ऐसा होना अचम्भा माना जाता है। वैसे ही जो कार्य अनादि नियम और सिद्धान्त से विरुद्ध हो जाए, तो उसे लोकोत्तरिक दृष्टि से अच्छेरा कहा जाता है।

किस सूत्र में किस अच्छेरे का वर्णन है?

पहले अच्छेरे का विस्तृत वर्णन भगवतीसूत्र के १५ वें शतक से जानना चाहिए। दूसरे अच्छेरे का पूर्ण विवरण आचाराग सूत्र के चौबीसवे अध्ययन मे और कल्पसूत्र की वाचना मे है। तीसरे अच्छेरे का विस्तृत वर्णन ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र क आठवें अध्ययन मे है। चौथे अच्छेरे का वर्णन प्रस्तुत ठाणाग सूत्र की वृत्ति से अवगत है। पाचवे अच्छेरे का विस्तृत वर्णन ज्ञाताधर्मकथाग सूत्र के १६ वें अध्ययन में उपलब्ध है। छठे अच्छेरे का वर्णन संक्षेप से इसी सूत्र मे मिलता है। सातवें अच्छेरे का वर्णन प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति से मिलता है। ८ वें अच्छेरे का विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र के तीसरे शतक के दूसरे उद्देशक में है। शेष दो अच्छेरों का

---

१ उक्कोसोगाहणाए य सिज्झते जुगव दुवे।
चत्तारि जहन्नाए मज्झे अट्ठुत्तरं सय।। —उत्तरा० अ० ३६, गा० ५३।।

संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत सूत्र में ही उपलब्ध है। इन दस अच्छेरो का वर्णन विस्तारपूर्वक जानने के लिए ''प्रवचनसारोद्धार'' का एक सौ अट्ठतीसवां द्वार पठनीय है।

किस तीर्थंकर के युग में कौन-सा अच्छेरा हुआ है?

पहले तीर्थंकर ऋषभदेव के शासन काल मे उत्कृष्ट अवगाहना वाले १०८ व्यक्तियों का एक समय मे सिद्ध होना, यह पहला अच्छेरा हुआ है। जिनकी अवगाहना ५०० धनुष की है, वे सब उत्कृष्ट अवगाहना वाले कहलाते हैं। इस अवगाहना वाले अधिक से अधिक तीसरे आरे मे हुए हैं। दसवे तीर्थकर भगवान शीतलनाथ जी के समय में हरिवंश कुल चालू हुआ। मुनि सुव्रत और अरिष्टनेमि, ये दो तीर्थकर इसी कुल मे उत्पन्न हुए। स्वयं १९ वे मल्लिनाथ जी स्त्रीलिंग मे तीर्थकर हुए, यह भी एक अच्छेरा हुआ। २२वे तीर्थकर अरिष्टनेमि के शासन काल मे कृष्ण जी अपरकंका राजधानी मे पहुंचे, यह भी एक अच्छेरा हुआ है। उपसर्ग, गर्भहरण, चमरोत्पात, अभावित परिषद् और चन्द्र-सूर्यावतरण, ये पाच अच्छेरे भगवान महावीर के समय मे हुए हैं। असयती की पूजा ९वे तीर्थकर भगवान सुविधिनाथ के शासनकाल के व्यवच्छिन्न होने पर प्रारम्भ हुई। तीर्थ के उच्छेद से होने वाली असंयतो की पूजा रूप एक अच्छेरा हुआ है। वास्तव मे ९वे तीर्थकर से लेकर १६वें तीर्थकर श्री शान्तिनाथ भगवान तक मध्य के सात अतरो में तीर्थ का व्यवच्छेद और असयतो की पूजा अधिक बढ़ती गई। सामान्य रूप से सभी तीर्थकरों के शासन-काल मे असंयतो की पूजा होती रही है। इस अवसर्पिणी काल मे असंयतो की पूजा का प्रभाव अधिक रहा है।

ये दस अच्छेरे व्यवहार नय के मत से कथन किए गए है। निशीथ सूत्र में भगवान का यह कथन है कि जो भिक्षु स्वय विस्मित हो या औरो को भी विस्मित करे तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानी के ज्ञान मे कोई भी विषय विस्मयकारक नही है, किन्तु चिरकाल स होने वाली घटना या छद्मस्थ के ज्ञान मे अभूतपूर्व घटनाए व्यवहार-दृष्टि से आश्चर्य-जनक बन गई है।

रत्न आदि सोलह काण्डों की मोटाई

मूल—इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए रयणे कंडे दस जोयणसयाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।

इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए वयरे कंडे दस जोयणसयाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।

एवं वेरुलिए, लोहितक्खे, मसारगल्ले, हंसगब्भे, पुलए, सोगंधिए, जोइरसे, अंजणे, अंजणपुलए, रयए, जायरूवे, अंके, फलिहे, रिट्ठे। जहा रयणे तहा सोलसविहा भाणियव्वा॥७७॥

छाया—एतस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्याः रत्नकाण्डं दशयोजनशतानि बाहल्येन प्रज्ञप्तम्।

एतस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या वज्रकाण्डं दशयोजनशतानि बाहल्येन प्रज्ञप्तम्। एवं वैडूर्य, लोहिताक्षं, मसारगल्लं, हंसगर्भ, पुलकं, सौगन्धिकं, ज्योतिरसम्, अञ्जनम्, अञ्जनपुलक, रजतं, जातरूपम्, अङ्कम्, स्फटिकं, रिष्टम्। यथा रत्नं तथा षोडशविधानि भणितव्यानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—इस रत्नप्रभा नामक पृथ्वी मे रत्नमय काण्ड एक हजार योजन का वर्णन किया गया है।

इस रत्नप्रभा नामक पृथ्वी का वज्रकाड दश योजनशत मोटाई की अपेक्षा से कथन किया गया है।

इसी प्रकार वैडूर्यकाण्ड, लोहिताक्ष, मसारगल्ल, हसगर्भ, पुलक, ज्योतिरस, अञ्जन, अञ्जनपुलक, रजत, जातरूप—सुवर्ण, अक, स्फटिक और रिष्ट—इन सब काण्डों का परिमाण भी रत्नकाण्ड के समान जानना चाहिए।

विवेचनिका—चमरोत्पात रत्नप्रभा पृथ्वी से हुआ है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे रत्नप्रभा पृथ्वी का विषय वर्णन किया गया है। यह रत्नप्रभा पृथ्वी एक राजु परिमाण लम्बी-चौडी है। इसकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है। इसके तीन कांड—हिस्से है। खरकाड, पड्क-बहुल काड और जल-बहुल काड। इन मे से खरकांड सबसे ऊपर है, वह मोटाई मे १६ हजार योजन प्रमाण है। उसके नीचे का दूसरा कांड पंकबहुल है, जोकि मोटाई मे ८४ हजार योजन है। उसके नीचे का तीसरा जलबहुल काड है, जो मोटाई में ८० हजार योजन है। तीनो काडो की मोटाई मिलाने से एक लाख अस्सी हजार योजन होती है। खरकाड १६ भागो मे विभाजित है। इन मे एक-एक भाग की मोटाई एक-एक हजार योजन की है। इन मे पहले भाग को रत्नकाड, दूसरे भाग को वज्रकाड, तीसर भाग को वैडूर्यकाड, चौथे भाग को लोहिताक्ष काण्ड कहते हैं। इसी तरह मसारगल्ल, हसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक ज्योतिरस, अञ्जन, अञ्जनपुलक, रजत, जातरूप, अंक, स्फटिक और रिष्ट, ये १६ काण्ड हजार-हजार योजन की मोटाई वाले हैं। खरकाण्ड मे सोलह प्रकार के रत्न होने से इस पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा प्रसिद्ध है। इस का पूर्ण विवरण जीवाभिगम सूत्र मे जानना चाहिए।

समुद्र, महाद्रह और सलिल कुण्डों की गहराई

मूल—सव्वेवि णं दीवसमुद्दा दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता। सव्वेवि णं महादहा दस जोयणाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता। सव्वेवि णं सलिलकुंडा दस

जोयणाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता॥७८॥

छाया—सर्वेऽपि द्वीपसमुद्राः दशयोजनशतान्युद्वेधेन प्रज्ञप्ताः। सर्वेऽपि महाह्रदाः दशयोजनान्युद्वेधेन प्रज्ञप्ताः। सर्वाण्य सलिलकुण्डानि दशयोजनान्युद्वेधेन प्रज्ञप्तानि। शीता-शीतोदे महानद्यौ मुखमूले दशयोजनशतान्युद्वेधेन प्रज्ञप्ते।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सब द्वीपसमुद्र दश सौ योजन गहरे है। सब महाह्रद दश योजन गहरे हैं। सब सलिल-कुण्ड दश योजन गहरे है। शीता, शीतोदा महानदिया मुखमूल में दश योजन उद्वेध की दृष्टि से वर्णन की गई हैं।

विवेचनिका—रत्नप्रभा के आधार पर द्वीप-समुद्र है, अतः प्रस्तुत सूत्र म द्वीप-समुद्रो की गहराई का उल्लेख किया गया है। सभी द्वीप और समुद्रो की गहराई दस सौ योजन की है। समुद्र तो गहरे ही होते है, किन्तु द्वीप नही। फिर भी सूत्रकार न द्वीप की गहराई का संकेत किया है, इस का कारण हो सकता है कि जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह की जगती के समीप एक चक्रवर्ती विजय है, जोकि समतल भूमि भाग से हजार योजन की नीचाई पर है।

यावन्मात्र हिमवान आदि पर्वतो पर पद्म आदि महाह्रद है, वे सब दस योजन गहरे है। इसी तरह जितने गंगा आदि महानदियो के प्रपातकुण्ड है वे सब दस योजन गहरे है। शीता और शीतोदा ये दो महानदिया जहा समुद्र मे मिलती है, वहां इनकी गहराई दस योजन की है। इन का पूर्ण विवरण जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र से अवगत करनी चाहिए।

कृत्तिका और अनुराधा नक्षत्रों के चार-मण्डल

मूल—कत्तिया णक्खत्ते सव्वबाहिराओ मंडलाओ दसमे मंडले चारं चरइ। अणुराहा णक्खत्ते सव्वब्भंतराओ मंडलाओ दसमे मंडले चारं चरइ॥७९॥

छाया—कृत्तिका नक्षत्रं सर्वबाह्याद् मण्डलाद्दशमे मण्डले चारं चरति। अनुराधा नक्षत्र सर्वाभ्यन्तराद् मण्डलाद्दशमे मण्डले चारं चरति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—कृत्तिका नक्षत्र सर्वबाह्य मण्डल से दशम मण्डल मे भ्रमण करता है। अनुराधा नक्षत्र सर्वाभ्यन्तर मण्डल से दशम मण्डल मे भ्रमण करता है।

विवेचनिका—भौगोलिक वर्णन करने के अनन्तर प्रस्तुत सूत्र मे नक्षत्रमण्डल का उल्लेख किया गया है। मण्डल का अर्थ है- चन्द्र-सूर्य आदि का चार-क्षेत्र। सूर्य के १८४ मण्डल हैं। चन्द्र के १५ और नक्षत्रो के आठ मण्डल है। जम्बूद्वीप के ऊपर १८० योजन की परिधि में ६५ सूर्यमण्डल हैं। चन्द्रमा के ५ और नक्षत्र के दो मण्डल है तथा लवण समुद्र

मे ३३० योजन अवगाहकर सूर्य के ११९ मण्डल हैं। चन्द्रमा के दस और नक्षत्रों के छः मण्डल है। कृत्तिका नक्षत्र बाहर के चन्द्रमण्डल से १० वें चन्द्रमण्डल पर और अन्दर के मण्डल से छठे मण्डल पर गति करता है तथा अनुराधा नक्षत्र अन्दर के चन्द्रमण्डल से दसवें मण्डल पर और बाहर के चन्द्रमण्डल से छठे मण्डल पर गति करता है। यहां मण्डल शब्द मार्ग का वाची है। चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, इन तीन सूत्रों में ज्योतिष-चक्र का विस्तृत और अनुपम वर्णन मिलता है।

ज्ञान-संवर्धक नक्षत्र

मूल—दस णक्खत्ता णाणस्स विद्धिकरा पण्णत्ता, तं जहा—

मिगसिरमद्दा पुस्सो, तिन्नि य पुव्वाइं मूलमस्सेसा।

हत्थो चित्ता य तहा, दस विद्धिकराइं णाणस्स ॥८०॥

छाया—दश नक्षत्राणि ज्ञानस्य वृद्धिकराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

मृगशिर आर्द्रा पुष्यः, तिस्रश्चपूर्वाः मूलमश्लेषाः।

हस्तश्चित्रा च तथा, दश वृद्धिकराणि ज्ञानस्य॥

शब्दार्थ—दस णक्खत्ता—दस नक्षत्र, **णाणस्स**—ज्ञान की, **विद्धिकरा पण्णत्ता**—वृद्धि करने वाले हैं, **तं जहा**—जैसे, **मिगसिरं**—मृगशिर, **अद्दा**—आर्द्रा, **पुस्सो**—पुष्य, **तिन्नि य पुव्वाइं**—और तीनों पूर्वा, **मूलं**—मूल, **अस्सेसा**—अश्लेषा, **हत्थो**—हस्त, **चित्ता य तहा**—तथा चित्रा। **दस विद्धिकराइं णाणस्स**—ये दस नक्षत्र ज्ञान की वृद्धि करने वाले हैं।

मूलार्थ—दश नक्षत्र ज्ञान की वृद्धि करने वाले हैं, जैसे—मृगशिर, आर्द्रा, पुष्य, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद, पूर्वाफाल्गुणी, मूल, अश्लेषा, हस्त एव चित्रा।

विवेचनिका—नक्षत्रो का अधिकार होने से इस सूत्र में ज्ञानवृद्धि के सहायक दस नक्षत्रों का नामोल्लेख किया गया है, जिनके नाम मूलार्थ मे लिखे जा चुके हैं। इन दस नक्षत्रो मे से किसी भी नक्षत्र से यदि चन्द्र का योग लगा हुआ हो, तो उस समय यदि सूत्र का अध्ययन प्रारम्भ किया जाए, तो वह श्रुतज्ञान चन्द्रकला की तरह वृद्धि को ही प्राप्त होता है, कारण कि कालविशेष भी क्षयोपशम का हेतु है। वृत्तिकार इस विषय में ऐसे ही लिखते हैं, उनके शब्द इस प्रकार हैं—"**विद्धिकराइं त्ति, एतन्नक्षत्रयुक्ते चन्द्रमसि सति ज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्योद्देशादिर्यदि क्रियते, तदा ज्ञानं समृद्धिमुपयाति, अविघ्नेनाधीयते, श्रूयते, व्याख्यायते, धार्यते वेति। भवति च काल विशेषस्तथाविधकार्येषु कारणं क्षयोपशमादिहेतुत्वात्तस्य,**" यदाह—

"उदय-क्खय-खओवसमोवसमा जं च कम्मुणो भणिया।

दव्वं खेत्तं कालं भवं च भावं च संपप्प॥"

इस कथन से सिद्ध होता है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव को पाकर ही कर्मो का उदय, क्षय, क्षयोपशम तथा उपशम होता है। अत: अन्य कारणो के समान काल भी ज्ञानवृद्धि में एक निमित्त कारण है। अत: शुभ मुहूर्तादि मे शुभ कार्य करने की शिक्षा उक्त सूत्र से प्राप्त होती है।

स्थलचर आदि की कुलकोटियां

मूल—चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दस जाइ-कुलकोडि-जोणिपमुह सयसहस्सा पण्णत्ता। उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्ख-जोणियाणं दस जाइ-कुलकोडिजोणिपमुहसयसहस्सा पण्णत्ता॥८१॥

छाया—चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां दश जाति-कुलकोटियोनि-प्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। उर·परिसर्पस्थलचर-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकानां दश जाति-कुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चतुष्पद-स्थलचर-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च योनिको की दश लाख जाति कुलकोर्टि-योनि-प्रमुख कथन की गई हैं। एव उर:परिसर्प-स्थलचर-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिको की दश लाख जाति-कुलकोटि योनि-प्रमुख प्रतिपादन की गई है।

विवेचनिका—ज्ञान के ह्रास मे और अज्ञान के तिमिर मे जीव तिर्यञ्च गति को प्राप्त करता है। अत: प्रस्तुत सूत्र मे द्वीप समुद्रो में चलने वाले जीवो की जाति कुलकोटि का निर्देश किया गया है। जिन तिर्यञ्चो की जाति कुलकाटि की सख्या दस-दस लाख है, उन्ही जीवों की चर्चा इस सूत्र मे की गई है, अन्य की नही। चार पाओ वाले प्राणी को चतुष्पद कहते है। स्थल पर चलने के कारण उन्हे स्थलचर कहते है। जिन तिर्यञ्चो की पाच इन्द्रियां हैं, उन्हें पचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक कहते हैं। चतुष्पद-स्थलचर-पचेन्द्रिय तिर्यञ्चों की उत्पत्तिस्थान रूप योनियो की सख्या चार लाख है और उन्ही चतुष्पद स्थलचर पचेन्द्रिय तिर्यग्योनिको की जाति कुलकोटियों की संख्या दस लाख है, क्योकि एक योनि मे अनेक कुल होते हैं। जैसे गोबर में कृमि आदि अनेक प्रकार के जीव उत्पन्न होते है, उस गोबर को द्वीन्द्रिय आदि का कुल कहा जाता है। इस विषय मे वृत्तिकार लिखते हैं—

''जातौ'' पञ्चेन्द्रियजातौ यानि कुलकोटीनां-जातिविशेषलक्षणाना (शतानां) योनिप्रमुखाणि-उत्पत्तिस्थानद्वारकाणि शतसहस्राणि लक्षाणि, तानि तथा प्रज्ञप्तानि सर्वविदा, तत्र योनिर्यथा गोमयोद्वीन्द्रियाणामुत्पत्तिस्थानं, कुलानि, तत्रैकत्रापि द्वीन्द्रियाणा कृम्याद्यनेकाकाराणि प्रतीतानि।''

इसी प्रकार प्रत्येक जीव की जाति कुल-कोटि योनि जाननी चाहिए। अत: जाति पद से पंचेन्द्रिय जाति, कुलकोटि शब्द से एक जाति मे अनेक कुल और योनि पद से उत्पत्ति स्थान

जानना चाहिए। इसी प्रकार उर:परिसर्प स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीवों की जाति कुल-कोटि की संख्या भी दस लाख है। छाती के बल से चलने वाले जितने भी प्राणी है, वे उर:परिसर्प कहलाते हैं, जैसे कि सर्प आदि जीवो के विषय मे सभी बातें ज्ञातव्य होती है।

पापकर्म के रूप में पुद्गलों का चयन

मूल—जीवा णं दसठाणनिव्वत्तिया पोग्गला पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा, तं जहा—पढमसमयएगिंदियनिव्वत्तिए जाव फासिंदियनिव्वत्तिए, एवं चिण, उवचिण, बंध, उदीर, वेय तह निज्जरा चेव।

दसपएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता। दस पएसोवगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता। दस पएसठिईया पोग्गला अणंता पण्णत्ता। दस गुणकालगा पोग्गला अणंता पण्णत्ता। एवं वन्नेहिं, गुधेहिं, फासेहिं, दस गुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता॥८२॥

दसमं अज्झयणं समत्तं।

छाया—जीवाः दशस्थाननिर्वर्तितान् पुद्गलान् पापकर्मतया अचिन्वन् वा, चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—प्रथम-समयैकेन्द्रियनिर्वर्तितान् यावत् स्पर्शनेन्द्रियनिर्वर्तितान्। एवं चयः, उपचयः, बन्धः, उदीरणा, वेदस्तथा निर्जरा चैव।

दश प्रदेशिकाः स्कन्धा अनन्ता प्रज्ञप्ताः। दश प्रदेशावगाढाः पुद्गला अनन्ता प्रज्ञप्ताः। दश प्रदेशस्थितिकाः पुद्गला अनन्ताः प्रज्ञप्ताः। दश गुणकालकाः पुद्गला अनन्ताः प्रज्ञप्ताः। एवं वर्णैर्गन्धैः स्पर्शैर्दशगुणरूक्षाः पुद्गला अनन्ता प्रज्ञप्ताः।

दशममध्ययनं समाप्तम्

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जीवों ने अतीतकाल में दश स्थान निर्वर्तित पुद्गलों को पाप-कर्म-रूप में एकत्रित किया, वर्तमान मे करते हैं और भविष्य मे करेंगे, जैसे—प्रथम समय के एकेन्द्रियपने मे और अनेक समय के एकेन्द्रियपने में यावत् स्पर्शनेन्द्रियपने में दो-दो आलापक कहने चाहिएं। इसी प्रकार पुद्गलों का चय, उपचय, बन्ध, उदीरण, वेदन तथा निर्जरा के विषय में जानना चाहिए।

दश प्रदेशिक स्कन्ध अनन्त हैं। दश प्रदेश अवगाहित पुद्गल अनन्त हैं। दश समय की स्थिति वाले पुद्गल अनन्त हैं। दश गुण कृष्णवर्णीय पुद्गल अनन्त हैं। इसी प्रकार पांच वर्ण, दो गन्ध, पाच रस और आठ स्पर्शों के विषय में यावत् दश

गुना रूक्ष पुद्गल अनन्त प्रतिपादन किए गए हैं।

विवेचनिका—जिन आत्माओ ने सिद्धत्व प्राप्त कर लिया है, वे आत्माए कर्मबंध नही करतीं। संसारी जीवो का ऐसा कोई समय नही बीतता, जिसमें वे कर्म बन्ध न करते हों। ससारी सभी जीवों का समावेश पाच जातियो मे हो जाता है, उनसे बाहर कोई भी संसारी जीव नहीं है। वे पांच जातियां निम्नलिखित है, जैसे कि एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पंचेन्द्रियजाति। इनमे रहे हुए जितने भी जीव है, वे सभी समय-समय मे पुद्गलों का पाप कर्म के रूप में उपार्जन कर रहे है, किसी भी जाति में उत्पन्न हुआ अविरत जीव अबन्धक नही हो सकता। जिस जीव को किसी भी जाति में पहुंचे केवल एक ही समय हुआ है, वह भी पुद्गलो का उपार्जन पापकर्म के रूप मे कर रहा है और जिस को अनेक समय हो गए है, वह भी पाप कर्म के रूप मे पुद्गलो का चयन कर रहा है। भूतकाल में संसारी जीवों ने पापकर्म के रूप मे पुद्गलो का उपार्जन किया, वर्तमान में कर रहे है और अनागत काल मे करते ही रहगे। इस कथन से कर्मो का पौद्गलिक होना और जीव के अस्तित्व का त्रैकालिक होना सिद्ध होता है।

सूत्र में आए हुए चय, उपचय, बध, उदीरणा, वेदना और निर्जरा, इन छ: पदों की विशेष व्याख्या इस प्रकार है—

१. **चय**—इसका अर्थ है कषायो के द्वारा आठ कर्मो के रूप मे पुद्गलो का ग्रहण करना, उनका इकट्ठा करना ही चय कहलाता है।

२. **उपचय**—गृहीत कर्मपुद्गलो का अबाधा काल को छोड़कर ज्ञानावरणीय आदि रूप से निषेक—कर्म पुद्गलो द्वारा आत्मप्रदेशों पर रचना विशेष करना ही उपचय है।

३. **बंध**—कर्म-पुद्गलो का आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह मिल जाना ही बध है। जो कर्म पुद्गल निधत्त और निकाचित के रूप मे परिणत हो गए है, उन्हे बध कहते है।

४. **उदीरणा**—आबाधा काल बीतने के बाद जो कर्म-दलिक उदय मे आने वाले है, उन्हें प्रयत्न विशेष से खीचकर उदयप्राप्त दलिको के साथ भोग लेना उदीरणा है।

५. **वेदन**—शुभ और अशुभ कर्मो का फल भोगना वेदन कहलाता है।

६. **निर्जरा**—जीव-प्रदेशो से कर्मपुद्गल का पृथक् होना ही निर्जरा है।

जीव और कर्म के सम्बन्ध से सूत्रकार ने पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, बध और निर्जरा की भी सिद्धि की है। अकाम निर्जरा तो जीव सदा काल से करता ही चला आ रहा है, संवर पूर्वक न होने से अकाम निर्जरा धर्म का अग नही है, धर्म के बिना निर्वाण नही, निर्वाण के बिना अनाबाध सुख नही प्राप्त होता, किन्तु आत्म-विशुद्धि और निर्वाण-पद की प्राप्ति सकाम निर्जरा से ही होती है। जो कर्म-पुद्गल आत्मा से सर्वथा अलग हो जाते हैं, वे सब अजीव द्रव्य हैं। अजीव द्रव्य के विषय मे सूत्रकार कहते है कि दस परमाणुओ के स्कन्ध को दस प्रदेशी स्कन्ध कहा जाता है, उन दस प्रदेशी स्कन्धो की गणना यदि की जाए तो

वे भी अनन्त से कम नहीं होंगी। क्योंकि पुद्गल द्रव्य के मुख्यतया चार भेद हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु पुद्गल। पुद्गल के महापिंड को अन्त्य स्कन्ध कहा जाता है।

स्कन्ध के अनन्त भेद हैं—

दो प्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक जितने भी छोटे-बड़े भाग हैं, वे सब स्कन्ध में गर्भित होते हैं। प्रत्येक स्कन्ध के बुद्धिगम्य छोटे-बड़े विभाग को देश, उसके अविभाज्यांशों को प्रदेश और केवल एकाकी परमाणु को परमाणु-पुद्गल कहा जाता है। परमाणु तो आकाश, काल और भाव के भी होते हैं, अत: उनका व्यवच्छेद करने के लिए सूत्रकार ने परमाणु के साथ पुद्गल-पद जोड़ा है।

जिन पुद्गल द्रव्यो ने आकाश के दस-दस प्रदेशो को अवगाहन किया हुआ है, वे पुद्गल भी अनन्त है, क्योंकि लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशो पर वे अवगाढ हैं। इसलिए सूत्रकार ने आकाश का लक्षण अवकाश देने वाला कथन किया है। जिस तरह एक कमरे में हजारो-लाखों दीपको का प्रकाश परस्पर आकाशप्रदेशों पर अवगाहन किए हुए होता है, उसी तरह आकाश के असंख्यात प्रदेशो पर अनन्त पुद्गल द्रव्यो ने अवगाहन किया हुआ है।

काल से दस समय की स्थिति वाले पुद्गल-द्रव्य भी अनन्त हैं, कारण कि जितने भी जीव और पुद्गलद्रव्य है, वे स्थिति युक्त भी है। उनकी एक समय से लेकर असख्यात समय तक की स्थिति हो सकती है, किन्तु इस स्थान पर दस स्थान के अनुरोध से दस समय की स्थिति का ही वर्णन किया गया है।

भाव से दस गुणा काले पुद्गल भी अनन्त हैं। इसी प्रकार चार वर्ण, दो गन्ध, पांच रस आठ स्पर्श यावत् दस गुण रूक्ष पुद्गल कथन किए गए है। इस प्रकार सूत्र कर्त्ता ने पुद्गलद्रव्य के १० अको को लेकर २० आलापक दिखलाए हैं।

अन्त मे अनन्त शब्द ग्रहण करने से वृद्धि आदि शब्दों की भान्ति अवसान मंगल कथन किया गया है। अत: प्रत्येक स्थान के अंत में अनन्त शब्द कथन किया गया है। वह अनत पद मगल रूप से जानना चाहिए। जिस प्रकार वृद्धि, धर्म, श्रुतज्ञान, तप इत्यादि शब्द मंगल अर्थ के बोधक है, उसी प्रकार अनन्त शब्द भी मंगल अर्थ का बाधक है। शास्त्र के आदि मे मगल करने का उद्देश्य होता है निर्विघ्नतापूर्वक ग्रन्थ की परिसमाप्ति, मध्य-मगल शास्त्र या उसका अर्थ स्थिर रखने के लिए किया जाता है और अवसान-मंगल इसलिए किया जाता है कि शिष्य-प्रशिष्य भी इस परम्परा को चालू रखे। आगम-स्वाध्याय का प्रत्यक्ष फल अज्ञान की निवृत्ति है और परम्परा फल है निर्वाण पद की प्राप्ति।

॥ दशम स्थान समाप्त॥

॥ श्री स्थानांग-सूत्र विवेचनिका समाप्ता ॥

जैन धर्म दिवाकर,
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म भूमि	राहो
पिता	लाला मनसारामजी चौपडा
माता	श्रीमती परमेश्वरी देवी
वश	क्षत्रिय
जन्म	विक्रम स 1939 भाद्र सुदि वामन द्वादशी (12)
दीक्षा	वि स 1951 आषाढ शुक्ला 5
दीक्षा स्थल	बनूड (पटियाला)
दीक्षा गुरु	मुनि श्री सालिगराम जी महाराज
विद्यागुरु	आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज (पितामह गुरु)
साहित्य सृजन	अनुवाद, सकलन-सम्पादन-लेखन द्वारा लगभग 60 ग्रन्थ
आगम अध्यापन	शताधिक साधु-साध्वियो को।
कुशल प्रवचनकार	तीस वर्ष से अधिक काल तक।
आचार्य पद	पजाब श्रमण सघ, वि स 2003 लुधियाना।
आचार्य सम्राट् पद	अ भा श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ सादडी (मारवाड) 2009 वैशाख शुक्ला
सयम काल	67 वर्ष लगभग।
स्वर्गवास	वि स 2019 माघवदि 9 (ई 1962) लुधियाना।
आयु	79 वर्ष 8 मास, ढाई घटे।
विहार क्षेत्र	पजाब, हरियाणा, हिमाचल, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि।
स्वभाव	विनम्र-शान्त-गभीर प्रशस्त विनोद।
समाज कार्य	नारी शिक्षण प्रोत्साहन स्वरूप कन्या महाविद्यालय एव पुस्तकालय आदि की प्रेरणा।

जैनभूषण, पंजाब केसरी, बहुश्रुत, महाश्रमण, गुरुदेव श्री ज्ञान मुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म भूमि	साहोकी (पजाब)
जन्म तिथि	वि स 1979 वैशाख शुक्ल 3 (अक्षय तृतीया)
दीक्षा	वि स 1993 वैशाख शुक्ल 13
दीक्षा स्थल	रावलपिडी (वर्तमान पाकिस्तान)
गुरुदेव	आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
अध्ययन	प्राकृत, सस्कृत उर्दू, फारसी, गुजराती, हिन्दी, पजाबी, अग्रेजी आदि भाषाओ के जानकार तथा दर्शन एव व्याकरण शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित, भारतीय धर्मो के गहन अभ्यासी।
सृजन	हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण पर भाष्य, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना आदि कई आगमो पर वृहद् टीका लेखन तथा तीस से अधिक ग्रन्थो के लेखक।
प्रेरणा	विभिन्न स्थानको, विद्यालयो, औषधालया, सिलाइ केन्द्रो के प्रेरणा स्रोत।
विशेष	आपश्री निर्भीक वक्ता, सिद्धहस्त लेखक एव कवि थे। समन्वय तथा शान्तिपूर्ण क्रान्त जीवन के मगलपथ पर बढने वाले धर्मनेता, विचारक, समाज सुधारक एव आत्मदर्शन की गहराई मे पहुचे हुए साधक थे। पजाब तथा भारत के विभिन्न अचलो मे बसे हजारो जैन-जैनेतर परिवारो मे आपके प्रति गहरी श्रद्धा एव भक्ति है। आप स्थानकवासी जैन समाज के उन गिने-चुने प्रभावशाली सता मे प्रमुख थे जिनका वाणी-व्यवहार सदा ही सत्य का समर्थक रहा है। जिनका नेतृत्व समाज को सुखद, सरक्षक और प्रगति पथ पर बढाने वाला रहा है।
स्वर्गारोहण	मण्डी गोविन्दगढ (पजाब) 23 अप्रैल, 2003 (रात 11 30 बजे)

आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म स्थान	मलौटमडी, जिला-फरीदकोट (पंजाब)
जन्म	18 सितम्बर, 1942 (भादवा सुदी सप्तमी)
माता	श्रीमती विद्यादेवी जैन
पिता	स्व श्री चिरजीलाल जी जेन
वर्ण	वैश्य ओसवाल
वश	भाबू
दीक्षा	17 मई, 1972, (समय–12 00 बजे)
दीक्षा स्थान	मलौटमण्डी (पजाब)
दीक्षा गुरु	बहुश्रुत, जेनागमरत्नाकर, राष्ट्रसत श्रमणसघीय सलाहकार श्री ज्ञानमुनि जी महाराज
शिष्य-सपदा	श्री शिरीष मुनि जी, श्री शुभममुनि जी श्री श्रीयशमुनि जी, श्री सुव्रतमुनि जी एव श्री शमितमुनि जी
प्रशिष्य	श्री निशात मुनि जी श्री निरजन मुनि जी
युवाचार्य पद	13 मई, 1987 पूना, महाराष्ट्र
आचार्य पदारोहण	9 जून, 1999 अहमदनगर, महाराष्ट्र
चादर महोत्सव	7 मई, 2001, ऋषभ विहार, दिल्ली मे
अध्ययन	डबल एम ए , पी-एच डी , डी लिट् आगमो का गहन गभीर अध्ययन, ध्यान-योग-साधना मे विशेष शोध कार्य

श्रमणश्रेष्ठ कर्मठयोगी, मंत्री
श्री शिरीष मुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म स्थान	नाई, उदयपुर, (राजस्थान)
जन्मतिथि	19 फरवरी, 1964
माता	श्रीमती सोहनबाई
पिता	श्रीमान ख्यालीलाल जी कोठारी
वश, गौत्र	ओसवाल, कोठारी
दीक्षार्थ प्रेरणा	दादीजी मोहन बाई कोठारी द्वारा
दीक्षा तिथि	7 मई, 1990
दीक्षा स्थल	यादगिरी (कर्नाटक)
गुरु	श्रमण सघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनिजी महाराज
शिक्षा	एम ए (हिन्दी साहित्य)
अध्ययन	आगमो का गहन गभीर अध्ययन, जैनेतर दर्शनो मे सफल प्रवेश तथा हिन्दी, सस्कृत, अंग्रेजी, प्राकृत, मराठी, गुजराती भाषाविद्।
उपाधि	श्रमण सघीय मत्री, साधुरत्न, श्रमणश्रेष्ठ कर्मठयोगी
शिष्य सम्पदा	श्री निशात मुनि जी श्री निरजन मुनि जी
विशेष प्रेरणादायी कार्य	ध्यान योग साधना शिविरों का सचालन, बाल-सस्कार शिविरो और स्वाध्याय-शिविरो के कुशल सचालक। आचार्य श्री के अनन्य सहयोगी।

आगम संपादन :–

(व्याख्याकार आचार्य श्री आत्माराम जी म.)

	सहयोग राशि
* श्री आचारांग सूत्रम् (भाग एक)	450.00
* श्री आचारांग सूत्रम् (भाग दो)	450.00
* श्री स्थानांग सूत्रम् (भाग एक)	500.00
* श्री स्थानांग सूत्रम् (भाग दो)	400.00
* श्री उपासकदशांग सूत्रम्	300.00
* श्री अन्तकृद्दशांग सूत्रम्	300.00
* श्री अन्तकृद्दशांग सूत्रम् (संक्षिप्त संस्करण)	50.00
* श्री अनुत्तरोपपातिक सूत्रम्	100.00
* श्री विपाक सूत्रम्	500.00
* श्री निरयावलिका सूत्रम् (कल्पिका-कल्पावतंसिका-पुष्पिका पुष्पचूलिका-वृष्णिदशा)	300.00
* श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग एक)	300.00
* श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग दो)	300.00
* श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग तीन)	300.00
* श्री दशवैकालिक सूत्रम्	300.00
* श्री नन्दीसूत्रम्	400.00
* श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रम्	200.00
* श्री आवश्यक सूत्रम् (श्रावक प्रतिक्रमण)	30.00

साहित्य (हिन्दी)–

* श्री तत्वार्थ सूत्र जैनागम समन्वय	(समन्वय प्रधान ग्रन्थ)	100.00
* श्री जैनतत्वकलिका विकास	(जैन तत्त्व विद्या)	75.00
* जैनागमों में अष्टांग योग	(जैन योग)	60.00
* भारतीय धर्मों में मोक्ष विचार	(शोध प्रबन्ध)	220.00
* ध्यान : एक दिव्य साधना	(ध्यान पर शोध-पूर्ण ग्रन्थ)	120.00

* ध्यान-पथ	(ध्यान सम्बन्धी चिन्तनपरक विचारबिन्दु)	60.00
* योग मन सस्कार	(निबन्ध)	50 00
* जिनशासनम्	(जैन तत्व मीमांसा)	40 00
* पढम नाण	(चिन्तनपरक निबन्ध)	50.00
* अहासुह देवाणुप्पिया	(अन्तगडसूत्र प्रवचन)	100 00
* शिव-धारा	(प्रवचन)	50 00
* अन्तर्यात्रा	,,	50 00
* नदी नाव सजोग	,,	60 00
* अनुश्रुति	,,	35 00
* मा पमायए	,,	60 00
* अमृत की खोज	,,	40 00
* आ घर लौट चले	,,	60 00
* सबुज्झह कि ण बुज्झह	,,	50 00
* सद्गुरु महिमा	,,	50 00
* प्रकाशपुञ्ज महावीर	(सक्षिप्त महावीर जीवन-वृत्त)	20 00
* अध्यात्म-सार	(आचाराग सूत्र पर एक बृहद् आलेख)	60 00
* आत्म-ध्यान साधना कोर्स	(सचित्र ध्यान-योग बिन्दु)	10 00
* शिवाचार्य प्रवचन गीत		10 00

साहित्य (अंग्रेजी)–

* दी जैना पाथवे टू लिब्रेशन
* दी फण्डामेन्टल प्रिसीपल्स ऑफ जैनिज्म
* दी डॉक्ट्रीन ऑफ द सेल्फ इन जैनिज्म
* दी जैना ट्रेडिशन
* दी डॉक्ट्रीन ऑफ लिब्रेशन इन इडियन रिलीजन्स विथ रेफरेस टू जैनिज्म
* स्परीच्युल प्रक्टेसीज ऑफ लॉर्ड महावीरा